जीवराज जैन ग्रंथमाला हिन्दी विभाग पुष्प-३७

आचार्यश्री शिवार्य विरचित

भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित सूरि रचित विजयोदया टीका
तथा तदनुसारी हिन्दी टीका सहित

भाग १

पूर्व ग्रंथमाला सम्पादक
स्व० डॉ० हीरालाल जैन
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

विद्यमान ग्रंथमाला सम्पादक
श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

सम्पादक एवं अनुवादक
सिद्धान्ताचार्य श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक
सेठ लालचन्द हीराचन्द,
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर

वीर संवत् २५०४] मूल्य २०.०० [ई० सन् १९७८

प्रकाशक
श्रीमान् सेठ लालचद हीराचंद
अध्यक्ष–जैन सस्कृति संरक्षक संघ
सोलापुर

प्रथमावृत्ति
प्रति ११००

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड, रोड,
वाराणसी–२२१००१

JIVARAJA JAINA, GRANTHAMALA, No. 37

ACHARYA SHRI SHIVARAY'S

BHAGVATI–ARADHANA

With

The Samskrit tika Vijayo-daya of Aparajit suri

Ex. General Editors

Late Dr H L jain

Late Dr A N Upadhye

General Editor

Pt Kailaschandra Shastri

Edited along with the Hindi Translation etc

By

Pandit Kailaschandra Shastri

published by

Lalchand Hirachand

Jain Samskriti Samrakshaka Sangha

Sholapur

1978

Price Rs 20-00

First Edition . 1100 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samraksak Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs 20-00 per copy, exclusive of postage

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतम चन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कायमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायो पार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमे लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी सगृहीत की, कि कौनसे कार्यमें सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमे स्फुट मत संचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ में ग्रीष्म कालमे सिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल वातावरणमे अनेक विद्वानोको आमन्त्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सन्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन सस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका सरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन सस्कृति सरक्षक सघ' इस नामकी सस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ मे उन्होने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति सघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी सस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन सस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमे ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ-प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वा पुष्प प्रकाशित हो रहा है।



स्व ब्र जीवराज गौतमचंद दोशी
स्व गो ता १६-१-५७ (पौष शु १५)

प्रधान सम्पादकीय

प्रस्तुत भगवती आराधना ग्रन्थ जैन साधुके आचारसे सम्बद्ध एक प्राचीन ग्रन्थ है और उसकी टीका विजयोदया भी इस दृष्टिसे अपना विशेष महत्त्व रखती है। ये दोनों एक तीसरे जैन सम्प्रदायके माने जाते है जो न दिगम्बर था और न श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय आगम ग्रन्थोको मान्य नही करता और श्वेताम्बर सम्प्रदाय साधुओंके वस्त्र पात्रवादका समर्थक ही नही किन्तु पोषक है। किन्तु इस ग्रन्थ और इसकी टीकासे स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ओर इनके रचयिता आगम ग्रन्थोंको मान्य करते है तो दूसरी ओर वे वस्त्र पात्रवादके घोर विरोधी प्रतीत होते है। इससे यह ध्वनित होता है कि वे ऐसे सम्प्रदायके अनुयायी है जो न आगम ग्रन्थोंको अमान्य ही करता है और न वस्त्रपात्र वादको स्वीकार करता है। ऐसा सम्प्रदाय यापनीय ही हो सकता है। किन्तु इस ग्रन्थमे न तो स्त्रीमुक्तिका ही समर्थन है और न केवली भुक्तिका प्रत्युत अन्तमे स्त्रीसे भी वस्त्र त्याग करानेकी इसमे चर्चा है। और यापनीय सघकी ये दोनो मान्यताएं बतलाई जाती है। अत हम नही मान सकते कि इस ग्रन्थके कर्ता और टीकाकार सवस्त्र-मुक्ति या स्त्री मुक्तिके समर्थक होगे।

इसमे आगत गाथा न० ४२३ ऐसी गाथा है जो दिगम्बर मूलाचारमे भी आती है और श्वेताम्बरीय आगम साहित्यमे भी आती है। उसमे साधुके दस कल्प बतलाये है। कल्प कहते है करणीय आचारको। उसमे प्रथम ही कल्प है आचेलक्य। चेल कहते है वस्त्रको और अचेलक कहते है वस्त्र रहितको। इस गाथाकी टीकामे टीकाकारने आगमोके प्रमाण देकर साधुओके नग्न रहने का ही समर्थन किया है।

आचाराग सूत्रमे (१८२) मे कहा है—

'जो साधु अचेल रहता है उसे यह चिन्ता नही होती मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया मै वस्त्रकी याचना करूगा। उसे सीनेके लिये धागा और सुईकी याचना करूगा। उसे सीऊंगा। ' ' '' वह अचेलकपनेमे लाघव मानता है, आदि' आचाराग सूत्र २०९ मे कहा है—

'शीत ऋतु बीत जानेपर, गीष्मऋतु आनेपर यदि वस्त्र जीर्ण न हो तो उन्हे कही स्थापित कर दे। अथवा सान्तरोत्तर हो जाये या ओमचेल या एक शाटक या अचेल हो जाये।'

टीकाकारने सान्तरोत्तरका अर्थ किया है—'सान्तर है उत्तर-प्रावरणीय जिसका' अर्थात् शीतकी आशकासे वस्त्रको त्यागता नही है, कभी ओढ लेता और कभी उतारकर पार्श्वमें रख लेता है।

ओमचेलका अर्थ किया है—धीरे धीरे शीतके जाने पर द्वितीयादि वस्त्रको त्याग एक-शाटक हो जाये। अथवा शीत बिल्कुल चले जाने पर उसे भी छोडकर अचेल हो जाये।

सूत्र २१ मे कहा है--निर्ग्रन्थ श्रमणोंके लिये पांच कारणोसे अचेलपना प्रशस्त है—प्रति-लेखना अल्प होती है, स्वाभाविक रूप है, तप होता है लाघव है, विपुल इन्द्रिय निग्रह होता है।

स्थानाग सूत्र १७१ में वस्त्र धारणके तीन कारण कहे हैं--लज्जा, शरीरका अग विकृत होना, परीषह सहनमे असमर्थता।

इस प्रकारसे आगमानुसार भी विशेष अवस्थामे ही वस्त्र को अनुज्ञा थी। किन्तु उत्तरकाल के ग्रन्थकारो और टीकाकारोने इस प्रकारके वचनोको जिनकल्पका करार देकर तथा अचेलका अर्थ बदल कर मूल मार्गको तिरोहित ही जैसा कर दिया। जैसे जीतकल्प सूत्रमे आचेलक्य का अर्थ करते हुए कहा है--

> दुविहा होंति अचेला सताचेला असतचेला य।
> तित्थगरऽसंतचेला सताचेला भवे सेसा ।।१९७५।।

अचेल दो प्रकारके होते है एक वस्त्रके रहते हुए अचेल और एक वस्त्ररहित अचेल। तीर्थंकर वस्त्ररहित अचेल है। शेष सब वस्त्र सहित अचल है।

परीषहोमे एक नाग्न्य परीषह है। निरुक्तमे नाग्न्यका अर्थ इस प्रकार किया है--

> यो हताश प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमुचिरे।
> य: सर्वसङ्ग सन्त्यक्त. स नग्न: परिकोर्तित ।।

अर्थात् जो सर्व परिग्रहसे रहित है उसे नग्न कहते है। टीकाकारोने अल्प वस्त्रधारीको भी नग्न कहा है।

आगममे परिग्रहका लक्षण मूर्छा-ममत्व भाव कहा है। इसकी ओटमे परिग्रह रखकर भी यह कहा जाता है कि हमारा ममत्व भाव नही है अत हम अपरिग्रही है।

अराधना और उसकी टीकामें परिग्रह भावका विस्तार से निराकरण किया है। आजकल दिगम्बर परम्परामें भी साधु मात्र शरीरसे तो नग्न रहते है किन्तु अन्तरगसे नग्न तो विरल हैं। परिग्रहसे ममत्व छूटना बहुत कठिन है। वही ससारका कारण है। अत यदि साधू बनकर भी परिग्रहका मोह नही छूटता तो साधुपना ही विडम्बना है। यह आवश्यक नही है कि सामर्थ्य न होते हुए भी साधु बनना ही चाहिये। साधु पद स्वय एक साधना है। उसकी साधना गृहस्थाश्रममे की जाती है। गृहस्थाश्रम उसीके लिये है। जो पाच अणुव्रत पालनका भी अभ्यास नही करते वे महाव्रती बन जाते हैं। शरीरकी नग्नताको ही दिगम्बरत्व समझ लिया गया है। दिगम्बरत्वका वेष धारण करके तदनुसार आचरण न करनेसे क्या गति होती है, इसे भी शायद नही जानते है। सब अपनेको स्वर्गगामी मान लेते हैं। किन्तु गृहस्थाश्रमका पाप जो फल देता है। मुनिपदका पाप उससे भयानक फल देता है। अत मुनिपद धारण करते हुए सबसे प्रथम उस महान् पापसे डरना चाहिए।

आचार्य शिवार्य महाराजने और उनके अन्यतम टीकाकार अपराजित सूरिने आगम ग्रन्थो को आंख बन्द करके स्वीकार नही किया यह प्रसन्नताकी बात है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आगमोकी वाचना वलभी वाचनासे, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमे मानी जाती है अवश्य भिन्न होगी। क्योकि टीकाकारने जो उद्धरण दिये हैं वे आजके आगमोंमें कम ही मिलते है।

'जिस सम्प्रदायका पन्द्रहवी शताब्दी तक पता लगता है और जिसमें शाकटायन और

स्वयंभू जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् हुए है उसका साहित्य सर्वथा नष्ट हो गया हो, इस बातपर सहसा विश्वास नही होता । प्राचीन भण्डारोंमें वह अवश्य ज्ञात अज्ञात रूपमें पड़ा होगा'।

श्रीयुत प्रेमीजीके इस कथनको भुलाना नहीं चाहिये। अकेले भ० आ० पर ही अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं और वे विक्रमकी १३वी शब्तादी तक वर्तमान थी। उनकी खोज होना आवश्यक है। अभीतक छोटे-छोटे स्थानोंके शास्त्र भण्डारोकी छान वीन नही की गई है। ऐसे स्थानोसे भी कभी कभी ग्रन्थरत्नोकी प्राप्ति हो जाती है। एकबार सब शास्त्र भण्डारोंकी छानबीन होना आवश्यक है। स्थानीय शास्त्र स्वाध्याय प्रेमी इस ओर यदि ध्यान दे तो यह खोज सरलतासे हो सकती है। प्राचीन शास्त्रोंकी पाण्डुलिपियोकी सुरक्षाका प्रबन्ध होना चाहिये।

कैलाशचन्द्र शास्त्री
ग्रन्थमाला सम्पादक

प्रस्तावना

१. प्रतियोंका परिचय

भगवती आराधना या मूलाराधनाका प्रथम सस्करण प० सदासुखदासजीकी ढूँढारी भाषाकी टीकाके साथ सन् १९०९ में प्रकाशित हुआ था। उसका दूसरा संस्करण १९३२ में श्री अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। किन्तु विजयोदया टीका, मूलाराधनादर्पण और आचार्य अमितगति रचित सस्कृत पद्योके साथ उसका प्रथम संस्करण शोलापुरसे १९३५ में प्रकाशित हुआ था। उसका सम्पादन भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट पूनासे प्राप्त प्रतियोके आधारपर प० जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्रीने हिन्दी अनुवादके साथ किया था।

हमने उसी सस्करणको आधार बनाकर उसका पुन सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद किया है। उसके सम्पादनके लिये हस्तलिखित प्रतियोकी खोज करते हुए हमे दो प्रतियाँ शुद्ध प्राप्त हो सकी। उनका परिचय इस प्रकार है—

अ प्रति—यह प्रति आमेर शास्त्रभण्डार जयपुर की है जो श्री महावीरजी अतिशयक्षेत्रके महावीर भवन जयपुरसे डा० कस्तूरचन्द काशलीवाल द्वारा प्राप्त हुई थी। प्रतिका लेख अति-सुन्दर और स्पष्ट है। यद्यपि कागज मटमैला हो गया है और छूनेसे टूटता है किन्तु लिपिपर समयका प्रभाव नही पड़ा है। प्रति प्राचीन और प्रामाणिक प्रतीत हुई। पृष्ठ सख्या ४९८ है। प्रत्येक पत्रमे १० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ४०-४२ अक्षर है। दूसरी आ प्रतिसे उसमे वैशिष्ट्य है अनेक पाठभेद हैं। इसमे गाथा संख्या २१४८ है। पूर्ण संख्या सौ पूरी होनेपर पूर्ण सख्या दी है और आगे एक दोसे प्रारम्भ किया है। इसका लेखनकाल सम्बत् १७६० है यथा—

'सम्वत् १७६० वर्षे माघमासे कृष्णपक्षे दशम्या तिथौ गुरुवासरे श्री सग्रामपुरमध्ये लिखितमिदम्।'

वि० स० १९१५ मे पण्डित जगन्नाथने इसे भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिको भेंटमे दिया था।

'आ'-प्रति—यह प्रति धर्मपुरा दिल्लीमे स्थित लाला हरसुखराय शुगनचन्दके मन्दिरके दि० जैन सरस्वती भण्डारसे लाला पन्नालालजी अग्रवाल द्वारा प्राप्त हुई थी। इसका नम्बर क ४ (क) है। पृष्ठ संख्या ३१२ है। प्रत्येक पत्रमें १५ पंक्तियाँ और प्रत्येक पक्तिमे ४५ अक्षर हैं। गाथा संख्या २१४८ है। इसमे भी जहाँ सख्या सौ पूरी होती है वहाँ पूर्णाङ्क देकर आगे एक दोसे प्रारम्भ किया है। साधारणतया शुद्ध है किन्तु सयुक्त अक्षर स्पष्टरूपसे नही लिखे गये है। इसका लेखनकाल १८६३ सम्वत् है। यथा—

सम्वत् १८६३ मिति फाल्गुन शुक्लपक्षे तृतीया तिथौ सनिवासरे जैनाश्रमिणा तुलसी-रामेण लिलेष। श्रीरस्तु।

इस तरह इन दो प्रतियोंका ही पूर्णरूपसे उपयोग हो सका है। इनके सिवाय भी जिन प्रतियोंका उपयोग किया जा सका उनका परिचय भी दिया जाता है।

प्रति टोडारायसिंह—हम सन् ७५ मे दशलाक्षणीपर्वमें अजमेर गये थे। केकड़ीके प०

रतनलालजी कटारियासे पत्रव्यवहार द्वारा इस प्रतिके पाठादि प्राप्त होते थे। किन्तु अजमेरमे हमे यह प्रति कुछ समयके लिए प्राप्त हो गयी थी।

इसकी पत्र संख्या ३७९ है। प्रत्येक पृष्ठमें पन्द्रह पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमे छत्तीस अक्षर है। गाथा संख्या २१४८ है लेख अशुद्ध है। यथा—सम्यक्के स्थानमे प्राय सस्यक् लिखा है इसका लेखनकाल सम्वत् १९९९ है। यथा—

अथ संवत्सरे १९९९ वर्षे मासाना मासोत्तममासे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे तिथौ ५ बुधवासरे लिपीकृतं महात्मा गुमानरावदेव गाव वास्तव्यं। शुभभूयात्।'

अजमेरमे ही हमे भट्टारकजीके मन्दिरके भण्डारसे एक प्रति सेठ भागचन्दजी सोनी तथा पं० सुजानमलजी सोनीके प्रयत्नसे जिस किसी तरह कुछ समयके लिए प्राप्त हो सकी थी। उसमें मूलगाथाके ऊपर उसके सस्कृत शब्द भी लिखे है। इसकी पत्र संख्या २८१ है।

यह प्रति सम्वत् १९११ की सालमे सेठ जवाहरमलजीके पुत्र मूलचन्दजी सोनीकी माताने भट्टारक रत्नभूषणजीको दी थी। इसमे गाथा सख्या २१६२ है।

ज-प्रति—यह प्रति भी आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर की है। इसका नम्बर ७७८ है। प्रत्येक पत्रमे पक्तिया प्राय १४ है, किसी पत्रमें १३ और किसीमे १५ है। प्रत्येक पक्तिमे ४१ से ४४ तक अक्षर है। आमेर शास्त्रभण्डारकी ही 'अ' प्रतिसे प्राय एकरूपता है। किन्तु लिपि न वैसी सुन्दर है और न सुस्पष्ट। प्रतिके अन्तमे लेखनकाल स० १५१४ दिया है। अन्तिम लेखक प्रशस्ति इस प्रकार है—

सम्वत् १५२१ वर्षे आषाढ बदी १३ बुधदिने गोपाल शुभस्थाने श्रीमूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीवादिराज श्रीप्रभाचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे श्रीजिनचन्द्रदेवा तत्सिक्षणी क्षुल्लिकी बाई धात्री मात्रा सुनषत लिषापितं इद पुस्तकं ज्ञानावरणीकर्मक्षय निमित्त। ज्ञान वा (न्) ज्ञानदानेन नृभयो (निर्भयो) भयदानत। अन्नदाता सुखी नित्यं न व्याधी भेषजा(-त्) भवेत्। यावज्जिनस्य धर्मोऽय लोको स्थिति दयापरा। यावत्सुरनदीवाह तावन्नंदतु पुस्तक।

इसमे गाथा स० २१४८ है। पृ० १९१ स २३१ तक नही है। पिण्डो उवधि सेज्जाए आदि गाथा ६०६ तक है। फिर 'कामाउरो णरो पुण' आदि गा० ८७७ से प्रारम्भ होता है।

भगवती आराधनाकी ऐसी कोई प्रति नही मिल सकी जिसमे केवल मूलगाथाएँ ही हो। जितनी भी प्रतियाँ उपलब्ध हुई वे सब विजयोदया टीकाके साथ ही उपलब्ध हुई। और उनमे ऐसी भी अनेक गाथाएँ सम्मिलित हैं जिनपर विजयोदया टीका नही है। प० आशाधरजीने तो अपने मूलाराधना दर्पण नामक टीकामे ऐसी गाथाओंके सम्बन्धमे प्राय यह लिख दिया है कि विजयोदयाका कर्ता इस गाथाको मान्य नही करता।

विजयोदयाके अध्ययनसे प्रकट होता है कि उनके सामने टोका लिखते समय जो मूल ग्रन्थ उपस्थित था, उसमे और वर्तमानमें उपलब्ध मूलमे अन्तर है। अनेक गाथाओमे वे शब्द नही मिलते जिनकी व्याख्या टीकामे है। अत ग्रन्थके मूल पाठका संशोधन प्राय. तब तक सभव नही है जब तक केवल मूल ग्रन्थका पाठ उपलब्ध न हो। इसीसे डा० ए० एन० उपाध्येके

परामर्शके अनुसार हमने प्राय सभी उपलब्ध गाथाओको स्थान दिया है। ऐसी भी कुछ गाथाएँ मूलमें सम्मिलित हो गई है जो विजयोदयामे उद्धृत हैं। हमने उन्हे मूलसे अलग करके टीकामे ही स्थान दिया है। जैसे गाथा ८०० की टीकाके अन्तर्गत हिंसाके प्रकरणमे पाँच गाथाएँ 'उक्तं च' करके उद्धृत हैं। इसी तरह पंच परावर्तनके वर्णनमें भी कुछ गाथाएँ उद्धृत हैं। वे सब मूलमें सम्मिलित हो गई हैं। इन दोनोंकी संख्या आठ हो जाती है। फिर भी शोलापुरसे मुद्रित प्रतिमें गाथा संख्या २१७० है और इस संस्करणमे गाथा सख्या २१६४ है। इस तरह केवल छह का अन्तर है।

हमारी अ और आ० प्रतिमें अन्तिम सख्या २१४८ है। इसका कारण यह भी है कि कुछ गाथाओको क्रममे सम्मिलित नही किया गया है। कही क्रम संख्या छूट गई है।

शोलापुरसे मुद्रित प्रति और उक्त हस्तलिखित प्रतियोंके गाथा क्रमाकका अन्तर नोचे दिया जाता है—

मुद्रित प्रति—२०१, ३०३, ४०४, ५०४, ६०३, ७०७, ८१३, ९१२, १०११, १११४, १२१५, १३१४, १५१५, १६१६, १७१३, १८१६, १९१९, २०२२, २१२०, २१७०। इनके स्थानमे हस्तलिखित प्रनियोमे प्राय पूर्णाङ्क है अर्थात् जैसे २१२० के स्थान पर २१०० है। केवल २१७० के स्थानमे २१४८ है।

अब शोलापुरसे प्रकाशित संस्करण और वर्तमान प्रस्तुत संस्करणके गाथा अन्तरको स्पष्ट करना उचित होगा।

प्रारम्भसे २७ गाथा पर्यन्त दोनोंमे कोई अन्तर नहीं है। २७ के पश्चात् शोला० प्रतिमें जो गाथा दी है उसपर २८ नम्बर दिया है। किन्तु यह मूलकी नही है। आशाधरजीने इसके सम्बन्धमे अपनी टीकामे स्पष्ट लिखा है कि अन्यत्रसे लाकर इसे सूत्रमे पढते है। अत यहाँसे एकका अन्तर प्रारम्भ होता है।

आगे शोला० प्रतिमें ११६ नम्बर दो बार पड़ गया है। पहले ११६, ११७, ११८ है और पुन ११६ से प्रारम्भ कर दिया है। इस तरह प्रस्तुत सस्करणमे जिस गाथा पर ११९ क्रमाक है उसमे शोला० मे ११७ है।

आगे 'मयतण्हियाओ' आदि गाथाके पश्चात् प्रस्तुत संस्करणमे 'परिहर त मिच्छत्तं' इत्यादि गाथा है। इस पर ७२५ क्रमाक है। यह शोला० प्रतिमे नही है। इसपर न तो विजयोदया है और न आशाधरकी पंजिका है। फिर भी प्रतियोमे पाई जानेसे इसे दिया गया है। इस तरह एकका अन्तर रह जाता है।

'हिसादो अविरमण' इत्यादि गाथाकी विजयोदया टीकामे स्पष्ट रूपसे 'उक्त च' लिखकर पाँच गाथाएँ उद्धृत हैं। शोला० मे इन सबको मूलमें सम्मिलित कर लेनेसे ६ का अन्तर पड जाता है।

प्रस्तुत सस्करणमे 'साकेदपुरे सीमधरस्य' आदि गाथा अधिक है। इसके कारण छहके स्थानमें पाँचका अन्तर रह जाता है।

पुन शोला० प्रतिमें 'सव्वम्मि लोगखित्ते' इत्यादि गाथाको, जो विजयोदयामे स्पष्ट रूपसे

'उक्त च' करके उद्धृत है मूलमे सम्मिलित कर लेनेसे अन्तर छहका हो जाता है। इतना ही दोनोंकी गाथा सख्यामे अन्तर है।

जिन पर विजयोदया टीका नही है। उन गाथाओंकी क्रमसंख्या प्रस्तुत संस्करणके अनुसार इस प्रकार है—

५३, १०८, ११५, ११६, ११७, १५०, १८०, ४३२ से ४३८ तक (इन पर आशाधर की टीका है किन्तु विजयाचार्य इन्हे मान्य नही करता, ऐसा भी उन्होने नही लिखा है)—५९७, ६८०, ६८१, ७३६, ७३७ (७३६ का अनुवाद अमित गतिने किया है), ७६९, ८०३ (अमित गतिका अनुवाद नही), ८०६ (अमित में है), ८१२ (अमित है), ८२६ (अमित में है), ८६९ (अमित मे है) ९६२, ९६३ (अमित आशाधर दोनोको स्वीकृत) ९६५ (आशाधर स्वीकृत, अमित नही) ९७३, ९७४, ९७५, ९८१ से ९९६ तक १०३८ (दोनोंसे स्वीकृत)। ११२५, ११२६, ११२७ (११२५, ११२६ में कुछ कथाओके नाम हैं। इन दोनोको अमितगति और आशाधरने स्वीकार नही किया है। ११२७ के विषयमे आशाधरने लिखा है कि संस्कृत टीकाकार इसे नही मानता। किन्तु शेष दोनोंके सम्बन्धमे चुप है। अत. ये दोनो प्रक्षिप्त है, किसी कथा' कोशकारने भो इनको उद्धत नही किया है) १२३२, १२७४ (दोनोंसे स्वीकृत) १२८८ (स्वीकृत), १३४८, १३५८, १४२७, १५४०, १६००, १६०१, १६०२, १६३४, १६३५, १७१०, २०२२।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि इनके सिवाय भी ऐसी अनेक गाथाएँ है जिन्हे विजयोदयाके कर्ताने स्पष्टार्थ मानकर उनकी व्याख्या नही की है। किन्तु उन्हे उन्होने स्वीकार किया है।

२ भगवती-आराधना

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम आराधना है और उसके प्रति परम आदरभाव व्यक्त करनेके लिए उसी तरह भगवती विशेषण लगाया गया जैसे तीर्थंकरो और महान आचार्योंके नामोके साथ भगवान विशेषण लगाया जाता है। ग्रन्थके अन्तमे ग्रन्थकारने 'आराहणा भगवदी' (गाथा २१६२) लिखकर आराधनाके प्रति अपना महत् पूज्यभाव व्यक्त करते हुए उसका नाम भी दिया है। फलत यह ग्रन्थ भगवती आराधनाके नामसे हो सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु यथार्थमे इसका नाम आराधना मात्र है। इसके टीकाकार श्री अपराजित सूरिने अपनी टीकाके अन्तमे उसका नाम आराधना टीका ही दिया है।

इस भगवती आराधनाको आधार बनाकर आचार्य देवसेनने जो एक ग्रन्थ रचा है उसका नाम उन्होने आराधनासार[2] दिया है। इस भगवती आराधनाको सस्कृत पद्योमे निबद्ध करनेवाले आचार्य अमितगति[3] ने भी अपनी प्रशस्तिमे 'आराधनैषा' लिखकर उसका नाम आराधना ही रखा है। तथा उसका एक स्तवन भी साथमे रचा है। दूसरे पंजिकाकार पं० आशाधरने यद्यपि

१ देखो वृहत्कथाकोशकी डा० उपाध्येकी प्रस्तावना पृ० ७७। सस्करण १९४३।

२. मा० दि० ग्रन्थमाला बम्बईसे वि० स० १९७३ में प्रथम बार प्रकाशित।

३ सोलापुर संस्करणमें (१९३५) मुद्रित।

अपनी इस टीकाको मूलाराधना' दर्पण नाम दिया है तथापि उन्होंने भी उसकी स्तुति करनेसे पूर्व 'भगवतीमाराधनामभिष्टौतुं' लिखकर भगवती आराधना नाम ही स्वीकार किया है।

'आराधना' के नामसे पाये जानेवाले ग्रन्थोकी एक विस्तृत तालिका जिनरत्नकोशमे दी है तथा सीघी सिरीजसे प्रकाशित वृहत्कथाकोशकी अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनामे स्व० डा० ए० एन० उपाध्येने उसे विस्तारसे दिया है। उसे देखकर प्रतीत होता है कि जैन परम्परामे प्रारम्भसे ही आराधनाका कितना महत्त्व रहा है। यथार्थम आराधना पूर्ण जीवन ही सच्चा जीवन है। दूसरे शब्दोमे आराधना पूर्वक मरण ही यथार्थ मरण है। उसके अभावमे न जीवन, जीवन है और न मरण मरण है।

इस भगवती आराधनामे (गा० ६५२) कहा है कि चार निर्यापक समाधिमरण करनेवाले क्षपकको नित्य धर्मकथा सुनाते है। फलत इसमे दृष्टान्त रूपसे अनेक कथा प्रसगोका निर्देश है। जिनको सकलित करके अनेक कथाकोश रचे गये है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने गद्यकथाकोशकी पुष्पिकामे उसका नाम आराधना कथा प्रबन्ध दिया है। ब्रह्म नेमिदत्तके भी कथाकोशका नाम आराधना कथाकोश है। एक कथाकोश प्राचीन कन्नड भाषामे भी है उसका नाम वड्ढाराधना है। उसकी मूडविद्रीकी प्रतिमे उसका पुष्पिका वाक्य इस प्रकार है—

"ई पेल्द पत्तोवतु कथेगल् शिवकोटयाचार्यर् पेल्द वोड्डाराधनेय कवचवु मगल महाश्री'। इसमे वड्डाराधनाको शिवकोटि आचार्यकी कृति कहा है। वड्डाराधनाका अर्थ होता है बडी आराधना। इससे यह प्रकट होता है कि उत्तरकालमे आराधना विषयक अन्य ग्रन्थोसे इसकी विशिष्टता बतलानेके लिये या उनसे इसका पृथक् अस्तित्व और महत्त्व प्रदर्शित करनेके लिए आराधना नामके साथ वृहत् या मूल विशेषण लगाकर इसे वड्डाराधना या मूलाराधना नाम भी दिया गया है। किन्तु मूलनाम मात्र आराधना ही है।

विषय परिचय

जैसा कि इस ग्रन्थके नामसे प्रकट है, इस ग्रन्थमे आराधनाका वर्णन है। ग्रन्थकी प्रथम गाथामे ग्रन्थकारने चार प्रकार की आराधनाके फलको प्राप्त सिद्धो और अर्हन्तोको नमस्कार करके आराधनाका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरी गाथामे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरणको आराधना कहा है। टीकाकारने अपनी टीकामे इनको स्पष्ट किया है।

अन्य जैन ग्रन्थोमे भी सम्यग्दर्शन आदिका कथन है किन्तु उनके साथ आराधना शब्दका प्रयोग तथा उद्योतन आदिरूपसे उनका कथन नही पाया जाता।

तीसरी गाथामे सक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे है—प्रथम सम्यक्त्वाराधना और दूसरी चारित्राराधना। चतुर्थ गाथामे कहा है कि दर्शनकी आराधना करने पर ज्ञानकी आराधना नियमसे होती है किन्तु ज्ञानकी आराधना करने पर दर्शनकी आराधना भजनीय है, वह होती भी है और नही भी होती, क्योकि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान नियमसे होता है परन्तु ज्ञानके होने पर सम्यग्दर्शनके होनेका नियम नही है।

१ देखो, हरिषेणकृत वृहत्कथाकोशका डा० उपाध्ये का प्रस्तावना पृ० ६८।

गाथा ६ में कहा है कि संयमकी आराधना करने पर तपकी आराधना नियमसे होती है किन्तु तपकी आराधनामे चारित्रकी आराधना भजनीय है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि भी यदि अविरत है तो उसका तप हाथीके स्नानकी तरह व्यर्थ है। अत सम्यक्त्वके साथ सयमपूर्वक ही तपश्चरण करना कार्यकारी होता है, इसलिये चारित्रकी आराधनामे सबकी आराधना होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् चारित्र होता है इसलिये सम्यक् चारित्रकी आराधनामे सबकी आराधना गर्भित है। इसीसे आगममे आराधनाको चारित्रका फल कहा है और आराधना परमागमका सार है ॥१४॥ क्योंकि बहुत समय तक भी ज्ञान दर्शन और चारित्रका निरतिचार पालन करके भी यदि मरते समय उनकी विराधना कर दी जाये तो उसका फल अनन्त संसार है ॥१६॥ इसके विपरीत अनादि मिथ्यादृष्टि भी चारित्रकी आराधना करके क्षणमात्रमे मुक्त हो जाते है। अत आराधना ही सारभूत है ॥१७॥

इसपरसे यह प्रश्न किया गया कि यदि मरते समयका आराधनाको प्रवचनमे सारभूत कहा है तो मरनेसे पूर्व जीवनमे चारित्रकी आराधना क्यो करना चाहिए ॥१८॥ उत्तरमे कहा है कि आराधनाके लिए पूर्वमे अभ्यास करना योग्य है। जो उसका पूर्वाभ्यासी होता है उसकी आराधना सुखपूर्वक होता है ॥१९॥ यदि कोई पूर्वमे अभ्यास न करके भी मरते समय आराधक होता है तो उसे सर्वत्र प्रमाणरूप नहीं माना जा सकता ॥२४॥

इस कथनसे हमारे इस कथनका समाधान हो जाता है कि दर्शन ज्ञान चारित्र और तपका वर्णन जिनागममे अन्यत्र भी है किन्तु वहाँ उन्हे आराधना शब्दसे नही कहा है। इस ग्रन्थमे मुख्यरूपसे मरणसमाधिका कथन है। मरते समयकी आराधना हो यथार्थ आराधना है उसीके लिए जीवन भर आराधना की जाती है। उस समय विराधना करनेपर जीवनभरकी आराधना निष्फल हो जाती है और उस समयकी आराधनासे जीवनभरकी आराधना सफल हो जाती है। अत जो मरते समय आराधक होता है यथार्थमे उसीके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्तपकी साधनाको आराधना शब्दसे कहा जाता है।

इस प्रकार चौबीस गाथाओके द्वारा आराधनाके भेदोका कथन करनेके पश्चात् इस विशालकाय ग्रन्थका मुख्य वर्ण्य विषय मरणसमाधि प्रारम्भ होता है। इसको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि यद्यपि जिनागममे सतरह प्रकारके मरण कहे है किन्तु हम यहाँ सक्षेपसे पाँच प्रकारके मरणोका कथन करेगे ॥२५॥ वे है—पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल-पण्डितमरण, बालमरण और बाल-बालमरण ॥२६॥ क्षीणकषाय और केवलीका मरण पण्डित-पण्डितमरण है और विरताविरत श्रावकका मरण बालपण्डितमरण है ॥२७॥ अविरत सम्यग्दृष्टी-का मरण बालमरण है और मिथ्यादृष्टिका मरण बाल-बालमरण है ॥२९॥

पण्डितमरणके तीन भेद है—भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इगिनी। यह मरण शास्त्रा-नुसार आचरण करनेवाले साधुके होता है ॥२९॥

इसके अनन्तर ग्रन्थकारने सम्यक्त्वकी आराधनाका कथन किया है।

सम्यक्त्वाराधना—गाथा ४३ मे सम्यक्त्वके पाँच अतीचार कहे है—शङ्का, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा। तत्त्वार्थसूत्रमे अनायतन सेवाके स्थानमे 'सस्तव' नामक अतीचार कहा है।

टीकाकार अपराजितसूरिने अपनी टीकामें अतिचारोंको स्पष्ट करते हुए शंका अतिचार और सशयमिथ्यात्वके भेदको स्पष्ट करते हुए कहा है कि शका तो अज्ञानके कारण होती है उसके मूलमे अश्रद्धान नही है। किन्तु सशयमिथ्यात्वके मूलमे तो अश्रद्धान है। इसी प्रकार मिथ्यात्वका सेवन अतिचार नही है, अनाचार है, मिथ्यादृष्टियोकी सेवा अतिचार है। द्रव्य-लोभादिकी अपेक्षा करके मिथ्याचारित्रवालोको सेवा भी अतिचार है।

गाथा ४४ मे उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावनाको सम्यग्दर्शनका गुण कहा है।

गाथा ४५-४६ मे दर्शनविनयका वर्णन करते हुए अरहन्त, सिद्ध, जिनबिम्ब, श्रुत, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और दर्शनमे भक्ति, पूजा, वर्णजनन, तथा अवर्णवादका विनाश और आसादनाको दूर करना, इन्हे दर्शन विनय कहा है। टीकाकारने इन सबको स्पष्ट किया है। इनमे 'वर्णजनन' शब्दका प्रयोग दिगम्बर साहित्यमे नही पाया जाता। वर्णजननका अर्थ है महत्ता प्रदर्शित करना। टीकाकारने इसका कथन विस्तारसे किया है।

गाथा ५५ मे मिथ्यात्वके तीन भेद कहे है संशय, अभिगृहीत, अनभिगृहीत।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आराधनाका कथन करनेके पश्चात् गाथा ६३ मे कहा है कि प्रशस्तमरणके तीन भेदोमेसे प्रथम भक्तप्रतिज्ञाका कथन करेंगे क्योकि इसकालमे उसीका प्रचलन है। इसीका कथन इस ग्रन्थमे मुख्यरूपसे है, शेष दोका कथन तो ग्रन्थके अन्तमे सक्षेपसे किया है।

भक्तप्रत्याख्यान—गाथा ६४ मे भक्तप्रत्याख्यानके दो भेद किये है—सविचार और अविचार। यदि मरण सहसा उपस्थित हो तो अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है अन्यथा सविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है। सविचार भक्तप्रत्याख्यानके कथनके लिये चार गाथाओसे चवालीस पद कहे हैं। और उनका क्रमसे कथन किया है।

उन चवालीस पदोमेसे सबसे प्रथम पद 'अर्ह' का कथन करते हुए कहा है—

जिसको कोई असाध्य रोग हो, मुनिधर्मको हानि पहुँचानेवाली वृद्धावस्था हो, या देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो, अथवा चारित्रका विनाश करनेवाले शत्रु या मित्र हो, दुर्भिक्ष हो, या भयानक वनमे भटक गया हो, या आँखसे कम दिखाई देता हो, कानसे कम सुनाई देता हो, पैरोमे चलने-फिरनेकी शक्ति न रही हो, इस प्रकारके अपरिहार्य कारण उपस्थित होने पर विरत अथवा अविरत भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७०-७३॥

जिसका मुनिधर्म चिरकाल तक निर्दोष रूपसे पालित हो सकता है, अथवा समाधिमरण करानेवाले निर्यापक सुलभ है या दुर्भिक्षका भय नही है, वह सामने भयके न रहने पर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य नही है। यदि ऐसी अवस्थामें भी कोई मरना चाहता है तो वह मुनिधर्मसे विरक्त हो गया है ऐसा मानना चाहिये ॥७४-७५॥

इससे आगे ग्रन्थकारने भक्त प्रत्याख्यानके योग्य व्यक्तिके लिंगका कथन करते हुए कहा है—

जो औत्सर्गिक लिंगके धारी हैं अर्थात् समस्त परिग्रहके त्यागी है उनका लिंग तो वही

होता है। किन्तु जो अपवादिक अर्थात् परिग्रह सहित लिंगके धारी है यदि उनके पुरुषचिन्हमें कोई दोष नही है तो उनके लिये भी औत्सर्गिक लिंग धारण करना ही उचित है। किन्तु जो महत् सम्पत्तिशाली है या लज्जाशील है, या जिसके बन्धु बान्धव मिथ्यामती है उसके लिये अपवादलिंग उचित है ॥७६-७८॥

औत्सर्गिक लिङ्ग—अचेलता, हाथसे केशोंका उखाडना (केशलोच), शरीरसे निर्ममत्व और पीछी ये चार औत्सर्गिक लिंग है। स्त्रियोमे भी जो औत्सर्गिक या अपवाद लिंग आगममें कहा है, भक्त प्रत्याख्यान करते समय परिग्रहको अल्प करते हुए औत्सर्गिक लिंग होता है। अर्थात् पुरुषो-की तरह स्त्री भी यदि सम्पत्तिशालिनी है या लज्जाशील है, या उसके बन्धु बान्धव विधर्मी है तो एकान्त स्थानमे उसे समस्त परिग्रहके त्यागरूप उत्सर्ग लिंग दिया जा सकता है ॥८७॥

आगे इन चार प्रकारके लिंगोके लाभ बतलाते हुए सबसे प्रथम परिग्रह त्यागके गुण बतलाये हैं—

परिग्रह त्यागमे लाघव, अप्रतिलेखन, निर्भयता, सम्मूर्छन जीवोंकी रक्षा और परिकर्मका त्याग ये चार गुण कहे है। जो वस्त्रसहित लिंग धारण करते हैं, उन्हे उनके शोधनमे लगना होता है, वस्त्र न रहने पर उसकी याचना, वस्त्र फटने पर उसे सीना, धोने पर सुखाना आदि व्यापार करना पडता है। वस्त्रोंमे जूँ होने पर उनको दूर करना होता है। वस्त्रादिके सद्भावमे शीतादि परिषह सहन करना नही होता, किन्तु आगममें कर्मोंकी निर्जराके लिए परिषह सहनेका विधान है ॥८२॥

वस्त्ररहित होनेसे दिगम्बर वेशमे जनताका विश्वास प्राप्त होता है कि इनके पास छिपाने-के लिए कुछ भी नही है। विषय सुखमें अनादरभाव प्रकट होता है। सर्वत्र स्वाधीनपना रहता है ॥८३॥

नग्नता जिनदेवका प्रतिरूप है। उससे वीर्याचार पलता है रागद्वेष नही होते ॥८४॥

जो अपवाद लिंग धारण करता है वह भी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए अपनी निन्दा गर्हा करते हुए जब परिग्रहको त्याग देता है तब शुद्ध हो जाता है ॥८६॥

इस प्रकार लिंग ग्रहण करनेके पश्चात् साधुको ज्ञानार्जन करना चाहिए। उसके लिए विनय करना आवश्यक है अत ज्ञानविनयके आठ भेदोका वर्णन है ॥११२॥

तदनन्तर दर्शनविनय, चारित्रविनय, उपचारविनय आदिका कथन है।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ लिंग स्वीकार करके जो श्रुतके अभ्यासमे तत्पर है, पाँच प्रकारकी विनयका पालक है उस साधुको अनियतवासी होना चाहिए, एक स्थान पर नही रहना चाहिये। अत अनियतवासके गुण बतलाये हैं। किन्तु देशान्तरमे भ्रमण करनेसे ही साधु अनियत विहारी नहीं होता किन्तु वसति, उपकरण, ग्राम, नगर, सघ और श्रावक गण सबमें उसे ममत्वभावसे रहित होना चाहिये। तभी वह अनियत विहारी होता है।

इस तरहसे साधु जीवन बिताता हुआ साधु जब अपना कल्याण करना चाहता है तो विचारता है कि अथालन्दविधि, भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनी मरण, परिहार विशुद्धि चारित्र, पादोपगमन अथवा जिनकल्पमेसे किसको मै धारण करूँ ?

विजयोदयामें इन सबका वर्णन किया है जो अन्यत्र नही मिलता । इस प्रकार विचार कर यदि उसकी आयु अल्प शेष रहती है तो वह अपनी शक्तिको न छिपा कर भक्त प्रत्याख्यानका निश्चय करता है ॥१५८॥ तथा सयमके साधनमात्र परिग्रह रखकर शेषका त्याग कर देता है ॥१६४॥ तथा पाँच प्रकारकी सक्लेश भावना नही करता । इन पाँचो भावनाओका स्वरूप ग्रन्थकारने स्वय कहा है (१८२-१८६) ।

आगे सल्लेखनाके दो भेद कहे है बाह्य और आभ्यन्तर । शरीरको कृश करना बाह्य सल्लेखना है और कषायोका कृश करना अभ्यन्तर सल्लेखना है । बाह्य सल्लेखनाके लिए छह प्रकारके बाह्य तपका कथन किया है ।

विविक्तशय्यासन तपका कथन करते हुए गाथा २३२मे उद्गम उत्पादन आदि दोषोंसे रहित वसतिकामें निवास कहा है । टीकाकारने अपनी टीकामे इन दोषोंका कथन किया है । ये सर्वदोष मूलाचारमे भी कहे है । आगे बाह्य तपके लाभ बतलाये हैं ।

गाथा २५१मे विविध भिक्षु प्रतिमाओका निर्देश है । टीकाकार अपराजित सूरिने तो उनका कथन नही किया किन्तु आशाधरजीने किया है । उनकी संख्या बारह कही है । मूलाचारमे इनका कथन नही है ।

इस भक्त प्रत्याख्यानका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष कहा है । चार वर्ष तक अनेक प्रकारके कायक्लेश करता है । फिर दूध आदि रसोको त्यागकर चार वर्ष बिताता है । फिर आचाम्ल और निर्विकृतिका सेवन करते हुए दो वर्ष बिताता है, एक वर्ष केवल आचाम्ल सेवन करके बिताता है । शेष रहे एक वर्षमेसे छह मास मध्यम तपपूर्वक और शेष छह मास उत्कृष्ट तपपूर्वक बिताता है (२५४-२५६) ।

इस प्रकार शरीरकी सल्लेखना करते हुए वह परिणामोकी विशुद्धिकी ओर सावधान रहता है । एक क्षणके लिए भी उस ओरसे उदासीन नही होता ।

इस प्रकारसे सल्लेखना करनेवाले या तो आचार्य होते है या सामान्य साधु होते है । यदि आचार्य होते है तो वे शुभमुहूर्तमे सब सघको बुलाकर योग्य शिष्यपर उसका भार सौंपकर सबसे क्षमा याचना करते हैं और नये आचार्यको शिक्षा देते है । उसके पश्चात् सघको शिक्षा देते हैं । यथा—

हे साधुओ ! आपको विष और आगके तुल्य आर्याओका ससर्ग छोडना चाहिये । आर्याके साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ॥३३२॥ महान् सयमी भी दुर्जनोके द्वारा किये गये दोषसे अनर्थका भागी होता है अत दुर्जनोकी सगतिसे बचो ॥३५०॥

सज्जनोकी सगतिसे दुर्जन भी अपना दोष छोड देते है, जैसे सुमेरु पर्वतका आश्रय लेनेपर कौवा अपनी असुन्दर छविको छोड देता है ॥३५२॥

जैसे गन्धरहित फूल भी देवताके ससर्गसे उसके आशीर्वादरूप सिरपर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोके मध्यमे रहनेवाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥

गुरुके द्वारा हृदयको अप्रिय लगनेवाले वचन भी कहे जानेपर पथ्यरूपसे ही ग्रहण करना चाहिए । जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुँह खोल पिलाया गया घी हितकारी होता है ॥३६०॥

अपनी प्रशंसा स्वय नहीं करना चाहिए। जो अपनी प्रशसा करता है वह सज्जनोंके मध्यमें तृणकी तरह लघु होता है ॥३६१॥ इत्यादि।

इस प्रकार आचार्य संघको उपदेश देकर अपनी आराधनाके लिए अपना संघ त्यागकर अन्य सघमें जाते हैं। ऐसा करनेमें ग्रन्थकारने जो उपपत्तियाँ दी हैं वे बहुमूल्य है ॥३८५॥

समाधिका इच्छुक साधु निर्यापककी खोजमें पाँच सौ सात सौ योजन तक भी जाता है ऐसा करनेमे उसे बारह वर्ष तक लग सकते है ॥४०३-४०४॥

इस कालमे यदि उसका मरण भी हो जाता है तो वह आराधक ही माना गया है ॥४०६॥

योग्य निर्यापकको खोजते हुए जब वह किसी सघमें जाता है तब उसकी परीक्षा की जाती है।

जिस प्रकारका आचार्य निर्यापक होता है उसके गुणोंका वर्णन विस्तारसे किया है। उसका प्रथम गुण है आचारवत्त्व।

जो दस प्रकारके स्थितिकल्पमें स्थित होता है वह आचारवान् होता है।

गाथा ४२३ मे इनका कथन है—ये दस कल्प है—आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्यागृहका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा।

श्वेताम्बर आगमोमे भी इन दस कल्पोंका विस्तारसे वर्णन मिलता है। विजयोदया टीकाकारने अपनी टीकामे इनका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है। सबसे प्रथम कल्प है आचेलक्य। चेल कहते हैं वस्त्रको, वस्त्रादि समस्त परिग्रहका त्याग आचेलक्य है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके साधु वस्त्र पात्र आदि परिग्रह रखते है। अत टीकाकारने उनके मतका निरसन सप्रमाण किया है। और श्वेताम्बर आगमोंसे—आचारांग, उत्तराध्ययन, आवश्यक आदिसे अनेक प्रमाण उद्धृत किये है। किन्तु वर्तमान श्वेताम्बर आगमोमे उनमेंसे अनेक प्रमाण नही मिलते। इस विषयमे आगे अलगसे चर्चा करेंगे।

टीकामे कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमे रात्रिभोजन त्याग नामक एक छठा व्रत भी था। पूज्यपाद स्वामीने अपनी सर्वार्थसिद्धिमे सातवे अध्यायके प्रथमसूत्रके व्याख्यानमें रात्रि भोजन नामक छठे व्रतकी शका उठाकर समाधानमे कहा है कि उसका अन्तर्भाव अहिसा व्रतकी भावनाओमे किया है।

प्रतिक्रमणके भेदोका कथन करते हुए भी टीकाकारने कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमे साधुओको प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोके तीर्थमे साधु दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते थे। इसका कारण भी कहा है कि मध्यम तीर्थंकरोके साधु दृढबुद्धि, एकाग्रचित, और अव्यर्थ लक्ष्यवाले थे इसलिए उनका आचरण गर्हा करनेमात्रसे शुद्ध हो जाता था। किन्तु शेष दो तीर्थंकरोंके साधु चलचित्त होनेसे अपने अपराधपर दृष्टि नहीं देते। इसलिए उन्हे सब प्रतिक्रमण करनेका उपदेश है।

मूलाचारमे भी (७।१३२-१३३) यह कथन है।

गाथा ४४८ की टीकामें पंचपरावर्तनका वर्णन है किन्तु द्रव्यससार, क्षेत्रसंसार, और भावससारका स्वरूप सर्वार्थसिद्धिमे भिन्न है।

निर्यापक आचार्यके गुणोंमे एक गुण अवपीडक है। समाधि लेनेसे पूर्व दोषोंकी विशुद्धिके लिये आचार्य उस क्षपकसे उसके पूर्वकृतदोष बाहर निकालते है। यदि वह अपने दोषोंको छिपाता है तो जैसे सिंह स्यारके पेटमे गये मासको भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमें छिपे मायाशल्य दोषोको बाहर निकालता है ॥४७९॥

गाथा ५२८ मे आचार्यके छत्तीस गुण इस प्रकार कहे है—

आचारवत्व आदि आठ, दस प्रकारका स्थितिकल्प बारह तप, छह आवश्यक। किन्तु विजयोदयामें आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति, तोन गुप्ति ये छत्तीस गुण कहे है। प० आशाधरने अपनी टीकामे विजयोदयाके अनुसार छत्तीस गुण बतलाकर प्राकृत टीकाके अनुसार अट्ठाईस मूलगुण और आचारवत्व आदि आठ इस तरह छत्तीस गुण कहे हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भगवती आराधना और विजयोदयामें अट्ठाईस मूलगुणोको नही गिनाया है। यद्यपि कथनमे आ जाते है।

आचार्यके सन्मुख अपने दोषोकी आलोचना करनेका बहुत महत्त्व है उसके बिना समाधि सम्भव नही होती। अत समाधिका इच्छुक क्षपक दक्षिण पार्श्वमे पीछीके साथ हाथोकी अजलि मस्तकसे लगाकर मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक गुरुकी वन्दना करके सब दोषोको त्याग आलोचना करता है। अत गाथा ५६४ मे आलोचनाके दस दोष कहे है। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि (९-२२) में भी आई है। आगे ग्रन्थकारने प्रत्येक दोषका कथन किया है।

आचार्य परीक्षाके लिये क्षपकसे तोन बार उसके दोषोंको स्वीकार कराते है। यदि वह तीनो बार एक ही बात कहता है तो उसे सरलहृदय मानते है। किन्तु यदि वह उलटफेर करता है तो उसे मायावी मानते है। और उसकी शुद्धि नही करते।

इस प्रकार श्रुतका पारगामी और प्रायश्चित्तके क्रमका ज्ञाता आचार्य क्षपककी विशुद्धि करता है। ऐसे आचार्यके न होनेपर प्रवर्तक अथवा स्थविर निर्यापकका कार्य करते हैं। जो अल्पशास्त्रज्ञ होते हुए भी सघकी मर्यादाको जानता है उसे प्रवर्तक कहते है। जिसे दीक्षा लिये बहुत समय बीत गया है तथा जो मार्गको जानता है उसे स्थविर कहते है।

निर्यापक—जो योग्य और अयोग्य भोजन पानकी परीक्षामे कुशल होते है, क्षपकके चित्तका समाधान करनेमे तत्पर रहते है, जिन्होने प्रायश्चित्त ग्रथोको सुना है और दूसरोका उद्धार करनेका महत्त्व जानते हैं ऐसे अडतालीस यति निर्यापक होते है ॥६४७॥

वे क्षपकके शरीरको सहलाते है, हाथ पैर दबाते है, चलने-फिरने, उठने-बैठनेमे सहायता करते हैं। उनमेसे चार तो परिचर्या करते है। चार धर्मकथा करते है। चार खानपानकी व्यवस्था करते हैं। वह खानपान उद्गम आदि दोषोसे रहित होता है और क्षपकके स्वास्थ्यके अनुकूल होता है। चार यति उस लाये गये खानपानकी रक्षा करते है। चार यति मलमूत्र उठाते है। चार यति क्षपकके द्वारकी रक्षा करते हैं असंयमी जनोको प्रवेशसे रोकते हैं। चार मुनि उस देशके अच्छे-बुरे समाचारो पर दृष्टि रखते है जिससे समाधिमे कोई बाधा उपस्थित न हो। चार यति जो स्वसिद्धान्त और पर सिद्धान्तके ज्ञाता होते हैं, धर्मश्रवणके लिये उपस्थित श्रोताओंको इस तरहसे उपदेश देते हैं कि उससे क्षपकको कोई बाधा न पहुचे। अनेक शास्त्रोके ज्ञाता और

बाद करनेमे कुशल चार यति उस सभा मे सिंहके समान विचरण करते हैं कि यदि कोई विवाद करे तो उसका उत्तर दे सके।

कालके अनुसार यतियोके गुणो और सख्यामे भी परिवर्तन होता रहता है। कम से कम दो निर्यापक अवश्य होते है। एक बाहर जाये तो एक पासमे रहे ॥६७१-६७२॥

जब वह क्षपक खानपान त्यागकर संस्तर पर आरोहण करता है तब निर्यापक आचार्य उसके कानमें शिक्षा देते है ॥७१९॥

सबसे प्रथम सम्यक्त्वका माहात्म्य बतलाते हैं। कि शुद्ध सम्यक्त्वी अविरत भी तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध करता है। असयमी भी श्रेणिक भविष्यमे तीर्थंकर होगा ॥७३९॥

सम्यक्त्वके पश्चात् ज्ञानका और तदनन्तर पाँच महाव्रतोंकी रक्षाका उपदेश देते है।

गाथा ७७० मे कहा है—जो ज्ञानरूप प्रकाशके बिना मोक्षमार्गको प्राप्त करना चाहता है वह अन्धा अन्धकारमे दुर्ग पर जाना चाहता है।

गाथा ७७५ से ८०६ तक अहिसाका वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसका प्रभाव अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपायके अहिंसा वर्णन पर प्रतीत होता है।

गाथा ७९१ मे कहा है—यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्रीका वध न करना परमधर्म है . सर्व प्राणियो पर दया परमधर्म क्यो नही है ?

गाथा ८०४ मे ८०९ तक तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायमें कहे जीवाधिकरण और अजीवाधिकरणके भेदोका विवेचन है।

गाथा ८१७ से सत्याणुव्रतके चार भेद कहे है जो पुरुषार्थ सिद्धयुपायमे भी कहे हैं।

गाथा ८७१ से ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है।

गाथा ८७२ मे कहा है—जीव ब्रह्म है उसमे चर्या ब्रह्मचर्य है।

गाथा ८८७-८८९ मे कामकी दस दशाओका वर्णन है।

गाथा ९२१ मे कहा है—

परमहिल सेवतो वेरं वधबंध-कलहधणनास।
पावदि रायकुलादा तिस्से णीयल्लयादो य॥

सर्वार्थसिद्धिके सातवे अध्यायमे भो परस्त्री सेवनमे यही दोष कहे है—

यथा—'पराङ्गनालिगनसगकृतरतिश्चेहैव वैरानुबन्धिनो लिगच्छेदनवधबन्धसर्वस्वापहरणादीनपायान् प्राप्नोति।

गाथा ९२३ मे जो कहा है तत्त्वार्थवार्तिकमे भी ब्रह्मचर्यके प्रकरणमे वही शकश: कहा है—

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मिकद।
जह दुक्खमप्पणो होई तहा अण्णस्स वि णरस्स ॥९२३॥

त०वा०—'यथा च मम कान्ता परिभवे परकृते सति मानसपीडाऽतितीव्रा जायते तथेतरेषाम्।

गाथा ८१६ मे अहिंसाणुव्रतमें चण्डालका उदाहरण दिया है। गाथा ८४३मे असत्य भाषण के फलमे राजा वसुका उदाहरण है। गाथा ८८६ मे चोरीके फलमे श्रीभूतिका उदाहरण है। गाथा ९२९ में परस्त्री गमनके फलमे कडारपिगका उदाहरण है।

गाथा ९३६ में कहा है कि स्त्रीके निमित्तसे ही महाभारत रामायण आदिमे वर्णित युद्ध हुए।

गाथा ९९४ मे कहा है—

वयणे अमय चिट्ठदि हियए य विस महिलियाए।

इसी आशयका एक पद्य संस्कृतमे प्रसिद्ध है—

'अधरेऽमृतमस्ति योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम्।'

गाथा ९७१ आदिमे स्त्रीके वाचक स्त्री, नारी, प्रमदा, विलया, युवती, योषा, अबला, कुमारी और महिला शब्दोकी व्युत्पत्ति दोषपरक की गई है।

गाथा १००१ से गर्भमे शरीरकी रचनाका क्रम बतलाया है। तथा १०२१ आदिसे शरीरके अवयवोका परिमाण बतलाया है।

गाथा १०५७ १०५९ मे ससाररूपी वृक्षका चित्रण है जिसमे एक पुरुष वृक्षकी डाल पकड-कर मोहवश लटका हुआ है और दो चूहे उस डालको काट रहे है।

गाथा १०९५ मे स्त्रीके कारण भ्रष्ट हुए रुद्र, पाराशर ऋषि, सात्यकि आदिके नाम आते है।

गाथा ११११ से परिग्रहत्याग महाव्रतका निरूपण करते हुए कहा है कि पहले जो दस स्थिति कल्प कहे है उनमे प्रथम है वस्त्र आदि समस्त परिग्रहका त्याग। आचेलक्य शब्द देशा-मर्षक है अत आचेलक्यसे समस्त परिग्रहका त्याग अभीष्ट है। केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेसे सयमी नही होता ॥१११८॥

गाथा ११२३ मे लोभवश चोरोके द्वारा मद्य, मासमे विष मिलाकर परस्परमे एक दूसरेको मार डालनेका उदाहरण है, इस तरहके अनेक उदाहरण है।

गाथा ११७८ मे महाव्रत शब्दकी व्युत्पत्ति दी है। यह मूलाचारमे भी है।

गाथा ११७९ मे कहा है कि इन महाव्रतोकी रक्षाके लिए ही रात्रिभोजन त्याग नामक व्रत कहा है। यह भी मूलाचारमे है।

भाषा समितिका वर्णन करते हुए गाथा ११८७ मे सत्यके दस भेद कहे है। तथा गाथा ११८९-९० मे नौ प्रकारकी अनुभय भाषा कही है। ये दो गाथाएँ जीवकाण्ड गोम्मटसारमें भी हैं और मूलाचारमे भी है। गाथा ११९१ की टीकामे टीकाकार ने लिखा है कि दशवैकालिक सूत्रकी विजयोदया टीकामे उद्गम आदि दोषोका कथन किया है इससे यहाँ नही कहा। यह टीका भी इन्ही टीकाकारकी होनी चाहिये। उसका नाम भी विजयोदया ही है। किन्तु इस ग्रन्थमे भी गाथा २३२ की टीकामे उद्गम आदि दोषोका कथन टीकाकारने किया है। किन्तु वह संक्षिप्त है अतः विस्तारसे कथन दूसरी टीकामे किया होगा।

गाथा ११९३ में प्रतिष्ठापन समितिका स्वरूप वही कहा है जो अन्य दिगम्बर ग्रन्थोंमे उत्सर्ग समितिके नाम से कहा है। केवल नाममें भेद है।

गाथा १२०० मे अहिंसा व्रतकी भावना कही है। त०सू० ७।४ मे वाग्गुप्ति है और यहाँ एषणासमिति है इतना अन्तर है। सत्यव्रतकी भावना त०सू०के अनुरूप ही है। किन्तु तृतीय व्रतकी भावना भिन्न है। दोनोमे किञ्चित् भी समानता नही है।

निदानका निषेध करते हुए गा० १२१८ में कहा है कि मोक्षका इच्छुक मुनि 'मैं मरकर पुरुष आदि होऊँ' ऐसा भी निदान नहीं करता क्योंकि यह पुरुष आदि पर्याय भी भवरूप ही है। अत मुनिको केवल यही भावना करना चाहिये कि मेरे दु खोका नाश हो, कर्मोंका क्षय हो, समाधिपूर्वक मरण हो आदि।

क्षपकको सम्बोधन करते हुए इन्द्रिय आदिकी आसक्तिमें नष्ट होनेवालोंके उदाहरणोकी एक लम्बी तालिका इस ग्रन्थमे दी गई है। यथा—घ्राणेन्द्रियकी आसक्ति वश सरयू नदीमे अयोध्यापति गन्धमित्र विषपुष्प सूँघ कर मरा ॥१३४९॥

पाटलिपुत्रमे गन्धर्वदत्ता वेश्या पाचाल नामक गायकका गान सुनकर मूर्च्छित हो गई ॥१३५०॥

कपिलाका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी होनेसे मारा गया ॥१३५१॥

सुवेग नामक चोर स्त्रीके रूपमे आसक्त होनेसे मरा ॥१३५२॥

नासिक नगरमे ग्वालेपर आसक्त राष्ट्रकूटकी भार्याने अपने पुत्रको मार दिया। फिर उसकी पुत्रीने अपनी माँको मार दिया ॥१३५३॥

रोषसे द्वीपायनने द्वारिका नगरीको जला दिया ॥१३६८॥

मानके कारण सगरके साठ हजार पुत्र मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

माया दोषसे रुष्ट कुम्भकारने भरतगाँवके धान्यको सात वर्षतक जलाया ॥१३८२॥

कार्तवीर्यने लोभवश परशुरामकी गाये चुराई। वह परशुरामके द्वारा सुकुटुम्ब मारा गया ॥१३८८॥

अवन्ति सुकुमालको तीन रात तक शृगालीने पूर्ववैरवश खाया ॥१५३४॥

पुद्गलगिरिपर सिद्धार्थके पुत्र सुकौशलमुनिको व्याघ्रीने खाया ॥१५३५॥

गजकुमार मुनिको पृथ्वीपर लिटाकर उसमे कीले ठोकी गई ॥१५३६॥

सनतकुमारने सौ वर्षतक अनेक रोग सहे ॥१५३७॥

एणिकापुत्र मुनि गगामे नावके डूब जानेपर मृत्युको प्राप्त हुए ॥१५३८॥

भद्रबाहु घोर अवमौदर्यके द्वारा उत्तमस्थानको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

कौशाम्बी नगरीमे ललितघट आदि मुनि नदीके प्रवाहमे बह गये ॥१५४६॥

चम्पा नगरीमे गगाके तटपर घोर प्याससे पीडित धर्मघोष मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

पूर्वजन्मके शत्रु द्वारा पीडित होकर श्रीदत्तमुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए। उष्णपरीषहको सहनकर वृषभसेन मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए। रोहेडय (रोहतक) नगरमें क्रौंच राजाने अग्नि राजाके पुत्रको शक्तिसे मारा। वह उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

काकन्दी नगरीमें चण्डवेगने अश्वघोष मुनिका सर्वांग छेद डाला ॥१५४५॥

विद्युच्चर मुनिने डाँस मच्छरोकी घोर परीषह सहन की ॥१५४६॥

हस्तिनापुरके गुरुदत्त मुनिके सिरपर द्रोणिमत पर्वतपर आग जलाई गई। चिलातपुत्र मुनिके शरीरको चीटियोंने खा डाला ॥१५४८॥

दण्ड मुनिको यमुनावक्रने तीक्ष्ण बाणोसे छेद डाला ॥१५४९॥

कुम्भकारकट नगरमे अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि यन्त्रमे पेले गये ॥१५५०॥

चाणक्य मुनि कण्डोंकी आगमे जलाये गये ॥१५५१॥

कुणाला नगरीमे वृषभसेन मुनि वसतिकामे जलाकर मारे गये ॥१५५२॥

इस प्रकारके उदाहरणोके द्वारा निर्यापक आचार्य क्षपकको कष्ट-विपत्तिके समय दृढ करते हैं।

धर्मध्यानका वर्णन—गा० १७०३ मे धर्मध्यानके चार भेद कहे है। इसकी टीकामे चारोके स्वरूपका वर्णन करते हुए टीकाकारने आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप कहकर सर्वार्थसिद्धिमे (९।३६) मे कहे स्वरूपको 'अन्ये तु वदन्ति' कहकर लिखा है। इसी तरह धर्मध्यानके आलम्बन-रूपसे बारह अनुप्रेक्षाओके कथनके अन्तर्गत ससार अनुप्रेक्षाके कथनमे पचपरावर्तनका कथन है। गा० १७६७ की टीका मे 'अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव वदन्ति' लिखकर सर्वार्थसिद्धि (२।१०) मे प्रतिपादित भवपरिवर्तनका स्वरूप कहा है। इस तरह टीकाकार सर्वार्थसिद्धिकारका उल्लेख 'अन्ये' शब्दसे करते है।

तथा गाथा १८२८ की टीकामे सातावेदनीय, शुभनाम, शुभगोत्र और शुभ आयुके साथ मोहनीय कर्मके भेद सम्यक्त्व, रति, हास्य, और पुरुषवेदको पुण्य प्रकृतियोमे गिनाया है। तत्त्वार्थसूत्रके आठवें अध्यायके अन्तमे श्वेताम्बरीय सूत्र पाठमे ऐसा ही कथन है। पं० आशाधर जी ने भी अपनी टीकामे विजयोदया का ही अनुसरण किया है। उन्होंने भी इसपर कोई आपत्ति नही की है।

शुक्लध्यानका कथन—धर्मध्यानके आलम्बनरूपसे बारह अनुप्रेक्षाओका कथन करनेके पश्चात् गाथा १८७१ से शुक्लध्यानके चार भेदोंका कथन है।

इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाके पालक केवल ज्ञानी होकर लोकके शिखरपर विराजमान होते है ॥१९२३॥ मध्यम आराधनाके पालक शरीर त्यागकर अनुत्तरवासी देव होते है ॥१९२७॥ तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते है वे भी सौधर्मादि स्वर्गोंमे देव होते है ॥१९३४॥ किन्तु जो आराधनासे गिरकर आर्त रौद्रध्यानी होते है वे सुगति प्राप्त नही करते।

यहाँ ग्रथकारने प्रसगवश अवसन्न आदि कुमुनियोंका स्वरूप कहा है। टीकाकार ने गा० १९४४ की टीकामे इन कुमुनियोका स्वरूप स्पष्ट किया है।

अवसन्न—जो उपकरण, वसतिका और सस्तरकी प्रतिलेखनामे, स्वाध्यायमे, विहारभूमिके शोधनमे, गोचरीकी शुद्धतामे, ईर्यासमिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमे तत्पर नहीं रहता, छह आवश्यकोमे आलस्य करता है, उसे अवसन्न कहते है।

पार्श्वस्थ—जो उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है, नित्य एक ही वसतिकामे रहता है, एक ही सस्तरपर सोता है, एक ही क्षेत्रमें रहता है, गृहस्थोके घरके भीतर बैठता है, रातमे मनमाना सोता है, वह पार्श्वस्थ है।

टीकाकारने उपकरणवकुश और शरीरवकुशको भी पार्श्वस्थमुनि कहा है। तत्त्वार्थसूत्रमें वकुशमुनिको भी निर्ग्रन्थके भेदोंमे कहा है और तदनुसार ही सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक आदि टीकाओंमे कहा है। किन्तु विजयोदया टीकाकार लिखते हैं—जो रातमे मनमाना सोता है, संस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौडा बनाता है वह उपकरणवकुश है। जो दिनमे सोता है वह देहवकुश है। ये भी पार्श्वस्थ है। सारांश यह है कि जो सुखशील होनेके कारण ही अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है।

कुशील—जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है। उसके अनेक भेद टीकाकारने कहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओमे कुशीलको भी निर्ग्रन्थ मुनियोमे गिनाया है।

संसक्त—जो नटकी तरह चारित्र प्रेमियोमे चारित्र प्रेमी और चारित्रसे प्रेम न करनेवालो-मे चारित्रके अप्रेमी बनते है वे संसक्त मुनि हैं। वे पञ्चेन्द्रियोके विषयोमे आसक्त रहते हैं। स्त्रियोके विषयमे रागभाव रखते हैं। ऋद्धिगारव, रसगारव, सातगारवमे लीन रहते हैं।

यथाच्छन्द—जो बात आगममे नही कही है उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे उद्दिष्ट भोजनमे कोई दोष नही है क्योकि भिक्षाके लिए पूरे ग्राममें भ्रमण करनेसे जीवनिकायकी विराधना होती है। जो हाथमे भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है। आदि, जो क्षपक मरते समय सन्मार्गसे च्युत हो जाते है उसका कारण सात गाथाओंसे कहा है।

मरणोत्तर विधि—गा० १९६८ से मरणोत्तर विधिका वर्णन है जो आजके युगके लोगो-को विचित्र लग सकतो है। यथा—

१ जिस समय साधु मरे उसे तत्काल वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमे मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

२ यदि ऐसा न किया जाये तो कोई विनोदी देवता मृतक को उठाकर दौड सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है ॥१९७१॥

३ अनिष्टकालमे मरण होने पर शेष साधुओमे से एक दो का मरण हो सकता है इसलिये सघकी रक्षाके लिये तृणोका पुतला बनाकर मृतकके साथ रख देना चाहिये।

४ शवको किसी स्थान पर रख देते है। जितने दिनो तक वह शव गीदड आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्यमे सुभिक्ष रहता है। इस प्रकार सविचार भक्त प्रत्याख्यानका कथन करके अन्तमे निर्यापकोकी प्रशंसा की है।

अविचार भक्तप्रत्याख्यान—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यानका समय नही रहता और सहसा मरण उपस्थित हो जाता है तब मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥ उसके तीन भेद है—निरुद्ध, निरुद्धतर और परम निरुद्ध। जो रोगसे ग्रस्त है, पैरोमे शक्ति न होनेसे दूसरे सघमे जानेमे असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। इसी प्रकार शेषका भी स्वरूप और विधि कही है।

इस प्रकार सहसा मरण उपस्थित होनेपर कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाशकर मुक्त होते हैं। आराधनामें कालका बहुत होना प्रमाण नही है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन राजा

भगवान ऋषभदेवके पादमूलमे बोधको प्राप्त होकर मुक्ति गया ॥२०२१॥

आगे इंगिणीमरणका कथन है—

इंगिणीमरण—इगिणीमरणका इच्छुक साधु सघसे अलग होकर गुफा आदिमे एकाकी आश्रय लेता है उसका कोई सहायक नही होता। स्वय अपना सस्तरा बनाता है। स्वयं अपनी परिचर्या करता है। उपसर्गको सहन करता है क्योकि उसके तीन शुभ सहननोमेंसे कोई एक सहनन होता है। निरन्तर अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमे लीन रहता है। यदि पैरमें कांटा या आंखमें धूल चली जाये तो स्वय दूर नही करता। भूखप्यासका भी प्रतीकार नही करता।

प्रायोपगमन—प्रायोपगमनकी भी विधि इगिणीके समान है। किन्तु प्रायोपगमनमे तृणोंके सस्तरेका निषेध है। उसमे स्वय तथा दूसरेसे भी प्रतीकार निषिद्ध है। जो अस्थिचर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन करता है। यदि कोई उन्हे पृथ्वी जल आदिमे फेक देता है तो वैसे ही पडे रहते हैं।

बाल पण्डितमरण—भेद सहित पण्डित मरणका कथन करनेके पश्चात् बाल पण्डितमरण-का कथन है। एक देश सयमका पालन करनेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावकके मरणको बाल पण्डितमरण कहते हैं। उसके पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत ये बारह ब्रत होते हैं। दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत है ॥२०७५॥ और भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथि सविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत है। तत्त्वार्थसूत्रमे भी ये ही व्रत कहे है। किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचारसे इसमे अन्तर है।

श्रावक विधिपूर्वक आलोचना करके तीन शल्योको त्याग अपने घरमे ही सस्तर पर आरूढ होकर मरण करता है। यह बालपण्डितमरण है।

अन्तमे पण्डित पण्डित मरणका कथन है। जो मुनि क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके केवलज्ञानी होकर मोक्ष लाभ करता है उसका पण्डित पण्डित मरण है। उसकी सब विधि कही है कि किस गुणस्थानमे किन प्रकृतियोका क्षय करता है। केवलज्ञानी होनेपर क्या क्या करता है, आदि।

अन्तमे कहा है कि समस्त आराधनाका कथन श्रुतकेवली भी करनेमे असमर्थ है।

उक्त विषयपरिचयसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थका नाम आराधना क्यों रखा गया और क्यो उसके साथ भगवती जैसा आदरसूचक विशेषण लगाया गया।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रको अखण्ड जिनशासनने मोक्षका मार्ग माना है। सम्यक् चारित्रमे ही तप भी गर्भित है। इनका वर्णन अनेक जिनागमोमे है। किन्तु आराधना शब्दसे वहाँ उनका व्यवहार नही किया गया है। ग्रन्थकारने दूसरी गाथाके द्वारा आराधनाका स्वरूप कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरणको आराधना कहते है। टीकाकारने अपनी टीकामें इन पाँचोका स्वरूप स्पष्ट किया है।

अन्तिम निस्तरण शब्दका अर्थ किया है सम्यग्दर्शन आदिको भवान्तरमे भी साथ ले जाना। इस ग्रन्थके अन्य व्याख्याकारोंके मतकी आलोचना टीकाकारने यद्यपि की है। तथापि उससे यह स्पष्ट होता है कि यतः इस ग्रन्थमे मुख्य रूपसे मरण समाधिका वर्णन है और जीवन

भर आराधना करनेका सुफल मरणकालमें आराधना है। उसमे यदि आराधक चूक जाता है तो उसके जीवनभरकी आराधना निष्फल हो जाती है। इसीसे इस ग्रन्थमे आराधना नाम देकर उसके साथ अत्यन्त पूज्यता सूचक विशेषण भगवती लगाया है। जिस आराधनाके द्वारा आराधक शरीर त्यागकर अपुनर्जन्म जैसे निर्वाणका लाभ करता है और भगवान बनता है उसे भगवती कहना सर्वथा उपयुक्त है।

४ ग्रन्थमें चर्चित मुख्य विषय

जैसा विषय परिचयसे स्पष्ट है इस ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है मरणके प्रकार। यद्यपि मरणके सतरह भेद कहे है किन्तु ग्रन्थकारने उनमेसे पाँच प्रकारके ही मरणोंका कथन किया है। वे हैं केवलज्ञानीका मरण अर्थात् निर्वाण लाभ पण्डितमरण है। विरताविरत अर्थात् देशसंयमीका मरण बाल पण्डितमरण है। अविरत सम्यग्दृष्टीका मरण बालमरण है और मिथ्यादृष्टिका मरण बालबालमरण है। तथा शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधुका मरण पंडितमरण है उसके तीन प्रकार हैं। उनमेसे भक्त प्रतिज्ञा नामक पण्डित मरणका ही इस ग्रन्थमें वर्णन विशेष रूपसे है।

गाथा २८ मे जो 'साहुस्स' के साथ 'जहुत्तचारिस्स' विशेषण दिया है वह बहुत महत्त्वका है। जो साधु होकर शास्त्रानुसार आचरण करते हुए समाधिपूर्वक मरण करता है उसीका मरण पण्डितमरण है केवल साधुपद स्वीकार कर लेने मात्रसे पण्डितमरण नही होता।

समाधिपूर्वक मरण और आत्मघात—आजके अनेक विद्वान भी जो जिनागमसे पूर्णतया परिचित नही हैं किसी जैन साधुके समाधिपूर्वक मरणको भी आत्मघात जैसे दूषित शब्दसे कहते हुए सुने जाते है। उन्हे यह ध्यानमे रखना चाहिये कि जैन साधु किस दशामें समाधि लेनेके लिये तैयार होता है। गाथा ७०–७३ मे कहा है—

यदि किसीको साधुपदके लिये हानिकर असाध्य व्याधि हो गई हो, या अचानक कोई ऐसा उपसर्ग आ जावे जिसमें जीवन पर संकट हो, या अपने इष्टमित्र ही अपने चारित्रका घात करने पर उतर आवे, या भयंकर दुर्भिक्ष हो जिसमे साधुचर्याके योग्य गोचरी मिलना सभव न हो, या आँखोसे कम दिखाई देता हो, कानोसे कम सुनाई पडता हो, या पैरोमे चलने फिरनेकी शक्ति न हो, अन्य भी इस प्रकारके कारण उपस्थित होने पर ही साधु समाधि लेनेका सकल्प करता है।

इसके विपरीत जिसका मुनिधर्म निरतिचार पूर्वक पल रहा है, दुर्भिक्ष आदि भी नही हैं, वह भी यदि समाधिके लिये उत्सुक होता है तो समझना चाहिये कि उसे मुनिधर्मसे ही विरक्ति हो गई है (७५)।

इतना स्पष्ट विधान होते हुए भी जैन समाधिको आत्मघातकी संज्ञा देना अत्यन्त अनुचित है। इसके विपरीत [1]हिन्दू धर्मशास्त्रोमे जो धर्मके नामपर पर्वतसे गिरकर या आगमे जलकर मरनेका विधान है वह आत्मघातमे भी क्रूर है। इस तरहके मरणको किसी भी तरह धर्म नही कहा जा सकता।

१ देखो 'तुलसीप्रज्ञा' अप्रैल सितम्बर १९७७ जैन विश्व भारती लाडनूं।

समाधिमरणको सल्लेखना कहते हैं, सम्यक् रीतिसे शरीर और कषायको कृश करनेका नाम सल्लेखना है। शरीर बाह्य है और कषाय अभ्यन्तर है। शरीरका साधन भोजन है। धीरे-धीरे आहारको घटानेसे शरीर कृश होता है और कषायके कारणोंसे बचनेसे कषाय घटती है। शरीरको सुखा डाला और क्रोध मान माया लोभ नही घटे तो शरीरका शोषण निष्फल है। आत्मघात करनेवालेकी कषाय प्रबल होती है। क्योंकि जो रागद्वेष या मोहके आवेशमे आकर विष, शस्त्र, आग आदिके द्वारा अपना घात करता है वह आत्मघाती कहलाता है। सल्लेखना करनेवालेके रागादि नही होते। तत्त्वार्थसूत्र ७।२२ की टीका सर्वार्थसिद्धिमे एक उदाहरणके द्वारा इसे स्पष्ट किया।

जैसे व्यापारीको अपने व्यापारके केन्द्रका विनाश इष्ट नही होता क्योकि उसके नष्ट होने पर उसका व्यापार ही नष्ट हो जायेगा। यदि किसी कारणवश उसके केन्द्रमे आग लग जाये तो वह उसको बुझाकर उसकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करता है। किन्तु यदि उसको बचाना शक्य नही देखता तो उसमें भरे हुए मालको बचानेका प्रयत्न करता है। इसी तरह व्रत शीलरूपी द्रव्यके संचयमे लगा हुआ साधु या गृहस्थ भी अपने शरीरको नष्ट करना नही चाहता, क्योंकि वह धर्मका साधन है। यदि शरीर नष्ट होनेके कारण उपस्थित होते हैं तो अपने धर्मके अविरुद्ध उपायोसे शरीरकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता है किन्तु यदि वह प्रयत्न सफल नही होता तो शरीरकी रक्षाका प्रयत्न त्यागकर अपने धर्मकी रक्षाका प्रयत्न करता है। ऐसी स्थितिमे उसे आत्मवध कैसे कहा जा सकता है ?

यथार्थमें मरण शरीरधारी प्राणियोके लिये उतना ही सत्य है जितना जीवन सत्य है। जीवनके मोहमें पडकर मनुष्य उस सत्यको भुला देता है और जिस किसी भी उपायसे सदा जीवित रहनेका ही प्रयत्न करता है। किन्तु उसका यह प्रयत्न सफल नही होता। एक दिन मृत्यु उसके इस प्रयत्नको समाप्त कर देती है। अत जीवनके साथ मृत्युके सुनिश्चित होनेसे मनुष्यको जीवनके साथ मरनेके लिये भी तैयारी करते रहना चाहिये। तथा जीवनमे हर्ष और मृत्युमे विषाद नही करना चाहिये। जिनकी मृत्यु शानदार होती है उनका जीवन भी शानदार होता है। रोते धोते हुए प्राणोका त्याग करना भी कायरता ही है। अत मृत्युका आलिंगन भी साहसके साथ करना चाहिये। उसीका कथन इस ग्रथराजमे है।

५ भ० आराधना और मरणसमाधि आदि

आगमोदय समितिसे १९२७ मे 'चतु शरणादि मरण समाध्यन्त प्रकीर्णक दशक' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसमे आतुर प्रत्याख्यान, भत्तपरिण्णय, सथारगपइण्णय और मरण समाही इन चारमे प्राय वही विषय है जो भ० आराधनामे मुख्य है। आतुर प्रत्याख्यानमे ७० गाथाएँ है। भत्तपरिण्णयमे १७२ गाथा हैं। सथारगपइण्णयमे १२३ और मरण समाधिमे ६६३ गाथा है। इस तरह मरण समाधि बड़ा ग्रथ है और उसमे तथा भ०आ० मे बहुत सी गाथाएँ समान हैं।

शिष्य आचार्यसे मरण समाधि जानना चाहता है। आचार्य उसे समझाते है—

भणइ य तिविहा भणिया सुविहित आराहणा जिणिदेहिं।
सम्मत्तम्मि य पढमा नाणचरित्तेहिं दो अण्णा ॥ १५ ॥

इस तरह इसमें तीन ही आराधना कही हैं। इसमें भी गाथा ४४ में पण्डितमरणको कहनेकी सूचना है—

इत्तो जह करणिज्जं पंडियमरणं तहा सुणह।

आगे मरणसमाधिकी गा० ६० से ६६ तथा भ० आ० की गाथा १८१ से १८८ समान हैं।

आचार्य कैसा होना चाहिये यह दो गाथा ८६-८७ मे कहा है और भ०आ० ४१९-४२० गा० में कहा है। ये गाथाएँ समान नही है कथनी समान है।

मर० स० ९४-९५ मे और भ०आ० ५३३-५३४ मे आलोचनाका कथन है। तथा म०स० ९६-१०१ में और भ०आ० ५४०-५४२, ५४५, ५४८, ५४९ मे शल्योका कथन है। गाथा ३०१ से आगे कहा है—

इति सिरिमरणविभत्तिसुए सलेहणसुयं सम्मत्त। अथ आराहणासुय लिख्यते।

अर्थात् मरणविभक्तिश्रुतके अन्तर्गत सल्लेखना श्रुत समाप्त हुआ। अब आराधनाश्रुत लिखते है। इस तरह इसमे दो विभाग किये है।

भ० आ० की तरह इसमे भी साधना करनेवालोंके उदाहरण दिये है। यथा—कचनपुरमे श्रेष्ठि जिनधर्म श्रावक (४२३)। मेतार्य मुनि (४२६), चिलाती पुत्र (४२७), गज सुकुमाल (४३१), अवन्ति सुकुमाल (४३५), धन्य शालिभद्र (४४४), सुकोशल (४६६), वइर ऋषि (४६८), वइर स्वामी (४७२), चाणक्य (४७८), इलापुत्र (४८३), क्षमाश्रमण आर्यरक्षित (४८९), स्थूलभद्र ऋषि (४९०), अर्जुन मालाकार (४९४), आसाढ मूर्ति आचार्य (५०२) आदि।

अन्तिम गाथाओमे कहा है—एक मरणविभक्ति, दो मरणविशुद्धि, तीसरी मरणसमाधि, चतुर्थ सल्लेखनाश्रुत, पाँच भक्तप्रतिज्ञा, छठा आतुर प्रत्याख्यान, सातवाँ महाप्रत्याख्यान, आठवाँ आराधना पइण्णा इन आठ श्रुतोका भाव लेकर मरणविभक्तिकी रचना की है। इसका दूसरा नाम मरणसमाधि है।

आतुर प्रत्याख्यानका प्रारम्भ बालपण्डितमरणसे होता है। अत भ० आ० की २०७२ से २०८१ तककी गाथाएँ इसमे एकसे दसतक वर्तमान हैं। इसमे आगे कुछ ऐसी गाथाएँ भी हैं जो कुन्दकुन्दके प्राभृतोमे पाई जाती है यथा ममत्त परिवज्जामि ॥२३॥ आया हु मह नाणे ॥२४॥ एगो मे सासदो अप्पा ॥२६॥ संजोगमूला जीवेण ॥२७॥

भत्तपइण्णामे भी अनेक गाथाएँ भ० आ० के समान है। सस्तार पइण्णाका प्रारम्भ क्षपकके लिये आवश्यक सस्तारककी प्रशसासे होता है। इसकी प्रथम गाथामे सस्तारकी प्रशसामे वे ही उपमा दी है जो भ० आ० मे ध्यानकी प्रशसामे दी है। यथा—

वेरुलिउव्व मणीण गोसीसं चदण व गधाण।
जह व रयणेसु वइर तह सथारो सुविहियाण ॥५॥
× × ×
वइर रदणेसु जहा गोसीसं चदण च गधेसु।
वेरुलिय व मणीण तह ज्झाण होइ खवयस्स ॥१८९०॥

इसमे भी भ० आ० की तरह ही सुकौशल मुनि (६३), अवन्ति सुकुमाल (६५), रोहेटक नगरमे कोंच क्षत्रिय (६८) पाटलीपुत्रमे चन्द्रगुप्त (७०), कोलपुरमे गृद्धपृष्ठ (७१), पाटलीपुत्रमे चाणक्य (७३), काकन्दीपुरोमे अमृतघोष (७६), कौशाम्बीमे ललित घटा (७९), कुरुदत्त (गुरुदत्त) (८५), चिलाती पुत्र (८६), गजसुकुमाल (८७), आदि उदाहरण दिये है।

जैसे भगवतीमें गुरु क्षपकको सम्बोधन करते है। इसमे भी कुछ उसी प्रकार है। कोई-कोई गाथा भी समान है।

इस तरह मरणसमाधि, भत्तपइण्णा और संथारगमे तथा भगवती आराधनामें अनेक गाथाएँ समान है। किन्तु इनमें केवल समाधि सम्बन्धी कुछ आवश्यक कथन ही पाया जाता है। मरणोत्तर क्रियाका, ध्यानका, लिंगका तो वर्णन ही नहीं है। इसी प्रकार अपना सघ छोडकर निर्यापकाचार्यको खोजनेका भी कोई वर्णन नही है। भगवती आराधनामे आराधनासे लेकर निर्वाण तकका सब अविकल वर्णन विस्तारसे किया है। गाथाओंमे समानता होनेका प्रमुख कारण तो यह है कि तीनों ही सम्प्रदायोका मूल तो भगवान् महावीरकी वाणी और गौतम गणधरके द्वारा रचित द्वादशांग ही रहे हैं। भेदका मूलकारण वस्त्रपात्रवाद रहा है। विधि तो पृथक्-पृथक् नही रही। अतः प्राचीन गाथाएँ उत्तराधिकारमे दोनोको मिली है। वही सर्वत्र मेल खाती है उनमें सिद्धान्त भेदकी बात नही है।

अत अपनी रचनाके अन्तमे शिवार्यने जो कहा है कि मैंने अपनी शक्तिसे इसे उपजीवित करके पूर्वाचार्यकृतके समान रचा है वही इसपर पूर्ण प्रकाश डालता है। मरण समाधि भी इसी प्रकार रची गई है।

६ भ० आ० तथा मूलाचार

दिगम्बर परम्परामे मूलाचार मुनि आचार विषयक प्राचीन मान्य ग्रन्थ है। टीकाकार अपराजित सूरिकी टीकामे उद्धृत कुछ गाथाएँ मूलाचारमे मिलती है। भगवती आराधनाके साथ मिलान करनेसे भी दोनोकी कुछ गाथाएँ परस्परमे मेल खाती हैं। किन्तु ये गाथाएँ अधिकतर मूलाचारके पञ्चाचार प्रकरणसे सम्बद्ध है। मूलाचारमे समाधिमरणका कथन नही है केवल मुनिआचारका ही कथन है। श्वेताम्बरीय मरणसमाधि आदि प्रकरणोमे केवल मरणसमाधिका ही कथन है। किन्तु भगवती आराधनामे मुनि आचार और मरणसमाधि दोनोका ही कथन है क्योंकि पण्डितमरणमे ही भक्त प्रतिज्ञा आदि होती है और वह मुनिके ही होता है। इसलिये भ० आ० मे मुनि आचारका भी कथन है। तथा भ० आ० मे जो मुनिका आचार कहा है वह मूलाचारमे भी कहा है।

जिस 'आयार जीद कप्प' आदि गाथाके सम्बन्धमे कहा जाता है कि श्वेताम्बरीय होना चाहिये, वह भी मूलाचारके पञ्चाचारमे है। इस प्रकरणकी लगभग सैतीस गाथाएं भगवतीसे मेल खाती है। भ० आ० मे जो लिंग प्रतिपादक गाथा है वह भी मूलाचारमे है। अच्चेलक्कं लोचो आदि समयसाराधिकारकी १७ वी गाथा है। इसी अधिकारमे दस कल्पवाली गाथा भी है। पीछीके गुण बतलानेवाली गाथा भी इसी अधिकारमे है उसका नम्बर १९ है। भ० आ० मे इनका क्रमाक ७९, ४२३, ९७ है।

इसके समयसाराधिकार की ८, ९, १६, १९, ४९, ६० और ८१ नम्बर की गाथाएँ भ० आ० में ७६८, ७६९, २९०, ९७, ७, २९७ और १४३४ नम्बरमे पाई जाती है। इनमे साधुके लिये उपयोगी कथन है—यथा आचरणहीन ज्ञान निरर्थक है। ज्ञान प्रकाशक है और तप शोधक है। निद्राको जीतना चाहिये। जिस क्षेत्रमे राजा न हो या दुष्ट राजा हो, वहाँ समाधि या प्रव्रज्या नही लेना चाहिये। आदि।

पञ्चाचाराधिकारकी गा० ४०, ४२, ४८, ९८, ९९, ११०, ११७, १२३, १३०, १३१, १३२, १३३, १३५, १३६, १३८, १३९, १४०, १४३, १४५, १४६, १५६, १६२, १७०, १७२, १७४, १७७, १७८, १८२, १८९, १९०, १९४, १९९, २०४, २०५, २१०, २१२, २१३, भ० आ० मे क्रमश १८१९, १८२९, १८४१, ११७२, ११८०, ११८६, ११८८, ८०८, ११९५, ११९६, ११९७, ११९८, ११८१, ११८२, ११८४, ११९९, १२००, १२०४, १२०६, १२०७, २१५, २३८, ११२, ११४, ११९, १२२, १२३, १२७, १३१, १३२, ३०७, १६९८, १७०८, १७०९, १११२, १०६, १०३ है।

दोनो ग्रन्थोंके गाथानुक्रमको देखते हुए यह कहना अति साहस होगा कि किसी एकने दूसरेसे लिया है या नकल की है। प्राचीन माने जानेवाले ग्रन्थोंमे इस प्रकारक, क्वचित् साम्य देखकर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि प्राचीन गाथाएँ परम्परासे अनुस्यूत चली आती थी और उनका सकलन ग्रन्थकारोने अपने-अपने ढंगसे किया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायमे वस्त्र और पात्रक कारण मुनि आचारमे भेद बड़ा है। किन्तु भ० आ० और मूलाचारके आचारमे साम्य देखकर यह कहना पडता है कि यदि भगवती आराधनाके कर्ता दिगम्बर सम्प्रदायक न होकर यापनोय थे तो भी यापनोय और दिगम्बर साधुओके आचारमे भेद नही था। आगे इसका चर्चा करेगे।

७ रचयिताका सम्प्रदाय

स्व० श्री नाथूरामजो प्रेमी ने 'यापनीयोंका साहित्य' शीर्षक लखमे भगवती आराधनाके रचयिता शिवार्य और टीकाकार अपराजित सूरिको यापनीय सिद्ध किया है।

यहाँ प्रथम यापनीयोके सम्बन्धमे प्रकाश डालना उचित होगा।

वि० स० ९९० मे रचे गये दर्शनसारमे[1] देवसेन ने वि० सं० २०५ मे कल्याण नगरमे श्रीकलश नामके श्वेताम्बरसे यापनीय सघकी उत्पत्ति बतलाई है। उसीमे विक्रस० १३६ मे श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति बतलाई है। इस तरह दिगम्बर और श्वेताम्बरकी तरह तीसरा भी जैन सघ था। डा० उपाध्ये ने अपने एक लेखमे[2] यापनीय संघ पर विस्तारसे प्रकाश डाला था।

दिगम्बर साहित्यमे वि० की सोलह शताब्दीके ग्रन्थकार श्रुत सागरसूरि ने अपनी षट् प्राभृत टीकामे यापनीयोका परिचय देते हुए लिखा है—

'यापनीयास्तु वसरा ? इवोभय मन्यते रत्नत्रय पूजयन्ति कल्प च वाचयन्ति। स्त्रीणां तद्भवे मोक्ष केवलिजिनाना कवलाहार परशासने सग्रन्थाना मोक्ष च कथयन्ति।'

अर्थात् यापनीय दोनोको मानते है, रत्नत्रयको पूजते और कल्पसूत्र भी बाचते हैं। स्त्रियोंको उसी भवमे मोक्ष, केवली जिनोके कवलाहार, परशासनमें सग्रंथोको मोक्ष कहते हैं। यह सभी बाते श्वेताम्बर मानते है और इन्हींको लेकर श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदायमे मुख्य भेद है।

---

१. कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पच उतरे जादे। जावणियसघभावो। सिरिकलसादो दु सेवडदो ॥ २९ ॥

२ बम्बई यूनिवर्सिटी जर्नल जि० १, भाग २, मई १९३३ में प्रकाशित 'यापनीयसघ ए जैन सघ्ट'।

किन्तु[1] ललितविस्तरके कर्ता हरिभद्र और षड्दर्शन समुच्चयके टीकाकार गुणरत्न जो श्वेताम्बर हैं, कहते है कि यापनीय संघके मुनि नग्न रहते थे मोरकी पीछी रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्न मूर्त्तियाँ पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकोको 'धर्मलाभ' देते थे। परन्तु वे मानते थे कि स्त्रियोको उसी भवमे मोक्ष हो सकता है। केवली भोजन करते है और सग्रन्थ अवस्था और परशासनसे भी मुक्त होना सम्भव है।

हम इस कथनके प्रकाशमें सर्व प्रथम भ० आ० की परीक्षा करेगे। प्रेमी जी ने लिखा है गाथा ७९-८३ मे मुनिके उत्सर्ग अपवाद मागका विधान है जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है। अत सबसे प्रथम हम इसी पर प्रकाश डालते हैं।

भक्त प्रत्याख्यानके योग्य लिंगका निरूपण करते हुए ग्रथकार कहते है—जो औत्सर्गिक लिंगका धारी है उसका तो वही लिंग होता है। किन्तु जो आपवादिक लिंगका धारी है उसके पुरुष चिह्नमे यदि दोष न हो तो उसके लिये भी औत्सर्गिकलिंग ही होता है ॥ ७६ ॥

इसकी टीकामे अपराजित सूरि ने औत्सर्गिकका अर्थ सकल परिग्रहके त्यागसे उत्पन्न हुआ किया है तथा अपवादिक लिंगका अर्थ परिग्रह सहित लिंग किया है; क्योंकि यतियोके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते है, इससे यह स्पष्ट है कि अपवादिक लिंगका धारी गृहस्थ ही होता है। मुनि तो औत्सर्गिक लिंगका ही धारी होता है।

जो अपवादिक लिंग मे स्थित है और जिनके पुरुष चिह्नमे कोई दोष नही है क्या उन सबको ही औत्सर्गिक लिंग धारण करना चाहिये, इसके उत्तरमे कहा है—जो महान् सम्पत्तिशाली राजा आदि है, लज्जाशील है, जिनके कुटुम्बी मिथ्याधर्मावलम्बी है उनको सार्वजनिक स्थानमे औत्सर्गिक लिंग नही देना चाहिये। वे सचेल लिंग पूर्वक ही समाधिमरण कर सकते है ॥ ७८ ॥

आगे औत्सर्गिक लिंगका स्वरूप कहा है—

अचेलता—वस्त्ररहितपना, केशलोच, शरीरसे ममत्वका त्याग और पीछी औत्सर्गिक लिंगमे ये चार बाते आवश्यक हैं ॥ ७९ ॥

प्रवचनसारके चारित्राधिकारमे कुन्दकुन्द स्वामी ने भी औत्सर्गिक लिंगका यही स्वरूप कहा है। और मूलाचारमे तो यही गाथा है। दोनो गाथाएँ समान है। यह तो हुआ पुरुषोके सम्बन्धमे। स्त्रियोके सम्बन्धमे कहा है—स्त्रियोके भी जो औत्सर्गिक अथवा अन्य लिंग आगममे कहा है उनके वही लिंग अल्पपरिग्रह करते हुए होता है ॥ ८० ॥

इसकी टीकामे अपराजित सूरि ने स्पष्ट कर दिया है कि तपस्विनी स्त्रियोके औत्सर्गिक लिंग होता है और 'इतर' का अर्थ श्राविका किया है। तथा लिखा है—भक्त प्रत्याख्यानमे तपस्विनियोके औत्सर्गिक लिंग होता है। इतर अर्थात् श्राविकाओके पुरुषोकी तरह लगा लेना चाहिये। अर्थात् यदि स्त्री रानी वगैरह है, लज्जाशील है, उसके कुटुम्बी मिथ्यामती है तो उसको पूर्वोक्त औत्सर्गिक लिंग जो सकलपरिग्रह त्यागरूप है एकान्त स्थानमे देना चाहिये। इसपर प्रश्न किया गया कि स्त्रियोके उत्सर्ग लिंग कैसे कहते हैं? उत्तरमे कहा है कि परिग्रह अल्प करने पर उनके भी उत्सर्गलिंग होता है। यहाँ यह ध्यान देना चाहिये कि यदि ग्रंथकार और टीकाकारको

---

१ जै० सा० इ० पृ० ५९।

सवस्त्र मुक्ति अभीष्ट होती तो वह भक्त प्रत्याख्यानके लिये औत्सर्गिक लिंग आवश्यक नहीं रखते और न टीकाकार उत्सर्गका अर्थ सकल परिग्रहका त्याग करते तथा परिग्रहको यतिजनोंके अपवादका कारण होनेसे अपवादरूप न कहते। और न स्त्रियोंसे ही अन्तिम समय एकान्त स्थानमें परिग्रहका त्याग कराते।

श्वेताम्बर परम्परामें जो भक्तप्रत्याख्यान विषयक मरणसमाधि आदि ग्रंथ हैं, जिनके साथ इस ग्रंथकी अनेक गाथाएँ भी मेल खाती हैं उनमे भक्तप्रत्याख्यानके लिये आवश्यक लिंगका कथन ही नही है। किन्तु भगवती आराधनामें उसपर बहुत अधिक जोर दिया गया है और इस विषयमें ग्रंथकार और टीकाकारमे एकरूपता है। दोनों ही साधु आचारके विषयमे इतने कट्टर हैं कि दिगम्बर आचार्योंको भी मात करते है।

आगे यह प्रश्न किया गया कि जो भक्तप्रत्याख्यानके योग्य है वह रत्नत्रयकी भावनाका प्रकर्ष होनेपर मरणको प्राप्त हो जायेगा, लिंग ग्रहण आवश्यक क्यों है ? इसके उत्तरमे ग्रन्थकार ने गा० ८१–८४ तक लिंग ग्रहणके गुण बतलाये है।

आगे प्रश्न किया गया क्या अपवाद लिंग का धारी शुद्ध नही ही होता ? इसके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते है—

अपवाद लिंगका धारी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए अपनी निन्दा गर्हा करते हुए परिग्रहका त्याग करने पर शुद्ध होता है ॥८६॥

इसकी टीकामे टीकाकारने निन्दा गर्हाको स्पष्ट करते हुए लिखा है—'सकल परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है। मुझ पापीने परिषहके भयसे वस्त्रपात्र आदि परिग्रह स्वीकार की' इस प्रकार अन्तरंगमे सन्तापको निन्दा कहते है। और दूसरोसे ऐसा कहनेको गर्हा कहते हैं। जो ऐसा करता है वह निन्दा गर्हा क्रियारूप परिणत होता है। अन्तमे लिखा है—

'एवमचेलता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता।'

अर्थात् इस प्रकार जिस अचेलताके गुणोका वर्णन किया गया है उसे मूल गुणरूपसे स्वीकार किया है।

जो सकल परिग्रहके त्यागको मुक्तिका मार्ग मानता है वह सवस्त्र मुक्ति या स्त्री मुक्ति कैसे स्वीकार कर सकता है ?

समाधिमरणके इच्छुक क्षपकको अपनी समाधिके लिए किस प्रकारका आचार्य खोजना चाहिये, इस प्रसगसे कहा है जो दस कल्पोमे स्थित हो। अत गाथा ४२३ मे दस कल्पोको कहा हैं। यह गाथा मूलाचारमे भी है और श्वेताम्बर आगमोंमे भी है। इसमे सबसे प्रथम कल्प है अचेलता। चेल वस्त्रको कहते हैं अत अचेलताका अर्थ होता है 'वस्त्ररहितपना'। किन्तु टीकाकारने अचेलकपनेका अर्थ करते हुए लिखा है—'चेल शब्दका परिग्रहका उपलक्षण है। अत आचेलक्यका अर्थ है समस्त परिग्रहका त्याग। दस धर्मोंमें त्याग नामका एक धर्म है। त्यागका अर्थ है समस्त परिग्रहसे विरक्तता। अचेलताका भी यही अर्थ है। अत 'अचेल' यति त्याग धर्मका पालक होता है आदि।

इस गाथाकी टीकामे टीकाकारने अचेलताके गुणोका विस्तारसे समर्थन किया है। उसी

प्रसंगमें उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि पूर्वागमोंमें वस्त्रपात्र आदि ग्रहण करनेका उपदेश है और उसको दिखलानेके लिए आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगमोंके प्रमाण उपस्थित किये है। तथा समाधानमे उन्ही आगमोंके प्रमाण देकर यह बतलाया है कि आचारांग आदिमे विशेष अवस्थामें वस्त्रका ग्रहण बतलाया है लज्जाके कारण, शरीरके अग ग्लानियुक्त होनेपर तथा परिषह महनेमें असमर्थ होनेपर वस्त्र ग्रहण करें।

इससे यह नही कहा जा सकता कि उन्हे मुनिका वस्त्रपात्र ग्रहण मान्य है। वह तो आगमोमें वर्णित वस्त्रपात्रको विशेष अवस्थामे ही बतलाया गया कहते है।

टीकाकार ने लिखा है—'आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्र कारणापेक्षया भिक्षूणा ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने अक्षम स गृह्णाति अचेलता नाम परिग्रहत्याग पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणापेक्ष वस्त्रपात्र ग्रहणम् यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधि गृहीतस्य च परिहरणमवश्य वक्तव्यम्। तस्माद् वस्त्रपात्र चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुपु यदुक्त तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम् (पृ० ३२४-३२५)

अर्थात् आगममे आर्यिकाओको विशेष कारण होनेसे वस्त्रकी अनुज्ञा है। भिक्षुओके शरीरका अवयव यदि लज्जाजनक हो लिंगके मुखपर चर्म न हो या अण्डकोष लम्बे हो, अथवा परिषह सहनेमें असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण करता है। अचेलताका अर्थ है परिग्रह त्याग। पात्र भी परिग्रह है अत उसका भी त्याग सिद्ध ही है। अत कारण विशेष होनेपर ही वस्त्रपात्रका ग्रहण होता है तथा कारण विशेष होने पर जो उपकरण ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहणकी विधि, तथा ग्रहण किये हुए का त्याग अवश्य कहना चाहिये। इसलिये बहुतसे सूत्रग्रन्थोमे अर्थाधिकारकी अपेक्षासे जो वस्त्रपात्रका कथन किया है वह कारण विशेषकी अपेक्षा कहा है ऐसा मानना चाहिये।

उक्त उद्धरणोसे टीकाकार की भी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। तथा दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीयका भी भेद स्पष्ट हो जाता है। दिगम्बर तो विशेष परिस्थितिमे भी वस्त्रपात्रका ग्रहण स्वीकार नहीं करते, न वे ऐसे आगमोको मान्य करते है जिनमे वस्त्रपात्रका पोषण है। यापनीय उन आगमोको अमान्य न करके उनके कथनको विशेष कारणकी अपेक्षा स्वीकार करते हैं। अत कारण विशेषसे ग्रहण किये गये वस्त्रपात्रको वे त्याज्य ही मानते हैं। अत जिसने अपनी असमर्थताके कारण वस्त्र ग्रहण किया है उसे अन्तमे वस्त्र त्याग करना ही होगा यह ग्रन्थकार और टीकाकार दोनोंका मन्तव्य है। अत न वे सवस्त्रमुक्ति मानते है और न परशासनमे मुक्ति मानते हैं। किन्तु वे वस्त्रपात्रवादके समर्थक आगमोंको दिगम्बरोंकी तरह सर्वथा अमान्य नही करते। इसीसे वे यापनीय कहे जा सकते है। यापनीय आगम ग्रन्थोको मानते थे यह शाकटायन व्याकरणके उदाहरणोंसे भी स्पष्ट है।

इस ग्रन्थकी सर्वप्रथम भाषा टीका प० सदासुखदास जी ने की थी। उनके सामने अपराजित सूरिकी टीका भी थी। उक्त प्रकरणको देखकर उन्होने लिखा था कि इस ग्रन्थकी टीकाका कर्ता श्वेताम्बर है, वस्त्र पात्र आदिका पोषण करता है अत अप्रमाण है।

तब तक यापनीय सघसे विद्वान भी अपरिचित थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दो ही जैन सम्प्रदाय सर्वत्र ज्ञात थे और पूर्वागमोको दिगम्बर स्वीकार नही करते थे, श्वेताम्बर ही स्वीकार

करते थे। अत: जो उन्हें स्वीकार करे उसे श्वेताम्बर मान लिया जाता था। इसी आधार पर डा० के० बी० पाठकने शाकटायनको श्वेताम्बर मान लिया था और उनकी इस मान्यताको अनेक विदेशी विद्वानोंने भी स्वीकार कर लिया था, क्योंकि शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें अनेक श्वेताम्बर मान्य आगम ग्रन्थोंका निर्देश है।

डा० पाठककी इस मान्यताका निरसन श्रीयुत स्व० प्रेमी जीने 'शाकटायन'का शब्दानुशासन' शीर्षक अपने निबन्धके द्वारा किया था जो सन् १९१६ मे जैन हितैषीमें प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होने नन्दिसूत्रकी टीकामे आचार्य मलयगिरिके एक वाक्यकी ओर ध्यान दिलाया था। उसमें शाकटायनको यापनीय यतिग्रामाग्रणी लिखकर उनकी स्वोपज्ञ शब्दानुशासन वृत्तिके आदिम मंगल श्लोकको उद्धृत किया है। उसके पश्चाद् डा० ए० एन० उपाध्येका यापनीयोंके सम्बन्धमें लेख बम्बई यूनिवर्सिटीके जर्नल (जि० १, भाग ६ मई १९३३) मे प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने बतलाया कि श्वेताम्बर और दिगम्बरकी तरह ही यापनीय भी एक स्वतन्त्र और प्रमुख सम्प्रदाय था। उसके अपने मन्दिर और मूर्तियाँ थी दक्षिणके अनेक राजवंशोंसे उन्हे संरक्षण प्राप्त था। शाकटायन इस सम्प्रदायका एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार था। उसके शब्दानुशासनको अमोघवृत्तिके साथ दिगम्बरोने अपना लिया और शेष दो प्रकरणोको श्वेताम्बरोंने।

ये दो प्रकरण हैं स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायके मौलिक भेदमें ये ही दोनो मान्यतायें प्रमुख कारण हैं।

भारतीय ज्ञानपीठसे अमोघवृत्तिका जो सस्करण प्रकाशित हुआ है उसके प्रारम्भमें जर्मनीके प्रो० डा० आर० बिरवेकी विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना है। उसमे उन्होंने उक्त दोनो प्रकरणोंके शब्दानुशासनके रचयिता शाकटायनकृत होनेमें कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। ये दोनों प्रकरण भी इस सस्करणमे दिये गये है। प्रथम स्त्रीमुक्ति प्रकरण है। इसके प्रारम्भमे छपा है—

'यापनीय-यतिग्रामाग्रणि भदन्तशाकटायनाचार्य-विरचित
स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्तिप्रकरणयुग्मम्।

स्त्रीमुक्ति प्रकरणके अन्तमे उसके कर्ताका नाम नही है। यथा—

इति स्त्रीमुक्ति प्रकरणं समाप्तम्।

केवलि भुक्ति प्रकरणका अन्त इस प्रकार है—

इति केवलिभुक्ति प्रकरणम्।
इति स्त्रीनिर्वाण-केवलीयभुक्ति प्रकरणम्॥
कृतिरिय भगवदाचार्यशाकटायनभदन्तपादानमिति।

इस परसे प्रो० डा० बिरवेने लिखा[2] है कि इसमे खटकने वाली बात यह है कि अन्तिम पुष्पिकामें केवल भगवदाचार्य शाकटायन लिखा है उसमें उनके सघका निर्देश नही है। किन्तु प्रारम्भिक वाक्यमें शाकटायनके साथ यापनीययतिग्रमाग्रणी पद लगा है जैसा कि मलयगिरिने लगाया है। यह मौलिक अन्तर उल्लेखनीय है।

१. जै० सा० इ०, पृ० १५५।
२. उक्त प्रस्तावना, पृ० १७ आदि।

दोनों प्रकरणोंके प्रकाशित संस्करणमें ऐसा उल्लेख नहीं है कि यापनीय शाकटायनने स्त्रीमुक्ति और केवलि भुक्ति प्रकरण तथा अमोघवृत्तिके साथ शब्दानुशासनकी रचना की। तथा मलयगिरि दोनो प्रकरणो और उनके कर्ताके सम्बन्धमे मौन है।

इस परसे यह संभावना होती है कि यद्यपि दोनो शाकटायन यापनीय थे। किन्तु एक नही थे। यह निष्कर्ष केवल इस बात पर निर्भर है कि दोनों प्रकरणोकी हस्तलिखित मूल प्रति पर 'यापनीय'' 'प्रकरण युग्मम्' वाक्य पाया जाता है। किन्तु यदि उस पर यह वाक्य नही है जैसा कि मुझे (प्रो० विरवे) सन्देह है क्योंकि संस्कृत ग्रन्थोके आधुनिक सस्करणोके मुख पृष्ठोका मुझे इससे स्मरण हो आता है, तो शाकटायनके यापनीय तथा दोनो प्रकरणोके रचयिता होनेकी यह साक्षी मलयगिरिके कथनसे मेल नही खाती।

बृहत् टिप्पणिका (१५ वी० शती) के अज्ञात लेखकने लिखा है—

'केवलिभुक्ति-स्त्रीमुक्तिप्रकरणम्। शब्दानुशासनकृतशाकटायनाचार्यकृतम्। तत्सग्रह-श्लोका:'।

इस परसे यह कहा जाता है कि शाकटायनने शब्दानुशासन और दोनो प्रकरणोको रचा था। इस सूचनाको मलयगिरिकी सूचनाके साथ पढ़नेसे हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि दोनो प्रकरणोका रचयिता शाकटायन यापनीय होना चाहिये क्योकि उसने शब्दामुशासन भी रचा था। इत्यादि। इस प्रकार प्रो० डा० बिरवेने उक्त दोनो प्रकरणोके शब्दानुशासनके रचयिता शाकटायन कृत होनेमें सन्देह व्यक्त किया है।

आज जिन ग्रन्थकारोको यापनीय कहा जाता है उनमेसे किसीने भी अपनी कृतिमे अपने सम्प्रदायका निर्देश नही किया है। यहाँ तक शाकटायनने भी नही किया है। अपनी अमोघवृत्ति-के प्रारम्भमे लिखते हैं—'महाश्रमण संघाधिपतिर्भगवानाचार्यशाकटायन।' अपने व्याकरणके प्रत्येक पादकी अन्तिम सन्धिमे लिखते हैं—'श्रुतकेवलिदेशीयाचार्यशाकटायन

यह तो उन ग्रन्थोंमे पाये जाने वाले आगमोके निर्देश आदिके आधार पर उन्हे यापनीय कहा जाता है। इसी आधार पर आराधनाके कर्ता शिवार्य और उसके टीकाकार अपराजित सूरि भी यापनीय कहे जाते है। इन दोनोकी ही गुरुपरम्परा न श्वेताम्बर सम्प्रदायमे पाई जाती है और न दिगम्बर सम्प्रदायमे। इससे भी उनकी भिन्नताका अनुमान किया जाता है। अस्तु,

श्री प्रेमी जीने लिखा है 'दस स्थिति कल्पोके नाम वाली गाथा जिसकी टीका पर अपराजितको यापनीय सिद्ध किया गया है, जीतकल्प भाष्यकी १९७२ नं० की गाथा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अन्य टीकाओ और निर्युक्तियोमे भी यह मिलती है और प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमल-मार्तण्डके स्त्रीमुक्ति विचार (नया संस्करण पृ० १३१) प्रकरणमे इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धांतके रूपमें ही किया है।'

प्रेमीजीका यह लिखना यथार्थ है कि दसकल्पोंवाली गाथा श्वेताम्बर आगम साहित्यमे मिलती है। इसीसे आचार्य प्रभाचन्द्रने उसका उपयोग अपने पक्षकी सिद्धिमें किया है कि आप लोग आचेलक्य नही मानते है, ऐसी बात नही है आप भी मानते है और उन्होने प्रमाणरूपसे वही गाथा उद्धृत की है। किन्तु इससे वह गाथा तो श्वेताम्बरीय सिद्ध नही होती। मूलाचारमें

भी (१०।१७) यह गाथा आई है। आशाधरके अनगारधर्मामृतमे (९।८०-८१) भी इसका संस्कृत-रूप मिलता है। दस कल्प तो दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल नही है किन्तु अनुकूल ही है। इसका प्रबल प्रमाण प्रथमकल्प आचेलक्य ही है। जिसका अर्थ श्वेताम्बर टीकाकारोंने अल्पचेल या अल्पमूल्य चेल आदि किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र उक्त गाथाशको उद्धृत करके लिखते हैं 'पुरुष प्रति दशविधस्य स्थिति-कल्पस्य मध्ये तदुपदेशात्'। पुरुषके प्रति जो दस प्रकारके स्थितिकल्प कहे हैं उसमे आचेलक्यका उपदेश है। अत वह दस स्थितिकल्पोंको अमान्य नही करते उन्हे मान्य करके ही अपने पक्षका समर्थन करते हैं।

आगे प्रेमीजीने लिखा है--'आराधनाकी ६६२ और ६६३ (इस सस्करणमे ६६१-६६२) नम्बरकी गाथाएँ भी दिगम्बर सम्प्रदायके साथ मेल नही खाती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लब्धियुक्त और मायाचाररहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक लावे। इसपर प० सदासुखजीने आपत्ति की है और लिखा है कि यह भोजन लानेकी बात प्रमाणरूप नाही।' इसी तरह 'सेज्जागासणिसेज्जा' (गाथा ३०७) आदि गाथापर (जो मूलाचारमे ३९१ न० पर है) कविवर बनारसीदासको शङ्का हुई थी और उसका समाधान करनेके लिए दीवान अमरचन्दजीको पत्र लिखा था। दीवानजीने उत्तर दिया था कि इसमे वैयावृत्ति करनेवाला मुनि आहार आदिसे उपकार करे। परन्तु वह स्पष्ट नही किया कि आहार स्वय हाथसे बनाकर दे। मुनिकी ऐसी चर्या आचारागमे नही बतलाई है।'

उक्त प्रकरण सस्तरपर समाधिमरणके लिए आरूढ़ क्षपकको वैयावृत्यसे सम्बद्ध है। पहली गाथामें कहा है कि चार परिचारक मुनि क्षपकको इष्ट भोजन लाते हैं जो प्रायोग्य अर्थात् उद्गम आदि दोषोंसे रहित होता है। 'इष्ट' को टीकामें स्पष्ट किया है कि जो क्षपककी भूख प्यास परीषहको शान्त करनेमें समर्थ हो वह इष्ट है। तथा वह भोजन बात पित्त कफ़-कारक न हो। लानेवाले मुनियोके लिए एक विशेषण दिया है। वे मायाचार रहित होने चाहिए अर्थात् अयोग्यको योग्य मानकर लानेवाले न हो।'

ज्ञानीजन यह जानते है कि जब क्षपक संस्तरपर आरूढ़ होता है तब उसकी शारीरिक स्थिति कैसी होती है। वह गोचरी नही कर सकता। जबतक गोचरी करनेमे समर्थ होता है तबतक सस्तरारूढ नही किया जाता। ऐसी स्थितिमें यदि उसे भूखा प्यासा रखा जाये तो उसके परिणाम स्थिर नही रह सकते। अत उस युगमे जब साधु बनोमे निवास करते थे तब ऐसे मरणासन्न साधुके लिए यही व्यवस्था सम्भव थी कि अन्य साधु उसके योग्य खान-पान-विधिपूर्वक लावें और उसे विधिपूर्वक देवे। आजकी तरह उस समय साधुओके निवास स्थानपर जाकर श्रावकोंके चौके तो लगते नही थे। और लगते भी तो इस प्रकारके उद्दिष्ट भोजनको वे स्वीकार नहीं कर सकते थे। गाथामें आहार लानेका स्पष्ट विधान है। अत बनाकर देनेकी कोई बात ही नही है। इसलिए उक्त कथन दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध नही है। समाधि एक दो दिनमे नही होती। उसमें समय लगता है और वही समय वैयावृत्यका होता है। आगे प्रेमीजीने लिखा है कि 'गाथा १५४४ (इस सस्करणमे १५३९) में कहा है कि घोर अवमोदर्य या अल्पभोजनके कष्टसे विना संक्लेश बुद्धिके भद्रबाहु मुनि उत्तमस्थानको प्राप्त हुए। परन्तु

दिगम्बर सम्प्रदायकी किसी भी कथामें भद्रबाहुका इस ऊनोदर कष्टसे समाधिमरणका उल्लेख नहीं है।'

हरिषेण कथाकोश सब कथा कोशोंसे प्राचीन है। इसमें १३१ नम्बर में बद्रबाहुकी कथा है। जब मगधमें दुर्भिक्ष पडा तो वह सम्राट चन्द्रगुप्तके साथ दक्षिणापथको चले। आगे लिखा है—

'भद्रबाहुमुनिर्धीरो भयसप्तकवर्जित । पम्पाक्षुधाश्रम तीव्र जिगाय सहसोत्थितम् ॥४२॥
प्राप्य भाद्रपद देश श्रीमदुज्जयिनीभवम् । चकारानशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम् ॥४३॥
आराधना समाराध्य विधिना स्वचतुर्विधाम् । समाधिमरण प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ ॥४४॥

अर्थात् सात भयोसे रहित भद्रबाहु मुनिने सहसा उत्पन्न हुए भूख प्यासके श्रमको जीता। और उज्जयिनी सम्बन्धी भाद्रपद देशमे पहुँचकर उन्होंने बहुत समय तक अनशन किया। तथा चार प्रकारकी आराधना करके समाधिमरणको प्राप्त हो स्वर्गको गये।

इस गाथासे तो दिगम्बर मान्यताकी ही पुष्टि होती है कि मगधमे दुर्भिक्ष पड़नेपर भद्रबाहु सम्राट चन्द्रगुप्तके साथ दक्षिणापथ चले गये थे। श्वेताम्बर ऐसा नही मानते। इसीसे मरण समाधि आदिमे भद्रबाहुका उदाहरण नही है। अत. उक्त कथन भी ठीक नही है।

आगे लिखा है—'तीसरी गाथाकी विजयोदया टीकामे 'अनुयोगद्वारादीना बहूनामुपन्यास-मकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यास' आदिमे अनुयोगद्वारसूत्रका उल्लेख किया है।

यह अनुयोगद्वार सूत्र नामक श्वे० ग्रंथका उल्लेख नही है, किन्तु निर्देश स्वामित्व आदि अनुयोग द्वारोंका उल्लेख है। जब विस्तारसे कथन करना होता है तो इन अनुयोग द्वारोका आश्रय लिया जाता है। इसीलिये 'दिङ्मात्रोपन्यास' लिखा है। गा० ७५२ की टीकामे लिखा भी है—'निर्देश-विधानैरनुयोगद्वारै'।

हाँ, विजहना नामक अधिकार अवश्य ही आजके युगमे विचित्र लग सकता है जिसमे मुनिके मृत शरीरको रात्रिभर जागरण करके रखनेकी और दूसरे दिन किसी अच्छे स्थानमे वैसे ही बिना जलाये छोड़ आनेकी विधि वर्णित है।

उस समयका विचार कीजिये जब बडे-बड़े साधु सघ वनोमे विचरते थे। उस समय किसी साधुका मरण हो जानेपर वनमे शवको रख देनेके सिवाय दूसरा मार्ग क्या था? वे न जला सकते थे, न जलानेका प्रबन्ध कर सकते थे। अत उसका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेषसे नही है। यह तो सामयिक परिस्थिति और प्रचलन पर ही निर्भर है। अत प्रेमीजीका केवल इतना हो लिखना यथार्थ है कि 'यापनीय संघ सूत्र या आगमग्रन्थोको भी मानता था। और उनके आगमोंकी वाचना उपलब्ध वलभी वाचनासे, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमे मानी जाती है, शायद कुछ भिन्न थी। उसपर उनकी स्वतत्र टीकाएं भी हो सकती हैं जैसी अपराजितकी दशवैकालिक पर टीका थी जो अब अप्राप्य है।'

अतः इस बातको दृष्टिमे रखकर विचार करने पर आराधनाके कर्ता शिवार्य और टीकाकार अपराजित दोनों ही यापनीय हो सकते हैं। अपराजित सूरिने अपनी टीकामें आगमोंसे

अनेक उद्धरण दिये है किन्तु उनमेंसे कम ही उनमें मिलते हैं। अपराजितकी टीकाके सम्बन्धमें आगे विचार करेंगे। तब उनकी स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ सकेगा। किन्तु हमें वे सवस्त्र मुक्ति या स्त्री मुक्तिके समर्थक प्रतीत नही हुए।

भगवती आराधना और कथाकोश

भगवती आराधनामें कहा है कि जब सस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल आता है तब अशुभ मनवचनकायको निर्मूल करनेके लिए चार परिचारक धर्मकथा कहते हैं (६५९)। फलतः इस ग्रन्थमें गाथाओंके द्वारा ऐसे अनेक उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु उनमें केवल व्यक्ति और घटनाका उल्लेख मात्र है कथाएँ नही दी है। विजयोदया टीकामें भी गाथामें आगत शब्दोकी व्याख्यामात्र है। आशाधरने कही-कहीपर कुछ विशेष कहा है। शोलापुरसस्करण पृ० ६४३ पर अपनी टीकामे वह लिखते हैं—

'अति दुर्लभत्वे दश दृष्टान्ता सूत्रेऽनुश्रूयन्ते—

चुल्लय पासं धण्णं जूवा रदणाणि सुमिण चक्क वा।
कुम्भ जुग परमाणु दस दिट्ठंता मणुयलंभे ॥

एते चुल्ली भोजनादि कथा सम्प्रदाया दशापि प्राकृतटीकादिषु विस्तरेणोक्ताः प्रतिपत्तव्या:'।

अर्थात् मनुष्य जन्मकी दुर्लभताके सम्बन्धमे सूत्रमे दस दृष्टान्त सुने जाते है। ये चुल्ली आदिकी दसो कथायें प्राकृत टीका आदिमे विस्तारसे कही है। आशाधरके इस उल्लेखसे प्रकट है कि भगवती आराधनापर प्राकृतमे भी कोई टीका थी और उसमे ये कथाएँ विस्तारसे दी हुई थी। सम्भवतया इसीसे विजयोदया आदिमे नही दी गई हैं।

स्व० डा० ए० एन० उपाध्येने हरिषेणकृत बृहत्कथाकोशकी अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामे आराधनासे सम्बद्ध कथाकोशों और कथानकोपर विस्तारसे प्रकाश डाला है। यहाँ उसीके आधारपर सक्षेपमें ज्ञातव्य बाते दी जाती है। ऐसे कथाकोश है—१ हरिषेण कथाकोश (स०), २ श्रीचन्द्रका अपभ्रंश कथाकोश, ३ प्रभाचन्द्र कथाकोश (स०), ४ नेमिदत्तका आराधना कथाकोश (सं० पद्य), ५ नयनन्दिका अपभ्रंश कथाकोश, तथा पुरानी कन्नड़मे वड्डाराधने।

इन पाँचोमे हरिषेण कथाकोशमे सबसे अधिक कथाएँ है, परिमाण और विस्तारमें भी यह सबसे बड़ा है और सबसे प्राचीन भी है।

श्रीचन्द्रकी विशेषता यह है कि प्रथम वह आराधनासे गाथा देते है उसका सस्कृतमें अर्थ देते है फिर उससे सम्बद्ध कथा कहते हैं। उनका लिखना है कि जैसे दीवारके विना उसपर चित्रकारी सम्भव नही है उसी प्रकार गाथाकी शब्दश व्याख्याके विना पाठक कथाको नही समझ सकता। वह प्रथम गाथाके व्याख्यानसे अपना कथाकोश प्रारम्भ करते हैं।

प्रभाचन्द्रका कथाकोश संस्कृत गद्यमे है। भारतीय ज्ञानपीठसे इसका प्रकाशन हुआ है। ग्रन्थकारने इसका नाम आराधना कथा प्रबन्ध दिया है। प्रत्येक कथाके प्रारम्भमे ग्रन्थकारने संस्कृत गद्यके साथ पद्य या भगवती आराधनाकी गाथाका अश दिया है। प्रारम्भकी ९० कथाएँ प्रायः भ० आ० के गाथाक्रमके अनुसार है। इन कथाओं तक कोशका प्रथम भाग समाप्त होता

है। इसका नाम आराधना कथाप्रबन्ध है। इसके रचयिता प्रभाचन्द्र पण्डित है जो जयसिंह देवके राज्यमे धाराके निवासी थे। दूसरे भागके प्रारम्भमे मंगल तक नही है। तथा कुछ कथाओं-में पुनरुक्ति है। प्रथम भागकी कथा १, २, ४ पात्रकेसरी अकलक और समन्तभद्रसे सम्बद्ध हैं। हरिषेणके कथाकोशमें ये कथाएँ नही है।

ब्र० नेमिदत्त स्पष्टरूपमे स्वीकार करते है कि उनका सस्कृतपद्योमे रचित आराधना कथाकोश प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशका ऋणी है। किन्तु फिर भी दोनोमे स्पष्ट अन्तर है। प्रभाचन्द्रमे कथा सख्या १२२ है और नेमिदत्तमे १४४। कुछ कथाएँ कम है और कुछ कथाएँ ऐसी भी है जो प्रभाचन्द्रमे नही है।

कन्नडके वड्डाराधनेमे केवल १९ कथाएँ हैं जो भ० आ० की गाथा १५३४-१५५२ तक से सम्बद्ध है। प्रत्येक कथाके प्रारम्भमे गाथा दी है और कन्नडमे उसका व्याख्यान भी है। ये उन्नीस कथाएँ किञ्चित् परिवर्तनके साथ हरिषेणके कथाकोशमे १२६ से १४४ नम्बरमे पाई जाती है और अन्य कथाकोशोकी अपेक्षा उसके अधिक निकट है। किन्तु वड्डाराधनामे उनका विस्तार अधिक है।

हरिषेणका कथाकोश तो सबसे बड़ा और प्राचीन होनेसे अनेक दृष्टियोसे महत्त्वपूर्ण है। इसमे १५७ कथाएँ हैं। किन्तु भगवती आराधनाकी कोई गाथा या उसका अश इसमे नही है। केवल प्रशस्तिके श्लोक ८ मे 'आराधनोद्धृत' पद आता है।

हरिषेण कथाकोशमे कथाओका शीर्षक उस व्यक्तिके नामसे दिया है जिसकी कथा है। किन्तु प्रभाचन्द्रके कथाकोशमे शीर्षक भ० आ० की गाथाके आधारपर दिया गया है। दोनोके कथानकोमें भी अन्तर है।

८ भगवती आराधनाकी टीकाएँ

यहाँ हम भगवती आराधनाकी टीकाओका परिचय देते हुए सबसे प्रथम विजयोदया टीकाके सम्बन्धमें प्रकाश डालेगे जो इस संस्करणमे मुद्रित है।

१. **विजयोदया टीका**—विजयोदया टीकाके अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि उसके टीकाकार अपराजित सूरिका अध्ययन बहुत विस्तीर्ण तथा गम्भीर था। और उन्होने आगम साहित्यका भी गहरा मंथन किया था। उनकी इस टीकामे प्राकृत और सस्कृतके उद्धरणोकी बहुलता है। किन्तु उनमेसे अधिकाशके स्थानका पता नही चलता। उनकी लेखन शैली सुलझी हुई है। जो कुछ लिखते हैं खूब खोलकर लिखते हैं। अपनी टीकामे उन्होने गाथाके पदोका शब्दार्थ तो दिया ही है किन्तु यथास्थान उससे सम्बद्ध विवेचन देकर विषयको स्पष्ट ही नही किया, किन्तु बहुत सी आवश्यक नवीन जानकारी भी दी है। उदाहरणके लिये—

१ गा० २५ में ग्रन्थकारने सतरह मरण कहे है। उसकी टीकामे टीकाकारने सतरह मरणोंके नाम और स्वरूप दिये हैं।

२ गा० ४६ मे ग्रन्थकारने संक्षेपसे दर्शनविनयको कहा है। टीकाकारने दर्शनविनयके प्रत्येक अंगको स्पष्ट किया है। उसमे भक्ति और पूजाके साथ एक शब्द है 'वर्णजनन', उसका

अर्थ है महत्ता ख्यापन। इसका वर्णन संस्कृत गद्यशैलीमे विस्तारसे किया है। इसमे सांख्यादि दर्शनोंकी समीक्षा भी है। अर्हन्त सर्वज्ञ नही है पुरुष होनेसे। इस अनुमानका निरसन करते हुए कहा है—'जैमिनि आदि सकलवेदार्थज्ञ नही है पुरुष होनेसे' ऐसा भी कहा जा सकता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारिलने जो सर्वज्ञका खण्डन किया था, वह उनकी दृष्टिमें है। आगे यह भी लिखा है कि 'अर्हन्तके सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्यत्र कही है इसलिये यहाँ नही कहते है'। उनका यह कथन अकलंकके प्रकरणोंको लेकर भी हो सकता है। यद्यपि अकलंक आदि किसी दार्शनिक ग्रन्थकारका कोई संकेत नहीं है। किन्तु जिस प्रकार अकलंक देवने तत्त्वार्थ वार्तिकमें सूत्रके पदोका व्याख्यान किया है। उसी प्रकारकी शैली यहाँ देखनेमें आती है। जैसे वर्ण शब्द रूपवाची है, अक्षरवाची है, ब्राह्मणादि वर्णवाची है आदि।

३ गा० ११८ में ग्रन्थकारने साधुके उत्तरगुणका केवल निर्देश किया है। किन्तु उसकी टीकामे बाह्य तपो और छह आवश्यकोंका स्वरूप बहुत ही सुरुचिपूर्ण दिया है। इसमे जो दो गाथायें उद्धृत है वे मूलाचारके षडावश्यक प्रकरणमे पाई जाती है।

४ गाथा १४५ की टीकामे जिन भगवानके पञ्च कल्याणकोका वर्णन सस्कृत गद्यमे बहुत ही भक्तिपूर्ण है।

५ गाथा १५७ की टीकामे आलन्दविधि, परिहार संयम आदिका जो वर्णन किया है वह अन्यत्र देखनेमे नही आया। उसमें हमे सिद्धान्त विरुद्ध कथन कोई प्रतीत नही हुआ। प्रत्युत उससे परिहार विशुद्धि सयमकी महत्ता और दुरूहताका ही बोध हुआ। श्वेताम्बर आगमके अनुसार तो जम्बूस्वामीके मुक्तिगमनके पश्चात् जिन कल्पका विच्छेद हो गया। किन्तु टीकाकारने लिखा है कि जिन कल्पी सर्व धर्म क्षेत्रोमे सर्वदा होते हैं। इसमे भी कुछ गाथाये उद्धृत हैं जिनमे कल्पोक्त क्रम कहा है।

६ गाथा ४२३ की टीका मे दस कल्पोंका वर्णन है। उसमे आचेलक्य कल्पका वर्णन करते हुए टीकाकारने आगमोमें पाये जानेवाले वस्त्रपात्रवादकी समीक्षा करते हुए अचेलकताकी सिद्धि बडे प्रभावक ढंगसे की है। वह सब उनके वैदुष्यका परिचायक तो है ही, यापनीयोकी दृष्टिका भी परिचायक है। वही दृष्टि उन्हे श्वेताम्बरोंसे भिन्न करती है। इसमे भी उद्धरणोकी बहुलता है।

७. गाथा ४४८ की टीकामे पच परावर्तनका स्थूल वर्णन है। केवल भव-ससारका स्वरूप सर्वार्थसिद्धिसे मेल खाता है। इसमे एक श्लोक भर्तृहरिशतकसे उद्धृत है। कुछ श्लोक टीकाकारके भी हो सकते है उनमे चतुर्गतिका स्वरूप कहा है।

८ गाथा ४८९ मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके अतिचारोका सकेत है। इनमे से टीकामे जो तपके अतिचार कहे हैं वे उल्लेखनीय है क्योंकि अन्यत्र हमारे देखनेमें नही आये।

९ गाथा ११८१ की टीकामें मनोगुप्ति आदिका स्वरूप शका समाधान पूर्वक स्पष्ट किया है। मनोगुप्तिमे मन शब्द ज्ञानका उपलक्षण है। अत रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है। यदि ऐसा न माना जाय तो मति आदि ज्ञानके समय मनोगुप्ति नही रहेगी।

इस प्रकार टीकाकार ने अपनी टीकामे आवश्यकतानुसार समागत विषयोको स्पष्ट करके ग्रन्थकी गरिमामे वृद्धि की है।

उनकी टीकाके अवलोकनसे यह स्पष्ट है कि टीका लिखते समय उनके सामने इस ग्रन्थकी एकसे अधिक टीकायें वर्तमान थी। प्रथम गाथाकी टीकाका प्रारम्भ ही 'अत्रान्ये कथयन्ति' से होता है। इसीमें कहा है 'इति भाष्यपरिहारौ केषांचित्।' और इन भाष्य और उसके परिहार दोनोंको ही टीकाकारने अनुचित कहा है।

इसी तरह दूसरी गाथाकी टीकामें भी 'अत्रान्ये व्याचक्षते' आता है।

तीसरी गाथाकी टीकामे आता है—'अस्य सूत्रस्योपोद्घातमेवमपरे वर्णयन्ति।'

चौथी गाथाकी टीकामें आता है—'अत्रापरे सम्बन्धमारम्भयन्ति गाथाया।'

'अत्रापरा व्याख्या',

इस अपर व्याख्याकी परीक्षा करते हुए कहा है कि यदि ऐसा मानेगे तो—'अरसमरूव-मगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं' इसके साथ विरोध आता है।

यह उल्लेखनीय है कि यह आचार्य कुन्दकुन्दकी प्रसिद्ध गाथाका पूर्वार्द्ध है जो समयसार (४९) और प्रवचनसारमे (२।८०) भी आई है। प्रथम गाथाकी टीकामे भी टीकाकारने उदा-हरणरूपमे कुन्दकुन्दके प्रवचनसारकी आद्य दो गाथा तथा पञ्चास्तिकायकी मगल गाथाका पूर्वार्द्ध उद्धृत किया है। उससे पूर्वमे सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रकी मंगलगाथाका पूर्वार्द्ध उद्धृत किया है।

गाथा ११ की टीकामे समन्तभद्रके स्व० स्तो० का एक श्लोक उद्धृत है। इन्ही तीन प्राचीन और प्रमुख जैनाचार्योंके उद्धरण ही पहचाननेमे आते है। इनके सिवाय पृ० ३०९ पर एक वरागचरितका पद्य उद्धृत है और पृ० ३४७ पर शृङ्गार शतकका एक पद्य उद्धृत है।

तथा तत्त्वार्थसूत्रसे अनेक सूत्र उद्धत है। विद्वान् जानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ प्रचलित हैं एक दिगम्बर सम्मत है, दूसरा श्वेताम्बर सम्मत। जितने सूत्र उद्धृत है वे दिगम्बर-सम्मत है। किन्तु गाथा १८२८ की टीकामे सातावेदनीय, सम्यक्त्वप्रकृति, रति, हास्य और पुवेदको पुण्य प्रकृति कहा है। श्वेताम्बर सम्मत सूत्रपाठमे आठवे अध्यायके अन्तमे इसी प्रकार-का सूत्र हैं। किन्तु दिगम्बर परम्परामे घातिकर्मोंकी प्रकृतियोको पाप प्रकृतियोमे ही गिनाया है। यहाँ टीकाकारने उस सूत्रको तो प्रमाणरूपसे उद्धृत नही किया है किन्तु कथन तदनुसार किया है। प० आशाधरजीने भी अपनी टीकामें विजयोदयाके अनुसार ही इन्हे पुण्य प्रकृति लिखा है, यह आश्चर्य ही है। तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि टीकाकारके सामने थी यह निर्विवाद है।

सर्वार्थसिद्धिमे चारित्रका लक्षण प्रथम सूत्रकी टीकामे—

'संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवत कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमश्चारित्रम्' किया है। विजयोदयामे गा० ६ की टीकामें लिखा है—यथाचाभ्यधायि 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवतश्चारित्रम्।'

अन्य भी स्थलोंमें चारित्रका यही लक्षण टीकाकारने दिया है।

गाथा १७६७ मे भवसंसारका कथन है। इसकी टीकामें टीकाकारने 'अन्ये तु भवपरि-वर्तनमेवं वदन्ति' लिखकर सर्वार्थसिद्धि (२-१०) मे कहे गये भवपरिवर्तनका स्वरूप उन्ही शब्दो-मे कहा है।

गा० १६९४ में ध्यानके भेद कहे हैं। इसकी टीकामे सर्वार्थसिद्धिमे (९।२७) जो 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' की व्याख्या की है उसका खण्डन है। और चिन्ता शब्दका अर्थ चैतन्य किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वार्थसिद्धिको मानते हुए भी उसे एकान्ततः मान्य नहीं करते थे। 'अन्ये' शब्दसे उसका उल्लेख ही यह बतलाता है कि वह उनकी आत्मीय नही थी।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि आगमोंको छोड़कर अन्य आचार्यकृत साहित्यमे यापनीय ग्रन्थकार दिगम्बराचार्योंके साहित्यको प्रश्रय देते थे, क्योंकि जिस प्रकार इस टीकामे कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपादके ग्रन्थोंके प्रमाण मिलते है उस प्रकार एक भी किसी श्वेताम्बराचार्य प्रणीत ग्रन्थका उद्धरण नहीं मिलता।

श्वेताम्बर-दिगम्बरके मध्यमें तीन प्रमुख मत भेदोंमेसे स्त्री-मुक्ति और केवलिमुक्ति तो सैद्धान्तिक है। आज न कोई मुक्ति प्राप्त कर सकता है और न केवली हो सकता है। किन्तु अचेलकत्व या दिगम्बरत्व तो सैद्धान्तिक होनेके साथ वर्तमानमें भी दृश्यरूपमें प्रवर्तित है। इस दृष्टिसे यापनीय दिगम्बर सम्प्रदायके निकट रहे हैं। इसके सिवाय दक्षिणमें दिगम्बर सम्प्रदायका प्राबल्य था, उधर ही यापनीय सम्प्रदाय भी था। उसके भी मन्दिर और मूर्तियाँ थी। वे भी नग्न मूर्तियोंके ही उपासक थे। नग्नतामे भेद कैसा। फलत वे सब दिगम्बरोंमे ही समा गये। उनके साहित्यमे नग्नत्वका ही पोषण था तथा स्त्री मुक्ति और केवलिभुक्तिकी चर्चा नही थी। फलत (उक्त दो प्रकरणोको छोडकर) उनका साहित्य भी दिगम्बरोमे समा गया। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीका है।

मूलाराधना दर्पण—भ० आराधनाकी दूसरी उपलब्धटीका मूलाराधना दर्पण है। शोलापुरसे १९३५ मे प्रकाशित सस्करणमे इसका प्रकाशन हुआ था। यह टोका विजयोदया आदि टीकाओको सामने रखकर लिखी गई है। विजयोदयाका इसपर विशेष प्रभाव है। विशेष कथन क्वचित् ही है। अत हमने उसे इस संस्करणमे सम्मिलित न करके उसके विशेष कथनोको विशेषार्थरूपमे ले लिया है। इसके रचयिता प्रसिद्ध ग्रन्थकार प० आशाधर है। उन्होने वि० स० १२९५ मे रचे गये जिन यज्ञकल्पकी प्रशस्तिमे मूलाराधना टीकाका निर्देश किया है। अपनी इस टीकामे आशाधरजीने विजयोदया टीकाकारका निर्देश श्री विजयाचार्य, टीकाकार, या संस्कृत टीकाकारके नामसे किया है। जिन गाथाओपर विजयोदया नही है प्राय उनके लिए आशाधरजीने यह निर्देश किया है कि इसे टीकाकार नही मानता। उनके सामने भी कुछ अन्य टीकाएँ थी, ऐसा उनके उल्लेखोसे प्रकट होता है। किन्तु उनमें उन्होने प्राकृत टीकाको विशेष महत्त्व दिया है। उसके मतोका निर्देश कई स्थानोमे है और उसीको उन्होने विशेष अपनाया है। कुछ टीकाएँ संस्कृत पद्यात्मक भी रही है। जैसे अमितगतिकी तो शोलापुर सस्करणमे प्रकाशित हो चुकी है। उसके अतिरिक्त भी एक दो पद्यात्मक टीका रही है जिनके पद्योको भी प्रमाणरूपसे आशाधरजीने उद्धृत किया है। उनका विशेष परिचय इस प्रकार है—

१ गाथा १६ की टीकामे अपराजित सूरिने 'अन्ये व्याचक्षते' लिखकर अन्य व्याख्याका निर्देश किया है। आशाधरजीने उक्त मतान्तरका निर्देश करनेके पश्चात् लिखा है कि जयनन्दिपाद इस गाथाको पूर्वगाथाकी संवाद गाथा मानते हैं।

२. गाथा १७ की टीकामे अपराजितसूरिने तो इतना ही लिखा है कि भद्दण आदि राजपुत्र जो अनादि मिथ्यादृष्टि थे उसी भवमे त्रसपर्यायको प्राप्त करके प्रथम जिनदेवके पादमूलमें प्रव्रजित होकर सिद्ध हुए। आशाधरजीने उन्हे भरतचक्रवर्तीके पुत्र लिखा है तथा उनकी सख्या ९२३ लिखी है। किसी अन्य टीकामे ऐसा निर्देश होना चाहिए।

३. गाथा पच्चीसमे सतरह मरण कहे है। आशाधरजीने दो आर्या द्वारा ये भेद कहे हैं—

आवीचितद्भवावध्याद्यन्तसशल्यगृध्रपृष्ठमती ।
जिघ्रासव्युत्सृष्टवलाका-सक्लिश्यमरणानि ॥१॥
शिशु शिशु शिशु शिशुपडितमृती: सभक्तोज्झनेंगिनीमरणम् ।
प्रायोपगमनपंडितपण्डितमरणं च सप्तदश विद्यात् ॥२॥

ये दो आर्या किसके हैं यह ज्ञात नही होता।

४ गाथा २७ की टीकामें 'टीकाकारस्तु' करके विजयोदयाका मत दिया है।

५ गाथा ४३ (४४) की टीकामे लिखा है—'श्रीविजयाचार्य मिथ्यात्व सेवाको अतिचार नहीं मानते।' आगे टीकाका उद्धरण भी दिया है।

६ गाथा ४४ (४५) की टीकामे 'टीकाकारास्तु उवगूहणमित्यस्य उपवृहण वर्द्धनमित्यर्थमकथयत्'। यहाँ 'टीकाकारा' बहुवचन निर्देश होनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि विजयाचार्यके सिवाय अन्य टीकाकारोंने भी उवगूहणका अर्थ उपवृहण किया है।

७ गाथा ४६ (४७) की टीकामें विजयोदयाका ही अनुसरण प्राय अक्षरश है।

८ गा० १२१ (११९) की टीकामें लिखा है—

'टीकाकारस्तु पच्छिदसंसाहणा इति पठति। व्याख्याति च आचार्योपाध्यायादिभि प्रार्थितस्य मनसाभिलषितस्य सम्यक्प्रसाधन अनाज्ञप्तस्यापीङ्गितेनैवावगम्य'

ऐसा कथन विजयोदयामे तो नही है। तब यह कोई अन्य सस्कृत टीकाकार होना चाहिए।

९ गा० १५२ (१५०) की टीकामे लिखा है—इसका विस्तार टीकामे देखना चाहिए। यह टीका विजयोदया हो सकती है उसमे विस्तारसे इसका कथन है।

१० गा० १५३ (१५१) को, जिसपर विजयोदया है, आशाधर प्रक्षिप्त लिखते हैं।

११ गा० २५३ (२५१) की टीकामें आशाधरजीने उस गाथाके अनुवादरूप तीन संस्कृत अनुवाद उद्धृत किये है। उनमेंसे एक तो अमितगतिका है शेष दो इस प्रकार हैं—

षष्टाष्टमादिभक्तैरतिशयवद्भिर्बली हि भुंजान ।
मितलघुमाहारविधि विदधात्यमलाशन बहुश ॥
× × ×
'समोऽथ षष्टाष्टमकैस्ततो विकृष्टैर्दशमै श्रमात्मक ।
तथा लघु द्वादशकैश्च सेवते मितं मुदा चाम्लमनाविलो लघु ॥

१२. गा० २८२ (२८०) मे 'गाहुग' पद आया है। विजयोदयाके अर्थको देकर आशाधरने लिखा है—'ग्राह्यामित्यपरे पठन्ति। ये अपरे कोई अन्य टीकाकार होने चाहिए।

१३ गा० ४०५ (४०३) में आये पाठको लकर आशाधरजीने लिखा है।

अन्ये तु 'थडिलं संभोगिय' इति पठित्वा 'स्थंडिल दृष्ट्वा' इति व्याख्यान्ति—

अध्ययन प्रश्नविधौ निपुणोऽसावेकरात्रिक प्रतिम ।
स्थण्डिलशायी यायादप्रतिबद्धश्च सर्वत्र ।।

इतरे तु स्थाण्डिल' स्थाडिलशायी, सभोगीयुतः सधर्मयुक्त इति मत्वेद पेठ् —

यह अमितगतिकृत पद्य है। इस तरह दो अनुवाद पाठभेद से है।

१४ इसी तरह गाथा ४१२-४१३ (४१०-४११) की टीकामें भी पाठभेदका उल्लेख कर संस्कृत पद्यानुवाद दिये हैं जो अमितगतिसे भिन्न है।

१५ गाथा ४२३ (४२३) की टीकामे टिप्पणका उल्लेख करके विजयोदयासे भिन्न अर्थ नवम और दसम कल्पका बतलाया है।

१६ गाथा ४३२ (४३०) की टीकामे मनुष्य जन्मकी दुर्लभतामे दस दृष्टान्त बतलाने वाली गाथा देकर लिखा है कि इनकी कथा प्राकृत टीका आदिमे विस्तरसे कही है। वहाँसे जानना।

१७ गा० ५११ (५०९) की टीकामे श्रीचन्द्रमुनिकृत निबन्धका उल्लेख है कि उसमे ऐसा ही व्याख्यान है।

१८ गा० ५२७ (५२५) मे आचार्यको छत्तीस गुण सहित कहा है और गा० ५२८ (५२६) मे छत्तीस गुण बतलाये है। किन्तु विजयोदयामें गाथासे सर्वथा भिन्न छत्तीस गुण कहे है। आशाधरजीने अपनी टीकामे उक्त संस्कृत टीका (विजयोदया) के छत्तीस गुण कहकर प्राकृत टीकामे कहे छत्तीस गुण भी बतलाये है जो उससे भिन्न है। उसमे २८ मूलगुण भी हैं। २८ मूलगुणोकी मान्यता दिगम्बर परम्परामें ही है। अतः प्राकृत टीकाकार दिगम्बर होना चाहिए।

१९ गा० ५५२ (५५०) की टीकामे लिखा है कि सामायिक दण्डक स्तवपूर्वक वृहत् सिद्धभक्ति करके बैठकर लघुसिद्ध भक्ति करता है यह प्राकृत टीकाकी आम्नाय है।

२० गा० ५६० (५५८) की टीकामे अष्टप्रातिहार्य सहित प्रतिमा अरहन्तकी और आठ प्रातिहार्यरहित प्रतिमा सिद्ध की कही है।

२१ गा० ५६३ (५६१) की टीकामे कहा है कि श्रीचन्द्राचार्य सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शान्ति भक्तिपूर्वक वन्दनाका विधान करते है।

२२ गा० ५६९ (५६७) मे कृमिरागकम्बलका दृष्टान्त आया है। आशाधरजीने अपनी टीकामे इसका अर्थ संस्कृत टीका (विजयोदया) टिप्पन तथा प्राकृत टीकाके अनुसार पृथक्-पृथक् दिया है।

२३ गा० ५९१ (५८९) मे चन्द्रपरिवेषसे अन्नको प्राप्तिका उदाहरण आया है। उसकी कथा आशाधरजीने श्रीचन्द्रटिप्पणसे दी है। इससे ज्ञात होता है कि उसमे कुछ कथाएँ भी होनी चाहिए।

२४ गा० ९२५ (९३१) की टीकामे आशाधरजीने उस गाथाका अन्य भी अर्थ देकर तदनुसारी अनुवादरूप श्लोक भी दिया है—

अन्ये—'जमणिच्छतीं महिला अवसं परिभुजदे जहिच्छाए।

तह वि किलिस्सदि जं सो'

इति पठित्वा एवं व्याचक्षते ।...... "तथा चोक्तम्—

'यदयमकामयमाना कामयते योषिद बलादवशाम् ।
क्लेशमुपैति तथाऽसौ तदस्य परदारगमनफलम्' ॥

अमितगतिका अनुवाद इस प्रकार है—

'भुज्यते यदनिच्छन्ती क्लिश्यमानागनावशा ।
तदेतस्या पुरातन्या परदाररते फलम्' ॥

२५ गा० ९७० मे गोधाणुलुक्क के दो अर्थ बतला करके तदनुसार दो अनुवाद उद्धृत किये हैं—

न दृष्टमपि सद्भावं वक्रधी प्रतिपद्यते ।
गोधान्तर्द्धि विद्यते सा पुरुषे कुलपुत्र्यपि ॥—अमितगति ।

× × ×

प्रत्येति न सद्भाव दृष्ट्वापि हि कपटनाटक तनुते ।
गोधागुप्ति योषा विदधाति नरस्य कुलजापि ॥

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विजयोदयामे 'गोधाणुलुक्क' का अर्थ नही है ।

२६ गा० ११८० (११८६) की टीकामे गाथाके 'आवज्जण' शब्दके प्राप्ति और सर्वथा विनाश ऐसे दो अर्थ लेकर दो सस्कृत श्लोक उद्धृत किये है जो उस गाथाके अनुवादरूप है तथा अमितगतिका अनुवाद उनसे भिन्न है—

'प्राप्तिशका च पचानां हिसादीना यतेर्भवेत् ।
रात्रिभोजनसद्भावे स्वविपत्तिश्च जायते' ॥

अन्ये तु अण्हयाण व्रताना आवज्जण सर्वथा विनाश इति व्याख्यान्ति । तथा चोक्तम्–

'तेषा पञ्चानामपि महाव्रताना विनाशने शङ्का ।
आत्मविपत्तिश्च भवेद् विभावरीभक्तसगेन' ॥

२७. गा० ११९० (११९६) की टीकामे सिद्धान्त रत्नमालासे नीचे लिखे श्लोक उद्धृत है—

याचनी, ज्ञापनी, पृच्छानयनी सशयन्यपि ।
आह्वानीच्छानुकूला वाक् प्रत्याख्यान्यप्यनक्षरा ॥
असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता जिनै ।
व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञान वक्तु श्रोतुश्च यद्भवेत् ॥
त्वामह याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंचन ।
प्रष्टुमिच्छामि किञ्चित्त्वामानेष्यामि च किंचन ॥
बाल: किमेष वक्तीति ब्रूत सन्देग्धि मन्मन ।
आह्वयाम्येहि भो भिक्षो करोम्याज्ञा तव प्रभो ॥
किञ्चित्त्वा त्याजयिष्यामि हुङ्कारोत्यत्र गौ कुत ।
याचन्यापि दृष्टान्ता इत्थमंते प्रदर्शिता ॥

यह सिद्धान्त रत्नमाला अन्वेषणीय है ।

९८ गा० १३१९ (१३२५) की टीकामें प्राकृत टीकाकारके मतसे व्याख्या देकर 'तथा चोक्तं' पूर्वक उसका नीचे लिखा अनुवाद दिया है—

'एव केचिद् गृहद्वन्द्वविमुक्ता अपि दीक्षिता ।
कषायेन्द्रियदोषेण तदेवाददते पुन ॥'

अपि च

गृहवास तथा त्यक्त्वा कश्चिद्दोषशताकुलम् ।
कषायेन्द्रियदोषार्तो याति त भोगतृष्णया ॥–अमितगति ।

इसके आगे श्री विजयाचार्यके अनुसार अर्थ देकर 'तथाचोक्तं विदग्धप्रीतिवर्धिन्याम् ।

'एव केचिद् गृहवासदोषमुक्ताश्च दीक्षिता सन्त ।
इन्द्रियकषायदोषान्पुनरपि तानेव गृह्णन्ति ॥'

लिखा है । इससे प्रकट होता है कि प्राकृत टीकाकारकी व्याख्याके अनुसार कोई संस्कृत श्लोकात्मक रचना थी, जो अमितगतिसे भिन्न थी । अमितगति ने भी शायद उसका अनुसरण किया हो । और एक विदग्धप्रीतिवर्धनी नामक संस्कृत पद्यात्मक टीका भी थी । उसके पद्य आर्या छन्दमे थे ।

२९ गा० १३४० (१३४६) मे भी अन्यस्तु लिखकर एक मत दिया है—

अन्यस्तु 'सउणो वीदसगेणेव' इति पठित्वा 'पक्षी चंच्वा यथा' इति प्रतिपन्न । तथा च तद्ग्रन्थ — कषायाक्षो कुटोश्चित्ते बहिर्निभृतवेषवान् ।
आदत्ते विषयाश्चच्वा निभृत शकुनो यथा ॥

अमितगतिका अनुवाद इस प्रकार है—

'बहिर्निभृतवेषेण गृह्णीते विषयान् सदा ।
अन्तरामलिन. कको मीनानिव दुराशय ॥'

विजयोदयामे गाथाके अन्तिम चरण 'सउणो वीदसगेणेव' का अर्थ ही नही है ।

३० गा० १४०७ (१४१२) की टीकामे विजयाचार्यके मतसे व्याख्या देकर 'तथा चोक्तम्' पूर्वक नीचे लिखे श्लोक उद्धृत किये है—

यदि सगाटवी यान्ति रागद्वेषमदोद्धता ।
ध्यानयोधवशा नैव सन्ति ज्ञानाकुश विना ॥
विषयारण्यसाकाक्षास्ते कषायाक्षहस्तिनः ।
ततः शमरति नेया येन दोष न कुर्वते ॥

यह उक्त गाथाका ही पद्यानुवाद है । इसके आगे 'अन्यस्त्वेवमाह' लिखकर अमितगतिकृत पद्यानुवाद दिया है ।

उल्लिखित दोनो पद्यानुवाद गा० न० १४०६ और १४०७ को मिलाकर है । किन्तु एक तीसरा पक्ष भी जो दोनो गाथाओको पृथक करके अर्थ करता है—

यथा—रागद्वेषमदान्ध करणकरीन्द्रो विशन् विषयविन्ध्यम् ।
ध्यानसुभटस्य वश्यो ज्ञानाकुशितो भवेन्नियतम् ॥

यह गाथा १४०६ का पद्यानुवाद है। दूसरी गाथामें चवलाके स्थानमे जो बाला पढते हैं, उन्होंने कहा है—

'इन्द्रिय कषायकलभा विषयवने क्रीडनैकरसरसिका।
उपशमवने प्रवेश्यास्ततो न दोषं करिष्यन्ति ॥'

३१ गा० १५६१ (१५६६) की टीकामे—एषा केषाञ्चिदाचार्याणा मतेन व्याख्या। उक्त च

नरककटे त्व प्राप्तो यद्दु ख लोहकण्टकैस्तीक्ष्णैः।
यन्नारकैस्ततोऽपि च निष्क्रान्त प्रापितो घोरम् ॥

अन्येषा त्वयं पाठो ··· । तदुक्तम्—

आयसैः कण्टकै प्राप्तो यद्दु ख नरकावनौ।
नारकैस्तुद्यमान सन्पतितो निशितैर्भवान् ॥

३२ प्राय आशाधर जी अपनी टीकामे 'श्रीविजयो नेच्छति' लिखते है कि टीकाकार श्रीविजय अमुक गाथाको मान्य नही करते। किन्तु १६३४-१६३५ (१६३९-१६४०) मे लिखा है ये दो गाथाएँ श्रीविजय आदि मान्य नही करते। अर्थात् इन्हे अन्य टीकाकार भी मान्य नही करते।

३३ गाथा १८१२ (१८१८) की टीकामे भी एक श्लोक उद्धत करके उसे प्राकृत टीकाकारके मतसे व्याख्या कहा है। और 'अन्ये' करके जो श्लोक उद्धृत किया है वह अमितगतिकी टीकाका है। उसके बाद 'अपरे' करके तीसरा मत दिया है।

३४. आशाधरजीकी तो सभी टीकाएँ ग्रथान्तरोंके प्रमाणोंसे भरी हुई है। इसमे भी कुछ उद्धरण उल्लेखनीय है। ध्यानके वर्णनमे आर्ष नामसे महापुराणसे बहुत श्लोक उद्धत किये है। उसी प्रसंगमें गाथा १८८१ (१८८७) की टीकामें 'उक्तं च ज्ञानार्णवे' लिखकर सात श्लोक उद्धृत किये हैं। तथा गा० २११८ (२१२४) की टीकामें 'तथा चोक्तं पञ्चसग्रहे' लिखकर प्राकृत पञ्चसंग्रहसे ७ गाथाएँ उद्धृतकी है। प्राकृत पञ्चसंग्रहका यह सर्व प्रथम उल्लेख है जो किसी ग्रन्थमे मिलता है। इससे पूर्व किसी भी ग्रन्थमे नही मिलता।

३ प्राकृत टीका—इस प्रकार मूलाराधनादर्पणसे विजयोदयाके अतिरिक्त कई टीकाओका पता चलता है उनमेसे एक प्राकृत टीका तो सुनिश्चित थी। और वह किसी दिगम्बराचार्य प्रणीत होनी चाहिये क्योंकि उसमे आचार्यके छत्तीस गुणोंमें अठाईस मूलगुण गिनाये हैं। २८ मूलगुणोकी परम्परा दिगम्बर परम्परा है। मूलाचारके प्रारम्भमे तथा कुन्दकुन्दके प्रवचनसारके चारित्राधिकार (गा० ८-९) मे मूलगुणोका कथन आता है। आशाधरजीके उल्लेखोसे यह भी प्रकट होता है कि उसमें और विजयोदयामे क्वचित् मतभेद भी हैं। तथा आशाधर जीने ऐसे स्थानोंमे प्राकृत टीकाको महत्त्व दिया है। उसमे कथाएँ भी थी। यह टीका अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होनी चाहिये।

४ एक अन्य संस्कृत टीका—आशाधर जीके उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि विजयोदयाके अतिरिक्त अन्य भी सस्कृत टीका उनके सामने थी। वे अनेक भी हो सकती है जैसा कि विजयोदयामें आये उल्लेखोंसे स्पष्ट है। किन्तु एक तो अवश्य थी। उसका उल्लेख आशाधर जीने संस्कृत टीकाकार रूपसे भी किया है।

५ संस्कृत पद्यानुवाद—गद्यात्मक संस्कृत टीकाओंके सिवाय कुछ पद्यात्मक संस्कृत

अनुवाद भी थे जिनमें प्राकृत गाथाओंका संस्कृत श्लोकोंमे रूपान्तर किया गया था। आज तो केवल अमितगति कृत पद्यानुवाद ही उपलब्ध है जो शोलापुर संस्करणमें प्रकाशित हुआ है। उसके सिवाय कम से कम दो अनुवाद आशाधरजीके सामने अवश्य रहे हैं। उनमेसे एक अनुष्टुप् छन्दोंमें था तो दूसरा आर्या छन्दोंमें था। आर्या छन्दोंका अनुवाद हमे मूलके अधिक निकट प्रतीत हुआ है। आशाधरजीने जिस विदग्ध प्रीतिवर्धनीका नाम निर्देश करके उससे आर्याच्छन्द में जो उद्धरण दिया है वह गाथाका ही पद्यानुवाद है। अत एक पद्यानुवादका नाम विदग्ध प्रीतिवर्धनी हो सकता है। किन्तु यह नाम भगवती आराधना जैसे ग्रन्थके पद्यानुवादके अनुकूल प्रतीत नही होता। यह नाम तो किसी सुभाषितसग्रहके उपयुक्त हो सकता है या व्याख्यात्मक टीकाके भी उपयुक्त हो सकता है। अस्तु, कुछ विशेष कहना शक्य नही है। किन्तु इतना अवश्य है कि कोई एक पद्यानुवाद प्राकृत टीकाके अनुसार था।

६-७. **दो टिप्पण**—आशाधरजीने दो टिप्पणीका भी उल्लेख किया है। उनमेसे एक तो श्री चन्द्रकृत टिप्पण है और दूसरा जयनन्दिकृत टिप्पण है। श्री चन्द्रकृत टिप्पणका उपयोग आशाधरजीने विशेष किया प्रतीत होता है। श्री प्रेमीजीने लिखा[1] है कि ये वही श्रीचन्द जान पडते है जिन्होने पुष्पदन्तके उत्तरपुराण और रविषेणके पद्मचरितके टिप्पण तथा पुराणसार आदि ग्रन्थ रचे थे जो भोजदेवके समयमे १०८७ थे और जिनके गुरुका नाम जिननन्दि था।

८. **आराधना पञ्जिका**—श्री प्रेमीजीने लिखा[2] है कि पूणेके भाण्डारकर इन्स्टिटयूटमे इसकी एक प्रति है परन्तु उसके आद्यन्त अंशोसे यह नही मालूम हो सका कि इसके कर्ता कौन है। प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके कर्ता और अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ पञ्जिकाएँ लिखने वाले प्रभाचन्द्रके ग्रंथोकी सूचीमे भी एक आराधना पंजिकाका नाम है। परन्तु यह वही है या इसके सिवाय कोई दूसरी यह नही कहा जा सकता। इसमे कोई उत्थानिका या मगलाचरणसूचक पद्य नही है जैसा कि प्रभाचन्द्रके टीका ग्रथोमे प्राय रहता है।

प्रेमीजीने यह भी लिखा है कि दूसरे लिपिकर्तानि अपना संवत् १४१६ दिया है और उसने वह प्रति अपनेसे पहलेकी प्रति परसे की है। इससे इसके निर्माण कालके विषयमे इतनी बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है यह पजिका चौदहवी शताब्दीके बादकी नही है।

---

१. जै० सा० इ०, पृ० ८६ का टिप्पण।

२. जै० सा० इ०, पृ० ८०–८१। हमने पूनाके भण्डारकर प्राच्य विद्या सशोधक मन्दिरमें इसकी खोज कराई किन्तु नही मिली। यदि मिलती तो उसे भी इसके साथ प्रकाशित कर देते। प्रेमी जीने उसका अन्त का अश इस प्रकार दिया है—

अज्जजिणणदि आर्य जिननन्दिगणिन सर्वगुप्तगणिन आचार्यमित्रनन्दिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुतं चावगम्य। पुव्वारिएत्यादि। पूर्वाचार्यकृतानि च शास्त्राणि उपजीव्येयमाराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणितल भाजिना। छदुमत्थदाण। छद्मस्थतया यदत्र प्रवचनविरुद्धबद्धं भवेत् तत् सुगृहीतार्था शोधयन्तु प्रवचनवत्सलतया। आराहणा भगवदी। आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता सती सघस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलभव्यजनप्रार्थनीया अव्याबाधसुखा सिद्धि प्रयच्छतु। इत्याराधनापञ्जिका समाप्ता। (यह विजयोदयासे अक्षरश मिलती हुई है।)

प्रभाचन्द्रकृत एक गद्यकथा कोश भी है जिसमे भ० आ० की गाथाएँ उद्धृत करके उनसे सम्बद्ध कथाए दी है। सम्भव है यह पजिका उन्हीं प्रभाचन्द्र की हो।

९. **भावार्थ दीपिका टीका**[1]—श्री प्रेमीजीने लिखा है कि यह टीका भी पूनेके भण्डारकर इन्स्टीच्यूटमे है यह टीका शिवजिद् अरुण अर्थात् प० शिवजी लालने अपने पुत्र मणिजिद् अरुणके लिये बनाई है। वे जयपुरकी भट्टारकको गद्दीके पडित थे। संवत् १८१८ में टीका समाप्त हुई है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ रची गई थी।

भ० आ० के रचयिता—

इस ग्रन्थके अन्तमे इसके रचयिताने जो अपना परिचय दिया है उससे इतना ही ज्ञात होता है कि आर्य जिननन्दि गणि, सर्वगुप्त गणि और आचार्य मित्र नन्दिके पादमूलमे सम्यक् रूपसे श्रुत और अर्थको जानकर हस्तपुटमे आहार करनेवाले शिवार्यने पूर्वाचार्यकृत रचनाको आधार बनाकर यह आराधना रची है।

इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकारका नाम शिवार्य था और जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि उनके गुरु थे। उनके पादमूलमे ही उन्होंने श्रुतका अध्ययन किया था। किन्तु इस ग्रथ-की रचनामे उनका कोई हाथ प्रतीत नही होता, क्योकि गाथा २१६० मे वह 'ससत्तीए' अपनी शक्तिसे पूर्वाचार्य निबद्ध रचनाको उपजीवित करनेकी बात कहते है। उपजीवितका अर्थ पुन जीवित करना होता है अत ऐसा भी उनका अभिप्राय हो सकता है कि पूर्वाचार्य निवद्ध जो आराधना लुप्त हो गई थी उसे उन्होने अपनी शक्तिसे जीवित किया है।

यद्यपि अभी तकके विद्वान लेखको[2] ने 'पुव्वाइरियणिबद्धा उपजीवित्ताका अर्थ 'पूर्वाचार्यो-के द्वारा निबद्धकी गई या रची गई रचनाके आधारसे किया है, और हमने भी तदनुसार ही अर्थ किया है। किन्तु 'उपजीवित्ता इमा ससत्तीए' पद हमे इस अर्थका सूचक प्रतीत नही होता। यदि पूर्वाचार्य निबद्ध आराधना या इस तरहको कोई रचना उनके सामने थी तो इसके लिये उप-जीवित्ता (उपजीव्य) पदका प्रयोग नही घटित होता और न 'स्वशक्ति' पदका प्रयोग ही वजन-दार प्रतीत होता है। उसका वजन तो तभी बढता है जब रचयिता अपनी शक्तिसे एक पूर्वलुप्त कृतिको जोवनदान देता है। अत शिवार्यने पूर्वाचार्य निवद्ध रचनाको आधार बनाकर आरा-धना नही बनाई किन्तु उसे अपनी शक्तिसे पुनर्जीवित किया है।

टीकाकार अपराजित सूरिने अपनी टीकामे 'पुव्वायरिय' आदिका जो अर्थ किया है वह भी ध्यान देने योग्य है—वह लिखते है—'पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य' यहाँ जो 'इव' पदका प्रयोग है वह उल्लेखनीय है। 'पूर्वाचार्यकृतकी तरह उपजीवित करके यह आराधना अपनी शक्तिसे शिवाचार्यने रची।' अर्थात् इस रचनाको उन्होंने अपनी शक्तिसे इस प्रकार उपजीवित किया मानों यह पूर्वाचार्यकृत है। पूर्वाचार्यकृत रचनाको आधार बनाकर रचने की गन्ध भी' टीकामे नहीं है। अत यह ग्रन्थ शिवार्य की अपनी शक्तिसे रचित मौलिक कृति है। तभी तो वह आगे-

१ 'श्रीमन्त जिनदेव वीर नत्वामरार्चितं भक्त्या।
वृत्ति भगवत्याराधना-ग्रन्थस्य कुर्वेऽहम्॥'

२ जै० सा० इ० पृ० ७५। हरिषेण कथा कोशकी डा० उपाध्येकी प्रस्तावना पृ० ५२।

की गाथामें अपनी छद्मस्थताके कारण आगमविरुद्ध यदि कुछ लिखा गया हो तो उसको शुद्ध करनेकी प्रार्थना करते है। अतः उन्होने अपनी शक्तिसे एक लुप्त कृतिको पुनर्जीवित किया है, यही उनका अभिप्राय हमे प्रतीत होता है। अस्तु,

जहाँ तक हम जानते है जैन परम्पराकी किसी पट्टावली आदिमे न तो शिवार्य नाम ही मिलता है और न उनके गुरुजनोका ही नाम मिलता है। शिवार्य मे शिव नाम और आर्य विशेषण हो सकता है जैसे आर्य जिननन्दि गणि और आर्य मित्रनन्दि गणिमें है। अत अतः यह कह सकते हैं कि इस ग्रन्थके रचयिता आर्य शिव थे।

भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने महापुराणके प्रारम्भमें एक शिवकोटि नामक आचार्यका स्मरण किया है—

'शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाऽऽराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्गं स पायान्न शिवकोटिमुनीश्वर ॥'

अर्थात् जिन की वाणी द्वारा चतुष्टय रूप (दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप रूप) मोक्षमार्ग-आराधना करके जगत् शीतीभूत हो रहा है वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करे।

इस श्लोकमे जो 'आराध्य चतुष्टय' तथा शीतीभूतं पद है ये दोनो पद शिव आर्य रचित भगवती आराधना की ही सूचना करते प्रतीत होते हैं। क्योकि उसीमे चार आराधनाओका कथन है। तथा गाथा ११७६ मे कहा है कि सर्व परिग्रहको त्यागकर जो 'शीतीभूत' होता है। इसके साथ ही उसके रचयिताका नाम 'शिव' भी है। उसके साथ यद्यपि कोटि शब्दका प्रयोग विशेष किया गया है तथापि इसमे कोई विवाद नही हो सकता कि जिनसेन स्वामीने भगवती आराधनाके कर्ताका ही स्मरण किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्रकृत कथाकोशमे दर्शन और ज्ञानका उद्योतन करनेमे आचार्य समन्तभद्र की कथा दी है। उसके अनुसार भस्मक व्याधि होने पर वे वाराणसीके राजा शिवकोटिके दरबारमे जाते हैं और उनके शिवालयमें शिवपिण्डीके फटने तथा चन्द्रप्रभु भगवानकी प्रतिभा प्रकट होनेके चमत्कारसे शिवकोटिको प्रभावित करते है। शिवकोटि राज्य त्याग कर साधु हो जाते हैं। तथा सकल श्रुतका अवगाहन करके लोहाचार्यरचित आराधनाको, जिसका परिमाण चौरासी हजार था, सक्षिप्त करके अढाई हजार प्रमाण मूलाराधनाकी रचना करते हैं।

प्रभाचन्द्रसे पूर्वमें आचार्य हरिषेणने कथाकोश रचा है उसमे यह कथा नही है, यद्यपि उस कथाकोशका आधार भी मूलाराधना या आराधना ही है। आचार्य जिनसेनके उल्लेखसे यह तो स्पष्ट है कि भगवती आराधनाके रचयिता शिवकोटि नामसे ही ख्यात रहे हैं। किन्तु जिन-सेनने उन्हे समन्तभद्रका शिष्य नही कहा है। ऐसा होता तो समन्तभद्रके पश्चात् ही वे शिव-कोटिका स्मरण करते। किन्तु दोनोके मध्यमे श्रीदत्त और प्रभाचन्द्रका स्मरण है। अत जिनसेन के समय तक शिवकोटिको समन्तभद्रका शिष्य माननेकी कथा प्रवर्तित नही हुई थी।

प्रभाचन्द्रके सामने इसका क्या आधार रहा है यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु लोहाचार्य विरचित ८४ हजार प्रमाण वाली आराधनाका भी अन्यत्र कोई संकेत नही मिलता।

इसके साथ शिवार्य अपनी प्रशस्तिमें इसका कोई सकेत तक नहीं देते। यदि वह समन्त-

भद्रसे प्रभावित होकर मुनि बने होते तो अपनी इस कृतिमें वे अवश्य ही इस घटनाका कुछ तो संकेत देते। अतः प्रभाचन्द्रकृत कथाकोशमें इस ग्रन्थकी रचनाके सम्बन्धमे जो कुछ लिखा गया है वह किसी किम्बदन्तीके आधारसे ही लिखा गया प्रतीत होता है। अस्तु,

रचनाकाल

आर्य शिवके सम्बन्धमे कुछ विशेष ज्ञात न होनेसे उसके रचनाकालके सम्बन्धमे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आचार्य जिनसेनके महापुराणसे पूर्वमें आराधनाकी रचना हुई है। किन्तु कितने पूर्व हुई है यह कहना शक्य नही है। विद्वानों[१] का अनुमान है कि आचार्य कुन्दकुन्द तथा मूलाचारके रचयिता बट्टकेरके समकक्ष ही शिवार्य होने चाहिये क्योकि भगवती आराधनामें कुछ नवीन प्रतीत नही होता। सब कुछ प्राचीन ही है। उसकी गाथाएँ यदि मेल खाती हैं तो दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके प्राचीन ग्रन्थोसे ही मेल खातीहै। उसकी आचार विषयक गाथाएँ मूलाचारमें छुटफुट रूपसे मिलती है और मरण समाधि विषयक कुछ गाथाएँ मरण समाधि आदिमे मिलती हैं। उसमें जो मरणोत्तर विधि है जो आजके प्रबुद्ध पाठकोंको भी विचित्र प्रतीत होती है वह भी उसकी प्राचीनताकी द्योतक है। प्राचीन युगमे इस तरहके विश्वास पाये जाते थे। ग्रन्थमे अचेलकता पर बहुत जोर दिया है तथा वस्त्रको परिग्रहका उपलक्षण बतलाकर समस्त परिग्रहके त्यागको अनिवार्य बतलाया है। कमण्डलु और पीछी दो ही उपकरण साधुके लिए अनिवार्य कहे हैं।

यापनीय संघकी उत्पत्ति जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधुसे हुई बतलाई है वह हमे परिग्रह-के कारण ही हुई प्रतीत होती है। श्वेताम्बर साधु वस्त्र पात्रको अनिवार्य मानते थे। किन्तु यापनीय उससे सहमत न होगें। इसीसे वे पृथक् हो गये होगें। उसी समयकी यह रचना होना सभव है। उसके ऊपर जो संस्कृत और प्राकृतमे तथा गद्य और पद्यमे इतनी टीकाये रची गई वे भी उसकी प्राचीनताको ही प्रकट करती हैं। अन्तिम उपलब्ध टीका आशाधर की है जो विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके उत्तरार्ध मे रची गई है। और विक्रमकी नवम शताब्दीमे रचित महापुराणमे भगवती आराधना तथा उसके रचयिता शिवकोटिको स्मरण किया गया है। लगभग इसी कालकी रचना विजयोदया टीका होनी चाहिये। और विजयोदया लिखते समय उसके रचयिताके सामने एक नही, अनेक व्याख्यायें थी। अत भगवती आराधना विक्रमकी प्रारम्भिक शताब्दीके आसपास की रचना होना चाहिये। अत उसे हम कुन्दकुन्दको रचनाओका लगभग समकालीन मान सकते है। कुन्दकुन्दके समयसारकी मंगल गाथा 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' और भगवतीकी मगल-गाथा 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' मे हमे शब्दश और अर्थश एक-सी ही ध्वनि और भावना गूँजती हुई प्रतीत होती है।

किन्तु कुन्दकुन्दने अपने चरित्तपाहुडमे समाधिमरणको चार शिक्षाव्रतोमे स्थान दिया है और तत्त्वार्थसूत्रमे सल्लेखनाको अलगसे कहा है। भगवती आराधनामे भी गुणव्रत और शिक्षा-व्रत तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार कहे है। तथा सल्लेखनाको पृथक्से कहा है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमे रात्रिभोजन त्यागव्रतकी कोई चर्चा नही है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम टीकाकार पूज्यपाद कहते है कि

१. हरि० कथाकोश की डा० उपाध्ये की प्रस्ता० पृ० ५५।

अहिंसाणुव्रतकी भावनामें यह गर्भित है। और भगवती आराधनामे भी अहिंसाव्रतकी भावनामें आलोक भोजन है। फिर भी आराधनामे पंच महाव्रतोकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन त्यागको आवश्यक कहा है। अतः यह विषय चिन्तनीय है।

शिवार्यके द्वारा स्मृत गुरुओमे एक सर्वगुप्त गणि भी है। गाथा २१६२ मे आये 'संघस्स' पदका व्याख्यान विजयोदयामें 'सर्वगुप्तगणिन संघस्य' किया है। और अमोघवृत्तिमे एक उदाहरण आता है—'उपसर्वगुप्तं व्याख्यातार' (१।३।१०४) अर्थात् सर्वगुप्त सबसे बडे व्याख्याता थे। इसके साथ ही तीन उदाहरण और है शाकटायन, सिद्धनन्दि और विशेषवादी। यत शाकटायन यापनीय थे इसलिये अन्य सब भी यापनीय होना चाहिये। और ऐसी स्थितिमें शाकटायनके द्वारा स्मृत सर्वगुप्त भगवती आराधनाके कर्ताके गुरु हो सकते है।

टीकाकार अपराजित सूरि

भगवती आराधनाकी जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे देखनेमे आई सबमे अपराजित सूरिकी विजयोदया टीका पाई जाती है। इस टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि टीकाकारका नाम अपराजित सूरि था। वे चन्द्रनन्दि महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य थे और बलदेव सूरिके शिष्य थे। आरातीय आचार्योंके चूडामणि थे। नागनन्दि गणिके चरण कमलोकी सेवाके प्रसादसे उन्हे ज्ञान प्राप्त हुआ था। अर्थात् उनके विद्यागुरुका नाम नागनन्दि था। श्री अपराजित सूरि जिन शासनके उद्धारमे सलग्न थे और उन्हे बहुत यश प्राप्त था। उन्होने श्रीनन्दिगणि या नागनन्दि गणिकी प्रेरणासे आराधनाकी टीका रची थी। टीकाका नाम श्री विजयोदया है।

केवल इतना ही उन्होने अपने सम्बन्धमे लिखा है। प० आशाधर ने अनगार धर्मामृतकी टीकामे[1] तथा भ० आ० की मूलाराधना[2] दर्पण नामक पंजिकामे श्रीविजय या श्रीविजयाचार्य नामसे इनका उल्लेख किया है। अपराजित और श्रीविजय शब्द परस्परमे सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है उन्होने शास्त्रार्थोंमे विजय प्राप्त की थी और उसी पर से उन्हे अपराजित पराजित न होनेवाला नाम प्राप्त हुआ था। संभवतः उसीकी स्मृतिमें उन्होने अपनी टीकाओको श्री विजयोदया नाम दिया था। उनकी दशवैकालिककी टीकाका भी यही नाम था।

शिवार्य की तरह अपराजित सूरिकी भी गुरुपरम्परा किसी जैन पट्टावली या गुर्वावलीमे नही मिलती। वह अपनेको आरातीय चूडामणि लिखते है और सर्वार्थसिद्धि टीका[3]के अनुसार 'भगवानके साक्षात् शिष्य गणधर और श्रुतकेवलियोके पश्चात् आरातीय आचार्योने कालदोषसे अल्प आयु और अल्प बुद्धि शिष्योके अनुग्रहके लिए दशवैकालिक आदि रचे।' अत आरातीय आचार्य विशिष्ट होते थे। अपराजित सूरि भी अपने समयके विशिष्ट आचार्य माने जाते होगे

१ भा० ज्ञानपीठ स०, पृ० ६८४—'एतच्च श्रीविजयोचार्यविरचितमूलाराधनाटीकाया विस्तरत समर्थित दृष्टव्यमिह न प्रपञ्च्यते।'

२ शोलापुर संस्करण गाथा ४४, ५९५, ६८१, ६८२, १७१२ और १९१९ की टीका।

३ आरातीयै पुनराचार्यै कालदोषसंक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्ध ॥ —(१।२०)

क्योकि उन्होंने भी दशवैकालिक पर टीका रची थी। यापनीय सम्प्रदायमे जैसे शब्दानुशासनके रचयिता शाकटायन श्रुतकेवलिदेशीय कहे जाते थे वैसे ही यह आरातीय चूडामणि कहे जाते होंगे। और उस समय भगवती आराधना पर टीका लिखना भी एक विशिष्ट महत्ताका परिचायक होगा।

इसमें तो सन्देह नही कि अपराजित सूरि जिनागमके विशिष्ट अभ्यासी थे। उनकी विजयोदया टीका उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य और रचना शैलीकी विशिष्टताका परिचायक है। संस्कृत और प्राकृत पर उनका समान अधिकार था तथा गद्यकी तरह पद्य रचनामे भी अधिकार था। उनकी इस टीकामे चतुर्गतिका वर्णन करनेवाले कुछ श्लोक उन्हीके द्वारा रचित प्रतीत होते हैं।

उनकी इस रचनाका एक उद्देश हमे अचेलकत्वकी प्रतिष्ठा करना प्रतीत होता है। क्योंकि ४२३ गाथाके व्याख्यानमे उन्होने आगम प्रमाणोके प्रकाशमे उसे जोरसे प्रतिष्ठापित किया है। इसे हम पूर्वमे लिख आये है। अत वह ऐसे समयमे हुए है जब वस्त्र पात्रवाद बढ़ रहा था। श्वेताम्बर परम्परामे विशेषावश्यक भाष्य इस विषयक एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमे जम्बू स्वामीके पश्चात् जिनकल्पकी व्युच्छित्तिकी घोषणा की गई है। ईसाकी आठवी शताब्दीके श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरिने तो अपने सबोध प्रकरणमे साधुओके अकारण कटिबन्ध पर भी आपत्ति की है। किन्तु टीकाकारो[1]के द्वारा अचेलका अर्थ अल्पचेल और अल्पमूल्यचेल किये जानेसे अचेल जैसे स्पष्ट शब्दका भी वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया। यह समय नौवी शताब्दी है इसीके आसपास अपराजित सूरि होना चाहिये। उनकी टीकामे जो उद्धरण खोज निकाले गये हैं उनमेसे अर्वाचीन एक उद्धरण वरागचरित[2]का है; उसका रचनाकाल सातवी शताब्दी है अत उसके पश्चात् ही विजयोदया रची गई है। भर्तृहरि शृङ्गार शतकका भी एक श्लोक उद्धृत है। उसका समय भी लगभग यही होना चाहिये। यह उसकी पूर्वावधि है। उत्तरावधि तो आशाधरजीकी टीका है ही, उसमे विजयोदयाके अनेक उल्लेख है। संस्कृत पद्यानुवादके रचयिता अमितगतिका समय विक्रमकी ग्यारहवी शती है। किन्तु उनके पद्यानुवादके सिवाय भी दो पद्यानुवाद और भी पाये जाते हैं। और वे अमितगतिसे पूर्वके हो सकते है, क्योकि यद्यपि अमितगति एक सिद्धहस्त ग्रन्थकार है फिर भी पूर्व रचनाओको अपनानेकी उनमे प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरणके लिये उन्होने संस्कृत पञ्चसग्रह रचा और उसे मौलिक मान लिया गया। किन्तु जब लक्ष्मण सुत डड्ढाका पञ्चसग्रह प्रकाशमे आया तब ज्ञात हुआ कि उसीका अनुसरण अमितगतिने किया है। उनके सामने विजयोदया हो सकती है। अन्य टिप्पण प्रकाशमे आनेपर विशेष प्रकाश पड सकेगा।

श्रीयुत प्रेमीजीने इन्हे विक्रमकी नवम शताब्दीके पहले और छठी शताब्दीके बादका बतलाया है। उन्होने लिखा[3] है—गंग वशके पृथ्वी कोगुणी महाराजका एक दानपत्र श० स० ६९८ (वि० स० ८३३) का मिला है। उसमे यापनीय संघके चन्द्रनन्दि, कीर्तिनन्दि और विमलचन्द्रको जैनमन्दिरके लिये एक गाँव दिये जानेका उल्लेख है। अपराजित शायद इन्ही चन्द्रनन्दिके प्रशिष्य हो।'

१ देखो—मेरा लिखा 'भगवान महावीरका अचेलक धर्म', भा० जैनसघ मथुरासे प्रकाशित।

२ भ० आ०, पृ० ३९०।

३. जै० सा० इ०, पृ० ७९।

उपसंहार

अन्तमे मै उन सबको धन्यवाद देता हूँ जिनके सहयोगसे मुझे इस ग्रन्थके सम्पादन, संशोधन और प्रस्तावना लेखनमे सहयोग मिला। दिल्लीके लाला पन्नालाल जीके सहयोगसे दि० जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा दिल्ली की प्रति प्राप्त हुई। श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जीके अधिकारियोके सहयोगसे डा० कस्तूरचन्द्र जी काशलीवाल जयपुर द्वारा आमेर शास्त्र भण्डारकी प्रति प्राप्त हुई। पं० रतनलाल जी कटारिया केकडीके द्वारा टोडा रायसिंहकी प्रतिके पाठान्तर तथा प्रति प्राप्त हुई। सर सेठ भागचन्द जी, प० सुजानमलजी सोनी आदिके प्रयत्नसे भट्टारकजीके मन्दिर अजमेरकी प्रति प्राप्त हुई। तथा जीवराज ग्रन्थमाला के मंत्री सेठ बालचन्द देवचन्द शाहके सहयोगसे उस ग्रन्थमालासे इसका प्रकाशन हुआ। और प० बाबूलाल जी फागुल्ल तथा उनके सुपुत्र श्री राजकुमार जीके सहयोगसे एक ही वर्षके मध्यमे इसका मुद्रण हो सका।

यह ग्रंथ महान है। इसके सम्पादन, सशोधन, अनुवाद और मुद्रणमे भूल रहना स्वाभाविक है। यथा गाथा २५१ का अर्थ ही छूट गया है। उसे यहाँ दिया जाता है। पाठक सुधारकर पढनेका कष्ट करे—

२५१ गाथाका छूटा हुआ अर्थ

'यदि क्षपककी आयु शेष हो और शरीरमें बल हो तो जो अनेक भिक्षु प्रतिमायें कही हैं उनको भी धारण करे। जो अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करता है उसे ये भिक्षु प्रतिमायें कष्ट नहीं देतीं। किन्तु जो शक्तिका विचार किये बिना सल्लेखना धारण करता है उसकी समाधि भंग होती है और उसे बड़ा क्लेश उठाना पड़ता है॥ २५१॥'

आसाढी अष्टाह्निका
वी० नि० स० २५०४

विद्वानोका अनुचर
कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची



भगवती आराधना

अपराजितसूरिकृता
विजयोदया टीका सहिता

दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधनाया स्वरूप, विकल्पं, तदुपाय, साधकान्, सहायान्, फल च प्रतिपादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यादौ मङ्गल स्वस्य श्रोतॄणा च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकृतौ क्षमं शुभपरिणाम विदधता तदुपायभूतेयमरचि गाथा—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते ।
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणं कमसो ।। १ ।।

सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका । **अत्रान्ये कथयन्ति**—"निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुषस्साधकस्याराधनाविधानावबोधनार्थमिद शास्त्र" तस्याविघ्नप्रसिद्ध्यर्थमिदं मङ्गलस्य कारिका गाथेति। असयतसम्यग्दृष्टिसयतासयतप्रमत्तसयताप्रमत्तसयतादयोऽप्याराधका एव । तत्किमुच्यते निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्येति । न ह्यसयतसम्यग्दृष्टे सयतासंयतस्य वा निवृत्तविषयरागता, सकलग्रन्थपरित्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति चानुपपन्न । अक्षीणायुषोऽप्याराधकता दर्शयिष्यति सूत्र '**अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स**' इति ।

शास्त्रान्तरे पञ्चाना गुरूणा नमस्क्रिया प्रारभ्यते । तत्र चार्हतामेवोपादानमादौ । इह तु पुनर्द्वयोरेव

इस शास्त्रमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपकी आराधनाका स्वरूप, भेद, उसके उपाय, साधक, सहायक और फलका कथन किया जायगा। अत अपने और उसको सुनने वालोके प्रारब्ध कार्यमे आने वाले विघ्नोको दूर करनेमे समर्थ मङ्गलस्वरूप शुभ परिणामको करते हुए आचार्यने उसके उपायभुत 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' इत्यादि गाथा रची है।

इसके सम्बन्धमे अन्य टीकाकार कहते हैं कि विषयोमे रागसे निवृत्त और समस्त परिग्रहके त्यागी जिस साधककी आयु समाप्त होनेवाली है, उसको आराधनाके विधानका सम्यक् बोध करानेके लिये यह शास्त्र रचा है तथा उसकी निर्विघ्न प्रसिद्धिके लिये यह मगलकारक गाथा है।

(इसपर हमारा कहना है कि) असयत सम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत आदि भी आराधक ही है। तब यह क्यो कहते है कि विषयोके रागसे निवृत्त, समस्त परिग्रहके त्यागी साधकके लिये यह ग्रन्थ रचा है। असंयत सम्यग्दृष्टि और सयतासयत न तो विषयानुरागसे निवृत्त होते हैं और न समस्तपरिग्रहके त्यागी ही होते है। तथा 'जिनकी आयु समाप्त होनेवाली है' यह कथन भी यथार्थ नही है क्योंकि आगे 'अणुलोमा वा सत्तू' इत्यादि गाथासूत्रके द्वारा ग्रन्थकार, जिनकी आयु समाप्त होनेवाली अभी नही है उनकी भी आराधकता दिखलायेगे।

शङ्का—अन्य शास्त्रोके प्रारम्भमें पाँचो गुरुओको नमस्कार किया गया है और उनमे

नमस्कारो विपर्ययश्च । तत्किं कृत वैधर्म्यमिति ? अत्रोच्यते—अन्यथाप्रवृत्तावस्ति कारण । इह द्विप्रकारा सिद्धसाधकभेदेन जीवा । अर्हता सिद्धाना चाप्ताराधनाफलत्वात्, आचार्यादीना त्रयाणा साधकानामनुग्रहायेद शास्त्रं प्रस्तूयत इति सिद्धाना मङ्गलत्वेनोपादान युक्त, नेतरेषामधिक्रियमाणत्वात्तेषामिति **भाष्यपरिहारौ केषांचित्** । **तावसङ्गताविव लक्ष्येते** । **तत्र चाद्यस्य निवेद्यतेऽयुक्तता** । **किमर्थं** नमस्कार क्रियते शास्त्रादिषु ? अविघ्नप्रसिद्धये । कथं निहन्ति विघ्नमसौ ? स हि वक्तु श्रोतुर्वा भवेत् ? उभयस्यापि निबन्धनमन्तराय , **'विघ्नकरणमन्तरायस्य' [त सू] इति वचनात्** । पञ्चप्रकारोऽसौ **दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां** विघ्नकारणभेदेन, तत्र वक्तुर्दानान्तरायस्सम्पादयति प्रत्यूह, त्रिविधस्य हि दानस्य प्रतिबाधको दानान्तराय । ज्ञानलाभ विहन्ति श्रोतुर्लाभान्तरायस्तदायत्तो विघ्न कथ तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि नमस्कारे, यथा बीजसलिलवसुन्धराघर्मरश्मिकरसघाताधीनजन्मा व्रीह्याद्यङ्कुर. स्वहेतुसामग्र्या भवत्यन्यूनाया सन्निहितेऽपि सालतमालादौ तथेहापि । अथैव ब्रूषे अन्तरायोऽशुभप्रकृति । स च **शुभपरिणामोन्मूलितरसप्रकष**. स्वकार्य निष्पादयितु नालमिति । यद्येव शुभपरिणाममात्रस्यात्रोपयोगस्तथा सति सिद्धादिगुणानुराग सव एवोपयोगी [1]विघ्नतिर-

प्रारम्भमे अरहन्तोको ही ग्रहण किया है। किन्तु यहाँ सिद्ध और अरहन्त दो का ही ग्रहण किया है और वह भी विपरीत क्रमसे किया है अर्थात् सिद्धोका ग्रहण प्रथम और अरहन्तोका पश्चात् किया है। इस प्रकारकी विपरीतताका क्या कारण है ?

इसका कोई इस प्रकार उत्तर देते है—अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति करनेका कारण है। यहाँ सिद्ध और साधकके भेदसे जीवोके दो प्रकार है। अरहन्त और सिद्ध तो आराधनाका फल प्राप्त कर चुके है अत आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन साधकोके अनुग्रहके लिये यह शास्त्र रचा गया है, इसलिये सिद्धोका मगल रूपसे ग्रहण युक्त है, आचार्य आदिका नही, क्योकि उन्हीके लिये यह ग्रन्थ रचा गया है। ऐसा कोई आचार्य भाष्य और उसका परिहार करते है। किन्तु वे दोनो ही असगत जैसे प्रतीत होते है। उनमेसे प्रथमकी अयुक्तताके सम्बन्धमे निवेदन करते है—

शास्त्रादिमे नमस्कार क्यो किया जाता है ? निर्विघ्नताकी प्रसिद्धिके लिये। वह विघ्नोको कैसे दूर करता है ? विघ्न वक्ता या श्रोताको होता है। दोनोका भी कारण अन्तराय कर्म है। तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है—'विघ्न करनेसे अन्तराय कर्मका आस्रव होता है।' दान, लाभ, उपभोग और वीर्यके विघ्न करनेमें कारण होनेके भेदसे अन्तरायके पाँच भेद है। उनमेसे दानान्तराय वक्ताके दानमे विघ्न करता है क्योकि दानान्तराय तीन प्रकारके दानमे बाधक होता है। लाभान्तराय श्रोताके ज्ञान लाभमे रुकावट डालता है, क्योकि जब विघ्न अन्तराय कर्मके अधीन है तो उसके होते हुए विघ्न क्यो नही होगा, भले ही नमस्कार किया गया हो। जैसे धान्य आदिके अकुरकी उत्पत्ति बीज, जल, पृथ्वी और सूर्यकी किरणोके समूहके अधीन है। अत अपनी कारण सामग्रीके परिपूर्ण होनेपर उसकी उत्पत्ति साल, तमाल आदिके रहते हुए भी अवश्य होती है। उसी तरह यहाँ भी जानना।

यदि आप कहे कि अन्तराय अशुभ कर्म है, शुभ परिणामके द्वारा उसकी अनुभाग शक्ति क्षीण कर दिये जानेपर वह अपना कार्य करनेमे समर्थ नही होता, तब तो यहाँ शुभपरिणाम मात्र उपयोगी हुआ। और ऐसा होनेपर विघ्नोको दूर करनेकी इच्छा करने वालेको सिद्ध आदिके गुणोंमें अनुराग आदि सब उपयोगी हुए। तब विचारशील पुरुषके द्वारा अपनाया गया क्रम

१. विघ्ननिराचि–मु०।

द्विचकीर्षतस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिण क्रमाश्रयणमन्याय्य ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमात्रनिबन्धनमुपायाना-मुपायत्व, तद्यत्र यत्रास्ति तस्य तस्योपायता । तेन सर्व एवार्हदादिगोचरा गुणानुरागास्तत्पुर सरवाक्कायक्रिया अनादृतक्रमा भवन्ति वाञ्छितफलप्रसाधना एकैकरूपा बहवोऽपि । इमामानुपूर्वीमन्तरेणैषा सिद्धि साध्यस्या-न्यथा न विद्यत इति यत्र तत्राश्रीयते उपायक्रम । यथा घट सिसाधयिषतो मृन्मर्दनपिण्डकरणचक्रारोपणाद्यः । युगपदनेकवचनप्रवृत्तिरसभविन्येकस्य वक्तुरिति नान्तरीयकतया क्रमाश्रयणं तत्र च कामचार । तथाहि, **'सिद्धं सिद्धठ्ठाण ठाणमणोवमसुहगयाणमिति'** (–सन्मति १।१) । शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं । **क्वचित्तीर्थ-**कृत्स्वपि वीरस्वामिन एव प्रथम नमस्क्रिया—

> **'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिद धोदघादिकम्ममल । पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥**
> **सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे । समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ इति**
> —प्रव० सा० १।१-२ ।

> क्वचिदेकप्रघट्टेन,
> **'इंदसदवंदियाण तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणमिति ।'** —पञ्चास्ति० १ ।
> क्वचिज्जीवगुण एवानाश्रितार्हदादिस्वामिविशेषो निरूपित **"धम्मो मङ्गलमुक्किट्ट"** इति ।

अन्याय्य कैसे है ? उपेय अर्थात् कार्यके आत्म लाभमें हेतु होना मात्र उपाय अर्थात् कारणोके उपायपनेका निबधन है। अर्थात् कारणोमे कारणपना इसीसे होता है कि उनसे कार्य उत्पन्न होना है। वह जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ कारणपना है। अत अर्हन्त आदि विषयक सभी गुणानुराग और उस पूर्वक वचन और कायकी क्रिया, विना क्रमके भी इच्छित फलकी साधक होती है चाहे वह एक-एक रूप हो या बहुत हो। किन्तु जहाँ कार्यकी सिद्धि क्रमको अपनाये विना नही होती वहाँ उपायोका क्रम अपनाना होता है। जैसे जो घडा बनाना चाहता है। वह पहले मिट्टीको मलता है, फिर उसका पिण्ड बनाता है, फिर उसे चाक पर रखता है आदि। इस क्रमके विना घडा नही बन सकता। इसलिए यहाँ क्रम आवश्यक है। किन्तु सर्वत्र क्रम आवश्यक नही है।

तथा एक वक्ता एक साथ अनेक वचन व्यवहार नही कर सकता, इसलिए नमस्कार करने-मे क्रमका आश्रय लेना होता है। किन्तु उसमे यह अपेक्षित नही है कि पहले किसे नमस्कार करना। नमस्कार करनेवाला अपनी अपनी इच्छानुसार नमस्कार करता है। जैसे सन्मतिसूत्रके प्रारम्भमे 'सिद्ध सिद्धट्ठाणं' आदिसे केवल जिनशासनके गुणोका ही स्मरण किया है। कही पर तीर्थंकरोमे से भी वीर स्वामीको ही प्रथम नमस्कार किया है। जैसे प्रवचनसारके प्रारम्भमे कहा है—'यह मै सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रो और नरेन्द्रोसे वन्दित तथा घाति कर्ममलको धो डालनेवाले और धर्मके कर्ता वर्धमान तीर्थकरको नमस्कार करता हूँ। तथा विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थंकरोको, समस्त सिद्धोके साथ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारसे युक्त श्रमणोको नमस्कार करता हूँ।'

कही एक साथ सब जिनोको नमस्कार किया है। जैसे पचास्तिकायके प्रारम्भमे कहा है—'सौ इन्द्रोके द्वारा वन्दित और तीनो लोकोका हित करनेवाले मिष्ट और स्पष्ट वचन बोलने-वाले, अनन्तगुणशाली भवजेता जिनोको नमस्कार हो।'

कही अर्हन्त आदि स्वामीविशेषका आश्रय न लेकर जीवके गुणका ही कथन किया है जैसे दशवैकालिकसूत्रके प्रारम्भमे 'धर्म उत्कृष्ट मगल है' आदि कहा है।

एवं सति वैचित्र्ये का विपर्ययाशङ्का ? यच्चोक्तं साधकानुग्रहाधिकारे सिद्धात्मनामेव मङ्गलत्वेनाधिकारो युक्त इति । इद पर्यनुयोज्योऽत्र श्रुतसाधकार्थमुत (?) यद्येव सकलस्य श्रुतस्य **सामायिकादेर्लोकबिन्दुसारान्तस्यादौ** मङ्गलं **कुर्वद्भिर्गणधरैः 'णमो अरहंताणमित्यादिना कथ पञ्चानां नमस्कारः कृतः** ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेन विरुध्यते, 'वदित्ता अरहते' इति अर्हतामुपादानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपादानानर्थक्य । अथैकदेशसिद्धास्त इति पृथगुपात्ता आचार्यादयोऽपि किन्नोपात्तास्तेषामप्येकदेशसिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धताया अर्हतामप्याराधकत्वे सत्युपादानं स्वव्याख्याविरोधमाधत्त इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् **''जगप्पसिद्धे'** जगति प्रसिद्धान् **'चदुव्विधाराधणाफल'** चतुर्विधाराधनाफल **'पत्ते'** प्राप्तान्, **वदित्ता** वन्दित्वा **'अरहंते' 'वोच्छ'** वक्ष्यामि **'आराधण'** आराधना **'कमसो'** क्रमश ॥

सिद्धशब्दस्य चत्वारोऽर्था नामस्थापनाद्रव्यभावा इति । तत्र नामसिद्ध क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्यं, सूक्ष्मता, अतिशयवतीमवगाहना, सकलबाधारहितता चानपेक्ष्य सिद्धशब्दप्रवृत्तेर्निमित्त कस्मिश्चित्प्रवृत्त सिद्धशब्द ।

ननु स्वरूपनिष्पत्ति सिद्धशब्दस्य प्रवृत्तेर्निमित्त न सम्यक्त्वादय इति चेत् सत्य, व्यावर्णितयत्किचिन्न्यूनात्मरूपनिष्पत्तिर्निमित्तत एष्यत एव । पूर्वभावप्रज्ञप्तिनयापेक्षया चरमशरीरानुप्रविष्टो य आत्मा क्षीरानु-

इस प्रकारकी विविधताके होते हुए विपरीतता की—अर्हन्तोसे पहले सिद्धोको क्यो नमस्कार किया—इस प्रकारकी आशङ्का कैसी ?

तथा यह जो कहा है कि साधकोके अनुग्रहके लिए रचे गये इस ग्रन्थमे मगल रूपसे सिद्धोका ही अधिकार उचित है। इस विषयमे यह प्रश्न है कि ये साधक क्या श्रुत के है ? यदि ऐसा है तो सामायिकसे लेकर लोकबिन्दुसार पर्यन्त सकल श्रुतके आदिमे मंगल करनेवाले गणधर देवने 'णमो अरहताण' इत्यादि रूपसे पाँचोको नमस्कार क्यो किया ? इसलिए आपकी व्याख्या सूत्र विरोधिनी है। तथा इसी गाथासूत्रसे भी विरुद्ध है; क्योकि इसी गाथामे 'वदित्ता अरहते' कहकर अर्हन्तोका भी ग्रहण किया है। यदि कहोगे कि वे भी सिद्ध है तो उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है। यदि कहोगे कि वे एकदेश सिद्ध है इसलिए उनका पृथक् ग्रहण किया है तो आचार्य आदिका ग्रहण क्यो नही किया, क्योकि वे भी एकदेश सिद्ध है। एकदेश सिद्ध होने पर अर्हन्तोका भी आराधक रूपसे ग्रहण अपनी ही व्याख्याके विरुद्ध जाता है। अस्तु,

गा०—'जगत्मे प्रसिद्ध और चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्धो और अर्हन्तोंको नमस्कार करके क्रमसे आराधनाको कहूँगा ॥१॥'

टीका—सिद्ध शब्दके चार अर्थ है—नाम सिद्ध, स्थापना सिद्ध, द्रव्य सिद्ध और भावसिद्ध। क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, सूक्ष्मता, अतिशयवती अवगाहना और सकलबाधारहितता अर्थात् अव्याबाधत्व, ये गुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमे निमित्त है अर्थात् जिनमें ये गुण होते है उन्हे सिद्ध कहते है। इन गुणोकी अपेक्षा न करके किसीमे प्रवृत्त सिद्ध शब्द नाम सिद्ध है।

शका—सिद्ध शब्दको प्रवृत्तिका निमित्त उसके स्वरूपकी निष्पत्ति है, सम्यक्त्व आदि गुण नही ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है, पूर्व शरीरके आकारसे किंचित् कम जो आत्म रूप कहा है सिद्ध का, उसकी निष्पत्तिके निमित्तको हम स्वीकार करते है। पूर्व भाव प्रज्ञापन नयकी

प्रविष्टोदकमिव सस्थानवत्तामुपगत , शरीरापायेऽपि तमात्मान चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनात्मप्रदेशसमवस्थान बुद्धावारोप्य तदेवेदमिति स्थापिता मूर्ति स्थापनासिद्ध । सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यासित आत्मा आगमद्रव्यमिद्ध । नोआगमद्रव्यसिद्धस्त्रेधा ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदात् । ज्ञायकशरीरसिद्ध सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूत भवत् भावि वा । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्ध । तद्व्यतिरिक्तम-सभवि, कर्मनोकर्मणो मिद्धत्वस्य कारणत्वाभावात् । सिद्धप्राभृतगदितस्वरूपसिद्धज्ञानमागमभावसिद्ध । क्षायिकज्ञानदर्शनोपयुक्त परिप्राप्ताव्याबाधस्वरूपस्त्रिविष्टपशिखरस्थो नोआगमभावसिद्ध । स इह गृह्यते ।

ननु मामान्यशब्दस्यान्तरेण प्रकरण विशेषण वाऽभिमतार्थवृत्तिता दुरवगमा ? अत एव विशेषणमुपात्त चतुर्विधाराधनाफल प्राप्तानिति । सम्यक्त्व केवलज्ञानदर्शने सकलकर्मविनिर्मुक्ततेति चतुर्विध, चतुर्विधाया आराधनाया फल साध्य तत्प्राप्तिरात्मन सम्यग्दर्शनादिरूपेण ममवस्थानम् । ततोऽयमर्थ —'फल पत्ते' इत्यस्य क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शननिरवशेषकर्मविनिर्मुक्तताख्पेणावस्थितानिति । जगति आसन्नभव्यजीवलोके ममीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्धान् प्रतीतान् विदितान् । 'अरहते' इत्यत्र च शब्दमन्तरेणापि ममुच्चयार्था गति । 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति' द्रव्याणीत्येव यथा । निहतमोहनीयतयाऽस्तज्ञान-

---

अपेक्षा अन्तिम शरीरमे प्रविष्ट हुआ जो आत्मा दूधमे मिले पानीकी तरह आकारवत्ताको प्राप्त हुआ, शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उस आत्माको अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून आकार वाला बुद्धिमे स्थापित करके 'यह वही है' इस प्रकारसे स्थापित मूर्त्तिको स्थापना सिद्ध कहते है ।

सिद्धो के स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी परिणतिकी सामर्थ्यसे युक्त आत्मा आगम-द्रव्यसिद्ध है । नोआगम-द्रव्यसिद्धके तीन भेद है—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त । सिद्ध विषयक शास्त्रके ज्ञानाके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायक शरीर सिद्ध कहते है । भविष्य-मे सिद्ध पर्यायको प्राप्त करनेवाले जीवको भाविसिद्ध कहते है । इसमे तद्व्यतिरिक्त भेद सम्भव नही है क्योकि कर्म और नोकर्म सिद्धत्वके कारण नही होते ।

सिद्ध प्राभृतमे कहे गये सिद्ध स्वरूपके ज्ञानमे उपयुक्त आत्मा आगम भावसिद्ध है । क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनमे उपयुक्त तथा अव्याबाध स्वरूपको प्राप्त और लोकके शिखर पर विराजमान सिद्ध परमेष्ठी नो आगमभावसिद्ध है । यहाँ उसीका ग्रहण किया है ।

शङ्का—प्रकरण अथवा विशेषणके बिना सामान्यसे अभिमत अर्थका बोध होना कठिन है अत यहाँ सिद्धसे नो आगम भावसिद्धका ग्रहण कैसे सभव है ?

समाधान—इसीलिये आचार्यने 'चतुर्विध आराधनाके फलको प्राप्त' यह विशेषण दिया है । सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मोसे सर्वथा मुक्तता ये चार, चार प्रकारकी आराधनाके फल है । आत्माका सम्यग्दर्शन आदि रूपसे सम्यक् अवस्थान ही उनकी प्राप्ति है । अत 'फल पत्ते' का अर्थ है—जो क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मो से विनिर्मुक्तता रूपसे स्थित है उन सिद्धोको । 'जगत्' अर्थात् निकट भव्य जीवरूपी लोकमे, जिनकी आँख समीचीन श्रुतज्ञान है, उनमे जो प्रसिद्ध हे जाने माने है ।

'अरहते' यहाँ यद्यपि 'च' शब्द नही है फिर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है । जैसे 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि' इस सूत्रमे 'च' शब्द नही होने पर भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य है इस प्रकारसे समुच्चयका ज्ञान होता है उसी प्रकार जानना ।

दर्शनावरणात् अतिशयितपूजाभाज इत्ययमर्थोऽनेन '**अरहंते**' इत्यनेनोक्त । अनुगतार्थत्वादर्हन्निति संज्ञाया यथा सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दार्थसज्ञाभावमुपयाति । अथवा '**जगप्पसद्धि**' इति अर्हता विशेषण, यत पञ्चमहा कल्याणस्थानेपु विष्टपत्रयेणाधिगता महात्मान , नैवमितरे सिद्धा । सर्वस्यैव हि वस्तुन कथचित्प्रतीतत्वे सति अप्रतीतस्य कस्यचिदभावात् प्रसिद्धग्रहणमुपात्तप्रकर्षमिति गम्यते । **यथाऽभिरूपाय कन्या देयेति** । तेनायमर्थो जगति प्रसिद्धतमानिति । अर्हतामेव च प्रतीततरत्वमुक्तेन क्रमेण ।

अनधिगतप्रयोजन श्रोता न यतते श्रवणेऽध्ययने वा । परोपकारसपादनाय चेद प्रस्तूयते मया तत प्रयोजन प्रकटयामीत्याह '**वोच्छ आराहणं**' मिति । एतेनाराधनास्वरूपावगमन प्रयोजन शास्त्रश्रवणाद्भवता भवतीत्यावेदितम् ।

नत्वाराधनास्वरूपावगमन तु पुरुपार्थ । पुरुषार्थो हि प्रयोजन, पुरुषार्थश्च सुख दु खनिवृत्तिर्वा, न चानयोरन्यतरताऽस्य । अयमस्याभिप्राय , यो येनार्थेनार्थी स तत्प्राप्तये तदीयोपायमधिगतुमुपादेय वा यतते येन प्रयुक्त क्रियाया प्रवर्तते तत्प्रयोजन, ज्ञानेन प्रयुज्यते श्रवणादिक्रियायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञान प्रयोजन भवतु, आराधना तु कथमपयोगिनी ? सकलसुखरूपकेवलज्ञानपरमाव्याबाधता जनयतीत्युपयोगिनी । तथा चोक्त— 'चतुर्विधाराधनाफल प्राप्तानिति' । ततोऽयमर्थ , अनन्त ज्ञानादिफलनिमित्ताराधनाऽवबोधनार्थमिद शास्त्रमा-

मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणके चले जानेसे जो अतिशय युक्त पूजाके भाजन है, यह अर्थ 'अरहते' पदसे वहाँ कहा गया है; क्योकि 'अर्हन्' यह नाम सार्थक है। जैसे सर्वनाम शब्द स्वीकार किये गये शब्दार्थोके सज्ञापनेको अपनानेसे सार्थक है।

अथवा 'जगत् प्रसिद्ध' यह पद अर्हन्तोका विशेषण है, क्योकि ये महात्मा पाँच महाकल्याणक स्थानोंमे तीनो लोकोके द्वारा जैसे प्रख्यात होते है वैसे अन्य सिद्ध नही होते। सभी वस्तु किसी न किमी रूपमे प्रतीत होती है, सर्वथा अप्रतीत कोई नही है। अत यहाँ प्रसिद्ध' पदका ग्रहण प्रकर्षताका परिचायक है। जैसे 'रूपवानको कन्या देना'। यहाँ रूपवान् शब्द विशिष्ट रूपका बोधक है। अत 'जगत मे सबसे' अधिक प्रसिद्ध यह अर्थ यहाँ लेना। और उक्त प्रकारसे अर्हन्त ही सबसे अधिक या सिद्धोसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

प्रयोजनको जाने बिना श्रोता श्रवण या अध्ययनमे प्रयत्न नही करता। और मै (ग्रथकार) परोपकार करनेके लिये यह ग्रन्थ बनाता हूँ, अत प्रयोजन प्रकट करता हूँ—'वोच्छ आराहण' इससे यह प्रयोजन सूचित किया है कि शास्त्रश्रवणसे आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होता है।

शंका—आराधनाके स्वरूपको जानना तो पुरुषार्थ नही है, क्योकि पुरुषार्थ प्रयोजन है और पुरुषार्थ है सुख अथवा दु खनिवृत्ति। आराधनाके स्वरूपको जानना न तो सुख है और न दु:ख निवृत्ति है। हमारे इस कथनका अभिप्राय यह है कि जो जिस अर्थका इच्छुक होता है वह उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपाय या उपादेयको जाननेका प्रयत्न करता है। जिसके द्वारा प्रेरित होकर, मनुष्य क्रियामे लगता है वह प्रयोजन हैं। ज्ञानके द्वारा श्रवण आदि क्रियामे लगता है अत उपयोगी वस्तुका ज्ञान प्रयोजन हो सकता है परन्तु आराधना कैसे उपयोगी है ?

समाधान—समस्त सुख रूप केवलज्ञान और परम अव्याबाधताको उत्पन्न करनेसे आराधना उपयोगी है। कहा है 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त।'

अत. अभिप्राय यह है कि अनन्त ज्ञानादि रूप फलकी प्राप्तिमे निमित्त आराधनाके स्वरूप-

रम्यत इति साध्यमाराधनास्वरूपज्ञानं साधनमिद शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपसबन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत एव वाक्याल्लभ्यते। अभिधेयभूतास्तु चतस्र आराधना। ग्राह्यमिद शास्त्र प्रयोजनादित्रयसमन्वितत्वात् व्याकरणादिवदिति। एवमनया **मङ्गलं प्रयोजनादित्रयं च सूचितं 'कमसो'** क्रमेण पूर्वशास्त्रनिगदितेन। एतेन स्वमनोषिकार्चितमि न भवति। आप्तवचनानुसारितया प्रमाणमिदमित्याख्यात भवति। '**पुव्वसुत्ताणं**' इति वाक्यशेषादित्थ लभ्यते ॥१॥

का आराधना कस्य वा ? न ह्याराध्यापरिज्ञानेनात्मभूताराधना शक्या प्रतिपत्तु इत्यारेकायामाह—

उज्जोवणमुज्जवण णिव्वहण साहण च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया ॥ २ ॥

उज्जोवणमुज्जवणमित्यादिकं। '**उज्जोवणं**' उद्योतन शङ्कादिनिरसन सम्यक्त्वाराधना श्रुतनिरूपिते वस्तुनि किमित्थ भवेन्न भवेदिति समुपजाताया शङ्काया सशयप्रतिसज्ञिताया अपाकृति। कथ ? हेतुबलेन आप्तवचनेन वा समुपजाताया इत्थमेवेदमिति निश्चित्य। यद्धि यस्य विरोधि यत्रोपजात तत्र नेतरदास्पद बध्नाति, यथा शीतस्पर्शेनाक्रान्ते शिशिरकरे उष्णता। विरोधि च निश्चयज्ञान। सशीतेर्विरोधता च नियोगतस्तद्भावे तत्रेतरस्य तदा अभवनात्। वक्ष्याम काक्षादीना स्वरूप तन्निरासक्रम च प्रस्तावे। अनिश्चयो

का ज्ञान करानेके लिये इस शास्त्रको प्रारम्भ करते है। आराधनाके स्वरूपका ज्ञान साध्य है और उसका साधन यह शास्त्र है। इस प्रकार शास्त्र और प्रयोजनमे साध्य साधनरूप सम्बन्ध है यह भी इसी वाक्यसे ज्ञात होता है। इस शास्त्रका अभिधेयभूत अर्थात् जो इसके द्वारा कहा गया है वह है चार आराधना। अत प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयसे युक्त होनेसे यह शास्त्र उसी तरह उपादेय है जैसे व्याकरणशास्त्र उपादेय है।

इस प्रकार इस गाथासे मगल प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयको सूचित किया है।

'कमसो' का अर्थ है क्रमसे अर्थात् पूर्व शास्त्रोमे जैसा कहा है वैसा ही कहूँगा। इससे यह सूचित किया है कि यह ग्रन्थकारकी अपनी बुद्धिकी उपज नही है किन्तु आप्त पुरुषोके वचनोके अनुसार होनेसे प्रमाण है। 'कमसो' के साथ 'पुव्व सुत्ताण' पूर्व शास्त्रोके इस वाक्याशका अध्याहार करनेसे उक्त अर्थ निकलता है ॥१॥

आराध्यको जाने बिना उसकी आत्मभूत आराधनाको जानना शक्य नही है। अत आराधना किसे कहते है और वह किसके होती है इस शकाके समाधानके लिये आचार्य कहते है—

गाथा—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्वके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और (णिच्छरण) निस्तरणको (आराहणा) आराधना कहा है ॥२॥

टीका—'उज्जोवण' का अर्थ है उद्योतन अर्थात् शंका आदि दोषोको दूर करना। यह सम्यक्त्व आराधना है। शास्त्रमे कही गई वस्तुके विषयमे 'क्या ऐसा है अथवा नही है' इसप्रकार से उत्पन्न हुई शकाको, जिसका दूसरा नाम सशय है, दूर करना सम्यक्त्वाराधना है। युक्ति के बलसे अथवा आप्त वचनके द्वारा यह इसी प्रकार है ऐसा निश्चय करके उत्पन्न हुई शकाको दूर करना सम्यक्त्वका उद्योतन है। जिसका विरोधी जहाँ होता है वहाँ वह ठहर नही सकता। जैसे शीत स्पर्शसे व्याप्त चन्द्रमामें उष्णता नही ठहरती। निश्चयात्मक ज्ञान सशयका विरोधी है अत इन दोनोमे नियमसे विरोध है; क्योंकि एकके रहते हुए वहाँ उस समय दूसरा नही रहता।

वैपरीत्य वा ज्ञानस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदास । यथार्थतया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतन । भावना-विरहो मल चारित्रस्य, तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतन चारित्रस्य । तपसोऽसयमपरिणाम कलङ्कतया स्थितस्त स्यापाकृति सयमभावनया तपस उद्योतनम् । उत्कृष्ट यवन उद्यवन ।

ननु मिश्रणं युप्रकृतेरर्थ , मिश्रण च सयोगता । तथा हि गुडमिश्रा धाना इति कथिते गुडेन सयुक्ता इति प्रतीयते । सयोगश्च विभिन्नयोरर्थयोरप्राप्तयो प्राप्तिर्न च दर्शनादयोऽर्थान्तरभूता आत्मनस्तद्रूपविकल-रूपाभावात् । तत्कथ दर्शनादिभिरात्मनो मिश्रणमिति ? उच्यते-विशेषवाच्योऽपि सामान्योपलक्षणतया वर्तते, यथा काकेभ्यो रक्ष्यता सर्पिरित्यत्रोपघातकमामान्यमेवार्थ काकशब्दस्य प्रतीतस्तद्वत्सम्बन्धसामान्यमत्र यवन-शब्दाभिधेय । असकृद्दर्शनादिपरिणतिरुद्यवन ।

निराकुल वहन धारण निर्वहण, परिषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्ति । उप-योगान्तरेणान्तर्हिताना दर्शनादिपरिणामाना निष्पादन साधनम् । भवान्तरप्रापण दर्शनादीना निस्तरणम् । एवमाराधनाशब्दस्यानेकार्थवृत्तिताया यथावसर तत्र तत्र व्याख्या कार्या ।

आगे हम काक्षा आदिका स्वरूप और उनके निरासका क्रम कहेगे । अनिश्चय अथवा विपरीतता ज्ञानका मल वा दोष है । निश्चयके द्वारा अनिश्चयका परिहार होता है । और यथा-र्थतासे विपरीतताका निरास होता है । यह ज्ञानका उद्योतन है अर्थात् ज्ञानका निश्चयात्मक और विपरीततारहित होना ही ज्ञानका उद्योतन है ।

भावनाका न करना चारित्रका मल है । अत उन भावनाओमे लगना चारित्रका उद्यो-तन है । असयमरूप परिणाम तपका कलक है । सयमकी भावनाके द्वारा उसको दूर करना तप-का उद्योतन है ।

उत्कृष्ट यवनको उद्यवन कहते है ।

शंका—'यु' धातुका अर्थ मिश्रण है । सयोगपनेको मिश्रण कहते हैं । जैसे 'गुडमे मिश्रित धान' कहने पर गुडसे सयुक्त धानकी प्रतीति होती है । दो विभिन्न पदार्थ जो एक दूसरेसे अलग है उनके मिलनेको सयोग कहते है । किन्तु दर्शन आदि तो आत्मासे भिन्न पदार्थ नही हैं क्योकि दर्शन आदिसे रहित आत्माका अभाव है । तब दर्शन आदिके साथ आत्माका मिश्रण कैसे सभव है ?

समाधान—जिस शब्दका जो विशेष अर्थ होता है वह भी उपलक्षणसे सामान्य रूप लिया जाता है । जैसे 'कौओसे घी को बचाओ' यहाँ काक शब्दका अर्थ उपघातक सामान्य ही है अर्थात् जो घी को हानि पहुँचा सकते है उन सबसे घी को बचाओ । इमी तरह यहाँ 'यवन' शब्दका अर्थ सम्बन्ध मात्र है, कोई विशेष सम्बन्ध नही । अत बार बार आत्माका दर्शन आदि रूप परि-णत होना उद्यवन है । निराकुलतापूर्वक 'वहन' अर्थात् धारण करनेको 'निर्वहण' कहते है । परी-षह आदि आने पर भी आकुलताके बिना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणतिमे संलग्न होना निर्वहण है । अन्य कार्योंमे उपयोग लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोको पुन उत्पन्न करना साधन है । और सम्यग्दर्शन आदिको दूसरे भवमे भी साथ ले जाना निस्तरण है ।

इस प्रकार आराधना शब्दके अनेक अर्थ होने पर अवसरके अनुसार व्याख्या करना चाहिये ।

अत्रान्ये व्याचक्षते—निस्तरणशब्द. सामर्थ्यवाची स प्रत्येक सम्बध्यते उद्योतनादिभिरुद्योतनादीना-तद्दर्शनादिभिश्चतुर्भिरपि यथासख्येन सबन्ध । उद्योतन मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरण अविघ्नेन दर्शनाराधनेत्यादिना क्रमेण । त एव पर्यनुयोज्या किमत्र ज्ञानादीना निर्मलीकरणमिष्टमनिष्ट वा । इष्ट चेद्दर्शनेनैव किमिति सम्बध्यते निर्मलीकर ? उत्कर्षेण यवनमपि सर्वेषामिष्यते । अनाकुल वहनमपि साधारण किमुच्यते व्रतगुप्तिसमितीना निश्चयेनानाकुल वहनमिति ? न च निस्तरणशब्दात्सामर्थ्य प्रतीयते । उद्योतन सामर्थ्यमित्यादिषु न च कश्चिदर्थ , अविघ्नेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उज्जोवणादिशब्दैरनुपात्तो । मरणकालश्च क ? मनुष्यभवपर्यायविनाशसमयो मरणकालसमयेन यद्युच्यते, न तत्र भावनोत्कर्ष , मारणान्तिकसमुद्घाते परिणाममान्द्यात् । अत्र भावनाकालो मरणकालशब्देनोच्यते सोऽनुपात्तोऽप्रकृतश्च कथमिह लभ्यते । भावना-कालगतव्यापारकथनायेद शास्त्र प्रस्तुतमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽसूत्रितत्वात् । 'दसणणाणचरित्ततवाण-मुज्जोवणमाराहणा भणिया' 'दंसणणाणचरित्ततवाणुज्जवणमाराधणा' इति, इति प्रत्येकमभिसबन्धोऽत्र कार्य । अन्यथा असमासेन निर्देश कुर्यात् ॥२॥

यहाँ अन्य व्याख्याकार कहते हैं—निस्तरण शब्द सामर्थ्यवाचक है । अतः उद्योतन आदि-मेसे प्रत्येकके साथ उसका सम्बन्ध होता है । और उद्योतन आदिका दर्शन आदि चारोके साथ क्रमसे सम्बन्ध होता है । जैसे मरणकालमे पूर्वकी अवस्थाका उत्कृष्ट रूपसे निर्मल करना सम्यग्दर्शनका उद्योतन है अर्थात् निर्विघ्नतापूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधना उद्योतन है, इस प्रकार-क्रमसे करना चाहिये ।

उनसे पूछना चाहिए कि क्या यहाँ ज्ञानादिका निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट ? यदि इष्ट है तो निर्मल करनेका सम्बन्ध अकेले दर्शनके साथ ही क्यो जोडा जाता है ? उत्कृष्ट रूपसे यवन भी सभी दर्शन आदिका इष्ट है । निराकुलतापूर्वक धारण करना भी सामान्य है ! तब आप व्रत, गुप्ति और समितिके निश्चयपूर्वक निराकुल धारणाकी बात क्यो कहते है ? तथा निस्तरण शब्दसे सामर्थ्यकी प्रतीति भी नही होती । उसे उद्योतन आदिके साथ जोडने पर उद्योतन सामर्थ्य, उद्यवन सामर्थ्य इत्यादिसे कोई अर्थ सिद्ध नही होता । तथा उद्योतन आदिसे तो निर्विघ्नता अर्थ नही निकलता । तब यह अर्थ आप कैसे लेते हैं ? तथा मरणकालसे आपका क्या अभिप्राय है ? यदि मरणकाल समयसे मनुष्य पर्यायके विनाशका समय लेते है तो उस समय तो भावनाकी उत्कृष्टता सम्भव नही है क्योकि मारणान्तिक समुद्घातमे परिणामोमे मन्दता होती है । यदि यहाँ मरणकाल शब्दसे भावना काल लेते हो तो उसका तो यहाँ ग्रहण नही है । तब जिसका प्रकरण नही है उसे कैसे लिया जा सकता है ?

शंका—भावना कालमे होनेवाले व्यापारका कथन करनेके लिए यह शास्त्र रचा जाता है ?

समाधान—नही, ऐसा ग्रन्थकारने नही कहा है । ग्रन्थकारने तो 'दसणणाणचरित्ततवाण उज्जोवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्योतनको आराधना कहा है । 'उज्जवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्यवनको आराधना कहा है अत प्रत्येकके साथ सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए । यदि ग्रन्थकारको ऐसा इष्ट न होता तो वे 'दसण' इत्यादिका निर्देश समासपूर्वक न करते ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन आदिके उद्योतनको चार प्रकार की आराधना कहा है । सम्यग्दर्शन आदिके निर्मल करनेको उद्योतन कहते है । उत्कृष्ट यवन अर्थात् मिश्रणको—बार बार दर्शनादि-

किं चतुर्विधैवाराधनेत्याशङ्कायामाह—

दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ।
सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य हवे चरित्तंमि ।। ३ ।।

'**दुविहा पुण जिणवयणे समासेण दुविधा आराधना भणिया**' इति पदसबन्ध । आवरणमोहजयाज्जिना । ज्ञानदर्शनावरणजयात्सर्वज्ञा सर्वदर्शिन । मोहपराजयाद्वीतरागद्वेषा । **सर्वज्ञानां सर्वदर्शिनां वीतरागद्वेषाणां वचन जिनवचनं** । एतेन असत्यवचनकारणाभावात् प्रामाण्यमाख्यातमागमस्य । वक्तुरज्ञानाद्रागद्वषाभ्या वा प्रवृत्तं वच अयथार्थविबोधनादप्रामाण्यमास्कन्दति । तत्र च '**समासेण**' सक्षेपेण '**दुविधा**' द्विप्रकारा '**भणिदा**' कथिता '**आराहणा**' आराधना । का प्रथमा आराधना का द्वितीयेत्यत आह—'**सम्मत्तम्मि य पढमा**' श्रद्धानविषया प्रथमाराधना । '**विदिया य**' द्वितीया च '**हवे**' भवेत् '**चरित्तं मि**' चारित्रविषया आराधना । दर्शनचारित्राराधनयो प्रथमद्वितीयव्यपदेश उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । केचिच्चत्र दर्शनपरिणामोत्पत्त्युत्तरकाले हि चारित्रपरिणाम उत्पद्यत इति प्राथम्य दर्शनाराधनाया । असयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान पूर्वं

रूप परिणमन करनेको उद्यवन कहते है। परीषह आदि आने पर भी निराकुलतापूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निर्वहन कहते हैं। अन्य तरफ उपयोग लगनेसे दर्शन आदिसे मनके हटने पर पुन उनमे उपयोग लगाना साधन है। अर्थात् नित्य या नैमित्तिक कार्य करते समय सम्यग्दर्शन आदिमे व्यवधान आ जाये तो पुन. उपायपूर्वक उसे करना साधन है। दूसरे भवमे भी सम्यग्दर्शनादिको साथ ले जाना अथवा उस भव मे मरणपर्यन्त धारण करना निस्तरण है। तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। स्व और परके निर्णयको सम्यग्ज्ञान कहते है। पापका बन्ध करानेवाली क्रियाओके त्यागको चारित्र कहते है और इन्द्रिय तथा मनके नियमनको तप कहते है ।।२।।

क्या आराधना चार ही प्रकारकी होती है ऐसी आशङ्कामे आचार्य कहते है—

गा०—जिनागममे सक्षेपसे आराधना दो प्रकारकी कही है। श्रद्धान विषयक प्रथम आराधना है। और दूसरी चारित्रविषयक आराधना है ।। ३ ।।

टी०—जिनवचनमे सक्षेपसे दो प्रकारकी आराधना कही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहको जीतनेसे जिन होते है तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणको जीतनेसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते है। मोहको जीतनेसे वीतरागी और वीतद्वेषी होते हैं। सर्वज्ञ सर्वदर्शी और वीतराग तथा वीतद्वेषी महापुरुषोंका वचन जिनवचन कहलाता है। इससे असत्य बोलनेके कारणोका अभाव होनेसे आगमके प्रामाण्यको ख्यापित किया है। वक्ताके अज्ञानसे अथवा रागद्वेषसे कहा गया वचन अयथार्थका बोध करानेसे अप्रमाण होता है।

उस जिनवचनमे 'समासेण' अर्थात् सक्षेपसे 'आराहणा' अर्थात् आराधना, 'दुविधा' अर्थात् दो भेदरूप, 'भणिदा' अर्थात् कही है। पहली आराधना कौन है और दूसरी कौन है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'सम्मत्तम्मि य पढमा' अर्थात् श्रद्धानविषयक प्रथम आराधना है और 'विदिया हवे चरितम्मि' चारित्र विषयक दूसरी आराधना है।

उत्पत्तिकी अपेक्षा और गुणस्थानकी अपेक्षा दर्शनाराधनाको प्रथम तथा चारित्राराधनाको द्वितीय कहा है ऐसा कोई कहते हैं। उनका कहना है कि सम्यग्दर्शनरूप परिणामकी उत्पत्ति

प्रमत्तसंयतादिकं तु परमिति। श्रद्धानविरतिपरिणामयोर्युगपदप्यस्ति प्रादुर्भाव, श्रद्धानवतो वा असयतस्य पश्चाद्विरतिरुपजायते। तत्किमुच्यते 'उत्पत्त्यपेक्षयेति। असयतसम्यग्दृष्टीना कुत क्रमो येन तदपेक्षया प्रथमद्वितीय-व्यपदेशवृत्ति स्यात्। उत्पत्त्यपेक्षया तत्रोक्त एव नियम। **अथागमे वचनपौर्वापर्यापेक्षया 'असजदसम्माविट्ठि-सयदासंयदापमत्तसंयदा'** इति वचनात्। तदेव वचन किमर्थं क्रममाश्रित्य प्रवृत्तमुत नान्तरीयकतया? न तावदस्ति परिणामाना नियोगभावी क्रम। यदि स्यान्न यौगपद्य कदाचित्स्यात्। दृश्यते च सम्यग्दृष्टि-सयतासयता इति चैकदा। अथ नानेक वचनमेक प्रयोक्तु क्षमत इति वक्तुरिच्छानुविधायी क्रम सूत्रविवक्षाकृत प्राथम्य द्वितीयता चेति वाच्य न गुणस्थानापेक्षयेति। कि चोपजातदर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्गतातिशय-वृत्तिराराधना साऽत्र प्रस्तुता। तत्र च प्राथम्य द्वितीयता वा, तत्किमुच्यते उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति।

अस्य सूत्रस्योपोद्घातमेवमपरे वर्णयन्ति—अस्मिन् शास्त्रे किमयमेव निश्चयश्चतुर्विधैवाराधनेति, उतान्योऽपि विकल्प सभवतीति? अस्तीत्याहेति तदयुक्तम् 'दसणणाणचरित्ततवाणमाराधणा भणिया' इत्यतीत-

---

होनेके उत्तरकालमे चारित्ररूप परिणाम उत्पन्न होता है इसलिये दर्शनाराधना प्रथम है। असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पहले होता है प्रमत्तसयत आदि बादमें होते है।

किन्तु श्रद्धानरूप और विरतिरूप परिणाम एक साथ भी प्रकट होते है। अथवा सम्यग्दर्शन-से सम्पन्न असयतके पीछेसे भी चारित्र उत्पन्न होता है, तब उत्पत्तिकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय है ऐसा कैसे कहते है? असयत सम्यग्दृष्टियोंका क्रम कैसे संभव है जिससे उसकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय व्यवहार हो सके। उत्पत्तिकी अपेक्षासे उनके सम्बन्धमे नियम कहा ही है।

पूर्वपक्ष—आगममे वचनके पौर्वापर्यकी अपेक्षासे दर्शनाराधनाको प्रथम और चारित्रा-राधनाको द्वितीय कहा है, क्योकि आगममे 'असयतसम्यग्दृष्टी, सयतासयत, प्रमत्तसयत' ऐसा वचन क्रम है।

उत्तर—वही वचन किसलिये क्रमका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ है? क्या यह क्रम परस्परमें अविनाभावी होनेसे रखा गया है? परिणामोके क्रमसे ही होनेका तो कोई नियम नही है। यदि होता तो एक साथ श्रद्धान और चारित्र भी नही होते। किन्तु सम्यग्दृष्टि और सयतासयत एक कालमे होते देखे जाते है।

पूर्वपक्ष—एक व्यक्ति एक साथ अनेक वचनोंका प्रयोग नही कर सकता इसलिये क्रम वक्ता-की इच्छाका अनुसरण करता है।

उत्तर—तब प्रथम और द्वितीयपनेको सूत्रकी विवक्षाकृत कहना चाहिये अर्थात् सूत्रमे जिसकी प्रथम विवक्षा है वह प्रथम है और जिसकी विवक्षा बादमे है वह द्वितीय है। गुणस्थानकी अपेक्षा नही कहना चाहिये।

दूसरे, जिस आत्मामे दर्शनादि परिणाम उत्पन्न हो गये है उसका दर्शन आदिके विषयमे विशेष अतिशय उत्पन्न करनेका नाम आराधना है। वही आराधना यहाँ प्रस्तुत है। उसके विषय-मे उत्पत्तिकी अपेक्षा या गुणस्थानकी अपेक्षा प्रथमपना और द्वितीयपना कैसे आप कहते है?

अन्य कुछ व्याख्याकार इस गाथासूत्रका उपोद्घात इस प्रकार कहते है—इस शास्त्रमे क्या यही निश्चय है कि आराधना चार ही प्रकार की है अथवा कोई दूसरा भी विकल्प संभव है? यदि कहते हो 'है' तो ऐसा कहना उचित नही है क्योकि गाथामे दर्शन ज्ञान चारित्र और तप आरा-

कालाभिधानक्रियात प्रतीयते नास्य शास्त्रस्य व्यापार इति । यद्यस्य व्यापार शास्त्रस्य वक्तुमिष्ट स्यात् 'भण्णदि' इति ब्रूयात् । '**जिणवयणे भणिया दुविहा आराधणा**' इति वचनात् । सक्षेपनिरूपणापि [1]तत्रैवेति- नेह सक्षेपवाच्यम् । वस्तु बहूपन्यस्त दुरवगम मन्दबुद्धीनामिति । तदनुग्रहाय स्वल्पस्योपन्यास । स सक्षेपस्त्रि- प्रकार —वचनसक्षेपोऽर्थसक्षेपस्तदुभयसक्षेपश्चेति । वचनबहुत्वस्यार्थनिश्चयो न जायते जडानामिति वचन सक्षिप्यते । अर्थस्तु सप्रपञ्च एव । **अनुयोग**द्वारादीना बहूनामुपन्यासमकृत्वा दिड्मात्रोपन्यास प्रस्तुतस्यार्थ- सक्षेप । वचनानि तु बहूनि । तस्योभयसक्षेप पाश्चात्य । द्विविधाराधनेति वचनसक्षेपो नार्थसक्षेप । ज्ञानस्याराधना तपसश्च विद्यमानापि न वचनेनोच्यते । [2]परमुखेनैवावबोधयितु शक्यत इति ।

दंसणमाराहंतेण णाणमाराहियं हवे णियमा ।
णाणं आराहंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं ॥ ४ ॥

'**दंसणमाराहंतेण**' दर्शनाराधनाया कथिताया ज्ञानाराधनापि शक्यते प्रतिपत्तुम्, अन्यानयनचोदनाया

धना 'भणिता' 'कही है' इस प्रकार अतीत काल सम्बन्धी क्रियाका प्रयोग किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इस शास्त्रका उसमे व्यापार नही है। यदि उनको कथन करनेमे इस शास्त्रका *व्यापार इष्ट होता तो 'भण्णदि' ऐसा लिखते। किन्तु वे कहते है 'जिणवयणे भणिया दुविहा आरा- धणा।'* जिनवचनमे दो प्रकारकी आराधना कही है। उसीमे संक्षेप भी कथन किया है इसलिये यहाँ सक्षेप भी नही कहना चाहिये।

इसका समाधान यह है कि बहुत विस्तारसे कथन मन्दबुद्धियोके लिये दुरवगम होता है। वे उसे समझनेमे असमर्थ होते हैं। उनके कल्याणके लिये सक्षेप कथन किया जाता है। उस सक्षेपके तीन प्रकार है—वचन सक्षेप, अर्थ सक्षेप और उभय सक्षेप। वचनका विस्तार होने पर जडबुद्धि अर्थका निश्चय नही कर सकते। इसलिये वचनका सक्षेप किया जाता है। अर्थका तो विस्तार रहता ही है। बहुतसे अनुयोगद्वार आदिका उपन्यास न करके केवल दिशामात्रका बतलाना प्रस्तुत विषयका अर्थ सक्षेप है। वचन तो बहुत है। उन दोनोका अर्थात् वचन और अर्थका सक्षेप उभय सक्षेप है। 'दुविहा आराधणा' यह वचन सक्षेप है, अर्थ सक्षेप नही है। ज्ञानकी आराधना और तपकी आराधनाके विद्यमान होते हुए भी उन्हे वचनसे नही कहा। उन्हे परमुखसे ही अर्थात् दर्शन और चारित्राराधनाके द्वारा ही जाना जा सकता है।

भावार्थ—पहले विस्तारमे रुचि रखने वाले शिष्योको दृष्टिमे रखकर चार प्रकारकी आराधना कही। पीछे सक्षेप रुचि शिष्योकी अपेक्षा उसे दो प्रकारका कहा, क्योकि दर्शनका ज्ञानके साथ तथा चारित्रका तपके साथ अविनाभाव होनेसे दर्शनाराधनामे ज्ञानाराधनाका और चारित्राराधनामे तप आराधनाका अन्तर्भाव होता है। तथा सम्यग्दर्शन आराधनाके होने पर ही ज्ञानाराधनापूर्वक चारित्राराधना होती है॥ ३॥

गा०—दर्शनकी आराधना करने वालेके द्वारा नियमसे ज्ञानकी आराधना होती है। किन्तु ज्ञानकी आराधना करने वालेके द्वारा दर्शनकी आराधना भजनीय है, होती भी है, नही भी होती॥ ४॥

टी०—'दसणमाराहंतेण' अर्थात् दर्शन आराधनाका कथन करने पर ज्ञान आराधनाको भी

१ तत्रैव–मु०। २ परमसुखे–आ०।

शरावाद्यन्यतमभाजनमात्रप्रतिपत्तिवत् । ननु चान्तरेणाधारमानयन न सभवतीति भवत्यनभिहितेऽपि भाजनमात्रे प्रतिपत्तिरिह कथम् ? इहाप्यविनाभावादित्याचष्टे '**दंसणमाराधंतेण**' ।

अत्रापरे सबन्धमारम्भयन्ति गाथायाः । यदि द्विविधा आराधना 'चतुर्विधाराधनाफल प्राप्ता सिद्धा' इति प्रतिज्ञा हीयते द्वयोरसग्रहात् इति चेत् नास्मिन्नपि विकल्पे तयोरपि सग्रहार्थम् । कथ 'दसणमाराधतेण' इति प्रतिज्ञा हीयते इति । अत्र प्रतिज्ञा शब्देन किमुच्यते ? **साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति** तावन्न गृहीतम् । चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वस्येह साध्यता नास्ति । सिद्धमेव हि चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वमनूद्यत इति । अथाभ्युपगति प्रतिज्ञा सा किन्नोपपद्यते ? सन्ति चतस्र आराधनास्तासा च फल ते प्राप्तवन्तस्तत सत्यभ्युपगन्तव्ये कथमभ्युपगमानुपपत्ति ? चतुर्विधेत्युक्तवन्त द्विविधेति कथ न विरुद्धमिति पूर्वापरव्याहतिरिति चोद्यते । तथा यश्चोद्यमेव चोद्यते समासन द्विविधेति वचनात्, प्रपञ्चनिरूपणाया चतुर्विधा तत्को विरोध ? तेन विरोधपरिहाराय चागतेय गाथा ।

'**दसणं**' श्रद्धान रुचि, '**आराधंतेण**' आराधयता, '**णाणं**' सम्यग्ज्ञान, '**आराधिद**' आराधित '**हवे**' भवेत् '**नियमा**' निश्चयेन । यस्य हि यद्विषया श्रद्धा तस्य कथचिदप्यज्ञाने न सा भवति । न हि निर्विषया रुचि

जानना शक्य है। जैसे आग लानेकी प्रेरणा करने पर उसको लानेके लिए सकोरा आदि किसी एक पात्र मात्रका बोध हो जाता है।

शङ्का—बिना किसी आधारके आगका लाना सभव नही है इसलिये पात्रमात्रका कथन न करने पर उसका बोध हो जाता है। किन्तु यहाँ यह कैसे सभव है ?

समाधान—यहाँ भी अविनाभाव होनेसे 'दसणमाराहतेण' इत्यादि कहा है।

यहाँ अन्य व्याख्याकार गाथाके सम्बन्धका आरम्भ इस प्रकार करते है—यदि आराधनाके भेद दो है तो 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्ध है' यह प्रतिज्ञा पूर्ण नही होती; क्योकि इसमे शेष दोका सग्रह नही किया है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि यहाँ यह बतलाते है कि उन दोमे भी शेष दोका सग्रह होता है। उसीके लिये 'दसणमाराहतेण' आदि कहा है।

तथा आप कहते है कि प्रतिज्ञाकी हानि होती है। यहाँ प्रतिज्ञा शब्दसे आप क्या कहते है ? साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहते है। उसका तो यहाँ ग्रहण नही किया है, क्योकि 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त' यह यहाँ साध्य नही है। चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त होना तो सिद्ध है, साध्य नही है। उसीका यहाँ अनुवाद मात्र किया है। यदि प्रतिज्ञाका अर्थ स्वीकृति है तो वह यहाँ क्यो नही उत्पन्न होती ? चार आराधनाएँ है और उनका फल सिद्धोने प्राप्त किया है ऐसा स्वीकार करने पर स्वीकृतिकी अनुपपत्ति कैसे हुई।

शंका—पहले कहा आराधनाके चार भेद है अब कहते है दो भेद है। तो यह पूर्वापर विरुद्ध कैसे नही है ?

समाधान—आप व्यर्थ ही तर्कमे कुतर्क लगाते है। ग्रन्थकार कहते है कि सक्षेपसे आराधनाके दो भेद है और विस्तारसे कहने पर चार भेद है इसमे विरोध कैसा ? अत विरोध दूर करनेके लिये ही यह गाथा आती है। अस्तु

'दसण' अर्थात् श्रद्धान या रुचिकी 'आराधतेण' आराधना करनेसे 'णाण' अर्थात् सम्यग्ज्ञान 'आराधिद' आराधित, 'हवे' होता है। 'णियमा' निश्चयसे। जिसकी जिस विषयमे श्रद्धा होती है उसका उस विषयमे अज्ञान होने पर किसी भी तरह वह श्रद्धा नही होती। रुचि विषयके बिना

प्रवर्तते । बुद्धिपरिगृहीतवस्तुविषया श्रद्धेत्यविनाभाव श्रद्धाया ज्ञानेन ।

अत्रापरा व्याख्या—आत्मनो विषयाकारपरिणामवृत्तिर्ज्ञानं तदावरणक्षयोपशमजनित, भूम्यावरणापगमे तोयजन्मवत् । तद्गतविशुद्धि प्रसन्नता अभिरुचि श्रद्धा । श्रुतिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना दर्शन । तद्दर्शनमोहोपशमक्षयोपशमनिमित्त तोया[1]श्रयपकाभावे जलप्रसादवत । तस्मिन्नाराध्यमाने ज्ञानसिद्धिरवश्य-भाविनी निराश्रयधर्मस्य केवलसिद्ध्य[2]भावादिति ।

तत्रेद परीक्ष्यते, विषयाकारपरिणतिरात्मनो यदि[3] स्याद्रूपरसगन्धस्पर्शाद्यात्मकता स्यात्तथा च—

'अरसमरूवमगंध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द'—[**समय० ४९**]

इत्यनेन विरोध । विरुद्धश्च नीलपीतादिपरिणामो नैकत्र युज्यते । एकदा आकारद्वयसवेदनप्रसगश्च—बाह्यस्यैक नीलादिविज्ञानगतमपरम् । विज्ञानगतविशुद्धि. प्रसन्नता अभिरुचि श्रद्धेति वाऽसमीचीन गदितम् चैतन्यस्य धर्म श्रद्धान ननु ज्ञान, ज्ञानधर्मत्वे क्षायोपशमिकज्ञानविनाशे कथमवस्थितिर्दर्शनस्य । न हि धर्मिणि विनष्टे धर्मस्यावस्थिति. । चेतन्यमविनाशि तदाश्रय तदिति चेत् ज्ञानस्य धर्मता नश्येति । कि च यो यस्य धर्म. स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य धर्मिणो रूप धर्म्यन्तरस्य प्रभवति । न हि बलाकाया शुक्लता कुन्द-कुसुमस्य कदाचन । एव मते प्रसन्नता श्रुतादेर्न स्यात्, श्रुतादेर्वा प्रसन्नता मतेरिष्यते । एव ज्ञानभे

नही होती । बुद्धिके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुमे श्रद्धा होती है अत श्रद्धाका ज्ञानके साथ अविना-भाव है ।

इस गाथाको लेकर एक अन्य व्याख्या इस प्रकार है—आत्माके विषयाकार परिणमनको ज्ञान कहते है । वह ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है । जैसे भूमिरूप आवरणको हटा देने पर पृथ्वीसे पानीका जन्म होता है । उस ज्ञानमे जो निर्मलता होती है उसे प्रसन्नता या स्वच्छता कहते है । और उसमे अभिरुचिको श्रद्धा कहते हैं । शास्त्रमे निरुपित अर्थके विषयमे सत्य-भावना श्रद्धा है । वही दर्शन है । वह दर्शनमोहके उपशम या क्षयोपशमसे होता है । जैसे पानीमे मिश्रित कीचडके अभावमे जल निर्मल होता है । उस दर्शनकी आराधना करने पर ज्ञानकी सिद्धि अवश्य होती है क्योकि जिस धर्मका कोई आश्रय नही है उसकी सिद्धि एकाकी नही होती ।

अब इस व्याख्याकी परीक्षा करते है—

यदि आत्मा विषयाकार रूप परिणमन करता है तो विषयकी तरह आत्मा रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिमय हो जायेगा । और ऐसा होने पर जो आत्माको अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला कहा है उसके साथ विरोध आता है । तथा नील पीत आदि रूप परिणाम परस्परमे विरुद्ध होनेसे एक जगह नही रह सकते । तथा एक ही कालमे दो आकारोको जाननेका प्रसग आता है एक बाह्य नीलादि और दूसरा ज्ञानगत आकार । तथा ज्ञानमे जो विशुद्धि या प्रसन्नता है उसे अभिरुचि या श्रद्धा कहना भी समीचीन नही है । श्रद्धान चैतन्यका धर्म है, ज्ञानका नही । यदि उसे ज्ञानका धर्म माना जायगा तो क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट होने पर दर्शन कैसे रह सकेगा । धर्मीके नष्ट होने पर धर्म नही रहता । यदि कहोगे कि चैतन्य अविनाशी है अतः दर्शनका वही आश्रय है तो वह ज्ञानका धर्म नही हो सकता । तथा जो जिसका धर्म होता है वह उसका स्वरूप होता है एक धर्मीका स्वरूप दूसरे धर्मीका नही हो सकता । बगुलोकी पक्ति-का धर्म शुक्लता कभी भी कुन्दके फूलोका धर्म नही हो सकती । इसी तरह मतिज्ञानकी निर्मलता

१ तोयाशय–आ० । २. सिद्धभा–अ० आ० । ३ यदि न स्या–अ० आ० ।

तद्गोचराया अपि प्रसत्तेर्भेद इति क्षायिकया का वार्ता न तस्या प्रत्यग्राया प्रादुर्भूति प्रलयो वा।

न हि दर्शनमोहोदय विना दर्शनस्याभावो युज्यते। यदि स्याद्दर्शनमोहनीयकल्पना अघटमाना भवेत्। अथ याथात्म्यविषया श्रद्धा आत्मप्रतिबधकसद्भावान्नोदेति, तदपाये उद्गच्छति, यदि प्रतिबधकारि किंचिन्न स्यात्। आत्मनि परिणामिनि सति किमिति सदा न भवेत्? अतत्परिणामत्वे नात्मनि कदाचिदपि भवेत्। तत् अनुभवसिद्धश्चामौ सहकारिकारणानाममान्निध्यादात्मा श्रद्धानरूपेण न परिणमते। न तु किंचित्प्रतिबधकमस्येति चेत् किं तत्सहकारि यस्याभावादनुत्पत्ति श्रद्धाया? अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभाव सर्व एव, तावतरेण हेतुता प्रतिज्ञामात्रत एव कस्यचित्सा वस्तुचितायामनुपयोगिनीति प्रतिबधकसद्भावानुमानमागमेऽभिमत, [1]तदेव सति न घटते। किंचित् श्रुतप्ररूपितार्थविषया सत्यभावेनेति वा सबद्धम्। अवध्यादिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना किं न दर्शन? अवध्यादिकमपि वस्तुयाथात्म्यमस्पर्शि। अथ श्रुतग्रहण समीचीनज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यसे भवतु अलमतिप्रसगेन—

"समत्तणाणदसणवीरियसुहमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वाबाहमट्ठगुणा होन्ति सिद्धाणं॥" [ ]

इत्यनेन च व्याख्या विरुध्यते। गुणान्तरत्वेन उपन्यासानुपपत्ते। क्षायिकक्षायोपशमिकयोर्भेदोऽस्ति

श्रुतादि ज्ञानोकी नही हो सकेगी और न श्रुतादि ज्ञानकी निर्मलता मतिज्ञानकी। इस प्रकार ज्ञान भेद होने पर उन ज्ञानोमे होने वाली निर्मलतामे भी भेद होता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञानोकी बात है। क्षायिककी क्या बात है। क्षायिकी निर्मलता न तो नवीन उत्पन्न होती है न नष्ट होती है।

दर्शन मोहके उदयके बिना दर्शनका अभाव नही होता। यदि हो तो दर्शन मोहनीय कर्मकी मान्यता नही बनती।

यदि कहोगे कि प्रतिबन्धकका सद्भाव रहनेसे आत्मामे यथार्थ विषयक श्रद्धा नही होती, यदि कोई प्रतिबन्धक नही होता तो उसके अभावमे श्रद्धा प्रकट होती है। यदि आत्मा परिणामी है तो सदा श्रद्धा क्यो नही रहती। यदि आत्मा अपरिणामी है तो कभी भी श्रद्धा प्रकट नही होगी। इसलिये यह अनुभव सिद्ध है कि सहकारी कारणोके न रहनेसे आत्मा श्रद्धान रूपसे परिणमन नही करता, उसका प्रतिबन्धक कोई नही है।

तब प्रश्न होता है कि वह सहकारी कौन है जिसके अभावके कारण श्रद्धाकी उत्पत्ति नही होती। सर्वत्र कार्यकारणभाव अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा ही जाना जाता है। अन्वय व्यतिरेकके बिना केवल कहने मात्रसे ही यदि किसीमे कार्यकारणभाव हो तो वस्तु विचारमे उसका कोई उपयोग सभव नही है उसमे वह अनुपयोगी है। इसीसे आगममे प्रतिबधकके सद्भावके अनुमानको मान्य किया गया है। अर्थात् प्रतिबन्धकके होनेसे श्रद्धा प्रकट नही होती और उसके अभावमे प्रकट होती है। ऐसा होने पर आपका उक्त कथन घटित नही होता।

तथा शास्त्रमे निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन है यह कहना भी ठीक नही है क्योकि तब प्रश्न होता है कि अवधि आदि ज्ञानोके द्वारा निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन क्यो नही है? क्योकि अवधि आदि ज्ञान भी यथार्थ वस्तुको विषय करते है। यदि कहोगे कि समीचीन ज्ञानोपयोग लक्षण वाला श्रुत ज्ञान है इसलिये उसका ग्रहण किया है तो आगममें जो सिद्धोंके आठ गुण-सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु

१ तावदसति–आ० मु०।

वा न वा ? यदि नास्ति भावपंचकनिरूपणाकारिणा आगमेन विरोधः। अथ अस्ति भेद परिणाम परिणामान्तरस्य स्वरूप न भवति। परिणामक.बस्य परिणामिस्वरूपता न्याय्या। यौ भिन्नप्रतिबधकापायजन्यौ, न तावन्योऽन्यस्य धर्मधर्मिणौ यथा अवधिकेवले भिन्नप्रतिबधकापायजन्ये, तथा न ज्ञानदर्शने।

ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति द्वैविध्य कस्मान्नोपन्यस्तं इत्यत्र चोद्ये प्रतिविधानायाह—**णाणमाराधतेण दसणं होइ भयणिज्जं।**' ज्ञानशब्द सामान्यवाची सशये, विपर्यसे, समीचीने च वृत्त। सशयज्ञान, विपर्यासज्ञान, सम्यग्ज्ञानमिति प्रयोगदर्शनात्। तेन ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्तत्त्वश्रद्धाने विपरिणमत एवेति न नियोगोऽस्ति, मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वश्रद्धाया अभावात्। ततो ज्ञानस्य दर्शनाविनाभावित्वस्याभावात् न ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनावगतु शक्येति न तथा सक्षेपाभिधानमागमे प्रक्रातमिति भावार्थ। '**णाण**' ज्ञान। '**आराधतेण**' आराधयता। '**दसणं**' दर्शन। '**होदि**' भवति। '**भयणिज्जं**' भजनीय विकल्प्यम्। अत्र दसणशब्देन दर्शनविषयमाराधनमुच्यते। ततोऽयमर्थ दर्शनाराधना भाज्येति भजनीयतया अविनाभावित्वाभाव सूचित। सम्यग्ज्ञाने आराधिते भवत्याराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनाया नेति भजनीयता। अथवा ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति च शक्यते सक्षेप्तुम्।

और अव्याबाध कहे है उसके साथ उक्त व्याख्याका विरोध आता है। क्योकि एक गुणका अन्य गुणरूपमे उपन्यास नही किया जा सकता।

तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकमे भेद है या नही ? यदि नही है तो पाँच भावोका निरूपण करनेवाले आगमसे विरोध आता है। यदि भेद है तो एक परिणाम दूसरे परिणामका स्वरूप नही होता, इसलिए परिणामोके समूहको परिणामीका स्वरूप मानना न्याय है।

तब जो भिन्न प्रतिबन्धकोके अभावमे उत्पन्न होते है वे परस्परमे एक दूसरेके धर्म-धर्मी नही हो सकते। जैसे अवधिज्ञान और केवलज्ञान, अवधिज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण रूप भिन्न प्रतिबन्धकोके अभावमे उत्पन्न होनेसे परस्परमे धर्म-धर्मी नही है उसी तरह ज्ञान और दर्शन भी परस्परमे धर्म-धर्मी नही है।

शंका—ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इस प्रकारसे दो आराधना क्यो नही कही ?

समाधान—इसका उत्तर देते है—'णाणमाराधतेण दसण होइ भयणिज्ज।' यहाँ ज्ञान शब्द सामान्यवाची है क्योकि सशय, विपर्यय और समीचीनमे रहता है। सशयज्ञान, विपरीतज्ञान, सम्यग्ज्ञान ऐसा प्रयोग देखा जाता है। इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला आत्मा नियमसे तत्त्व श्रद्धान रूपसे परिणमन करता ही है ऐसा नियम नही है; क्योकि जो आत्मा मिथ्याज्ञान रूपसे परिणमन करता है उसके तत्त्व श्रद्धाका अभाव होता है, इसलिए ज्ञान दर्शनका अविनाभावी नही है। अत ज्ञानाराधनाके कहनेमे दर्शनाराधनाका ग्रहण शक्य नही है। इसलिए आगममे उस प्रकारसे सक्षेप कथन नही किया है। अत. ज्ञानकी आराधनासे दर्शनकी आराधना भजनीय है। यहाँ दर्शन शब्दसे दर्शन विषयक आराधनाको कहा है। अत यह अर्थ हुआ कि दर्शन आराधना भजनीय है। इससे ज्ञानाराधनाके साथ दर्शनाराधनाके अविनाभावके अभावको सूचित किया है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर तो दर्शनकी आराधना होती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधना करने पर दर्शनकी आराधना नही होती है। अथवा ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इस प्रकारसे भी सक्षेप किया जा सकता है।

भावार्थ—दर्शन श्रद्धानको कहते हैं। श्रद्धान अज्ञात वस्तुमे नही होता। अतः श्रद्धाका

ननु च ज्ञानमनन्तरेणापि दर्शन वर्तते, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति । अतोऽविनाभावा भाव इत्यत आह—

सुद्धणया पुण णाणं मिच्छादिट्ठिस्स वेंति अण्णाणं ।
तम्हा मिच्छादिट्ठी णाणस्साराहओ णेव ॥ ५ ॥

शुद्धनया पुन । अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभाविधर्मबलप्रसूतो नय । तथा चोक्तम् इति । "**उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नय**' इति । शुद्धो नयो येषा ते शुद्धनया. । निरपेक्षनयनिरासाय शुद्धविशेषणम् । नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेति ये परिच्छेदास्ते विपर्यासरूपास्तथाविधस्य प्रतिपक्षधर्मानिपेक्षस्य वस्तुनि रूपस्याभावात् । सापेक्ष रूपं निराकाक्षतारूपेण दर्शयत प्रत्ययस्य अतस्मिस्तदिति ज्ञान भ्रान्तमिति भ्रान्तता । तद्दोषरहितता शुद्धता । तथा हि—कृतकत्वेन अनित्यतामेव वस्तुन प्रत्येति ज्ञानं न तत्स-

---

ज्ञानके साथ अविनाभाव है। अत गाथा सूत्रमे ठीक ही कहा है कि तत्त्व श्रद्धानकी आराधना करने पर सम्यग्ज्ञानकी आराधना अवश्य होती है। इस पर प्रश्न होता है कि ज्ञानाराधना और चारित्राराधना ऐसे दो भेद क्यो नही रखे ? इसके उत्तरमे कहा है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर सम्यग्दर्शनकी आराधना होती हैं किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधनामें सम्यक्त्वकी आराधना नही होती। इस प्रकार ज्ञान और दर्शनमे अविनाभाव न होने से ज्ञानाराधनामे दर्शनाराधना भाज्य है। इस पर पुन प्रश्न होता है कि जब 'सम्यग्ज्ञानकी आराधना' कहने पर सम्यक्त्वकी आराधनाका बोध हो सकता है तो वैसा क्यो नही कहा ? इसका उत्तर है कि ज्ञानके सम्यक् व्यपदेशमे सम्यक्त्व मुख्य हेतु है। सम्यक्त्वके विना ज्ञान सम्यक् नही कहलाता। अत सम्यग्ज्ञानका प्राधान्य नहीं है ॥४॥

'ज्ञानके विना भी सम्यग्दर्शन होता है क्योकि मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानका आराधक होता है। अत ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शनका अविनाभाव सम्बन्ध नही है। इस आशकाका उत्तर देते है—

गा०—किन्तु शुद्धनय दृष्टि वाले ज्ञानी जन मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नही ही होता ॥५॥

टी०—अनन्त धर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मके जाननेको नय कहते है। यह नय उस धर्मके साथ ही रहनेवाले अन्य धर्मोके बलसे उत्पन्न होता है। अर्थात् नय जिस धर्मको जानता है उस धर्मके साथ जो अनन्त धर्म उस वस्तुमे रहते हैं उनका निषेध नही करता। किन्तु उनको गौण करके एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुको जाननेका नाम नय है। कहा भी है—युक्तिके बलसे वस्तुके जाननेको नय कहते है। शुद्ध नय जिनका है वे शुद्धनय होते है। यहाँ निरपेक्ष नयके निरासके लिए 'शुद्ध' विशेषण लगाया है। वस्तु सर्वथा नित्य ही है अथवा सर्वथा क्षणिक ही है इस प्रकारके जो ज्ञान हैं वे विपरीत रूप है क्योकि इस प्रकारके प्रतिपक्षी धर्मोसे निरपेक्ष रूपका वस्तुमें अभाव है। वस्तुका स्वरूप सापेक्ष है उसे जो निरपेक्ष रूपसे दिखलाने वाला ज्ञान है, वह भ्रान्त है। क्योंकि जो जिस रूप नही है उसे उस रूप दिखलाता है वह ज्ञान भ्रान्त होता हैं। और जो उस दोषसे रहित है वह शुद्ध है। इसका खुलासा इस प्रकार है—वस्तुकी उत्पत्तिको देखकर मिथ्याज्ञान वस्तुको सर्वथा अनित्य ही मानता है। किन्तु वह सर्वथा अनित्य नही है। समस्त

र्वथा वस्त्वनित्य, नित्यानित्यात्मकत्वात्सकलस्य । यदि हि नित्यमेव स्यात् क्रियमाणतानुरूपहेतुकदबकेना-[1]युक्ता तस्यावदतो नित्यं भवत्येव च न भवतीति **दृश्यप्रतिपत्तय** ।। शुद्धा नया येषा प्रतिपत्तॄणा ते शुद्धनया । **'पुण'** पुन: । **णाणं** ज्ञानमित्यभिमत परस्य । **'मिच्छादिट्ठिस्स'** मिथ्यादृष्टे । **'वेंति'** ब्रुवते । **'अण्णाणं'** अज्ञान इति । न ज्ञानशब्द सामान्यवाची । किन्तु यथार्थप्रतिपत्तिरेव ज्ञानशब्दाभिधेयेति । ज्ञायते मन्यते अर्थ परिच्छिद्यते येन तज्ज्ञानम् । वस्त्वन्यभूत च [2]रूपमादर्शयता नार्थ परिच्छिद्यते तस्मान्न मिथ्याज्ञान ज्ञानशब्द-स्यार्थ , तदज्ञानमित्येव ग्राह्यम् ।। ननु च—

"गदि इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे ।।" —[प्रा० प० स० १।५७।]

इत्यत्र ज्ञानशब्द सामान्यवाची सत्य, ज्ञातिर्ज्ञानमिति व्युत्पत्तौ सा निरूपणा सामान्यशब्द इति ।। **'तम्हा'** तस्मात् । **'मिच्छादिट्ठी'** तत्त्वश्रद्धानरहित **'णाणस्साराधको ण होदित्ति'** पदघटना । ज्ञान नाराधयतीत्यर्थ ।।

यदुक्त अज्ञाने दर्शनाभाव इति कि तदज्ञान कस्य भवतीति ? तत इद सूत्र इति । तदतिपेलव । कि तदज्ञानमित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचन न सूत्रेऽस्ति । मिथ्याज्ञानलक्षणप्रतिपादनपरमिथ्यादृष्टिसम्बन्धिज्ञानत्वमेव

वस्तु समूह नित्यानित्यात्मक है—कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य होती तो उसको करनेके अनुरूप कारणोका अभाव होता। अत वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है।

जिन ज्ञाताओके नय शुद्ध होते है वे शुद्धनय वाले होते है। ऐसे शुद्धनय वाले मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते है। यहाँ ज्ञान शब्द सामान्य ज्ञानका वाचक नही है किन्तु ज्ञान शब्दका अर्थ यथार्थ ज्ञान ही है। जिसके द्वारा वस्तु जानी जाती है वह ज्ञान है। जो वस्तुमे नही पाये जानेवाले रूपको दर्शाता है वह वस्तुको नही जानता। अत ज्ञान शब्दका अर्थ मिथ्याज्ञान नही है। मिथ्याज्ञान अज्ञान ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

शंका—'गइ इदिये च काये' इत्यादि गाथाके द्वारा चौदह मार्गणा बतलाई है। उनमे भी ज्ञान शब्द आता है जो ज्ञान सामान्यका वाचक है ?

समाधान—आपका कहना सत्य है। 'ज्ञातिर्ज्ञानं' जानना ज्ञान है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार वहाँ ज्ञान शब्दसे ज्ञान सामान्यका ग्रहण किया है।

'तम्हा' इस कारणसे 'मिच्छादिट्ठी' जो तत्त्व श्रद्धानसे रहित है वह, णाणस्साराधको न होदि' ज्ञानका आराधक नही होता। इस प्रकार पदोका सम्बन्ध होता है।

इस गाथाकी अन्य टीकाकार इस प्रकार व्याख्या करते है—पूर्वमे जो अज्ञान अवस्थामे सम्यग्दर्शनकी आराधनाका अभाव कहा है वह अज्ञान क्या है और किसको होता है, इसको बतलानेके लिए यह गाथा सूत्र है। किन्तु उनका यह कथन अयुक्त है। 'वह अज्ञान क्या है' इस प्रश्नका कोई उत्तर इस गाथामे नही है। उनका यह भी कथन है कि मिथ्याज्ञानका लक्षण कहते हुए जो मिथ्यादृष्टिसे सम्बद्ध ज्ञानको अज्ञान कहा है उसमे उक्त दोनो प्रश्नोका उत्तर आता है।

---

१ युक्तता स्यास्यादतो—मु० । यक्तता तस्याव—ज० । २ रूपयता दर्शयता—आ० ।

अज्ञानलक्षणमित्युभयोरपि प्रतिवचनमिति विकल्प्यते । एवमपि 'तम्हा न मिच्छदिट्ठि' इति सूत्रे मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानस्याराधकत्वाभावमेव सूत्रकार उपसंहरति । तत्परित्यज्यासूत्रितमुपादेयमिति केयं स्वतंत्रता ?

चारित्राराधना कथ्यते । चतुर्थ्या आराधनाया प्रतिपत्तिक्रमं दर्शयन्नाह—

संजममाराहंतेण तओ आराहिओ हवे णियमा ॥
आराहंतेण तवं चारित्त होइ भयणिज्जं ॥ ६ ॥

'**संजममाराहंतेण**' संयम इत्यनेन शब्देन इह चारित्रमित्युच्यते । कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्य उपरमः संयम । स च चारित्रम् । यथा चाभ्यधायि-'**कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवतश्चारित्रमिति**'[1] । '**संजमं**' चारित्रं, '**आराधंतेण**' आराधयता । '**तवो**' तप । '**आराधिवो**' आराधित । '**हवे**' भवेत् । '**णियमा**' अवश्यमेव । कथ ? इह अनशनं नाम अशनत्याग । स च त्रिप्रकार । मनसा भुञ्जे, भोजयामि, भोजने व्यापृतस्यानुमतिं करोमि । भुञ्जे, भुङ्क्ष्व, पचनं कुर्विति वचसा । तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिसंधिपूर्वकं कायेनादानं, हस्तसंज्ञाया प्रवर्तनं अनुमतिसूचनं कायेन । एतासां मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारणानां त्यागोऽनशनं चारित्रमेव । योगत्रयेण तृप्तिकारिण्या भुजिक्रियाया दर्पवाहिन्या निराकृतिः अवमोदर्यम् । तथा आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानम् । रसगोचरगार्द्धत्यजनं त्रिधा रसपरित्याग । कायसुखाभिलाषत्यजनं कायक्लेश ।

यदि इसे मान भी लिया जाये तब भी जो गाथामे 'तम्हा वा मिच्छादिट्ठी' इत्यादि कहा है वह बतलाता है कि गाथा सूत्रके कर्ता आचार्य 'मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नही होता' यही उपसंहार करते है । अतः उसे छोडकर जो बात गाथा सूत्रमे नही कही, उसे ग्रहण करना, यह कैसी स्वतन्त्रता है ॥५॥

आगे चारित्राराधनाको कहते है । उसके साथ चौथी तप आराधनाकी प्रतिपत्तिका क्रम दिखलाते है—

गा०—संयमकी आराधना करने वालेके द्वारा तप नियमसे आराधित होता है । किन्तु तपकी आराधना करने वालेके द्वारा चारित्र भजनीय होता है ॥ ६ ॥

टी०—'संजममाराहंतेण' यहाँ आगत संयम शब्दसे चारित्रका ग्रहण होता है । कर्मोके ग्रहण मे निमित्त क्रियाओके त्यागको संयम कहते है और वह चारित्र है । कहा भी है—ज्ञानी पुरुषके कर्मोके ग्रहणमे निमित्त क्रियाओके त्यागको चारित्र कहते है ।

चारित्रकी आराधना करने वालेके द्वारा तप नियमसे आराधित कैसे होता है यह बतलाते है—अनशन नामक तपमे अनशन नाम भोजनके त्यागका है । उसके तीन प्रकार है—मनसे भोजन करता हूँ, भोजन कराता हूँ, भोजनमे लगे हुएको अनुमति करता हूँ । मै भोजन करता हूँ, तुम भोजन करो, भोजन बनाओ इस प्रकार वचनसे कहना । तथा चार प्रकारके आहारका संकल्पपूर्वक कायसे ग्रहण करना, हाथसे संकेत करना, कायसे अनुमतिका सूचन करना । ये जो मन वचन कायकी क्रियाएँ है जो कर्मोके ग्रहणमे कारण है उनका त्याग अनशन है जो चारित्र ही है ।

तृप्ति करने वाले तथा मद पैदा करने वाले खानपानका मन वचन कायसे त्याग अवमौदर्य है । आहार संज्ञाके जीतनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते है । मन वचन कायसे रसविषयक लम्पटताके त्यागको रसपरित्याग तप कहते है । शारीरिक सुखकी इच्छाके त्यागको कायक्लेश तप

१. सर्वा० सि० १।१ ।

चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम् । स्वकृतापराधगूहनत्यजन आलोचना । स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्ति: प्रतिक्रमण । तदुभयोज्झन उभय । येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततोऽपगमन विवेक । देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्ग । तपोऽनशनादिक यथा भवति चारित्र तथोक्तमेव । असयमजुगुप्सार्थमेव प्रव्रज्याहापनं छेद । मूलं पुनश्चारित्रादानम् । ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रिया । तासामपोहन विनय. । चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्य ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया । इत्थ चारित्राराधनयोक्तया प्रत्येतु शक्या तपस आराधना । अशनादिक यदि नाम त्यक्त न नियोगतोऽविरति प्रत्याख्याता भवति । कृताशनत्यागा अपि हि दृश्यते असयता इत्येतच्चेतसि कृत्वाह—आराधनेणेति '**आराधंतेण**' आराधयता । '**तवं**' तप । '**चारित्तं**' चारित्र सकलविरतियोग । '**होदि**' भवति । '**भयणिज्जं**' भजनीयम् । तपस्युद्यत करोति वा न वा असयमपरिहार इति यावत । **अत्रान्येषां व्याख्या**—चारित्राराधनाया तपस आराधनाया सिद्धिरवश्यभाविनीत्युक्त तत्कथ ? तदिद सयममाराधतेणेत्यादि एव सूत्रोपोद्घात कृत स नोपपद्यते । चारित्राराधनाया तपस आराधनाया सिद्धिर्भवतीति नोक्तं क्वचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्येत उक्तमिति ? '**विदियाय हवे चरित्तंहि**' इति वचनेनोक्तमिति चेन्न अशब्दार्थत्वात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्त वक्तु । अपि च भवतु

कहते हैं। चित्तकी व्याकुलताके दूर करनेको विविक्त शयनासन तप कहते है। अपने द्वारा किया गये अपराधको छिपानेका त्याग करना आलोचना है। अपने द्वारा किये गये अशुभ मन वचन कायके व्यापारका प्रतीकार करना प्रतिक्रमण है। इन दोनोको ही करना उभय है। जिसके द्वारा अथवा जिस स्थान पर अशुभ उपयोग हुआ हो उनसे अलग होना विवेक है। शरीरमे ममत्वका त्याग कायोत्सर्ग है। अनशनादि तप जिस प्रकार चारित्र है ऊपर कहा ही है।

असयमके प्रति ग्लानि प्रकट करनेके लिये दीक्षाके कालको कम कर देना छेद प्रायश्चित्त है। और पुनः चारित्र ग्रहण करना मूल प्रायश्चित्त है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके अतीचारोंको अशुभ क्रिया कहते है उनका त्याग अर्थात् ज्ञानादिमे दोष न लगाना विनय है। चारित्रके कारणोमें अनुमति देना वैयावृत्य है। इसी प्रकार स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र है क्योंकि ये सब अविरति, प्रमाद और कषायके त्यागरूप है।

इस प्रकार चारित्राराधनाके कथनसे तप आराधनाको जाना जा सकता है। यदि भोजन आदिका त्याग किया तो अविरतिका त्याग नियमसे नही किया। 'भोजनका त्याग करने वाले भी असयमी देखे जाते है' यह बात चित्तमे रखकर आचार्य कहते है—

तपकी आराधना करने वालेके द्वारा, सकलविरतिसे सम्बन्धरूप चारित्र, 'भयणिज्ज' भजनीय है। अर्थात् तपमें जो सलग्न है वह असयमका त्याग करता भी है और नही भी करता।

अन्य टीकाकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते है—चारित्रकी आराधनामे तपकी आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा जो कहा वह कैसे ? उसीके समाधानके लिये 'सजममाराधतेण' इत्यादि कहा है। ऐसा वे इस गाथाकी उत्थानिकामे कहते है। उनका कथन ठीक नही है—क्योंकि चारित्रकी आराधना करनेपर तप आराधनाकी सिद्धि होती है ऐसा ग्रन्थकारने कही भी नही कहा। तब कैसे कहते हैं कि ग्रन्थकारने ऐसा कहा है ? यदि कहोगे कि—

'विदियाय हवे चरित्तम्मि' इस कथनके द्वारा कहा है ? तो यह भी ठीक नही है क्योकि

तेनोक्तं इह तदेवोक्तं किमिति पुनरुपन्यस्यते ? तत्कथमिति वा युक्त सूत्रे चारित्रसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुपन्यासात् ॥ प्रतिज्ञामात्राद्विप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यते इति युक्तिप्रश्नोऽय स कथ युज्यते व्याख्यान्तरसूचिते प्रतिविधाने । **यच्च व्याख्यानं** ''त्रयोदशात्मके चारित्रे सर्वथा प्रयतन सयम । स च बाह्यतप सस्कारिताभ्यन्तरतपसा विना न सभवति । तदुपकृतात्मकत्वात्सयमस्वरूपस्येति'' **तदघटमानं** । न हि प्रयतन सयमशब्दस्यार्थ । क्वचिदपि संयमशब्दस्य तत्राप्रयुक्तत्वात् । प्रयोगावृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थ । 'विदिया य हवे चरित्तहि' इति सूत्रे चारित्रशब्देन सामान्यवाचिना सकलचारित्रमिति किमर्थं विशेषेणोच्यते ? सर्वस्य हि सामायिकादेश्चारित्रस्याराधना चारित्राराधना भवति । यथाहि–**'पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो'**, इत्यन्ये **यथाख्यातचारित्राराधनामपि वक्ष्यति** । बाह्यतप.संस्कारिताभ्यन्तरतपसा इति वा असबद्ध । अन्तरेणापि बाह्यतपोऽनुष्ठान अतर्मुहूर्तमात्रेणाधिगतरत्नत्रयाणा **भद्दणराजप्रभृतीनां पुरुदेवस्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमनमागमे प्रतीतमेव** ॥

इन शब्दोका यह अर्थ नही है । शब्दके द्वारा जिसकी प्रतीति हो, उसे उनका कथन कहना युक्त है । तथा, यदि उन्होने ऐसा कहा है तो पुन उसीका उपन्यास वह क्यो करते और वह कैसे युक्त हो सकता है ? क्योकि गाथामे चारित्रकी सिद्धिमें अन्यकी सिद्धिके क्रमका कथन नही है । 'प्रतिज्ञामात्रसे विवादग्रस्त व्यक्ति नही समझता' इस प्रकारका युक्तिप्रश्न अन्य व्याख्याओके द्वारा सूचित प्रतिविधानमे कैसे युक्त हो सकता है ?

एक अन्य व्याख्यामे कहा है—'तेरह प्रकारके चारित्रमे सर्वथा प्रयत्नशील होनेका नाम सयम है । वह संयम बाह्यतपके द्वारा सस्कार किये गये अभ्यन्तर तपके बिना नही होता अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर तपके होनेपर ही सयम होता है; क्योकि सयमका स्वरूप तपके द्वारा उपकृत होता है' किन्तु उक्त कथन घटित नही होता; क्योकि संयम शब्दका अर्थ प्रयत्नशील होना नही है । किसी ग्रन्थमे सयम शब्दका प्रयोग इस अर्थमे नही हुआ है । शब्दका अर्थ उसके बारंबार प्रयोगसे जाना जाता है ।

'विदिया य हवे चरित्तम्मि' इस गाथा सूत्रमे आगत चारित्र शब्द सामान्य चारित्रका वाचक है, उसका सकल चारित्र रूप विशेष अर्थ आप कैसे कहते हैं ? समस्त सामायिक आदि चारित्रकी आराधना चारित्राराधना है । आगे कहेगे कि क्षीणकषाय और केवलीके पण्डित पण्डित मरण होता है । अत यथाख्यातचारित्राराधना भी उसमे आती है । तथा बाह्य तपके द्वारा संस्कारित अभ्यन्तर तपसे' इत्यादि कथन भी असम्बद्ध है क्योकि बाह्य तपके अनुष्ठानके बिना भी अन्तर्मुहूर्तमात्रमे रत्नत्रयको प्राप्त करके, भगवान् ऋषभदेवके शिष्य भद्दणराज वगैरहका निर्वाण गमन आगममे प्रसिद्ध ही है ।

भावार्थ—सयम शब्दमे 'स' का अर्थ है समन्त अर्थात् मन वचन कायके द्वारा पापको लाने वाली क्रियाओका 'यमन'—त्याग संयम है । अत· सयमका अर्थ चारित्र है । वह बाह्य अनशन आदि और अभ्यन्तर प्रायश्चित्तादिके भेदसे बारह प्रकारका है । उस तपकी आराधना चारित्राराधनामे आती है क्योकि उसमे भी अविरति, प्रमाद और कषायका त्याग होता है । किन्तु तप आराधनामे चारित्राराधना नही आती, क्योकि तपस्वी असयमका त्यागी होता भी है और नहीं भी होता । भोजनादिका त्याग करने वाले भी कोई-कोई असयमी देखे जाते है । इस ग्रन्थ पर अन्य भी टीकाएँ थीं । उन्हीके मतका निराकरण ऊपर टीकाकार अपराजित सूरिने किया है ।

ननु तपस्यायत्तनिर्जरानुक्रमेण निर्जरामुपगच्छन्ति सन्ति कर्माणि यदा नि शेषाण्यपगतानि भवन्ति तदा स्वास्थ्यरूप निर्वाणमुपजायते ततो निर्वाणस्य कारण निर्जरैव, तस्याश्च सपादक तपस्ततो युक्त दर्शनाराधना तप आराधना चेति द्विविधा आराधनेति गदितु इत्यारेकाया, तपो निर्जरा मुक्तेरनुगुणा करोति सति चारित्रे सवरकारिणि नान्यथेति प्रदर्शयति 'सम्मादिट्ठिस्स वि' इत्यादिना—

सम्मादिठ्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्चुदकम्म तं तस्स ।।७।।

'**सम्मादिठ्ठिस्सवि**' तत्वार्थश्रद्धानवतोऽपि । '**अविरदस्स**' असयतस्य । '**न तवो**' तप । '**महागुणो**' गुणशब्दोऽनेकार्थवृत्ति । रूपादयो गुणशब्देनोच्यन्ते **यथा–'रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागौ,, परत्वापरत्वबुद्धय·, सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नावयः क्रियावद्गुणसमवायिकारणं द्रव्य**' -इत्यस्मिन्सूत्रे गृहीता ।। '**गुणभूता वयमत्र नगरे' इति** । अत्राप्रधानवाचीयस्य गुणस्य भावादिति विशेषेण वर्तते । 'गुणोऽनेन कृत' इत्यत्र उपकारार्थे वृत्ति । इह उपकारे वर्तमानो गृह्यते । महागुण उपकारोऽस्येति महागुण । '**होदि**' भवति । क्रिया चैव हि भाव्यते निषेव्यते वा इति वचनात् । 'न' तु भवनक्रियया सवध्यते, तपो न भवति महोपकारमिति । एतदुक्त भवति कर्मनिर्मूलन कर्तुमसमर्थ तप सम्यग्दृष्टेरप्यसयतस्य । पुनरितरस्य असति

उन्होने जो बाह्य तपके बिना मुक्ति प्राप्तिका निर्देश किया है उसका अभिप्राय इतना ही है कि जिन दीक्षा धारण करनेके पश्चात् ही अन्तर्मुहूर्तमे क्षपक श्रेणि पर आरोहण करके मुक्त हुए। अत उन्हे अनशन आदि बाह्य तप नही करना पडा । अभ्यन्तर तप तो रहा ही ।। ६ ।।

निर्जरा तपके अधीन है । जब क्रमसे निर्जराको प्राप्त होते होते सब कर्म चले जाते है तब 'स्व' मे स्थिति रूप निर्वाणकी प्राप्ति होती है । अत निर्वाणका कारण निर्जरा ही है और निर्जरा-का सम्पादक है तप । इसलिये दर्शनाराधना और तप आराधना ये दो आराधना कहना युक्त है । इस आशकाके उत्तरमे आचार्य 'सवरको करने वाले चारित्रके होने पर ही तप मुक्तिके अनुकूल निर्जरा करता है, अन्यथा नही' ऐसा कथन करते है—

गा०—सम्यग्दृष्टी भी जो अविरत है अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टीका तप महान् उपकारी नही होता । उसका वह तप हाथीके स्नानकी और मथनचर्मपालिका मथानीकी रस्सीकी तरह होता है ।। ७ ।।

टी०—तत्त्वार्थ श्रद्धानवान् भी, असयमीका तप महागुणवाला नही होता ।

गुण शब्दके अनेक अर्थ है । कही गुण शब्दसे रूपादि कहे जाते है जसे वैशेषिक दर्शनके सूत्रमे गुण शब्दसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, आदि लिये गये है । 'हम इस नगरमे गुणभूत है' इस वाक्यमे गुणशब्दका अर्थ गौण या अप्रधान है । 'इनने गुण किया' इस वाक्यमे 'गुण' का अर्थ उपकार है । यहाँ भी गुणशब्दका अर्थ उपकार है । अत महान् है 'गुण' अर्थात् उपकार इसका । गाथामे 'होदि' क्रिया है उसका अर्थ 'होता है' । उसके साथ 'ण' का सम्बन्ध लगाना चाहिये । तब अर्थ होता है—तप महान् उपकारी नही है । पूरे वाक्यका अभिप्राय है—असयमी सम्यग्दृष्टी-का भी तप कर्मोको जडसे नष्ट करनेमे असमर्थ है । फिर जो सम्यग्दृष्टी नही है, उनके सवरके

१ चद सछेदक–ज, दगव तं–मु०, ये तु चुदच्छिदकम्म इति पठन्ति–मूलारा० ।

सवरे प्रतिसमयमुपचीयमानकर्मसंहते का मुक्ति ? ननु सत्यपि सयमे विना निर्जरा न निवृत्तिरिति । शक्यमेवमप्यभिधातुं '**सम्मादिट्ठिस्स वि अकदतवो भावणाविसेसस्स न चारित्तं महागुणं होदित्ति**'। सत्यमेवमेतत् चारित्रप्राधान्यविवक्षापरा इय चोदना । असिश्छिनत्तीत्यत्र छेत्तारमन्तरेण नासिनैव सपद्यते छिदा, तथा तदीयतैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्यातिशयनिरूपणवाछाया तस्यैव स्वातंत्र्य निगद्यते । एवमिहापीति न दोष । कुत ? यस्मात् '**होदि खु हत्थिण्हाणं**' होदि भवति । '**खु**' शब्द एवकारार्थं । स हत्थिण्हाणमित्यनेन सबधनीय । **हत्थिण्हाणमेवेति** । यथा हस्ती स्नातोऽपि न नैर्मल्य वहति पुनरपि करावर्जितपासुपटलमलिनतया' तद्वत्तपसा निज र्णेऽपि कर्माशे बहुतरादान असयममुखेनेति मन्यते । दृष्टान्तान्तरमाचष्टे—चु दच्चुदकम्म मन्थनचर्मपालिकेव तद्वत्सयमहीन तप । दृष्टान्तद्वयोपन्यास किमर्थम् इति चेत् । अपगताद्बहुतरोपादान कर्मणोऽसयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्याम । आर्द्रतनुतया बहुतरमुपादत्ते रज । बन्धरहिता निर्जरा स्वास्थ्य प्रापयति नेतरा बन्धसहभाविनीति । किमिव मन्थनचर्मपालिकेव । सा हि बन्धसहिता मुक्ति वर्तयति । **अत्रान्ये व्याचक्षते**—कालभेदमनपेक्ष्य शुद्धिमशुद्धि च दर्शयता प्रथम उपात्त । **तदयुक्तं** सकलकर्मापायो हि शुद्धि,

---

अभावमे प्रति समय बन्धनेवाले कर्मोका मचय होते हुए मुक्तिकी बात ही क्या है ?

शङ्का—सयमके होनेपर भी निर्जराके विना मुक्ति नही होती। अत ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिसने तपकी भावना नही की उस सम्यग्दृष्टीका चारित्र महान् उपकारी नही है ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ ही है। यह कथन चारित्रकी प्रधानताकी विवक्षाको लिये हुए है। जैसे 'तलवार काटती है' ऐसा कहा जाता है। किन्तु काटनेवाले व्यक्तिके विना केवल अकेली तलवार नही काटती। परन्तु तलवारकी तीक्ष्णता, गौरव और कठोरता आदि अतिशयोको बतलानेकी इच्छा होनेपर 'तलवार काटती है' इस प्रकार तलवारके स्वातन्त्र्यको कहा जाता है। इसी तरह यहाँ भी है अत कोई दोष नही है।

उक्त कथनके समर्थनमे ग्रन्थकार दृष्टान्त देते है—जैसे हाथी स्नान करके भी निर्मल नही होता, वह अपनी सूँडके द्वारा धूल उठाकर अपनेपर डालता है। उसी तरह तपके द्वारा कुछ कर्मोकी निर्जरा होनेपर भी असयमके द्वारा उससे अधिक कर्मोका बन्ध होता रहता है। ऐसा माना गया है।

दूसरा दृष्टान्त देते है—मन्थनचर्मपालिकाकी तरह सयमहीन तप होता है।

शङ्का—दो दृष्टान्त किस लिये दिये है ?

समाधान—तपके द्वारा जितनी कर्मनिर्जरा होती है, असयमके निमित्तसे उससे बहुत अधिक कर्मोका बन्ध होता है, यह बतलानेके लिए हस्तिस्नानका दृष्टान्त दिया है क्योकि स्नानके पश्चात् शरीरके गीले होनेसे बहुत-सी धूल उसपर जम जाती है। तथा बन्धरहित निर्जरा मोक्ष प्राप्त कराती है, बन्धके साथ होनेवाली निर्जरा नही। जैसे मन्थनचर्मपालिका। वह तो बन्धसहित मुक्ति देती है अर्थात् मथानी चलाते समय एक ओरसे रस्सी छूटती जाती है किन्तु साथ ही दूसरी ओरसे लिपटती जाती है।

दूसरे टीकाकार कहते है—समयभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखलानेके लिये प्रथम दृष्टान्त दिया है। किन्तु ऐसा कहना अयुक्त है क्योकि समस्त कर्मोके विनाशको शुद्धि

अशुद्धिश्च कर्मणा सह वृत्ति , तत्रासती शुद्धि· कथमादर्श्यते कर्मांशापगममात्रत ? शुद्धिर्वा या मुक्ति· सा कस्य न विद्यते ? फल दत्वा प्रयान्त्यात्मन· कर्मपुद्गलस्कन्धा· । यच्चोक्तं यदा तु कालभेदेन **वैधर्म्यमाशक्यते** बधन-शातनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो दृष्टान्त· । रज्जुवेष्टननिर्गमनयोरेककालत्वादिति तदप्यसार । न हि चद्रमुखी कन्या इत्यत्र एवमाशका सभवति, सदा संपूर्णमानन वामलोचनाया निशानाथस्य कदाचिदेव पूर्णता ततोऽनुमानमिति साधारणधर्ममात्रावलम्बन एवोपमानोपमेय भाव , वैधर्म्य तूपमानोपमेययोरस्ति अन्यथा उप-मानमिदं उपमेयमिति भेदो निरास्पदः । अपि च उपमेयस्यातिशय प्रदर्शयितुमेवोपमानं प्रवृत्तम् ।। न त्वेकस्योप-मानस्यानुक्तत्वादृष्टे[1]तरदुपादीयते (?) इति युक्तम् ।

सक्षेपस्य प्रकारान्तराख्यानायाह—

अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं हवइ सव्वं ।।
आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा ।। ८ ।।

और कर्मोके साथ रहनेको अशुद्धि कहते हैं। जब वहाँ शुद्धि नही है तो कैसे उसे दिखलाते है ? और कुछ कर्मोके चले जाने मात्रसे यदि शुद्धि या मुक्ति मानते हो तो ऐसी शुद्धि किस जीवमे नही है क्योकि कर्मपुद्गलस्कन्ध प्रत्येक आत्माको फल देकर जाते रहते है। और भी कहा है कि जब कालभेदसे वैधर्म्यकी आशंका की जाती है चूँकि बन्धन और निर्जराका एक ही काल है तब दूसरा दृष्टान्त दिया है; क्योकि रस्सीके लिपटने और छूटनेका एक ही काल है, यह कथन भी निस्सार है। 'चन्द्रमुखी कन्या' इस दृष्टान्तमे इस प्रकारकी आशंका सम्भव नही है कि कन्याका मुख तो सदा सम्पूर्ण रहता है और चन्द्रमा तो पूर्णिमाके ही दिन पूर्ण होता है। उपमान उपमेय भाव दोनोमे पाये जानेवाले साधारण धर्मोको ही लेकर किया जाता है, दोनोमे वैधर्म्य तो होता ही है। यदि न होता तो उनमे यह उपमान और यह उपमेय ऐसा भेद ही न होता। तथा उपमेयकी विशेषता दिखलानेके लिए ही उपमान होता है। अकेले उपमानके लिये उपमेय नही होता ।।७।।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही क्या, तत्त्वोका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी भी यदि अविरत है, हिंसादि विषयोमे प्रवृत्त रहता है, उसका तप करना महान् उपकारक नही है। अर्थात् वह कर्मोंको सर्वथा नष्ट नही कर सकता। जो सयमसे हीन होता है उसके सवरके अभावमे प्रति-समय नये-नये कर्मोंका बन्ध होता रहता है। अत· उसकी मुक्ति नही हो सकती। यह कथन चारित्रकी प्रधानता दिखलानेके लिये है। जैसे तपके प्राधान्यकी विवक्षामे कहा है—तपसे ही मुक्ति होती है अत· तप करना चाहिए। असयमीका तप हाथीके स्नानकी तरह होता है। जैसे हाथी स्नान करके शरीरके भीग जानेसे अपनी सूंड द्वारा अपने ऊपर डाली गई बहुत-सी धूल ग्रहण कर लेता है। उसी तरह असयमी तपके द्वारा कुछ कर्मोकी निर्जरा करके भोजनादिकी लम्पटतावश बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है। दूसरा दृष्टान्त है मन्थनचर्मपालिका। हस्तिस्नान दृष्टान्तके द्वारा तो यह बतलाया है कि जितनी निर्जरा करता है उससे बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है और दूसरे दृष्टान्तसे बतलाया है कि बन्धके साथ-साथ होनेवाली निर्जरासे मुक्ति नही हो सकती ।। ७ ।।

संक्षेपसे आराधनाके अन्य प्रकार कहते है—

---

१ दृष्टेरित–मु० ।

अहवेति । एकद्वयादिसंख्येयामख्येयानतरूपेण हि जैनी निरूपणा ।। चरन्ति यान्ति तेन हितप्राप्ति अहितनिवारण चेति चारित्र, चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्र सामायिकादिक, तस्याराधनाया तत्परिणतौ सत्या आराधित निष्पादित । '**हवइ**' भवति । '**सव्वं**' सर्वं ज्ञान दर्शन तपश्च, प्रकारकात्स्न्र्ये सर्वशब्दोऽत्र प्रवृत्त । यथा सर्वमोदन भुक्ते इति व्रीहिशाल्योदनप्रकारकात्स्न्र्यं भुजिक्रियाया. कर्मत्वेन प्रतीयते । एवमिहापि मुक्त्युपायप्रकाराणा ज्ञानादीना सामस्त्यमाख्यायते । चारित्राराधनैकैवेत्यनेन गाथार्द्धेन कथितम् । अत्रेयमाशका—कस्मादेकत्वनिरूपणाराधनायाश्चारित्रमुखेनैव क्रियते नान्यमुखेनेत्यत आह—'**आराधणाए**' आराधनाया । '**सेसस्स**' शेषस्य । ज्ञानदर्शनतपसा अन्यतमस्य । **चारित्ताराधणा** । '**भज्जा**' भाज्या विकल्प्या । कथ ? असयतसम्यग्दृष्टिर्भवति ज्ञानदर्शनयोराराधको नेतरयो । मिथ्यादृष्टिस्त्वनशनदावुद्यतोऽपि न चारित्रमाराधयति । कश्चित्पुन ज्ञानादीनि च चारित्रमपि संपादयतीति नाविनाभाविता इतराराधनाया चारित्राराधनाया इति न तन्मुखेनैकत्वनिरूपणेति भाव ।। ननु क्षायिकवीतरागसम्यक्त्वाराधनाया, क्षायिकज्ञानाराधनाया च इतरेषामप्याराधना नियोगत' सभवति तत्किमुच्यते शेषाराधनाया चारित्राराधना भाज्येति ? क्षायोपशमिक-

---

गा०—अथवा चारित्रकी आराधनामे ज्ञान, दर्शन, तप सब आराधित होता है । ज्ञान दर्शन और तपमेसे किसीकी भी आराधनामे चारित्रकी आराधना भाज्य होती है ॥ ८ ॥

टी०—जैनधर्ममे वस्तुके कथन करनेके एक, दो, संख्यात, असख्यात और अनन्तरूप है । जिसके द्वारा जीव हितकी प्राप्ति और अहितका निवारण करते है उसे चारित्र कहते है । अथवा सज्जनोके द्वारा जो 'चर्यते' सेवन किया जाता है वह सामायिक आदिरूप चारित्र है । उसकी आराधना करनेपर अर्थात् उस रूप परिणतिके होनेपर सब-ज्ञान दर्शन और तप आराधित—निष्पादित होता है । यहाँ 'सर्व' शब्द समस्त प्रकारोमे प्रयुक्त हुआ है । जैसे 'सब ओदनको खाता है', यहाँ ओदन अर्थात् भात या चावलके व्रीहि, शालि आदि जितने प्रकार हैं वे सब खानेरूप क्रियाके कर्मरूपसे प्रतीत होते है । अर्थात् सब प्रकारके चावलोका भात खाता है यह 'सब ओदन' से अभिप्राय है । इसी प्रकार यहाँ भी 'सर्व' शब्दसे मुक्तिके उपायोके जो प्रकार ज्ञानादि है उन सबका ग्रहण इष्ट है । इस तरह 'एक चारित्राराधना ही है' यह इस आधी गाथासे कहा है । यहाँ यह शका होती है कि चारित्रकी मुख्यतासे ही आराधनाका एक प्रकार क्यो कहा है अर्थात् आराधनाके एक प्रकारमे चारित्रको ही क्यो लिया है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते है—शेष अर्थात् ज्ञान दर्शन और तपमेसे किसी एककी आराधना करनेपर चारित्रकी आराधना भाज्य है; क्योकि असयत सम्यग्दृष्टि ज्ञान और दर्शनका ही आराधक होता है, चारित्र और तपका नही । और मिथ्यादृष्टि तो अनशन आदिमे तत्पर रहते हुए भी चारित्रकी की आराधना नही करता । कोई ज्ञानादिको आराधना करता है और कोई चारित्रकी भी आराधना करता है । इस प्रकार अन्य आराधनाओके साथ चारित्रकी आराधनाका अविनाभाव नही है अर्थात् चारित्राराधनाके विना भी अन्य आराधना होती है । इसलिए उनकी मुख्यतासे आराधनाका एक प्रकार नही कहा है । यह उक्त कथनका भाव है ।

शङ्का—क्षायिक वोतराग सम्यक्त्वकी आराधनामें और क्षायिकज्ञानकी आराधनामे अन्य चारित्रादिकी भी आराधना नियमसे होती है तब कैसे कहते है कि शेष आराधनाओमे चारित्राराधना भाज्य है ?

ज्ञानदर्शनोपक्षयैतदुक्त इति ज्ञेयम् ।

अत्रान्येषां व्याख्या "चारित्ताराधणाए इत्यत्र चारित्रशब्देन सच्चारित्रमुपात्तम् । तच्च सद्दर्शनात्मकज्ञाननिरूपितक्रमाप्रच्यवनेन प्रयत्नवृत्तिरूप तस्मिन्नाराध्यमाने शेषसिद्धिर्भवत्येव । कथ ? सज्ज्ञानकार्य चारित्रं सज्ज्ञानं च दर्शनाद्धित (?) कार्ये हि कारणाविनाभावित्व प्रयुक्त इति ।" सानुपपन्ना । प्रतिज्ञामात्रेण हि सूत्रमिदमवस्थित, एतत्साधनाय सूत्रद्वयमुत्तर यत्र हि सूत्रकारो न निबधन वदति । आत्मन प्रतिज्ञातस्य तत्र व्याख्यातुरवसरो निबधनाख्याने । यत्र तु स एव वदति तत्र तदेव व्याख्यातुमवगन्तव्यमिति व्याख्याक्रम शास्त्रेषु । न चेदमनेन प्रतिविधानमसूत्रितम् स्वयमेवोत्प्रेक्षते । **'कादव्वमिणमकादव्वयत्ति णादूण होदि परिहारो'** इत्यत्र निरूपयिष्यति यत सूत्रकार । किं च उत्तरसूत्रानुष्ठानमस्या व्याख्याया चारित्राराधनामुखेनैकैवाराधनेति प्रतिपिपादयिषितम् । तच्च सप्रतिविधान प्रतिपादयितु कोऽवसर उत्तरगाथाया । इतराराधनान्तर्भावकारिण्याश्चारित्राराधनाया निरूपणाया चारित्रस्वरूपाख्यानाय उत्तरगाथायातेति कथमनवसर इति चेत् यद्येव दर्शनाराधनाया ज्ञानाराधनामन्तर्भाव्य प्रवर्तमानाया दर्शनस्वरूप किं नोच्यते सूत्रकारेण ? स्वेच्छेति चेन्न न्यायानु-

---

उत्तर—उक्त कथन क्षायोपशमिकज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा किया है ऐसा जानना।

इस गाथापर अन्य टीकाकारोकी व्याख्या इस प्रकार है—'चारित्ताराधणाए' यहाँ चारित्र शब्दसे सम्यक्चारित्र लिया है। वह सम्यक्चारित्र शास्त्रमे कहे गये सम्यग्दर्शनमे विशिष्ट सम्यग्ज्ञानके क्रमसे च्युत न होते हुए अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञानके साथ सावधानतापूर्वक प्रवृत्तिरूप होता है। उसको आराधना करनेपर शेष आराधनाओकी सिद्धि होती ही है क्योंकि सम्यग्ज्ञानका कार्य चारित्र है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। कार्य कारणका अविनाभावी होता है—कारणके विना कार्य नही होता।

किन्तु यह व्याख्या ठीक नही है। इस गाथामे तो गाथाकारने केवल प्रतिज्ञामात्र की है कि चारित्राराधनामे सब आराधना आती है। इसकी सिद्धिके लिए आगे दो गाथाएँ है जिनमे ग्रन्थकारने उसका कारण कहा है कि क्यो चारित्राराधनामे अन्य आराधना समाविष्ट होती है। वहाँ व्याख्याताको उसका कारण बतलानेका अवसर है। शास्त्रोमे व्याख्याका यही क्रम है कि ग्रन्थकारने स्वय जहाँ जो कहा है वहाँ वही व्याख्याकारको कहना चाहिये। इस गाथामे तो उसने ऐसा नही कहा। व्याख्याकार स्वय ही कल्पना करता है। गाथासूत्रकार तो आगे 'कादव्वमिणमकादव्व' इत्यादि द्वारा कहेगे।

तथा 'चारित्राराधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है' इस व्याख्यामे आगेके गाथासूत्रका कथन करना इष्ट है। यदि वह कथन यही कर दिया जाता है तो आगेकी गाथाके कथनका अवसर नही रहता।

शङ्का—अन्य आराधनाओका अपनेमे अन्तर्भाव करनेवाली चारित्राराधनाका निरूपण करनेपर चारित्रका स्वरूप बतलानेके लिये आगेकी गाथा आई है ? तब आप कैसे कहते हैं कि आगेकी गाथाके कथनका अवसर नही रहता ?

उत्तर—यदि ऐसा है तो दर्शनाराधना अपनेमे ज्ञानाराधनाको अन्तर्भूत करके प्रवृत्त हुई है अतः गाथाकारने सम्यग्दर्शनका भी स्वरूप क्यो नहीं कहा ? वह भी कहना चाहिए था। यदि

गामिनां शास्त्रकाराणा न्यायादपेतेच्छा अयुक्ता ।

कथ चारित्राराधनाया कथिताया इतरासा प्रतिपत्तिरविनाभावात् तावज्ज्ञानदर्शनाराधनयोरन्तर्भाव-इत्युत्तरगाथाया पूर्वार्द्धेन कथयति—

कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो ।
तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

'**कायव्वं**' कर्तव्य । '**इणं**' इदं । '**अकायव्वयत्ति**' अकर्तव्यमिति । '**णादूण**' ज्ञात्वा । '**हवदि**' भवति । '**परिहारो**' परिवर्जन चारित्रमिति शेष । कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञान पूर्व तदुत्तरकाल अकर्तृपरिहरण यत्तच्च चारित्रमिति सूत्रार्थ । ननु परिहार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थ । तथा हि—परिहरति सर्पमित्यत्र सर्प वर्जयतीति गम्यते । ततश्च यद्वर्जनीय तत्परिज्ञानमेव वर्जनमुपयुज्यते । तत एव वक्तव्य—**अकादव्वत्ति**[1] **णादूण हवदि परिहारो इति**, कादव्वमित्येतत्किमर्थमुपन्यस्त ? कर्तव्यपरिज्ञान करणे एवोपयुज्यते इति ॥ अत्र प्रतिविधीयते—**कादव्वमिणति णादूण हवदि परिहारो** इति पदघटनैका, **अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो** इत्यपरा ॥ तत्राद्याया पदघटनाया परिशब्द समताद्भाववृत्ति । यथा परिधावतीत्यत्र हि समताद्धावतीति गम्यते । हरति तूपादानवचन । तथाहि प्रयोग —**कपिलिकां**[2] हरति—कपिलिकामुपादत्त इति यावत् । मनसा, वचसा, कायेन कर्तव्यस्य सवरहेतोरुपादान गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयाना उपादान चारित्रमिति

कहोगे कि यह उनकी इच्छा है तो ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योकि न्यायका अनुसरण करनेवाले शास्त्रकारोकी इच्छा न्यायसे रहित नही होती ॥ ८ ॥

चारित्राराधनाके कहनेपर अन्य आराधनाओका ज्ञान कैसे सम्भव है ? इस प्रश्नका समाधान है कि चारित्राराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनका अविनाभाव है अतः उसमे उनका अन्तर्भाव होता है । यही वार्ता आगेकी गाथाके पूर्वार्द्धसे कहते है—

गा०—यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है इस प्रकार जानकर त्याग होता है । वही चैतन्यज्ञान है और वही सम्यक्त्व है ॥ ९ ॥

टी०—पहले कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होता है । उसके पश्चात् अकर्तव्यका त्याग किया जाता है । यही चारित्र है । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

शंका—'परिहारो' मे परिहार शब्दका अर्थ त्याग है । इसका खुलासा इस प्रकार है—'सर्पका परिहार करता है' ऐसा कहनेपर 'सर्पको त्यागता है' यही अर्थ ज्ञात होता है । अत जो त्यागने योग्य है उसीका जानना योग्य है । ऐसी स्थितिमे ऐसा कहना चाहिए कि 'अकर्तव्यको जानकर उसका परिहार होता है ।' तब कर्तव्यको जाननेको क्यो कहा ? कर्तव्यका परिज्ञान तो करनेके लिए होता है छोडनेके लिए नही होता ?

उत्तर—गाथामे 'कादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो' यह एक पद सम्बन्ध है । और 'अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो' यह दूसरा पद सम्बन्ध है । उनमेसे प्रथम पद सम्बन्धमे 'परि' शब्दका अर्थ अच्छी तरह या पूर्णरूपसे होता है । जैसे 'परिधावति' का अर्थ अच्छी तरहसे, या पूर्णरूपसे दौडता है । 'हरति' का अर्थ ग्रहण करना है । जैसे 'कपिलिका हरति' का अर्थ कपिलिकाको ग्रहण करता है । अतः इस वाक्यका अर्थ होता है—मनसे, वचनसे, कायसे, सवरके

---

१. व्व पि त्ति–ज० । २ कपलिका–न० ।

वाक्यार्थ । आस्रवबंधहेतवो ये परिणामास्ते न कर्तव्या , न निर्वर्त्यास्तेषां परिहरण परिवर्जन चारित्रमिति सबधनीयम् । परिहार्य एव परिज्ञानमतरेणापि तत्परिहारो दृश्यते । यथा शत्रुजनाध्यासितं देश परिहरति कश्चित्तत्र तेषा अवस्थानमप्रतिपद्यमानोऽपि मार्गान्तरगामी एव[1]मज्ञात्वापि परिहार्यं परिहरेदिति विनाभावितेति चेदयमभिप्राय सूरे---सामान्यशब्दा अपि विशेषप्रवृत्तयो दृश्यते । तथा हि---गोशब्दो गोत्वसामान्यागीकरणेन प्रवृत्तो गौर्न हतव्या, गौस्तदा न स्प्रष्टव्या इत्यादावन्यत्र विशेषमवाभिधेयी-करोति । महति गोमडले गोपालकमासीनमेत्य कश्चित्पृच्छति गौर्दृष्टा भवतेति । अत्र वाक्ये गोशब्दस्तदभिप्रेता कालाक्षी स्वस्तिमती वा प्रत्यायति । एवमत्र परिहारशब्द परिवर्जनसामान्यगोचरोऽपि नियतानेकपरिहार्यविषये परिहरणे प्रयुक्त । न च नियोगभाव्यनेकपरिहार्यविषयपरिहरण असकृद्वृत्तिपरिज्ञान विना युज्यते । इति मिथ्यादर्शन, असयमा , कषाया, अशुभाश्च योगा प्रत्येकमनेकविकल्पा सतत परिहरणीया । तत्कथ परिहरेदज्ञः । ननु ज्ञानचारित्रयोरविनाभाविता द्योत्या 'नादूण होदि परिहारो' इत्यनेन[2] न श्रद्धानाविनाभावितेत्याशकायामाह--- **'त चेव हवइ'** इत्यादिक । त चे व तदेव चैतन्य । **'हवइ'** भवति, **'णाणं'** ज्ञान । **'त चेव य'** तदेव च **'हवइ'** भवति, **'सम्मत्तं'** तत्त्वश्रद्धान चेति चैतन्यद्रव्यार्थाव्यतिरेकात् ज्ञानदर्शनयोरेकता ख्याता । ततो ज्ञाना-

हेतु कर्तव्यको ग्रहण करना, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयको अगीकार करना चारित्र है । आस्रव और बन्धके हेतु जो परिणाम हैं वे नही करने चाहिए । अत उनका परिहार अर्थात् त्याग चारित्र है । इस प्रकार सम्बन्ध लगाना चाहिये । जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है, उसे जाने विना भी उसका त्याग देखा जाता है जैसे कोई शत्रुओसे युक्त स्थानको छोडता है । यद्यपि वह उस स्थान मे उनके आवासको नही जानता, फिर भी दूसरे मार्गसे चला जाता है । इस प्रकार त्यागने योग्यको नही जानते हुए भी त्यागना चाहिए ।

शङ्का---तब तो 'त्याज्य पदार्थको जानकर छोडना चाहिये' इस प्रकारका अविनाभाव नही रहा ?

समाधान---आचार्यका अभिप्राय यह है कि सामान्य शब्दोंकी भी प्रवृत्ति विशेषमे देखी जाती है । जैसे 'गौ' शब्द गौसामान्यको लेकर प्रवृत्त होता है जैसे गौका वध नही करना चाहिए । गौको छूना चाहिए । किन्तु अन्यत्र यही सामान्यवाची गौ शब्द विशेष गौके अर्थमे प्रवृत्त होता देखा जाता है । जैसे---किसी बड़े गोमण्डलमे बैठे हुए ग्वालेके पास जाकर कोई पूछता है---आपने गौ देखी है क्या ? इस वाक्यमे गौ शब्द उस व्यक्तिको इष्ट काली गाय या अमुक प्रकारकी गायका बोध कराता है । इसी तरह परिहार शब्द यद्यपि त्याग सामान्यका वाचक है तथापि यहाँ उसका प्रयोग निश्चित अनेक त्यागने योग्य विषयोके त्यागमे हुआ है । और नियमसे त्यागने योग्य अनेक विषयोका त्याग बार-बार जाने विना सम्भव नही है । इस प्रकार मिथ्यादर्शन, असयम, कषाय, अशुभयोग और इनमेसे प्रत्येकके अनेक भेद निरन्तर त्यागने योग्य है । जो अनजान है वह कैसे उनका त्याग कर सकता है ?

शङ्का---'जानकर परिहार होता है' इस वचनसे ज्ञान और चारित्रकी अविनाभाविता प्रकट होती है, श्रद्धानकी अविनाभाविता प्रकट नही होती ?

इस आशङ्काका आचार्य उत्तर देते है---वही चैतन्य ज्ञानरूप है और वही चैतन्य सम्यक्त्वरूप है । अत. चैतन्यरूप द्रव्यसे अभिन्न होनेसे ज्ञान और दर्शनकी एकता बतलाई है । अतः

१ एवमन्यत्रापि परिहार्यात् परि--आ० । २ नेन श्रद्धा--अ० ज० मु० ।

विनाभाविता कथनेन श्रद्धानस्यापि कथितैव भवति । चारित्रमेव ज्ञानदर्शने इति कल्पनाया '**णादूण हवइ परिहारो**' इति पूर्वं ज्ञान पश्चात्परिहार इति अत्र भेदोपन्यास [1] सूत्रकारस्य अघटमान [2] स्यात् । तं चेवेति नपुंसकलिगनिर्देशश्च न स्यात् । '**सो चेव हवइ णाणं**' इति वक्तव्य भवति परिहारशब्दस्य पुल्लिगत्वात् । अथवा कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञाने सत्यकर्तव्याना मिथ्यादर्शन, ज्ञान, असयम, कषाया, योग इत्यमीषा परिहारश्चारित्रमित्येतस्मिन्नर्थे परिगृहीते 'त चेव परिहरणमामान्य चारित्र, ज्ञान दर्शन इत्येकमेवेति । चारित्राराधनायामेव भेदवादिनोऽभिमतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्लीनतया चारित्राराधनैकेवेति सूत्रार्थ ॥

चारित्राराधनायामंतर्भावो ज्ञानदर्शनाराधनयोरेव निगदितो न तपस आराधनाया इत्यत आह—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो आउंजणा य जो होई ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥१०॥

'**चरणम्मि**' चारित्रे । '**तम्मि**' एतस्मिन् अकर्तव्यपरिहरणे । '**जो य उज्जमो**' उद्योग । '**आउंजणा य**' उपयोगश्च । '**जिणेहिं तवो होदित्ति भणिदो**' इति पदघटना । चरणोद्योगोपयोगावेव तपो भवतीति जिनै कृतकर्मारिपराजयैरुक्तमिति यावत् । कृतसुखपरिहारो हि चारित्रे प्रयतते न सुखासक्तचित्तस्ततश्च बाह्यानि

चारित्रकी ज्ञानके साथ अविनाभाविता बतलानेसे श्रद्धानकी भी अविनाभाविता कही गई समझना ।

यदि चारित्रको ही ज्ञान और दर्शनरूप माना जाता है तो 'जानकर परिहार होना है' इस कथनमे जो पहले ज्ञानका और पश्चात् परिहारका भेदरूपसे उपन्यास ग्रन्थकारने किया है वह नही बन सकेगा । तथा 'त चेव' इस पदमे जो नपुसक लिंगका निर्देश किया है वह भी नही बनेगा, किन्तु 'सो चेव हवइ णाण' ऐसा प्रयोग करना होगा क्योकि 'परिहार' शब्द पुल्लिग है और वही चारित्र है ।

अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होने पर अकर्तव्य जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असयम, कषाय और योग हैं उनका परिहार चारित्र है, ऐसा अर्थ लेने पर 'त चेव' अर्थात् परिहार-सामान्य ही चारित्र, ज्ञान और दर्शन है इस प्रकार एक ही है । इस प्रकार चारित्राराधनामे ही भेदवादियोको इष्ट आराधनाके प्रकारोका अन्तर्भाव होनेसे चारित्राराधना एक ही है यह इस गाथासूत्रका अर्थ है ॥

भावार्थ—चारित्रके दो प्रकार है—कर्तव्यको स्वीकार करना और अकर्तव्यको त्यागना । ज्ञान और दर्शन पूर्वक हितकी प्राप्ति तथा अहितके परिहाररूपसे परिणत चैतन्य ही ज्ञान और दर्शनरूप है । अत चारित्रका ज्ञान और दर्शनके साथ अविनाभाव होनेसे चारित्रमे दोनोका अन्तर्भाव होता है ॥ ९ ॥

चारित्राराधनामे ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका ही अन्तर्भाव कहा है, तप आराधनाका नही कहा । अत कहते है—

गा०—उस अकर्तव्यके त्यागरूप चारित्रमे जो उद्योग है और उपयोग होता है, उन उद्योग और उपयोगको ही छल कपट त्यागकर करने वालेका जिनेन्द्रदेवने तप कहा है ॥ १० ॥

टी०—उस अकर्तव्यके परिहाररूप चारित्रमे जो उद्योग और उपयोग है जिनदेवने उसे तप कहा है । अर्थात् चारित्रमे उद्योग और उपयोग ही तप है, ऐसा कर्मरूपी शत्रुओको पराजित करने

---

१ भेदोप नासने-आ० । २. अघटमानं-आ० ज० ।

तपांसि चारित्रप्रारंभ प्रति परिकरतामुपयान्तीति । तथा च वक्ष्यति **'बाहिरतवेण होदि खु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता'** इति । तथा स्वाध्यायश्रुतभावना पचविधा तत्र वर्तमानश्चारित्रे परिणतो भवति । **तथा च वक्ष्यति 'सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणमदि'** त्ति । परिणाम एव उपयोग । 'कृतातिचारजुगुप्सापुर सर वचनमालोचनेति' अकर्तव्यपरिहरणोपयोग कथ न चारित्रं ? कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखता योगत्रयेण हा दुष्ट कृतं चिंतितमनुमत चेति परिणाम प्रतिक्रमणम् । उभय चरणोपयोग । एवमतिचारनिमित्त-द्रव्यक्षेत्रादिकान्मनसा अपगतिस्तत्र अनादृतिर्विवेक । इति उपयोगता विवेकस्य दुस्त्यजशरीरममत्वनिवृत्तिर्मेद शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्रम् । तपसोऽनशनादेश्चारित्रपरिकरतोक्तैव । सातिचारं चारित्रमचारित्रमेवेति बुद्धया निश्चित्यात्मनो, न्यूनतापादन, क्रियास्वभ्युत्थानवन्दनादिकासु असयमपरिहारेण वृत्तेश्चारित्रपरिकर । पुन प्रव्रज्यादानमपि चारित्रोपयोग एवेति । विनयस्तु पच प्रकार ज्ञानदर्शनविनययोर्ज्ञानदर्शनपरिकरतया तदुपयोगरूपतया च ज्ञानदर्शनाभ्यामभेदात्तद्वदेव चारित्राराधनातर्भाव ।

इन्द्रियविषयस्य रागद्वेषयो कषायाणा च परित्याग , अयोग्यवाक्कायक्रियायास्त्याग , ईर्यादिषु निरवद्या च वृत्तिश्चारित्रोपयोग एवेति चारित्रे विनयस्यान्तर्भाव । तपोऽधिके तपसि च भक्ति , अनासादना च

वाले जिनदेवने कहा है । जो सुखको त्यागता है वही चारित्रमे प्रयत्नशील होता है, जिसका चित्त सुखमे आसक्त है वह चारित्र धारण नही कर सकता । अत बाह्य तप चारित्रको प्रारम्भ करनेमे सहायक होते है । आगे कहेगे—'बाह्य तपसे समस्त सुखशीलता छूट जाती है' । तथा स्वाध्यायके पाँच भेद पाँच श्रुत भावनारूप हैं । जो उसमे प्रवृत्ति करता है वह चारित्रमे प्रवृत्ति करता है । आगे कहेगे—'श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमरूप परिणत होता है ।' परिणामका ही नाम उपयोग है । किये हुए दोषोंके प्रति ग्लानि पूर्वक जो वचन होता है वह आलोचना है । तब अकर्तव्यके त्यागमे जो उपयोग होता है वह चारित्र क्यो नही है । जिस साधुने अपने व्रतोमे दोष लगाया है उसका उन दोषोसे विमुख होकर, हाँ, मैने बुरा किया, या बुरा विचारा या उसमे अनुमति दी, इस प्रकारके परिणामोको प्रतिक्रमण कहते है । आलोचना और प्रतिक्रमणको उभय कहते है । अतिचारमे निमित्त द्रव्य, क्षेत्र आदिका मनसे हटाना, उनमे अनादर भावका होना विवेक प्रायश्चित्त है । इस प्रकार विवेकको उपयोगिता है । जिसको छोडना कठिन है उस शरीरसे ममत्व न करना 'यह शरीर मेरा नही है, न मै इसका हूँ' इस प्रकारकी भावना व्युत्सर्ग है वह भी परिग्रहके त्यागरूप उपयोग ही है अत. चारित्र है ।

अनशन आदि तप चारित्रके परिकर है—उसके सहायक है, यह पहले कहा ही है सदोप चारित्र अचारित्र ही है ऐसा बुद्धिके द्वारा निश्चित करके आत्मामे पूर्णताका लाना, खडे होना, वन्दना आदि क्रियाओमे असयमका परिहार करते हुए प्रवृत्त होना, ये सब भी चारित्रका परिकर है । दोष लगाने पर पुन. दीक्षा ग्रहण करना भी चारित्रमे उपयोग ही है । विनयके पाँच भेद है । उनमेसे ज्ञानविनय और दर्शनविनय ज्ञान और दर्शनके परिकर होनेसे तथा ज्ञान और दर्शनमे उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे अभिन्न है अत ज्ञान और दर्शनकी तरह उनका अन्तर्भाव चारित्राराधनामें होता है ।

इन्द्रियोंके विषयोमे राग द्वेषका तथा कषायोका त्याग, अनुचित वचन और कायकी क्रियाका त्याग, तथा ईर्या समिति आदिमे निर्दोष प्रवृत्ति चारित्रोपयोगरूप होनेसे चारित्रविनयका

परेषा तपोविनय , तं विना सुतपसोऽभावात् तपस· परिकरता ऽस्या सपरिकरं हि तपश्चारित्रस्य परिकर ।· उपयोगो वा नान्या गतिरस्ति[1] (?) मन्यते । '**असढं चरंतस्स**' शाठ्यमतरेण वर्तमानस्य भवेत्तथा च चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा, वा आराधना स्यात् कस्मान्न निरूप्यते ।

पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारी प्रयोजनायत्तचेष्ट सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयतते नान्यथा, तत्कथमियमाराधना व्याख्या प्रयोजिका[2] श्रवणस्येत्याशकाया, निर्वाणसुखस्याव्याबाधात्मकस्य पुरुषार्थस्योपायत्वप्रदर्शनेन आराधनाव्याख्या तदर्थिनामुपयोगिनी इत्येतत्प्रतिपादनायोत्तरप्रबंध । अथवा व्यावर्णितविकल्पा या आराधना तस्या चेष्टा कर्तव्येत्येतदाख्यानायोत्तरसूत्राणि, तथा चोपमहार· '**कादव्वा खु तदत्थं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा**' इति ॥

अन्येऽत्र व्याचक्षते ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमिति चोद्ये चारित्रप्राधान्यख्यापनायोत्तरसूत्रमिति तदयुक्तम्—

णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं ।
चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ॥११॥

'**णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं जहाखादं**' इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्या प्रधान चारित्र इति प्रतीतेरनु-

अन्तर्भाव चारित्रमें होता है । विशिष्ट तपस्वियोमे और तपमे भक्ति तथा दूसरोंकी आसादना न, करना तपविनय है । उसके बिना सम्यक् तप नही हो सकता । अत तपविनय तपका परिकर है । और अपने परिकरके साथ तप चारित्रका परिकर है । उसके बिना गति नही है । जो कपट त्याग कर ऐसा करता है उसीके यह तप होता है । इस प्रकार आराधनाके चार, दो और एक भेद है ।

भावार्थ—चारित्र वही धारण करता है जो सुखको त्याग देता है । चारित्रमे उद्यम करना बाह्य तप है । इस तरह बाह्य तप चारित्रका परिकर है उसकी सहायक सामग्री है । और चारित्ररूप परिणाम अन्तरग तप है । अन्तरग तपके भेद प्रायश्चित्त आदि पाप प्रवृत्तियोको दूर करते है अत तप चारित्रसे भिन्न नही है ॥११॥

पुरुष सोच-विचारकर काम करता है । उसकी चेष्टा प्रयोजनके अधीन होती है । प्रयोजन होने पर उसकी सिद्धिके लिये वह प्रयत्न करता है । प्रयोजन न होने पर नही करता । तब यह आराधनाका व्याख्यान कैसे उसका प्रयोजक है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते है बाधारहित मोक्ष सुख पुरुषार्थ है वह पुरुषका प्रयोजन है । जो मोक्ष सुखके अभिलाषी है उनको उसका उपाय बतलानेके लिये आराधनाका कथन उपयोगी है । यह बतलानेके लिए आगेका कथन करते है । अथवा जिस आराधनाके भेदोका कथन किया है उसमे चेष्टा करना चाहिये यह कहनेके लिये आगेका कथन है । इसीलिये ग्रन्थकारने उपसंहारमे कहा है कि आत्महितके अन्वेषकको उसके लिये चेष्टा करना चाहिये—

गा०—ज्ञानका और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र होता है । उस यथाख्यात चारित्रका सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण कहा है ॥ ११ ॥

टी०—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें कौन प्रधान है ऐसा

१ नान्यथास्तिता–आ० मु० । २ प्रयोजिता–आ० मु० ।

पपत्ते' । त्रयाणामपि कर्मापायनिमित्ततास्ति वा न वा ? यदि नास्तीत्युच्यते सूत्रविरोध. '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' इति सूत्रमवस्थितम् । अथोपायतास्ति ? परार्थतया गुणत्व त्रयाणामिति का प्रधानता चारित्रस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्रार्थे चारित्र तु न तदर्थमिति न युक्त वक्तु ज्ञानदर्शनयो साध्यत्वात्तदुपायतया चारित्रस्य चारित्र तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्रमतरेण क्षायिकं ज्ञान, क्षायिक वीतरागसम्यक्त्व चोपजायते । तस्मात्पूर्वोक्त एव उत्तरप्रबंधक्रम । इद सूत्र यथाख्यातचारित्रस्वरूपं तत्फल च गदितु आयातम् । णाणस्स दसणस्स य सारो' सारशब्दोऽत्रातिशयितगुणवचन । तथा प्रयोग —

''पढमंचि य विगलियमच्छरेण सुयणेण गहियसारम्मि ।
दोसं मोत्तूण खलो गेह्णउ कव्वम्मि किं अण्णं ॥'' [ ]

प्रथममेव साधुजनेन विगलितमात्सर्येण गृहीतेऽतिशयितगुणे काव्ये दोष मुक्त्वा खल किमन्यद्गृह्णाति इति गाथार्थ ॥

ज्ञानदर्शनयोरतिशयितरूप कि तन्मोहनीयजन्यकलंकरहित, 'चरण' चारित्र । 'हवेन । 'जहाखाद' यथाख्यात । **तथा चोक्तं**—

'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोत्ति णिद्दिठ्ठो ॥
मोहक्खोहविहूणो परिणामो अप्पणो य समो ।'' [प्रव० सा० १।७] इति ॥

''मोहो द्विविधो दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्च । तत्र दर्शनमोहजन्य अश्रद्धान शंकाकांक्षाविचि-

प्रश्न करने पर चारित्रकी प्रधानता बतलानेके लिये यह गाथासूत्र कहा है । किन्तु यह अयुक्त है क्योकि 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' ऐसा कहने पर 'चारित्र ज्ञान और दर्शनसे प्रधान है' ऐसी प्रतीति नही होती । प्रश्न होता है कि ये तीनों कर्मोके विनाशमे निमित्त है या नही ? यदि कहते हो नही है तो सूत्रमे विरोध आता है क्योकि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है' ऐसा सूत्र है । यदि तीनो मोक्षके उपाय हैं तो परार्थ-परके लिये होनेसे तीनो गौण हो जाते है तब चारित्रकी प्रधानता कैसी ? यदि कहोगे कि ज्ञान और दर्शन चारित्रके लिये है चारित्र ज्ञानदर्शनके लिये नही है, तो ऐसा कहना युक्त नही है क्योकि साध्य ज्ञान और दर्शन है । उनकी सिद्धिका उपाय चारित्र है । अत चारित्र ज्ञान दर्शनके लिये है तब वह अप्रधान क्यो नही हुआ ? चारित्रके बिना न तो क्षायिक ज्ञान होता है और न क्षायिक वीतराग सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । इसलिये जो पूर्वमे उत्तरगाथाके क्रमके सम्बन्धमे कहा है वही युक्त है । यह गाथासूत्र यथाख्यात चारित्रका स्वरूप और उसका फल कहनेके लिये आया है ।

'णाणस्स दसणस्स य सारो' यहाँ सार शब्द सतिशय गुणका वाचक है । इस अर्थमे उसका प्रयोग देखा जाता है । किसी कविने कहा है—प्रथम ही मात्सर्य भावसे रहित साधुजनोके द्वारा काव्यका सार ग्रहण कर लिये जाने पर दोषके सिवाय दुर्जन और क्या ग्रहण करे । यहाँ 'सार' शब्दका प्रयोग सातिशय गुणके अर्थमे ही किया गया है ।

प्रश्न होता है कि ज्ञान और दर्शनका सातिशय रूप क्या है ? तो वह है मोहनीयसे उत्पन्न होने वाले कलंकसे रहित यथाख्यात चारित्र । कहा है—

'निश्चयसे चारित्र धर्म है और धर्म समभावको कहा है । तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम सम है । मोहके दो भेद है—दर्शनमोह और चारित्रमोह । उनमेंसे दर्शनमोहसे

किरसान्यदृष्टिप्रशसासस्तवरूप । चारित्रमोहजन्यौ रागद्वेषौ तदनुन्मिश्रं ज्ञानं दर्शन च यथाख्यातचारित्रमित्युच्यते" इति सूत्रार्थ. । 'चरणस्स' चारित्रस्य, 'तस्स' तस्य, यथाख्याताख्यस्य, 'सारो' अतिशयित फलं साध्यसाधनलक्षणसबंधनिमित्ता षष्ठीय तेन साध्यफलं लब्धं, सारशब्दस्तु तस्यातिशयमाचष्टे । ततोऽयमर्थो जात' यथाख्यातचारित्रस्य फलमतिशयितमिति । किं तत् 'णिव्वाणं' निर्वाणं विनाशः । तथा प्रयोगः—निर्वाण' प्रदीपो नष्ट इति यावत् । विनाशमामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दस्य चरणशब्दस्य निर्जातकर्मशातनसामर्थ्याभिधायिन. प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति । स च कर्मणा विनाशो द्विप्रकार , कतिपयप्रलय सकलप्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे—'**अणुत्तरमिति**' न विद्यतेऽन्यदुत्तरमधिक अस्मादित्यनुत्तर । '**भणिदं**' उक्त '**पवयण**' इति शेष ।

अथवा ज्ञानश्रद्धानयो फल दु खहेतुक्रियापरिहार । यदत्र[1] च फल तत्र सन्निहितो हेतुस्ततश्चारित्राराधनाया इतरान्तर्भाव[2] इत्यायातमिद सूत्र '**णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जधाखादं**' इति ॥ पापक्रिया दु खहेतु तत्परिहारश्च असति ज्ञाने श्रद्धाने वा न सभवति, क्वचिन्मनसो रजन अप्रीतिर्वा पापक्रियाभिनवकर्मसवरण चिरतननिरास च विदधाति चरणमदो युक्तमुच्यते '**चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं**' इति ।

अश्रद्धान उत्पन्न होता है । आत्मा, मोक्ष आदिके अस्तित्वमे शङ्काका होना, विषयभोगोंकी इच्छा, धर्मात्माको देखकर ग्लानि, मिथ्यादृष्टीकी मनसे प्रशसा और वचनसे स्तुति करना, ये सब उस अश्रद्धानके रूप है । चारित्रमोहसे राग-द्वेष उत्पन्न होते है । उनसे रहित ज्ञान और दर्शनको यथाख्यात चारित्र कहते है । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

उस यथाख्यात नामक चारित्रका सार अर्थात् सातिशय फल । यहाँ यह षष्ठी विभक्ति साध्य-साधनरूप सम्बन्धके निमित्तको लेकर है । उससे साध्यफलका बोध होता है । और 'सार' शब्द उसके अतिशयको कहता है । अत यह अर्थ हुआ कि यथाख्यात चारित्रका सातिशयफल निर्वाण है । निर्वाणका अर्थ विनाश है । कहा जाता है दीपकका निर्वाण हो गया अर्थात् दीपक नष्ट हो गया । इस तरह यद्यपि निर्वाण शब्दका अर्थ विनाशमात्र है तथापि उत्पन्न हुए कर्मोंको नष्ट करनेकी शक्तिवाले चारित्र शब्दका प्रयोग होनेसे कर्मोका विनाश अर्थ लिया जाता है । कर्मोंका विनाश दो प्रकारका है—कुछ कर्मोका विनाश और सब कर्मोका विनाश । यहाँ दूसरेका ग्रहण किया है क्योकि 'अणुत्तर' शब्दका प्रयोग किया है । जिससे अधिक कोई नही है उसे अनुत्तर कहते है । 'भणिद' अर्थात् आगममे कहा है ।

अथवा श्रद्धान और ज्ञानका फल दु खकी कारण क्रियाओका त्याग है । यहाँ जो फल है त्याग उसमे उसके हेतु ज्ञान और दर्शन समाविष्ट है । अत चारित्राराधनामे अन्य आराधनाओका अन्तर्भाव होनेसे 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यातचारित्र है' यह गाथा सूत्र आया है ।

पापकर्म दुःखके कारण है । उनका त्याग ज्ञान और श्रद्धानके विना सम्भव नही है । किसीमें मनका अनुरक्त होना और किसीसे द्वेष करना पापक्रिया है । चारित्र नवीन कर्मोके आनेको रोकता है और पुराने कर्मोका विनाश करता है । अत उचित ही कहा है कि उस चारित्रका सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण है ॥११॥

भावार्थ—रागद्वेषसे रहित ज्ञान और दर्शनको ही आगममें यथाख्यात चारित्र कहा है । उसका सार निर्वाण अर्थात् समस्त कर्मोका विनाश है । निर्वाणसे उत्कृष्ट अन्य नही है ॥११॥

---

१ यस्तच्च-आ० मु० । २. इतरेतरान्त-आ० मु० ।

यज्ज्ञानं दुःखहेतुनिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टान्तमाह—

चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं।
चक्खू होइ णिरत्थं दट्ठूण बिले पडंतस्स ॥१२॥

'**चक्खुस्स दसणस्स य सारो**' इति। '**चक्खुस्स**' चक्षुष । द्रव्येन्द्रियमिह चक्षुरिति गृहीतं निर्वृतिरुपकरणं च तज्जन्यत्वाद्रूपगोचरं विज्ञानं दर्शनं तस्य सबधितयोच्यते। ततोऽयमर्थो जायते–चक्षुर्जन्यायाः प्रतीतेः सारो फलं किं '**सप्पादिदोसपरिहरणं**' सर्पकटकादीना स्पर्शनादिक्रियाया दुःखदायिन्या परिहार सर्पादिभि सपाद्यत्वात् स्पर्शनभक्षणादिकं क्रियाविशेष सर्पादिदोष इत्युच्यते, तस्य परिहरणं परिवर्जन ततोऽय वाक्यार्थ —यज्ज्ञानं तद्दुःखनिराकरणफलं यथा चक्षुर्जन्यसर्पादिगोचरज्ञानं सर्पादिस्पर्शनभक्षणादिपरिहरणफलमिति। चक्षुर्ज्ञानमिह चक्षुरुच्यते चक्षुःप्रसूतं ज्ञानं। '**होदि**' भवति। '**णिरत्थं**' निरर्थकं। '**दट्ठूण**' दृष्ट्वा ज्ञात्वा बिलादिकमग्रतः स्थितं, बिलग्रहणमुपलक्षणं उपघातकारिणाम्। '**पडतस्स**' पततः पुरुषस्य।

अत्रापरा व्याख्या—ज्ञानादर्शनाच्चात्मोपकारिविशिष्टफलदायिचारित्रं इत्युक्तं। ननु ज्ञानमिष्टानिष्टमार्गोपदर्शि तद् युक्तं ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातुं इति चेन्न ज्ञानमात्रेणेष्टार्थसिद्धिः, यतो ज्ञानं प्रवृत्तिहीनं असत्सम। अत्र वस्तुनि दृष्टान्तदर्शनेन निगमयति—'**चक्खुस्स दसणस्स य**, इति। ज्ञानदर्शनाभ्यामपि चारित्रस्यात्मोपकारिता कस्मिन्सूत्रे निगदिता येनोक्तमित्युच्यते। अतीतसूत्र इति चेतन्मिथ्या **णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं**'। इत्यतो वाक्यात्किं ज्ञानदर्शनाभ्यां चारित्रमेवोपकारीत्यय प्रत्ययो

दुःखके कारणोको दूर करना ज्ञानका फल है इस अन्वयकी सिद्धिके लिए दृष्टान्त कहते है—

गा०—चक्षुसे देखनेका सार सर्प आदि दोषोसे दूर रहना है। देखकर भी आगे वर्तमान साँपके बिलमे गिरनेवाले मनुष्यकी आँख व्यर्थ है ॥१२॥

टी०—यहाँ 'चक्षु' से निर्वृति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रियका ग्रहण किया है। उससे उत्पन्न और रूपको जाननेवाले ज्ञानको यहाँ दर्शन कहा है। उससे यह अर्थ होता है—चक्षुसे होनेवाले ज्ञानका फल सर्प, कण्टक आदिकी दुःख देनेवाली क्रिया—काटना या पैरमे लगना आदिसे बचना है। गाथामे सर्पादिदोषसे बचना है। सो सर्प आदिके द्वारा किये जानेवाले स्पर्शन, काटना आदि क्रिया विशेषको सर्पादिदोष कहा जाता है। उसका परिहार फल है। तब वाक्यका अर्थ यह हुआ—जो ज्ञान है उसका फल दुःखका निराकरण है। जैसे चक्षुसे होनेवाले सर्पादिके ज्ञानका फल सर्पादिके स्पर्शसे उनके काटने आदिसे बचना है। यहाँ चक्षुसे चक्षुज्ञान अर्थात् चक्षुसे होनेवाला ज्ञान लेना चाहिए। आगे स्थित साँपके बिल आदिको देखकर भी, जानकर भी, उसमें गिरनेवाले मनुष्यका, चक्षुज्ञान, निरर्थक है।

इस गाथाकी अन्य व्याख्याकार इस प्रकार व्याख्या करते है—'ज्ञान और दर्शनसे चारित्र आत्माका विशेष उपकारी और विशिष्ट फलदायी है ऐसा कहा है। यदि कोई कहता है कि ज्ञान इष्ट और अनिष्टमार्गका दर्शक है अतः उसको उपकारी कहना युक्त है। तो उसका यह कहना ठीक नही है क्योकि ज्ञानमात्रसे इष्टकी सिद्धि नही होती, आचरणहीन ज्ञान 'न हुए' के समान है। यहाँ दृष्टान्तके द्वारा उसका समर्थन करते है 'चक्खुस्स दंसणस्स' इत्यादि ?

इन व्याख्याकारसे हम पूछते है कि ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्र आत्माका विशेष उपकारी है यह किस गाथासूत्रमे कहा है ? यतः आप कहते हैं—'कहा है'। यदि कहोगे कि पिछले

जायते ? एवमिति तदनुभवविरुद्धमाचरतीत्युपेक्ष्यते, न चेत्कथमुक्तमित्युच्यते । किंच तस्य सूत्रस्य या पातनिका कृता ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमित्यत्र प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यनया च विरुध्यते ।

चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणिय' इत्युक्तं चारित्रस्य समतारूपस्य फलमशेषकर्मापाय इत्युक्त । कर्मापायो हि कथ पुरुषार्थ दु खनिवृत्ति सुखं चाभिमत फलमित्यारेकाया प्रधानपुरुषार्थस्य अखिल-बाधाव्यपगमरूपस्य सुखस्य निबधनतयोपयोगितामाचष्टे सकलकर्मापायस्य—

णिव्वाणस्स य सारो अव्वाबाहं सुहं अणोवमियं ॥
कायव्वा हु तदट्ठं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा ॥१३॥

'**णिव्वाणस्स य सारो**' इति । निरवशेषकर्मापायस्य सार फल । **अव्वाबाह** कर्मजन्यसकलदु खापाय कारणाभावे कार्यस्य अनुत्पत्ते । '**अणोवमियं**' उपमातीत । '**कायव्वा**' कर्तव्या । '**चेट्ठा**' चेष्टा । '**तदट्ठं**' अव्याबाधसुखार्थम् । '**आदहिदगवेसिणा**' आत्महित मृगयता । क्व चेष्टा कार्या ? आराधनाया मृतावनतिचार-ज्ञानदर्शनचारित्रपरिणतिरूपाया । कस्मात् ?

जम्हा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि ।
सव्वस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तम्हा ॥१४॥

'**जम्हा**' यस्मात् '**चरित्तसारो**' चारित्रस्य ज्ञाने दर्शने पापक्रियानिवृत्तौ च प्रयतस्य, चरण प्रवृत्ति

गाथासूत्रमे कहा है तो यह मिथ्या कथन है 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' इस वाक्यसे 'ज्ञान और दर्शनसे चारित्र विशेष उपकारी है' ऐसा बोध होता है क्या ? यदि कहोगे 'होता है' तो आपका आचरण अनुभव विरुद्ध है अत वह उपेक्षणीय है । यदि कहोगे 'नही होता' तो आपने ऐसा क्यों कहा ?

दूसरे, उस गाथासूत्रकी जो उत्थानिका है उसमे 'ज्ञान दर्शन चारित्रमे कौन प्रधान है' ऐसा प्रश्न करनेपर प्रधानका कथन करनेके लिए गाथासूत्र कहते है ऐसा कहा है, उसमे भी विरोध आता है ॥१२॥

'चरणस्स तस्स सारो' इत्यादिमे समतारूप चारित्रका फल समस्त कर्मोका विनाश कहा है । किन्तु कर्मोका विनाश पुरुषार्थ कैसे है ? दु खकी निवृत्ति और सुखको फल कहा है ऐसी आशङ्का होनेपर ग्रन्थकार प्रधान पुरुषार्थ जो बाधारहित सुख है, उसका कारण होनेसे समस्त-कर्मोंके विनाशकी उपयोगिता बतलाते है—

गा०—निर्वाणका सार बाधारहित उपमारहित सुख है । अतः आत्महितके खोजीको उस अव्याबाध सुखकी प्राप्तिके लिए चेष्टा करना चाहिए ॥१३॥

टी०—समस्तकर्मोंके विनाशका फल कर्मजन्य समस्त दुःखोसे रहित, उपमारहित सुख है । अत आत्महितके खोजीको, उस बाधारहित सुखके लिये, चेष्टा करना चाहिए । अर्थात् निरतिचार ज्ञानदर्शनचारित्रकी परिणतिरूप आराधनाको अपनाना चाहिए ॥१३॥

गा०—क्योकि प्रवचनमे चारित्रका फल आराधना कहा है । इसलिए समस्त प्रवचनका सार आराधना ही है ॥१४॥

टी०—**ज्ञानमें, दर्शनमें, और पापकर्मसे निवृत्तिमें जो प्रयत्नशील है उसकी परिणतिको**

परिणतिरिह चारित्रशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लब्ध 'सारः' फलमिति । 'भणिदा' कथिता । 'आराहणा' आराधना मृतो अनतिचाररत्नत्रयता । 'पवयणम्मि' प्रोच्येत दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्धेन जीवादय पदार्था अनेनास्मिन्वेति प्रवचन जिनागमस्तस्मिन् । अतिशयवत्ताराधनाया प्रक्रान्ताया उपसहरत्युत्तरार्द्धेन **सव्वस्स** इत्यादिना । '**सव्वस्स**' समस्तस्य । '**पवयणस्स**' जिनागमस्य । '**सारो**' अतिशय । '**आराहणा**' आराधना व्यावर्णितरूपा । '**तम्हा**' तस्मात् । च शब्द एवकारार्थ । स चाराधनाशब्दात्परतो द्रष्टव्य आराधनैव सार इति ।

अन्यत्र व्याख्या—यदिदमुक्त फल एतच्चारित्रमात्रादुत विशिष्टाज्जायते इत्याह—**जम्हा चरित्तसारो** इति । कि पातनिकार्थो गाथाया सवादमुपयाति न चेतीत्यत्र श्रोतार प्रमाण ॥१४॥

कस्मात् ? अतिशयवत्तयाराधनागमेऽभिहिता यस्मात्—

सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते ॥
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥१५॥

'**सुचिरं**' अतिचिरकालमपि । '**णिरदिचार**' अतिचारमतरेण । '**विहरित्ता**' विहृत्य । क्व ? '**णाणदंसणचरित्ते**' ज्ञाने श्रद्धाने समतायां च । '**मरणे**' भवपर्यायविनाशकाले । विराधयित्ता रत्नत्रयपरिणामान्विनाश्य मिथ्यादर्शनेऽज्ञानेऽसयमे परिणतो भूत्वा । '**अणंतससारिओ**' अनतभवपर्यायपरिवर्तने उद्यत । '**दिट्ठो**' दृष्ट । देशोन पूर्वकोटीकाल अनतिचाररत्नत्रयप्रवृत्तानामपि मरणकाले तत प्रच्युताना मुक्त्यभाव ससारे चिरपरिभ्रमणकथनव्याजेन दर्शन दर्शयति सूत्रकार ॥१५॥

यहाँ चारित्रशब्दसे ग्रहण किया है। तब यह अर्थ प्राप्त होता है कि चारित्रका फल, प्रवचनमे—जिसके द्वारा अथवा जिसमे जीवादिपदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमे अविरुद्ध कहे जाते है वह प्रवचन अर्थात् जिनागम है उसमे, आराधनाको कहा है। गाथाके उत्तरार्धद्वारा प्रकरण प्राप्त आराधनाकी अतिशयवत्ताका उपसंहार करते है—इस कारण से समस्त जिनागमका सार आराधना है। गाथामे जो 'य' च शब्द है वह एवकार (ही) के अर्थमे है और उसे आराधना शब्दके आगे लगाना चाहिए अर्थात् जिनागमका सार आराधना ही है।

अन्यत्र इस गाथाकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—यह जो फल कहा है वह चारित्र सामान्यसे प्राप्त होता है या विशिष्टचारित्रसे प्राप्त होता है। इसके उत्तरमे आचार्यने 'जम्हा चरित्तसारो' आदि गाथा कही है। हमारा प्रश्न है कि इस आपकी उत्थानिकाके अर्थका गाथाके साथ मेल खाता है क्या ? इस विषयमे श्रोतागण ही प्रमाण है। हम अधिक क्या कहे ॥१४॥

आगममे आराधनाकी अतिशयवत्ता क्यो कही है इसका समाधान करते है—

गा०—ज्ञान श्रद्धान और चारित्रमे बहुत कालतक भी अतिचार विना विहार करके मरणकालमे विराधना करके अनन्तभव धारण करनेवाला देखा गया है ॥१५॥

टी०—ज्ञानमे, दर्शनमें और समतारूप चारित्रमे सुदीर्घकालतक अतिचार रहित विहार करके भी अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्रका निर्दोष पालन करके भी जब उस पर्यायके विनाशका समय आवे अर्थात् मरते समय यदि रत्नत्रयरूप परिणामोको नष्ट करके मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असयमरूप परिणामोको अपनावे तो उसका ससार अनन्त होता है। अर्थात् कर्मभूमिमें मनुष्यपर्यायकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटी होती है। आठ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् सयम धारण करके कुछ कम एक पूर्वकोटिकालतक उसका निरतिचार पालन किया। किन्तु मरणकाल आनेपर

अनुपगतमिथ्यात्वस्य अविचलितचारित्रस्यापि परीषहपरिभवादुपगतसंक्लेशस्य महती संसृतिरिति भयोपदर्शनेन संक्लेशं परित्याज्य इति निगदति सूत्रकारः '**समिदीसु य**' इत्यादिना—

समिदिसु य गुत्तीसु य दंसणणाणे य णिरदिचाराणं ।
आसादणबहुलाणं उक्कस्सं अंतरं होई ॥ १६ ॥

अन्ये व्याचक्षते—"उक्तस्यानंतसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गाथा अनंतस्यानंतविकल्पत्वात् अनंतविशेषः प्रतिपादनीयः" इति । अस्यां व्याख्यायां **उक्कस्सं अंतरं होदीत्येतावदुपयुज्यते** । इतरस्य वचनसंदर्भस्य अनर्थकत्वं प्रसज्यत इति । समिदीसु य **सम्यगयनादिषु अयनं समितिः**, सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्तिः समितिः । **सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं गुप्तिः** । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं । अपेतमिथ्यात्वकलङ्कस्यात्मनो वस्तुतत्त्वपरिज्ञानं मत्यादिक्षायोपशमिकं ज्ञानं । क्षायिके मति ज्ञाने आसादनाया असंभवः । मोहजन्यत्वात्संक्लेशस्य, मोहस्य च केवलज्ञानोत्पत्तेः प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोक्तं—'**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्**' [त० सू० १०।१] इति । वीतरागसम्यक्त्वं चेह न गृहीतम् । मोहप्रलय-

---

उससे च्युत हो गया तो संसारमें चिरकालतक भ्रमण करना पड़ता है । इस चिरकाल परिभ्रमणके बहानेसे सूत्रकार उसकी मुक्तिका अभाव बतलाते हैं ॥१५॥

जो मिथ्यात्वभावको प्राप्त नहीं हुआ है जिसका चारित्र भी निश्चल है फिर भी यदि वह परीषहसे घबराकर संक्लेशभावको प्राप्त होता है तो उसका संसार सुदीर्घ है, ऐसा भय दिखलाकर ग्रन्थकार संक्लेशको त्यागनेका उपदेश देते हैं—

गा०—समितियोंमें और गुप्तियोंमें और दर्शन और ज्ञानमें जो अतिचार रहित प्रवृत्ति करते हैं । किन्तु मरणकाल आने पर परीषहके भयसे समिति आदिमें बारम्बार दोष लगाते हुए संक्लेश परिणाम करते हैं उनका अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर होता है । अर्थात् मरते समय रत्नत्रयसे च्युत होकर पुनः उतना काल बीतने पर रत्नत्रय प्राप्त करते हैं ॥१६॥

टीका—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि 'ऊपर जो अनन्त संसार कहा है उसका प्रमाण बतलानेके लिए यह गाथा आई है । क्योंकि अनन्तके अनन्त भेद होते हैं अतः अनन्तविशेषका कथन करना आवश्यक था । इस व्याख्यामें 'उत्कृष्ट अन्तर होता है' गाथा के इस अन्तिम चरणकी उपयुक्तता तो होती है, किन्तु शेष वचन रचना निरर्थक पड़ जाती है । अस्तु ।

सम्यक् अयनको समिति कहते हैं । सम्यक् अर्थात् श्रुतज्ञानमें कहे गये क्रमके अनुसार चलने आदिमें प्रवृत्ति करना समिति है । सावद्य योगोंसे अर्थात् सदोष मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षण करना गुप्ति है । वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । मिथ्यात्वरूप कलंकसे रहित आत्माके वस्तुतत्त्वके परिज्ञानको मति आदिरूप क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं । यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानको ही लेनेका हेतु यह है कि क्षायिकज्ञानके होते उसमें दोष लगाना असम्भव है । क्योंकि संक्लेश मोहके उदयसे होता है और मोहकर्म केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है । कहा भी है—'मोहके क्षयसे तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान होता है ।'

यहाँ दर्शनसे वीतराग सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि मोहका नाश हुए विना वीतरागता नहीं होती ।

मन्तरेण वीतरागता नास्तीति । ईर्यासमितेरतिचार मदालोकगमन, पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनम्, अन्यगतचित्तादिकम् । इद वचन मम गदितु युक्त न वेति अनालोच्य भाषण, अज्ञात्वा वा । अत **एवोक्तं 'अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे'** इति । अपुष्टश्रुतधर्मतया मुनि अपुष्ट इत्युच्यते । भाषासमिति-क्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात् इत्यर्थ । एवमादिको भाषासमित्यतिचार । उद्गमादिदोषे गृहीत भोजनमनुमनन वचसा, कायेन वा प्रशसा, तै सहवास , क्रियासु प्रवर्तन वा एषणासमित्यतीचार । आदातव्यस्य, स्थाप्यस्य, वा अनालोचन, **किमत्र जतवः सन्ति न सन्ति वेति दुःप्रमार्जनं च आदाननिक्षेपणसमित्यतिचारः ।** कायभूम्यशोधन, मलसपातदेशानिरूपणादि, पवनसनिवेशदिनकरादिषूत्क्रमेण वृत्तिश्च प्रतिष्ठापनासमित्यतिचार । असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्तेरतिचार । एकपादादिस्थानं वा जनसचरणदेशे, अशुभध्याना-भिनिविष्टस्य वा निश्चलता । आप्ताभासप्रतिविबाभिमुखतया वा तदाराधनाव्यापृत इवावस्थान । सचित्तभूमौ सपतत्सु समंतत अशेषेषु महति वा वाते हरितेषु, रोषाद्वा दर्पाद्वा तूष्णी अवस्थान निश्चला स्थिति. कायोत्सर्ग कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममताया अपरित्याग कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचार । रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचार । [1]**शंकाकाक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातीचाराः ।** द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमतरेण श्रुतस्य पठन श्रुतातिचार । अक्षरपदादीना न्यूनताकरण, अतिवृद्धिकरण, विप-

मन्द प्रकाशमे चलना, पैर रखनेके स्थानको अच्छी तरह न देखना, गमन करते समय चित्तका उपयोग अन्यत्र होना, ये ईर्यासमितिके अतीचार है। यह वचन मुझे कहना युक्त है अथवा नही, ऐसा विचार किये बिना बोलना, या बिना जाने बोलना। इसीमे कहा है—'बोलनेवालेके बीचमे बिना समझे नही बोलना चाहिये।' ऐसे मुनिको जिसने शास्त्रकी बातको पुष्ट रूपसे नही सुना है अपुष्ट कहा है। अपुष्ट मुनिको बीचमें नही बोलना चाहिये। भाषासमितिके क्रमसे जो अनजान है उसे मौन ले लेना चाहिये। इत्यादि भाषा समितिके अतीचार हैं। उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचन से उसकी अनुमति देना, कायसे उसकी प्रशसा करना, ऐसे मुनियोंके साथ रहना, या क्रियाओमे उनके साथ प्रवृत्ति करना, एषणासमितिके अतीचार है। जो वस्तु ग्रहण करने योग्य या रखने योग्य है, उसे ग्रहण करते या स्थापित करते समय 'यहाँ जन्तु है या नही' ऐसा नही देखना या पिच्छिकासे सावधानता पूर्वक प्रमार्जन न करना आदाननिक्षेपण समितिके अतीचार है। शरीर और भूमिका शोधन न करना, मलत्याग करनेके स्थानको न देखना आदि प्रतिष्ठापना समितिके अतीचार है। चित्तके असावधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगुप्तिका अतीचार है। जहाँ मनुष्य आते जाते है वहाँ एक पैर आदिसे खड़े होना, अशुभ ध्यानमे लीन होकर निश्चल होना, मिथ्या देवताओकी मूर्तिके सन्मुख ऐसे खडे होना मानों उनकी आराधनामे लगे है, सचित्त भूमिमे जहाँ चारो ओर हरित वनस्पति फैली है, क्रोध या घमण्डसे मौनपूर्वक निश्चल खडे होना कायगुप्तिके अतीचार है।

जो कायोत्सर्गको कायगुप्ति मानते है उनके पक्षमे शरीरसे ममत्वको न छोडना अथवा जो कायोत्सर्गके दोष कहे है वे कायगुप्तिके अतीचार है। स्वाध्यायमे रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतीचार है। शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोकी प्रशसा, सस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी शुद्धिके बिना श्रुतका पढना श्रुतका अतीचार है। अक्षर

१. 'शंका''' सम्यग्दृष्टेरतीचारा '—त० सू० ७।२३ ।

रीतपौर्वापर्यरचनाविपरीतार्थनिरूपणा गथार्थयोर्वैपरीत्य अमी ज्ञानातिचारा । उक्तातिचारविगमो निरतिचारता चारित्रादीनाम् ।

मरणकाले रत्नत्रयपरिणामाभावे दोष उक्त । इदानीमाराधनाफलातिशयख्यापनायाह—

दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खणेण सिद्धा य ॥
आराहया चरित्तस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

दिट्ठा इत्यादिक । 'दिट्ठा' दृष्टा उपलब्धा । '**अणादिमिच्छादिट्ठी**' अनादिमिथ्यादृष्टय । भद्दणादया राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्ना अत एवानादिमिथ्यादृष्टय प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसारा. समारोपितरत्नत्रया । '**जम्हा**' यस्मात्क्षणेन क्षणग्रहण कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम्, अन्यथा क्षणस्याल्पकालतया कर्मशातनस्य कर्तुमशक्यत्वात्, सकलकर्मशातनपुरस्सर सिद्धत्वमेव न स्यात् । '**सिद्ध य**' सिद्धाश्च परिप्राप्ताशेषज्ञानादिस्वभावा , चशब्देन निरस्तद्रव्यभावकर्मसहतयश्च, दृष्टा आराधनामपादका । **चरित्तस्स** चारित्रस्य । चारित्रग्रहण रत्नत्रयोपलक्षण । **एतेन चारित्राराधनां स्तौति इत्येतद्व्याख्यान निरस्त ।** चारित्राराधनास्तवनस्य नाय प्रस्ताव । **आयुरंते रत्नत्रमपरिणतिरिह प्रक्रांता स्तोतुं, किमुच्यते चारित्राराधनां स्तौतीति ।**

पद आदिको कम करना या उनको बढाना, आगेको पीछे और पीछेके पाठको आगे करके पौर्वापर्य रचनामे विपरीतता करना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ और अर्थमे विपरीतता करना, ये ज्ञानके अतीचार है। चारित्र आदिमे कहे अतिचारोको न लगाना निरतिचारता है।

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपने मूलाराधना दर्पणमे लिखा है कि जयनन्दि इस गाथाको पूर्वकी गाथाकी संवादगाथा मानते है ॥१६॥

मरते समय रत्नत्रयरूप परिणामोंका अभाव होनेमे दोष कहा। अब आराधनाके फलका अतिशय कहते है—

गा०—क्योंकि रत्नत्रयके आराधक अनादिमिथ्यादृष्टि क्षणमात्रमे अर्थात् अल्पकालमे द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित सिद्ध देखे गये है। इसलिये आराधना सार है ॥१७॥

टीका—भद्दण आदि राजपुत्रोने उसी भवमे त्रसपर्याय प्राप्त की थी। अतएव वे अनादिमिथ्यादृष्टि थे। उन्होने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे धर्मका सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया था और क्षणमात्रमे सिद्धत्व पद प्राप्त किया था। यहाँ 'क्षण' शब्दका ग्रहण कालकी अल्पताके उपलक्षणके लिये किया है। अन्यथा 'क्षण' बहुत छोटा काल है उतने कालमे समस्त कर्मोका नाश करना अशक्य है और तब समस्त कर्मोके विनाशपूर्वक होनेवाला सिद्धत्व ही प्राप्त नही हो सकता। जिन्होने समस्त ज्ञानादिस्वभावको प्राप्त कर लिया है और 'च' शब्दसे द्रव्यकर्म और भावकर्मोके समूहको नष्ट कर दिया है उन्हे सिद्ध कहते है। यहाँ चारित्रका ग्रहण रत्नत्रयका उपलक्षण है।

अत जो 'चारित्राराधनाका स्तवन करते है' ऐसा व्याख्यान करते है उसका निरास कर दिया है। यह प्रकरण चारित्राराधनाके स्तवनका नही है। यहाँ तो आयुके अन्त समयमे रत्नत्रयरूप परिणतिका स्तवन है। तब चारित्राराधनाके स्तवनकी बात क्यो करते है।

भावार्थ—अनादिकालसे मिथ्यात्वका उदय होनेसे नित्यनिगोदपर्यायमे रहकर भद्र-विवर्द्धन आदि ९२३ भरतचक्रवर्तीके पुत्र हुए और उन्होने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे धर्म सुनकर

'सव्वस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तम्हा' इति यदुच्यते, यस्मिन्नेव काले मरणं तस्मिन्नेव काले रत्नत्रयपरिणतेन भाव्यं हितार्थिना अन्यदा किमिति चारित्रे तपसि स प्रयासः क्रियते इति शिष्यशङ्कामुपन्यस्यति सूत्रकारः—

जदि पवयणस्स सारो मरणे आराहणा हवदि दिठ्ठा।
किंदाइं सेसकाले जदि जददि तवे चरित्ते य ॥ १८ ॥

जदि पवयणस्स इत्यादिना। **'पवयणस्स'** प्रवचनस्य। **'सारो'** अतिशय इति। **'मरणे'** आयुरन्ते। **'आराहणा'** आराधना रत्नत्रयपरिणतिः। **'जदि दिट्ठा'** इति पदसबंधः। यद्युपलब्धा। **'हवदि'** भवेत्। **'किदाइं'** किमिदानीं। **'सेसकाले'** मरणकालादन्यः कालः शेषकालस्तत्र **'जददि'** प्रयत्नः क्रियते। क्व **'तवे'** तपसि, **'चरित्ते'** सामायिकादिके सावद्यक्रियापरिहारात्मके। चशब्दात् ज्ञानदर्शनयोश्च। एतदुक्तं भवति—ग्रहणकालादिषु भावितरत्नत्रयस्यापि मरणे तदभावे यदि सिद्धि, अकृतभावनस्यापि मृतौ रत्नत्रयसान्निध्यात्सा सिद्धिर्यदि भवति **मरणधना** मा महती समृतिमावहति। अन्यदा जातायामपि विराधनाया मृतिकाले रत्नत्रयोपगतो संसारोच्छित्तिर्भवत्येव। ततो मरणकाले प्रयत्नः कार्य इत्यस्माभिरुपन्यस्तं। इतरकालवृत्तं तु रत्नत्रयं संवरनिर्जरयोर्घातिकर्मणां च क्षयनिमित्तं इतीष्यत एव। **तथा चोक्तं—'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः'** [त०सू० ९।४५] इति।

रत्नत्रय धारण किया और अल्पकालमे ही सिद्धपद प्राप्त किया। इससे सिद्ध होता है कि आयुके अन्तमें आराधना सर्वोत्कृष्ट है ॥१७॥

यदि 'समस्त प्रवचनका सार आराधना है' तो जिस कालमें मरण हो उसी कालमे अपना हित चाहनेवालेको रत्नत्रय धारण करना चाहिए, अन्यकालमें चारित्र और तपमें प्रयास क्यो किया जाये ? शिष्यकी इस शकाको गाथासूत्रकार उपस्थित करते है—

गा०—प्रवचनका अतिशय आयुके अन्तमे आराधना यदि देखी जाती है। तो क्यो इस समय मरणकालमे अन्यकालमे यति तप चारित्र और ज्ञानदर्शनमें यत्न करता है ? ॥१८॥

टीका—गाथामे आये 'च' शब्दसे ज्ञान और दर्शन लेना चाहिए। कहनेका आशय यह है कि मरणकालसे भिन्नकालमे अर्थात् दीक्षा ग्रहण शिक्षाकाल आदिमे रत्नत्रयका पालन करनेपर भी यदि मरणकालमे उसका पालन न किया जाये तो मुक्तिकी प्राप्ति नही होती, और अन्यकालमे रत्नत्रयकी भावना न करके भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेसे वह मुक्ति यदि प्राप्त होती है तब तो मरणकालमे होनेवाला रत्नत्रय ही मोक्षका कारण हुआ। अत शेषकालमे उसका प्रयास करना निष्फल हुआ।

इसका उत्तर देते है—मरण समय जो रत्नत्रयकी विराधना है वह ससारको बहुत दीर्घ करती है। किन्तु अन्यकालमें विराधना होनेपर भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेपर ससारका उच्छेद होता ही है। अत मरणकालमे प्रयत्न करना चाहिए यह हमने कहा है। अन्य कालोमे धारण किया गया रत्नत्रय सवर, निर्जरा और घातिकर्मोंका क्षय करनेमें निमित्त होता है इसलिए उसे हम स्वीकार करते ही है। तत्त्वार्थसूत्रमे कहा है—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि अनन्तानुबन्धी-कषायका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशम श्रेणीवाला, उपशान्तमोह, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोह और जिन इनके क्रमसे असंख्यातगुनी असख्यातगुनी निर्जरा होती है।

एतेषामसंख्यातगुणनिर्जरा' सम्यग्दर्शनादिगुणनिमित्तात्कथमफलता । क्षायिक सम्यक्त्व ज्ञानं चारित्रं च यत्साध्यं तदखिलमवाप्यत एव इतरकालवृत्तयापि भावनया ।

तदेव चोद्यं चोद्यते इति चेतसि कृत्वा सूरिश्चोद्यानुसारेणापि परिहर्तुं शक्यते इत्याचष्टे—

आराहणाए कज्जे परियम्म सव्वदा वि कायव्वं ।
परियम्मभाविदस्स हु सुहसज्झाराहणा होइ ।। १९ ।।

आराहणाए कज्जे इति । आराधनाशब्द. सम्यग्दर्शनादिपरिणामसम्यक्सिद्धिमनाश्रितकालभेदा प्रतिपादयितु उद्यतोऽपि मरणे विधायित्ता इत्यत्र मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकरणानुरोधेन तद्विषयायामेवाराधनायां गृह्यते । ततोऽयमर्थ —मृतिकालगोचररत्नत्रयसिद्धयर्थं **'परियम्मं'** परिकर्म परिकर । **'सव्वदा'** सर्वस्मिन्नपि काले—ग्रहणकाल , शिक्षाकाल , प्रतिसेवनाकाल सल्लेखनाकालश्चेह सर्वशब्देन गृह्यते । **'करणिज्जं'** अवश्यकरणीय । कुतोऽय नियोग इत्याशङ्क्याह—**'परिकम्मभाविदस्स'** 'खु' परिकरेण भावितस्यैव **'खु'** शब्दोऽवधारणार्थ । **'सुखसज्झा'** होदि' सुखेन क्लेशमतरेण साध्या भवति । का **'आराधणा'** आराधना मृतिगोचरा ।

येन हि यत्साध्य तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यमु अर्थ दृष्टांतबलेन साधयितुमुत्तरसूत्रम् । तथा च वदति **'दृष्टांतसिद्धावुभयोर्विवादे साध्य प्रसिद्धयेत्'** [स्वयभू० स्तो० ५४] इति ।—

जह रायकुलपसूओ जोग्ग णिच्चमवि कुणइ परियम्मं ।
तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि ।। २० ।।

तो जब इनके सम्यग्दर्शन आदि गुणोके निमित्तसे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है तो वे निष्फल कैसे है ? जो साध्य है क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र वह सब, अन्यकालमे की गई रत्नत्रय भावनासे प्राप्त होता ही है ।।१८।।

उक्त गाथामे उठाये गये तर्कको मनमे रखकर आचार्य तर्कके अनुसार भी उसका परिहार हो सकता है यह कहते है—

गा०—आराधनाके कार्यके लिये परिकर्म सभी कालमे करना चाहिये; क्योकि परिकर्म करने वालेके ही आराधना सुखपूर्वक साध्य होती है ।।१९।।

टी०—यद्यपि आराधना शब्द कालभेदका आश्रय न लेकर सम्यग्दर्शन आदि परिणामोकी सम्यक् सिद्धिको कहता है तथापि १५ वी गाथामे 'मरणे विराधयित्ता' ऐसा कहनेसे मरणकाल विशेषके प्रस्तुत होनेसे प्रकरणके अनुरोधसे मरणकाल सम्बन्धी आराधनाके अर्थमे यहाँ लिया गया है । तब यह अर्थ होता है—मरते समयके रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सर्वदा, ग्रहणकाल, शिक्षाकाल, प्रति सेवनाकाल और सल्लेखना काल इन सब कालोमे परिकर्म अर्थात् सम्यक्त्वादि अनुष्ठान करना चाहिये, क्योकि जो अन्यकालोमे भी रत्नत्रयके परिकरका पालन करता है उसीके मरते समयकी आराधना सुखपूर्वक होती है ।।१९।।

जो व्यक्ति जिस कामको सिद्ध करना चाहता है उसे पहले उसकी साधन सामग्रीका आयोजन करना चाहिये, इस बातको दृष्टान्तके बलसे साधन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं । क्योकि समन्तभद्र स्वामीने कहा है कि वादी और प्रौर प्रतिवादीमें विवाद हो तो दृष्टान्तकी सिद्धि होने पर साध्यकी सिद्धि होती है—

'जह' यथा । **'राजकुलपसूदो'** राजपुत्र । **'जोग्गं'** योग्य । प्रहरणक्रियाया **'परियम्मं'** परिकर्म परिकर । **'णिच्चमवि'** समरकालात्प्राक् प्रतिदिवसमपि । **'कुणदि'** करोति । **'तो'** तत पश्चात् । **'जिदकरणो'** क्रियते रूपादिगोचरा· विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इद्रियाण्युच्यते क्वचित्करणशब्देन । अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यदतिशयितं साधक तत्करणमिति साधकतममात्रमुच्यते । क्वचित्तु क्रियासामान्यवचन यथा 'डुकृञ् करणे' इति । अत्र क्रियावाची गृहीत । जितशब्दश्च स्ववशीकरणवृत्तिस्तथा जितभार्य स्ववशीकृतभार्य इति गम्यते। तेनायमर्थ· स्ववशीकृतक्रिय· सन् **'जुद्धे'** युद्धे समरे **'कम्ममसत्थो'** कर्मसमर्थ । कर्मशब्दो ऽनेकार्थ । मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमादकषायैर्ज्ञानप्रतिबधादिसामर्थ्याध्यासितानि क्रियते इति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । कर्तु क्रियया व्यापक-त्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा **'कर्मणि द्वितीयेति'** । तथा क्रियावचनोऽपि अस्ति, कि कर्म करोषि ? का क्रिया-मित्यर्थ· । इह क्रियावाची गृहीत । सा चात्र क्रियाऽच्यवनप्रहरणताडनादिका तस्या **'समत्थो भविस्सदि'** समर्थो भविष्यामीति । यो यत्साधयितु वाछति स तत्परिकर्मणि प्राक् प्रयतते, यथा रिपून्निहन्तुकामो हनन-कर्मोपाय अस्त्रशिक्षा करोति इत्येतावानर्थो दर्शितोऽनया गाथया ।

इदानी हेतो पक्षधर्मयोजनायाह—

इयसामण्णं साधू वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं ।
तो जिदकरणो मरणे झाणसमत्थो भविस्सहदि[1] ॥ २१ ॥

गा०—जैसे राजपुत्र योग्य शस्त्र प्रहारका अभ्यास युद्धकालसे पहले प्रतिदिन भी करता है । पश्चात् शस्त्र प्रहार रूप क्रियाको अपने अधीन करके युद्ध करनेमे समर्थ होता है ॥२०॥

टी०—जिनके द्वारा रूपादि विषयक ज्ञान किया जाता है उन्हे करण कहते है । इस प्रकार कही 'करण' शब्दसे इन्द्रियाँ कही जाती है । अन्यत्र क्रियाकी निष्पत्तिमे जो सर्वाधिक साधक होता है उसे करण कहते है । साधकतमको करण कहा है । कही पर करण शब्द क्रिया सामान्यका वाचक है जैसे 'डुकृञ् करणे । यहाँ करण शब्द क्रियावाची ग्रहण किया है । और जित' शब्दका अर्थ अपने वशमे करना है । जैसे 'जितभार्य शब्दमे भार्याको अपने वशमे करने वाले पुरुषका बोध होता है । अत· 'जितकरण' का अर्थ क्रियाको अपने वशमे करने वाला होता है ।

इसी तरह 'कम्मसमत्थो' मे कर्म शब्दके अनेक अर्थ है । मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायके द्वारा ज्ञानको रोकने आदिकी शक्तिसे युक्त जो किये जाते है उन ज्ञानावरण आदिको कर्म कहते है । तथा कर्ताकी क्रियाके द्वारा व्यापक होने रूपसे जो विवक्षित होता है उसे भी कर्म कहते है । जैसे 'कर्म मे द्वितीया विभक्ति होती है' । कर्म शब्द क्रियावाचक भी है । जैसे क्या कर्म करते हो अर्थात् क्या क्रिया करते हो । यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची लिया है । यहाँ मारना, प्रहार करना आदि क्रिया ली गई है ।

जो जिसको साधन करना चाहता है वह पहले उसके परिकर्ममे लगता है जैसे जो शत्रुओ को मारना चाहता है वह मारनेके उपाय अस्त्र शिक्षामे लगता है । इतना अर्थ इस गाथासे बत-लाया है ॥२०॥

अब उक्त दृष्टान्तकी योजना प्रकृत चर्चामे करते है—

गा०—इसी प्रकार साधु भी ध्यानका परिकर्म जो (सामण्ण) श्रामण्य है उसे नित्य भी

१ भविस्सति–मु० ।

इय सामण्णमिदि । '**इय**' एव । '**सामण्ण**' समणस्स भावो सामण्ण समता इत्यभियुक्ता निरुक्ति-मत्राहु । **भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययौ** इति भावशब्देन द्रव्यशब्दस्य वृत्तौ [1]निमित्तभूतो गुण उच्यते । **तथा चोक्तम्—'यस्य गुणस्य भावाद्द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति'**, ततोऽत्रापि समण इत्यस्य शब्दस्य जीवे प्रवृत्तौ किं निमित्त गुण समता, क्व जीविते, मरणे, लाभेऽलाभे, सुखे, दु खे, बधुषु, रिपौ च । एतेषु राग. क्वचित्क्वचिद्द्वेषश्वासमानता, तदुभयाकरण जीवितादिस्वरूपपरिज्ञान समचित्तता । अर्थयाथात्म्यग्राहित्वेन जीवितादिविषयाणा ज्ञानाना समता । जीवित नाम प्राणधारण तदायुरायत्त न ममेच्छया वर्तते, सत्यामपि तस्या प्राणानामनवस्थानात् । सर्वं हि जगदिच्छति प्राणानामनपाय न च तेऽवतिष्ठन्ते । मरण नाम इद्रियादि-प्राणेभ्यो विगम आत्मन । तथा चोक्तम्—'**मृङ् प्राणत्यागे**' [ ] इति । त्यागो हि वियोग आत्मन सकाशात् प्राणाना पृथग्भाव । स चायु सज्ञिताना पुद्गलाना अशेषगलनात् । अत्र द्रव्येंद्रियाणा उपघातकशरादिद्रव्य-सपाताद्भावेद्रियस्य चोपयोगस्य विनाश तदा [2]वरणोदयात् । तदुदयादेव च लब्धेरभाव । वीर्यान्तिरायोदया-त्त्रिविधबलप्राणहानि । मुखस्य नासिकायाश्च विधानात् श्लेष्मादिनावरोधात् उच्छ्वासनिश्वासहानि । अभिमतस्य लाभो लाभातरायक्षयोपशमात् । अलाभस्तदुदयात् । सुख नाम प्रीति सद्वेद्योदयात् अभिलषित-विषयसान्निध्यात् । दु ख तु बाधात्मकमसद्वेद्योदयहेतुकम् । बधवो नाम न नियता केचन सन्ति । सगृतौ

करता है, कि इसके पश्चात् मनको वशमे करके मै मरते समय ध्यानमे समर्थ होऊँगा ॥२१॥

टी०—समणके भावको सामण्ण कहते है ऐसी निरुक्ति विशेषज्ञोने की है । 'सामण्ण'का अर्थ समता है । द्रव्य शब्दमे प्रवृत्तिका निमित्त जो गुण होता है उसे भाव शब्दसे कहते है । कहा भी है—जिस गुणके होनेसे द्रव्यमे शब्दका निवेश होता है उसके वाचक शब्दसे त्व और तल प्रत्यय होते है । यहाँ भी समण शब्दकी जीवमे प्रवृत्तिका गुण समता है अर्थात् समता गुणके कारण ही जीवको समण कहा जाता है । जीवनमे मरणमे, लाभमें अलाभमे, सुख और दु खमे, बन्धुमे और शत्रुमे समान भावको समता कहते है । और इनमे किसीसे राग और किसीसे द्वेष करना असमा-नता है । और राग-द्वेषका न करना तथा जीवन आदिके स्वरूपको जानना समचित्तता है । जीवन आदि विषयोके ज्ञान यथार्थग्राही होनेसे समतारूप है ।

प्राणधारणको जीवन कहते है । वह आयुके अधीन है मेरी इच्छाके अधीन नही है । मेरी इच्छाके होने पर भी प्राण नही ठहरते । सर्व जगत चाहता हे कि हमारे प्राण बने रहे । किन्तु वे नही रहते । आत्माके इन्द्रिय आदि प्राणोके चले जानेको मरण कहते है । कहा भी है—मृङ् धातु प्राणत्यागके अर्थमे है । त्याग वियोगको कहते है । आत्मासे प्राणोका पृथक् होना वियोग है । वह आयुकर्म सम्बन्धी पुद्गलोके पूर्णरूपमे समाप्त होनेसे होता है । उपघातक बाण आदिके लगनेसे द्रव्येन्द्रियोका विनाश होता है और उपयोगरूप भावेन्द्रियका विनाश ज्ञानावरणके उदयसे होता है । उसीके उदयसे लब्धिरूप भावेन्द्रियका विनाश होता है । वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे मनोबल, बचनबल और कायबल रूप प्राणोकी हानि होती है । मुख और नाकको बन्द करनेसे या जुखाम-से उनकी रुकावट होनेसे श्वासोच्छ्वास प्राणकी हानि होती है । लाभान्तरायके क्षयोपशमसे इष्ट वस्तुका लाभ होना है और उसके उदयसे लाभ नही होता । सुख प्रीतिको कहते है वह सातावेद-नीयके उदयसे इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे होता है । दु ख बाधारूप होता है उसमे असाता वेदनीयका

---

१ निवृत्त ततो आ० मु० । २. विषशस्त्रादा–आ० मु० ।

परिभ्रमत उपकारापेक्षा हि ते। यदि त एव अन्यदा कृतापकारा इति किन्नारय.? अरयोऽपि कदाचिदु-पपादितानुग्रहा इति किं न बधव ? अपि च स्नेहस्य सर्वासयममूलस्य हेतुतया सन्मार्गप्रतिबधकारितया च ते एव **महाशत्रव**:। किं च पुण्योदयादेव सपद्यते सकल सुख सुखहेतुवस्तुसान्निध्य च। विपुण्यस्य न ते किंचिदपि **कतु**ं क्षमा.। न च **कुर्वन्ति**। तथा हि—मातर त्यजति पुत्र सा च सुत। तथाऽसत्यसद्वेद्योदये न कश्चित्किं-**चिदप्यपकार करोति**। बाह्या हि शत्रवो नाभ्यतरकर्मणि असति पीडामुपजनयन्ति। इत्येवभूता सर्वत्र सम-**चित्तता सामण्ण**। **'साधू वि'** साधुरपि। **'कुणदि'** करोति। **'णिच्चमवि'** नित्यमपि सर्वदापि। **'जोगपरिकम्म योगशब्दोऽनेकार्थ**। 'योगनिमित्त ग्रहण' इत्यात्मप्रदेशपरिस्पद त्रिविधवर्गणासहायमाचष्टे। क्वचित्सबधमात्र-**वचन** 'अस्यानेन योग' इति। क्वचिद्धधानवचन यथा 'योगस्थित' इति। इहाय परिगृहीत। ततो ध्यान-**परिकर** करोतीति यावत्। रागद्वेषमिथ्यात्वासश्लिष्ट अर्थयाथात्म्यस्पर्शि प्रतिनिवृत्तविषयातरसचार ज्ञानं **ध्यानमित्युच्यते**। अभावितसमानभावोऽनधिगतवस्तुसद्भावश्च न ध्यातु क्षम इति भाव। **''तो'** तत **पच्चा-ज्जिलकरणो'** इत्यत्र करणशब्द अत करणे मनसि वर्तते। ततोऽयमर्थ स्ववशीकृतचित्तोऽह मरणे भवपर्यायनाश वेलाया। **'झाणसमत्थो'** ध्यानस्यैकाग्रचिन्तानिरोधस्य। ध्यानशब्दोऽत्र प्रशस्तध्यानविषये ग्राह्यो नाऽशुभ-योर्नारकतिर्यग्गतिनिर्वर्तनप्रवणयो। **योगे** परिकर्मणि सदात्मन प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता धर्मशुक्लयोर्निर्वर्तने **'समत्थो'** शक्त **''भविस्सति'** भविष्यामीति॥

उदय हेतु है। बन्धु कोई नियत नही है। ससारमे भ्रमण करते हुए जीवका जो उपकार करते है वे बन्धु कहे जाते है। यदि वे ही कभी अपकार करते है तो शत्रु हो जाते है। शत्रु भी कभी-कभी उपकार करते हैं तो वे बन्धु क्यो नही है ? तथा स्नेह समस्त असयमका मूल हेतु और सन्मार्गमे रुकावट डालने वाला है। अत जिन्हे हम बन्धु मानते है वे ही महाशत्रु है। तथा पुण्यकर्मके उदय-से ही सर्व सुख और सुखकारक वस्तुओकी प्राप्ति होती है। जो पुण्यहीन है उसका सुखके साधन भी कुछ नही कर सकते। माता पुत्रको त्याग देती है और पुत्र माताका त्याग देना है। तथा असाता वेदनीयके उदयके अभावमे कोई किंचित् भी अपकार नही कर सकता। अभ्यन्तर कर्मके अभावमे बाह्य शत्रु पीडा नही पहुँचाते। इस प्रकारसे सर्वत्र समचित्तताको सामण्ण कहते है। 'जोगपरिकम्म'मे योग शब्दके अनेक अर्थ है। 'योगनिमित्त ग्रहण' यहाँ मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होने वाले आत्माके प्रदेशोके हलनचलनको योग कहा है। कही योग शब्दका अर्थ सम्बन्धमात्र है। जैसे 'इसका इसके साथ योग है।' कही योगका अर्थ ध्यान है। जैसे 'योगस्थित' मे योगका अर्थ ध्यान है। यहाँ योगका अर्थ ध्यान लिया है। राग-द्वेष और मिथ्यात्व से अछूते, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले और अन्य विषयोंमे सचार न करने वाले ज्ञानको ध्यान कहते है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसने समानताकी भावना नही भायी है और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाना ह वह ध्यान नही कर सकता। 'जितकरणो' मे करण शब्द अन्त करण मनके अर्थमे है। अत यह अर्थ हुआ कि 'मरते समय मेरा चित्त मेरे वशमे है'। 'झाण-समत्थो' मे ध्यान शब्दका अर्थ एक ही विषयमे चिन्ताका निरोध करना है। यहाँ ध्यानसे प्रशस्त ध्यान ग्रहण करना, नरक गति और निर्यञ्चगतिमे ले जाने वाले अशुभ ध्यान नही लेना। योगके परिकर्ममे तो आत्मा सदा लगा रहता है अत उसके लिये प्रयत्न नही करना पडता। यहाँ योगसे शुभध्यान लिया गया है। अत उसका परिकर्म—अभ्यास करना होता है जिससे मरते समय मै

१. ग्राह्यो शुभ-अ० आ० ज०।

कृतपरिकरो राजपुत्रो व्यधनादिकासु क्रियासु उपगतकौशल क्रिया प्रहरणादिका सपाद्य यथाफलं प्राप्नोति इति एतदुत्तरगाथयाचष्टे जोगाभाविद इत्यनया—

जोगाभाविदकरणो सत्तू जेदूण जुद्धरंगम्मि ।
जह सो कुमारमल्लो रज्जवडायं बला हरदि ।।२२।।

जोगाभाविदकरणो परिकमणा असकृत्प्रवर्तितव्यधनताडनप्रहरणादिक्रिय । आभावित इत्यत्राङ् भृशार्थे प्रयुक्त । तथा च प्रयोग —आधूमित भृश धूमेन परिपूर्णमित्यर्थ । '**सत्तू**' शत्रून् । '**जेदूण**' जित्वा । '**जुद्धरंगम्मि**' युद्धार्थ सस्कृता देशो युद्धरगमित्युच्यते तत्र । '**जह**' यथा । '**सो**' स भावितात्मा । '**कुमारमल्लो**' प्राणिना कालकृतोऽवस्थाविशेषो द्वितीय कुमारत्व नाम । तद्योगाद्राजपुत्र कुमार स एव मल्ल । '**रज्जपडाग** राज्यध्वज । '**बला**' बलात्कारेण । **हरदि**' हरति गृह्णाति ।।२२।।

दार्ष्टान्तिके योजयितु उत्तरगाथा—

तह भाविदसामण्णो मिच्छत्तादी रिवू विजेदूण ।
आराहणापडायं हरइ सुसंथाररंगम्हि ।।२३।।

'**तह भाविदसामण्णो**' इति । '**तह**' तथैव राजपुत्रवदेव । '**भाविदसामण्णो**' भावितसमानभाव । पुव्वमिति शेष । '**मिच्छत्तादी**' मिथ्यात्वासयमकषायाशुभयोगा इत्येतान् । '**रिवू**' रिपून् । '**विजेदूण**' भृश जित्वा । विशब्दो भृशार्थे प्रयुक्त । यथा विवृद्धो मल्ल भृश वृद्ध इति यावत् । अथवा '**विजेदूण**' नानाप्रकार जित्वा यथा विचित्रमिति नानाचित्रमिति यावत् । एकान्तमिथ्यात्व, सशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व

धर्म और शुक्ल ध्यान करनेमे समर्थ हो सकूँ ।।२१।।

'जैसे अभ्यास किया हुआ राजपुत्र लक्ष्यको वेधने आदिकी क्रियामें कुशलता प्राप्त करके शस्त्रप्रहार आदिके द्वारा राज्य लाभ करता है' यह आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—जैसे अभ्यासके द्वारा बार-बार लक्ष्यवेध शस्त्रप्रहार आदि क्रियामे दक्ष वह योद्धा राजपुत्र युद्धभूमिमे शत्रुको जीतकर राज्यके ध्वजको बलपूर्वक हरता है ।।२२।।

टी०—'जोगाभाविदकरणो' मे आभावित शब्दमे जो 'आ' है उसका अर्थ बार-बार या बहुत अधिक है। जसे 'आधूमित' का अर्थ धुएँसे अच्छी तरह भरा हुआ है। जो स्थान युद्धके लिए तैयार किया गया हो उसे युद्धरग कहते है। प्राणियोकी कालकृत जो दूसरी अवस्था विशेष होती है उसे कुमार अवस्था कहते हैं। उस अवस्थाके सम्बन्धसे यहाँ राजपुत्रको कुमार कहा है। अर्थात् जैसे युद्धमे दक्ष राजपुत्र शत्रुको जीतकर बलपूर्वक उसकी राज्यपताका हर लेता है वैसे ही आगे इस दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमे लगानेके लिए उत्तरगाथा कहते है—

गा०—उस राजपुत्रकी ही तरह पूर्वमे समानभावका अभ्यासी साधु मिथ्यात्व आदि शत्रुओको पूरी तरहसे जीतकर शोभनीय सस्तररूपी रगभूमिमे आराधनारूपी पताकाको ग्रहण करता है ।।२३।।

टी०—मिथ्यात्व आदिमे आदि शब्दसे मिथ्यात्व असयम, कषाय और अशुभयोग लेना। 'विजेदूण' मे 'वि' शब्दका अर्थ बहुत या पूरी तरह है। जेसे 'विवृद्धो मल्ल.' का अर्थ बहुत अधिक बढ़ा हुआ योद्धा है। अथवा 'विजेदूण' का अर्थ 'नानाप्रकारसे जीतकर' होता है। जैसे विचित्रका अर्थ नानाचित्र होता है।

इत्यनेकधा मिथ्यात्वपरिणामाः स्थिताः । तत्रैकान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवादेर्नित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकम् । असदुत्पत्त्या सतो निरोधे वा अनित्यता भवति । न चासत उत्पत्तिर्यदि स्याद्गगनकुसुमादिकं किन्नोपजायते ? असत्वाविशेषे खकुसुमादेर्घटादेश्च घटादिकं उपजायते न वियत्कुसुमादिकं इत्यत्र न नियामकं हेतुं पश्याम । न च सद्विनश्यति, विनाशो ह्यसत्वं, भावाभावौ हि परस्परपरिहारस्थितलक्षणौ नैकतां यातः । न भावोऽभावो भवति, इत्थममसत्वे उत्पादनिरोधयोरभावान्नित्यतैवावतिष्ठते इति इदमेकं मिथ्यात्वं । एतस्य जय उच्यते—न नित्यतैव वस्तुनो रूपं, अनित्यताया अपि प्रमाणममधिगम्यत्वात् । रागद्वेषमिथ्यात्वसंशयविपर्ययादीनां आत्मनि सतां पश्चादनुभवप्रतिष्ठापितमसत्वमनुभवोपनीतं[1] चासत्वं प्रागनुभूतानामित्यनित्यता । पुद्गलद्रव्यस्यापि मेघादेर्वर्णान्यथाभावः आम्रफलादीनां रूपरसगंधाद्यन्यथाभावश्च प्रत्यक्षग्राह्योऽशक्यापन्हवः । तथानुमानग्राह्यश्च—यत्सत्तत्सर्वं नित्यानित्यात्मकं यथा घटस्तथा च जीवादिकं सदिति कारणानां प्रतिनियतजननस्वभावकार्यत्वात् । घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युत्पत्तिः न खरविषाणादेः । न च भावाभावयोर्विरोधः एकस्मिन्वस्तुन्येकदा प्रवृत्तेः रूपरसादीनामिव । अपररूपेणासत्वं सति विद्यते न वा । यद्यस्ति न विरोधः, न चेत्सर्वात्मकता । न ह्यभावो नाम भावादन्यः । अपि तु भावस्यैव रूपान्तरम् । ततोऽयुक्तो

एकान्तमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व, इत्यादि मिथ्यात्वपरिणाम अनेक प्रकार है। जीवादिवस्तुका स्वभाव नित्यता ही है, अनित्यता नहीं है इसे एकान्तमिथ्यात्व कहते है। असत्‌की उत्पत्ति नही होती। यदि होती है तो आकाशका फूल क्यो नही उत्पन्न होता ? जब आकाशका फूल और घट दोनो ही असत् है तो घटादि तो पैदा होते है और आकाशका फूल पैदा नही होता, इसमे कोई नियामक हेतु हम नही देखते। तथा सत्‌का विनाश नही होता। विनाश कहते है असत्त्वको। किन्तु भाव और अभाव दोनो भिन्न हैं, दोनोके लक्षण भिन्न है। वे कभी एक नही हो सकते। भाव-अभाव नही होता। इस प्रकार असत्वमे उत्पाद और विनाशका अभाव होनेसे नित्यता ही ठहरती है। यह एक मिथ्यात्व है। अब इसको जीतनेका कथन करते है।

वस्तुका रूप केवल नित्यता ही नही है, अनित्यताका भी प्रमाणसे बोध होता है। राग, द्वेष, मिथ्यात्व, संशय, विपर्यय आदि आत्मामे पहले सत् प्रतीत होते है। पीछे अनुभवके द्वारा उनका असत्त्व प्रतिष्ठापित होता है। तथा पहले उनका आत्मामे अनुभव होता है और पीछे अनुभवसे ही उनका असत्त्व ज्ञात होता है। इसलिए ये अनित्य है। पुद्गलद्रव्य मेघ आदिका रूप भी बदलता देखा जाता है। आम्रफल आदिमे रूप, रस, गन्ध आदिका बदलना प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसका लोप करना अशक्य है। तथा अनुमान प्रमाणसे भी उसका ग्रहण होता है, जो इस प्रकार है—जो सत् है वह सब नित्यानित्यात्मक है, जैसे घट। उसी तरह जीवादि भी सत् होनेसे नित्यानित्यात्मक है। कारणोका स्वभाव प्रतिनियत कार्योको ही उत्पन्न करना है। घटादिके उत्पन्न करनेवाले कारण है इसलिए उनकी उत्पत्ति होती है। गधेके सीग जैसे असम्भव कार्योको उत्पन्न करनेवाले कारण नही है इसलिए उनकी उत्पत्ति नही होती। तथा भाव और अभावमे कोई विरोध नही है, रूप रस आदिकी तरह एक वस्तुमे दोनों एककालमे रहते है। जो वस्तु सत् है वह अपनेसे भिन्न वस्तुकी अपेक्षा असत् है या नहीं ? यदि है तो भाव अभावमे विरोध नही रहा। और यदि कहोगे कि नही है तो वह वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी; क्योकि उसमे किसी

१ त सत्त्वं प्रागननुभू—आ० मु०।

नित्यस्वैकान्तवाद इति। एवभूतया तत्त्वश्रद्धया पराभूयते नित्यमेवेति मिथ्यात्वम्। (तथा क्षणिकमेव सर्वं कथं कार्यकारि, यद्वस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहोऽभावलक्षण) कार्यकारिता च न नित्यस्य। कथ तद्धि नित्य स्वसं पाद्य क्रमेण वा कुर्याद्युगपदेव वा ? न तावत्क्रमेण कार्यात्मलाभस्य कारणस्वभावसान्निध्यमात्रपराधीनत्वात्। सर्व कार्यप्रादुर्भूतिहेतूना सामर्थ्याना सदा सान्निध्यत्वात् कुत कार्याणा क्रम। समर्थहेतुभावेऽप्यभावे न तत्तस्य कार्य स्यात्। यथा सन्निहितेऽपि यवबीजेऽनुपजायमानस्य शाल्यकुरस्य न यवबीजकार्यता। युगपत्करोति चेत् द्वितीयादौ क्षणेऽकिंचित्करता स्यान्न च तया दृश्यते। इत्य नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्याभावात्, अनित्ये सद्भावात् क्षणिकमेवेत्यध्यवमायो मिथ्यात्वमेव। तस्य जय उच्यते—सत्य सर्वथा नित्ये वस्तुलक्षणे नास्त्युक्तया नीत्या नित्याऽनित्यात्मके तु सभविनी कार्यकारिता। एकान्तेन क्षणिकतैव वस्तुनो यदि रूपं कार्यकारिता नास्ति। एकस्य वस्तुन एकमेव रूप नापरमिति प्रतिज्ञानात्। एवमन्यत्रापि योज्य[1] एकान्तमिथ्यात्वजय। सशयमिथ्यात्व वस्तुस्वरूपावधारणात्मक तस्य जय कथंचिन्नित्यानित्यात्मका सर्वे भावा इति भावनया। विपर्ययमिथ्यात्व हिंसाया दुर्गतिवर्तिन्या स्वर्गादिहेतुतावसितिज्ञानम्, अहिंसायाश्च प्रत्यपायहेतु-

वस्तुका अभाव नही है। अभाव भावसे भिन्न नही है। किन्तु भावका ही रूपान्तर अभाव है। अत एकान्तनित्यवाद अयुक्त है। इस प्रकारकी तत्त्वश्रद्धासे 'नित्य ही है' यह मिथ्यात्व हट जाता है।

तथा सब क्षणिक भी कैसे कार्यकारी है ? वस्तुमे सब सामर्थ्यका अभाव तो अभावका लक्षण है इसपर बौद्ध कहता है—

नित्यपदार्थ कार्यकारी नही है। वह नित्यपदार्थ अपना कार्य क्रमसे करता है अथवा एकसाथ करता है ? क्रमसे तो कार्य कर नही सकता क्योकि कार्यको उत्पत्ति कारण स्वभावमात्रके अधीन है। जब नित्यपदार्थमे सब कार्योको उत्पन्न करनेकी शक्तियाँ सदा वर्तमान है तब कार्य क्रमसे कैसे हो सकते है ? समर्थकारणके रहते हुए भी यदि कार्य नही होता तो उसे उस कारणका कार्य नही माना जा सकता। जैसे जौ बीजके रहते हुए भी उससे धानका अकुर नही उगता। अत धानका अकुर जौबीजका कार्य नही होता। यदि कहोगे कि नित्य एकसाथ सब कार्यो को उत्पन्न करता है तो दूसरे आदि क्षणोमे वह नित्यपदार्थ अकिंचित्कर हो जायेगा, क्योकि सब कार्य पहले क्षणमें ही उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमे उसे करनेके लिए कोई कार्य शेष नही रहेगा। किन्तु ऐसा नही देखा जाता। इस प्रकार नित्यवस्तुमे वस्तुका लक्षण कार्यकारीपना नही बनता। अत अनित्यमे कार्यकारीपना होनेसे सब क्षणिक ही है। जैन कहते है—इस प्रकार निश्चय करना भी मिथ्यात्व ही है। अब उस मिथ्यात्वको जीतनेका उपाय कहते है—

यह सत्य है कि उक्तनीतिके अनुसार सर्वथा नित्यवस्तुमे कार्यकारिता नही है किन्तु नित्यानित्यात्मकवस्तुमे कार्यकारिता है। यदि वस्तुका स्वरूप सर्वथा क्षणिकता है तो उसमे कार्यकारीपना नही है। क्योकि आपने एकवस्तुका एक ही रूप माना है दूसरा नही माना। इसी प्रकार अन्यत्र भी एकान्तमिथ्यात्वको जीतनेकी योजना करनी चाहिए।

वस्तुके स्वरूपका कुछ भी निश्चय न करना सशयमिथ्यात्व है। सब पदार्थ कथंचित् नित्यानित्यात्मक है इस भावनासे उसको जीतना चाहिए। दुर्गतिमे ले जानेवाली हिंसाको

१ चोद्य आ० मु०।

तेति एतस्य जय' । परोक्षस्योपायोपेयभावस्य अप्रत्यक्षत्वात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभाविनस्तत्रावृत्ते । आगम' सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीत उपेयोपायतत्त्वस्य ख्यापक आश्रयणीय । कपिलादीनामसर्वज्ञतया न तत्प्रणीत आगमोऽदृष्टप्रतिपत्तावुपाय' । तदसर्वज्ञता दृष्टेष्टप्रमाणविरुद्धवचनतया रथ्यापुरुषवत् । नित्यस्तु न शब्दो विद्यते । यदि स्यात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषदोषानुपश्लिष्टतास्तीति प्रामाण्य भवेत् ततो जिनागमेन हिंसाया दु खहेतुत्वप्रतीतेर्विपर्ययमिथ्यात्वप्रसिद्धि तस्य जय अविपरीतज्ञानेन । **'आराधणापडायं'** आराधना-पताका । **'हरदि'** गृह्णाति । **'सुसंथाररंगम्मि'** शोभनासस्तररगे उद्गमादिदोषानुपहतता शोभनता ॥

चिरमभावितरत्नत्रयाणामतर्मुहूर्तकालभावनाना सिद्धिरिष्यते तत्किं चिरभावनयेत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पुव्वमभाविदजोग्गो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई ।
खण्णुगदिठ्ठंतो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ॥२४॥

'पुव्वं' पूर्व मरणकालात् । **'अभावितजोग्गो'** अभावितपरिकर । **'आराधेज्ज'** आराधयेत् । किं मरणं रत्नत्रयानुगतभवपर्यायप्रलय । **'जदि वि'** यद्यपि । **'कोई'** कश्चित् । **'खण्णुगदिठ्ठंतो'** स्थाणुदृष्टान्त । **'सो'** स । **'तं खु'** तदेव । अकृतपरिकरस्य कस्यचिद्रत्नत्रयसमापन्न । **'सव्वत्थ'** सर्वत्र । **'ण पमाण** न पमाण । अर्थाख्यानमत्र वाच्यम् ॥२४॥

एव पीठिका समाप्ता ॥

स्वर्गादिका हेतु मानना और अहिंसाको दुर्गतिका कारण मानना विपर्ययमिथ्यात्व है । इसकी जयका उपाय कहते है—

उपायपना और उपेयपना परोक्ष है, प्रत्यक्ष नही है । प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला अनुमान भी उन्हे नही जान सकता । रागद्वेषसे रहित सर्वज्ञके द्वारा कहा गया आगम ही उपाय और उपेयभावको बतलाता है उसीका आश्रय लेना चाहिए । कपिल आदि सर्वज्ञ नही थे । अत उनके द्वारा कहा गया आगम अदृष्टको जाननेका उपाय नही है । कपिलादिके वचन सडकपर घूमते आदमीकी तरह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्ध है अत वे सर्वज्ञ नही है । तथा यह कहना कि वेद नित्य है ठीक नही है क्योकि शब्द नित्य नही होता । यदि शब्द नित्य हो तो सभी शब्दोके नित्य होनेसे पुरुषोके दोष उसमे नही प्रवेश कर सकते अत सभी शब्द प्रमाण मानने होगे । अत' जिनागमसे प्रसिद्ध है कि हिंसा दु खका कारण है अत' उसे सुखका कारण मानना विपर्यय-मिथ्यात्व है । अविपरीत सच्चे ज्ञानसे उसको जीता जाता है ॥२३॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि जिन्होने चिरकाल तक रत्नत्रयकी भावना नही भायी है, केवल अन्तर्मुहूर्तकालतक ही रत्यत्रयकी आराधना की है, उनकी भी मुक्ति मानी जाती है तब आप चिरकाल भावनाकी बात कैसे करते है, इसका उत्तर देते है—

गा०—मरण समयसे पहले ध्यानके परिकरका अभ्यास न करनेवाला यद्यपि कोई मरते समय आराधना करे तो वह स्थाणुदृष्टान्मात्र है । सर्वत्र (पमाणं ण) प्रमाण नही है ॥२४॥

टी०—जैसे यदि किसीको किसी ठूँठमेसे अचानक धनका लाभ हो जाये तो उसे सर्वत्र प्रमाण नही माना जाता । उसी तरह यदि किसीने मरनेसे पूर्व रत्नत्रयका अभ्यास नही किया और कदाचित् मरते समय किया और उसे सिद्धि प्राप्त हो गई तो उसे सर्वत्र प्रमाणके रूपमे स्वीकार नही किया जा सकता ॥२४॥

इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ॥

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे ॥
तत्थ वि य पच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥२५॥

मरणान्यनेकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्दिष्टानि । तेष्विह निरूप्याणीमानीति निरूपयितु इदमुत्तरं सूत्र मरणाणीति । मरण विगमो विनाश विपरिणाम इत्येकोऽर्थ. । तच्च मरणं जीवितपूर्वम् । जीवित स्थिति-रविनाशोऽवस्थितिरिति यावत् । स्थितिपूर्वको विनाश । यदस्थितिक तन्न विनश्यति यथा बन्ध्यासुत । तथा च स्थितिरहित वस्तु क्षणिकवादिनिरूप्यं जीवित जन्मपुरोग अनुत्पन्नस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिविगमो ध्रौव्य च सर्वेषा रूपाणि । अस्या च प्रक्रियाया मरण नामोत्पन्नपर्यायविनाश । देवत्व, तिर्यक्त्वं, नारकत्वं, मनुष्यत्व, इत्यमीषा पर्यायाणा प्रध्वस इह मरणशब्दवाच्य । अथवा प्राणपरित्यागो मरण । **तथा चाभ्यधायि-मृङ्** प्राणत्यागे इति । एवमेव प्राणग्रहण जन्म, प्राणाना धारण जीवित । प्राणा द्विविधा द्रव्यप्राणा भाव-प्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, बल, उच्छ्वास, आयुरित्येतानि पुद्गलद्रव्याणि । भावप्राणा ज्ञानदर्शन-चारित्राणि । एतत्प्राणापेक्षया सिद्धाना जीवित । तत्रायुर्द्विभेद अद्धायुर्भवायुरिति च । भवधारणं भवायुर्भव शरीर तच्च ध्रियते आत्मना[1] आयुष्कोदयेन । ततो भवधारणमायुष्काख्यं कर्म तदेव भवायुरित्युच्यते । **तथा चोक्तम्**—

> **देहो भवोत्ति वुच्चदि धारिज्जइ आउगेण य भवो सो ।**
> **तो वुच्चदि भवधारणमाउगकम्म भवाउत्ति ॥** [ ]

गा०—जिनागममे तीर्थङ्करोंने मरण सतरह कहे हैं। उन सतरह प्रकारके मरणोमेसे भी यहाँ (सगहेण) सक्षेपसे पाँच मरणोको कहूँगा ॥२५॥

टी०—मरण अनेक प्रकारके है ऐसा अन्य शास्त्रोमे कहा है। उनमेसे यहाँ इन मरणोंको कहना है यह बतलानेके लिए यह गाथासूत्र आया है। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम इन सब शब्दोका अर्थ एक है। वह मरण जीवनपूर्वक होता है। जीवन, स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ये सब एकार्थक है। स्थितिपूर्वक विनाश होता है। जिसकी स्थिति नही है उसका विनाश नही है जैसे बाँझका पुत्र नही होता तो उसका विनाश भी नही होता। क्षणिकवादी बौद्धोने जिस वस्तुको कहा है उसकी स्थिति नही है अर्थात् वह वस्तु ही नही है। जीवन जन्मपूर्वक होता है। जो उत्पन्न नही हुआ उसकी स्थिति नही है। इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यरूपको लिए हुए है। इस प्रक्रियाके अनुसार उत्पन्न हुई पर्यायके विनाशका नाम मरण है। देवपना, तिर्यञ्चपना, नारकपना और मनुष्यपना इन पर्यायोका विनाश यहाँ मरणशब्दसे लिया है। अथवा प्राण छोडनेका नाम मरण है। कहा भी है—'मृङ् धातु' प्राणत्यागके अर्थमे है। इसी तरह प्राणग्रहणको जन्म कहते है। प्राणोको धारण करना जीवन है। प्राणोके दो भेद है—द्रव्य-प्राण और भावप्राण। इन्द्रिय पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये पुद्गलद्रव्य द्रव्यप्राण है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भावप्राण है। इन भावप्राणोकी अपेक्षा सिद्धोंमें जीवन होता है। उन प्राणोमे आयुप्राणके दो भेद है—अद्धायु और भवायु। भवधारणको भवायु कहते है। भव शरीरको कहते है। आयुकर्मके उदयसे आत्मा भवधारण करता है। अत आयुकर्म भवधारणरूप है उसे ही भवायु कहते हैं। कहा भी है—शरीरको भव कहते हैं। वह भव आयुकर्मके द्वारा धारण किया

१ आत्मन आ० मु०।

इति आयुर्वशेनैव **जीवो जायते** जीवति च **आयुष एवोदयेन**। अन्यास्यायुष उदये सति मृतिमुपैति पूर्वस्य चायुष्कस्य विनाशे।

तथा चोक्तम्—

आउगवसेण जीवो जायदि जीवदि य आउगस्सुदये।
अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे वा॥' इति॥ [ ]

अद्धाशब्देन काल उच्यते, आउगशब्देन द्रव्यस्य स्थिति। तेन द्रव्याणा स्थितिकाल अद्धायुरित्युच्यते। [1]द्रव्यार्थापेक्षया द्रव्याणामनाद्यनिधनं भवत्यद्धायु। पर्यायार्थापेक्षया चतुर्विध भवत्यनाद्यनिधन, साध्यनिधनं सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति। चैतन्यरूपादिमत्त्वगतिस्थितिहेतुत्वादिसामान्यापेक्षया अनाद्यनिधना स्थिति। केवलज्ञानादिकाना साद्यनिधनता। भव्यत्वस्य अनादिसनिधनता। सादिसनिधनता कोपादीनाम्। अथवा द्रव्य-क्षेत्रकालभावानाश्रित्य चतुर्विधा भवति स्थिति। एतस्याद्धायुषो वशेन भवधारणायुषो निरूपणा भवति। आयु:-सञ्जिताना कर्मणा पुद्गलद्रव्यतया आयु-स्थितेर्न द्रव्यस्थितेरत्यन्तान्यथात्व। अथवा अनुभूयमानायु सञ्ज्ञकपुद्गल-गलन मरण। तानि मरणानि **'सत्तरस' 'सप्तदश'। 'देसिदानि' 'कथितानि'। 'तित्थकरेहिं'** तीर्थकरै। **'जिण-वयणे'** जिनाना वचने। ननु तीर्थकरैरुक्तानि इत्यनेनैव गतं कि जिनवचनग्रहणेन? नैष दोष जिनशब्देन गणधरा

जाता है। इसलिए भवधारणमे कारण आयुकर्मको भवायु कहते है।

इस प्रकार आयुके वशसे ही जीव जन्म लेता है और आयुके उदयसे ही जीवित रहता है। पूर्व आयुका विनाश और आगेकी अन्य आयुका उदय होनेपर मरण होता है।

कहा है—आयुके वशसे जीव जन्म लेता है। आयुके उदयमे जीवित रहता है। अन्य आयुका उदय होनेपर अथवा पूर्वआयुका नाश होनेपर मरता है।

अद्धाशब्दसे काल कहा जाता है और आयुशब्दसे द्रव्यकी स्थिति। अत द्रव्योके स्थिति-कालको अद्धायु कहते है। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा द्रव्योकी अद्धायु अनादिनिधन है। और पर्या-यार्थिककी अपेक्षा चार प्रकार की है—अनादिअनिधन, सादिअनिधन, अनादिसान्त और सादि-सान्त। चैतन्य, रूपादिमत्ता, गतिहेतुता, स्थितिहेतुता आदि सामान्यकी अपेक्षा द्रव्योकी स्थिति अनादि अनिधन है अर्थात् जीवादिद्रव्योका अपना-अपना स्वभाव सदासे है और सदा रहेगा अतः वे सब इस दृष्टिसे अनादिअनन्त है। केवलज्ञान आदिकी अद्धायु सादिअनिधन है क्योकि वह प्रकट होकर नष्ट नही होता। भव्यत्वकी अद्धायु अनादिसनिधन (सान्त) है क्योकि भव्यत्व भाव यद्यपि अनादि होता है किन्तु मुक्त होनेपर नष्ट हो जाता है। कोप आदि सादि सनिधन है।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयमे स्थिति चार प्रकारकी होती है। इस अद्धायुके द्वारा भवधारणरूप आयुका कथन होता है। जिन कर्मोकी आयुसञ्ज्ञा होती है वे कर्म-पुद्गलद्रव्यरूप होनेसे आयुस्थिति द्रव्यस्थितिसे अत्यन्त भिन्न नही है। अथवा जो आयु सञ्ज्ञावाले पुद्गल उदयमें आ रहे है उनके गल जानेको मरण कहते है। वे मरण जिनवचनमे तीर्थङ्करोने सतरह कहे है।

शङ्का—तीर्थङ्करोने कहे हैं इतना ही कहना पर्याप्त है, जिनवचनके कहनेकी क्या आव-श्यकता है?

१. इत्यर्था–आ० मु०।

उच्यन्ते । अन्तरेण चशब्दं समुच्चयार्थगतिः । तत्राय सबन्ध.--जिनवचने च कि ? सप्तदशमरणानि । एतेन तीर्थकृतो गणधराश्च मरणविकल्पानुपपादितवन्त । तदुभयवचनसिद्धं प्रमाणमविशङ्कनीयमित्येतदाचष्टे १ आवीचिमरण २ तद्भवमरण ३ अवधिमरण ४ आदिअताय ५ बालमरणं ६ पडितमरण ७ आसण्णमरण ८. बालपडिद ९ ससल्लमरण १० बलायमरण ११ वसट्टमरण १२ विप्पाणसमरणं १३ गिद्धपुट्ठमरण १४ भत्तपच्चक्खाण १५ पाउवगमणमरण १६ इगिणीमरण १७ केवलिमरण चेति । एतेषा स्वरूपता यथागम सक्षेपतो निरूप्यते ॥

वीचिशब्दस्तरगाभिधायी इह तु वीचिरिव वीचिरिति आयुष उदये वर्तते । यथा समुद्रादौ वीचयो नैरन्तर्येणोद्गच्छन्ति एव क्रमेण आयुष्काख्य कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय आवीचिशब्देन भण्यते । आयुष अनुभवन जीवित, तच्च प्रतिसमय जीवितभगस्य मरण । अतो मरणमपि अत्र आवीचि, उदयादनन्तरसमये मरणमपि वर्तते इति । तत्पुनरावीचिकामरण अनादिसनिधन भव्यानाम् । ननु च सिद्धानामेव मरण विच्छित्तिमुपयान्ति नेतरेषा ते च न भव्या । भविष्यत्सिद्धत्वपर्याया हि भव्या । सिद्धास्त्वधिगतसिद्धत्वपर्यायास्तत किमुच्यते भव्यानामनादिसनिधनमिति । '**भवियाणमणादियं मरणं आवीचियं सणिधण च**' इति यदेवाधिगतभव्यत्वपर्याय द्रव्य तदेवेदमिति कृत्वा भव्यानामित्युक्त इति नियतम् । अभव्याना पुनरुदय प्रति सामान्या-

---

समाधान—इसमे कोई दोष नही है । यहाँ जिनशब्दसे गणधर कहे गये है । 'च' शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है । अत ऐसा सम्बन्ध लेना और जिनवचनमे सत्तरह मरण कहे है । इससे यह बोध होता है कि तीर्थङ्करो और गणधरोने मरणके भेद कहे है । अत: उन दोनोके वचनोमे सिद्ध होनेसे प्रमाण है उसमे किसी प्रकार शङ्का नही करना चाहिए । वे है—१ आवीचिमरण, २ तद्भवमरण, ३ अवधिमरण, ४ आदि अन्तमरण, ५ बालमरण, ६ पडितमरण, ७ आसणमरण, ८ बालपंडितमरण, ९ ससल्लमरण, १० बलायमरण, ११ वसट्टमरण, १२ विप्पाणसमरण, १३ गिद्धपुट्ठमरण, १४ भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५ प्रायोपगमन मरण, १६ इगिणीमरण और १७. केवलीमरण । उनका स्वरूप आगमके अनुसार सक्षेपसे कहते है—वीचीशब्द तरगको कहता है । किन्तु यहाँ वीचिके समान ऐसा अर्थ करनेसे वीचीका अर्थ-आयुका उदय है । जैसे समुद्र वगैरहमे तरगे निरन्तर उठा करती है उसी प्रकार क्रमसे आयु-नामक कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है इसलिए उसके उदयको आवीचि शब्दसे कहा है । आयुके अनुभवनको जीवन कहते है । वह प्रतिसमय होता है । उसका भग मरण है । अत जीवनकी तरह मरण भी आवीची है क्योकि आयुका उदय प्रतिसमय होता है अत प्रत्येक अनन्तर समयमे मरण भी होता है । उसी प्रति समय होनेवाले मरणको आवीचिमरण कहते है । वह भव्यजीवोके अनादिसान्त है ।

शङ्का—सिद्धोके ही मरणका अन्त होता है, दूसरोके नही । किन्तु सिद्ध भव्य नही है । जिनकी भविष्यमे सिद्धपर्याय होनेवाली है उन्हे भव्य कहते है । सिद्ध तो सिद्धपर्याय प्राप्तकर चुके है । तब कैसे कहते है कि भव्यजीवोका मरण अनादिसान्त है ?

समाधान—ऐसा कहा है कि भव्योका आवीचिमरण अनादि और सान्त है । अत जो द्रव्य भव्यत्वपर्यायको प्राप्त था वही यह है ऐसा मानकर भव्योके अनादिसान्त मरण कहा है ऐसा निश्चित है । अभव्यजीवोके सामान्य अपेक्षासे आयुका उदय बराबर रहता है अत: उनका आवीचिमरण अनादिनिधन है । किन्तु भवकी अपेक्षा और क्षेत्रादिकी अपेक्षा सादि है । चार

पेक्षयाऽऽवीचिकमनादिनिधन । भवापेक्षया क्षेत्रापेक्षया च सादिक । चतुर्णामायुष्काणा मध्ये द्वयोर्यद्यपि सत्कर्मता तथापि एकस्यैवायुष उदय । द्वयो प्रकृत्यो सत्कर्मता सह भवति । उच्यते–तिर्यङ्मनुष्यायुष्कयो सर्वेरायुर्भि सह सत्कर्मता देवनारकायुष्कयोस्तिर्यङ्मानवायुर्भ्याम् सत्कर्मता । भवतु नामैषा सत्कर्मव्यवस्था । द्वयोरायुष्कप्रकृत्यो कि तद्युगपदुदय ? अत्रोच्यते—अनुभूयमानप्रकृतिस्थितीनामुपरि इतरस्यायुषो निषेको यतस्ततो न युगपदायुष प्रकृत्योरुदय । कि च यस्मादेकस्य जीवस्य द्वयोर्भवयोर्गत्योर्वा न सभव । भव गति च प्रयोज्य अपेक्ष्य आयुष उदयो नान्यथा ततो नायुष्कद्वयोरुदय । एवमेकस्यायुष्कर्मण एकैव प्रकृतिरुदेत्येकस्यात्मनस्तस्मादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपामेव मृतिमुपैति । तदेतत्प्रकृतिमरणं कालभेदेन एकस्यापि चतुर्विध भवति तदा वीचिकमेव । एव प्रकृत्यावीचिमरण व्याख्यातम् । द्वितीय स्थित्यावीचिकमरण ।

भवधारणकारणत्वपरिणताना पुद्गलाना स्नेहादात्मप्रदेशेष्ववस्थितिरित्युच्यते । आत्मन कषायपरिणाम सहकारी पुद्गलाना स्निग्धताया परिणामिकारण तु तदेव पुद्गलद्रव्य । सा चैषा स्थितिरेकादिकैकोत्तरा देशोनत्रयस्त्रिशत्सागरोपमाणा यावन्त समयास्तावद्भेदा उत्कर्षस्थिति । अतर्मुहूर्तभवा परा । तस्या वीचय इव क्रमेणावस्थिताया विनाशादात्मनो भवति स्थित्यावीचिकमरण ।

आयुकर्मोंमेसे यद्यपि एकजीवके दो ही आयुकर्मोकी सत्ता रहती है (एक जिसे भोगता है और दूसरी जिसे परभवके लिए बाँधा है)। तथापि उदय एक ही आयुका होता है। दो प्रकृतियाँ सत्तामे एकसाथ रह सकती है। वही कहते है—तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु सब आयुओके साथ सत्तामे रहती है अर्थात् देवायु और नरकायु दूसरी देवायु और नरकायुके साथ सत्तामे नही रहती, क्योकि देव मरकर देव या नारकी नही हो सकता और न नारकी मरकर नारकी या देव होना है।

शङ्का—आयुकर्मो की यह सत्कर्मव्यवस्था रहो, किन्तु दो आयुकर्मो का एकसाथ उदय क्यो नही होता ?

समाधान—आयुकर्मकी जिस प्रकृतिकी स्थिति अनुभवमे आ रही है और जिस आयुकी स्थितिका उदय हो रहा है उसकी स्थिति जहाँ समाप्त होती है उससे ऊपर दूसरी आयुके निषेक रहते है। अत जबतक पहली आयुकी स्थिति समाप्त नही होती तबतक दूसरी उदयमे आ नही सकती। इसलिए एकसाथ आयुकी दो प्रकृतियोका उदय नही होता। तथा एक जीवके एकसाथ दो भव या दो गति सम्भव नही है। और भव तथा गतिको लेकर उसके अनुसार आयुका उदय होता है, अन्यथा नही होता, इसलिए भी दो आयुका उदय एकजीवके नही होता। इस प्रकार एक आयुकर्मकी एक ही प्रकृति एकजीवके उदयमे आती है अत एक-एक आयुकर्मके गलनरूप ही मरण होता है। यह प्रकृतिमरण कालभेदसे एक भी जीवके चार प्रकारका होता है। वह आवीचिकमरण ही है। इस प्रकार प्रकृति आवीचिमरणका व्याख्यान किया।

दूसरा स्थिति आवीचिकमरण है। भवधारणमे कारणरूपसे परिणत हुए पुद्गलोके स्नेहवश आत्माके प्रदेशोमे ठहरनेको स्थिति कहते है। आत्माका कषायरूप परिणाम पुद्गलोकी स्निग्धताका सहकारी होता है। परिणामी कारण तो स्वय पुद्गलद्रव्य ही है। यह स्थिति एक समयसे लेकर एक-एक समय बढते-बढते कुछ कम तेतीस सागरोके जितने समय है उतने भेदवाली होती है। यह उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। तरगोंके समान क्रमसे अवस्थित उस स्थितिके विनाशसे आत्माके स्थिति आवीचिकमरण होता है।

भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविगमन तद्भवमरण। तत्त्वनतश प्राप्त जीवेनेति ज्ञातव्य तेन तद्भवमरण न दुर्लभम्।

अनुभवावीचिकामरणमुच्यते—कर्मपुद्गलाना रस अनुभव इत्युच्यते, स च परमाणुषु षोढा वृद्धिहानिरूपेण वीचय इव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरण।

आयु सज्ञिताना पुद्गलाना प्रदेशा जघन्यनिषेकादारभ्य एकादिवृद्धिक्रमेणावस्थितवीचय इव तेषा गलन प्रदेशावीचिकामरण।

अवधिमरण नाम कथ्यते—यो यादृश मरण साप्रतमुपैति तादृगेव यदि मरण भविष्यति तदवधिमरण। तद्द्विविधं देशावधिमरण सर्वावधिमरण इति।

तत्र सर्वावधिमरण नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति साप्रत प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैस्तथानुभूतमेवायु प्रकृत्यादिविशिष्ट पुनर्बध्नाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरण।

यत्सापतमुदेत्यायुर्यथाभूत तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरण। एतदुक्त भवति देशत सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषित मरणमवधिमरणमिति। साप्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरण उच्यते, आदिशब्देन साप्रत प्राथमिक मरणमुच्यते तस्य अतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यन्तमरण अभिधीयते। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतं साप्रतमुपैति मृति तथाभूता यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यतमरण।

बालमरणमुच्यते—बालस्य मरण बालमरण, स च बाल पञ्चप्रकार अव्यक्तबाल व्यवहारबाल,

---

भवान्तर प्राप्तिपूर्वक उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भवका विनाश तद्भवमरण है। वह तो इस जीवने अनन्तवार प्राप्त किया है। अत तद्भवमरण दुर्लभ नही है।

अनुभव आवीचिमरण कहते है—कर्मपुद्गलोके रसको अनुभव कहते है। वह अनुभव परमाणुओमे छह प्रकारकी वृद्धि हानिके रूपसे तरगोंकी तरह क्रमसे अवस्थित है। उसका विनाश अनुभव आवीचिमरण है। आयुसज्ञावाले पुद्गलोके प्रदेश जघन्य निषेकसे लेकर एक आदि वृद्धिके क्रमसे तरगोकी तरह अवस्थित है उनके गलनेको प्रदेश आवीचिकामरण कहते है।

अवधिमरणको कहते है—जो वर्तमानमे जैसा मरण प्राप्त करता है यदि वैसा ही मरण होगा तो उसे अवधिमरण कहते है। उसके दो भेद है—देशावधिमरण और सर्वावधिमरण। वर्तमानमे जो आयु जेसे प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशोको लेकर उदयमे आ रही है वेसी ही प्रकृति आदिको लिए हुए यदि पुन आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्यमे उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधिमरण कहते है। और वर्तमानमे जैसा आयुका उदय होता है वैसा ही यदि एक देश बन्ध करता है वह देशावधिमरण है। इसका अभिप्राय यह है एक देशसे अथवा सर्वदेशसे मर्यादाको लिए हुए सादृश्यसे विशिष्ट मरणको अवधिमरण कहते हैं। वर्तमानमरणसे यदि भाविमरण असमान होता है तो उसे आद्यन्तमरण कहते है। यहाँ आदि शब्दसे वर्तमानका प्राथमिकमरण कहा जाता है। उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस उत्तरमरणमे होता है उसे आद्यन्तमरण कहते है। वर्तमानमे जिस प्रकारके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा मरणको प्राप्त होता है यदि एकदेश या सर्वदेशसे उस प्रकारके मरणको प्राप्त नही होता तो वह आद्यन्तमरण है।

बालमरणको कहते है—बालके मरणको बालमरण कहते है। वह बाल पाँच प्रकारका

ज्ञानबाल , दर्शनबाल , चारित्रबाल इति । अव्यक्त शिशु धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति न च तदाचरणसमर्थशरीर सोऽव्यक्तबाल । लोकवेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति शिशुर्वासौ व्यवहारबाल । मिथ्यादृष्टय [१]सर्वेऽर्थतत्त्वश्रद्धानरहिता दर्शनबाला । वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूना ज्ञानबाला । अचारित्रा प्राणभृतश्चारित्रबाला । एतेषा बालाना मरण बालमरण । एतानि च अतीते काले अनतानि । अनताश्च मृतिमिमा प्रपद्यते । इह दर्शनबालो गृहीत नेतरे बाला कथ ? यस्मात्सम्यग्दृष्टेरितरबालत्वे सत्यपि दर्शनपडितताया सद्भावात्पडितमरणमेवेष्यते ।

दर्शनबालस्य पुन सक्षेपतो द्विविध मरण । इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च । तयोराद्यमग्निना धूमेन, शस्त्रेण, विषेण, उदकेन, मरुत्प्रपातन, उच्छ्वासनिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, क्षुधा, तृषा, जिह्वोत्पाटनेन, विरुद्धाहारसेवनया च बाला मृति ढौकन्ते, कुतश्चिन्निमित्താज्जीवितपरित्यागैषिण काले अकाले वा अध्यवसानादिना यन्मरण जिजीविषो तद्द्वितीयम् । एतैर्बालमरणैर्दुर्गतिगामिनो म्रियन्ते विषयव्यासक्तबुद्धय अज्ञानपटलावगुठिता , ऋद्धिरससातगुरुका । बहुतीव्रपापकर्मास्रवद्वाराण्येतानि बालमरणानि जातिजरामरणव्यसनापादनक्षमाणि ॥

पडितमरणमुच्यते—व्यवहारपडित , सम्यक्त्वपडित , ज्ञानपडितश्चारित्रपडित इति चत्वारो विकल्पा । लोकवेदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपडित अथवाऽनेकशास्त्रज्ञ शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वित व्यवहारपडित ,

है—अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल । अव्यक्त छोटे बच्चेको कहते हैं । जो धर्म, अर्थ और कामको नही जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करनेमे समर्थ है वह अव्यक्तबाल है । जो लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारोको नही जानता अथवा इन विषयोमे शिशु समान है वह व्यवहारबाल है । अर्थ और तत्त्वके श्रद्धानसे रहित सब मिथ्यादृष्टि दर्शनबाल है । वस्तुको यथार्थरूपसे ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे जो हीन है वे ज्ञानबाल है । जो चारित्रपालन किये बिना जीते है वे चारित्रबाल है । इन बालोके मरणको बालमरण कहते है । अतीतकालमे ये बालमरण अनन्त हो चुके है । अनन्तजीव इस मरणको प्राप्त होते है । यहाँ इनमेसे दर्शनबालका ग्रहण किया है, अन्य बालोका नही, क्योकि सम्यग्दृष्टि मे इतर बालपना रहते हुए भी दर्शनपडितपना रहता है इसलिए उसके पडितमरण ही स्वीकार किया है ।

सक्षेपमे दर्शनबालका मरण दो प्रकार का है एक इच्छापूर्वक, दूसरा अनिच्छापूर्वक । आगसे, धुएँसे, शस्त्रसे, विषसे, जलसे, पर्वतसे गिरनेसे, श्वासके रुकनेसे, अति शीत या अति गर्मी पडनेसे, रस्सीसे, भूखसे, प्याससे, जीभ उखाडनेसे और प्रकृति विरुद्ध आहारके सेवनसे बालपुरुष मरणको प्राप्त होते है यह इच्छापूर्वक मरण है अर्थात् ऐसे उपाय स्वय करके वे मरते है ।

किसी निमित्त वश जीवनको त्यागनेकी इच्छा होने पर भी अन्तरगमे जीनेकी इच्छा रहते हुए काल या अकालमे अध्यवसान आदिसे जो मरण होता है वह अनिच्छापूर्वक दर्शनबाल मरण है । जो दुर्गतिमे जानेवाले है, विषयोमे अतिआसक्त है, अज्ञान पटलसे आच्छादित है, ऋद्धि, रस और सुखके लालची है वे इन बालमरणोसे मरण करते है । ये बालमरण बहुत तीव्र पापकर्मोके आस्रवके द्वार है, जन्म, जरा, मरणके दु खोको लानेवाले है ।

पण्डितमरणको कहते है—इसके चार भेद है, व्यवहार पण्डित, सम्यक्त्व पण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्र पण्डित । जो लोक, वेद और समयके व्यवहारमे निपुण है वह व्यवहारपण्डित

१ सर्वथा तत्व-आ० मु० ।

क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनौपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणत दर्शनपडित । मत्यादिपचप्रकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणत ज्ञानपडित । सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धसूक्ष्मसापराययथाख्यातचारित्रेषु कस्मिश्चित्प्रवृत्तश्चारित्रपडित । इह पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्रपडिताना अधिकारः । व्यवहारपडितस्य मिथ्यादृष्टे बालमरण [1]यतो भवति सम्यग्दृष्टेस्तदेव दर्शनपडितमरण भवति । तद्दर्शनपडितमरण नरके, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिष्केषु, वानव्यतरेषु, द्वीपसमुद्रेषु च । ज्ञानपडितमरणानि च तेष्वेव । मनुष्यलोके एव केवलमन पर्ययज्ञानपडितमरण भवति ।

ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात्सयतसार्थाद्यो हीन प्रच्युत सोऽभिधीयते ओसण्ण इति । तस्य मरण ओसण्णमरणमिति । ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्था , स्वच्छदा , कुशीला ससक्ताश्च गृह्यन्ते । तथा चोक्तम् ॥

पासत्थो सच्छंदो कुसील ससत्त होंति ओसण्णा ॥

जं सिद्धिपच्छिदादो [2]ओहीणा साधु सत्थादो ॥—[ ]

के पुनस्ते ? ऋद्धिप्रिया , रसेष्वासक्ता , दु खभीरव सदा दु खकातरा , कषायेषु परिणता , सज्ञावशगा , पापश्रुताभ्यासकारिण , त्रयोदशविधासु क्रियास्वलसा , सदा सक्लिष्टचेतस , भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धा , निमित्तमत्रौषधयोगोपजीविन गृहस्थवैयावृत्यकरा , गुणहीना गुप्तिषु समितिषु चानुद्यता मदसवेगा दशप्रकारे धर्मे अकृतबुद्धय शबलचारित्रा ओसन्ना इत्युच्यते । एवभूता सतो मृत्वा वराका भवसहस्रेषु

है । अथवा जो अनेक शास्त्रोका ज्ञाता है, सेवा आदि बौद्धिक गुणोसे युक्त है वह व्यवहारपण्डित है । क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्शनसे जो युक्त है वह दर्शनपण्डित है । जो मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञान रूपसे परिणत है वह ज्ञानपण्डित है । जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रमेसे किसी एक चारित्रका पालक है वह चारित्रपण्डित है । यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र पण्डितोका अधिकार है । व्यवहारपण्डित मिथ्यादृष्टि का तो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टिका मरण दर्शनपण्डित मरण है । वह दर्शनपण्डित मरण नरकमे भवनवासी देवोमे, वैमानिक देवोमे, ज्योतिष्क देवोमे, व्यन्तर देवोमे और द्वीप समुद्रोमे होता है । ज्ञानपण्डित मरण भी इन्हीमे होता है । किन्तु केवलज्ञान और मन पर्ययज्ञान पण्डितमरण मनुष्य लोकमे ही होता है ।

ओसण्णमरणको कहते है—निर्वाण मार्गपर प्रस्थान करनेवाले सयमियोके सघसे जो हीन हो गया है उसे निकाल दिया गया है वह ओसण्ण कहलाता है । उसके मरणको ओसण्णमरण कहते है । ओसण्णके ग्रहणसे पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और ससक्तोका ग्रहण होना है । कहा भी है—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द कुशील और ससक्त ये ओसण्ण होते है क्योकि ये मोक्षके लिए प्रस्थान करनेवाले साधुसघसे बाहर होते है ।

ऋद्धियोके प्रेमी, रसोमे आसक्त, दु खमे भीरु, सदा दु खमे कातर, कषायोमे सलग्न, आहारादिसज्ञाके अधीन, पापवर्धक शास्त्रोके अभ्यासी, तेरह प्रकारकी क्रियाओमे आलसी, सदा संक्लेशयुक्त चित्तवाले, भोजन और उपकरणोसे प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मत्र, औषध आदिसे आजीविका करनेवाले, गृहस्थोका वैयावृत्य करनेवाले, गुणोसे हीन, गुप्तियो और समितियोमे उदासीन, सवेग भावमे मन्द, दस प्रकारके धर्ममे मनको न लगानेवाले तथा सदोष चारित्रवाले मुनियोको अवसन्न कहते है । इस प्रकारसे रहते हुए ये बेचारे मरकर हजारो भवोमे भ्रमण करते

१. यथा आ० मु० । २ आहीणा आ० ।

भ्रमन्ति । दुःखानि भुक्त्वा भुक्त्वा पार्श्वस्थरूपेण सुचिरं विहृत्यान्ते आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति ।

सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य बालपंडितमरणं यतोसावुभयरूपो बालः पंडितश्च । स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्विरमणलक्षणं चारित्रमस्ति दर्शनं च ततश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च[1] । कुतश्चित्सूक्ष्मादसंयमाद-निवृत्त इति चारित्रबालः । तत् बालपंडितमरणं गर्भजेषु पर्याप्तकेषु तिर्यक्षु मनुजेषु भवति । दर्शनपंडितमरणं तु तेषु देवनारकेषु च ।

सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्यं । द्रव्यशल्येन सह मरणं पंचानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च । ननु द्रव्य-शल्यं सर्वत्रास्ति तत्किमुच्यते स्थावराणामिति । भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्ष्यते । एतदुक्तं-सम्यक्त्वाति-चाराणां दर्शनशल्यत्वात्सम्यग्दर्शनस्य च स्थावरेषु अभावात् त्रसेषु च विकलेंद्रियेषु । इदमेव स्यादनागते काले इति मनसः प्रणिधानं निदानं न च तदसंज्ञिष्वस्ति । मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, उन्मार्गप्ररूपणं, मार्ग-स्थानां भेदकरणं च मिथ्यादर्शनशल्यानि ।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रशस्तमप्रशस्तं भोगकृतं चेति । परिपूर्णं संयममाराधयितुकामस्य जन्मांतरे पुरुष-तादिप्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकषायप्रेरितस्य कुलरूपादिप्रार्थनमनागतभवविषयं अप्रशस्तं निदानं । अथवा

है। किन्तु दुःख उठाते-उठाते पार्श्वस्थरूपमे चिरकाल तक विहार करके अन्तमे आत्माकी शुद्धि करके यदि मरते है तो प्रशस्तमरण ही होता है।

सम्यग्दृष्टि संयतासंयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते है क्योकि यह बाल और पण्डित दोनों ही होता है। इसके स्थूल हिंसा आदिसे विरतिरूप चारित्र और दर्शन दोनो होते हैं अतः यह चारित्रपण्डित भी है और दर्शनपण्डित भी है। किन्तु कुछ सूक्ष्म असंयमसे निवृत्त नही होता, इसलिए चारित्रमे बाल है।

यह बालपण्डित मरण गर्भज और पर्याप्तक तिर्यञ्चो तथा मनुष्योमे होता है। दर्शनपण्डित मरण तो इनमे भी होता है और देव तथा नारकियोमे भी होता है।

सशल्य मरणके दो भेद हैं क्योकि शल्यके दो भेद है—द्रव्यशल्य और भावशल्य। मिथ्या-दर्शन, माया और निदान इन शल्योंका कारण जो कर्म है उस कर्मको द्रव्यशल्य कहते है। द्रव्यशल्यके साथ मरण पाँचों स्थावरों, असंज्ञियो और त्रसोका होता है।

शंका—द्रव्यशल्य तो सर्वत्र है तब स्थावरोंके क्यो कहा ?

समाधान—यहाँ भावशल्यसे रहित द्रव्यशल्यकी अपेक्षा है। यह कहा है कि सम्यग्दर्शनके अतिचारोका कारण दर्शनशल्य है और सम्यग्दर्शन स्थावरोमे तथा विकलेन्द्रिय त्रसोमे नही होता।

आगामीकालमे यही होना चाहिए इस प्रकारके मनके उपयोगको निदान कहते है। असंज्ञियोमे इस प्रकारका निदान नही होता। मोक्षमार्गको दोष लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका कथन करना, या मोक्षमार्गका कथन न करना, और जो मोक्षमार्गी है उनमें भेद डालना ये मिथ्यादर्शनशल्य हैं। उनमेंसे निदानके तीन भेद है—प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत। परिपूर्ण संयमकी आराधना करनेकी इच्छासे परभवमे पुरुषत्व आदि प्राप्तिकी प्रार्थना प्रशस्त

१ तश्चा। ततश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च कुत–आ०।

क्रोधाविष्टस्य स्वशत्रुवधप्रार्थना वशिष्ठस्येवोग्रसेनोन्मूलने । इह परत्र च भोगा अपि इत्थभूता अस्माद् व्रतशीला-दिकाद् भवन्त्विति मन.प्रणिधानं भोगनिदान । असंयतसम्यग्दृष्टे. संयतासंयतस्य वा निदानशल्यं भवति । पार्श्व-स्थादिरूपेण चिर विहृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरण तस्य भवति । एतच्च सयते, सयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति ।

बलायमरणमुच्यते—विनयवैयावृत्यादावकृतादरः, प्रशस्तयोगोद्वहनालसः, प्रमादवान्व्रतेषु, समितिषु, गुप्तिषु च स्ववीर्यनिगूहनपर, धर्मचिंताया निद्रया घूर्णित इव ध्याननमस्कारादे· पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरण बलायमरण । सम्यक्त्वपडिते, ज्ञानपडिते चरणपडिते च बलायमरणमपि[1] सभवति । ओसण्णमरण ससल्लमरण च यदभिहित तत्र नियमेन बलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि बला.मरण भवति । नि शल्य संविग्नो भूत्वा चिर रत्नत्रयप्रवृत्तस्य सस्तरमुपगतस्य शुभोपयोगात्पलायमानस्य भावस्य शुभस्यानवस्थानात् ।

वसट्टमरण नाम—आर्त्ते रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरण । तत्पुनश्चतुर्विध—इदियवसट्टमरण, वेदणाव-सट्टमरण, कसायवसट्टमरण, नोकसायवसट्टमरण इति । इदियवसट्टमरण यत् तत्पचविध इद्रियविषयापेक्षया । सुरैर्नरैस्तिर्यग्भिरजीवैश्च कृतेषु ततविततघनसुषिरशब्देषु मनोज्ञेषु रक्तोऽमनोज्ञेषु द्विष्टो मृतिमेति । यथा चतु -प्रकारे आहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरण, पूर्वोक्ताना सुरनरादीना गधे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरण, तेषामेव

निदान है। मानकषायसे प्रेरित होकर आगामी भवमे उच्चकुल, सुन्दररूप आदिकी प्रार्थना अप्रशस्त निदान है। अथवा क्रोधके आवेशमे आकर अपने शत्रुके वधकी प्रार्थना, जैसे वशिष्ठने उग्रसेनके विनाशकी प्रार्थना की थी, अप्रशस्त निदान है। इस व्रतशील आदिके प्रभावसे इस भवमे और परभवमे इस प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हो, इस प्रकार मनके सकल्पको भोगनिदान कहते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टी अथवा संयतासयतके निदानशल्य होता है। चिरकालतक पार्श्वस्थ आदि साधुके रूपमे विहार करनेके पश्चात् भी जो आलोचना किये बिना मर जाता है उसका वह मायाशल्य मरण होता है। ऐसा मरण संयत, संयतासयत और अविरत सम्यग्दृष्टिमे होता है।

बलायमरणको कहते हैं—जो विनय वैयावृत्य आदिमे आदरभाव नही रखता, प्रशस्त योगके धारणमे आलसी है, प्रमादी है, व्रतोमे, समितियोमें और गुप्तियोमे अपनी शक्तिको छिपाता है, धर्मके चिन्तनमे निद्राके वशीभूत जैसा रहता है, उपयोग न लगनेसे ध्यान नमस्कार आदिसे दूर भागता है, उसका मरण बलायमरण है। दर्शनपण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्रपण्डितके बलायमरण भी सम्भव है। ओसण्णमरण और सशल्यमरणमे नियमसे बलायमरण होता है। उनके अतिरिक्त भी बलायमरण होता है। जो शल्यरहित विरक्त होकर चिरकालतक रत्नत्रयका पालन करता है किन्तु मरते समय सस्तरपर आरूढ़ होकर शुभोपयोगसे दूर भागता है, उसके शुभभावके स्थिर न रहनेसे बलायमरण होता है।

वसट्टमरण कहते है—आर्त और रौद्रध्यानपूर्वक मरणको वसट्टमरण कहते है। उसके चार भेद हैं—इन्द्रियवसट्टमरण, वेदनासमट्टमरण, कसायवसट्टमरण, और नोकसायवसट्टमरण। इन्द्रिय-वसट्टमरण इन्द्रियोंके विषयोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। देवो, मनुष्यो, पशु-पक्षियो और अजीवोके द्वारा किये गये तत, वितत, घन, और शुषिर शब्दोमे, मनोज्ञ शब्दोमे राग और अमनोज्ञ शब्दोंमें द्वेष करते हुए मरण होता है। यह श्रोत्रेन्द्रियवसट्टमरण है। चार प्रकारके

---

१. मरणं भवति अ० ।

रूपे सस्थाने वा रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरण, तेषामेव स्पर्शे रागवतो द्वेषवतो वा मरण, इति इंद्रियानिन्द्रिय-वशार्तमरणविकल्पा ।

वेदणावसट्टमरण द्विभर्द समासतः सातवेदनावशार्तमरण असातवेदनावशार्तमरणमिति । शारीरे मानसे वा दु खे उपयुक्तस्य मरण दु:खवशार्तमरणमुच्यते । यो दु खेन मोहमुपागतस्तस्य मरणमिति यावत् । तथा शारीरे मानसे वा सुखे उपयुक्तस्य मरण सातवशार्तमरण ।

कषायभेदात्कषायवशार्तमरण चतुर्विध भवति । अनुबघरोषो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मारणवशो[1] भवति । तस्य क्रोधवशार्तमरण भवति । मानवशार्तमरणमष्टविध भवति कुलेन, रूपेन, बलेन, श्रुतेन, ऐश्वर्येण, लाभेन, प्रज्ञया, तपसा वा आत्मानुमुत्कर्पयतो मरणमपेक्ष्य विख्याते विशाले उन्नते कुले समुत्पन्नोऽहमिति मन्यमानस्य मृति कुलमानवशार्तमरणम् । निरुपहतपचेंद्रियसमग्रगात्रस्तेजस्वी प्रत्यग्रयौवन मकलजनताचेत.-सम्मदकररूप इति भावयतो मृति रूपवशार्तमरण । वृक्षपर्वताद्युत्पाटनक्षमोऽ‌ह‌ं योधवानह, मित्राणा च बल ममास्ति इति बलाभिमानोद्‌हनान्मानवशार्तमरण । बहुपरिवारो बहुशासनोऽह इति ऐश्वर्यमानोन्मत्तस्य मरण मानवशार्तमरण । लोकवेदसमयसिद्धान्तशास्त्राणि शिक्षितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरण श्रुतमानवशार्तमरण-मुच्यते । तीक्ष्णा मम बुद्धि सर्वत्राप्रतिहता इति प्रज्ञामत्तस्य मरण प्रज्ञावशार्तमरणमुच्यते । व्यापारे क्रियमाणे

आहारमे राग या द्वेष करते हुए मरण रसनेन्द्रियवसट्टमरण है। पूर्वोक्तदेव मनुष्य आदिकी गन्धमे रागद्वेष करते हुए मरण घ्राणेन्द्रियवसट्टमरण है। उन्हीके रूप आकार आदिमे रागद्वेष करने-वालेका मरण चक्षुइन्द्रियवसट्टमरण है। उन्हीके स्पर्शमे रागद्वेष करनेवालेका मरण स्पर्शनेन्द्रिय-वसट्टमरण है। इस प्रकार इन्द्रिय और मनके वशसे होनेवाले आर्तध्यानपूर्वक मरणके भेद है।

वेदनावसट्टमरणके सक्षेपसे दो भेद है—सातवेदनावशार्तमरण और असातवेदनावशार्त-मरण। शारीरिक अथवा मानसिक दु खमे उपयोग रहते हुए होनेवाले मरणको दु खशार्तमरण कहते है। अर्थात् जो दु:खसे मोहको प्राप्त हुआ उसका मरण दु:भयशार्तमरण है। तथा शारीरिक अथवा मानसिक सुखमे उपयोग रहते हुए होनेवाला मरण सातवशार्त मरण है।

कषायके भेदसे कषायवशार्तमरणके चार भेद होते है। अपनेमे, दूसरेमें अथवा दोनोमे मारनेके लिए उत्पन्न हुआ क्रोध मरणका कारण होता है। वह क्रोधवशार्तमरण है। मानवश-आर्तमरणके आठ भेद है—कुल, रूप, बल, शास्त्र, ऐश्वर्य, लाभ, बुद्धि अथवा तपसे अपनेको बडा मानते हुए मरण होनेकी अपेक्षा ये आठ भेद होते है। मै अति प्रसिद्ध विशाल उच्चकुलमे उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा मानते हुए होनेवाले मरणको कुलमानवश आर्तमरण कहते है। मेरा शरीर सशक्त पाँच इन्द्रियोसे पूर्ण है, तेजस्वी और नवयौवनसे सम्पन्न है, मेरा रूप समस्त जनताके चित्तको मर्दन करता है, ऐसी भावना होते हुए जो मरण होता है वह रूपवश आर्तमरण है। मै वृक्ष पर्वत आदिको उखाडनेमे समर्थ हूँ, लड़नेमे समर्थ हूँ, मेरे साथ मित्रोका बल है, इस प्रकार बलके अभिमानको धारण करते हुए होनेवाला मरण बलमानवश आर्तमरण है। मै बहुत परिवार वाला हूँ मेरा शासन बहुतोपर है इस प्रकार ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्तका मारण ऐश्वर्यमान वशार्त-मरण है। मैने लोक, वेद, समय और सिद्धान्त सम्बन्धी शास्त्रोको पढा है इस प्रकार शास्त्रके मानसे उन्मत्तका मरण श्रुतमानवश आर्तमरण है। मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सब विषयोंमें उसकी

---

१ वा मरणवशो भवति अ०। वा मारणवशा भवति आ०।—वशोपि मरणवश भ–मु०।

मम सर्वत्र लाभो जायते इति लाभमान भावयतो मरण लाभवशार्त्तमरणम्। तपो मयानुष्ठीयते अन्यो मत्सदृशश्चरणे नास्ति इति सकल्पयतस्तपोमानवशार्तमरण भवति। माया पचविकल्पा निकृति, उपधि:, सातिप्रयोग', प्रणिधि प्रतिकुचनमिति। अतिसधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वंचना निकृति' उच्यते। सद्भाव प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिसज्ञिता माया। अर्थेषु विसवाद' स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरण, दूषण, प्रशसा वा सातिप्रयोग। प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमानं, सयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया। आलोचन कुर्वतो दोषविनिगूहन प्रतिकुंचनमाया। एवविध मायावशार्तमरणं। उपकरणेषु, भक्तपानक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छा मूर्च्छा च वहतो मरण लोभवशार्तमरण। हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुसकवेदे मूढमतेर्मरण नोकषायवशार्तमरण। नोकषाय[1]वशार्तमरणमुपगतो जायते मनुजतिर्यग्योनिषु, असुरेषु, कदर्पेषु, किल्बिषिकेषु च। मिथ्यादृष्टेरेतदेव बालमरण भवति। दर्शनपडितोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टि सयतासयतोऽपि वशार्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपडित भवति दर्शनपडित वा।

अप्रतिषिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरण 'विप्पाणस गिद्धपुट्ठमिति सज्ञिते कृते प्रवर्तेते। दुर्भिक्षे, कातारे, दुरुत्तरे, पूर्वशत्रुभये, दुष्टनृपभये, स्तेनभये, तिर्यगुपसर्गे एकाकिन सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषण च

बेरोक गति है इस प्रकार प्रज्ञाके मदसे मत्तके मरणको प्रज्ञामानवश आर्तमरण कहते है। व्यापार करनेपर मुझे सर्वत्र लाभ होता है इस प्रकार लाभका मान करते हुए होनेवाले मरणको लाभमानवशार्तमरण कहते है। मै तप करता हूँ, तपश्चरणमे मेरे समान दूसरा नही है। ऐसा सकल्प करते हुए होनेवाले मरणको तपमानवशार्तमरण कहते हैं।

मायाके पाँच भेद हैं—निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणधि और प्रतिकुञ्चन। दूसरोकी गुप्त बातोकी खोजमे कुशलता, तथा धन अथवा किसी कार्यकी अभिलाषावालेको ठगना निकृति है। समीचीन भावको छिपाकर धर्मके बहानेसे चोरी आदि दोषोमे प्रवृत्तिको उपधिनामक माया कहते है। अर्थ (धन) के विषयमे झगडा करना, अपने हाथमे रखे द्रव्यको हर लेना, प्रयोजनके अनुसार दोष लगाना या प्रशसा करना सातिप्रयोग माया है। असली वस्तुमे उसके समान नकली वस्तु मिलाना, कमती बढती तोलना, मिलावटके द्वारा द्रव्यका विनाश करना ये प्रणिधिमाया है। आलोचना करते समय दोषोको छिपाना प्रतिकुंचन माया है। इस प्रकारके मायाचारपूर्वक होनेवाले मरणको मायावशार्तमरण कहते है। उपकरणोमे, खानपानके क्षेत्रोमे, शरीरमे, निवास स्थानोमे इच्छा और ममत्व रहते हुए होनेवाले मरणको लोभवशार्तमरण कहते है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुसकवेद और पुरुषवेदको लेकर जिसकी बुद्धि मूढ हो गई है उसका मरण नोकषायवशार्तमरण है। नोकषायवशार्तमरणसे मरा हुआ प्राणी मनुष्य योनि, तिर्यञ्चयोनि, तथा असुर, कन्दर्प और किल्विपजातिके देवोमे उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टिके होनेवाला यही मरण बालमरण होता है। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि और सयतासंयतके भी वशार्तमरण होता है उनका वह मरण बालपण्डितमरण अथवा दर्शनपण्डितमरण होता है।

पिप्पणास और गिद्धपुट्ठ नामके दो मरण ऐसे है जिनका निषेध भी नही है अनुज्ञा भी नही है। दुर्भिक्षमे, भयानक जगलमे, पूर्वशत्रुका भय होनेपर, या दुष्ट राजाका भय होनेपर, चोरका भय होनेपर, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होनेपर जिसे अकेले सहन करना अशक्य है, या ब्रह्मचर्य-

---

१ वशाति–अ० अ० ज०।

जाते सविम्न पापभीरुः कर्मणामुदयमुपस्थित ज्ञात्वा तं सोढुमशक्त. तन्निस्तरणस्यासत्युपाये सावद्यकरणभीरु विराधनमरणभीरुश्च एतस्मिन् कारणे जाते कालेऽमुष्मिन् कि भवेत्कुशलमिति गणयतो यद्युपसर्गभयत्रासित संयमाद्भ्रश्यामि तत सयमभ्रष्टो दर्शनादपि न वेदनामसक्लिष्टः सोढु उत्सहेत ततो रत्नत्रयाराधनाच्च्युतिर्भवेति निश्चितमतिर्निर्मायश्चरणदर्शनविशुद्ध , धृतिमान्, ज्ञानसहायोऽनिदानः, अर्हदन्तिके, आलोचनामासाद्य कृतशुद्धि , सुलेश्य प्राणापाननिरोधं करोति यत्तद्विप्पाणसं मरणमुच्यते ! शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गिद्धपुट्ठमित्युच्यते । मरणविकल्पप्रभवप्रदर्शनमिद सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते । प्रायोपगमनमिगिणीमरण भक्तप्रत्याख्यान इत्येतान्येवोत्तमानि पूर्वपुरुषैः प्रवर्तितानि । एव दिङ्मात्रेण पूर्वागमानुसारि सप्तदशमरणव्याख्यानमत्रोपक्रान्तम् ।

एतेषु सप्तदशसु पच मरणानि इह सक्षेपतो निरूपयिष्यामीति प्रतिज्ञानेन कृता । कानि तानि पच मरणानि इत्याशकाया नामनिर्देशार्थं गाथा पडितपंडितमरणमित्यादिका—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव ॥
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥

नमु भवपर्यायप्रलयो मरणमिति यदि गृह्यते तस्य को भेदो भवपर्यायस्य अनेकत्वात् मरण तद्विनाश कथं न भिद्यते इति । मनुष्ये पचप्रकारतानुपपन्ना अनतत्वान् एकजीवगतस्यापि भवपर्यायस्य नानाजीवापेक्षाया

व्रतका विनाश आदि दूषण चारित्रमे होनेपर संसारसे विरक्त और पापसे डरनेवाला साधु कर्मोका उदय उपस्थित जानकर उसे सहनेमे असमर्थ होनेसे उससे निकलनेका उपाय न होनेपर पापकर्म करनेसे डरता हुआ, साथ ही विराधनापूर्वक मरणसे डरता हुआ विचारता है इस कालमे इस प्रकारके कारण उपस्थित होनेपर कैसे कुशल रह सकती है, यदि उपसर्गके भयसे डरकर सयमसे भ्रष्ट होता हूँ तो सयमसे भी भ्रष्ट और दर्शनसे भी भ्रष्ट होता हूँ । और बिना संक्लेशके वेदनाको सहन कर नही सकता । तब मै रत्नत्रयके आराधनसे डिग जाऊँगा, ऐसी निश्चित मति करके सम्यक्त्व और चारित्रमे विशुद्ध, धैर्यशाली, ज्ञानसे सहायता लेनेवाला वह साधु किसी निदानके विना अर्हन्तके पासमे आलोचना प्रायश्चित्त लेकर शुभलेश्यापूर्वक श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है । उसे विप्पणास मरण कहते है । और शस्त्रग्रहणसे होनेवाले मरणको गिद्धपुट्ठ कहते है ।

मरणके भेदोका यह प्रदर्शन सर्वत्र कर्तव्यरूपसे किया जाता है । किन्तु प्रायोपगमन, इगिणीमरण और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन ही मरण उत्तम है, पूर्व पुरुषोंने इनका पालन किया है । इस प्रकार सक्षेपसे पूर्व आगमके अनुसार सतरह मरणोका व्याख्यान यहाँ किया ॥२५॥

इन सतरहमे से पाँच मरणोको यहाँ सक्षेपसे कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा ऊपर की है। वे मरण कौन हैं ऐसी शका करने पर उनका नाम निर्देश करनेके लिए गाथा कहते हैं—

गाथा—पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल पण्डितमरण, चौथा बालमरण और पाँचवा बाल बालमरण, ये पाँच मरण है ।

टीका—शंका-यदि भवपर्यायके विनाशको मरण कहते हो तो उसका भेद कैसा ? भवपर्याय तो अनेक है और उनका विनाश मरण है तब मरणके भेद उतने क्यो नही होगे । अतः मनुष्यमे मरणके पाँच प्रकार ठीक नही है । एक जीव की भी भवपर्याय अनन्त होती है तब नाना-

कोऽवसर पंचत्वस्य । प्राणिन प्राणेभ्यो वियोगो मरणं इति चेत्तदेकविधमेव सामान्यत । प्राणभेदापेक्षयेति चेद्दशप्रकारतापद्यते । उदयप्राप्तकर्मपुद्गलगलन मरणं इति यदि गृह्यते प्रतिसमय गलनान्न पंचता । गुणभेदापेक्षया जीवान्पचधा व्यवस्थाप्य तत्सबधेन पंचविधं मरणमुच्यते ।

अन्नान्या व्याख्या—प्रशस्ततमं, प्रशस्ततर, ईषत्प्रशस्त, अविशिष्ट, अविशिष्टतर इति पडितपडितमरणादीनि केचिद् । व्याचक्षते । पडितशब्द प्रशस्तमित्यस्मिन्नर्थे क्व प्रयुक्तो दृष्टो येनैव व्याख्यायते ? किं च आगमातरानुगत चेद व्याख्यान ।

ववहारे सम्मत्ते णाणे चरणे य पंडिदस्स तदा ।
पंडिदमरणं भणिदं चदुव्विधं तब्भवति हि ।।' [ ]

इति वदता चतु प्रकारा पडिता उपदर्शिता । तेषा मध्ये अतिशयित पाडित्य यस्य ज्ञानदर्शनचारित्रेषु स पडितपडित इत्युच्यते । एतत्पाडित्यप्रकर्षरहित पाडित्यं यस्य स पडित इत्युच्यते । व्याख्यात बाल्य पांडित्यं च यस्य स भवति बालपडित. तस्य मरणं बालपडितमरणं । यस्मिन्न सभवति पाडित्य चतुर्णामप्येक असौ बाल । सर्वतो न्यूनो बालबाल तस्य मरण बालबालमरण ।

अथ के पडितपडिता येषा मरण पडितपडितमिति भण्यते इत्यारेकायामाह—

पडिदपंडितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ।।२७।।

जीवोकी अपेक्षा पाँच भेद कैसे सभव है ? यदि कहोगे कि प्राणीका प्राणोसे वियोग मरण है तो वह सामान्यसे एक ही प्रकार का है। प्राणभेदकी अपेक्षा लेना हो तो दस भेद हो सकते है ? यदि उदय प्राप्त कर्म पुद्गलोके गलनेका नाम मरण है तो कर्म पुद्गलोका गलन तो प्रति समय होता है अत पाँच भेद नही बनते ?

समाधान—गुणभेदकी अपेक्षा जीवोके पाँच भेद करके उनके सम्बन्धसे मरणके पाँच भेद कहे है।

अन्य व्याख्याकार पण्डितपण्डितमरण आदि पाँच मरणोको प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत् प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर कहते है। हम उनसे पूछते हैं कि पण्डित शब्दका प्रशस्त अर्थमें प्रयोग कहाँ देखा है जिससे आप ऐसी व्याख्या करते है। तथा यह व्याख्यान अन्य आगमोके अनुकूल नही है।

आगममे कहा है—व्यवहारमे, सम्यक्त्वमें, ज्ञानमे और चारित्रमे पण्डितके मरणको पण्डितमरण कहते हैं अत. उसके चार भेद है। इस प्रकार चार प्रकारके पण्डित कहे है। उनके मध्यमे जिसका पाण्डित्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें अतिशयशाली है उसे पण्डितपण्डित कहते है। उसके पाण्डित्यके प्रकर्षसे रहित जिसका पाण्डित्य होता है उसे पण्डित कहते हैं। पूर्वमे व्याख्यात बालपन और पाण्डित्य जिसमे होते है वह बालपण्डित है। उसका मरण बालपण्डितमरण है। और जिसमे चारो प्रकारके पाण्डित्यमे से एक भी पाण्डित्य नहीं है वह बाल है और जो सबसे हीन है वह बालबाल मरण है ।।२६।।

वे पण्डितपण्डित कौन है जिनका मरण पण्डितपण्डित कहा जाता है ? ऐसी शङ्का होनेपर आचार्य कहते हैं—

पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो । सामान्यमृतेर्विशेषमृति कर्मतया निर्दिष्टा पडित-पडितमरणमिति । यथा गोपोषं पुष्ट इति । **'खीणकसाया'**, कषन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कषाया । अथवा कषायशब्देन वनस्पतीना त्वक्पत्रमूलफलरस उच्यते । स यथा वस्त्रादीना वर्णमन्यथा सपादयति एव जीवस्य क्षमामार्दवार्जवसतोषाख्यगुणान्विनाश्यान्यथा व्यवस्थापयतीति क्रोधमानमायालोभा कषाया इति भण्यते । ते क्षीणा कषाया येषा ते क्षीणकषाया' । द्रव्यकर्मणा कषायवेदनीयाना विनाशात्तन्मूला अपि भाव-कषाया प्रलयमुपगता इति क्षीणकषाया इति भण्यन्ते । केवलमसहाय ज्ञान इन्द्रियाणि मन प्रकाशादिक चा-नपेक्ष्य युगपदशेषद्रव्यपर्यायभासनसमर्थं सद्यत्[1] प्रवर्तते तद्येषामस्ति ते केवलिन । यद्यपि केवलज्ञानवस्तु-सामान्ये न प्रवर्तते केवलिशब्दस्तथापि सयोगकेवलिनो मरणस्यासभवादयोगकेवलिनो ग्रहण । अत्रान्ये क्षीण-कषाया श्रुतकेवलिनश्चेति व्याचक्षते । तेषा तद्व्याख्यानमसमजस श्रुतशब्दमतरेण केवलिशब्दस्य क्वचिदप्यागमे समस्तश्रुतरत्नवत्यपि प्रयोगादर्शनात् । प्रसिद्धशब्दार्थासभवो यदि स्यात् यथा कथचिदन्योऽर्थो व्याख्येय स्यात् । सभवति प्रतीतेऽर्थे कथ तत्परित्याग. । अपि च पाडित्यप्रकर्ष क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रापेक्षस्तत्र सन्नि-हितो न श्रुतकेवलिनि । विरदाविरदा जीवा स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्व्यावृत्ता इति विरता सूक्ष्माच्चा-व्यावृत्तेरविरता । विरता यदि कथमविरता अविरताश्चेत्कथ विरता इति विरोधाशका न कार्या । विरत-

गा०—पण्डितपण्डितमरणसे क्षीण कषाय और अयोगकेवली मरते है । विरताविरत जीव तीसरे मरणसे मरते है ॥२७॥

टी०—'पण्डितपण्डितमरण मरते हैं' यहाँ पण्डितपण्डित नामक विशेष मरणको 'मरते है' इस सामान्य मरणके कर्मरूपसे कहा है । जैसे बैलके समान पुष्टको सामान्य पुष्ट शब्दसे कहा है । जो 'कर्षन्ति' अर्थात् आत्माका घात करती हैं उन्हे कषाय कहते है । कषाय शब्दसे वन-स्पतियोंके छाल, पात्र, जड और फलका रस कहा जाता है । वह रस जैसे वस्त्रादिके रगको बदल देता है इसी प्रकार जीवके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष नामक गुणोको नष्ट करके अन्यथा कर देते है इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभको कषाय कहते है । वे कषाय जिनकी क्षीण हो गई हैं—नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय होते है । कषाय वेदनीय नामक द्रव्यकर्मोका विनाश होनेसे उनका निमित्त पाकर होने वाली भावकषाय जिनकी नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय कहे जाते है । केवल अर्थात् असहाय ज्ञान, जो इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश आदि की अपेक्षा न करके एक साथ समस्त द्रव्य-पर्यायोको जाननेमे समर्थ है वह केवलज्ञान है । वह जिनके है वे केवली होते है । यद्यपि केवली शब्द केवलज्ञान रूप वस्तुसामान्यमे प्रवृत्त नही होता, तथापि सयोग-केवलीका मरण असम्भव होनेसे अयोगकेवलीका ग्रहण होता है । दूसरे व्याख्याकार 'क्षीणकषाय और श्रुतकेवली' ऐसा व्याख्यान करते है । उनका वह व्याख्यान ठीक नही है । श्रुत शब्दके बिना केवली शब्दका प्रयोग किसी भी आगममे समस्त श्रुतधारीके लिए नही देखा गया । यदि शब्दका प्रसिद्ध अर्थ असम्भव ही हो तो जिस किसी तरह अन्य अर्थ किया जा सकता है । जब सम्भव अर्थ प्रतीतिसिद्ध है तो उसे कैसे छोडा जा सकता है ? दूसरे, पाण्डित्यका प्रकर्ष वहाँ क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और क्षायिक चारित्रकी अपेक्षा लिया गया है, वह श्रुतकेवलीमे नही है ।

जो स्थूल हिसा आदिसे निवृत्त होनेसे विरत और सूक्ष्म हिसा आदिसे अनिवृत्त होनेसे अविरत होते हैं वे जीव विरताविरत होते हैं । यदि वे विरत है तो अविरत कैसे हैं और अविरत

१ सद्यत्र–अ० ज० मु० ।

त्वाविरतत्वयो' अर्पणाभेदाद्विरोधो नास्पदं बध्नाति। यथा द्रव्यपर्यायरूपापेक्षे नित्यानित्यत्वे एकद्रव्याधिकरणे एकस्मिन्नपि समये न विरोधमुपयातः। अथवाऽप्रत्याख्यानावरणाना क्षयोपशमे सति स्थूलात्प्राणातिपातादेर्विरतोऽस्मि न सूक्ष्मादित्येक एव परिणाम उपजायते। विरोधश्च नाम अनेकाधिकरण यथा शीतोष्णस्पर्शादीना। द्रव्यभावप्राणधारणाज्जीवा इति निरूप्यते। 'तदएण' तृतीयेन मरणेन म्रियन्ते। वस्तुपरिणामवृत्तिक्रमो यदि स्यात्तथा गण्यमाने[1] द्वित्व त्रित्व वा प्रतिपद्येरन्। गुणस्थानापेक्षाया सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरेव तृतीयता न संयतासंयतत्वस्य तत्किमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणस्य तु सामान्यापेक्षाया एकत्वमेवेति न तृतीयता। विशेषापेक्षाया च अतीताना च अनन्तत्वादनागताना चातिबहुत्वसभवात्। अत्रोच्यते-सूत्रनिर्दिष्टक्रमापेक्षया तृतीयता ग्राह्या।

विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीवद्रव्यस्य गते जीवा इति सूत्रे वचनमपार्थकमिति चेन्नानर्थकं मतान्तरनिवृत्तिपरत्वात्। साख्या हि प्रकृतिधर्मता मरणस्याभ्युपयन्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात्। तत्तथा न, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वादात्मन। अत्रोच्यते—पडितपडितमरणादनतर पडितमरण तदुल्लघ्य

है तो विरत कैसे है इस प्रकारके विरोधकी आशङ्का नही करना चाहिए। अपेक्षा भेदसे विरतपने और अविरतपनेमें विरोधको कोई स्थान नही है। जैसे एक द्रव्यमे एक ही समयमे द्रव्यरूपकी अपेक्षा नित्यपना और पर्यायरूपकी अपेक्षा अनित्यपनामें कोई विरोध नही आता। अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायोका क्षयोपशम होनेपर स्थूल हिंसा आदिसे मै विरत हूँ किन्तु सूक्ष्म हिंसादिसे विरत नही हूँ इस प्रकारका एक ही परिणाम होता है। विरोध तो उनमे होता है जो एक आधारमे न रहकर अनेक आधारोमे रहते है जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श आदिमे विरोध है। अस्तु,

द्रव्यप्राण और भावप्राणोको धारण करनेसे जीव कहे जाते है। विरताविरत जीव तीसरे मरणसे मरते है।

शका—यहाँ तृतीयसे यदि वस्तुके परिणामोकी वृत्तिका क्रम लेते है तो गणना करनेपर दोपना या तीनपना प्राप्त होता है। गुणस्थानकी अपेक्षा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही तीसरा है, सयतासंयत नही है तब कैसे तीसरा कहते है। तथा सामान्यकी अपेक्षा मरण तो एक ही है, तीसरापना कैसे ? विशेषकी अपेक्षा अतीतमरण अनन्त है और भाविमरण उससे भी अधिक सम्भव है ?

समाधान—सूत्रमे जिस क्रमसे मरणोका निर्देश किया है उसकी अपेक्षा तीसरा लेना चाहिए।

शंका—विरताविरत परिणाम विशेषका निर्देश करनेसे ही जीवद्रव्यका ज्ञान हो जाता है तब गाथामे जीवा पद व्यर्थ है ?

समाधान—व्यर्थ नही है यह मतान्तरकी निवृत्तिके लिए है। साख्य मतवाले मरणको प्रकृतिका धर्म मानते है क्योकि उनके मतमे पुरुष सर्वथा नित्य है। किन्तु ऐसा नही है, क्योकि आत्मा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है।

शंका—पण्डितपण्डितमरणके अनन्तर पण्डितमरण आता है। उसे छोड़कर तीसरे मरणका

---

१. गणने आ० मु०।

तृतीयस्य स्वामित्वं कस्मात्प्रदर्श्यते क्रमोल्लंघने प्रयोजन वाच्यम् ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टजघन्यपडितत्वमध्यवृत्तिपंडितत्वमित्येतदाख्यातु उभयावधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पडितमरणे बहुवक्तव्यमस्तीति तत्सान्यासिकं व्यवस्थाप्य अल्पवक्तव्यतया बालपडितमेव प्राग् व्याचष्टे ।

कतिविधं पंडितमरणं किं स्वामिकं वा इत्यारेकायां इय गाथा पायोपगमणमरणं इत्यादिका—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥२८॥

पादाभ्यामुपगमन ढौकन तेन प्रवर्तित मरण पादोपगमनमरण । इतरमरणयोरपि पादाभ्यामुपगमनमस्तीति त्रैविध्यानुपपत्तिरिति चेन्न मरणविशेषे वक्ष्यमाणलक्षणे रूढिरूपेणाय प्रवर्तते, रूढौ च क्रिया उपादीयमाना शब्दव्युत्पत्त्यर्थैव । यथा गच्छतीति गौरिति शब्दव्युत्पत्तौ क्रियमाणायामपि गमनक्रियाकर्तृतास्तीति

स्वामी क्यो कहा ? क्रमका उल्लघन करनेका प्रयोजन क्या है यह कहना चाहिए ?

समाधान—उत्कृष्ट और जघन्य पडितत्वके मध्यमे रहनेवाला पण्डितत्व है यह कहनेके लिए दोनो अवधियोको बतलाया है । अथवा पण्डितमरणके सम्बन्धमें बहुत कहना है इसलिए उसे अलग रखकर थोड़ा कथन होनेके कारण बालपण्डितमरण को ही पहले कहा है ॥२७॥

पण्डितमरणके कितने भेद है और वह किसके होता है, यह कहते है—

गाथा—पादोपगमन मरण, भक्तप्रतिज्ञा और इंगिणीमरण, इस प्रकार पण्डितमरण तीन प्रकार का है । वह शास्त्रमे कहे अनुसार आचरण करनेवाले साधु के होता है ॥२८॥

टी०—पाद अर्थात् पैरो से, उपगमन पूर्वक होनेवालेको पादोपगमन मरण कहते है ।

शंका—शेष दोनो मरणोमे भी पैरोसे उपगमन होता है अत तीन भेद नही बनते ?

समाधान—यह पादोपगमन रुढ़िरूपसे मरण विशेषमे प्रवृत्त होता है, इसका लक्षण आगे कहेगे । रूढ शब्दोमे ग्रहण की गई क्रिया शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए ही होती है । जैसे, जो चलती है वह गौ है । इस प्रकार गौ शब्दकी व्युत्पत्ति करने पर भी यद्यपि यह व्युत्पत्ति गमन क्रियाको

सं० टि०—सब प्रतियोमें इसके पश्चात् एक नीचे लिखी गाथा आती है उसका नम्बर भी २८ है । हमने गाथा २७ की जो उत्थानिका दी है वह भी इस २८ नम्बरकी उत्थानिका है । तथा ऊपर टीकामें विरताविरत परिणामसे जीव द्रव्यका ज्ञान हो जाता है आदि जो शङ्का प्रारम्भ होती है वहाँसे टीकाका भाग इस गाथा २८ की टीकाके रूपमें दिया है । गाथा इस प्रकार है—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥

अर्थ—पण्डित पण्डित मरण, पण्डित मरण और बाल पण्डित मरण इन तीन मरणोकी जिनदेव सदा प्रशंसा करते हैं ॥

इस गाथाके साथ न तो उत्थानिकाका कोई सम्बन्ध है और न टीकाका कोई सम्बन्ध है । अत. यह गाथा प्रक्षिप्त है । प० आशाधरने गाथा २६ की अपनी टीकामें लिखा भी है—'तथा चान्यस्मादानीय सूत्रे पठन्ति' अर्थात् अन्यत्रसे लेकर पढते हैं इसके पश्चात् ही उन्होंने उक्त गाथा दी है । इसलिये हमने इसे मूलमें नहीं रखा ।

गोशब्देन न महिष्यादयो भण्यंते । अथवा **पाउग्गगमणमरणं** इति पाठ । भवातकरणप्रायोग्य सहननं संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्ति , तेन कारणभूतेन यन्निर्वर्त्यं मरण तदुच्यते **पाउग्गगमण-मरण**मिति । भज्यते सेव्यते इति भक्त, तस्य पइण्णा त्यागो भत्तपइण्णा । इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसंभवेऽपि रूढिवशान्मरणविशेषे एव शब्दोऽस्य प्रवर्तते । इंगिणीशब्देन इगितमात्मनो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमान मरण इगिणीमरण । **तिविहं** त्रिविध त्रिप्रकार । पण्डितमरणं कस्य तद्भवति ? **'साधुस्स'** साधो **'जधुत्तचारस्स'** यथा येन प्रकारेण उक्त श्रुते तथा चरितुं शील यस्य सावोस्तस्येति यावत् । सदाचार सर्व एव जन सयतोऽसयतश्च लोके साधुशब्दवाच्य , इति सयतपरिग्रहार्थं यथोक्तचारित्वविशेषण कृतम् ।

इतरयोर्बालमरणबालबालयोरित्यनयो स्वामित्वसूचनार्थगाथा—

अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥२९॥

अविरसदम्मादिट्ठी इति प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्येय । अत्रावसरे इदं चोद्यमाशक्यते । **वोच्छं आराधणं कमसो** इति प्रतिज्ञात । सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति । तद्व्याख्यानमकृत्वा मरणविकल्पा-

---

लेकर है किन्तु गौ शब्दसे भैस आदि नही कहे जा सकते । अथवा 'पाउग्गगमणमरण' पाठ है । यहाँ प्रायोग्य शब्दसे ससारका अन्त करनेके योग्य सहनन और सस्थान कहे जाते है । उसके गमन अर्थात् प्राप्तिको प्रायोग्यगमन कहते है । उसके कारण होनेवाले मरणको प्रायोग्यगमन मरण कहते है । 'भज्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाये वह भक्त है । उसकी 'पइण्णा' अर्थात् त्याग भत्त-पइण्णा है । भोजनका त्याग शेष दोनो मरणोमे भी सम्भव है । फिर भी रूढिवश भत्तपइण्णा शब्द मरण विशेषका ही बोधक होता है । इगिणी शब्दसे आत्माका इगित अर्थात् सकेत कहा जाता है । अपने अभिप्रायके अनुसार रहकर होनेवाला मरण इगिणीमरण है । इस तरह पण्डितमरण तीन प्रकार का है । पण्डितमरण किसके होता है ? श्रुतमे जिस प्रकारसे कहा है उसी प्रकारसे आचरणशील साधुके होता है । सभी सदाचार वाले मनुष्य, वे सयमी हो या असयमी, लोकमे साधु शब्दसे कहे जाते है । इसलिये सयमीका ग्रहण करनेके लिए 'यथोक्तचारी' विशेषण दिया है ॥२८॥

विशेषार्थ—अपने पैरोसे चलकर अर्थात् सघसे निकल कर योग्य देशमे आश्रय लेना पादोपगमन है । इसमे न स्वय अपनी सेवा करता है और न दूसरेसे कराता है । भक्त प्रतिज्ञा-मरणमे स्वय भी अपनी वैयावृत्य करता है और दूसरेसे भी कराता है । इगिणीमरणमे अपनी वैयावृत्य स्वय ही करता है दूसरेसे नहीं कराता । पादोपगमनको प्रायोपगमन भी कहते है और प्रायोपवेशन भी कहते हैं । 'प्राय' का अर्थ सन्यास है ॥

अब शेष बालमरण और बालबालमरणके स्वामियोको कहते है—

गाथा—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ बालमरणमे मरते है । मिथ्यादृष्टि पाँचवे बालबाल-मरणमे मरते है ॥२९॥

टी०—इस गाथाका अर्थ प्रसिद्ध होनेसे इसकी व्याख्या नही करते ।

शंका—यहाँ यह शंका करते हैं । ग्रन्थकारने 'क्रमसे आराधना को कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की है । वह आराधना दो प्रकार की है—दर्शनाराधना और चारित्राराधना । उनका व्याख्यान

स्तत्स्वामिनश्च कस्मान्निर्दिश्यते । प्रस्तुतपरित्यागमप्रस्तुताभिधानं च न क्षमते विद्वास. । अत्रोच्यते--न अ-प्रस्तुतं अंतरनिर्दिष्ट मरण । आराधनानुगतमरणस्यैवेह शास्त्रेऽभिधेयत्वेनेष्टत्वात् । आराधनायाश्च आराधकमंतरेणासंभवात् । स्वामी च निर्देष्टव्य एवेति सूरेरभिप्राय ॥

अत एव प्रस्तुता प्राथमिकीं दर्शनाराधना आचष्टे—

तत्थोवसमियसमत्तं खइयं खवोवसमियं वा ।
आराहंतस्स हवे सम्मत्ताराहणा पढमा ॥३०॥

तत्थोवसमियसम्मत्तमित्यादिना । अथवा अतरसूत्रनिर्दिष्ट बालमरणव्याख्यान प्रस्तुता प्राथमिकी सम्यक्त्वाराधनां पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह--तत्थोवसमियसमत्त । अथवा सम्यग्दर्शनविशेषस्य कस्यचिदेव आराधना उत सर्वस्येत्याशका । कुत सदेह ? आचार्यमतभेदेन पदानामर्थद्वैविध्यात्सामान्य पदानामभिधेय । 'पदाच्छ्रु तार्थसामान्यनिर्भासप्रतीत्युत्पत्तेर्न हि गामित्यत पदाच्छुक्ला कृष्णा शबलामिति वा प्रतीति , खडा मुंडा इति वा जायते । यच्च पदोपलब्धिकार्यभूताया बुद्धौ न प्रतिभाति तत्कथ शब्दस्याभिधेयता गतुमुत्सहते । अप्रतीयमानस्याप्यर्थत्वे अयमेवास्यार्थो नान्य इतीय व्यवस्था न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु मन्यते त्यागोपादानोपेक्षारूपा हि लोकव्यवहृतिस्तत्र पुमास प्रवर्तयितु शब्दा प्रयुज्यते । दु खसाधन यत्तस्य-

---

न करके मरणके भेद और उनके स्वामियोका कथन क्यों किया गया ? विद्वान् गण प्रस्तुतके परित्याग और अप्रस्तुतके कथनको सहन नही करते ?

समाधान--बीचमे जो मरणका कथन किया है वह अप्रस्तुत नही है । आराधना पूर्वक होनेवाले मरणका ही इस शास्त्रमे कथन करना इष्ट है। वही इसका अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय है। और आराधकके बिना आराधना होना असम्भव है। अत स्वामीका भी कथन करना ही चाहिए । यह आचार्यका अभिप्राय है ॥२९॥

इसीलिए प्रस्तुत प्रथम दर्शनाराधना को कहते है—

गाथा—उन सम्यक्त्वोमे औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी आराधना करने वालेके प्रथम सम्यग्दर्शन आराधना होती है ॥३०॥

टी०—अथवा इसके पूर्वकी गाथामे कहा बालमरणका व्याख्यान प्रस्तुत प्रथम सम्यक्त्वाराधनाको लेकर ही किया है अत यहाँ उसका कथन करते है ।

शंका—यहाँ शंका होती है कि किसी सम्यग्दर्शन विशेषकी आराधना होती है या सबकी होती है ? इस सन्देहका कारण यह है । आचार्यो के मतभेदसे पदोका अर्थ दो प्रकारका माना जाता है । एक मत है पदोका अभिधेय सामान्य है क्योकि पदसे सामान्य अर्थका बोध होता है। 'गौ' इस पदसे सफेद, काली या चितकबरी गौ की अथवा खण्डी या मुण्डी गौ की प्रतीति नही होती और पदकी उपलब्धिकी कार्यभूत बुद्धिमे जिसका प्रतिभास नही होता उसे शब्दका वाच्य कैसे माना जा सकता है । शब्द सुनकर जिस अर्थकी प्रतीति नही होती उसे भी यदि उसका अर्थ माना जाता है तो इस पदका यही अर्थ है, अन्य नही, यह व्यवस्था नही बनेगी । इसलिए सामान्य ही पदका अर्थ है ।

अन्य आचार्य मानते हैं कि लोक व्यवहार, त्याग, ग्रहण और उपेक्षा रूप है । उस व्यवहारमें पुरुषोंको प्रवृत्त करनेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। जो दु:खका साधन होता है

ज्यते । सुखसाधनमुपादीयते । तदुभयस्यामपादकमुपेक्ष्यते । विशिष्टमेव च वस्तु सुखादीना सपादक । तथाहि—स्त्रीवस्त्रगधमाल्यादिक अतिशयितमेवादातु उत्सहन्ते । दु खसाधन चात्मनिकटवर्त्येव कटकादिक परिजिहीर्षन्ति । तेन शब्देनापि तदर्थिना तथाभूतमेव वस्तु प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगन्तव्य । अतो विशेष पदानामर्थ इति । सारूप्यानामनेकविशेषवर्तिना पदानामेकपदप्रयोगाद्यदि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतावता विशेषस्याभिधेयताहानि पदात रसमवधाने विशेषप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात् इति जैनानामुभय पदार्थ पदानामुभयत्र प्रतीत्युत्पत्ते । तथाहि—न हिस्या प्राणिन प्राणिसामान्य परिहार्यत्वेन प्रतीयते । देवदत्तमानयेत्युक्ते पुरुषविशेषमवगच्छन्ति । ततो न ज्ञायते 'ममत्त मि य' इत्यत्र सामान्य सम्यक्त्व गृहीत उत तद्विशेष इति तेन तत्सदेहनिवृत्ति क्रियते । '**तत्थ**' तेषु सम्यक्त्वेषु । '**उवसमियसम्मत्तं**' अनतानुबधिक्रोधमानमायालोभाना सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यड्मिथ्यात्वाना च सप्तानामपशमादुपजात तत्त्वश्रद्धान औपशमिक सम्यक्त्वं । तासामेव सप्तप्रकृतीना क्षयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिक दर्शन । तासामेव कासाचिदुपशमात् अन्यासा च क्षयादुपजात श्रद्धान क्षायोपशमिक । वा शब्द प्रत्येक सबध्यते । औपशमिक वेत्यादिना क्रमेण । '**आराधंतस्स**' आराधयत । '**हवे**' भवेत् । '**सम्मत्ताराहणा**' सम्यक्त्वाराधना । '**पढमा**' प्रथमा । "अविरदसम्मादिट्ठी मरति बालमरणे" इत्युक्त । तत्राविरतग्रहण सम्यग्दृष्टेर्विशेषणत्वेनोपात्त । प्रतीतेन हि

उसको त्याग दिया जाता है। सुखके साधनको ग्रहण किया जाता है। जो न दु.खका साधन होता है, न सुख का, उसकी उपेक्षा की जाती है। तथा विशिष्ट वस्तु ही सुखादिका साधक होती है। जैसे स्त्री, वस्त्र, गध, माला आदि जो उत्तम होती है उसे ही ग्रहण करनेके लिए उत्साहित होते है। दु खके साधन कण्टक आदि अपने निकटवर्ती भी हो तो उन्हे छोड देते है अत: शब्दके द्वारा भी सुखादिके अर्थी पुरुषोको विशिष्ट वस्तु ही प्रतिपाद्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अत पदोका अर्थ विशेष है। समानाकार अनेक विशेषोमे रहनेवाले पदोका एक पदके प्रयोगसे यदि विशेषका अर्थ प्रतीत नही होता तो इससे विशेषके शब्दार्थ होनेको कोई हानि नही पहुँचती, क्योकि उसके साथ अन्य पदका सम्बन्ध होनेपर विशेषकी प्रतीति अनुभवसे सिद्ध है।

समाधान—जैनोके मतमे पदोका अर्थ सामान्य भी है और विशेष भी है। दोनो की ही प्रतीति होती है। वही दिखलाते है—

'प्रणियोकी हिंसा नही करनी चाहिए' ऐसा कहनेपर प्राणी सामान्य अर्थात् प्राणिमात्रकी हिंसा नही करनी चाहिए यही प्रतीति होती है। और 'देवदत्तको लाओ' ऐसा कहनेपर पुरुष विशेषका बोध होता है। इस तरह पदका अर्थ दोनों होनेसे यह ज्ञात नही होता कि 'सम्मत्तम्मि' पदसे सामान्य सम्यक्त्व ग्रहण किया है या विशेष सम्यक्त्व ग्रहण किया है? इसलिए सन्देहकी निवृत्तिके लिए औपशमिक आदि सम्यक्त्व कहा है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोके उपशमसे उत्पन्न हुआ तत्त्वश्रद्धान औपशमिक सम्यक्त्व है। उन्ही सात प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न हुई श्रद्धा, जो वस्तुओके यथार्थस्वरूपको विषय करती है, क्षायिक सम्यग्दर्शन है। उन्हीमेंसे किन्हीके उपशम और अन्य प्रकृतियोके क्षयसे उत्पन्न श्रद्धान क्षायोपशमिक दर्शन है। 'वा' शब्द प्रत्येकके साथ लगता है। 'अविरदसम्यग्दृष्टी बालमरणसे मरता है' ऐसा जो पहले कहा है उसमे 'अविरत' पदका ग्रहण सम्यग्दृष्टीके विशेषणके रूपमें किया है। जो प्रतीत

विशेष्येण भाव्यम् ।' तथाचा[1]भाणि–प्रतीतपदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभाव इति ।

तस्मात्कीदृग्जीवोऽभिधेय' सम्यग्दृष्टिशब्दस्येति प्रश्नस्योत्तरमाह—

सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ।।
सद्दहइ असब्भावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ।।३१।।

सम्मादिट्ठी जीवो इत्यनया । अत्रैव पदघटना '**उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि यो जीवो सो सम्मादिट्ठी' इति । उवइट्ठं'** उपदिष्ट कथित । ननु उपपूर्वो दिशिरुच्चारणक्रिय । तथा हि प्रयोग — उपदिष्टा वर्णा उच्चारिता वर्णा इति । सत्यम्, समुच्चारणक्रियस्तत्रैव वर्तते नान्यत्र इत्यत्र न निबधन किंचित् । यथा गा दोग्धि इत्यादिषु सास्नादिमति दृष्टप्रयोगोऽपि गोशब्दो वागादिषु अपि वर्तते एवमिहापीति किं न गृह्यते ? उपदिष्टमपि न वेत्ति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरुपजायते सा कथमपास्यते । प्रायोग्यवृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थ । प्रोच्यन्ते जीवादय पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचन जिनागम । प्रकर्षश्चोक्त दृष्टेष्टप्रमाणाविरोधिता वस्तुयाथात्म्यानुसारिता च । प्रवचनवाच्योऽर्थ साहचर्यात्प्रवचनमिति मगृह्यते । तु शब्द एवकारार्थ । स च क्रियापदात्परतो द्रष्टव्य । व्याख्यात जैनागमार्थ य श्रद्दधात्येव न तु श्रद्दधाति (?) इत्ययोगव्यवच्छेद । स जीव सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिशब्दवाच्य इति प्रतीतपदार्थैकत्वमादर्शित । '**सद्दहदि**' श्रद्धानं

होता है वह विशेष्य होता है । कहा भी है—प्रतीत पदार्थोमे विशेषण विशेष्यभाव होता है ।।३०।।

सम्यग्दृष्टी शब्दका वाच्य किस प्रकारका जीव होता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते है—

गा०—उपदिष्ट अर्थात् कथित जिनागममे श्रद्धान करता ही है जो जीव वह सम्यग्दृष्टी है । किन्तु नही जानते हुए गुरुके नियोगमे असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है ।।३१।।

टी०—**शंका**—उपपूर्वक दिशि धातुका अर्थ उच्चारण करना है । जैसे 'उपदिष्टवर्ण' का अर्थ उच्चारित वर्ण है । आपने उपदिष्टका अर्थ कथित कैसे किया है ?

समाधान—आपका कथन सत्य है किन्तु समुच्चारण क्रिया अर्थ वाली धातु उसी अर्थमे है, अन्य अर्थमे नही है इसमे हम कोई निबन्धन नही देखते । जैसे 'गौ दुहता है' इत्यादि वाक्योमे गौ शब्दका प्रयोग गलकम्बलवाले पशुके अर्थमे देखा जाता है । फिर भी गौ शब्द वाणी आदि अर्थोमें भी देखा जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी क्यो नही स्वीकार करते । 'उपदिष्टको भी नही जानता' इत्यादिमे 'कथित' अर्थकी प्रतीति होती है उसे कैसे छोडा जा सकता है ? शब्दका अर्थ उसके प्रयोगसे जाना जाता है ।

जिसके द्वारा अथवा जिसमे जीवादि पदार्थ कहे है वह प्रवचन है उसका अर्थ जिनागम है । प्रवचनमे, 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट है । प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविरुद्ध और वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुसारी होना वचनकी प्रकृष्टता है यह पहले कहा है । साहचर्यसे प्रवचनके द्वारा कहे गये अर्थको भी प्रवचन कहते है । 'तु' शब्दका अर्थ 'ही' है । उसे क्रियापद के आगे रखना चाहिये । अतः जो व्याख्यात जनागम के अर्थका श्रद्धान करता ही है वह जीव सम्यग्दृष्टी शब्दके द्वारा कहा जाता है, इस प्रकार दिखलाया है । गुरु अर्थात् व्याख्याताके नियोगसे इसका यह अर्थ है

१. तथाभाविप्र–आ० मु० ।

करोति । **'असब्भावमपि'** असत्यमप्यर्थं । **'अयाणमाणो'** अनवगच्छन् । किं ? विपरीतमनेनापदिष्टमिति । गुरोर्व्याख्यातुरस्यायमर्थ इति कथनान्नियुज्यते प्रतिपत्त्या श्रोता अनेन वचनेन इति नियोग कथन । सर्वज्ञ-प्रणीतस्यागमस्यार्थ आचार्यपरपरया अविपरीत- श्रुतोऽवधृतश्चानेन सूरिणा उपदिष्टो ममेति सर्वज्ञाज्ञाया रुचिरस्यास्तीति । आज्ञारुचितया सम्यग्दृष्टिर्भवत्येवेति भाव ।

किमेष विपरीत प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव ? नेत्याह—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ॥
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥३२॥

सुत्तादो इति । **'सुत्तादो'** सूत्रात् । **'तं'** आत्मना विपरीतं गृहीतमर्थ । **'सम्मं'** सम्यक् अविपरीतरूपेण । **'दरसिज्जंतं'** दर्श्यमान प्ररूप्यमाण अन्येन आचार्येण । **'जदा'** यदा यस्मिन्काले । **'न सद्दहदि'** न श्रद्धाति । **'सो चेव'** स एव सम्यग्दृष्टितयोक्त । **'मिच्छादिट्ठी हवइ'** मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताज्ञाश्रद्धान-वैकल्यात् अर्थयाथात्म्याश्रद्धानाच्च । **'तदो'** तत । **'पहुदि'** प्रभृति आरम्य । असंदिग्धसूत्रातरदर्शितार्था-श्रद्धानादारभ्येति यावत् ।

'सुत्तादो त सम्म दरसिज्जंत' इत्युक्त केन रचितानि सूत्राणि प्रमाणभूतानीत्यत आह—

सुत्त गणधरगथिद तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च ॥
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विगथिदं च ॥३३॥

ऐसा कहनेसे श्रोता इस वचनके द्वारा नियुक्त किया जाता है इस लिये उसे नियोग कहा है, गुरुने विपरीत कथन किया है यह न जानते हुए असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है । सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगमका अर्थ आचार्य परम्परासे जो ठीक-ठीक सुना और अवधारित किया है वही आचार्यने मुझे कहा है इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञामे उसकी रुचि है और आज्ञामे रुचि होनेसे वह सम्यग्दृष्टी ही है यह उक्त कथनका भाव है ॥३१॥

क्या वह इस प्रकार विपरीत श्रद्धा करते हुए भी सर्वदा सम्यग्दृष्टि ही रहता है ? इसका उत्तर देते है कि नही—

गा०—सूत्रसे प्रथम गुरुके उपदेशसे विपरीत रूपसे ग्रहण किये अर्थको सम्यक् अविपरीत रूपसे अन्य आचार्यके द्वारा दिखलाने पर जब श्रद्धा नही करता । वही सम्यग्दृष्टी उस समय से मिथ्यादृष्टि होता है ॥३२॥

टी०—प्रथम गुरुके निर्देशसे विपरीत अर्थका श्रद्धान करने वाले उस सम्यग्दृष्टीको जब कोई दूसरे आचार्य गणधर आदिके द्वारा रचे गये आगम प्रमाणका आश्रय लेकर यथार्थ अर्थ बतलावे और वह उसपर श्रद्धा न करके अपने विपरीत अर्थको ठीक समझे तो सन्देह रहित अन्य शास्त्रोमे दिखलाये गये अर्थपर श्रद्धान न करनेके समयसे लेकर वह मिथ्यादृष्टी होता है क्योकि वह आप्तकी आज्ञाका श्रद्धान नही करता तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी उसे श्रद्धा नही है ॥३२॥

ऊपर 'सूत्रसे सम्यक् दिखलाने पर' ऐसा कहा है तो किसके द्वारा रचित सूत्र प्रमाण होते है यह कहते है—

गा०—जो गणधरके द्वारा रचा हुआ हो, प्रत्येक बुद्धके द्वारा कहा हुआ हो, या श्रुतकेवली के द्वारा कहा हुआ हो या अभिन्न दशपूर्वीके द्वारा रचा गया हो वह सूत्र है ॥३३॥

सुत्त गणधरगथिद इति । सुत्त सूत्रं । गणशब्देन द्वादशगणा उच्यते । तान्धारयन्ति इति गणधरा । दुर्गतिप्रस्थिता हि तेन रत्नत्रयोपदेशेन धार्यन्ते ते सप्तविधर्द्धिमुपगता । उक्त च—

बुद्धितवविगुब्बणोसधिरसबलं च अक्खीणं ॥
सत्तविध इड्ढिपत्ता गणधरदेवा णमो तेसिं ॥ [ ]

इति । तै 'गथिद' ग्रथितं सदृब्ध । केवलिभिरुपदिष्ट अर्थ ते हि ग्रथ्नन्ति । तथाऽयथा[1]पि—'अत्थ कहंति अरुहा गंथं गंथति गणधरा तेसिं । 'तहेव' तथैव । 'पत्तेयबुद्धगथिदं' च प्रत्येकबुद्धग्रथित च । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् परोपदेशमतरेणाधिगतज्ञानातिशया प्रत्येकबुद्धा । 'सुदकेवलिणा' समस्तश्रुतधारिणा कथित चेति । अभिन्नदसपुव्विकधिद च । दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्यानुप्रवादस्था क्षुल्लकविद्या महाविद्याश्च अगुष्ठप्रसेनाद्या प्रज्ञप्त्यादयश्च तैरागत्य रूप प्रदर्श्य, सामर्थ्य स्वकर्मभाष्य पुर स्थित्वा आज्ञाप्यता किमस्माभि कर्तव्यमिति तिष्ठति । तद्वच श्रुत्वा न भवतीभिरस्माक साध्यमस्तीति ये वदन्ति अचलितचित्तास्ते अभिन्नदशपूर्विणः । एतेषामन्यतमेन ग्रथित सूत्र प्रमाण । प्रमाणेन केवलेन श्रुतेन वा गृहीतमर्थ अरक्तद्विष्टा सतो यदुपदिशति ततस्तद्वचसा प्रामाण्य इति भाव । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचर अरक्तद्विष्टवक्तृप्रभव वच प्रमाण । यथा पितुररक्तद्विष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचर वच घटोऽय[2] रक्त इति । तथा च गणधरादीना वच प्रमाण परिदृष्टार्थगोचर अरक्तद्विष्टवक्तृप्रभवम् ।

टी०—गण शब्दसे बारहगण कहे जाते है । जो उन्हे धारण करते है वे गणधर है । अर्थात् दुर्गतिके मार्ग पर चलते हुए गणोको रत्नत्रयके उपदेश द्वारा धारण करते है उन्हे सम्यग्दर्शनादिमे स्थापित करते हैं। वे गणधर सात प्रकारकी ऋद्धियोको प्राप्त होते है । कहा है—बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, और अक्षीणऋद्धि इन सात प्रकारकी ऋद्धियोको प्राप्त गणधरदेव होते हैं । उन्हे नमस्कार हो ॥

वे गणधर केवलियोके द्वारा उपदिष्ट अर्थको ग्रन्थरूप गूथते है । कहा है—अरहन्त अर्थको कहते है और उनके गणधर उसे ग्रन्थका रूप देते है । श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे परोपदेशके बिना जो ज्ञानातिशयको प्राप्त होते है वे प्रत्येकबुद्ध है । जो समस्त श्रुतके धारी होते है वे श्रुतकेवली है । दश पूर्वोका अध्ययन करते हुए दसवे पूर्व विद्यानुवादमें स्थित अंगुष्ट प्रसेना आदि क्षुल्लक विद्याएँ और प्रज्ञप्ति आदि महाविद्याएँ आकर अपना रूप दिखाकर और अपनी शक्ति कहकर सामने खडी होकर निवेदन करती है कि हमारे योग्य कार्य बताये । उनके वचन सुनकर जो कहते हैं कि हमे आपसे कोई काम नही है, वे अचल चित्त वाले अभिन्न दसपूर्वी होते है । इनमेंसे किसी भी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण है । केवल ज्ञानरूप अथवा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणसे द्वारा गृहीत अर्थको रागद्वेषसे रहित होकर कहते हैं इस लिये इनके वचन प्रमाण है । जो वचन प्रमाणके द्वारा देखे गये अर्थको कहते है और रागद्वेषसे रहित वक्तासे उत्पन्न होते है वे प्रमाण है । जैसे रागद्वेषसे रहित पिताके द्वारा स्वय प्रत्यक्षसे जानकर कहे गये वचन 'यह घडा लाल है' प्रमाण है । उसी तरह गणधर आदिके वचन प्रमाण है क्योंकि अच्छी तरहसे देखे गये अर्थको कहते है और रागद्वेषसे रहित वक्तासे उत्पन्न हुए है ॥३३॥

१ अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण ।—आव० नि० ९२ ।
२ रक्ष्य इति आ० मु० ।

भवतु नामैषां अन्यतमेन प्रणीत सूत्र प्रमाणं तदर्थकथनं तु को विपरीत करोति को वाऽविपरीत-मित्यारेकाया अविपरीतार्थकथनकारिणो लक्षणमाहोत्तरगाथया—

गिहिदत्थो संविग्गो अच्छुवदेसे ण संकणिज्जो हु।
सो चेव मंदधम्मो अच्छुवदेसम्मि भजणिज्जो ॥३४॥

'गिहिदत्थो संविग्गो' गृहीत आत्मसात्कृतोऽवधारितोऽर्थ सूत्रस्य येन स गृहीतार्थ **अवधृतसूत्रार्थ** इति यावत्। **'संविग्गो'** ससाराद् द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात् भयमुपगत। विपरीतोपदेशे रागात्कोपाद्वा अनतकालं ससारपरिभ्रमण मम मिथ्यादृष्टे सतो भविष्यतीति य सभय। **'अच्छुवदेसे'** अर्थस्याभिधेयस्य सूत्राणामुपदेशे। **'न संकणिज्जो'** नैवाशक्य। खु शब्द एवकारार्थ.। **'सो चेव'** स एव च गृहीतार्थ। **'मंदधम्मो'** धर्मशब्दश्चारित्रवाची ''**चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो'** [प्रवच० १।७] इति वचनात्। ततो मदचारित्र इत्यर्थ। **'अच्छुवदेसम्हि'** सूत्रार्थव्याख्याने ? **'भयणिज्जो'** भाज्य। यदि सूत्रानुसारि युक्त्यनुगत वा तद्व्याख्यान ग्राह्यमन्यथा नेति यावत्।

किमधिगतमप्रपचवचनार्थो भूत्वा श्रद्धानवान्य स एव च सम्यग्दृष्टि, स एव सम्यक्त्वाराधक इत्यारेकायामाह अन्योऽप्यस्तीति—

धम्माधम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य।
आणाए सद्दहन्तो समत्ताराहओ भणिदो ॥३५॥

इनमेसे किसी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण रहो। किन्तु उसके अर्थका कथन कौन विपरीत करता है और कौन अविपरीत करता है ? ऐसी शङ्का होनेपर अविपरीत अर्थका कथन करने वालेका लक्षण आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण किया है, संसारसे भयभीत है वह सूत्रोंके उपदेशमें शङ्का करनेके योग्य नही ही है। वही गृहीतार्थ मद चरित्र वाला हो तो सूत्रके व्याख्यानमे भाज्य है ॥३४॥

टी०—जिसने सूत्रका अर्थ अच्छी तरह ग्रहण करके उसे अपने मनमे अवधारित किया है और द्रव्य भाव परिवर्तन रूप ससारसे डरता है, राग या द्वेषसे विपरीत उपदेश करने पर मुझे मिथ्यादृष्टी होकर अनन्तकाल ससारका परिभ्रमण करना होगा इस प्रकारका जिसे भय है वह तो सूत्रोके अर्थका उपदेश करनेमे शङ्का करने योग्य बिल्कुल नही है। गाथामे आये हुए खु शब्दका अर्थ 'ही' है। किन्तु वही गृहीतार्थ यदि मन्दधर्मी है, यहाँ धर्मशब्द चरित्रका वाचक है क्योकि कहा है—चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है उसे सम कहा है। अत मन्द धर्मका अर्थ मन्द चारित्र लेना चाहिये। तो उसका व्याख्यान यदि सूत्रके अनुसार अथवा युक्तिके अनुकूल हो तब तो ग्रहण करने योग्य है अन्यथा नही है ॥३४॥

क्या जो विस्तार पूर्वक सूत्रके अर्थको जानकर श्रद्धान करता है वही सम्यग्दृष्टी है, वही सम्यक्त्वका आराधक है ? ऐसी शङ्का करनेपर आचार्य कहते है कि अन्य भी सम्यग्दृष्टी होता है—

गा०—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, कालद्रव्य और जीवद्रव्यको आज्ञासे श्रद्धान करने वाला सम्यक्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

'धम्माधम्मागासाणित्ति'—जीवपुद्गलयो स्वावस्थिताकाशदेशाद्देशान्तर प्रति गति परिस्पदपर्यायं परप्रयोगत स्वभावतो वा विद्यते। अन्येषा निष्क्रियतेति न गतिरस्ति। अनयोर्गतिपर्यायस्य बाह्यं गतिहेतुत्व-सज्ञित गुण धारयतीति धर्मः। तं न धारयतीत्यधर्म.। यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुताया साधारण तथापि न तत्र धर्मशब्दस्य वृत्ति। प्रतिनियतविषया रूढय इत्युक्तमेव। अथवा स्थितेरुदासीनहेतुत्वादधर्मः। न च जीवादीना स्थितेरुदासीनहेतुत्वमस्ति। तावेतावुभावपि असख्यातप्रदेशौ एकतामेवोद्वहन्तौ सूक्ष्मौ नि क्रियौ रूपादिरहितौ। आकश अनतप्रदेशाध्यासितं सर्वेषा अवकाशदानसामर्थ्योपेत। पुद्गलास्तु रूपरसगधस्पर्शवत अणुस्कधरूपभेदाद्द्विविधा। कालो निश्चयेतरविकल्प। जीवा उपयोगात्मका। एतानर्थान्। **'आणाए'** आज्ञया आप्ताना। सावधारण चेद। आज्ञायैव षड् द्रव्याणि सन्तीति श्रद्धातव्यं भवतीति आप्तवचनबलेनैव श्रद्धा तत्र करोति न निक्षेपनयादिमुखेन, प्रवृत्तयाधिगत्या सोऽपि सम्यक्त्वस्याराधक।

जीवद्रव्यविषय नियोगत श्रद्धान कर्तव्य इत्येतदाख्यानायोत्तरगाथा—

संसारसमावण्णा य छव्विहा सिद्धिमस्सिदा जीवा।
जीवणिकाया एदे सद्दहिदव्वा हु आणाए ॥३६॥

'संसारं' चतुर्गतिपरिभ्रमण। **'समावण्णा'** सप्राप्ता शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनाभ्युद्यता, स्वयोग-त्रयानीतपुण्यपापोदयजनितसुखदु खानुभवनिरता। त्रसस्थावरकर्मोदयापादितत्रसस्थावरभावा, विचित्रमति-

---

टी०—जीव और पुद्गलमे अपने रहनेके आकाशसे अन्य देशमे गमन हलन चलन रूप पर्यायोके द्वारा परके प्रयोगमे अथवा स्वभावसे होता है। अत गतिमान ये दो ही द्रव्य है। क्रिया रहित होनेसे अन्य द्रव्योमे गति नही है। इन दोनो द्रव्योकी गतिपर्यायका बाह्य गति हेतुत्व नामक गुण जो धारण करता है वह धर्म है। और जो उस गुणको धारण नही करता वह अधर्म है। यद्यपि जीवादिमे भी गतिहेतुताका साधारण धर्म रहता है तथापि उनमे धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नही है, उन्हे धर्मके नामसे नही कहते, क्योकि रूढि शब्द प्रतिनियत विषयोमे रहते है यह पहले कहा ही है। अथवा जो स्थितिका उदासीन हेतु है वह अधर्मद्रव्य है। जीवादि द्रव्य स्थितिके उदासीन हेतु नही है। ये दोनो धर्म और अधर्म द्रव्य असख्यात प्रदेशी है, एक एक है, सूक्ष्म और निष्क्रिय है तथा इसमे रूप रस आदि गुण नही रहते। आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेश वाला है और सब द्रव्योको अवकाश देनेकी शक्तिसे युक्त है। पुद्गल तो रूप रस गन्ध और स्पर्श गुण वाले है। उनके अणु और स्कन्धके भेदसे दो भेद है। कालके निश्चयकाल और व्यवहारकाल भेद है। जीव उपयोगगुण वाले है। इन द्रव्योका जो आप्तकी आज्ञासे ही श्रद्धान करता है कि छह द्रव्य है, निक्षेप नय आदिके द्वारा जानकर श्रद्धान नही करता, वह भी सम्यक्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

जीव द्रव्य विषयक श्रद्धान नियमसे करना चाहिये, यह कहनेके लिए आगेकी गाथा—

गा०—ससार अवस्थाको प्राप्त छह प्रकारके और सिद्धिको प्राप्त जीव होते है। ये जीव-निकाय आप्त की आज्ञाके बलसे श्रद्धान करनेके योग्य हैं ही ॥३६॥

टी०—चतुर्गतिमे परिभ्रमणको संसार कहते है। उसे जो प्राप्त है वे ससारी है। ससारी जीव अच्छा बुरा शरीर ग्रहण करने और त्यागनेमे लगे रहते है। अपने मन वचन काय योगके द्वारा बाँधे गये पुण्य पाप कर्मके उदयसे होने वाले सुख दु.ख को भोगनेमे लीन रहते है। त्रसनाम

ज्ञानावरणोदयेन तत्क्षयोपशमविशेषेण च एकेंद्रिया', विकलेंद्रिया, समग्रेन्द्रिया पर्याप्तपर्याप्तिकर्मोदयनिर्वर्तित-षड्विधपर्यासयस्तदितरे च, पृथिव्यादिशरीरभारोद्वहनचतुरा, आयुराख्यप्रकृतिघनशृंखलावगाढबंधनपराधीन-वृत्तय । नवविकल्पयोनिसमाश्रयोपजाततनुष्वासक्तबुद्धय । जराडाकिनीपीतरूपरक्ता, मृत्युदुर्वारक्रूराशनि-सपातचकितचेतस ससारिण **'छब्बिहा'** षट्प्रकारा पृथिव्यादिशरीरसबधत । **'सिद्धि'** सम्यक्त्वकेवलज्ञान-दर्शनवीर्याव्याबाधत्वपरमसूक्ष्मत्वावगाहनादिस्वरूपनिष्पत्तिम् । **'अस्सिदा'** आश्रिता । **'जीवा'** जीवा । ननु जीव प्राणधारणे इति वचनात् जीवति प्राणान्धारयति इति जीव । प्राणाश्चेंद्रियादय कर्मनिर्वर्त्या पुद्गल-स्कधधारणभूतेषु कर्मस्वसत्सु न विद्यन्ते । तत कथ सिद्धाना जीवतेति ? नैष दोष, द्विविधा प्राणा' द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्चेति । द्रव्यप्राणा इंद्रियादय कर्महेतुका । भावप्राणास्तु ज्ञानदर्शनादय । न ते कर्मनिमित्तका । कर्माभावे प्रसूते । तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धाना । अथवा यदेव कृतप्राणधारण वस्तु तदेवेद-मिति प्रत्यभिज्ञोपदर्शितमेकत्वमाश्रित्य जीवव्यपदेश सिद्धानाम् । अथवा जीवशब्दश्चेतनावति रूढिशब्द । रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव तदसभवेऽपि तदुपलक्षणगृहीतं सामान्यमाश्रित्य वर्तत एव । यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितोऽपि गोशब्दोऽसत्यामपि गतौ स्थिरता गौर्निषण्णेत्यत्र वर्तते । गमनेनाध्रुवेणोपलक्षितस्य गोत्वस्य सद्भावात् । एव प्राणधारणोपलक्षितचैतन्याश्रयाज्जीवशब्दस्य सिद्धेषु वृत्ति । **'जीवनिकाया'** जीव-

कर्मके उदयसे त्रस और स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर भावको प्राप्त होते है। अनेक प्रकारके मतिज्ञानावरणके उदयसे और उसके क्षयोपशमके विशेषसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते है। पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे बनी छह पर्याप्तियोसे यथायोग्य युक्त होते है और अपर्याप्ति नाम कर्मके उदयम अपर्याप्त होते है। पृथिवी आदि कायके शरीरके भारको धारण करने वाले होते है। आयुनामक कर्मकी मजबूत साकलसे कसकर बन्धनके कारण पराधीन होते है। नौ प्रकारकी योनिके आश्रयसे उत्पन्न हुए शरीरोमे उनकी अति आसक्ति होती है। उनके रूप और रक्तको जरा रूपी चुडैल पी जाती है। मृत्युरूपी क्रूर वज्रपातसे, जिसे टालना अशक्य है उनके चित्त भयभीत रहते है। ये ससारी जीव पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारके है।

सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, अव्याबाधत्व, परमसूक्ष्मत्व, अवगाहना आदि स्वरूपकी प्राप्तिको सिद्धि कहते है। उसे प्राप्त सिद्ध जीव है।

शंका—जीव शब्द प्राणधारणके अर्थमे है ऐसा वचन है। 'जीवति' अर्थात् प्राणोको धारण करता है वह जीव है। और प्राण इन्द्रिय आदि कर्मजन्य है। सिद्धोके पुद्गलस्कन्ध रूप कर्म नही है तब सिद्धोमे जीवपना कैसे है ?

समाधान—यह दोष नही है क्योंकि प्राणोंके दो भेद है—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राण इन्द्रिय आदि कर्मके उदयसे होते है। किन्तु भाव प्राण ज्ञानदर्शन आदि कर्मके निमित्तसे नही होते, कर्मोके अभावमे प्रकट होते है। अत भाव प्राण धारण करनेसे सिद्धोमे जीवपना न्याय्य है। अथवा जिसने पहले प्राणोको धारण किया था वही यह है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके द्वारा एकत्वको लेकर सिद्धोको जीव कहा जाता है। अथवा जीव शब्द चेतनावानके अर्थमे रूढ है। और रूढिमे क्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये होती है। अत उसके न होनेपर भी उसके उप-लक्षणसे गृहीत सामान्यका आश्रय लेकर उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है। जैसे जो चले वह गौ है इस प्रकारसे व्युत्पत्ति करनेपर भी गौ शब्द नही चलनेपर भी गौके अर्थमे व्यवहृत होता है जैसे बैठी हुई गौ। गमन तो अध्रुव है फिर भी उसमें गोपना वर्तमान है। इसी तरह प्राणधारणसे

समूहा । 'सद्दहिदव्वा' खु श्रद्धातव्या. एव । 'आणाए' आप्तानामाज्ञाबलात् ।

जीवाश्रद्धाने मुक्तिसंसारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थप्रयासानुपपत्तिरिति भाव । यदि नाम धर्मादिद्रव्या-परिज्ञानात् परिज्ञानसहचारिश्रद्धान नोत्पन्न तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्या-ज्ञानविषयस्याभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धान इति गृहीत । श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेऽरुचि. ।

श्रद्धातव्य प्रकारांतरेणापि निर्देष्टु उत्तरगाथा—पूर्वं सर्वद्रव्यविषयश्रद्धानमुक्त, पश्चादतिशयप्रति-पादनार्थं जीवद्रव्यविषया श्रद्धा निरूपिता अनतरगाथया । इद तु आस्रवादयोऽपि श्रद्धातव्या इति सूच्यते—

आसवसंवरणिज्जरबंधो मुक्खो य पुण्णपावं च ।।
तह एव जिणाणाए सद्दहिदव्वा अपरिसेसा ।।३७।।

'**आसवसंवरणिज्जर**' । आस्रवत्यनेनेत्यास्रव । आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्याय पुद्गलाना येन कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रव । ननु कर्मपुद्गलाना नान्यत आगमनमस्ति यमाकाश-प्रदेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिता पुद्गला अनतप्रदेशिन कर्मपर्याय भजन्ते '**एयक्खित्तोगाढं**' मिति वचनात् । तत् किमुच्यते आगच्छतीति ? न दोष । आगच्छन्ति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येव ग्रहीतव्य ।

उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे सिद्धोंमे जीव शब्दका व्यवहार होता है ।

आप्तकी आज्ञाके बलसे जीवके इन समूहोंका श्रद्धान करना चाहिये, क्योकि जीवका श्रद्धान न होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति और संसारके विषयोंके त्यागके लिये प्रयास नही हो सकेगा । यदि धर्मादि द्रव्योका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ रहनेवाला श्रद्धान नही उत्पन्न हुआ । तो भी वह मिथ्यादृष्टि नही है क्योकि दर्शन मोहके उदयसे होनेवाला श्रद्धानरूप परिणाम, जिसका विषय अज्ञान है, उसका अभाव है । अश्रद्धानका अर्थ श्रद्धानका न होना नही लिया है किन्तु श्रद्धानसे जो अन्य है वह अश्रद्धान है अर्थात् श्रुतमे कहे हुए तत्त्वमे अरुचि अश्रद्धान है ।।३६।।

प्रकारान्तरसे श्रद्धा करने योग्यका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा है । पहले सब द्रव्योंके श्रद्धान करनेको कहा । पीछे अतिशय प्रतिपादन करनेके लिये जीव द्रव्य विषयक श्रद्धाका कथन इसके पूर्ववर्ती गाथाके द्वारा किया । इस गाथामे आस्रव आदिकी भी श्रद्धा करना चाहिये, यह सूचित करते है—

गा०—आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष और पुण्य, पाप ये सब सातो पदार्थ उसी प्रकार जिनदेवकी आज्ञासे श्रद्धान करने चाहिये ।।३७।।

टी०—जिसके द्वारा आना होता है वह आस्रव है । जिस कारणभूत आत्मपरिणामसे पुद्गलोंका कर्म पर्यायरूपसे आगमन होता है वह परिणाम आस्रव है ।

शंका—कर्म पुद्गलोंका आगमन अन्य देशसे नही होता । जिस आकाश प्रदेशमे आत्मा ठहरा होता है वही पर स्थित अनन्तप्रदेशी पुद्गल कर्मपर्याय रूप होते हैं, क्योकि आगममे 'एकक्षेत्रावगाढ' कहा है । तब आप कैसे कहते है कि आते है ?

समाधान—इसमे दोष नहीं है, आगमनका अर्थ ज्ञानावरणादि पर्याय रूपको प्राप्त होना

न देशान्तरपरिस्पंद इहागमनं विवक्षित । तेन तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघातादय जीवपरिणामा. कर्मत्वपरिणते पुद्गलाना साधकतमतया विवक्षिता आस्रवशब्देनोच्यते । अथवा आस्रवण कर्मतापरिणति' पुद्गलानां आस्रव इत्युच्यते । सव्रियते सरुध्यते मिथ्यादर्शनादि' परिणामो येन परिणामातरेण सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा स सवर । निर्जीर्यते निरस्यते यया, निर्जरण वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थ कर्म निरस्यते यया परिणत्या सा निर्जरा । निर्जरण पृथग्भवन विश्लेषण वा कर्मणा निर्जरा । मोक्ष्यतेऽस्यते येन मोक्षणमात्र वा मोक्ष । निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसज्ञितेन अस्यते स मोक्ष । विश्लेषो वा समस्ताना कर्मणा । बध्यते अस्वतत्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मन' स बन्ध । अथवा बध्यते परवशतामापद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बध' । पुण्य नाम अभिमतस्य प्रापक । पाप नाम अनभिमतस्य प्रापक । इह बधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीत न कर्म एव, पृथक् पुण्यपापग्रहणात् । ननूक्तेन परिणामेन जीवपुद्गलयोरेवातर्भाव आस्रवादीना जीवपुद्गलत्वश्रद्धानस्य पूर्वमुपन्यस्तत्वात् किमर्थमिद सूत्रमिति नैष दोष । विनेयाशयवैचित्र्याद्देशनाभेद आगमवाक्येषु । तत श्रद्धा तत्र सर्वत्र कार्येति चोदित भवति । अश्रद्धान न मनागपि कार्यम् ।

लेना चाहिये। यहाँ आगमनसे देशान्तरसे चलकर आना विवक्षित नही है। अत' आस्रव शब्दसे प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, उपघात आदि जीव परिणामोंको पुद्गलोके कर्मरूप परिणमनमे साधकतम रूपसे विवक्षित किया है। अथवा 'आस्रवण' अर्थात् पुद्गलोकी कर्मरूप परिणतिको आस्रव कहा है।

जिस सम्यग्दर्शनादि या गुप्ति आदि रूप अन्य परिणामसे मिथ्यादर्शन आदि परिणाम 'सव्रियते' रोका जाता है वह सवर है। जिसके द्वारा 'निर्जीर्यते' निरसन किया जाता है अथवा निर्जरणको निर्जरा कहते है। जिस परिणतिसे आत्माके प्रदेशोमे स्थित कर्म हटाये जाते है वह निर्जरा है। कर्मोंके 'निर्जरण' अर्थात् पृथक् होनेको अथवा विश्लेषणको निर्जरा कहते है। जिसके द्वारा 'मोक्ष्यते' अर्थात् छूटते है अथवा मोक्षण मात्रको मोक्ष कहते है। क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और यथाख्यात चारित्र नामक जिस परिणामसे समस्त कर्म छूटते है वह मोक्ष है। अथवा समस्त कर्मोका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष है। आत्माके जिस परिणामसे कार्मणद्रव्य 'बध्यन्ते' परतन्त्र किया जाता है वह बन्ध है, अथवा जिस स्थिति रूप परिणत हुए कर्मके द्वारा आत्मा 'बध्यते' अर्थात् पराधीनताको प्राप्त होता है वह कर्म बन्ध है। इष्टको प्राप्त करानेवालेको पुण्य कहते है और अनिष्टको प्राप्त करानेवालेको पाप कहते है। यहाँ बन्ध शब्दसे जीवके परिणामका ही ग्रहण किया है, कर्मका नही, क्योकि पुण्य पापका पृथक् ग्रहण किया है।

शंका—उक्त परिणामसे तो आस्रव आदिका अन्तर्भाव जीव और पुद्गलमे ही होता है। तथा जीव और पुद्गलके श्रद्धानका पहले कथन किया हो है तब इस गाथा सूत्रके कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

समाधान—यह दोष ठीक नही है। आगमके वचनोंमे शिष्योंके अभिप्राय नाना होनेसे उपदेशमे भेद होता है। अत इन सबमे श्रद्धा करना चाहिये यह प्रेरणा की गई है, किञ्चित् भी अश्रद्धान नही होना चाहिये ॥३७॥

मिथ्यादृष्टिता किमल्पस्य अश्रद्धानेन भवति ? बहुतर श्रद्धीयते इत्याशका न कार्यत्येतदाचष्टे—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठ ।।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ।।३८।।

पदमक्खर इति । पदशब्देन पदसहचारी [1]पदस्यार्थ उच्यते । **'अक्खर च'** इति स्वल्पशब्दोपलक्षण **स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुत** वा । **'जो'** य । **'ण रोचेदि'** न रोचते । **'सुत्तणिदिट्ठं'** पूर्वोक्तप्रमाणनिर्दिष्टम् । **'सेसं'** इतर श्रुतार्थं श्रुताश राचतोऽपि । **'मिच्छादिट्ठी** मिथ्यादृष्टिरिति । **'मुणेदव्वो'** ज्ञातव्य । महति **कुंडे** स्थितं **बह्व**पि पयो यथा विषकणिका दूषयति । एवमश्रद्धानकणिका मलिनयत्यात्मनमिति भाव ।।३८।।

मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यमित्युक्त । स एव न ज्ञायते एवस्वरूप इत्याशकाया मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्था गाथा—

मोहोदयेण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ।।३९।।

मोहोदयेणेति । साध्याहारत्वात् सूत्राणामध्याहारेण सहैव पदघटना । **जो जीवो उवदिट्ठ प्रवयण मोहोदयेण सद्दहदि उवदिटठं अणुवदिट्ठं वा असब्भावं सद्दहदि । सो मिच्छादिट्ठीति** । मोहयति मुह्यतेऽ-

---

जब बहुत पर श्रद्धा है तब क्या थोडेसे अश्रद्धानसे मिथ्यादृष्टिपना होता है ? ऐसी शका नही करना चाहिये, यह कहते है—

गा०—जिसे पूर्वोक्त सूत्रमे कहा एक भी पद और अक्षर नही रुचता । शेषमे रुचि होते हुए भी निश्चयसे उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ।।३८।।

टी०—पद शब्दसे पदका सहचारी पदका अर्थ कहा गया है । अक्षरसे थोडे शब्द लिये गये है, थोडा सा भी अर्थ अथवा शब्द श्रुत जो आगममे कहा गया वह जिसे नही रुचता और शेष आगम रुचता भी हो, तब भी उसे मिथ्यादृष्टी ही जानना । जैसे बडे कुण्डमे भरे हुए बहुत दूधको भी विषका कण दूषित कर देता है उसी प्रकार अश्रद्धानका एक कण भी आत्माको दूषित कर देता है ।।३८।।

उसे मिथ्यादृष्टि जानना, ऐसा तो कहा । किन्तु यही ज्ञात नही है कि मिथ्यादृष्टिका ऐसा स्वरूप है ? ऐसी शका करनेपर मिथ्यादृष्टिका स्वरूप निरूपण करनेके लिये गाथा कहते है—

गा०—मोहके उदयसे जीव उपदिष्ट प्रवचनको श्रद्धान नही करता । किन्तु उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असमीचीन भाव अर्थात् अतत्त्वका श्रद्धान करता है ।।३९।।

टी०—सूत्रमे अध्याहार किया जाता है अर्थात् अन्यत्रसे कुछ पद लिये जा सकते है । अत अध्याहारके साथ इस प्रकार पदोका सम्बन्ध मिलाना चाहिये । जो जीव उपदिष्ट प्रवचनको मोहके उदयसे श्रद्धान नही करता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका श्रद्धान करता है वह

---

१. पदार्थ उ० आ० । पदशब्दस्य सहकारी पद–मु० ।

नेनैति वा मोहो दर्शनमोहनीयाख्य कर्म मद्येन तुल्यवीर्यम् । यथा मद्यमासेव्यमान अपाटव प्रज्ञाया वैपरीत्य च सपादयति ॥३९॥

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥४०॥

एव मिथ्यात्व[1]कर्मापि तस्य उदय सन्निहितसहकारिकारणस्य प्रतिबद्धवृत्तिस्तेनोदयेन कारणेन निरूपित वस्तुयाथात्म्य न श्रद्धत्ते अतत्त्व तु कथित अकथित वा श्रद्धत्ते ॥४०॥

वस्तुयाथात्म्याश्रद्धाने को दोषो येन तत्प्रतिपक्षश्रद्धानभावनया तदपास्यते इत्याशकाया अश्रद्धानकृतदोषमाहात्म्यख्यापनार्था गाथा—

सुविहियमिम पवयणं असद्दहंतेणिमेण जीवेण ॥
बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥४१॥

सुविहिवमिति । सुष्ठु विहित कृत पूर्वापरविरोधदोषरहितवस्तुयाथात्म्यग्राहिविज्ञानकारण । **'इम'** इद । **'पवयण'** प्रवचन । असद्दहतेण अश्रद्दधानेन । **'इमेण'** अनेन । **'जीवेण'** जीवेन । एवमत्र पदसबध । **बालमरणाणि 'अणताणि मदानि तीदे काले'** इति । बालमरणान्यनतानि अतीतकाले मृतानि । ननु मिथ्या-

मिथ्यादृष्टि है । यहाँ मोहसे दर्शनमोहनीय कर्म लेना । उसमे मद्यके समान शक्ति होती है । जैसे मद्यका सेवन बुद्धिको मन्द और विपरीत कर देता है वही दशा इस दर्शन मोहनीय कर्मकी है ॥३९॥

गा०—मिथ्यात्वको वेदन—अनुभवन करने वाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है । उसे धर्म नही रुचता । जैसे ज्वरसे ग्रस्त व्यक्तिको निश्चयसे मधुर रस नही रुचता ॥४०॥

टी०—मद्यके समान ही मिथ्यात्व कर्म भी है । उसका उदय सहकारी कारणका सानिध्य-पाकर अपना कार्य करनेमे कटिबद्ध होता है । अत उसके उदयके कारण शास्त्रमे कहे गये वस्तुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान नही करता । और कहे गये या बिना कहे अतत्त्वका श्रद्धान करता है ॥४०॥

वस्तुका यथार्थ श्रद्धान न करनेमे क्या दोष है जिससे उसके प्रतिपक्षी श्रद्धानकी भावनासे उस दोषको दूर किया जाता है ? ऐसी शका होने पर अश्रद्धानसे होने वाले दोषका महत्त्व बतलानेके लिये गाथा कहते है—

गा०—अच्छी तरहसे किये गये इस प्रवचनको अश्रद्धान करने वाले जीवने अतीतकालमे अनन्त बालमरण मरे ॥४१॥

टी०—पूर्वापर विरोध नामक दोषसे रहित होनेसे तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले ज्ञानका कारण होनेसे प्रवचनको सुविहित कहा है । ऐसे प्रवचनका श्रद्धान न करनेके दोषसे इस जीवको अतीतकालमे अनन्त बार बालमरणसे मरना पड़ा है ।

---

१ मिथ्यात्वस्य ।

दृष्टेर्मरण बालबालमरण तत्किमुच्यते बालमरणानीति । बालत्व नाम सामान्य बालबालेऽपि विद्यते इति बालमरणानीत्युक्त ।

कीदृशी तर्हि मति कार्या ससारभीरुणा—

णिग्गंथं[1] पव्वयणं इणमेव अणुत्तर सुपरिसुद्धं ॥
इणमेव मोक्खमग्गोत्ति मदी कायव्विया तम्हा ॥४२॥

'णिग्गंथ पव्वयण' । ग्रथ्नति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति समारमिति ग्रथा । मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, असयम , कषाया , अशुभयोगत्रय चेत्यमी परिणामा । मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्त किं सम्यग्दर्शन । मिथ्याज्ञाना-न्निष्क्रात सम्यग्ज्ञानम् । असयमात्कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्क्रान्त सुचारित्र । तेन रत्नत्रयमिह निर्ग्रथशब्देन भण्यते । **'पव्वयणं'** प्रवचनस्येद अभिधेय । **'इणमेव'** इदमेव, **'अणुत्तर'** न विद्यते उत्तर उत्कृष्टमस्मादिति अनुत्तरम् । **'सुपरिशुद्धं'** सुष्ठु परिशुद्ध । **'इणमेव'** इदमेव । **'मोक्खमग्गोत्ति'** कर्मणा निरवशेषापायस्योपाय इति । **'मदी'** बुद्धि । **'कायव्विया'** कर्तव्या । **'तम्हा'** तस्मात् । यस्मादेवभूतायामसत्या मत्या दु खमरण-प्राप्तिरतीतकाल इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ॥४२॥

शङ्का—मिथ्यादृष्टि का मरण बालबालमरण है । तब यहाँ बालमरण क्या कहा है ?

समाधान—बालपना सामान्य है वह बाल-बालमे भी रहता है इसलिये 'बालमरण' ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—प० आशाधर जी ने अपनी टीकामे लिखा है कि कुछ 'सुविहिद' ऐसा पढते है और उसका व्याख्यान वे 'हेतुचारित्र' ऐसा करते है। अर्थात् 'सुविहिद' को प्रवचनका विशेषण न करके सम्बोधनके रूपमे लेते है ॥४२॥

तब ससारसे डरने वालेको कैसी मति करनी चाहिये, यह कहते है—

गा०—इसलिये रत्नत्रयरूप जो प्रवचनका अभिधेय है यही सर्वोत्कृष्ट और पूर्णरूपसे निर्दोष है। यही मोक्षका मार्ग है ऐसी मति करनी चाहिये ॥४२॥

टी०—जो ससारको 'ग्रथ्नति' रचते है उसे दीर्घ करते है उन्हे ग्रन्थ कहते है। ये ग्रन्थ है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असयम, कषाय और तीन अशुभ योगरूप परिणाम । मिथ्यादर्शनके हटनेसे सम्यग्दर्शन होता है । मिथ्याज्ञानके हटनेसे सम्यग् ज्ञान होता है । असयम, कषाय और तीन अशुभयोगोके हटनेसे सम्यक्चारित्र होता है। अत यहाँ निर्ग्रन्थ शब्दसे रत्नत्रय कहा है। और 'पव्वयण' का अर्थ प्रवचनमे कहा गया विषय है। जो प्रवचनमे कहा रत्नत्रय है वही अनुत्तर है अर्थात् उससे उत्कृष्ट कोई नही है और वही पूर्ण शुद्ध है, वही मोक्षमार्ग अर्थात् समस्त बुराइयो का उपाय है। ऐसी मति करना चाहिये, क्योकि इस प्रकारकी मतिके न होनेपर दु खदायक मरणोकी प्राप्ति अतीतकालकी तरह भविष्यकालमे भी होगी ॥४२॥

---

१. अन्ये तु नि.सग प्रवचनमिति प्राधान्येन व्याचक्षते—मूलारा० ।

तच्च सम्यक्त्वं निरतिचारं [1]गुणोज्ज्वलितं भावनीयं इत्येतदाचष्टे उत्तरप्रबंधेन । तत्रातिचारनिवेदनार्थोत्तरगाथा—

सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिंछा ॥
परदिठ्ठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४३ ॥

'सम्मत्तादीचारा' श्रद्धानस्य दोषाः । **'संका'** शंका, संशयप्रत्ययः किंस्विदित्यनवधारणात्मकः । स च निश्चयप्रत्ययाश्रयं दर्शनं मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तदतिचारो युज्यते । संशयश्च मिथ्यात्वमावहति । तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु संशयोऽपि गणितः । **'संसइदमभिग्गहिदं अणभिग्गहिदं च तं तिविधं'** इति । सत्यपि संशये सम्यग्दर्शनमस्त्येवेति अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेष्टुरभावात्, तस्य वा वचननिपुणता नास्ति तन्निर्णयकारिश्रुत[2]वचनानुपलब्धेः, काललब्धेरभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोपजायते । तथापि तु इदं यथा सर्वविदा उपलब्धं तथैवेति श्रद्धधेहमिति भावयतः कथं सम्यक्त्वहानिः ? एवंभूतश्रद्धारहितस्य को वेत्ति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविन्नेतर इति आगमशरणतायां को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति संशय एवेति । यत्तत्त्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्-

अतिचाररहित और गुणोसे उज्ज्वल वह सम्यक्त्व भावनीय है यह आगे कहते है। उसके अतिचारोका कथन आगेकी गाथासे करते है—

गा०—शङ्का, आसक्ति, उसी तरह विचिकित्सा या ग्लानि अतत्त्वदृष्टिजनोकी प्रशंसा और अनायतनोकी सेवा, ये सम्यक्त्वके अतिचार है ॥४३॥

टी०—शङ्का आदि सम्यक्त्वके अतीचार अर्थात् श्रद्धानके दोष है। शंका संशयज्ञानको कहते है जो 'यह क्या है' इस प्रकार अनवधारणरूप होता है। वह निश्चयात्मकज्ञानके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करता है।

शङ्का—सम्यक्त्व होनेपर उसमे अतिचार लगना उचित है। किन्तु संशय तो मिथ्यात्वरूप है। मिथ्यात्वके भेदोमे संशयको भी गिना है। कहा है—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत तीन प्रकारका मिथ्यात्व है।

समाधान—संशयके होनेपर भी सम्यग्दर्शन रहता है अतः उसका अतिचारपना उचित है। श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष न होनेसे, उपदेष्टाके अभावसे अथवा उससे वचनोकी निपुणता न होनेसे, या निर्णयकारी शास्त्रवचनके प्राप्त न होनेसे अथवा काललब्धिके अभावसे यदि किसी विषयका निर्णय नही होता, तथापि जैसा इसे सर्वज्ञ भगवान्ने देखा है वैसा ही मै श्रद्धान करता हूँ' ऐसी भावना करनेवालेके सम्यक्त्वका अभाव कैसे हो सकता है ? जिसके इस प्रकारकी श्रद्धा नही है, तथा कौन जानता है तत्त्व क्या है, कपिल आदिको जब देखा नही तो उनकी सर्वज्ञताका निर्णय कैसे हो सकता है, यही सर्वज्ञ है, दूसरा नही है इसमे आगमका आश्रय लेनेपर कौन आगम यथार्थ वस्तुको कहता है, कौन नही कहता इस प्रकारका संशय ही होता है। इस प्रकारके संशयपूर्वक जो तत्त्वका अश्रद्धान है वह संशयज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण

१ गुणोपोद्वलितं अ० । गुणोपोद्वजितं आ० । २. वचनाभावात् वा का—आ० ।—लब्धेः अभावाद्वाका—मु० ।

त्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । **अश्रद्धानरूपतैव लक्षणं मिथ्यात्वस्य ।** यथा वक्ष्यति 'तं **मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होदि अत्थाण**' मिति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो वाक्यान्तरे '**मिच्छाणाणमिच्छादंसणमिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमीति**' । किं च छद्मस्थाना रज्जूरगस्थाणुपुरुषादिषु किमियं रज्जुरुरगः स्थाणुः पुरुषो वा किमित्यनेक. संशयप्रत्ययो जायते इति[1] ते न सम्यग्दृष्टयः स्युः ।

कांक्षा गाढर्यं आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मलं । यद्येवं आहारे कांक्षा, स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यालंकारादिषु वाऽसंयतसम्यग्दृष्टेर्विरताविरतस्य वा भवति । यथा प्रमत्तसंयतस्य परीषहाकुलस्य भक्ष्यपानादिषु कांक्षा संभवतीति सातिचारदर्शनता स्यात् । तथा भव्याना मुक्तिसुखकांक्षा अस्त्येव । इत्यत्रोच्यते न कांक्षामात्रमतीचार' किंतु दर्शनाद्व्रताद्दानाद्देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुलं, रूपं, वित्तं, स्त्री-पुत्रादिकं, शत्रुमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

'**विचिकित्सा जुगुप्सा**' मिथ्यात्वासंयमादिषु जुगुप्साया' प्रवृत्तिरतिचारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन । रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता । ततस्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं वाऽशोभनमिति । यस्य हि यत्र इदं भद्रं इति श्रद्धानं स तस्य जुगुप्सां करोति । ततो रत्नत्रयमाहात्म्यारुचिर्युज्यतेऽतिचारः ।

संशय मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्वका लक्षण अश्रद्धानरूपता ही है। आगे कहेंगे—'तत्त्वार्थका जो अश्रद्धान है वही मिथ्यात्व है'। यदि ऐसा न हो तो मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शनमे भेद ही न हो। किन्तु अन्यत्र वचनमे स्पष्ट भेद कहा है। यथा—'मै मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे विरत होता हूँ।' तथा छद्मस्थ जीवोको रस्सी, सर्प, और स्थाणु पुरुष आदिमे, यह रस्सी है या साँप, अथवा स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार अनेक संशयज्ञान होते है। तब वे सम्यग्दृष्टी नही हो सकेंगे ?

कांक्षा गृद्धि या आसक्तिको कहते है। वह भी सम्यग्दर्शनका मल है।

शंका—यदि ऐसा है तो असंयतसम्यग्दृष्टी अथवा विरताविरत श्रावकको आहारकी या स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलंकार आदिकी कांक्षा होती है। तथा परीषहसे व्याकुल प्रमत्तसंयत मुनिके खान-पान आदिकी कांक्षा होती है वह भी सम्यग्दर्शनका अतीचार कहलायेगी। तथा भव्य जीवोको मुक्ति सुखकी कांक्षा रहती ही है ?

समाधान—कांक्षामात्र अतीचार नही है। किन्तु सम्यग्दर्शनसे, व्रतधारणसे, देवपूजासे और तपसे उत्पन्न हुए पुण्यसे मुझे अमुक कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रु विनाश, अथवा सातिशय स्त्रीपना, पुरुषपना प्राप्त हो इस प्रकारको कांक्षा यहाँ ग्रहण की है। वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है।

विचिकित्सा जुगुप्साको कहते है।

शंका—तब तो मिथ्यात्व असंयम आदिमे जुगुप्सा करना भी अतीचार हो जायेगा।

समाधान—यहाँ भी नियत विषयमे जुगुप्साको अतिचाररूपसे माना है। रत्नत्रयमे किसी एकमें अथवा रत्नत्रयके धारीमें कोप आदिके निमित्तसे होनेवाली जुगुप्साका यहाँ ग्रहण किया हैं। जिसका जिसमे यह श्रद्धान है कि यह श्रेष्ठ है वह उसकी जुगुप्सा करता है। अतः रत्नत्रयके महत्त्वमे अरुचिका होना अतिचार होता है।

---

१ ति ते सम्य–आ० मु० ।

'परदिट्ठीण पसंसा' परशब्दोऽनेकार्थवाची । क्वचिद् व्यवस्थावाची । नापरो ग्रामः पाटलिपुत्रादित्यादौ । तथा क्वचिदन्यार्थे परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा इष्टार्थे, परं धाम गत' इष्टमिति यावत् । इह तु अन्यवाची । दृष्टि' श्रद्धा रुचि. । परा अन्या दृष्टिः श्रद्धा येषा ते परदृष्टयः । तत्त्वदृष्टचपेक्षया अतत्त्वदृष्टिरन्या तेषां प्रशंसा स्तुतिः ।

'अणायवणसेवणा चेव'–अनायतन षड्विध मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टय', मिथ्याज्ञान, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्रं मिथ्याचारित्रवन्त इति । तत्र मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवाया मिथ्यादृष्टिरेवासौ नातिचारता । मिथ्यादृष्टीना तु सेवा बहुमनन तेषा । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेश इदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतॄणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभि' सह सवास तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा । मिथ्याचारित्र नाम मिथ्याज्ञानिनामाचरणं तत्रानुवृत्तिर्द्रव्यलोभाद्यपेक्षया तेषु वा सागत्यादिक । एतेषा सम्यक्त्वातिचाराणा वर्जनम् ॥४३॥

गुणान्दर्शनविशुद्धिकारिणो निरूपयति उवगूहणमित्यनया—

उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा गुणा भणिदा ॥
सम्मत्तविसोधीए उवगूहणकारया चउरो ॥४४॥

उपबृहण नाम वर्द्धन । बृह बृहि वृद्धाविति वचनात् । धात्वर्थानुवादी चोपसर्ग उप इति । स्पष्टे-

---

'परदिट्ठीण' मे पर शब्दके अनेक अर्थ है । कही पर शब्द व्यवस्थाका वाची होता है । जैसे पाटलिपुत्रसे अपर गाँव नही है । कही परका अर्थ अन्य है । जैसे पर आचार्य अर्थात् अन्य आचार्य । कही परका अर्थ इष्ट है । जैसे पर धामको गया अर्थात् इष्ट धामको गया । यहाँ पर शब्द अन्यवाची है । दृष्टिका अर्थ श्रद्धा या रुचि है । जिनकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा पर अर्थात् अन्य है वे परदृष्टि है । अर्थात् तत्त्वदृष्टिकी अपेक्षा अतत्त्वदृष्टि अन्य है । उनकी प्रशसा-स्तुति सम्यग्दर्शनका अतीचार है ।

अनायतनके छह भेद है—मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रके धारक । उनमेसे मिथ्यात्व तो अश्रद्धान ही है । उसकी सेवा करनेपर तो यह मिथ्यादृष्टि ही हुआ । अत मिथ्यात्व सेवा अतीचार नही है । मिथ्यादृष्टियोकी सेवाका अर्थ है उन्हे बहुत मानना । मिथ्याज्ञानकी सेवाका मतलब है निरपेक्ष नयोका उपदेश देना या 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका श्रद्धान श्रोताओको उत्पन्न कराऊँ, इस रूपमे मिथ्याज्ञानियोंके साथ सवास करना, उनसे अनुराग होना अथवा उनकी अनुकूलता । मिथ्याज्ञानियोके आचरणको मिथ्याचारित्र कहते है । द्रव्यलोभ आदिकी अपेक्षासे उनका अनुवर्तन अथवा उनकी सगति । इन सम्यक्त्वके अतिचारोको छोडना चाहिए ॥४३॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले गुणोको कहते है—

गाथा—उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वकी विशुद्धिकी वृद्धि करनेवाले कहे है ॥४४॥

टी०—उपगूहण अर्थात् उपबृंहण नाम बढाने का है । क्योकि 'बृह और बृहि धातुका अर्थ वृद्धि है' ऐसा कहा है । धातुके अर्थ के ही अनुकूल 'उप' उपसर्ग है । स्पष्ट और अग्राम्य

नाग्राम्येण श्रोत्रमनःप्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवणेन धर्मोपदेशेन परस्य तत्त्वश्रद्धानवर्द्धनं[1] तदुपबृंहणं। सर्वजनविस्मयकारिणी शतमखप्रमुखगीर्वाणसमितिविरचितोपचितिसदृशीं पूजां संपाद्य दुर्धरतपोयोगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धा स्थिरीकरणम्।

जीवादीनि द्रव्याणि तत्सामान्यविशेषरूपाध्यासितानि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकानि प्रतिसमयमिति जिनैः सम्यगभाणि एवमेव नान्यथा श्रद्दधे जिनानां मतं। न हि जिना वीतरागा विदिताखिलवेद्यतया याथातथ्या कृपापरिगता विपरीतमुपदिशन्तीति भावनया स्थिरीकरणं, अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादनं। मिथ्यात्वाभिमुखस्य सम्यग्दृष्टेरस्थिरस्य मिथ्यात्वं मूलमेव तदनुभवतः कर्मादानं, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाया हि बंधहेतवः। तद्बंधहेतुकं चानंतसंसारपरिभ्रमणं चतुरशीतियोनिशतसहस्रेषु। सद्दर्शनं तु विचित्रयातनासंकटभयप्रदायिन्योर्नरकतिर्यग्गतिवर्तिन्योर्वज्रार्गलाभूतं शतमखमनुष्यलोकयोरन्यूनमान्यरूपभोगादिसंपत्संपादनचतुरं क्रमेण निर्वाणमपि प्रयच्छति। ततो दुःखजलवाहिनीं मिथ्यादृष्टिकुल्यामुल्लंघय, प्रतिपद्यस्व जैनीं दृष्टिमिति तत्र स्थिरताकरणम्। तथा सम्यग्ज्ञानभावनायां च प्रमादिनमलसं दृष्ट्वा एवमसौ वक्तव्यः ज्ञानं हिताहितप्रकाशनपटु, तदन्तरेण हितमजानतः कथं तत्र वृत्तिरहितपरिहारो वा। हिताहितप्राप्तिपरिहारौ विना न सुखाधिगमदुःखविश्लेषौ। तदर्थमेव चायं प्राज्ञो जनः क्लिश्यति। ततः पंचविधस्वाध्यायत्यागं मा कृथा इति ज्ञाने स्थिरीकरणं। अथवा अनधिगतसूत्रार्थनिश्चयस्य तत्र निश्चयसंपादनं असकृद्भावनात्मनः स्थिरीकरणं।

(शिष्टजनोचित) कानो और मनको प्रसन्नता देनेवाले तथा वस्तुका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करनेमे समर्थ धर्मोपदेशके द्वारा दूसरेके श्रद्धानको बढाना उपबृहण है। अथवा सर्व जनोको आश्चर्य पैदा करनेवाली, इन्द्रादि प्रमुख देवगणोके द्वारा की जानेवाली पूजाके समान पूजा रचाकर अथवा दुर्धर तप और ध्यानका अनुष्ठान करके आत्मामे श्रद्धाको स्थिर करना उपबृहण है।

जीवादि द्रव्य अपने सामान्य और विशेष रूपोसे युक्त होकर प्रतिसमय उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है ऐसा जिनदेवने सत्य ही कहा है। ऐसा ही है, अन्यथा नही है। जिनदेवके मतका मै श्रद्धान करता हूँ। वीतराग, समस्त पदार्थोके यथार्थ रूपको जाननेवाले दयालु जिनदेव विपरीत उपदेश नही देते' इस प्रकारकी भावनासे रत्नत्रयमे अस्थिरको स्थिर करना स्थितिकरण है। मिथ्यात्वके अभिमुख सम्यग्दृष्टिकी अस्थिरताका मूल मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्वका अनुभवन करनेवालेके कर्मोका ग्रहण होता है क्योकि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्धके कारण है। और उस बन्धके कारण चौरासी लाख योनियोमे अनन्तकाल तक संसार भ्रमण करना होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन विचित्र कष्ट, सकट और भय देनेवाली नरक गति और तिर्यञ्च गतिके लिए वज्रमयी अर्गला है, इन्द्र लोक और मनुष्य लोकमें पूर्ण मान्य भोगादि सम्पदाको प्राप्त करानेमे चतुर है, क्रमसे मोक्ष भी प्राप्त कराता है। इसलिए दुःख रूपी जल जिसमे बहता है उस मिथ्यादृष्टि रूपी नदीको पार करके जैनी दृष्टि प्राप्त करो। इस प्रकार उसमे स्थिर करना स्थितिकरण है। तथा सम्यग्ज्ञानकी भावनामे प्रमादी आलसीको देखकर उससे ऐसा कहना चाहिए—ज्ञान हित और अहितको प्रकाशित करनेमे चतुर होता है। उसके बिना जो हितको नही जानता वह कैसे हितमे प्रवृत्ति और अहितका परिहार कर सकेगा और हितकी प्राप्ति तथा अहितके त्यागके बिना सुखकी प्राप्ति और दुःखसे छुटकारा नही हो सकता। उसीके लिए तो यह बुद्धिमान मनुष्य कष्ट उठाता है। अतः पाँच प्रकारकी स्वाध्यायका त्याग मत करो। इस प्रकार ज्ञानमे स्थिरीकरण है। अथवा

१. वर्तन अ० आ०।

चारित्रात् प्रच्यवमान दृष्ट्वा हिमादिसावद्यक्रियाया प्रवर्तमाना इहैव दु खभाजो दृश्यन्ते, तथा पर हन्तुमुद्यत स्वय तेनैव हन्यते प्राक्तनमित्रैर्वधुभिर्वोदीर्णवैरै । परत्र चाशुभा गतिमुपैति । दु खदाय्यसद्वेद्य च बध्नाति । अलीक ब्रुवन्निहैव बधुजनस्यापि विद्वेष्योऽविश्वास्यश्च भवति कि पुनरन्यस्य । जिव्हा चोत्पाटयति क्रुद्धा बलिन । परत्र च मूकता यास्यति इत्येवमाद्यसयमगतदोष प्रख्याप्य नीरोगता, दीर्घजीवन, सौरूप्य, प्रियवचनादिक गुणमुपदिश्य अहिंसादिव्रताचरणफल चारित्रे स्थिरीकरणम् । असयतदोष सयमगुण वा पुन पुनः स्मृत्वात्मन स्थिरीकरणम् ।

धर्मस्थेषु मातरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्य, रत्नत्रयादरो वात्मन । प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वता वा ॥४४॥

दर्शनविनयप्रतिपादनार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य ।
आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४५ ॥

'अरहत इत्यादिक' । **अरिहननाद्रजोहननाद्रहस्याभावादतिशयपूजार्हत्वाच्चाधिगतार्हद्व्यपदेशा नोआगमभावार्हन्त इह गृहीताः** । न नामार्हन्, **निमित्ताभावेऽपि पुरुषकारान्नियुक्तार्हद्व्यपदेशः** । अर्हता प्रतिबिबानि

सूत्रके अर्थका निश्चय जिसे नही है उसे निश्चय कराना । तथा बारम्बार भावना करना आत्माका स्थिरीकरण है ।

चारित्रसे गिरते हुए को देखकर कहना—जो हिंसा आदि पाप कार्योमे लगते है वे इसी जन्ममे दु ख भोगते देखे जाते है । जो दूसरेको मारनेके लिए तैयार होता है वह स्वय अथवा उसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है । अथवा उसके मित्रो और बन्धुओके द्वारा पूर्व वैरके उदीर्ण होनेसे मारा जाता है । मरकर दुर्गतिमे जाता है । दु खदायी असातावेदनीय कर्मको बाँधता है । असत्य बोलने वाला इसी लोकमे बन्धुजनोके द्वारा द्वेषका भाजन होता है तथा उसका वे विश्वास नही करते । फिर दूसरो की तो बात ही क्या है ? बलवान पुरुष क्रुद्ध होकर झूठ बोलने वालेकी जिह्वा उखाड देते है । मरकर वह परलोकमे गूँगा होता है । इस प्रकारसे असयमके दोष कहकर और नीरोगता, दीर्घ जीवन, सौन्दर्य, प्रियवचन आदि सयमके गुणोका उपदेश देकर चारित्रमे स्थिर करना अहिसा आदि व्रतोके आचरणका फल है । अथवा असयमके दोष और सयमके गुण बार-बार स्मरण करके अपनेको चारित्रमे स्थिर करना स्थितीकरण है ।

धर्मात्माओमे माता-पिता वा भाईमे अनुराग करना वात्सल्य है । अथवा अपने रत्नत्रयमे आदरभाव रखना वात्सल्य है । रत्नत्रयका अथवा रत्नत्रयके धारकोका माहात्म्य प्रकट करना प्रभावना है ॥४४॥

दर्शन विनयका कथन करनेके लिए आगे दो गाथा कहते है—

गा०—अरहन्त, सिद्ध और प्रतिबिम्बोमे श्रुतमे और धर्ममे और साधुवर्गमे आचार्यमे उपाध्यायमे और सुप्रवचनमे दर्शनमे भी ॥४५॥

टी०—'अरि' अर्थात् मोहनीयकर्मका नाश कर देनेसे, 'रज' अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मको नष्ट कर देनेसे, 'रहस्य' अर्थात् अन्तरायकर्मका अभाव कर देनेसे, और सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हत् कहे जानेवाले नो आगमभावरूप अर्हन्तोका यहाँ ग्रहण किया है ।

सोऽयमित्यभिसंबधावर्हद्व्यपदेशभाजि पूजातिशयार्हत्त्वेऽपि अरिहननादिगुणासभवान्नेह गृह्यन्ते। आगमद्रव्यार्हन्न-र्हत्स्वरूपव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तदर्थेऽन्यत्र व्यापृत। ज्ञायकशरीरार्हन्नाम तत्प्राभृतज्ञस्य त्रिकालगोचर शरीर। यस्मिन्नात्मनि अरिहननादयो भविष्यति गुणा स भाव्यर्हन्। तीर्थंकरनामकर्म तद्व्यतिरिक्तद्रव्यार्हन्। अर्हद्व्यावर्णनपरप्राभृतप्रत्ययोऽर्हन्निर्भासो बोध आगमभावार्हन्। एतेषु अरिहननादिगुणानामभावात् नेहार्हच्छ-ब्देन ग्रहणम्।

एव नामसिद्धः अलब्धसकलात्मस्वरूपे सिद्धशब्द। यस्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धसज्ञा। स्थापनासिद्धा इति तत्प्रतिबिंबानि उच्यन्ते। ननु सशरीरस्यात्मन प्रतिबिब युज्यते, अशरीराणा तु शुद्धात्मना सिद्धाना कथ प्रतिबिंबसभव ? पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया शरीरमनुगतो य आत्मा सयोगकेवलीतरो वा न शरीरान्निर्भक्तु शक्यते। विभागे हि शरीरात्ससारिता न स्यात्। अशरीर ससारी चेति विरुद्धमेतत्। तत शरीरसस्थान-वच्चिदात्मापि सस्थानवानेव सस्थानवतोऽव्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्थात्मवत्। स एव चाय प्रतिपन्नसम्यक्त्वाद्यष्ट-गुण इति स्थापनासभव। आगमद्रव्यसिद्ध सिद्धप्राभृतज्ञ सिद्धशब्देनोच्यते अनुपयुक्त। सिद्धप्राभृतज्ञस्य

नामसे जो अर्हन्त है उनका यहाँ ग्रहण नही है। अर्हन्त सज्ञाके जो निमित्त कहे हैं उनके अभावमे भी जबरदस्तीसे जो अर्हत् नाम रख दिया जाता है उसे नाम अर्हत् कहते है। अर्हन्तोंके प्रतिबिम्ब 'वे अर्हन्त यही है। इस प्रकारकी स्थापनाके सम्बन्धसे अर्हन्त कहे जाते है और वे सातिशय पूजाके योग्य भी है फिर भी उनमे मोहनीय कर्मका विनाश आदि गुण न होनेसे यहाँ उनका ग्रहण नही किया है। अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता, जो उसमे उपयोग नही लगा रहा किसी अन्य कार्यमे लगा है वह आगम द्रव्यअर्हन्त है। उस अर्हन्तविषयक शास्त्रके ज्ञाताका जो भूत वर्तमान और भावि शरीर है वह ज्ञायक शरीर अर्हन्त है। जिस आत्मामे अरिहनन आदि गुण भविष्यमे होगे वह भाविअर्हन्त है। तीर्थङ्करनामकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य-अर्हन्त है। अर्हन्तके वर्णनमे तत्पर शास्त्रका जो ज्ञान है--अर्थात् अर्हन्तविषयक जो ज्ञान है वह आगमभाव अर्हन्त है। इन सबमे अरिहनन आदि गुणोका अभाव होनेसे यहाँ अर्हत् शब्दसे उनका ग्रहण नही किया है।

इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नही किया उसमे सिद्ध शब्दका व्यवहार नाम सिद्ध है। अथवा सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमे निमित्त आठ कर्मोके विनाशकी अपेक्षा न करके जिसका नाम सिद्ध रखा गया है वह नामसिद्ध है। सिद्धोके प्रतिबिम्बोको स्थापनासिद्ध कहते है।

शका—शरीरसहित आत्माका प्रतिबिम्ब तो युक्त है। शरीर रहित शुद्ध आत्माओका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है ?

समाधान—पूर्वभाव प्रज्ञापननयकी अपेक्षा जो आत्मा शरीरमे था, वह सयोगकेवली हो या अन्य हो, उसे शरीरसे अलग नही किया जा सकता। यदि उसे शरीरसे पृथक् ही सर्वथा कर दिया जाये तो उसका ससारीपना नही बनता; क्योकि शरीरसे रहित हो और ससारी हो यह तो परस्पर विरुद्ध है। अत शरीरके आकारकी तरह चेतन आत्मा भी आकारवान ही है क्योकि वह आकारवानसे अभिन्न है, जैसे शरीरमे रहनेवाला आत्मा। वही यह सम्यक्त्व आदि आठ-गुणोसे सहित है इस प्रकार सिद्धकी स्थापना सम्भव है। जो सिद्ध विषयक शास्त्रका ज्ञाता उसमे उपयुक्त नही है और उसे सिद्ध शब्दोसे कहा जाता है तो वह आगमद्रव्य सिद्ध है। सिद्धविषयक

शरीर ज्ञायकशरीर । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो भाविसिद्ध.। व्यतिरिक्तसिद्धो न सभवति । सिद्धत्व न कर्मकारणम् इति सकलकर्मापायहेतुका सिद्धता । पुद्गलद्रव्यस्य तदुपकारिणोऽसभवान्नोकर्मसिद्धाभाव । सिद्धप्राभृतानुसारि-सिद्धज्ञानपरिणत आगमभावसिद्ध.। निरस्तभावद्रव्यकर्ममलकलङ्क. परिप्राप्तसकलक्षायिकभाव नोआगमभाव-सिद्ध.। स इह गृहीतो न इतरे सकलात्मस्वरूपप्राप्त्यभावात् ।

'**चेदिय**' चैत्य प्रतिबिब इति यावत् । कस्य ? प्रत्यासत्ते श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयो प्रतिबिबग्रहण । अथवा मध्यप्रक्षेप पूर्वोत्तरगोचरस्थापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्वादिस्थापनापि गृह्यते ।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाज्जात वस्तुयाथात्म्यग्राहि श्रद्धानानुगत श्रुत अगपूर्वप्रकीर्णकभेदभिन्न, तीर्थंकर श्रुतकेवल्यादिभिरारचितो वचनसदर्भो वा, लिप्यक्षरश्रुत वा ।

धर्मशब्देन चारित्र समीचीनमुच्यते । ज्ञानदर्शनाभ्यामनुगत सामायिकादि पचविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थित जीवधारणात्, शुभे स्थाने वा दधाति इति धर्मशब्देनोच्यते । अथवा

'खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा ।
तह होदि बम्भचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा ॥ —[मूलाचार ८।६२]

इति सूत्रातरनिर्दिष्टधर्मपरिग्रह । क्रोधनिमित्तसान्निध्येऽपि कालुष्याभाव क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्ष.। जात्याद्यभिमानाभावो मान[1]दोषापेक्षस्य दृष्टकार्यानपाश्रयो मार्दवम् । आकृष्टान्तद्वयसूत्रवद्वक्रताभाव आर्जव-

---

शास्त्रके ज्ञाताओका शरीर ज्ञायकशरीर है । भविष्यमे जिसे सिद्धपर्याय प्राप्त होगी वह भाविसिद्ध है । तद्व्यतिरिक्त सिद्ध सम्भव नही है क्योकि सिद्धत्वपर्यायका कारण कर्म नही है । सिद्धता तो समस्त कर्मोके विनाशसे प्राप्त होती है । उस सिद्धत्वपर्यायका उपकारी पुद्गलद्रव्य नही है इसलिए नोकर्मसिद्ध भी नही है । सिद्ध विषयक शास्त्रके अनुसार सिद्धोके ज्ञानरूप जो परिणत है वह आगम भाव सिद्ध है । जिसने भावकर्म और द्रव्यकर्ममलरूप कलकको नष्ट करके सकलक्षायिक-भावोको प्राप्त कर लिया है वह नो आगम भावसिद्ध है । उसीका यहाँ ग्रहण किया है अन्यका नही; क्योकि उन्होने पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नही किया है ।

चैत्य प्रतिबिम्बको कहते है । चैत्य शब्द अर्हन्त और सिद्धके समीप है अत: सिद्ध और अर्हन्तके ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करना । अथवा उससे पूर्वकी और उत्तरकी स्थापनाका ग्रहण करनेके लिए चैत्य शब्दको मध्यमे रखा है । उससे साधु आदिकी स्थापनाका भी ग्रहण होता है ।

श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाला श्रद्धान सहित ज्ञान श्रुत है । उसके भेद ग्यारह अग, चौदह पूर्व और अगबाह्य है । अथवा तीर्थंकर और श्रुतकेवली आदिके द्वारा रचा गया वचन सन्दर्भ श्रुत है । अथवा जो लिपि रूप अक्षरश्रुत है वह श्रुत है । धर्म शब्दसे समीचीन चारित्र कहा जाता है । ज्ञान और सम्यग्दर्शनसे अनुगत वह चारित्र सामायिक आदिके भेदसे पाँच प्रकार का है । दुर्गतिमे पडे हुए जीवको धारण करनेसे अथवा शुभ स्थानमे धरनेसे उसे धर्म शब्दसे कहते है अथवा धर्म शब्दसे शास्त्रमे कहे गये क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, सयम, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य, त्याग ये दस धर्म ग्रहण किये हैं । क्रोधके निमित्तोंके रहते हुए भी कलुषताके अभावको क्षमा कहते है । यह क्षमा किसी स्नेह सम्बन्धी कार्य आदिकी अपेक्षाके विना होती है । मानकी बुराइयोकी अपेक्षा न करके तथा लौकिक

---

१ दोषानपेक्षश्च दृ–आ० मु० ।

मित्युच्यते । द्रव्येषु ममेद भावमूलो व्यसनोपनिपात' सकल इति तत परित्यागो लाघव । अशनादिपरित्यागात्मिका क्रिया अनपेक्षितदृष्टफला द्वादशविधा तप. । इन्द्रियविषयरागद्वेषाभ्या निवृत्तिरिन्द्रियसयम । षड्जीवनिकायबाधाऽकरणादपर' प्राणिसयम । अकिंचणदा सकलग्रथत्याग । ब्रह्मचर्य नवविधब्रह्मपालन । सता साधूना हितभाषण सत्यम् । सयतप्रायोग्याहारादिदान त्याग । एते दशधर्मा ।

साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषा वर्ग समूह । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाचार । तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचार । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचार । अनशनादिक्रियासु वृत्तिस्तप आचार' । स्वशक्त्यनिगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचार. । एतेषु पचस्वाचारेषु ये वर्तन्ते पराश्च प्रवर्तयति ते आचार्या । रत्नत्रयेषु उद्यता जिनागमार्थ सम्यगुपदिशति ये ते उपाध्याया' **उपेत्य विनयेन ढौकित्वा अधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः ।**

'पवयणे' प्रवचने । ननु श्रुतशब्द प्रवचनवाची तत पुनरुक्तता ? रत्नत्रय प्रवचनशब्देनोच्यते । **तथा चोक्तम्—'णाणदंसणचरित्तमेग पवयणमिति'** । अथवा श्रुतज्ञान श्रुतमित्युक्त पूर्वमिह तु प्रोच्यते जीवादय. पदार्था इति शब्दश्रुतमुच्यते । **'दंसणे'** सम्यग्दर्शने च ॥ ४५ ॥

कार्योके प्रयोजनके विना जाति आदिका अभिमान नही होना मार्दव है। एक ऐसे धागेकी तरह जिसके दोनो छोर खीचे हुए है, कुटिलताके अभावको आर्जव कहते है। द्रव्योमे 'यह मेरा है' यह भाव समस्त विपत्तियोके आनेका मूल है अत' उसका त्याग लाघव है। लौकिकफलकी अपेक्षा न करके भोजन आदिके त्यागरूप क्रियाका नाम तप है उसके बारह भेद है। इन्द्रियोके विषयोमे रागद्वेष न करना इन्द्रियसयम है। छह कायके जीवोको बाधा न पहुचाना दूसरा प्राणिसयम है। समस्त परिग्रहका त्याग आकिञ्चन्य धर्म है। नौ प्रकारसे ब्रह्मका पालन ब्रह्मचर्य है। सज्जन साधु पुरुषोके हितकारी भाषणको सत्य कहते है। सयमियोके योग्य आहार आदि देना त्याग है। ये दस धर्म है।

जो रत्नत्रयका साधन करते है वे साधु है। उनके समूहको साधुवर्ग कहते है। वस्तुके यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमे लगना ज्ञानाचार है। तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम दर्शनाचार है। पाप कार्योसे निवृत्तिरूप परिणति चारित्राचार है। अनशन आदि क्रियाओमे लगना तप आचार है। ज्ञानादिमे अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रवृत्ति करना वीर्याचार है। इन पाँच आचारोंमे जो स्वय प्रवृत्त होते है और दूसरोको प्रवृत्त करते है वे आचार्य है। जो रत्नत्रयमे तत्पर हैं और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश करते है वे उपाध्याय है। विनय पूर्वक जाकर जिनसे श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय है। पवयणका अर्थ प्रवचन है।

शङ्का—श्रुत शब्दका अर्थ भी प्रवचन है। वह आ चुका है। फिर प्रवचन कहनेसे पुनरुक्तता दोष होता है।

समाधान—प्रवचन शब्दसे रत्नत्रयको कहते है। कहा है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये प्रवचन है।' अथवा पूर्वमे श्रुतसे श्रुतज्ञान कहा है। यहाँ प्रवचन शब्दसे शब्दरूप श्रुत कहा है। जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ 'प्रोच्यन्ते' प्रकर्षरूपसे कहे जाते है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचनका अर्थ शब्दरूप श्रुत होता है। दर्शनसे सम्यग्दर्शन जानना ॥४५॥

भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ॥
आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण ॥४६॥

का भत्ती पूजा ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति । पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्प-धूपाक्षतादिदान अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च, वाचा गुणसस्तवन च । भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरण ।

'**वण्णजणणं**' वर्णशब्द क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिद्यथा '**सिद्धो-वर्णसमाम्नाय.**' इति । क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिद्यशसि वर्णार्थी ददाति । तथा इहाप्यनतरार्थो गृहीत । तेन अर्हदादीना यशोजनन विदुषा परिषदि । अन्येषामविश्ववेदिना दृष्टेष्टविरुद्ध-वचनताप्रदर्शनेन निर्वेध तत्सवादिवचनतया महत्ताप्रख्यापन भगवता वर्णजननम् ।

चैतन्यमात्रसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयप्राप्तिरस्ति । यत्नमतरेण सर्वात्मसु चैतन्यस्य सदा स्थिते । विशेषरूपरहितत्वादसच्चैतन्य खपुष्पवत् । प्रकृतेरचेतनाया मुक्तिरनुपयोगिनी । कि तया बद्धया मुक्त्या वा फलमात्मन ? अनया दिशा कापिलमते सिद्धता दुरुपपादा । बुद्धयादिविशेषगुणरहितता सिद्धता-ऽन्येषा । आत्मनोऽचेतनता क सचेतमोऽभिलषति । विशेषरूपशून्य वा कथमात्मन सत्ता ? नैव चागावात्मा

गा०—भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवादका नाश करना तथा आसादनाका दूर करना सक्षेपसे दर्शन विनय है ॥४६॥

टी०—भक्ति और पूजा किसे कहते है ? अर्हन्त आदिके गुणोमे अनुराग भक्ति है । पूजाके दो प्रकार है—द्रव्यपूजा और भावपूजा । अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षत आदि अर्पित करना द्रव्यपूजा है । तथा उनके आदरमे खडे होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम आदि करना रूप शारीरिक क्रिया और वचनसे गुणोका स्तवन भी द्रव्यपूजा है । मनसे उनके गुणोका स्मरण भाव पूजा है ।

''वर्णजनन' मे वर्णशब्द कही तो रूपका वाचक है जैसे 'शुक्लवर्ण लाओ' यहाँ उसका अर्थ शुक्लरूप है । कही 'वर्ण' अक्षरका वाचक है । जेसे 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय' यहाँ वर्णका अर्थ अक्षर है । कही वर्णशब्द ब्राह्मण आदिका वाचक है । जैसे 'यहाँ वर्णोका ही अधिकार है । यहाँ वर्णसे ब्राह्मण आदि लिये गये है । कहीपर वर्णका अर्थ यश है । जैसे वर्णार्थी दान करता है । यहाँ वर्णका अर्थ यश है । यहाँ भी वर्णसे यश अर्थ लिया है । अत विद्वानोकी सभामे अर्हन्त आदिका यश फैलाना, दूसरे असर्वज्ञोकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्धता दिखलाकर उनके वचनोके सवादि होनेसे महत्ताका ख्यापन करना अर्हन्तोका वर्णजनन है ।

चैतन्यमात्रमे स्थितिरूप निर्वाणको माननेपर अपूर्व अतिशयकी प्राप्ति नही होती । विना प्रयत्नके ही सभी आत्माओमे चैतन्य सदा रहता है । तथा विशेषरूपसे रहित चैतन्य आकाशके फूलके समान असत् होता है । अचेतन प्रकृतिकी मुक्ति मानना व्यर्थ है । उसके बँधने या मुक्त होनेसे आत्माको क्या ? इस प्रकार सांख्यके मतमें सिद्धता नही बनती ।

वैशेषिक आदि दूसरे दार्शनिक सिद्ध अवस्थामे बुद्धि आदि विशेष गुणोका अभाव मानते हैं । इस तरह कौन सचेतन आत्माको अचेतन बनाना पसन्द करेगा । तथा विशेष धर्मोसे शून्य

पराम्युपगत बुद्धयादिगुणरहितत्वाद्भस्मवत् । रागादिक्लेशवासनारहितं चित्तमेव मुक्तिशब्देनोच्यते इत्यत्रापि चित्तमत्यंतासाधारणरूप । यद्येक चिद्रूपं नेतरदिति तस्य स्वभावोऽनिरूप्य । असाधारणस्वरूपशून्य यत्तद-सद्यथा—नभस्तामरस । असाधारणरूपशून्यं च विवक्षिताच्चित्तादन्यदिति । एवं मतान्तरे निरूपितानां सिद्धा-नामघटमानत्वाद्बाधाकारिसकलकर्मलेपनिर्दहनसमुपजाताचलस्वास्थ्यसमवस्थिता' अनतज्ञानात्मकेन सुखेन सतृप्ता सिद्धा इति तन्माहात्म्यकथन सिद्धाना वर्णजननम् ।

यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकचूलामणयोऽर्हदादयो भव्याना शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिंबानि । बाह्यद्रव्यालबनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञ-विषयसान्निध्याद्रागद्वेषौ यथा स्वपुत्रसदृशं सुदर्शन पुत्रस्मृतेरालंबन । एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबधन प्रति-बिंबम् । तद्गुणानुस्मरण अभिनवाशुभप्रकृते सवरणे, प्रत्यग्रशुभकर्मादाने, गृहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापहासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहत्ता-प्रकाशन चैत्यवर्णजननमिति ।

केवलज्ञानवदशेषजीवादिद्रव्ययाथात्म्यप्रकाशनपटु, कर्मघर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्यानचदनमलयायमान स्व-परसमुद्धरणनिरतविनेयजनताचित्तप्रार्थनीय, प्रतिबद्धाशुभास्रव, अप्रमत्तताया सपादक सकलविकलप्रत्यक्षज्ञान-

आत्माकी सत्ता कैसे रहेगी। तथा दूसरोके द्वारा माना गया आत्मा बुद्धि आदि गुणोसे रहित होनेसे भस्मके समान है।

बौद्धमतमे रागादि क्लेशवासनासे रहित चित्त ही मुक्ति शब्दसे कहा जाता है। उनके मतमे भी चित्त अत्यन्त असाधारणरूपको लिये हुए है। यदि चिद्रूप एक ही है अन्य नही है तो उसका स्वरूप निरूपण करनेके योग्य नही है। जो असाधारण स्वरूपसे शून्य होता है वह असत् होता है जैसे आकाशका कमल। और विवक्षित चित्तसे अन्य चित्त असाधारण स्वरूपसे शून्य है। इस प्रकार अन्य मतोमे कहे गये सिद्धोका स्वरूप नही बनता। अतः बाधा पैदा करनेवाले समस्त कर्मरूपी लेपको जला डालनेसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यसे युक्त और अनन्तज्ञानरूप सुखसे सन्तृप्त सिद्ध होते है। इस प्रकार उनके माहात्म्यको कहना सिद्धोका वर्णजनन है।

जैसे राग-द्वेषसे रहित और तीनो लोकोके चूडामणि अर्हन्त आदि भव्यजीवोके शुभोप-योगमे निमित्त होते है, उन्हीकी तरह उनके ये प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोगमे निमित्त होते है। क्योंकि बाह्य द्रव्यका आलम्बन लेकर शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते है। जैसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोकी समीपतासे आत्मामे राग-द्वेष होते है। या जैसे अपने पुत्रके समान व्यक्तिका दर्शन पुत्रको स्मृतिका आलम्बन होता है। इसी तरह प्रतिबिम्ब अर्हन्त आदिके गुणोके स्मरणमे निमित्त होता है। यह गुणस्मरण नवीन अशुभ प्रकृतिके आस्रवको रोकनेमे, नवीन शुभकर्मके बन्धमें, बन्धे हुए शुभकर्मके अनुभागको बढ़ानेमे और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृति समूहके अनुभागको कम करनेमे समर्थ होता है। इस तरह समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धिमे कारण होनेसे प्रतिबिम्बो-की उपासना करना चाहिए। इस रूपसे प्रतिबिम्बकी महत्ताका प्रकाशन चैत्यवर्ण जनन है। श्रुतज्ञान केवलज्ञानकी तरह समस्त जीवादि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेमे दक्ष होता है, कर्मरूपी घामको मूलसे नष्ट करनेमें उद्यत शुभध्यानरूपी चन्दनके लिए मलयपर्वतके समान है। अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमे लगे हुए शिष्यजनोके द्वारा अन्तःकरणसे प्रार्थनीय है

बीजं, दर्शनचरणयो समीचीनयो प्रवर्तक इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

दु खात् त्रातु , सुख दातु , निधीना रत्नाना चाधिपत्ये स्थापयितु , स्वचक्रविक्रमानमितसकलभूपालखे-चरगणबद्धमरुच्चक्राश्चक्रलाछनान्पादयो पातयितु , सुरविलासिनीचेत समोहावह, तदीयविलुठत्पाठीनलोचन-रागमभिवर्धयती, हर्षभरपरवशोद्भिन्नमाद्ररोमाचकचुकमाचरितुमुद्यता, रूपशोभामन्दिरा सपादयितुमति-शयिताणिमादिगुणप्रसाधना, सामानिकादिसुरसहस्रानुयानोपनीतमहत्ता, सततप्रत्यग्रयुवतालिंगिता सुभगतालता-रोहयष्टिम्, अनेकसमुद्रबिन्दुगणनागणितायु स्थिति, मेरुकुरुसुरसरित्कु लाचलादिगोचरस्वेच्छाविहारचतुरा, सुरागनापृथुलनितम्बबिबाधरकठिननिबिड—समुन्नतकुचतटक्रीडालोकनस्पर्शनादिक्रियापयोगामितप्रीतिविस्मिता, शतमखतामखेदेन झटिति घटयितु , विरूपताजननीजराडाकिनीनामगोचरा शोकवृकानुल्लघिता, विपद्दावान-लशिखाभिरनुपप्लुता, रोगोरगैरदष्टव्या[1], यममहिषखुराखडिता, भीतिवराहसमितिभिरनुल्लिखिता, सक्लेश-शतशरभैरनध्यासिता, प्रियवियोगचण्डपुडरीकैरसेविता, अनर्घ्यसुखरत्नप्रभवभूमि निर्वृति प्रापयितु समर्थो जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथन धर्मवर्णनजननम् ॥

अर्थात् वे श्रुतज्ञानके लिए प्रयत्नशील रहते है । अशुभ आश्रवको रोकता है । अप्रमादपना लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्षरूप ज्ञानका बीज है अर्थात् श्रुतज्ञानमे ही अन्यज्ञान पैदा होते हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे प्रवृत्त करानेवाला है । इस प्रकार कथन करना श्रुतज्ञान-का वर्णजनन है ।

धर्म दु खसे रक्षा करता है, सुख देता है, नवनिधि और चौदह रत्नोका स्वामी बनाता है, अपने चक्ररत्नके पराक्रमसे समस्त राजाओ, विद्याधरोंको विनम्र करने वाले तथा देवगणोको भी बाँधने वाले चक्रवर्तियोको चरणोमे गिराता है, धर्मके प्रभावसे बिना किसी खेदके तत्काल इन्द्र-पदवी प्राप्त होती है जो इन्द्रपदवी देवागनाओके चित्तको समोहित करती है, उनके चचल मीनके तुल्य लोचनोमे अनुरागको बढाती है, हर्षके भारसे प्रकट हुए सघन रोमाचरूपी कन्चुकको उत्पन्न करनेमे तत्पर होती है, रूपकी शोभा बढानेके लिये सातिशय अणिमा आदि ऋद्धियोका सम्पादन करती है, सामानिक आदि हजारो देवता अनुगमन करके उसका महत्त्व ख्यापन करते है, निरन्तर नवीन तारुण्य उसका आलिगन करता है, सौभाग्यरूपी बेलके चढनेके लिये वह लकडीके तुल्य है, उसकी आयुकी स्थिति अनेक समुद्रोके जल बिन्दुओके द्वारा गिनी जाती है अर्थात् अनेक सागर प्रमाण आयु होती है, वह इन्द्रपद सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, नदी, कुलाचल आदिमे स्वेच्छापूर्वक विहार करनेमे प्रवीण होता है और देवागनाओके स्थूल नितम्ब, ओष्ठ, कठिन उन्नत कुचोके साथ क्रीडा, आलोकन, स्पर्शन आदि क्रियाके द्वारा अपरिमित प्रीतिको उत्पन्न कराता है । ऐसा इन्द्रपद धर्मके प्रभावसे प्राप्त होता है । तथा जिनदेवके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षको भी प्राप्त करनेमे समर्थ है । जो मोक्ष शरीरको विरूप करने वाली जरारूपी डाकिनियोके लिये अत्यन्त दूर है । अर्थात् वहाँ बुढापा नही है, शोकरूपी भेडिये वहाँ नही पहुँच सकते, विपत्तिरूपी बनकी आगकी शिखा वहाँ नही है, रोग रूपी सर्प वहाँ नही डसते, यमराजका भैसा अपने खुरोसे उसे खंडित नही करता, भयरूपी सूकरोका समूह वहाँ नही पहुचता, सैकडो सक्लेशरूपी शरभ वहाँ नही रहते, प्रियजनोंका वियोगरूपी प्रचण्ड आघात नही है और जो मोक्ष अमूल्य सुख रूपी रत्नोका उत्पत्ति स्थान है वह धर्मसे प्राप्त होता है इस प्रकार धर्मके स्वरूपका कथन धर्मका वर्णजनन है ।

---

१. ष्टवपुष–आ० मु० ।

उत्त्रोटितप्रियवचनमुखरदुर्भेदबन्धुसमितिशृंखला , दुस्तरतरसंसारावर्तचिरपरिभ्रमणचकितसवेपथुहृदया', अनित्यताभावनाबहितचेतस्तया निरस्तशरीरद्रविणादिगोचरा', दुःखसहतिसंपातरक्षाक्षमस्यापरस्य जिनप्रणीताद्धर्मादभावात् तमेव शरणमित्युपगताः, ज्ञानरत्नप्रदीपप्रभाप्रकरनिर्मूलितभुवनभवनान्तर्लीनाज्ञानध्वान्तसततय , कर्मणामादाने, तत्फलानुभवने, तन्निर्मूलने च वयमेकका एवेति कृतविनिश्चितय असाधारणचैतन्यादिलक्षणोपनीतभेदापेक्षयाऽन्ये वयमितरद्रव्यकलापादित्यन्यताभावनायामासक्ता', सुखदुःखयोरकृतादरद्वेषाः, सदसद्वेद्योदयकर्मनिमित्तत्वेन ममादृतिमनभिमत चापेक्षते इति उपकारापकारयोरहमेव प्रणेता, आत्मनः शुभाशुभकर्म[1]णो निर्मापणे । ममैव स्वातन्त्र्यात्तदु[2]पचितत्वात्, अनुग्रहनिग्रहयो परे वराका किं कुर्वन्तीति मत्वा स्वजनपरजनविवेकनिरुत्सुका , समतादुपसर्गमहोरगैरवार्यवीर्यैरवष्टब्धा अप्यविचलवृत्तय , क्षुत्पिपासादिपरीषहमहारातिसरभसमपातेऽप्यदीनासक्लिष्टचेतोवृत्तय , त्रिगुप्तिगुप्तिमुपाश्रिता , अनशनादितपोराज्यपालनोद्युक्तमतय , कृतानूनव्रतकवचा , गृहीतशीलखेटा उद्गीर्णध्यानातिनिशितमडलाग्रा', कर्मारिपृतनासाधनोद्यता' साधव इति साधुमाहात्म्यप्रकाशन साधुवर्गवर्णजनन ।

मुक्ताहारपयोधरनिशाकरवासराधीश्वरकल्पमहीरुहादय इव प्रत्युपकारानपेक्षानुग्रहव्यापृता , निर्वाणपुर-

प्रियवचन बोलनेमें वाचाल बन्धुजन कठिनतासे टूटने वाली साकलके समान है किन्तु साधुगण इस साकलको तोड डालते है, उनका हृदय अत्यन्त दुस्तर ससाररूपी भवरमे चिरकाल तक भ्रमण करनेसे भयभीत रहता है, चित्तके अनित्य भावनाके भानेमे लगे रहनेसे शरीर धनसम्पत्ति आदिमे उनका आदरभाव नही होता, जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मके सिवाय अन्य किसीके दु.खोंके समूहसे रक्षा करनेमें समर्थ न होनेसे वे उसी धर्मकी शरणमे रहते है, ज्ञानरूपी रत्नमयी दीपककी प्रभाके समूहसे उन साधुओने लोक रूपी भवनमे रहने वाले अज्ञान रूपी अन्धकारकी परम्पराको नष्ट कर दिया है, उनका यह निश्चय है कि कर्मोंके बाँधनेमें, उनका फल भोगनेमे और उन्हे नष्ट करनेमे हम अकेले ही है, चैतन्य आदि असाधारण लक्षणके भेदसे हम अन्य सब द्रव्योके समूहसे भिन्न है इस प्रकार वे अन्यत्व भावनामे आसक्त रहते है। न सुखमे आदरभाव रखते है और न दुःखमे द्वेष करते है। साता और असाता वेदनीय कर्मके उदयके निमित्तसे मेरा आदर या निरादर होता है, अत अपने उपकार और अपकारका कर्ता मै ही हू, अपने शुभ अशुभ कर्मोके निर्माणमे मै स्वतन्त्र हूँ—उसीके द्वारा मेरा अनुग्रह या निग्रह होता है, दूसरे बेचारे इसमे क्या करते है ? ऐसा मानकर वे स्वजन और परजनमे भेद बुद्धि करनेमे उदासीन होते है। चहुओरसे शक्तिशाली उपसर्गरूपी भयानक सर्पोसे घिरे होनेपर भी वे अविचल रहते हैं। भूख प्यास आदि परीषह रूपी महान् शत्रुओका अचानक आक्रमण होनेपर भी उनकी चित्तवृत्ति दीनता और सक्लेशसे रहित होती है। तीन गुप्ति रूपी गुप्तिका आश्रय लेते है, अनशन आदि तप रूपी राज्यका पालन करनेमे उनकी बुद्धि लगी रहती है, पूर्णव्रत रूपी कवच धारण करते है। शील रूपी खेटमे बसते है, ध्यानरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार रखते है, उसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओकी सेनाको वशमे करनेके लिये तत्पर रहते है। इस प्रकार साधुओके माहात्म्यको प्रकट करना साधुवर्गका वर्णजनन है।

आचार्य मोतीका हार, मेघ, चंद्रमा, सूर्य और कल्पवृक्ष आदिकी तरह प्रत्युपकारकी

१ कर्मारोपणे–आ० मु० । २. दुपचरित–आ० मु० ।

परिप्रापणक्षमे मार्गे निर्मले स्थिता, परानपि विनतान्विनेयान्प्रवर्तयन्त आयतातिधवलज्ञानपृथुलदर्शनपक्ष्मलेक्षणा, कुलीना, विनता, विभया, विमाना, विरागा, विशल्या, विमोहा, वचसि तपसि महसि वाऽद्वितीया[1] इति भाषणं सूरिवर्णजननम्।

अधिगतश्रुतार्थयाथातथ्यात्मवाच्य[2]वाचकानुरूपव्याख्याना, निरस्तनिद्रार्तन्द्रीप्रमादा, सुचरिता, सुशीला, सुमेधस, इत्याध्यापकवर्णजननम्।

रत्नत्रयालाभादनतकाल अयमनादिनिधनोऽपि भव्यजीवराशिर्न निर्वाणपुरमुपैति तल्लाभे च सकलासपद. सुलभा इति मार्गवर्णजननम्।

मिथ्यात्वपटलविपाटनपटीयसी, ज्ञाननैर्मल्यकारिणी, अशुभगतिगमनप्रतिबधविधायिनी, मिथ्यादर्शनविरोधिनीति निगदन समीचीनदृष्टेर्वर्णजननम्।

सर्वज्ञतावीतरागते नार्हति विद्यते रागादिभिरविद्यया च अनुगता समस्ता एव प्राणभृत इत्यादिरर्हतामवर्णवाद।

स्त्रीवस्त्रगधमाल्यालकारादिविरहिताना सिद्धाना सुख न किंचिदतीन्द्रियाणा तेषा समधिगतौ न निबधनमस्ति किचिदिति सिद्धावर्णवादः।

स्वकल्पनाभिरयमर्हन्नेष सिद्धादि इत्यचेतनस्य व्यवस्थापनायामपि दारिकाणा कृत्रिमपुत्रकव्यवहृतिरिव

अपेक्षा न करके कल्याणमे लगे रहते है, मोक्षपुरीको प्राप्त करानेमे समर्थ निर्मल मार्गमे स्थित होते है, दूसरे भी विनम्र शिष्योको मोक्ष मार्गमे लगाते है, विस्तृत और अतिधवल ज्ञान और महान् दर्शनरूपी उनके नेत्र होते है। वे कुलीन, विनीत, निर्भय, मानरहित, रागरहित, शल्यरहित, मोहरहित होते है। वचनमे और तप तथा तेजमे अद्वितीय होते है इस प्रकार कहना आचार्यका वर्णजनन है।

उपाध्याय श्रुतके अर्थके ज्ञाता होनेसे वाच्य और वाचकके अनुरूप अर्थात् जिस शब्दका जो अर्थ है वही यथार्थ रूपसे व्याख्यान करते है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे दूर रहते है, वे अच्छे चरित, अच्छे शील और उत्तम मेघासे सम्पन्न होते है, ऐसा कहना उपाध्यायका वर्णजनन है। रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे यह अनादि निधन भी भव्य जीवराशि अनन्तकालसे मोक्षपुरीको नही जा पाती। उसके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण सम्पदाएँ सुलभ है इस प्रकार मोक्षमार्गकी प्रशसा करना मार्ग वर्णजनन है।

सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व पटलको उखाड फेकनेमे समर्थ है, ज्ञानको निर्मल करता है, अशुभ गतिमे गमनको रोकता है, मिथ्यादर्शनका विरोधी है ऐसा कथन समीचीन दृष्टिका वर्णजनन है। अर्हन्त भगवान्मे सर्वज्ञता और वीतरागता नही होती, सभी प्राणी रागादि और अज्ञानसे युक्त होते है इत्यादि कहना अर्हन्तोका अवर्णवाद है अर्थात् यह मिथ्यादोष लगाना है।

स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलकार आदिसे रहित सिद्धोको कुछ भी सुख नही है। वे तो अतीन्द्रिय है उनको जाननेका कोई साधन नही है, ऐसा कहना सिद्धोका अवर्णवाद है। अपनी कल्पनासे यही अर्हन्त है और ये सिद्ध आदि है इस प्रकार अचेतन पदार्थमे अर्हन्त आदिकी स्थापना करने पर भी जैसे बालिकाएँ खेलमे गुड्डा गुड्डी आदिमे पुत्रादिका काल्पनिक व्यवहार

१ या इव भूषण सूरय इति सूरि–आ० मु०। २. वाच्यमध्यत्यनु–आ०।

न मुख्यवस्तूपसेवनोद्भव फलमुपलभ्यते । न प्रतिबिंबादिस्था अर्हदादय तद्गुणवैकल्यान्न प्रतिबिंबानामर्हदादित्वमिति चैत्यावर्णवाद ।

पुरुषकृतत्वाद्दशदाडिमादिवाक्यवदयथार्थता नातीद्रिय वस्तु पुसो ज्ञानगोचर, अज्ञात चोपदिशतो वच कथ सत्यं ? तदुद्गत च ज्ञान कथ समीचीनमिति श्रुतावर्णवाद ।

दुर्गतिप्रतिबध स्वर्गादिक च फल विधत्ते धर्म इति कथमदृष्ट श्रद्धीयते ? न हि सन्निहितकारणस्य कार्यस्यानुद्भवोऽस्ति यथाकुरस्य । सुखप्रदायी चेद्धर्म स्वनिष्पत्त्यनतर सुखमात्मन कि न करोति इति धर्मावर्णवाद ।

अहिंसादिव्रतपालनोद्यता साधव , सूरयोऽध्यापकाश्चेष्यन्ते । अहिसाव्रतमेवैषा न युज्यते षड्जावनिकायाकुले लोके वर्तमानाः कथमहिसका स्यु ? केशोल्लुचनादिभि पीडयता च कथ नात्मवध ? अदृष्टमात्मनो विषय, धर्म, पाप, तत्फल च गदता कथ सत्यव्रतम् ? इति साध्ववर्णवाद । एवमितरयोरपि ।

विरुद्धाना एकत्र धर्माणामसभवात् विरुद्धाभिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापन न सम्यक् । तदभिरुचेर्न समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वान्मृगतृष्णोदकश्रद्धेव, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक् । उरगप्रत्ययबलाद्रज्जुपरिहार इवेति प्रवचनावर्णवाद ।

करती है उस तरह मुख्य अर्हन्त आदिकी सेवासे होने वाला फल प्राप्त नही होता । तथा प्रतिबिंब आदिमे स्थापित अर्हन्त नही है क्योकि उनमे उनके गुण नही है इसलिये प्रतिबिम्ब आदि अर्हन्त आदि नही है ऐसा कहना चैत्यका अवर्णवाद है ।

अर्हन्तके द्वारा कहा गया श्रुत पुरुषके द्वारा कहा होनेसे 'दस अनार' जैसे वचनोकी तरह यथार्थ नही है । अतीन्द्रिय वस्तु पुरुषके ज्ञानका विषय नही हो सकती । और बिना जाने उपदेश देने वालेके वचन कैसे सत्य हो सकते है । तथा उनसे होने वाला ज्ञान कैसे सच्चा हो सकता है इस प्रकार कहना श्रुतका अवर्णवाद है ।

धर्म दुर्गतिको रोकता है और स्वर्गादि फल देता है, बिना देखे इसपर कैसे श्रद्धा की जा सकती है । जिस कार्यके कारण वर्तमान हो वह कैसे उत्पन्न नही होगा जैसे अकुर । यदि धर्म सुखदाता है तो अपनी उत्पत्तिके पश्चात् ही आत्माको सुख क्यो नही करता । ऐसा कथन धर्मका अवर्णवाद है ।

अहिंसा आदि व्रतोका पालन करनेमे जो तत्पर है उन्हे साधु, आचार्य और उपाध्याय कहते है । किन्तु अहिंसा व्रत ही इनके नही है । जो छह प्रकारके जीवोसे भरे संसारमे रहता है वह अहिसक कैसे हो सकता है ? तथा केशलोच आदिसे जो आत्माको पीडा पहुँचाते हैं वे आत्मघातके दोषी क्यो नही है ? जिन्हे देखा नही है ऐसे आत्माके विषय धर्म, पाप, उनका फल कहनेवालोंके सत्यव्रत कैसे है, ऐसा कहना साधुका अवर्णवाद है । इसी प्रकार आचार्य और उपाध्यायका भी अवर्णवाद जानना ।

एक वस्तुमे परस्परमे विरुद्ध धर्म असम्भव है । अत परस्परमे विरुद्ध धर्मोका आधार एक वस्तुको कहना सम्यक् नही है । जो इसमे अभिरुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टी नही है क्योंकि उसका ज्ञान विपरीत है जैसे मरीचिकामे जलकी श्रद्धा करनेवालेकी श्रद्धा विपरीत है । तथा मिथ्याज्ञानका अनुसारी होनेसे उसका चारित्र भी सम्यक् नही है । जैसे सर्प जानकर रस्सीको हटाना सम्यक् नही है । इस प्रकारका कथन प्रवचनका अवर्णवाद है ।

एतेषामवर्णवादानामसम्भवप्रदर्शनं । पुरुषत्वाद्रथ्यापुरुषवत् सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवत्यर्हन् इति साधनमनुपपन्नं । असर्वज्ञतामवीतरागतां चान्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्तेरभावात् । जैमिन्यादयो न सकलवेदार्थज्ञा पुरुषत्वादविपालवत् इति शक्यं वक्तुम् । **सर्वज्ञतावीतरागतासिद्धिश्चान्यत्र निरूपितेति नेह प्रतन्यते ।** दु खप्रतिकारार्थेषु वस्तुषु मूढाना सुखसाधनव्यवहार शरीरायासमात्रत्वान्न कामिनीसमागमसुखं । वैरूप्यनाशनैर्वस्त्रादिभिर्न कृत्यं सिद्धाना । अशरीराणा सकलदु खापायरूप सुख अविकलमनन्तज्ञानात्मक तेष्ववस्थितं । श्रुत निबधन तदधिगमे । शुभोपयोगनिमित्ततार्हदादीनामिव प्रतिबिबानामिति न बुद्ध्योत्प्रेक्षितव्या ॥४६॥

एवं दंसणमाराहंतो मरणे असंजदो जदि वि कोवि ॥
सुविसुद्धतिव्वलेस्सो परित्तसंसारिओ होई ॥४७॥

एवमित्यनया गाथया असयतसम्यग्दृष्टे सम्यक्त्वमाराधयत फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरामर्श । नैर्ग्रन्थ्यमेव मोक्षमार्ग प्रकृष्ट इति ।

'सद्दइया[1] पत्तियया रोचय फासंतया पवयणस्स ।
सयलस्स जेण एदे सम्मत्ताराहया होंति ॥'

श्रद्धाना शकादिकमपाकुर्वन्ति उपबृंहणादिभि सम्यक्त्वस्य शुद्धि वर्धयन्समीचीन दर्शनविनय

इन अवर्णवादोको असम्भव दिखलाते है—

पुरुष होनेसे राह चलते पुरुषकी तरह अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग नही है । यहाँ पुरुष हेतु ठीक नही है क्योकि असर्वज्ञता और अवीतरागताके विना पुरुष नही होता ऐसी अन्यथानुपपत्ति नही है । इस तरहसे यह भी कहा जा सकता है कि जैमिनि आदि समस्त वेदार्थके ज्ञाता नही हैं, पुरुष होनेसे, जैसे भेड चरानेवाला व्यक्ति । सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्य ग्रन्थोमे कही है इसलिए यहाँ उसका विस्तार नही करते ।

जो वस्तु दु खका प्रतीकार करनेके लिए है, अज्ञानी उन्हे सुखका साधन मान लेते हैं। स्त्री सम्भोग सुख नही है वह तो शारीरिक श्रममात्र है । तथा विरूपताको नष्ट करनेवाले वस्त्रोसे सिद्धोको क्या करना है ? वे तो शरीर रहित है उनमे समस्त दु खोका विनाशरूप अनन्तज्ञानात्मक सम्पूर्ण सुख है । इसके जाननेके लिए श्रुत वर्तमान है । तथा जैसे अर्हन्त शुभोपयोगमे निमित्त होते है उसी तरह उनके प्रतिबिम्ब भी होते है । इसलिए यह बौद्धिक कल्पनामात्र नही है ॥४६॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाला मरते समय यद्यपि कोई असयत होता है किन्तु सुविशुद्ध तीव्र लेश्या वाला अल्प ससारी होता है ॥४७॥

टी०—'एव' इत्यादि गाथाके द्वारा सम्यक्त्वकी आराधना करने वाले असयत सम्यग्दृष्टिका फल कहते है । 'एव' पद पूर्वोक्त कथनके लिये आया है कि निर्ग्रन्थता ही उत्कृष्ट मोक्ष मार्ग है ।

मनसे श्रद्धान करने वाले, यही उत्तम है ऐसा वचनसे प्रीति प्रकट करने वाले, सकेतादि से रुचिको दर्शानेवाले और समस्त प्रवचनका अनुष्ठान करने वाले ये सब सम्यक्त्वके आराधक होते है ॥

अर्थात् जो श्रद्धान करते हुए शका आदिको दूर करते है और उपबृहण आदिसे सम्यक्त्वकी

---

१. सवादार्थं व्याख्यातृभि· सूत्रे पठिता गाथा यथा—मूलारा० ।

सपादयन् । **'दंसणं'** श्रद्धान । **'आराहंतो'** निष्पादय**'न्मरणे'** भवपर्ययप्रच्युतिकाले । **'असंजदो जदि वि'** यद्यप्यसयत । **'सुविसुद्धतिव्वलेस्सो'** कषायानुरंजिता योगवृत्तिर्लेश्या, सा षोढा प्रविभक्ता कृष्णनीलकापोततेज. पद्मशुक्ललेश्याभेदेन । तत्राशुभलेश्यानिरासार्थं सुविशुद्धग्रहण । तीव्रग्रहण परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविशुद्धा तीव्रा लेश्या यस्य सुविशुद्धतीव्रलेश्य. । **'परित्तससारिओ'** अल्पचतुर्गतिपरिवर्त. । **'होदि'** भवति । अल्पसंसारता सम्यक्त्वाराधनाया फलत्वेन दर्शिता ।।४७।।

तत्त्वश्रद्धानपरिणाम कतिभेद किं फल इत्यस्य प्रतिवचनमुत्तरप्रबध । तत्र भेदप्रतिपादनायाह—

तिविहा समत्ताराहणा य उक्कस्समज्झिमजहण्णा ।।
उक्कस्साए सिज्झदि उक्कस्ससुक्कलेस्साए ।।४८।।

'तिविहा' त्रिविधा । **'सम्मत्ताराहणा'** सम्यक्त्वाराधना । **'उक्कस्समज्झिमजहण्णा'** उत्कृष्टमध्यमजघन्या चेति । तत्र **'उक्कस्साए'** उत्कृष्ट्या सम्यक्त्वाराधनया । **'सिज्झइ'** सिध्यति निर्वृतिमुपैति । उत्कृष्टशुक्ललेश्यासहितया ।।४८।।

सेसा य हुंति भवा सत्त मज्झिमाए य सुक्कलेस्साए ।।
संखेज्जाऽसंखेज्जा वा सेसा भवा जहण्णाए ।।४९।।

'सेसा' अवशिष्टा । **'होंति'** भवन्ति । किं **'भवा'** मनुष्यत्वादिपर्याया । कति **'सत्त'** सप्त । **'मज्झिमाए य'** सम्यक्त्वाराधनया । **'सुक्कलेस्साए'** शुक्ललेश्यया मध्यमया वर्तमानस्येत्युभाभ्या मध्यमशब्दस्य

विशुद्धिको बढाते हुए दर्शन विनय करते है वे सम्यक्त्वके आराधक है। मरण अर्थात् भवपर्यायके छूटनेके समय यद्यपि असयत होता है किन्तु जो सम्यग्दर्शनको धारण किये होता है और सुविशुद्ध तीव्रलेश्या वाला होता है। कषायसे रगी हुई मन वचन कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। उसके कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म और शुक्लके भेदसे छह भेद है। उनमे अशुभ लेश्या का निराकरण करनेके लिये 'सुविशुद्ध' पद ग्रहण किया है। तथा परिणामोका प्रकर्ष बतलानेके लिए तीव्र पद ग्रहण किया है। जिसके सुविशुद्ध तीव्र लेश्या होती है वह सुविशुद्ध तीव्र लेश्या वाला होता है। वह चतुर्गतिरूप परिवर्तमे अल्पकाल तक भ्रमण करता है। इस प्रकार सम्यक्त्वकी आराधना का फल अल्प ससार बतलाया है ।।४७।।

तत्त्वश्रद्धानरूप परिणामके कितने भेद है तथा उसका क्या फल है इसके उत्तरमे आगेका कथन करते हुए पहले भेद कहते हैं—

गा०—सम्यक्त्वकी आराधना तीन प्रकारकी है। उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या सहित, उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधनामे मोक्ष प्राप्त करता है ।।४८।।

टी०—सम्यक्त्व आराधनाके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद है। उत्कृष्ट शुक्ल लेश्याके साथ यदि उत्कृष्ट आराधना सम्यक्त्वकी हो तो उससे मोक्ष प्राप्त होता है ।।४८।।

गा०—और मध्यम शुक्ल लेश्याके साथ मध्यम सम्यक्त्वाराधनासे सात मनुष्य आदि पर्याय शेष होती है। जघन्य सम्यक्त्वाराधनासे सख्यात अथवा असख्यात (भव) भव अवशेष रहते हैं ।।४९।।

टी०—गाथामे आये मध्यम शब्दका सम्बन्ध दोनोमे लगाकर व्याख्यान करना चाहिये ।

संबंधो व्याख्येय । '**संखेज्जा**' संख्याता '**असंखेज्जा वा**' असख्याता वा '**सेसा**' शेषा भवन्ति भवा । '**जहण्णाए**' जघन्यसम्यक्त्वाराधनया मृतिमुपेतस्य ।

उक्तास्तिस्र आराधना. कस्य भवति इत्यस्योत्तरमाह गाथया—

उक्कस्सा केवलिणो मज्झिमया सेससम्मदिट्ठीणं ।
अविरदसम्मादिट्ठिस्स संकिलिट्ठस्स हु जहण्णा ॥५०॥

उत्कृष्टा सम्यक्त्वाराधना भवति । कस्य, '**केवलिणो**' केवलिन । **केवलमसहायं ज्ञानं । इंद्रियाणि, मनः, प्रकाशोपदेशादिक वानपेक्ष्य वृत्तेः** । प्रत्यक्षस्यावध्यादे आत्मकारणत्वादसहायतास्तीति केवलत्वप्रसग स्यादिति चेन्न रूढेर्निराकृताशेषज्ञानावरणस्योपजायमान[1] एव बोधे केवलशब्दवृत्ते । केवलिशब्दो यद्यपि सामान्येन केवलिद्वये प्रवृत्तस्तथापीह अयोगिकेवलिग्रहण इत्यन्यत्र मरणाभावात् ॥

उत्कृष्टता कथ सम्यक्त्वाराधनाया इति चेत् इह द्विविध सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्व चेति । रागो द्विविध प्रशस्तराग अप्रशस्तराग इति । तत्र प्रशस्तरागो नाम पचगुरुषु, प्रवचने च वर्तमानस्तद्-

अर्थात् मध्यम शुक्ल लेश्यामे वर्तमान मध्यम सम्यक्त्वाराधना वालेके सात भव शेष रहते है। और जघन्य सम्यक्त्वाराधनाके साथ मरने वालेके सख्यात अथवा असख्यात भव शेष होते है ॥४९॥

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपनी टीकामे कहा है कि अन्य टीकाकार 'सखेज्जा-सखेज्जा भवाय' ऐसा पढकर 'भवाश्च' मे आये शब्दसे अनन्तका समुच्चय करते हैं किन्तु हम 'वा' शब्दसे करते है। परन्तु विजयोदयामे 'च' शब्द या वा शब्दसे अनन्तका ग्रहण नही किया है ॥४९॥

उक्त तीन आराधनाएँ किसके होती है इसका उत्तर आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—उत्कृष्ट आराधना केवलीके होती है। मध्यम आराधना शेष सम्यग्दृष्टियोंके होती है। जघन्य आराधना सक्लेश परिणाम वाले अविरत सम्यग्दृष्टिके होती है ॥५०॥

टी०—उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधना केवलीके होती है। केवल अर्थात् असहाय ज्ञान; क्योकि वह इन्द्रिया, मन, प्रकाश और उपदेश आदिकी अपेक्षाके बिना होता है।

शका—प्रत्यक्ष अवधि आदि ज्ञान आत्मासे ही होते है। वे भी इन्द्रियादिकी सहायताकी अपेक्षा नही रखते, अत उनके भी केवल ज्ञान होनेका प्रसग आयेगा ?

समाधान—नही, क्योकि रूढिवश जिसका सम्पूर्ण ज्ञानावरण नष्ट हो गया है उसीके उत्पन्न होने वाले ज्ञानमे केवल शब्दका व्यवहार होता है।

यद्यपि केवली शब्द सामान्यसे दोनो प्रकारके केवलियोमे प्रवृत्त होता है तथापि यहाँ अयोग केवलीका ग्रहण किया है क्योकि सयोग केवलीका मरण नही होता।

शंका—सम्यक्त्व आराधनाकी उत्कृष्टता कैसे होती है ?

समाधान—यहाँ सम्यक्त्वके दो भेद है—सरागसम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। रागके दो भेद है—प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग। उनमेसे अर्हन्त सिद्ध आदि पाँच परमेष्ठियोमे और

[1] मानस्यैव बोधस्य आ० मु०।

गुणानुरागात्मक । अप्रशस्तो रागो द्विविध इन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेषु जायमान । आप्ताभासेषु, तत्प्रणीते **सिद्धांते**, तन्निरूपिते मार्गे, तत्स्थेषु वा प्रवर्तमान दृष्टिराग इति । तत्र प्रशस्तरागसहिताना श्रद्धान **सरागसम्यग्दर्शनं** । रागद्वयरहिताना क्षीणमोहावरणाना वीतरागसम्यग्दर्शन । तस्याराधना उत्कृष्टा रागमलाभावात् **अशेष-त्रिकालगोचरवस्तुयाथात्म्यग्राहिसकलज्ञानसहचारित्वाच्च** ।

'**मज्झिमगा**' मध्यमिका सम्यक्त्वाराधना भवति । '**सेससम्मदिट्ठीणं**' उपयुक्तेतरवचन शेषशब्द इति केवलिभ्यो येऽन्येऽसयतसम्यग्दृष्टयादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषशब्देन ।

तत्रापवादमाह—'**अविरदसम्मादिट्ठिस्स**' असयतसम्यग्दृष्टे । '**जहण्णा**' जघन्या सम्यक्त्वाराधना भवति । किं सर्वस्य ? नेत्याह—''**संकिलिट्ठस्स**' सक्लिष्टस्य परीषहव्याकुलचेतस इति यावत् ।

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहात्म्य कथयति—

संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं ।
दुक्खक्खयं करेंति जे सम्मत्तेणमरंति ।।५१।।

'**संखेज्जमसखेज्जगुण वा ससारमणुसरित्तूण**' परिभ्रम्य । '**दुक्खक्खयं**' दुःखक्षय । '**करेंति**' कुर्वन्ति । के '**जे सम्मत्तेणमरंति**' सम्यक्त्वेन सह मृतिमुपयान्ति । नन्वियं जघन्या सम्यक्त्वाराधना तस्या च प्रवृत्तस्य ससारकालो निरूपित एव । '**सखेज्ज वा असखेज्जं वा सेसा जहण्णाए**' इति तत्पुनरुक्तता स्यादिति । न,

---

प्रवचनमे उनके गुणोमे अनुराग रूप प्रशस्तराग है। अप्रशस्त रागके दो भेद हैं एक तो मनको प्रिय लगने वाले इन्द्रिय विषयोमे होनेवाला और दूसरा, मिथ्या देवोमे, उनके द्वारा कहे गये सिद्धान्तमे, उनके द्वारा कहे गये मार्गमे अथवा उस मार्गके अनुयायियोमे प्रवर्तमान दृष्टिराग। उनमेसे प्रशस्तराग सहित जीवोका श्रद्धान सरागसम्यग्दर्शन है और दोनो प्रकारके रागसे रहित तथा जिनका मोह और आवरण क्षीण हो गया है उनका श्रद्धान वीतराग सम्यग्दर्शन है। उसकी आराधना उत्कृष्ट है। क्योकि राग और मलका अभाव है तथा समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले सम्पूर्ण ज्ञानके साथ होना है।

शेष सम्यग्दृष्टियोके मध्यम सम्यक्त्वाराधना होती है। यहाँ शेष शब्द जो कहे हैं उससे अन्यका वाचक है, अत केवलीसे अन्य जो असयत सम्यग्दृष्टि है वे शेष शब्दसे ग्रहण किये जाते हैं। उसमे अपवाद कहते है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है। क्या सभीके होती है। इसके उत्तरमे कहते है जो सक्लिष्ट है अर्थात् जिसका चित्त परीषहमे व्याकुल है उस अविरत सम्यग्दृष्टीके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है।।५०।।

जघन्य सम्यक्त्वाराधनाका माहात्म्य कहते है—

गा०—जो सम्यक्त्वके साथ मरते हैं वे असख्यात अथवा असख्यातगुणे संसारमे भ्रमण करके दुःखका क्षय करते है।।५१।।

टी०—**शंका**—यह तो जघन्य सम्यक्त्वाराधना है। उसे जो करता है उसका संसार काल पहले कहा ही है कि जघन्य सम्यक्त्वाराधनावालेके सख्यात या असख्यात भव शेष रहते हैं। अत. पुनरुक्तता दोष आता है ?

उक्तस्यार्थस्याविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तमिति, इह तु विशेषाभिधानमस्ति '**दुक्खक्खयं करेंतित्ति**'।

सम्यक्त्वलाभमाहात्म्यनिवेदनाय गाथा—

लध्दूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति ।
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ॥५२॥

'**लद्धूण**' लब्ध्वा। '**सम्मत्तं**' तत्त्वश्रद्धानं। कियत्कालं? '**मुहुत्तकालमवि**' अंतर्मुहूर्तमात्रमपि। '**जे**' ये '**परिवडंति**' सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ति अनतानुबंधिनामुदयात्। '**तेसिं**' तेषां सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतानां। '**संसारवासद्धा**' ससारवसनकालोऽनतो भवत्येवेति, तु **शब्द एवकारार्थोऽत्र संबंधनं नेयः**[1]। अनतानंतग्रहणं कुर्वता अनतकालपरिभ्रमणसद्भावसूचनं कृतम् ॥५२॥ इति **बालमरणम्** ॥

जे पुण सम्मत्ताओ पब्भट्ठा ते पमाददोसेण ।
भामन्ति दु भव्वा वि हु संसारमहण्णवे भीमे ॥५३॥

मिथ्यादृष्टेर्दर्शनस्याभावान्न तस्याराधकः स्यात् ज्ञानचारित्रयोः परिणत इति तयोराराधकः स्यादितीमां शंकामपाकर्तुमाह—

जो पुण मिच्छादिट्ठी दढचरित्तो अदढचरित्तो वा ॥
कालं करेज्ज ण हु सो कस्स हु आराहओ होदि ॥५४॥

समाधान—नही, जो बात पूर्वमे कही है उसे बिना किसी विशेषताके पुन. कहनेको पुनरुक्त कहते है। किन्तु यहाँ तो विशेष कथन है कि दु:खका क्षय करते है ॥५१॥

सम्यक्त्वका माहात्म्य कहनेके लिये गाथा कहते है—

गा०—जो अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्वको प्राप्त करके सम्यक्त्वसे गिर जाते हैं उनका संसारमें बसनेका काल अनन्तानन्त नही होता ॥५२॥

टी०—एक अन्तर्मुहूर्त कालके लिये भी जो तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्वको प्राप्त करके अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होनेसे सम्यक्त्वसे गिर जाते है। सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वमें जाने वाले उन जीवोका ससारमे बसनेका काल अनन्त ही होता है। 'अनन्तानन्तकाल नही होता' ऐसा कहनेसे अनन्तकाल तक भ्रमणके सद्भावकी सूचना की है ॥५२॥

गा०—पुन जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाते है। वे प्रमादके दोषसे भव्य होते हुए भी भयकर संसाररूपी समुद्रमे भ्रमण करते ही हैं ॥५३॥

विशेषार्थ—इस गाथापर विजयोदया टीका नही है। आशाधर जी ने भी इसकी टीका नही की है। अत क्षेपक प्रतीत होती है। किन्तु प्रतियोंमे पाई जाती है। तथा गाथा ५२ की विजयोदया टीकामे 'तु शब्दो एवकारार्थोऽत्र सबधन नेय.' ऐसा वाक्य है जिसका अर्थ होता है कि यहाँ तु शब्दका अर्थ एवकार लेना। 'आ' प्रतिमे पाठ हैं—'तु शब्दो एवकारार्थो भामत्यनन्तर नेय.।' तु शब्दका अर्थ एवकार है और उसे 'भामंति' के अनन्तर लेना चाहिये। इस गाथा ५३ मे '**भामत्ति दु**' पाठ है। इसी दु या तु का अर्थ एवकार लेनेके लिये कहा है। अत· यह गाथा मूलकी होना संभव है ॥५३॥

मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनका अभाव होनेसे वह उसका आराधक न होवे, किन्तु ज्ञान और

---

१ कारार्थो भामंत्यनन्तर नय। —आ०।

'**जो पुण मिच्छादिट्ठी**' यः पुनर्मिथ्यादृष्टिस्तत्त्वश्रद्धानरहितो। य' पुन'**दढचरित्तो अदढचरित्तो वा**' दृढचारित्रो वा अदृढचारित्रो वा। '**कालं करेज्ज**' मृतिमुपेयात्। '**सो**' स.। '**ण खु**' नैव। '**कस्सइ**' कस्यचिदपि। '**आराधगो**' आराधको भवति। सम्यक्त्वमतरेण सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्रे न स्त, इति रत्नत्रये कस्यचिदपि नाराधक इति ग्राह्यम्। अन्यथा मिथ्यादर्शनादीनामाराधक एवासौ इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्ययुक्तं स्यात् ॥५४॥

अथ को मिथ्यादृष्टिर्यो मिथ्यात्ववान्। अथ तदेव मिथ्यात्व नाम किं कतिविध इत्यत आह—

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं ॥५५॥

'**तं**' तत्। '**मिच्छत्तं**' मिथ्यात्व। '**होदि**' भवति। '**जं**' यत् '**असद्दहण**' अश्रद्धान। कस्य? '**तच्चाणं**' '**अत्थाण**' तत्वार्थानामनतद्रव्यपर्यायात्मकाना जीवादीना। अर्थस्य तत्त्वविशेषणमनर्थकम्। अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेन्न मिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य नित्यत्वक्षणिकत्वाद्यन्यतमधर्ममात्रात्मकस्यातत्त्वरूपसभवात्। तस्य भावस्तत्व तत्त्वशब्दो भाववचन। भाववत्त्वमर्थशब्दो ब्रवीति। ततोऽनयोर्भिन्नाधिकरणभृतो कथ समानाधिकरणतेति न दोष। भावदव्यतिरेकाद्भावस्य तत्त्वशब्दोऽर्थएव वर्तते इति। तथा च प्रयोग —

चारित्र तो उसके है अत' वह उनका आराधक हो सकता है? इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—

गा०—जो पुन मिथ्यादृष्टि है वह दृढ चारित्र वाला अथवा अदृढ चारित्र वाला हो और मरण करे तो वह किसीका भी आराधक नही ही होता ॥५४॥

टी०—जो मिथ्यादृष्टि अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित है वह दृढ चारित्र वाला हो या अदृढ चारित्र वाला हो और मरण करे तो वह ज्ञान या चारित्रका भी आराधक नही होता; क्योकि सम्यक्त्वके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नही होते। इसलिये रत्नत्रयमे से किसी का भी वह आराधक नही है ऐसा अर्थ लेना चाहिये। यदि ऐसा अर्थ नही लिया जाये तो मिथ्यादर्शन आदिका वह आराधक ही होनेसे 'किसीका भी आराधक नही' ऐसा कहना ठीक नही होगा ॥५४॥

जो मिथ्यात्ववान् है वही मिथ्यादृष्टी है। तब वह मिथ्यात्व क्या है और उसके कितने भेद है? यह कहते है—

गा०—जो तत्त्वार्थोका अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है उसके तीन भेद है। संशयसे होनेवाला मिथ्यात्व, अभिगृहीत मिथ्यात्व और अनभिगृहीत मिथ्यात्व ॥५५॥

टी०—तत्त्वार्थ अर्थात् अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक जीवादिका अश्रद्धान मिथ्यात्व है।

शंका—अर्थका तत्त्व विशेषण देना निरर्थक है क्योंकि अतत्त्वरूप अर्थका अभाव है?

समाधान—नही, क्योंकि मिथ्याज्ञानके द्वारा दिखलाये गये नित्यता क्षणिकता आदिमेंसे किसी एक धर्म वाला अतत्त्वरूप अर्थ सभव है।

शंका—तत्के भावको तत्त्व कहते है। तत्त्व शब्द भाव वाचक है और अर्थ शब्द भाववान् को कहता है। अत. ये दोनों भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले है। इनका सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है?

समाधान—यह दोष नही है क्योकि भाव भाववान्से अभिन्न होता है अत. तत्त्वशब्द

'**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति**'। अथवाप्यधिकरणतैव। अर्थानां जीवादीनां यानि तत्त्वानि अवि-परीतानि रूपाणि तेषामश्रद्धानं यत्तन्मिथ्यात्वं इति संबंध क्रियते। 'ससयिदं' संशयितं किंचित्तत्त्वमिति। तत्त्वानवधारणात्मक संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितं। न हि संदिहानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थ-मेवेति, निश्चयप्रत्ययसहभावित्वात् श्रद्धानस्य। 'अभिग्गहिद' परोपदे[1]शाभिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते। एतदुक्तं भवति। न सन्ति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहाण सन्ति जीवादीनि नित्यान्येवेति यदा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्त्वे अनेकान्तात्मकत्वे चोपजातं अश्रद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति। परो-पदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वं ॥५५॥

मिथ्यात्वदोषमाहात्म्यख्यापनायाह—

जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति ॥
ते तस्स कडुगदुद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला ॥५६॥

'**जे वि**' हिंसा नाम प्रमादवतः प्राणेभ्यो वियोगकरणं प्राणिनस्ततो निवृत्तिरहिंसा। असदभिधाना-द्विरतिः सत्यम्। अदत्तादानाद्विरतिरस्तेयं मैथुनाद्विरतिर्ब्रह्म। ममेदं भावो मोहोदयजः परिग्रहः। ततो निवृत्तिरपरिग्रहता। एते अहिंसादयो गुणा परिणामा धर्म इत्यर्थः।

ननु सहभुवो गुणा इति वचनात् चैतन्यामूर्तत्वादीनामेवात्मनः सहभुवां गुणता। हिंसादिभ्यो विरति-

---

अर्थमे रहता है। ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है—जैसे तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अथवा अन्य प्रकारसे भी अधिकरणता है—'अर्थ' अर्थात् जीवादिके, जो 'तत्त्व' अर्थात् अविपरीत रूप है उनका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है ऐसा सम्बन्ध किया जाता है।

तत्त्वका निर्णय न करने वाले संशय ज्ञानका सहचारी जो अश्रद्धान है वह संशयित मिथ्यात्व है। जो सदेहमे है उसके तत्त्वविषयक श्रद्धान नही है क्योंकि श्रद्धान 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारके निश्चयात्मक ज्ञानके साथ ही रहता है। परोपदेशकी मुख्यतासे गृहीत अर्थात् स्वीकार किया गया अश्रद्धान अभिगृहीत कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'जीवादि द्रव्य नही है यह स्वीकार करो। या जीवादि है किन्तु नित्य ही है' इस प्रकार जब दूसरेके वचनको सुनकर जीवादिके अस्तित्वमे या उनके अनेकान्तात्मक होनेमे जो अश्रद्धान या अरुचि उत्पन्न हो वह अभिगृहीत मिथ्यात्व है और परोपदेशके बिना भी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अश्रद्धान उत्पन्न होता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है ॥५५॥

गा०—जो भी अहिंसा आदि गुण मरते समय मिथ्यात्वके द्वारा दूषित होते है, वे उस दूषित गुण वाले आत्माके कडुवी तूबीमे रखे गये दूधकी तरह निष्फल होते है ॥ ५६ ॥

टी०—प्रमादवानके द्वारा प्राणिके प्राणोका वियोग करना हिसा है। उस हिसासे निवृत्त-को अहिसा कहते है। असत् कहनेसे निवृत्तिको सत्य कहते है। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरतिको अचौर्य कहते है। मैथुन सेवनसे विरतिको ब्रह्मचर्य कहते है। मोहके उदयसे होने वाले 'यह मेरा है' इस प्रकारके भावको परिग्रह कहते है। उससे निवृत्तिको अपरिग्रह कहते है। ये अहिसा आदि गुण अर्थात् अहिसादि रूप परिणाम धर्म है।

शङ्का—जो द्रव्यके साथ होते है वे गुण है ऐसा वचन है। उसके अनुसार चैतन्य अमूर्तत्व

---

१. यद्दशा–आ० मु०।

परिणाम' पुन. कादाचित्कत्वात् मनुष्यत्वादिक्रोधादिवत्पर्याया, इति चेन्नतु **गुणपर्ययवद्द्रव्य**मित्यादावुभयोपादाने अवातरभेदोपदर्शनमेतद्यथा 'गोबलीवर्दम्' इत्युभयोरुपादाने पुनरुक्ततापरिहृतये स्त्रीगोशब्दवाच्या इति कथनमेकस्यैव गुणशब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता।

अहिंसादयश्च ते गुणा अहिंसादिगुणा । '**मिच्छत्तकडुगिदा**' मिथ्यात्वेन तत्त्वाश्रद्धानेन । **कडुगिदा** कटूकृता. कटुकता गता । '**होंति**' भवंति । कदा **मरणे** मरणकाले ते अफला भवति । कस्य मिथ्यात्वकटूकृताहिंसादिगुणस्यात्मन' । किमिव ? **दुद्धव** क्षीरमिव । कीदृग्भूत ? '**कडुअतुंबियगदं**' कटुकालाबूपगतम् यथा अफलं फलरहितं । पित्ताद्युपशमन प्रीतिरित्यादिक यत्फल क्षीरस्य प्रतीत तेन फलेन अफल जातम् । यथा क्षीरं भाजनदोषादेव मिथ्यात्ववत्यात्मनि स्थिता अहिंसादिगुणा स्वसाध्येन फलेन न फलवत । पचानुत्तरविमानवासित्व लौकातिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिह गृहीत । अहिसादयो न स्वोचितफलातिशयदायिन दुष्टभाजनस्थितत्वात् कटुकालाबुकगतपयोवदिति सूत्रार्थ ॥५६॥

न केवल फलातिशयाकारित्व अहिंसादिगुणाना, अपि तु मिथ्यात्वकटुकिते स्थिता दोषानपि कुर्वन्ति इत्याचष्टे—

जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण सजुद संत ॥
तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होंति ॥५७॥

'**यथा भेसजं पि**' इति स्पष्टतया न व्याख्यायते। '**मिच्छत्तविसजुदा**' मिथ्यात्वेन विषेण सबद्धा

आदि जो आत्माके साथ रहते है वे ही गुण है । हिंसादिके त्याग रूप परिणाम तो कभी होते है, कभी नही होते । अत मनुष्यत्वकी तरह या क्रोधादिकी तरह पर्याय है, गुण नही है ?

समाधान—'गुण पर्ययवान्को द्रव्य कहते है' इत्यादिमे गुण और पर्याय दोनोका ग्रहण किया है । जैसे 'गोवलीवर्द' यहाँ गो और बलीवर्द दोनोको ग्रहण करने पर पुनरुक्तता दोष आता है क्योकि दोनो शब्दोका अर्थ एक है । इस पुनरुक्तता दोषको हटानेके लिये 'गो' शब्द गायका वाचक है ऐसा कहा है । एक गुण शब्दका ग्रहण करने पर वह धर्ममात्रको कहता है अत' कोई दोष नही है । वे अहिंसादि गुण मरते समय यदि तत्त्वके अश्रद्धान रूप मिथ्यात्वसे दूषित होते है तो मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसा आदि गुण वाले आत्माके कटुक तूम्बीमे रखे दूधकी तरह निष्फल होते हैं । दूधका फल चित्त आदिको शान्त करना प्रसिद्ध है । किन्तु भाजनमे दोष होनेसे वह दूध फल रहित होता है । इसी तरह मिथ्यात्ववान् आत्मामे रहने वाले अहिंसा आदि गुण अपना साध्य जो फल है उससे फलवान नही है । यहाँ पाँच अनुत्तर विमानका वासी देव होना या लौकान्तिकदेव होना इत्यादि अभ्युदयरूप फलका ग्रहण किया है । अत कटुक तूम्बीमे रखे दूधकी तरह सदोष भाजनमे रहनेके कारण अहिसा आदि अपने उचित फलातिशयको नही देते, यह गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥ ५६ ॥

अहिंसा आदि गुण केवल फलातिशयकारी ही नही हैं, बल्कि मिथ्यात्वसे कलुषित आत्मामें स्थित्त अहिंसादि दोष भी करते है, यह कहते है—

गा०—जैसे औषध भी विषसे सम्बद्ध होने पर दोष करती है । उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिसा आदि गुण भी दोषकारी होते हैं ॥ ५७ ॥

टी०—विष मिश्रित औषधकी तरह मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी

'गुणा वि' गुणा अपि अहिंसादयो गुणा अपि । **'दोसावहा'** दोषावहा ससारे चिरपरिभ्रमणदोषमावहन्तीत्यर्थ । अथवा मिथ्यादृष्टेर्गुणा पापानुबंधि स्वल्पमिन्द्रियसुख दत्वा बह्वारभपरिग्रहादिषु आसक्त नरके पातयन्ति इति दोषावहा । दृष्टान्तप्रदर्शनेन इष्टनिर्वृति. । प्राप्तिश्च मिथ्यात्वमाहात्म्यान्न भवतीति प्रमाणेन दर्शयितु गाथाद्वयमायातम् ॥५७॥

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ।
अण्णतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥५८॥

इत्यनेन प्रकृष्टगमनसामर्थ्याद्भ्रमण[1]माख्यातम् । **'अण्णतो गच्छंतो'** इत्यनेन तन्मार्गाप्रवृत्तत्वात् इत्यय हेत्वर्थो दर्शिता । तेन इष्ट देश न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदर्शित । **'सगिच्छदं देस जह पुरिसो णेव पाउणदि'** इत्यनेन दृष्टान्त उपदर्शित ॥५८॥

धणिद पि संजमतो मिच्छादिट्ठी तहा ण पावेई ।
इट्ठं णिव्वुइमग्गं उग्गेण तवेण जुत्तो वि ॥५९॥

'धणिद' पि नितरामपि । **'संजमतो'** चारित्रे वर्तमानोऽपि । **'उग्गेण तवेण जुत्तोवि'** उग्रेण तपसा युक्तोपि, नैव निर्वृति प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्माख्यानम् । **मिच्छादिट्ठी** इत्यनेन साध्यधर्मि दर्शितम् । एव प्रमाणरचना कार्या—

मिथ्यादृष्टिर्नेष्ट प्राप्नोति तन्मार्गावृत्तित्वात् । य स्वप्राप्यस्य मार्गे न प्रवर्तते न स तमभिमत प्राप्नोति । यथा दक्षिणमथुरात पाटलिपुत्र प्राप्तुमिच्छु दक्षिणा दिश गच्छन्निति । **'णिव्वुदि'** निवृति ।

दोषावह होते है अर्थात् ससारमे चिरकाल तक भ्रमणरूपी दोषको करनेवाले होते है। अथवा मिथ्यादृष्टिके गुण पापका बन्ध करानेवाले थोडेसे इन्द्रिय सुखको देकर बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमे आसक्त उस जीवको नरकमे गिराते है यह दोष कारक है। दृष्टान्त द्वारा दिखलानेसे मिथ्यात्वके माहात्म्यसे इष्टकी उत्पत्ति और प्राप्ति नही होती, यह प्रमाण द्वारा बतलानेके लिए दो गाथाएँ आई है।

गा०—जैसे एक दिनमे सौ योजन भी चलनेवाला यदि अन्य मार्गसे जाता है तो वह पुरुष अपने इच्छित देशको नही प्राप्त होता ॥५८॥

टी०—इससे चलनेकी उत्कृष्ट सामर्थ्य होनेसे ससार भ्रमण कहा है। अन्यत्र जानेवाला' इस पदसे 'अपने मार्गपर न चलनेसे' इस हेतु अर्थको दिखलाया है। अपने इच्छित देशमे न पहुँचनेमें हेतु है उसका सही मार्गसे न चलना। इष्ट देशको प्राप्त नही होना' यह साध्य धर्म दृष्टान्त द्वारा बतलाया है। अर्थात् प्रतिदिन सौ योजन चलनेवाला मनुष्य अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नही होता क्योकि वह सही मार्गसे नही जाता ॥५८॥

गा०—उसी प्रकार अत्यन्त भी चारित्रका पालन करनेवाला उग्र तप करते हुए भी मिथ्यादृष्टि इष्ट प्रधान मोक्ष नही पाता ॥५९॥

टी०—मिथ्यादृष्टि इष्टको प्राप्त नही करता, क्योकि इष्टके मार्गपर नही चलता। जो अपने इष्टकी प्राप्तिके मार्गपर नही चलता, वह अपने इष्टको प्राप्त नही करता। जैसे दक्षिण

---

१. बलमाख्यातं–अ०।

'अग्गं' अग्रया। अथवा निर्वृतिस्तुष्टिर्यथा मनसो निर्वृतिर्मनस्तुष्टिरित्यर्थ। निर्वृतेमार्गमुपाय क्षायिकज्ञान-चारित्राख्यम्। स्पष्टतया न प्रतिपदं व्याख्या कृता ॥५९॥

व्रतेन शीलेन तपसा वा युक्तोऽपि मिथ्यात्वदोषाच्चिर ससारे परिभ्रमति इतरस्मिन्व्रतादिहीने किं वाच्यमिति दर्शयति—

जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वद गुणो वावि।
सो मरणे अप्पाणं किह ण कुणई दीहसंसारं ॥६०॥

स्वल्पापि मिथ्यात्वविषकणिका कुत्सितासु योनिषु उत्पादयति किमस्ति वाच्य सर्वस्य जिनदृष्टस्या-श्रद्धाने इति गाथाया अर्थ ॥६०॥

एक्कं पि अक्खरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणदिट्ठं ॥
सो वि कुजोणिणिवुड्डो किं पुण सव्वं अरोचंतो ॥६१॥

एक्कमपीत्यस्य बालबालमरणप्रवृत्तस्य भव्यस्य सख्याता, असख्याता, अनता वा भवन्ति भवा। अभव्यस्य तु अनतानता। मिथ्यादर्शनदोषमाहात्म्यसूचन ससारमहत्ताख्यापनेन क्रियतेऽनया गाथया ॥६१॥

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति बालबालम्मि ॥
सेसा भव्वस्स भवा णंताणंता अभव्वस्स ॥६२॥

मथुरासे पाटलीपुत्र जानेका इच्छुक यदि दक्षिण दिशामे जाता है तो वह पाटलीपुत्र नही पहुँच सकता। उसी तरह मिथ्यादृष्टि भी प्रधानभूत मोक्षको नही प्राप्त करता; क्योकि निर्वृत्ति अर्थात् मोक्षका मार्ग या उपाय क्षायिकज्ञान और क्षायिकचारित्र है अथवा निर्वृत्तिका अर्थ तुष्टि है। जैसे मनकी निर्वृत्तिका अर्थ मनकी तुष्टि है। अर्थात् उसे अनन्तसुख प्राप्त नही होता। स्पष्टरूप-से प्रत्येक पदकी व्याख्या नही की है ॥५९॥

आगे कहते है कि जब व्रत, शील और तपसे युक्त होनेपर भी मिथ्यात्व दोषके कारण चिरकाल तक ससारमे भ्रमण करता है तब जो व्रतादिसे हीन है उसका तो कहना ही क्या है—

गा०—जिस मिथ्यादृष्टिके शील व्रत अथवा ज्ञानादि भी नही है वह मरनेपर कैसे अनन्त ससार नही करता है ॥६०॥

टी०—यदि मिथ्यात्वरूपी विषकी छोटी-सी भी कणिका कुत्सित योनियोंमे उत्पन्न कराती है तो जिन भगवान्के द्वारा देखे गये समस्त तत्त्वोका श्रद्धान न होनेपर तो कहना ही क्या है? ॥६०॥

गा०—जिन भगवान्के द्वारा देखा गया एक भी अक्षर जिसे रुचता नहो है वह मरे तो वह भी कुयोनियोमे डूबता है, तब जिसे सब ही नही रुचता उसके सम्बन्धमे तो कहना ही क्या है ॥६१॥

टी०—बालबालमरणसे मरनेवाले भव्यके सख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव होते है और अभव्यके तो अनन्तानन्त भव होते है। इस गाथासे संसारकी महत्ताका कथन करनेके द्वारा मिथ्यादर्शन दोषके माहात्म्यका सूचन किया है ॥६१॥

बालबालं गदं संखेज्जा वा इत्यनया।

सप्तदशमरणविकल्पेषु पचमरणान्यत्रोच्यते इति प्रतिज्ञातं। तत्र यत्पण्डितमरण तत्प्रायोपगमनमरण-मिंगिनीमरणं भक्तप्रत्याख्यानमिति त्रिविकल्पं सूचितं। तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राग्वर्णनीयमिति दर्शयति सूत्रकार स्वयमेव सम्बन्धमुत्तरप्रबंधस्य—

पुव्वं ता वण्णेसिं भत्तपइण्णं पसत्थमरणेसु ॥
उस्सण्णं सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ॥६३॥

'**पुव्वं**' पूर्वं प्रथम तावत्। '**वण्णेसिं**' वर्णयिष्यामि। '**भत्तपइण्णं**' भक्तप्रत्याख्यानम्। '**पसत्थमरणेसु**' प्रशस्तमरणेषु व्याख्येयेषु निर्धारणलक्षणा चेय सप्तमी। यथा—कृष्णा गोषु सपन्नक्षीरतमेति समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारण। प्रशस्तमरणसमुदायात् त्र्यवयविकात् भक्तप्रत्याख्यान पृथग्व्यवस्थाप्यते। पूर्वव्याख्येयत्वेन एतत्कालप्रयोग्यत्वेन गुणेनेति मन्यते। **उस्सण्णं** नितरा बाहुल्येन यावदित्यर्थ। मरण सा चैव भक्तप्रत्या-ख्यानमृतिरेव। साध्याहारत्वात्सर्वसूत्रपदाना। **एदम्हि काले** इति वाक्यशेष कार्य।

सहननविशेषसमन्विताना इतरमरणद्वय। न च सहननविशेषा.। वज्रऋषभनाराचादय अद्यत्वेऽमुष्मि-न्क्षेत्रे सति गणिना। '**सेसाणं**' शेषयो' प्रायोपगमनस्य इगिनीमरणस्य च। वण्णणा कथन। '**पच्छा**' इति शेष।

गा०—बाल-बाल मरणमे मरनेपर भव्य जीवके सख्यात, असख्यात अथवा अनन्त भव शेष होते है। अभव्यके अनन्तानन्त भव होते है।।६२॥

टी०—इस गाथाके साथ बाल-बालमरणका कथन समाप्त हुआ। मरणके सतरह भेदोंमेंसे यहाँ पाँच मरणका कथन करते है ऐसी प्रतिज्ञाकी थी। उनमेसे जो पडित मरण है उसके प्रायोप-गमन मरण, इगिनी मरण और भक्त प्रत्याख्यान ये तीन भेद सूचित किये थे। उनमेसे प्रथम भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करनेकी सूचना ग्रन्थकार आगेकी गाथासे स्वय करते हैं—

गा०—प्रशस्त मरणोमे पहले भक्त प्रत्याख्यानको कहूँगा। क्योकि वह भक्त प्रत्याख्यान ही बहुतायतसे प्रचलित है। शेष मरणोंका वर्णन पीछे करेगे।।६३॥

टी०—जिनका यहाँ व्याख्यान किया जाना है उन प्रशस्त मरणोमेसे भक्त प्रत्याख्यानको पहले कहूँगा। यहाँ यह सप्तमी विभक्ति निर्धारण करनेके अर्थमे है, जैसे गौओमें काली गाय बहुत अधिक दूध देती है। समुदायमे उसके एक देशको पृथक् करनेको निर्धारण कहते है। तीन भेद वाले प्रशस्त मरणके समुदायसे भक्त प्रत्याख्यानको पृथक् करते है। इस कालमे भक्त प्रत्याख्यान ही पालन करनेके योग्य है इस गुणके कारण उसका प्रथम कथन करना योग्य है। समस्त सूत्रपद अध्याहार सहित होते है इसलिये इस कालमे भक्त प्रत्याख्यान मरण ही 'उस्सण्ण' बाहुल्यसे प्रवर्तित है। शेष दो मरण विशेष सहननके धारकोके होते है। और आजके समयमे गणियोके वज्रऋषभनाराच आदि सँहनन विशेष इस क्षेत्रमे नहीं होते। इसीसे शेष प्रायोपगमन और इंगिनीमरणका कथन पीछे करेंगे।

शका—यदि आजके मनुष्योमें उन मरणोको करनेकी शक्ति नही है तो उनका कथन क्यो करते हैं?

यदि ते वर्तयितु इदानीतनानामसामर्थ्यं किं तदुपदेशेनेति चेत् तत्स्वरूपपरिज्ञानात्सम्यग्ज्ञान । तच्च मुमुक्षूणामुपयोग्येवेति मन्यते ।।६३।।

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानमित्यारेकायामाह—

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ।।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ।।६४।।

'**दुविध तु भत्तपच्चक्खाण**' द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यान । '**सविचारमध अविचार**' इति । विचरणं नानागमन विचार । विचारेण वर्तते इति सविचार । एतदुक्त भवति । वक्ष्यमाणार्हलिंगादिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यान इति । अविचार वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहित । भवतु द्विविध । सविचारभक्तप्रत्याख्यान कस्य भवति इत्यस्योत्तर । सविचार भक्तप्रत्याख्यान '**अणागाढे**' सहसा अनुपस्थिते मरणे चिरकालभाविनि मरणे इति यावत् । '**सपरक्कमस्स**' सह पराक्रमेण वर्तते इति सपराक्रमस्तस्य **हवे** भवेत् । पराक्रम उत्साह. एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यान भवतीति लभ्यते 'यतो' विचारभक्त-प्रत्याख्यान अस्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्त ।।६४।।

तयो कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शास्त्रेण निरूपणेत्याशकाया आह—

सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होइ ।
तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तालं होंति णेयाइं ।।६५।।

समाधान—उनके स्वरूपको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है और वह मुमुक्षुओके लिए उपयोगी ही है ।।६३।।

भक्त प्रत्याख्यानके भेद कहते है—

गा०—भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकारका ही है। सविचार और अविचार। सविचार भक्त प्रत्याख्यान सहसा मरणके उपस्थित न होनेपर पराक्रम अर्थात् साहस और बलसे युक्त साधुके होता है ।।६४।।

टी०—भक्त प्रत्याख्यान मरणके दो भेद है सविचार और अविचार। विचरण या नाना गमनको विचार कहते हैं और विचारसे सहितको सविचार कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि आगे कहे जाने वाले अर्हलिंग आदि भेद सहित भक्त प्रत्याख्यान सविचार है और उनसे रहित अविचार है। सविचार प्रत्याख्यान किसके होता है ? तो कहते है कि यदि मरण सहसा उपस्थित न हो, चिरकाल भावी हो तो पराक्रमसे उत्साहसे सहितके होता है। इसीसे वह भी प्राप्त होता है कि सहसा मरण उपस्थित होनेपर पराक्रमसे रहितके अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। गाथामे अविचार भक्त प्रत्याख्यान इस कालमे इसके होता है, ऐसा नही कहा है ।।६४।।

उन दोनोंमेसे किस भक्त प्रत्याख्यानका इस शास्त्रके द्वारा कथन किया जायेगा ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

गा०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका यह उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ होता है। और उस भक्त प्रत्याख्यानमें सूत्र और पद चालीस जानने योग्य हैं ।।६५।।

'**सविचारभत्तपच्चक्खाणस्स**' इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य । '**इणमो**' अय । '**उवक्कमो**' व्याख्यान-प्रारंभ. । '**होदि**' भवति । '**तत्थ य**' तत्र च भक्तप्रत्याख्याने । '**सुत्तपदाइं**' सूत्रपदानि । सूतेऽर्थं सूचयतीति वा सूत्रं । सूत्राणि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । '**चत्तालं**'चत्वारिंशत् । '**होंति**' भवन्ति । '**णेयाइं**' ज्ञातव्यानि ॥६५॥

तानि सूत्रपदानि गाथाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ।
परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥६६॥

'**अरिहे**' अर्हे योग्य । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्याय योग्योऽय नेति प्रथमोऽधिकार कर्तृव्यापार । लिंगादय कर्तृपुरसरा भवतीति प्रागेव लिंगशिक्षादिभ्यो योग्यकर्तृनिर्देश सूत्रे कृत अरिह इति । शिक्षादि-क्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियागभूताया योग्यपरिकरमादर्शयितु लिंगोपादान कृतम् । कृतपरिकरो हि कर्ता क्रियासाधनायोद्योग करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना दृढबद्धकक्षा कुलाला दृश्यते । ज्ञानमतरेण न विनयादय कर्तु शक्यन्ते इति तेभ्य: प्राड् निर्देशमर्हति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादर्शयिष्याम । लिंगशब्दश्चिह्नवाची । तथाहि वक्ष्यति । '**चिह्न करणं**' इति । '**सिक्खा**' शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षा-शब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति—'**जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्तो य पढिदव्वमिति**' । विनय मर्यादा । तथा हि–ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोग —संगत

टी०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका व्याख्यान प्रारम्भ होता है उसमे चालीस सूत्रपद हैं ॥६५॥

उन सूत्रपदोको चार गाथाओंसे कहते हैं—

गा०—अर्ह अर्थात् योग्य, लिंग अर्थात् चिह्न, शिक्षा अर्थात् शास्त्राध्ययन विनय और मनका एकाग्र करना, अनियत क्षेत्रमे विहार, परिणाम, परिग्रह त्याग और शुभ परिणामोकी श्रेणिपर आरोहण तथा अभ्यास ॥६६॥

टी०—अर्हका अर्थ योग्य है । सविचार भक्त प्रत्याख्यानके यह योग्य है और यह योग्य नही है यह प्रथम अधिकार है जो कर्ताके व्यापारसे सम्बद्ध है । लिग आदि कर्ताके होनेपर ही होते है इसलिये लिंग शिक्षा आदिसे पहले गाथामे 'अरिह' से योग्य कर्ताका निर्देश किया है । भक्त प्रत्याख्यान क्रियाके अगभूत शिक्षा आदि क्रियाके योग्य परिकर दिखलानेके लिये लिगका ग्रहण किया है । क्योकि साधन सामग्री जुटा लेनेपर ही कर्ता लोकमे क्रियाकी साधनाके लिये उद्योग करता है । घट आदि बनानेमें लगे कुम्भकार साधन सामग्री कर लेनेपर ही कमर बाँधकर तैयार देखे जाते है । ज्ञानके बिना विनय आदि नही किये जा सकते, इसलिये उनसे पहले शिक्षाका निर्देश योग्य है । अन्य क्रम अवसरके अनुसार कहेगे ।

लिग शब्द चिह्नवाची है । आगे कहेगे 'चिह्न करण' । यहाँ शिक्षा शब्दसे श्रुतका अध्ययन कहा है । आगे कहेगे—'जिन वचन कालिमाको दूर करता है उसे रात दिन पढना चाहिये । विनयका अर्थ मर्यादा है । आगे ज्ञानादि भावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिकी विनयके रूपमे कहेगे ।

घृतमित्यत्र एकीभूतं तैलं एकीभूतं घृतमित्यर्थ । समाधानं मनस एकताकरण शुभोपयोगे शुद्धे वा । अनियतक्षेत्रवास· अनियतविहार । **तद्भावः परिणामः** [त सू ५।४२] इति वचनात्तस्य जीवादेर्द्रव्यस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति । यद्यपि सामान्येनोक्त तथापि यते स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम् । **उपधिः** परिग्रह । तस्य '**जहणा**' त्याग । '**सिदी य**' श्रिति [1]श्रेणि. सोपानमिति यावत् । भावनाभ्यास तत्र असकृत्प्रवृत्ति ।।६६।।

सल्लेहणा दिसा खामणा य अणुसिट्ठि परगणे चरिया ।
मग्गण सुट्ठिय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ।।६७।।

'**सल्लेहणा**' सम्यक्तनूकरण । '**दिसा**' परलोकदिगुपदर्शनपर सूरिणा स्थापित भवता दिश मोक्ष-[2]वर्तनीमयमुपदिशति य· सूरि स दिशा इत्युच्यते । '**खमावणा**' क्षमाग्रहण । '**अणुसिट्ठि**' सूत्रानुसारेण शासनम् । '**परगणे**' अन्यस्मिन्गणे '**चरिया**' चर्या प्रवृत्ति । '**मग्गण**'मात्मनो रत्नत्रयविशुद्धि समाधिमरण वा संपादयितुं क्षमस्य सूरेरन्वेषण । '**सुट्ठिदो**' सुस्थित परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक स्थित सुस्थित आचार्य । '**उपसंपया**' आचार्यस्य ढौकन । '**पडिछा**' परीक्षा । गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साहशक्तेश्च आहारगताभिलाष त्यक्तुमय क्षमो नेति । '**पडिलेहा**' आराधनाया व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्भवति न

समका अर्थ एकीभाव है। जैसे 'संगत घृत' का अर्थ एकमेक हुआ ही है। समाधानका अर्थ है शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोगमे मनका एक रूप करना। अनियत विहारका अर्थ है अनियत क्षेत्रमे रहना। तत्वार्थ सूत्रमें 'तद्भाव' को परिणाम कहा है। अत जीवादि द्रव्यके क्रोधादि या दर्शन आदि रूपसे होनेको परिणाम कहते है। यद्यपि सामान्य परिणाम गाथामे कहा है तथापि यहाँ साधुके द्वारा अपने कर्तव्यको आलोचनाको परिणाम शब्दसे ग्रहण किया है। उपधिका अर्थ परिग्रह है। उसका त्याग उपधिजहणाका अर्थ है। 'सिदी' या श्रितिका अर्थ श्रेणिया सोपान है। भावनाका अर्थ अभ्यास उसमे बार-बार प्रवृत्ति करना है ।।६६।।

गा०—सल्लेखना, दिशा, क्षमाग्रहण, शिक्षा ग्रहण, अन्य गणमे प्रवृत्ति, आचार्यकी खोज सुस्थित उपसपदा, परीक्षा, प्रतिलेखना ।।६७।।

टी०—कषाय और शरीरको सम्यक् रीतिसे कृश करना सल्लेखना है। आचार्य अपने स्थानपर जिसे स्थापित करते है कि यह आपको परलोककी दिशा दिखलाते हुए मोक्ष मार्गका उपदेश देगा वह आचार्य दिशा कहलाता है। क्षमा ग्रहण करनेको खामणा कहते है। शास्त्रानुसार शिक्षा देनेको अणुसिट्ठि कहते है। परगण अर्थात् दूसरे सघमे जानेका परगण चरिया कहते है। अपनी रत्नत्रय विशुद्धि अथवा समाधिमरण करानेमे समर्थ आचार्यके खोजनेका मार्गण कहते है। परका उपकार करनेमे और अपने प्रयोजनमे सम्यक् रूपसे स्थित आचार्यको सुस्थित कहते है। आचार्यके पास जानेको उपसपदा कहते हैं। गण, परिचारक, आराधक और उत्साह शक्ति की और यह आराधक आहारकी अभिलाषा छोडनेमे समर्थ है या नही इन सबकी परीक्षा करना

---

१ श्रिति. श्रेणि निश्रेणि. सो. आ मु० ।
२ वर्तन्या अयमु०–अ० । वर्तन्याश्र्यमु–मु०

वा राज्यस्य तस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एव निरूपणम् ॥६७॥

आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।
सेज्जा संथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी ॥६८॥

'**आपुच्छा**' प्रतिप्रश्न । किमयमस्माभिरनुगृहीतव्या न वेति सघप्रश्नः । '**पडिच्छणमेगस्स**' प्रति चारकैरभ्यनुज्ञातस्यैकस्य सग्रह आराधकस्य । '**आलोयणा य**' स्वापराधनिवेदन गुरूणामालोचना । '**गुणदोसा**' तस्या गुणदोषा । '**सेज्जा** शय्या वसतिरित्यर्थ । आराधकावासगृहमिति यावत् । **संथारो वि य**' संस्तरश्च । **णिज्जावगा**' निर्यापका आराधकस्य समाधिसहाया । **पयासणा** चरमाहारप्रकाशनम् । '**हाणी**' क्रमेणाहार-त्याग हानि ॥६८॥

पच्चक्खाणं खामणं खमणं अणुसट्ठिसारणाकवचे ॥
समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाइं ॥ ६९ ॥

'**पच्चक्खाणं**' प्रत्याख्यान त्रिविधाहारस्य । '**खामणं**' आचार्यादीना क्षमाग्रहण । '**खमण**' स्वस्यान्य भूतापराधे क्षमा । '**अणुसट्ठि**' अनुशासन शिक्षण निर्यापकस्याचार्यस्य । '**सारणा**' दु खाभिभवान्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा । '**कवचे**' यथा कवचस्य शरशतनिपातदु खनिवारणक्षमता एवमाचार्येण

'पडिछा' है। आराधनाकी सिद्धि विना बाधाके होगी या नही, तथा राज्य, देश, ग्राम नगर आदि वहाँका प्रधान ये सब आराधनाके योग्य है या नही, इस प्रकारके निरूपणको पडिलेहा कहते है ॥६७॥

गा०—पूछना एक क्षपकको स्वीकार करना, और आलोचना, आलोचनाके गुण दोष, शय्या अर्थात् वसति, और सस्तर, निर्यापक, अन्तिम आहारका प्रकाशन क्रमसे आहारका त्याग ॥६८॥

टी०—जब कोई आराधक समाधिमरणके लिये आवे तो आचार्यका सघसे पूछना कि हम इसे स्वीकार करे या नही आपृच्छा है। आराधकको सेवा करने वाले मुनियोकी स्वीकृति मिलने पर एक आराधकको लेना 'एकका पडिच्छण है। गुरुके सामने अपने अपराधका निवेदन आलोचना है। आलोचनाके गुण और दोष 'गुणदोस' है। आराधकके रहनेका स्थान शय्या है उसे वसति भी कहते हैं मस्तरको संथार कहते है। आराधककी समाधिमे जो सहायक मुनि होते है उन्हे निर्यापक कहते हैं। आराधकके सामने अन्तिम आहारका प्रकाशन 'पगासणा' है। और क्रम से आहारके त्यागको हानि कहते है ॥६८॥

गा०—प्रत्याख्यान, क्षमा ग्रहण, दूसरोके अपराधको क्षमा करना। शिक्षण, सारणा, कवच, समभाव, लेश्या, आराधनाका फल (य) और (विजहणा) शरीर त्याग ये अधिकार जानना ॥६९॥

टी०—तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना प्रत्याख्यान है। आचार्य आदिसे क्षमा माँगना खामण है। दूसरेसे हुए अपराधको क्षमा करना खमण है। निर्यापकाचार्य जो शिक्षा देते है वह अनुशिष्टि है। दुःखसे पीड़ित होकर बेहोश हुए चेतना रहित आराधकको सचेत करना सारणा है। जैसे कवचमे सैकडो बाणोके लगनेसे होनेवाले दु खको दूर करनेकी सामर्थ्य है। वैसे ही

निर्यापकेन धर्मोपदेशश्चतुर्गतिपरिभ्रमणे दु महानि दु खानि ननु कर्मपरवशतया भुक्तानि निष्फलानि । इद पुनर्दु खसहन निर्जरार्थं प्रवर्त्यमान सकलदु खान्त सुखमप्यतीन्द्रियमचलमनुपममव्याबाधात्मकं संपादयिष्यतीति क्रियमाणो दु खनिवारणगुणसामान्यात् कवच शब्देनोच्यते । यथा शौर्यप्रचिख्यापयिषया माणवके सिहशब्दः प्रयुज्यमान शौर्यादिगुणाध्यासित देवदत्तमवगमयति । **'समदा'** समभाव जीवितमरणलाभालाभसयोगविप्रयोगसुखदु खादिषु रागद्वेषयोरकरण । **'झाणे'** ध्यान एकाग्रचितानिरोध । **'लेस्सा'** लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या । **'फल'** साध्यं परिप्राप्य आराधनायाः । **'विजहणा'** आराधकस्य शरीरत्याग ॥६९॥

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोग्गहाणिकरी ॥
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ॥ ७० ॥

'वाहिव्व' । अत्र चैव पदघटना । **'वाहिव्व दुप्पसज्झा सो अरिहो होइ भत्तपदिण्णाए'** इति । व्याधिर्वा दु प्रसाध्यः क्लेशेन महता सयमप्रचयावहेन चिकित्स्य यस्य विद्यते सोऽर्हो भक्तप्रत्याख्यान कर्तुं । जीर्यंति विनश्यंति रूपवयोबलप्रभृतयो गुणा यस्यामवस्थाया प्राणिन सा जरा । **'सामण्णजोग्गहाणिकरी'** श्राम्यति तपस्यतीति श्रमण , तस्य भाव श्रामण्य । श्रमणशब्दस्य पुसि प्रवृत्तिनिमित्त तप क्रिया श्रामण्य, तेन योग सबध साध्यसाधनलक्षणस्तस्य हानि विनाश करोति या सा जरा यस्य सोऽर्हति भक्तप्रत्याख्यान विधातु ।

निर्यापकाचार्य जो धर्मोपदेश देते है—तूने चार गतियोमे भ्रमण करते हुए दु सह दु ख सहे और कर्मोके अधीन होकर भोगे जिनसे कोई लाभ नही । किन्तु इस समयका दु ख सहन निर्जराके लिए है, सब दु खोका अन्त करनेवाला है और अतीन्द्रिय, अचल, अनुपम तथा बाधारहित सुखको भी देगा । इस प्रकार दु खको दूर करनेके गुणकी समानतासे उसे कवच शब्दसे कहा है । जैसे शौर्यका बखान करनेकी इच्छासे बालकमे प्रयुक्त सिह शब्द शौर्य आदि गुणोसे युक्त देवदत्तका बोध कराता है । वैसे ही यहाँ भी जानना ।

जीवन, मरण, लाभ, हानि, सयोग, वियोग, सुख दु ख आदिमे रागद्वेष न करना समता है । एक विषयमे चिन्ताके निरोधको ध्यान कहते है । कषायसे अनुरक्त मन-वचनकायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । आराधनाके द्वारा प्राप्त साध्यको फल कहते है । और अन्तमे आराधकके शरीर त्यागको विजहणा कहते हैं । इतने अधिकारोसे भक्त प्रत्याख्यान मरणका कथन करेंगे ॥६९॥

उनमेसे 'अर्ह' का कथन आगेकी गाथाके द्वारा करते है—

गा०—जिसके दुष्प्रसाध्य व्याधि हो, अथवा श्रामण्यके सम्बन्धको हानि पहुँचानेवाली वृद्धावस्था हो अथवा देवकृत मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य है ॥७०॥

टी०—दु प्रसाध्य व्याधि हो, अर्थात् बडे कष्टसे सयमके समूहका घात करके जिसका इलाज सम्भव हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है । जिस अवस्थामे प्राणीके रूप, वय, बल आदि गुण नष्ट हो जाते है उसे जरा कहते है । 'श्राम्यति' अर्थात् जो तपस्या करता है वह श्रमण है । श्रमणके भावको श्रामण्य कहते है । पुरुषमे श्रमण शब्दकी प्रवृत्तिमे निमित्त तपश्चरण श्रामण्य है । उससे योग अर्थात् साध्यसाधनरूप सम्बन्धकी हानि जो करती है अर्थात् जिसके होनेपर तपश्चरणकी साधना करना कठिन होता है वह वृद्धावस्था जिसके आ गई हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है । जिसका शारीरिक बल बुढापेके कारण क्षीण हो

जरापसारितशरीरबल: शरीरबलमाध्येषु कायक्लेशेषु न वर्तितुमुत्सहते। अथवा सममणो **'समणो'** समणस्स भावो सामण्ण। क्वचिदप्यननुगतरागद्वेषता समता सामण्णशब्देनोच्यते। वस्तुयाथात्म्यावहितचेतस्तया योग: सबधो ध्यानयोग इति यावत्। वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो य: स ध्यानमिष्यते। जरापरिप्लुतबोधस्य ध्यान विनश्यति। ततो ध्यानयोगविनाशकारिणी जरा यस्य सोऽर्हति भक्त त्यक्तुम्। अथवा सामण्ण समता, युज्यतेऽनेन निर्जरार्थिन इति योग:, तप:। योगशब्दस्तपसि कायक्लेशाख्ये रूढ: सोऽत्र गृहीत:। **'आदावणादिजोगधारिणो अणगारा'** इत्युक्ते आतापनादितपोधारिण: इति प्रतीयते।

द्वद्वे अल्पाच्तरत्वाद्योगशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसग इति चेत् न अभ्यर्हितत्वात्समताया: सामण्ण इत्यस्य पूर्वनिपात इति मन्यते, पूर्वतोऽभ्यर्हितमिति वचनात्। न हि समताशून्यात्तपसो विपुला निर्जरा भवति। सत्या तु समताया निर्जरा भवति। ततस्तपसो निर्जराहेतुता समतापरवशेति प्रधान समता।

उवसग्गा वा उपद्रवा वा **'देवियमाणुसतेरिक्खिगा'** देवैर्नरैस्तिर्यग्भिश्च प्रवर्तिता यस्य सोऽर्हति भक्तप्रत्याख्यान इति सबध:। चतुर्विधत्वादुपसर्गस्य [1]त्रैविध्योपदेश. कथमिति ? अत्रोच्यते—उपसर्गा वा इति वा शब्द समुच्चयार्थोऽसौ **'देवियमाणुसतेरिक्खिगा** वा इति सबधनीयस्तेनाचेतनोपसर्गसमुच्चय: क्रियते ॥७०॥

जाता है वह शरीरमे रहते बलके द्वारा करने योग्य कायक्लेशोमे प्रवृत्त होनेके लिए उत्साहित नही होता। अथवा जिसका मन सम है वह समण है। समणका भाव सामण्ण है। किसी भी वस्तुमे रागद्वेष न करनेरूप समता 'सामण्ण' शब्दसे कही जाती है। वस्तुके यथार्थस्वरूपमे चित्तका लगना, उसके साथ योग-सम्बन्ध अर्थात् ध्यान योग। वस्तुके यथार्थस्वरूपका जो ज्ञान निश्चल होता है उसे ध्यान कहते है। बुढापेसे ज्ञानके व्याप्त हो जानेपर ध्यान नष्ट हो जाता है। अत ध्यानयोगका विनाश करनेवाली जरा जिसके है वह भोजनका त्याग करनेके योग्य है। अथवा समताको सामण्ण कहते है। और निर्जराके इच्छुक जिससे युक्त होते है वह योग अर्थात् तप है। योग शब्द कायक्लेश नामक तपमे रूढ है। वही यहाँ योग शब्दसे लिया है, क्योकि 'आदावणादि जोगधारिणो अणगारा' इस कथनसे 'आतपन आदि तपको धारण करनेवाले' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है।

शका—'योग' शब्द अल्प अच्‌वाला है। अत द्वन्द्व समासमे सामण्णसे पहले 'जोग' शब्द रखना चाहिए ?

समाधान—नही, क्योकि समता पूज्य है अत सामण्णको पहले रखना उचित है क्योकि जो पूज्य होता है उसे पहले स्थान दिया जाता है ऐसा शास्त्रका वचन है। समताशून्य तपसे बहुत निर्जरा नही होती। किन्तु समताके होनेपर होती है। अत तप समताके परवश होकर निर्जरामे कारण होता है इसलिए समता प्रधान है।

अथवा देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोके द्वारा जिसपर उपसर्ग किया गया हो वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है।

शका—उपसर्ग तो चार प्रकारका होता है। यहाँ तीन प्रकारका क्यो कहा ?

समाधान—'उपसर्गा वा' मे 'वा' शब्दका अर्थ समुच्चय है। उससे अचेतनकृत उपसर्गका समुच्चय होता है ॥७०॥

१. त्रिविधो—अ० गु०।

अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ॥
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥७१॥

'अणुलोमा वा' अनुकूला वा शत्रव । **'चारित्तविणासगा'** चारित्रं पापक्रियानिवृत्ति तस्य विनाशका । बंधवो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्र विनाशयितुं उद्यता । अनुलोमत्व शत्रुत्वविरोधि प्रातिकूल्ये समवस्थिता हि भवन्ति शत्रवस्तत्किमुच्यते **'अणुलोमा वा सत्तू'** इति ? प्रियवचनमात्रभाषणादनुलोमता । अहितेऽसयमे प्रवर्तनाद्धितस्य सयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा बधव सत्तू वा शत्रवश्चेति समुच्चय वा शब्दसमुच्चयार्थत्वात् । **'देविगमाणुसतेरिक्खगा उवसग्गा जस्स'** इतिवचनात् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्ग संगृहीतः एव किमर्थं पुनरुच्यते **'अणुलोमा वा'** इति पुनरुक्तता । तत्र हि सूत्रे मनुष्योपसर्गो नाम बधनताडनविलबनादिक शरीरोपद्रव परकृतो गृहीत । इह तु जिव्होत्पाटनादिक कुर्मो यदि श्रामण्य न त्यजसीति खलीकरण वक्तुमिष्टम् ।

'दुब्भिक्खे वा' दुर्भिक्षे वा । **'आगाढे'** दुरुत्तरे महति अशनिपातमिव सर्वजनगोचरे अर्हति प्रत्याख्यातु ।

'अडवीए' अटव्या महत्या व्यालमृगाकुलाया मार्गोपदेशिजनरहिताया दिङ्मूढ पाषाणकटकबहुलतया दु प्रचाराया । **'विप्पणट्ठो वा'** विप्रनष्टो वा अर्हतीति सबध ॥७१॥

गा०—अनुकूल बन्धु मित्र शत्रु हो जो चारित्रका विनाश करनेवाले हो । अथवा अनुकूल बन्धु और शत्रु जिसके चारित्रका विनाश करनेवाले हो । भयकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयकर जगलमे भटक गया हो तो भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

टी०—अनुकूल ही शत्रु हो । पापक्रियासे निवृत्तिरूप चारित्रका विनाश करनेवाले हो । बन्धु स्नेहसे या मिथ्यात्व दोषसे या अपने भरण-पोषणके लोभसे जिसके चारित्रका विनाश करनेके लिए तत्पर हो वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है ।

शका—अनुलोमता शत्रुताकी विरोधी है । जो प्रतिकूल होते है वे शत्रु होते है तब 'अणुलोमा वा सत्तु' कैसे कहा ?

समाधान—प्रियवचनमात्र बोलनेसे अनुलोमता है और असयमरूप अहितमे प्रवृत्ति करानेसे तथा सयमधनरूप हितका विनाश करनेसे शत्रु होते है ।

अथवा अनुलोम अर्थात् बन्धु और शत्रु इस प्रकार 'वा' शब्दको समुच्चयार्थक लेना चाहिए ।

शका—पहले कहा है कि जिसपर देवकृत मनुष्यकृत उपसर्ग हो, तो इससे अनुकूल कृत और शत्रुकृत उपसर्गका ग्रहणकर ही लिया है यहाँ पुन 'अणुलोमा वा सत्तु' क्यो कहा ? इससे पुनरुक्तता दोषका प्रसग आता है ।

समाधान—उक्त गाथामे मनुष्योपसर्गसे परके द्वारा किया गया बाँधना, मारना, रोकना आदि शारीरिक उपद्रव लिया गया है । और यहाँ 'यदि मुनिपद नही छोडता तो हम तेरी जीभ उखाड़ लेंगे' इस प्रकारकी शत्रुता ली गई है ।

वज्रपातके समान भयकर दुर्भिक्ष होनेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है । सर्प, मृग आदिसे भरे हुए भयकर वनमे, जहाँ कोई रास्ता बतलानेवाला नही है, कंकर पत्थरोके कारण चलना भी दुष्कर है, फँस जानेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ॥
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥७२॥

'**चक्खुं व**' चक्षुर्वा । चष्टेऽर्थान्दिर्शयतीति चक्षु. । '**दुब्बलं**' दुर्बल अल्पशक्तिक सूक्ष्मवस्तुदर्शनाक्षम । '**जस्स**' यस्य । '**होज्ज**' भवेत् । '**सोद**' व श्रोत्र वा श्रूयते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । '**दुब्बलं**' शब्दोपलब्धिजननसामर्थ्यविकलं । सोप्यर्हति । '**जंघाबलपरिहीणो**' '**जो**' य । '**ण समत्थो**' न शक्तो । '**विहरिदुं वा**' गंतु वा सोप्यर्हति ॥७२॥

अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥७३॥

'**अण्णंमि चावि**' अन्यस्मिन्नपि उक्तादस्मात् । '**आगाढकरणे**' आगाढे कारणे '**जादे**' जाते । '**एदारिसम्मि**' उक्तकारणसदृशे । '**भत्तपविण्णाए**' अरिहो **होदि विरदो अविरदो वा** इति पदघटना । भक्त प्रत्याख्यानस्यार्हो भवति विरत अविरतो वा ॥७३॥

अनर्हसूचनायोत्तरगाथा—

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा ॥
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥७४॥

'**उस्सरदि**' नितरा प्रवर्तते । '**जस्स**' यस्य । '**चिरमवि**' चिरकालमपि । किं '**सामण्ण**' चारित्र । '**सुहेण**' अक्लेशेन । '**अणदिचारं वा**' निरतिचार । चारित्रविनाशभयादय अतीतेषु कारणेषु सत्सु प्रत्याख्यानायोद्योग

गा०—जिसकी चक्षु दुर्बल हो अथवा जिसके श्रोत्र दुर्बल हो। जो जघाबलसे हीन हो (वा) अथवा विहार करनेमे समर्थ न हो ॥७२॥

टी०—'चष्टे' अर्थोको जो दिखलाती है वह चक्षु है। 'श्रूयते' जिसके द्वारा शब्दको जाना जाता है वह श्रोत्र है। जिसकी चक्षु अल्पशक्तिवाली हो, सूक्ष्म वस्तुको न देख सकती हो। जिसकी कर्णेन्द्रिय दुर्बल हो, शब्दका ज्ञान करानेमे आशक्त हो, जिसमे जघाबल न हो, जो विहार करनेमे अशक्त हो, वे सब भक्तप्रत्याख्यानके योग्य हैं ॥७२॥

गा०—उक्तकारणके समान अन्य भी प्रबल कारण उपस्थित होनेपर विरत अथवा अविरत भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

टी०—उक्त कारणोके समान अन्य भी ऐसे कारण हों तो मुनि हो या श्रावक हो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

जो भक्तप्रत्याख्यानके अयोग्य है उन्हे आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—जिसका चारित्र चिरकाल भी विना किसी क्लेशके अतिचार रहित अच्छी तरह पालित हो रहा है। अथवा समाधिमरण करानेमे सहायक निर्यापक (सुलहा) सुलभ है। (च) और (जदि) यदि दुर्भिक्षका भय नही है ॥७४॥

टी०—पहले जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके कारण कहे हैं उनके रहते हुए यह चारित्र विनाशके भयसे भक्तप्रत्याख्यानके लिए उद्योग करता है। किन्तु यदि चारित्र विना क्लेशके निरतिचार

करोति । तच्चेत्प्रवर्तते निरतिचारमक्लेशेन नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमह यदि न त्याग कुर्यां निर्यापका पुनर्न लप्स्यन्ते सूरयस्तदभावे नाह पंडितमरणमाराधयितु शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्ह एव ॥७४॥

यदि च सुलभा निर्यापका अनागतदुर्भिक्षभयं च यदि न स्यान्न भवत्यर्ह इति कथयति—

तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ॥
सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥७५॥

'तस्स' तस्य । **'ण' 'कप्पदि भत्तपइण्णं'** न योग्य प्रत्याख्यान भक्तस्य । **'भये पुरदो अणुवट्ठिदे'** भये पुरस्तादनुपस्थिते । **'सो'** स । निरतिचारश्रामण्य सुलभनिर्यापक अनुपस्थितदुर्भिक्षभय । **'मरणं'** मृति । **'पेच्छंतो'** प्रार्थयमान. । खुशब्द एवकारार्थ । एवममी सभावनीय **'सामण्णणिव्विण्ण एव होदित्ति'** श्रामण्यान्निर्विण्ण एव सभवतीति । ननु च अरिहेति अर्ह एव सूचितो नानर्ह, तत्किमर्थमसूत्रितव्याख्या क्रियते, सूत्रकारेण ? अर्हप्रसगादायातमिति केचित् । अनर्हमपि लक्षणतया अनर्हत्व सूचित इति वा न दोष । स्वपर[1]भावाभावोभयाधीनात्मलाभत्वात्सर्ववस्तूना इति मन्यते ॥ अरिहोत्ति गदम् ॥७५॥

पलता है तो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य नही है उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण नही करना चाहिए। तथा यदि इस समय मै भक्तप्रत्याख्यान नही करता तो फिर मुझे समाधिमरण करानेवाले निर्यापकाचार्य नही मिलेंगे। उनके अभावमे मै पण्डितमरणकी आराधना नही कर सकता। ऐसा यदि भय है तो भक्तप्रत्याख्यानके योग्य ही है। अर्थात् यदि ऐसा भय न हो और आराधनामे सहायक उस कालमे और आगे भी सुलभ हो तो उक्त भयसे तत्काल भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नही है। इसी तरह यदि दुर्भिक्षका भय हो कि आगे धान्यका विनाश होनेसे भिक्षाके विना मेरे चारित्रकी हानि होगी तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है, नही तो अयोग्य है ॥७४॥

यदि निर्यापक सुलभ हो और आगे दुर्भिक्षका भय न हो तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नही है, ऐसा कहते है—

गा०—आगे भयके अनुपस्थित होते हुए उसका भक्तप्रत्याख्यान योग्य नही है। वह यदि मरणकी प्रार्थना करता है तो मुनिधर्मसे विरक्त ही होता है ॥७५॥

टी०—जिसका चारित्र निरतिचार पलता है, निर्यापक भी सुलभ है और दुर्भिक्षका भय भी नही है फिर भी यदि वह मरना चाहता है तो ऐसी सम्भावना होती है कि वह मुनिपदसे विरक्त हो गया है।

शंका—'अरिह' इस पदसे 'अर्ह' ही सूचित होता है 'अनर्ह' अयोग्य नही। तब ग्रन्थकारने सूत्र विरुद्ध व्याख्या क्यो की ?

समाधान—'अर्ह' के प्रसगसे 'अनर्ह' आया है ऐसा कोई कहते है अथवा लक्षणासे 'अर्ह' भी 'अनर्ह' को सूचित करता है इसलिए कोई दोष नही है। क्योकि सब वस्तुएँ स्वका भाव और परका अभाव, दोनोके होनेसे ही आत्म लाभ करती है ऐसा माना जाता है ॥७५॥

इस प्रकार 'अरिह' अधिकार समाप्त हुआ।

---

१. वो नया—आ० मु०।

भक्तप्रत्याख्यानार्हस्य तत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगनिरूपण उत्तराभिर्गाथाभि क्रियते—

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव ॥
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७६॥

उस्सग्गियलिंगदस्स उत्कर्षेण सर्जन त्याग सकलपरिग्रहस्य उत्सर्ग । उत्सर्गे सकलग्रंथपरित्यागे भव लिंग औत्सर्गिक कि करोति क्रियासामान्यवचनोऽत्र सृज्यर्थो ग्राह्य **धातूनामनेकार्थत्वादिति** वचनात् । तेनायमर्थ औत्सर्गिकलिंगस्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषवत । '**तं चेव उस्सग्गिय लिंग**' तदेव प्राक् गृहीत लिंग औत्सर्गिकम् । '**अववादियलिंगस्स वि**' यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवाद , अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिक परिग्रहसहित लिग अस्येत्यपवादिकलिग भवति । वाक्यशेष कृत्वा एव पदसंबंध कार्य । '**जइ पसत्थलिंग** यदि प्रशस्त शोभन लिंग मेहन भवति । चर्मरहितत्व, अतिदीर्घत्व, स्थूलत्व, असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादिदोषरहित यदि भवेत् । पुंस्त्वलिंगता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिंगशब्देन ग्रहण । अतिलंबमानतादिदोषरहितता प्रशस्ततापि तयोर्गृहीता ॥७६॥

अप्रशस्तलिङ्गस्य औत्सर्गिक लिग न भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि ॥
सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सुग्गियं लिंगं ॥७७॥

जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके योग्य है उसके भक्तप्रत्याख्यानका परिकर जो लिग है, उस लिंगका कथन आगेकी गाथाओसे करते है—

गा०—जो औत्सर्गिक लिगमे स्थित है उसका जो पूर्वगृहीत है वही औत्सर्गिक लिंग होता है । आपवादिक लिंगवालेका भी औत्सर्गिक लिग होता है यदि उसका पुरुष चिह्न दोष रहित हो ॥७६॥

टी०—उत्कृष्टसे 'सर्जन' अर्थात् सकलपरिग्रहके त्यागको उत्सर्ग कहते है । 'उत्सर्ग' अर्थात् सकल परिग्रहके त्यागमे होनेवाले लिंगको औत्सर्गिक लिग कहते है । यहाँ सृज् धातुका अर्थ क्रिया सामान्यवाची लेना चाहिए । क्योकि ऐसा कहा है कि धातुओके अनेक अर्थ होते है । तब ऐसा अर्थ होता है कि जो औत्सर्गिक लिगमे स्थित है और भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रखता है उसका वही लिग रहता है जो उसने पूर्वमे ग्रहण किया है अर्थात् औत्सर्गिक लिंग ही रहता है । मुनियोके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते है । जिसके अपवाद हो वह अपवादिक है अर्थात् परिग्रह सहित लिगवाला आपवादिक लिंगी होता है । वह यदि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है तो उसे परिग्रहको त्यागकर औत्सर्गिक लिग धारण करना होता है । इस लिंग धारण करनेपर नग्न होना पडता है । किन्तु उसके सम्बन्धमे यह नियम है कि उसका लिंग-पुरुष चिह्न प्रशस्त होना चाहिए । लिगका चर्मरहित होना, अतिदीर्घ होना, स्थूल होना, और बार-बार उत्तेजित होना ये दोष है । इन दोषोसे रहित होनेपर ही औत्सर्गिक लिग दिया जाता है । यहाँ लिग शब्दसे पुरुष चिह्नका ग्रहण किया है । तथा उससे अण्डकोष भी ग्रहण होता है । वे भी अति लटकते हुए लम्बे नही होना चाहिए ॥७६॥

आगे 'अप्रशस्त लिंगवालेके औत्सर्गिक लिग नही होता है, इस कथनका अपवाद कहते हैं—

'जस्स वि' यस्यापि । **'अव्वभिचारी'** अनिराकार्यो । **'दोसो'** दोष । **'तिट्ठाणिगो'** स्थानत्रयभव मेहने वृषणयोश्च भव औषधादिनानपसार्य । **'सोऽपि'** खु शब्द एवकारार्थ. स च **'गेण्हेज्ज'** इत्यनेन सबध-नीय. । गृह्णीयादेव कि ? **'उस्सग्गिग लिंगं'** औत्सर्गिक अचेलतालक्षण । क्व **'विहारम्मि'** विहारे वसतौ, **'संथारगदे'** सस्तरारूढ. संस्तरारोहणकाले । एव सस्तरारूढस्यैव औत्सर्गिक नान्यत्रेत्याख्यात भवति ॥७७॥

अपवादलिगस्थाना प्रशस्तलिगाना सर्वेषामेव किमौत्सर्गिकलिंगतेत्यस्यामारेकाया आह—

आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं ॥
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥ ७८ ॥

'आवसधे वा' निवासस्थाने । **'अप्पाउग्गे'** अप्रायोग्ये अविविक्ते । **'अपवादिकलिंगं' हवदित्ति'** शेष । **'जो वा महड्ढिगो'** महर्द्धिक: । **'हिरिमं'** ह्रीमान् लज्जावान् । तस्यापि **'होज्ज'** भवेत् अपवादिक लिंगं । **'मिच्छे'** वा मिथ्यादृष्टौ । **'सजणे'** स्वजनो वधुवर्गो । **'होज्ज'** भवेत् । अपवादिकलिग सचेललिग ॥७८॥

पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गलिंगस्वरूपनिरूपणार्योत्तरगाथा—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं ॥
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥७९॥

गा०—जिसके भी लिंग और दोनो अण्डकोष इन तीन स्थानोमे ऐसा दोष है जिसे औषध आदिसे भी दूर नही किया जा सकता । वह भी वसतिकामे सस्तरेपर आरूढ होनेपर औत्सर्गिक लिंगको अवश्य ग्रहण करे ॥७७॥

टी०—जिसके तीनो स्थामोमे ऐसा दोष है जिसे चिकित्सासे भी नही दूर किया जा सकता । वह भी जब भक्त प्रत्याख्यान करना है तो उसे वसतिमे सथरे पर रहना होता है अत उस समय उसे भी औत्सर्गिक लिंग ग्रहण करना आवश्यक है । इस प्रकार वह सस्तर पर आरूढ होते हुए भी औत्सर्गिक लिंगका पात्र होना है उससे पहले नही (क्योकि सदोष लिंग वाला नग्नता का पात्र नही होता) ॥७७॥

क्या प्रशस्त लिंग वाले सभी अपवाद लिगके धारकोको औत्सर्गिक लिग लेना आवश्यक है इस शङ्काका उत्तर देते है—

गा०—जो महान सम्पत्तिशाली है अथवा लज्जालु है अथवा जिसके स्वजन बन्धुवर्ग मिथ्यादृष्टि विधर्मी है । उसके लोगोके आवागमनके कारण अयोग्य निवास स्थानमे आपवादिक लिंग होता है ॥ ७८ ॥

टी०—जो प्रतिष्ठित धन सम्पन्न है या जिन्हे सबके सामने लज्जा लगती है या जिनका परिवार विधर्मी है उन्हे सार्वजनिक स्थानमे नग्न लिग नही देना चाहिये । सवस्त्र लिंग ही उनके योग्य है ॥ ७८ ॥

पहले कहे औत्सर्गिक लिंगका स्वरूप कहते है—

गा०—अचेलता, हाथसे केश उखाडना, शरीरसे ममत्व त्याग और प्रतिलेखन यह चार प्रकारका लिंगभेद औत्सर्गिक लिंगमे होता है ॥ ७९ ॥

अच्चेलक्कमिति । **अच्चेलक्कं अचेलता । लोचो** केशोत्पाटनं हस्तेन । **वोसट्टसरीरदा य** व्युत्सृष्टशरीरता च । **पडिलिहणं** प्रतिलेखनं । **एसो हु** एषः । **लिंगकप्पो** लिंगविकल्पः । **चउव्विहो** चतुर्विधः भवति । **उस्सग्गे** औत्सर्गिकसंज्ञिते लिंगे ।

अतीताभिर्गाथाभिः पुरुषाणां भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषिणां लिंगविकल्पोऽभिदृर्टानिश्चयः । अधुना स्त्रीणां तदर्थिनीनां लिंगमुत्तरया गाथया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ॥
तं तत्थ होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥८०॥

'इत्थीवि य' स्त्रियोऽपि । **'जं लिंगं'** यल्लिंग । **'दिट्ठं'** दृष्ट आगमेऽभिहित । **'उस्सग्गियं व'** औत्सर्गिक तपस्विनीनां । **'इदरं वा'** श्राविकाणां । **'तं'** तदेव । **'तत्थ'** भक्तप्रत्याख्याने । **'होदि'** भवति । लिंग तपस्विनीनां प्राक्तनम् । इतरासां पुंसामिव योज्यम् । यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राक्तनं लिंग विविक्ते त्वावसथे, उत्सर्गलिंग वा सकलपरिग्रहत्यागरूपं । उत्सर्गलिंग कथं निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह—**'तं'** तत् उत्सर्ग लिंग । **'तत्थ'** स्त्रीणां **'होदि'** भवति । **'परित्तं'** अल्प । **'उवधिं'** परिग्रह । **'करेंतीए'** 'कुर्वत्या' ।

टी०—अचेलक अर्थात् वस्त्रादिका अभाव, केश लोच, शरीरका सस्कार आदि न करना और पीछी यह चार औत्सर्गिक लिंगके प्रकार है। औत्सर्गिक लिगमे ये चार बाते होना आवश्यक है ॥ ७९ ॥

पिछली गाथाओसे भक्त प्रत्याख्यानके अभिलाषी पुरुषोके लिंगका निश्चय किया। अब उसकी अभिलाषी स्त्रियोंका लिग कहते है—

गा०—स्त्रियोके भी जो लिग औत्सर्गिक अथवा अन्य आगममे कहा है। वही लिंग अल्प परिग्रह करती हुईके भक्त प्रत्याख्यानमे होता है ॥ ८० ॥

टी०—स्त्रियोके आगममे जो लिग कहा है तपस्विनी स्त्रियोके औत्सर्गिक और श्राविकाओ के आपवादिक। वही लिग उनके भक्त प्रत्याख्यानमे भी होता है। अर्थात् तपस्विनी स्त्रियोके औत्सर्गिक लिंग होता है और शेषके पुरुषोकी तरह जानना। अर्थात् यदि स्त्री किसी ऐश्वर्यशाली परिवारसे सम्बद्ध है या लज्जाशील है अथवा उसके परिवार वाले विधर्मी है तो उसे एकान्त स्थानमे सकल परिग्रहके त्यागरूप उत्सर्ग लिंग दिया जा सकता है। प्रश्न होता है कि स्त्रियोके उत्सर्ग लिंग कैसे सम्भव है? तो उसका उत्तर यह है कि परिग्रह अल्प कर देनेसे स्त्रीके उत्सर्ग लिंग होता है ॥ ८० ॥

विशेषार्थ—तपस्विनी स्त्रियाँ एक साडी मात्र परिग्रह रखती है किन्तु उसमे भी ममत्व त्यागनेसे उपचारसे निर्ग्रन्थताका व्यवहार होता है। किन्तु श्राविकाओके उस प्रकारके ममत्वका त्याग न होनेसे उपचार से भी निर्ग्रन्थताका व्यवहार नही होता। भक्त प्रत्याख्यानमे तपस्विनियोके अयोग्य स्थानमें तो पूर्व लिग ही होता है। शेषके पुरुषोकी तरह जानना। साराश यह है कि तपस्विनी स्त्री मृत्युके समय वस्त्र मात्रको भी छोड देती है। अन्य स्त्री यदि योग्य स्थान होता है तो वस्त्र त्याग करती है। यदि वह धन सम्पन्न, या लज्जाशील या मिथ्यादृष्टि परिवारसे सम्बद्ध

नन्वर्हस्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मृतिरुपयुज्यते किममुना लिंगविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

जत्तासाधणचिह्नकरणं खु जगपच्चयादठिदिकरणं ॥
गिहभावविवेगो वि य लिंगग्गहणे गुणा होंति ॥ ८१ ॥

'**जत्तासाधणचिण्हकरणं**' यात्रा शरीरस्थितिहेतुभूता भुजिक्रिया। तस्या. साधन यल्लिंगजात चिन्हजाल तस्य करण। न हि गृहस्थवेषेण स्थितो गुणीति सर्वजनताधिगम्यो भवति। अज्ञातगुणविशेषाश्च दान न प्रयच्छति। ततो न स्याच्छरीरस्थिति। असत्या तस्या रत्नत्रयभावनाप्रकर्ष क्रमेणोपचीयमानो न स्यात्। विना त न मुक्तिरित्यभिलषितकार्यसिद्धिरेव न स्यात्। गुणवत्ताया. सूचन लिंग भवति। ततो दानादिपरंपरया कार्यसिद्धिर्भवतीति भाव'। अथवा यात्राशब्दो गतिवचन। यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम्। गतिसामान्यवचनादप्यय शिवगतावेव वर्तते, दारक पश्यसीति यथा। यात्राया शिवगते साधनं रत्नत्रय तस्य **चिह्नकरणं** ध्वजकरण।

'**जगपच्चयादठिदिकरणं**' जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतनाचेतनद्रव्यमहतिवचनो '**जगन्नैकावस्थ युगपदखिलानंत विषयम्**' इत्येवमादौ। इह प्राणिविशेषवृत्ति। यथा—'**अर्हतस्त्रिजगद्वद्यान्**' इति। प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थ। क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य प्रत्ययो' घटज्ञान इति यावत्। तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनत ससार' इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते। तथा श्रद्धावचनोऽपि 'अय अत्रास्य प्रत्यय' श्रद्धेति गम्यते। इहापि श्रद्धावृत्तिः। जगत श्रद्धेति। ननु श्रद्धा प्राणिधर्म' अचेलतादिक शरीरधर्मो लिंगम्। तत्किमुच्यते '**लिंगं**

है तो पुरुषोकी तरह वस्त्र त्याग नही करती ॥८०॥

जो योग्य होता है उसके रत्नत्रयकी भावनाका प्रकर्ष होने पर मरण हो जाता है तब लिंग का कथन करनेकी क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर देते है—

गा०—यात्राके साधन चिह्नका करना, जगतकी श्रद्धा, अपनेको स्थिर करना और गृहस्थतासे भिन्नता, ये चार लिंग ग्रहण करनेमे गुण होते है ॥ ८१ ॥

टी०—यात्राका अर्थ है शरीरकी स्थितिमे कारण भोजन करना। उसका साधन जो लिंग है उसका करना लिंग धारण करनेका पहला गुण है, क्योकि जो ग्रहस्थके वेषमे रहता है उसे सारी जनता गुणी नही मानती और उसके बिना भोजन नही मिलता। और ऐसी स्थितिमे इच्छित कार्यकी सिद्धि नही होती। अत लिंग गुणवत्ताका सूचक होता है। और उससे दान आदिकी परम्परासे कार्यकी सिद्धि होती है। अथवा यात्रा शब्द गतिवाचक है। जैसे देवदत्तका यह यात्राकाल है। इस गति सामान्यका वाचक होनेपर भी यहाँ यात्रा शब्द मोक्ष गतिमे ही लिया गया है। अत यात्रा अर्थात् मुक्ति गतिका साधन जो रत्नत्रय है उसका चिह्नकरण अर्थात् ध्वजा फहराने रूप लिंग होता है। अन्यत्र जगत शब्द चेतन और अचेतन द्रव्योके समुदायका वाचक है। जैसे 'एक साथ अनन्त विषयोको लिये हुए जगत एक अवस्था वाला नही है' इत्यादि वाक्यमे जगतका उक्त अर्थ लिया गया है। किन्तु यहाँ जगतका अर्थ प्राणि विशेष है। जैसे 'तीनो जगतके द्वारा वन्दनीय अर्हन्त' इस वाक्यमे जगतका अर्थ प्राणि विशेष है। प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ है। कहीं ज्ञानके अर्थमे है जैसे घटका प्रत्यय अर्थात् घटका ज्ञान। तथा प्रत्यय शब्द कारण वाचक भी है। जैसे अनन्त ससारका प्रत्यय मिथ्यात्व है' ऐसा कहने पर मिथ्यात्व हेतुक अनन्त ससार है ऐसा ज्ञान होता है। तथा प्रत्यय शब्द श्रद्धावाचक भी है। जैसे 'इसका इसमे प्रत्यय है', यहाँ

जगत्प्रत्यय' इति । सकलसंगपरिहारो मार्गो मुक्ते इत्यत्र भव्यानां श्रद्धां जनयति लिंगमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं । न चेत्सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिलिंगं किमिति नियोगतोऽनुष्ठीयते इति ।

'आदिठिदिकरणं' आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं । क्व ? मुक्तिवर्त्मनि व्रजने । किं मम परित्यक्तवसनस्य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया, लोभेन वा । वसनाग्रेसरा सर्वा लोकेऽलंक्रिया तच्च निरस्तं । को मम रागस्यावसर इति । तथा परिग्रहो निबंधनं कोपस्य । तथा हि—पित्रा सुतो युध्यते धनार्थितया ममेदं भवति तवेदमिति । तत्किमनेन स्वजनवैरिणा रिक्थेन, [1]लोभ, माया सपाद्य, दुर्गति च वर्द्धयता इति सकलः परित्यक्तो वसनपुरःसरः परिग्रहो रोषविजितये । हसति च मां परे साधवो रोषमुपयात । क्वेयमवसनता मुमुक्षोः क्वायमस्य कोपहुताशनः ज्ञानजलसेकपरिवृद्धतपोवनविनाशनबद्धविभ्रम इति । तथा च मायां धनार्थिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्गतिं प्रापयतीति भीत्या मायोन्मूलनार्थमेवेदमनुष्ठितं । **'गिहिभावविवेगोवि'** य गृहित्वात्पृथग्भावो दर्शितो भवति ॥८१॥

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च ।
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जणा चेव ॥८२॥

'गथच्चागो' परिग्रहत्याग । **'लाघवं'** हृदयसमारोपितशैल इव भवति परिग्रहवान् । कथमिदमन्येभ्यश्चौरादिभ्यः पालयामि इति दुर्धरचित्तखेदविगमाल्लघुता भवति ।

प्रत्ययसे श्रद्धाका बोध होता है । यहाँ भी प्रत्ययका अर्थ श्रद्धा है । जगतकी श्रद्धा ।

शङ्का—श्रद्धा प्राणिका धर्म है । और अचेलता आदि लिंग शरीरका धर्म है । तब आप कैसे कहते है—लिंग जगत प्रत्यय है ?

समाधान—'समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है' इसमे लिंग भव्यजीवोकी श्रद्धा उत्पन्न करता है इसलिये लिंगको जगत प्रत्यय कहा है । यदि सकल परिग्रहका त्याग मुक्तिका लिंग न हो तो क्यो उसे नियमपूर्वक किया जायगा । 'आदठिदिकरण' का अर्थ है अपनी अस्थिर आत्माको स्थिर करना । किसमे ? मुक्तिके मार्गमे चलनेमे । जब मैंने वस्त्र ही त्याग दिया तो मुझे राग, रोष, मान, माया, लोभसे क्या प्रयोजन ? लोकमे सब अलंकरण वस्त्रमूलक होते है । वह मैने त्याग दिया तो मुझे रागसे क्या प्रयोजन । तथा परिग्रह क्रोधका कारण है । देखो, धनकी अभिलाषासे पुत्र पितासे लडता है यह मेरा है यह तेरा है । तब अपने परिवारके वैरी इस धनसे क्या ? यह लोभ और मायाको उत्पन्न करके दुर्गतिको बढ़ाता है । इसीमें रोषको जीतनेके लिये मैने वस्त्रपूर्वक सब परिग्रहका त्याग कर दिया । जब मुझे रोष होता है तो दूसरे साधु मुझपर हँसते है । कहाँ मुमुक्षुकी यह नग्नता और कहाँ क्रोधरूपी अग्नि । यह तो ज्ञानरूपी जलके सिंचनसे फले-फूले तपोवनको नष्ट करने वाला है । तथा धनके इच्छुक मायाचार करते है । वह तिर्यञ्च गतिमे ले जाता है इस भयसे मायाका उन्मूलन करनेके लिये ही मैने यह लिंग धारण किया है । तथा लिंग ग्रहण करनेसे गृहस्थपनेसे भिन्नता दीखती है ॥ ८१ ॥

गा०—परिग्रहत्याग लाघव अप्रतिलेखन और भय रहितपना, सम्मूर्छन जीवोका बचाव और परिकर्मका त्याग ये गुण लिंगमे होते है ॥८२॥

---

१. लोभ आयास पाप दुर्गति—आ० मु० ।

'अप्पडिलिहणं' वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखंडादिकं शोधनीयं महत् । इतरस्य पिच्छादिमात्रं ।

'परिकम्मविवज्जणा चेव' याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलस्य तन्न तथेति परिकर्मविर्जनं ।

'गदभयत्तं' भयरहितता । भयव्याकुलितचित्तस्य न हि रत्नत्रयघटनायामुद्योगो भवति । सवसनो यतिर्वस्त्रेषु यूकालिक्षादिसम्मूर्छनजजीवपरिहारं न विधातुं अर्हः ।[1] अचेलस्तु तं परिहरतीत्यत्ह– **'ससज्जणं परिहारो'** इति ।

'परिसहअधिवासणा चेव' । शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहजयो युज्यते नग्नस्य । वसनाच्छादनवतो न शीतादिबाधा येन तत्सहनपरीषहजयः स्यात् । पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा इति वचनान्निर्जरा-थिभि: परिषोढव्या परीषहा ॥८२॥

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु ।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥८३॥

'विस्सासकरं रूवं' विश्वासकारि जनानां रूपं अचेलतात्मकं । एवं अमगा नैतेऽन्यद्गृह्णन्ति नापि परोपघातकारि शस्त्रग्रहणं प्रच्छन्नमात्रं संभाव्यते । विरूपेषु चामीषु नास्मदीयाः स्त्रियो रागमनुबध्नतीति विश्वासः ॥

टी०—लिंग ग्रहणका एक गुण परिग्रहका त्याग है। दूसरा गुण लाघव है क्योंकि परिग्रह-वान ऐसा होता है मानो छाती पर पहाड रखा है। कैसे अन्य चौर आदिसे इस परिग्रहकी रक्षा करूँ इस प्रकार चित्तसे बडे भारी खेदके चले जानेसे लाघव होता है। जो वस्त्र सहित मुनि लिंग धारण करते है उन्हे वस्त्रो आदिका शोधन करना पडता है किन्तु वस्त्र रहित साधुको तो केवल पीछी आदिका ही शोधन करना होता है अत अप्रतिलेखना भी एक गुण है। वस्त्रधारीको मागना, सीना, धोना, सुखाना आदि अनेक काम करना होते हैं जिनसे स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न होता है। किन्तु वस्त्र रहित साधुके ये सब नही होता अत परिकर्मका न होना भी एक गुण है। जिसका चित्त भयसे व्याकुल रहता है वह रत्नत्रयके साधनमें उद्योग नही करता। अत परिग्रहके त्यागसे भय नही रहता। तथा वस्त्र सहित साधु वस्त्रोंमे जूँ लीख आदि सम्मूर्छन जीवोका बचाव नही कर सकता। किन्तु वस्त्र रहित साधु इनसे बचा रहता है अत. ससज्जण परिहार भी एक गुण है। तथा नग्न मुनि शीत, उष्ण, डासमच्छर आदि की परीषहको जीतता है। जो वस्त्र ओढे हैं उसे शीतादिकी बाधा नही होती। तब उसको सहना रूप परीषहजय कैसे सभव है? तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है कि पूर्वग्रहीत कर्मोंकी निर्जराके लिये परीषहोको सहना चाहिये ॥८२॥

गा०—वस्त्र रहित रूप जनतामे विश्वास पैदा करने वाला होता है विषयसे होने वाले शारीरिक सुखमें अनादर भाव होता है। सर्वत्र स्वाधीनता रहती है और परीषहको सहना होता है ॥८३॥

---

१. अर्हति आ० गु० ।

'अणादरो विसयदेहसुक्खेसु' विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम वामलोचनाविलोकितेन, तासां कलगीतश्रवणेन, ताभिर्जुगुप्सनीयशरीरस्य का वा रतिक्रीडेति भावना चैवानादरः । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः । विषयसुखव्यतिरेकेण न शरीरसुखं नाम किंचिदिति चेद्—शारीरदुःखाभावः शरीरसुखं, इंद्रियविषयसन्निधानजनिता प्रीतिर्विषयसुखमिति महाननयोर्भेदः ।

'सव्वत्थ' सर्वस्मिन्देशे । **'अप्पवसदा'** आत्मवशता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति; शेते वा । इहासनादिकरणे इदं मम विनश्यति वस्त्विति तदनुरोधकृता परतन्त्रता नास्ति संयतस्य । परिग्रहविनाशभीरुरात्मनोऽयोग्येऽपि स्थाने उद्गमादिदोषोपहते प्राणिसंयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिकं संपादयति । त्रसस्थावरबाधामावहता वर्त्मना वा व्रजति । एतद्दोषपरिहारोऽसंगस्य भवति ॥

'परिसह अधियासणा चेव' पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थिना यतिना सोढव्या परीषहा नियोगेन क्षुधादयो बाधाविशेषा द्वाविंशतिप्रकारा । तत्राय सामान्यवचनोऽपि परीषहशब्दः प्रकरणादचेलाख्यात्तदनुरूपपरीषहवृत्तिर्ग्राह्यः । तेन नाग्न्यशीतोष्णदंशमशकपरीषहसहनमिह कथितं भवति । सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदंशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते ॥८३॥

अचेलताया गुणान्तरसूचनाय गाथा—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं ।
इच्चेवमादिबहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ॥८४॥

टी०—नग्न मुनिको देखकर लोग सोचते है—ये तो परिग्रह रहित है, ये कुछ ग्रहण नही करते । ये परका घात करने वाले शास्त्र आदि भी छिपाकर नही रख सकते । ये तो विरूप है इनमे हमारी स्त्रियाँ भी राग नही कर सकती । इस प्रकारका विश्वास पैदा होता है । मेरा रूप तो प्रेतके समान है मुझे स्त्रियोंको ताकने, और उनके मनोहर गीतोको सुननेसे क्या प्रयोजन ? अथवा इस ग्लानिभरे शरीरका उनके साथ कैसी रति क्रीडा । इस प्रकारकी भावना शारीरिक सुखमे अनादर है । अथवा शरीर सुख और विषय सुखमे अनादर ऐसा अर्थ भी होता है ।

शङ्का—विषयसुखसे भिन्न शारीरिक सुख नही है ?

समाधान—शारीरिक दुःखके अभावको शरीर सुख कहते हैं और इन्द्रियोके विषयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई प्रीति विषय सुख है । इन दोनोंमे महान् अन्तर है ।

सब देशमे आत्माधीनता रहती है । अपनी इच्छानुसार बैठता है, जाता है, सोता है । यहाँ आसन आदि करनेपर मेरा यह नुकसान होगा, इस प्रकार की परतंत्रता साधुके नही होती । परिग्रहके नाशके भयसे परिग्रही साधु उद्गम आदि दोषोंसे युक्त और प्राणिसंयमका विनाश करने वाले अयोग्य स्थानमे भी आसन, स्थान शयन आदि करता है । अथवा त्रस और स्थावर जीवोको बाधा पहुँचाने वाले मार्गसे गमन करता है । किन्तु परिग्रह रहित साधु इन दोषोसे बचा रहता है । साधुको पूर्व संचित कर्मोंके निर्जराके लिये नियमसे भूख प्यासकी बाधा आदि रूप बाईस परीषहोंको सहना चाहिये । यहाँ यह परीषह शब्द यद्यपि सामान्यवाची है फिर भी प्रकरणवश अचेलताका प्रकरण होनेसे उसके अनुरूप परीषह ग्रहण करना चाहिये । अतः यहाँ नाग्न्य, शीत, उष्ण, और दशमशक परीषहोंका सहन कहा है । जो साधु सवस्त्र है कपडा ओढे हुए हैं-उन्हे शीत उष्ण और डासमच्छरसे होने वाली वैसी पीड़ा नही होती जैसी वस्त्र रहितको होती है ॥८३॥

'जिणपडिरूवं' जिनाना प्रतिबिंबं चेद अचेललिंग । ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्गृहीतवन्तो लिंगं तदेव तदर्थिना योग्यमित्यभिप्राय । यो हि यदर्थी विवेकवान् नासौ तदनुपायमादत्ते यथा घटार्थी [1]तुरिवेमादीन्मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेलं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात् । यच्चात्मनोऽभिप्रेतस्योपायस्तन्नियोगत उपादत्ते यथा चक्रादिकं तथा यतिरपि अचेलता । तदुपायता च अचेलताया जिनाचरणादेव ज्ञानदर्शनयोरिव ।

'विरियायारो' वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्य, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचारः । स च पंचविधेष्वाचारेष्वेकः स च प्रवर्तितो भवति । अचेलतामुद्वहताऽशक्यचेलपरित्यागस्य कृतत्वात् । परिग्रहत्यागो हि पंचमं व्रतं तन्नाचरितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत् ।

'रागादिदोसपरिहरणं' । लाभे रागोऽलाभे कोपः । लब्धे ममेदभावलक्षणो मोहः । अथवा मृदुत्वं दार्ढ्यमित्येवमादिषु वसनाच्छादनगुणेषु रागोऽमृदुस्पर्शनादिषु द्वेष इत्येषां परिहारः । **'इच्चेवमादि'** इत्येवमादयः **'बहुगा'** महान्तः महाफलतया **अच्चेलक्के** अचेलतायां सत्यां **'गुणा होंति'** गुणा भवन्ति । याचादीनता रक्षा सक्लेशादिपरिहारा आदिशब्देन गृहीता ॥८४॥

अचेलताके अन्य गुणोका सूचन करते है—

गा०—यह अचेलता जिन भगवानका प्रतिरूप है । वीर्याचारका प्रवर्तक है । रागादि दोषोको दूर करती है । इत्यादि बहुतसे गुण अचेलतामे होते है ॥८४॥

टी०—जिण पडिरूव—यह अचेललिंग जिन देवोका प्रतिबिम्ब है अर्थात् जिन देवोने जो लिंग ग्रहण किया था मुक्तिके लिये वही लिंग मुक्तिके अभिलाषियोके योग्य है । क्योकि जिनदेव मुमुक्षु थे मुक्तिका उपाय जानते थे । जो जिस वस्तुका प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है वह उस वस्तुके जो उपाय नही है उन्हे ग्रहण नही करता । जैसे घट बनानेका इच्छुक कपडा बुननेके साधन तुरि आदिको ग्रहण नही करता । इसी तरह मुक्तिका इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नही करता क्योकि । वस्त्र मुक्तिका उपाय नही है । और जो अपनेको इष्ट वस्तुका उपाय होता है उसे नियमसे ग्रहण करता है । जैसे घटका अर्थी चाक आदिको अवश्य ग्रहण करता है । उसी तरह साधु भी अचेलताको ग्रहण करता है और अचेलता ज्ञान और दर्शनकी तरह मुक्तिका उपाय है यह जिन भगवानके आचरणसे सिद्ध है । वीरियायारो—वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए सामर्थ्यरूप परिणामको वीर्य कहते है । उसको न छिपाते हुए रत्नत्रयके पालन करनेको वीर्याचार कहते है । पाँच प्रकारके आचारोमेसे एक वीर्याचार है उसका पालन होता है क्योकि अचेलताके धारणसे जो वस्त्रत्याग अशक्य है वह हो जाता है । परिग्रहका त्याग पाँचवा व्रत है । शक्ति होते हुए भी यदि परिग्रहका त्याग न करे तो वह पाँचवाँ व्रत नही रहता ।

रागदिदोस परिहरण—लाभमे राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है । जो प्राप्त होता है उसमे 'यह मेरा है' इस प्रकारका मोह होता है । अथवा ओढने पहिरनेके वस्त्रोके कोमलता मजबूती आदि गुणोमे राग होता है और कठोर स्पर्शन आदिमे द्वेष होता है । वस्त्र त्याग देनेपर ये रागादि दोष नही होते । इस प्रकार अचेलतामे महाफलदायक महान गुण होते है । आदि शब्दसे मागना, दीनता, आदिसे रक्षा होती है और संक्लेश आदि नही होते ॥८४॥

---

१. ततुरित्येवमा—आ० मु० ।

पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

इय सव्वसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु ।
णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ८५ ॥

'इय' एव अवमनतया । **'सव्वसमिदकरणो'** सम्यगितानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इद्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्वसामतकरणानि, सर्वसमितकरणान्यस्येति सर्वसमितकरण । रागद्वेषरहिता भावेन्द्रियाणा प्रवृत्ति समीचीना तस्याश्च अ ेलता निबधन । रागादिविजयाय गृहितासगत्वात्कथमिव रागादौ प्रेक्षावान्यतते ॥८५॥

'ठाणासणसयणगमणकिरियासु' एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दडायतशयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया । एतासु । **'पग्गहिददरं'** प्रगृहीततर । **'परक्कमदि'** चेष्टते । क ? निगिण नग्नता । **'गुत्ति'** गुप्ति । **'उवगदो'** उपगत प्रतिपन्न । कृतवसनत्यागस्य शरीरे नि स्पृहस्य मम किं शरीरतर्पणेन तपसा निर्जरामेव कर्तु मुत्सहते इति तपसि यतते इति भाव ॥८५॥

अपवादलिंगमुपगत किमु न शुद्धयत्येवेत्याशकाया तस्यापि शुद्धिरनेन क्रमेण भवतीत्याचष्टे—

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य ।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥ ८६ ॥

आगेकी गाथासे फिर भी अचेलताका माहात्म्य सूचित करते है—

गा०—इस प्रकार, नग्नता और गुप्तिको धारण करनेवाला सब इष्ट अनिष्ट विषयोंमे अपनी इन्द्रियोको रागद्वेषसे रहित करता है। और स्थान, आसन, शयन, गमन आदि क्रियाओमे प्रग्रहीततर अर्थात् सुदृढरूपसे चेष्टा करता है ॥८५॥

टी०—सव्वसमिदकरणानि—सम्यक्रूपसे 'इत' अर्थात् प्रवृत्तको समित कहते हैं। और जिनसे रूपादिका जानना देखना किया जाये उसे करण कहते है। करणका अर्थ इन्द्रिय है। जिसकी सब इन्द्रिया समित्त है वह सर्वसमितकरण है। भावेन्द्रियोकी रागद्वेषसे रहित समीचीन प्रवृत्तिमे कारण अचेलता है। जिस विचारशील बुद्धिमान व्यक्तिने रागादिको जीतनेके लिए असगताको स्वीकार किया है वह रागादिमे कैसे यत्नशील हो सकता है।

एक पैरसे या दोनो पैरोको सम करके खडे होना स्थान क्रिया है उत्कटासन आदि आसन क्रिया है। दण्डके समान एकदम सीधा सोना आदि शयन क्रिया है। सूर्यकी ओर अभिमुख होकर चलना गमन क्रिया है। जिसने वस्त्र त्याग दिया है और शरीरसे निस्पृह है वह 'मुझे शरीरके पोषणसे क्या' ऐसा विचारकर तपके द्वारा निर्जरा करनेमे ही उत्साहित होता है। यह उक्त कथनका भाव है ॥८५॥

अचेल समाप्त हुआ।

क्या अपवादलिंगका धारी शुद्ध नही ही होता ? इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि उसकी शुद्धि भी इस क्रमसे होती है—

गा०—अपवादलिंगमे स्थित होते हुए भी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए और निन्दा गर्हा करते हुए परिग्रहका त्याग करनेपर शुद्ध होता है ॥८६॥

अववादियलिंगकदो वि' अपवादलिगस्थोऽपि । करोति स्थानार्थवृत्तिरिह परिगृहीत. । **तथा च** प्रयोग' एवं च कृत्वा एवं च स्थित्वेत्यर्थ । **'सुज्झवि'** शुध्यति च । कर्ममलापायेन शुद्धयति । कीदृक् सन् यः स्वां **'सत्ति'** शक्ति । **'अगूहमाणो'** अगूहमान सन् । **'उवधि'** परिग्रह । **'परिहरंतो'** परित्यजन् योग-त्रयेण । **'णिंवणगरहणजुत्तो'** सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिक. परिग्रह परीषह-भीरुणा गृहीत इत्यत सतापो निंदा । गर्हा परेषा एव कथनं । ताभ्या युक्त निंदागर्हाक्रियापरिणत. **इति** यावत् । एवमचेलता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥८६॥

केशलोचाकरणे के दोषा यान्परिहर्त्तु लोचोऽनुष्ठीयते इत्यारेकाया दोषप्रतिपादनायोत्तर गाथाद्वयम्—

केसा संसज्जति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य ।
सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा ॥ ८७ ॥

'केसा' केशा । **'संसज्जंति खु'** खुशब्द एवकारार्थ । यूकालिक्षोत्पत्तेराधारभावमुपव्रजन्त्येव **कस्य** **केशा. ? 'णिप्पडियारस्स'** निष्क्रान्त प्रतीकारात् निष्प्रतीकार । प्रतीकारशब्द सामान्यवचनोऽपि ससजनस्य **प्रकृतत्वात्** संसजनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाभ्यगगधादिप्रक्षेपजलप्रक्षालनादिक्रियामकुर्वत इत्यर्थ । **ते** **च** सम्मूर्च्छनामुपगताजीवा यूकादय । **'दुःपरिहारा य'** दु खेन परिह्रियन्ते । क्व ? **'सयणादिसु'** शयन[1]आतप-गमन, शिरसा कस्यचिदवष्टभन । निद्रामुद्रितलोचनस्य पतन परवशस्य सत आदिशब्देन गृह्यते । **बाधा**

टी०—'अववादियलिंगकदो' मे 'कद' जिस 'करोति' धातुसे बना है उसका अर्थ यहाँ स्थान लिया है। जैसे 'ऐसा करके' का अर्थ इस प्रकार स्थिर करके होता है। अत अपवादलिंगमें स्थित भी कर्ममलको दूर करके शुद्ध होता है। किस प्रकार होता है ? अपनी शक्तिको न छिपाकर मन-वचनकायसे परिग्रहका त्याग करनेपर होता है। तथा, समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है, मुझ पापीने परीषहसे डरकर वस्त्र पात्र आदि परिग्रह स्वीकार किया। इस प्रकारके अन्त.सन्तापको निन्दा कहते हैं। दूसरोंसे ऐसा कहना गर्हा है। उनसे युक्त होनेपर अर्थात् अपनी निन्दा गर्हा करनेपर शुद्ध होता है। इस प्रकार जिस अचेलताके गुणोंका वर्णन ऊपर किया गया है उसे मूलरूपमें स्वीकार किया है ॥८६॥

केशलोच न करनेमें क्या दोष है जिन्हें दूर करनेके लिए लोच किया जाता है ? इस शङ्काके उत्तरमें दो गाथाओंसे दोषोंको कहते हैं—

गा०—प्रतीकार न करनेवालेके केश जूँ आदि सम्मूर्छन जीवोंके आधार होते हैं। और वे सम्मूर्छन जीव शयन आदिमें दुष्परिहार होते हैं। तथा अन्यत्रसे आते हुए भी कीट आदि देखे गये हैं ॥८७॥

टी०—'ससज्जंति खु' में खु शब्दका अर्थ एवकार है। अत निष्प्रतीकारके केश जू लीख आदिकी उत्पत्तिके आधार होते ही हैं। जो प्रतीकारसे रहित है वह निष्प्रतीकार है। यद्यपि प्रतीकार शब्द सामान्य प्रतीकारका वाचक है। फिर भी ससजनका प्रकरण होनेसे ससजन सम्बन्धी प्रतिकार लिया जाता है। उसका अर्थ होता है कि जो बालोंमें तेल मर्दन नहीं करता, सुगन्धित वस्तु नहीं लगाता, उन्हें पानीसे नहीं धोता उसके केशोंमें सम्मूर्छन जू आदि उत्पन्न हो जाते हैं और साधुके सोनेपर, धूपमें जानेपर, सिरसे किसीके टकरानेपर उन जीवोंको बाधा

१ शय्योपगमनं आ० मु० ।

जीवेभ्य कथंचिदन्यदेशकालस्वभावभेदात् । तत बाधाया दुष्परिहाराया जीवा एव दुष्परिहारा एव भवतीति मन्यते । अन्यथा हस्तेनापनेतु शक्या कथ दुष्परिहारा स्यु । न केवल तत्रोत्पन्ना एव दुष्परिहारास्तथा तेनैव प्रकारेण जीवा 'आगंतुका य' अन्यत आगताश्च कीटादयश्च । एतेन हिंसादोष आख्यात ॥८७॥

जूगाहि य लिक्खाहि य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य।
संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८८ ॥

जूगाहि य यूकाभिश्च । **लिक्खाहि य** लिक्षाभिश्च । '**बाधिज्जंतस्स**' बाध्यमानस्य यते **संकिलेसो य** संक्लेशश्च जायते इति शेष । स च क्लेशोऽशुभपरिणाम पापास्रव पूर्वोपात्तकर्मपुद्गलरसाभिवर्द्धननिपुण । अथवा **बाधिज्जंतस्स** भक्ष्यमाणस्य **संकिलेसो** य दु ख वा । तथा चोक्त—क्लिश् विबाधने इति । एतेनात्मविराधनादोष सूचित । अथ तद्भक्षणे असहमान कडूयति तत्र दोषमाह—'**संघट्टिज्जंति य**' सघट्यते ते यूकादय । आगतुकाश्च '**कंडूयणे**' कडूकरणे । '**तेण**' तेन दोषेण हेतुनासौ आगमदृष्ट '**लोचो**' लोच क्रियते इति शेष । प्रदक्षिणावर्त केशश्मश्रुविषय हस्तागुलीभिरेव सपाद्य द्वित्रिचतुर्मासिगोचर ॥८८॥

एव लोचाकरणे दोषानुद्भाव्य लोचे गुणख्यापनाय गाथात्रयमुत्तरम्—

लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्ते होइ णिव्वियारत्तं।
तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८९॥

पहुँचती है। बाधाका मतलब है कि भिन्न देश, भिन्नकाल और भिन्न स्वभाव होनेसे जीवोसे जीवोको बाधा पहुँचती है। उस बाधाको दूर करना अशक्य जैसा है। जब बाधा ही दुष्परिहार है तो उन जीवोको दूर करना भी दुष्परिहार है, क्योकि यदि बाधा पहुँचनेकी बात न होती तो उन्हे हाथसे निकाला जा सकता था। तथा जो जीव केशोमे उत्पन्न होते है वे ही दुष्परिहार नही है, अन्यत्रसे आकर भी कीटादि बालोंमे घुस जाते है उन्हे भी दूर करना कठिन होता है। इस तरहसे केशलोच न करनेमे हिंसादि दोष कहे है ॥८७॥

गा०—जु से और लीखोसे पीडित साधुके सक्लेश उत्पन्न होता है। खुजाने पर वे जूं आदि पीडित होते है इस कारणसे वह केशलोच किया जाता है ॥ ८८ ॥

टी०—जू और लीख जब साधूको बाधा पहुँचाती है तो साधुको सक्लेश होता है। वह सक्लेश अशुभ परिणाम रूप होनेसे पापास्रवका कारण है। उससे पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलोके अनुभाग रसमे वृद्धि होती है। अथवा 'बाधिज्जत'का अर्थ खाना या काटना है' उनके काटने पर यदि साधु खुजाता है तो वे जू आदि पीडित होते है इस दोषके कारण आगममे कहा लोच करते हैं। यह लोच सिर और दाढीके बालोका हाथकी अँगुलियोके द्वारा दो, तीन या चार मासमे प्रदक्षिणा के रूपमे अर्थात् दाहिनी ओरसे बायी ओर किया जाता है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार लोचके न करनेमे दोष बतलाकर लोचमे गुणोका कथन तीन गाथाओ द्वारा करते है—

गा०—लोच करने पर सिर मुण्डा हो जाता है। मुण्डताके होने पर निर्विकारता होती है। उससे विकार रहित क्रियाशील होनेसे प्रगृहीततर चेष्टा करता है ॥ ८९ ॥

'**लोयकदो**' लोचे कृत स्थित लोचकृत सप्तमीति योगविभागात्समास । तस्मिन् लोचे कृते । लोच-स्थिते इति केचित् । अन्ये तु वदन्ति **लोयगदे** इति पठत लोच गत प्राप्त लोचगत तस्मिन्निति । अथवा कृतशब्दो भावसाधन तत सल्लक्षणा सप्तमी लोच एव कृत तस्मिन् । लोचक्रियायां सत्या । **मुंडत्तं** मुड-शिरस्कता नाम भवति । न मुडशिरस्कता मुक्त्युपायो गुणोऽरत्नत्रयत्वादसत्याभिधानवत् तत्किमुक्तेनानेनानुप-योगिना गुणेनेत्याशकाया आह–'**मुंडत्ते होदि णिव्वियारत्तं**' इति । '**मुंडत्ते**' मुडताया सत्या । '**होदि**' भवति । '**णिव्वियारत्तं**' निर्विकारता । विकारो विक्रिया सलीलगमनश्रृगारकथाकटाक्षेक्षणादिक । तस्मान्निष्क्रान्त तत्राप्रवृत्त निर्विकार तस्य भाव निर्विकारता । निर्विकारो भवति इति यावत् । '**तो**' तत '**णिव्वियारकरणो**' विकाररहितक्रिय । '**पग्गहिददर**' प्रगृहीततर । '**परक्कमदि**' चेष्टते करणत्रये इति शेष । रत्नत्रयोद्योगे परपरया लोचस्योपयोग समाख्यातोऽनया गाथया । नग्नस्य मुडस्य मम सविभ्रम गमनादिक जनो दृष्ट्वा हसति, शोभते तरामियमस्य विलासिता षडकस्य वामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविकारो **मुक्तये केवल घटते** इत्यभिप्राय ॥८९॥

अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि ।
साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥९०॥

'**अप्पा**' आत्मा । '**दमिदो होदि**' वशीकृतो भवति । कस्य ? आत्मन एव । केन करणेन ? '**लोएण**' केशोत्पाटनेन । दु खभावनया निगृहीतदर्प सर्व एव शातो भवति यथा बलीवर्दादिरिति मन्यते ।

टी०—लोचमे कृत अर्थात् स्थित लोचकृत है। दोनोका योगविभाग करके सप्तमी समासमे अर्थ होता है—लोच करने पर। कोई 'लोचमे स्थित होने पर' ऐसा अर्थ करते है। अन्य 'लोयगदे' ऐसा पाठ रखते है। वे अर्थ करते है लोचको प्राप्त होने पर। अथवा कृत शब्द भावसाधन है। तब सप्तमीका अर्थ सत् होता है अर्थात् लोच क्रिया होने पर। मुण्डित होता है—सिर मुड जाता है।

शङ्का—सिर मुण्डन मुक्तिका उपाय नही है क्योकि वह रत्नत्रय रूप नही है जैसे असत्य बोलना। तब इस अनुपयोगी गुणके कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान—इसके उत्तरमे कहते है कि मुण्डन होने पर निर्विकारता होती है। लीला सहित गमन, श्रृगार कथा, कटाक्ष द्वारा निरीक्षण ये सब विकार है जो ये सब नही करता वह निर्विकार होता है। और जिसकी चेष्टाएँ विकार रहित होती है वह रत्नत्रयमे उद्योग करता है।

इस गाथासे परम्परासे लोचका उपयोग कहा है। मै नग्न और मुण्डे सिर हूँ मेरा विलास-पूर्ण गमन आदि देखकर लोग हँसते हैं कि नपुसकके स्त्री विलासकी तरह इसकी विलासिता कैसी शोभती है ? ऐसा मान, विकारको दूरकर वह केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है, यह इस गाथा-का अभिप्राय है ॥ ८९ ॥

गा०—केशलोचसे आत्मा दमित होता है और सुखमे आसक्त नही होता है। और स्वाधीनता निर्दोषता और निर्ममत्व होता है ॥ ९० ॥

टी०—केश उपाडनेसे आत्मा आत्माके वशमे होता है। जैसे बैल वगैरह दु ख देनेसे शान्त हो जाते हैं वैसे ही दु ख भावनासे मदका निग्रह होने पर सभी शान्त हो जाते हैं। **सुखमें आसक्त**

'**सुखे य**' सुखे च । '**संगं**' आसक्तता नोपयाति । सुखमेव सुखलपट करोति जन । दु खेऽन्तर्भाव्यमाने सुखासक्तिर्हन्यते[1] सुखोपयोगमूलात्तदभावात् । बीजाभावेऽङ्कुर इव । इन्द्रियसुख वाऽत्र सुखशब्देनोच्यते तत्रासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते । तेन परिग्रहारम्भमूलात्सुखासगाद्व्यावृत्ति सवर एवेति मुक्तेर्भवत्युपाय । अभिनवास्रवनिरोधमतरेण का नाम निर्जरा ? तस्या वाऽसत्या का मुक्तिरिति भाव ।

'**साधीणदा य**' स्ववशता च । केशासक्तो हि जनोऽवश्य शिरोम्रक्षणे, सम्मर्दने, प्रक्षालने, तच्छोषणे च प्रयतते । स चाय व्यापारो विघ्नमावहति स्वाध्यायादे ।

'**णिद्दोसदा य**' निर्दोपता च । या सदोषक्रिया सा न कार्या यथा स्तेयादिका । निर्दोषा त्वनुष्ठीयते यथानशनादिका । तथा चेयमदोषा लोचक्रिया ।

'**देहे य**' देहे च । '**णिम्ममदा**' ममेदबुद्धिरहितता । अनेन शौचाख्यो धर्मो भावितो भवतीत्युक्त भवति । 'प्रकृष्टा लोभनिवृत्ति शौच शरीरलोभनिवृत्ति **शौचं** । शरीरलोभनिवृत्ति सकललोभनिराक्रियाया मूल । शरीरोपकृतये बन्धुधनादिष्वस्य लोभ । धर्मश्च सवरहेतु, **गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयैरिति** वचनात् ॥९०॥

आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि सम्मसद्धा य ।
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ ९१ ॥

'**आणक्खिदा य होदि**' आदर्शिता भवति । '**लोचेण**' लोचेन । का ? '**धम्मसद्धा**' धर्मे चारित्रे

नही होता । सुख ही मनुष्यको सुखलम्पट बनाता है । अन्तरगमे दु खकी भावना भाने पर सुखकी आसक्ति कम होती है सुखकी आसक्तिका मूल है सुखका उपभोग । उसका अभाव होनेसे सुखकी आसक्ति नही होती । जैसे बीजके अभावमे अकुर उत्पन्न नही होता । अथवा यहाँ सुख शब्दसे इन्द्रिय सुख लिया है । जो इन्द्रिय सुखमे आसक्त होता है वह हिसा आदि करता है । अत: जो सुखासक्ति परिग्रह और आरम्भका मूल है उससे निवृत्त होना सवर ही है । अत वह मुक्तिका उपाय है । नवीन कर्मोका आना रुके बिना निर्जरा कैसी ? और उसके अभावमे मुक्ति कैसी ? यह अभिप्राय है । तथा केशलोचसे स्वाधीनता आती है क्योकि जो मनुष्य केशोसे अनुराग रखता है वह अवश्य सिरको साफ करने, उसकी मालिश करने धोने तथा सुखानेमे लगा रहता है और ये सब काम स्वाध्याय आदिमे विघ्न डालते है । तथा निर्दोषता होती है । जो क्रिया सदोष है वह नही करना चाहिए जैसे चोरी आदि । किन्तु निर्दोष क्रिया की जाती है जैसे उपवास वगैरह । उसी तरह लोच क्रिया भी निर्दोष है । शरीरमे 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि नही होती । इससे शौच धर्म पलता है यह कहा है । लोभसे अत्यन्त निवृत्तिको शौच कहते है । शरीरमे लोभकी निवृत्ति भी शौच है । शरीरमे लोभकी निवृत्ति सब प्रकारके लोभोको दूर करनेका मूल है । शरीरके उपकारके लिए ही मनुष्य परिवार और धन आदिका लोभ करता है और शौच धर्म सवरका कारण है क्योकि तत्त्वार्थ सूत्रमे गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयसे सवर कहा है ॥९०॥

गा०—और केशलोच करनेसे आत्माकी धर्ममे श्रद्धा प्रदर्शित होती है । उसी प्रकार लोच उग्र तप है और दु:खका सहन है ॥ ९१ ॥

टी०—लोच करनेसे आत्माकी धर्म अर्थात् चारित्रमे श्रद्धा प्रदर्शित होती है । अर्थात्

---

१. क्तिर्हन्यते–आ० मू० ।

श्रद्धा । कस्य ? **'अप्पणो'** आत्मन । महती धर्मस्य श्रद्धाऽन्यथा कथमिद दु सहं क्लेशमारभते इति । आत्मनो धर्मश्रद्धाप्रकाशनेन परस्यापि धर्मश्रद्धाजननोपबृहण कृत भवति । सोऽयमुपबृहणाख्यो गुणो भावितो भवति । **'उग्गो तवो य'** उग्र च तप कायक्लेशाख्य दु खातराणि च सहते ॥ **'लोचः तथैव'** व्यावर्णितगुणवच्च । **'दुक्खस्स'** दु.खस्य **'सहणं च'** सहन च दु ख भावयन् दु खान्तराणि च सहते । दु खसहनान्निर्जरा भवत्य-शुभकर्मणा ॥९१॥ लोचोत्ति गद ॥

व्युत्सृष्टशरीरताभिधानायोत्तर प्रबध —

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि णहकेसमंसुसंठप्पं ।
दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइसंठप्पं ॥ ९२ ॥

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि वज्जेदिति पदघटना स्नानाभ्यजनोद्वर्तनानि ॥ **णहकेसमंसुसंठप्पं** नखकेशश्मश्रुसंस्कार च वर्जयन्ति । अन्तरेणापि चशब्द समुच्चयार्थप्रतीति **'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मनः इति द्रव्याणि'** इत्यत्र यथा ॥ **दन्तोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहादि संठप्प वज्जेदिति** पदरचना ॥ दताना-मोष्ठयो , कर्णयोर्मुखस्य, नासिकाया, अक्ष्णोर्भ्रुवोरादिग्रहणात्पाणिपादादीना च सस्कृति परिहरति ॥

स्नानमनेकप्रकार शिरोमात्रप्रक्षालन, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गात्रस्य, समस्तस्य वा । तन्न शीतोदकेन क्रियते स्थावराणा त्रसाना च बाधा माभूदिति । कर्दमवालुकादिमर्दनाज्जलक्षोभणात्तच्छरीराणा च वनस्पतीना पीडात मत्स्यदर्दुर सूक्ष्मत्रमाना च स्नान निवार्यते । उष्णोदकेन स्ना[1]त्विति चेन्न, तत्र त्रसस्थावर-

---

इसकी धर्मश्रद्धा महान है, यदि न होती तो इतना दु सह कष्ट क्यो उठाता ? अपनी धर्मश्रद्धा प्रकाशित करनेसे दूसरेकी भी धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और उसमे वृद्धि होती है। इस तरह उपबृंहण नामक गुण भी भावित होता है। तथा लोचसे कायक्लेश नामक उग्र तप होता है। तथा दु ख सहन करनेसे अन्य दु.खोको भी सहन करनेमे समर्थ होता है। दु ख सहन करनेसे अशुभ कर्मोकी निर्जरा होती है ॥ इस प्रकार लोचका कथन समाप्त हुआ ॥९१॥

व्युत्सृष्ट शरीरता अर्थात् शरीरसे ममत्वके त्यागका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा कहते है—

गा०—स्नान, तेलमर्दन, उबटन और नख, केश, दाढी-मूँछोका सस्कार छोड देते है। दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौ आदिका सस्कार छोड देते है ॥९२॥

टी०—'छोडते है' यह पद लगा लेना चाहिए। 'च' शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है। जैसे पृथिवी जल तेज वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन ये द्रव्य है। यहाँ 'च' शब्द न होनेपर भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है। अत स्नान, अभ्यजन, और उबटन नही लगाता है नख, केश, दाढीका सस्कार और दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौ आदिसे हाथ पैर आदिका सस्कार छोड देते हैं।

स्नानके अनेक प्रकार है—सिरमात्र धोना, सिरको छोडकर शेष शरीरको धोना अथवा समस्त शरीरको धोना। स्थावर और त्रसजीवोंको बाधा न हो, इसलिए स्नान ठण्डे जलसे नही करते। कीचड़ रेत आदिके मर्दनसे पानीमे क्षोभ पैदा होता है और जिसके होनेसे उनमे रहने-वाले वनस्पति कायिक जीवोको तथा मछली मेढक और सूक्ष्म त्रसजीवोको पीडा होती है। इस-

---

१. स्नायादिति–आ० मु०।

बाधा स्थितैव । भूमिदरीविवरस्थितानां पिपीलिकादीना मृते, तरुणतृणपल्लवाना चोष्णाबुभिस्तप्ताना दु खासिका महती जायते, तथा क्षारतया धान्यरसादीना । न चास्ति प्रयोजन स्नानेन सप्तधातुमयस्य देहस्य न सुचिता शक्या कर्तुं । ततो न शौचप्रयोजन । न रोगापहृतये रोगपरीषहसहनाभावप्रसगात्. न हि भूषार्थं विरागत्वात् ।

घृततैलादिभिरभ्यजनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिशरीरादि जंतवो बाध्यते । त्रसाश्च तत्रावलग्ना । उद्वर्तने इतस्तत पतना व्याघात । मूलत्वक्फलपत्रादे पेषणे, दलने च महानसंयम । निर्वर्तनविलेखनघर्षणरजनादिको नखसस्कार । केशसस्कारो हस्तघर्षणेन मसृणतासंपादनं, तथा श्मश्रूणामपि । दतमलापकर्षण तद्रंजन वा दतसंस्कार । ओष्ठमलापकर्षण तद्रागकरण वा ओष्ठसस्कार: । ह्रस्वयोर्लंबतापादन दीर्घयोर्वा ह्रस्वकरण तन्मलनिरासोऽलकारग्रहणं कर्णसस्कार । मुखस्य तेज:सपादनं लेपेन मत्रेण वा मुखसस्कार । अक्ष्णो प्रक्षालन अजन अक्षिसंस्कार । विकटोत्थिताना रोम्णा उत्पाटनं आनुलोम्यापादन लबयोरुन्नतीकरण, भ्रूसस्कार । शोभार्थं हस्तपादादिप्रक्षालन, औषधविलेपादिर्वा-संस्कार आदिशब्देन गृहीत ॥९२॥

वज्जेदि बंभचारी गंध मल्लं च धूववासं वा ।
संवाहणपरिमद्दणपिणिद्धणादीणि य विमुत्ती ॥ ९३ ॥

लिए शीतल जलसे स्नान नही करते ।

शंका—तब गर्म जलसे स्नान करना चाहिए ?

समाधान—उसमे भी त्रस और स्थावर जीवोको बाधा रहती ही है । पृथिवी तथा पहाडके बिलोमें रहनेवाली चीटी आदिके मरनेसे और उष्णजलके तापसे कोमल तृण पत्ते आदिके झुलसनेसे बडा दु ख होता है । तथा जलके खारपनेसे धान्यके रसको भी हानि पहुँचती है । तथा स्नानकी कोई आवश्यकता भी नही है क्योकि सप्तधातुओसे युक्त शरीरको पवित्र नही किया जा सकता । अत पवित्रताकी दृष्टिसे स्नानका कोई प्रयोजन नही है । रोगको दूर करनेके लिए भी स्नान आवश्यक नही है क्योकि तब साधु रोगपरीषह सहन नही कर सकेंगे । और शरीरकी शोभाके लिए भी स्नान आवश्यक नही है क्योकि साधु तो विरागी होते है ।

साधु प्रयोजन होनेसे घी तेल आदिसे शरीरका अभ्यजन भी नही करते । क्योकि कहे हुए अनुसार घी आदिसे तथा क्षारसे भूमि आदि तथा शरीर आदिमें चिपटे जीवोको बाधा पहुँचती है । उद्वर्तन अर्थात् उबटन लगानेसे शरीरसे चिपटे त्रसजीव यहाँ वहाँ गिरकर मर जाते है । तथा उबटन तैयार करनेके लिये वृक्षकी जड, छाल, फल पत्ते आदिको पीसने या दलनेमे महान असंयम होता है । काटना, छाटना, रगडना, रगना आदि नखका सस्कार है । हाथसे घर्षणके द्वारा चिकनापना लाना केश तथा दाढी मूछोका सस्कार है । दाँतका मैल दूर करना अथवा दाँतोको रगना दाँतका सस्कार है । ओठोका मल दूर करना अथवा उनको रगना ओष्ठ सस्कार है । यदि छोटे हो तो बडा करना और बडे हो तो छोटा करना, मैल निकालना अथवा आभूषण धारण करना कानका सस्कार है । लेप या मत्र द्वारा मुखको तेजस्वी बनाना मुखका सस्कार है । आँखोको धोना, अंजन लगाना आँखका सस्कार है । विकट रूपसे उठे हुए रोमोको उखाडना और उन्हे व्यवस्थित करना तथा लटकती हुईको ऊँचा करना भौका सस्कार है । आदि शब्दसे शोभाके लिये हाथ पैर धोना, अथवा औषध आदिका लेप करना, ग्रहण किये गये हैं ॥ ९२ ॥

'गंधं' कस्तूरिकादिकं । **'मल्लं'** माल्य चतुष्प्रकार । **'धूववासं वा'** धूप कालागुर्वादिक । वास **मुखवास** च जातिफलादिकं । अनेकसुरभिद्रव्यमिश्र वा । **'संवाहणं'** हस्ताभ्या मलन । चरणावमर्द्दन परित **'परिमद्दनं'** । **अंसकुट्टनं** उन्नतिं दार्ढ्यं च कर्तुं यत्तत्पिणिद्धमित्युच्यते । एतत्सर्वं वर्जयति प्रयोजनाभावाद्धिंसाप्रवृत्तेश्च । क ? **ब्रह्मचारी** अब्रह्म निवृत्तिपरो यति ॥९३॥

किं ब्रह्मव्रतस्य कुर्वन्ति स्नानादिपरित्यागा येन तद्व्रताचरणप्रियस्तदनुष्ठाने यतते इत्यारेकायामाह—

जल्लविलित्तो देहो लुक्खो लोयकदवियडबीभत्थो ।
जो रूढणक्खलोमो सा गुत्ती बंभचेरस्स ॥९४॥

'जल्लविलित्तो देह' इति । **'देहो गुत्तो बंभचेरस्स'** इति पदघटना । **'देहः'** शरीरं । **'गुत्ती'** गुप्तिः रक्षा । कीदृक् ? **'जल्लविलित्तो'** घनीभूतमुपर्युपरि प्रचित शरीरमल जल्लशब्देनोच्यते । तेन विलित्तो विलिप्त देह । स्नानादित्यागात् **'रुक्खो'** रूक्षस्पर्श स्नानादिविरहादेव **'लोचकदविगदबीभत्थो'** लोचकरणविकृत-बीभत्स । **'जो'** यो देह **'रूढणक्खलोमो'** दीर्घीभूतनखप्रच्छाद्यदेशलोमान्वित । सेति गुप्ति ॥ सामानाधि-करण्यात् स्त्रीलिंगत्वात् ॥ कस्य ? **'बंभचेरस्स'** ब्रह्मचर्यस्य ॥

इति व्युत्सृष्टदेहता ॥

गा०—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ गन्ध, माल्य और धूप और मुखवास सवाहन, परिमर्दन और पिणिद्धण आदिको छोड देता है ॥ ९३ ॥

टी०—ब्रह्मचारी अर्थात् अब्रह्मके त्यागमे तत्पर साधु कस्तूरी आदि गध, चार प्रकारकी माला (पुष्पमाला, रत्नमाला, मोतीमाला और सुवर्णमाला) कालागुरु आदि धूप, मुखको सुवा-सित करने वाले जाति फल आदि, अथवा अनेक सुगन्धित द्रव्योका मिश्रण, हाथोंमे शरीरकी मालिश, पैरोंसे शरीरको दबवाना, और पिणिद्ध, इन सबको प्रयोजन न होनेसे और हिंसापरक होनेसे छोड देता है। कन्धोंको उन्नत और दृढ बनानेके लिये जो उनको कूटा जाता है उसे 'पिणिद्धण' कहते हैं ॥ ९३ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने वालेको स्नान आदिके त्यागसे क्या लाभ होता है जिससे ब्रह्मव्रतके आचरणका प्रेमी स्नान आदिके त्यागको अपनाता है, इस शङ्काका उत्तर देते है—

गा०—जल्लमे लिप्त, रूक्ष, लोच करनेसे विकृत और वीभत्स, बढे हुए नख और रोमो से युक्त जो शरीर होता है, ब्रह्मचर्यकी वह गुप्ति है ॥९४॥

टी०—शरीरपर चढा हुआ मैलपर मैल जल्ल कहाता है। स्नान आदिका त्याग करनेसे यतिका शरीर मैलमे लिपता जाता है। तथा स्नान आदि न करनेसे रुखा हो जाता है। केश लोच करनेसे भद्दा और ग्लानि युक्त होता है उसे देखकर लोगोको ग्लानि होती है। नख बढे हुए होते हैं। गुप्त अंग आदिके बाल बढ जाते है। ऐसा शरीर ब्रह्मचर्यकी गुप्ति है। उससे यतिके ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है। 'गुप्ति' शब्द स्त्रीलिंग होनेसे सामानाधिकरण्यके लिये 'सा' शब्दका प्रयोग किया है ॥९४॥

व्युत्सृष्ट शरीरताका प्रकरण समाप्त हुआ ॥

प्रतिलेखनसाध्यप्रयोजनाख्यानायोत्तरगाथाद्वयम्—

इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे।
उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणाउंटणामरसे ॥९५॥

'यस्य येन हि संबन्धो दूरस्थमपि तस्य तत्' इत्यनेन क्रमेण सबन्ध—**'इरियादाणे' 'पडिलेहणेण पडिलिहिज्जदित्ति'** एवं सर्वत्र। ईर्याया गमने व्रजतः स्वपादनिक्षेपदेशे दुष्परिहारा यदि स्युः पिपीलिकादयोऽथवा प्राक् पादावलग्नरजसो विरुद्धयोनिर्वाभूमिरुत्तरा जल प्रवेष्टव्यं यदि **'पडिलेहणेण'** प्रतिलेखनेन **'पडिलेहिज्जदि'** निराक्रियते त्रसादिक। **'आदाने'** ग्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनाना। **'णिखेवे विवेके'**। ज्ञानसयमोपकरणाना निक्षेपे स्थापनायां। यन्निक्षिप्यते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं। शरीरमलाना उच्चारादीना **'विवेके'** उत्सर्जने वा कर्तरि प्रदेश। सा च भूर्यद्ययोग्या प्रमार्जनीया। **'ठाणे निसीयणे सयणे'** स्थाने आसने च शयनक्रियाया। **'उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउंटणामरसे'**। **'उव्वत्तणं'** उत्तानशयन। **'परिवत्तणं'** पार्श्वान्तरसचार, **'पसारणं'** प्रसारण हस्तपादादीना। आउटण सकोचन। स्पर्शनक्रिया 'आमरसशब्देनोच्यते'॥

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे।
विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूवदा चेव ॥९६॥

'चिण्हं च होदि' चिह्नता भजते। **'सगपक्खे'** स्वप्रतिज्ञाया। सर्वजीवदया हि यते पक्ष। **'विस्सासियं च'** विश्वासकारि च जनाना। **'लिंगं'** प्रतिलेखनाख्य कथमयमतिसूक्ष्मान्कुन्थ्वादीनपि परिहर्तुं गृहीतप्रति-

---

अब प्रतिलेखनका प्रयोजन बतलानेके लिये दो गाथा कहते हैं—

गा०—गमनमे, ग्रहणमे, रखनेमें मल त्यागमें स्थानमे बैठनेमे शयनमे ऊपरको मुखा करके सोनेमे करवट लेनेमे हाथ पैर फैलानेमे संकोचनमें और स्पर्शनमे पीछीसे परिमार्जन करना चाहिये ॥९५॥

टी०—जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है दूर होते हुए भी वह उसका होता है, इस क्रमके अनुसार प्रतिलेखनके दूर होते हुए भी यहाँ उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये। ईर्या अर्थात् गमन करते हुए यदि अपने पैर रखनेके देशमे चीटी आदिको दूर करना अशक्य हो, अथवा अपने पैरोमे लगी हुई धूलसे आगेकी भूमि विरुद्ध योनि वाली हो या यदि जलमे प्रवेश करना हो तो पीछीसे त्रसादि जीवोको दूर करना चाहिये। अर्थात् पीछीसे उस देशका पैर आदि का परिमार्जन करके चलना चाहिये। ज्ञान और चारित्रके साधन पुस्तक कमण्डलु आदिको ग्रहण करते समय, या उन्हें रखते समय, जो वस्तु रखे और जहाँ रखे उन दोनोंका प्रमार्जन करना चाहिये—पीछीके द्वारा उन्हे झाडना चाहिये। शरीरके मल मूत्रादिका त्याग करते समय यदि भूमि अयोग्य हो तो उसका प्रमार्जन करना चाहिये। स्थान, आसन और सोते समय मुख ऊपर करके सोते हुए या करवट लेते समय या हाथ पैर फैलाते और संकोचते समय, किसी वस्तु को छूते समय पीछेसे प्रमार्जन करना चाहिये। यहाँ आमरस शब्दसे स्पर्शन क्रियाको कहा है ॥९५॥

गा०—उक्त क्रिया करते समय पाछेके द्वारा प्रतिलेखना करना चाहिये, इस प्रकार पूर्व

लेखनोऽस्यान्महतो जीवान्कथमिव बाधितु उत्सहते इति । 'संजदपडिरूवदा चेव' । सयताना [1]प्राक्तनाना प्रतिबिबता च प्रतिलेखना ग्रहणेन भवति ॥९६॥

प्रतिलेखनलक्षणाख्यानायाह—

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च ।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥९७॥

'रजसेदाणमगहणं' रजस सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अग्राहक । अचित्तरजोग्राहिणा सचित्तरजो प्रतिलेखने तद्विराधना सचित्तरजोग्राहिणा चेतरस्य । स्वेदग्राहिणि रजसामुपहति । **'मद्दवसुकुमालदा'** मृदुस्पर्शता मार्दव, सुकुमालदा सौकुमार्य । **'लघुत्तं च'** लघुत्व च । एते पच गुणा यत्रैते पंच प्रकारगुणा संति **'तं'** तत् **'पडिलिहण'** प्रतिलेखन **'पसंसंति'** स्तुवति दयाविधिज्ञा । अमृदुना, असुकुमारेण, गुरुणा च प्रतिलेखनेन जीवानामुपघात एव कृतो न दयेति भाव । एव चतुर्गुणयुक्त लिंग व्याख्यात गृहीतलिगस्य यते. ॥९७॥

शिक्षानतरेति तन्निरूपणार्थ उत्तरप्रबध —

णिउणं विउलं सुद्ध णिकाचिदमणुत्तर च सव्वहिदं ।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिदव्वं ॥९८॥

गाथासे सम्बन्ध है । अपनी प्रतिज्ञामे पीछी चिह्न होती है । और प्रतिलेखना रूप लिग मनुष्योको विश्वास करानेवाला है । और प्राचीन मनियोका प्रतिबिम्ब रूप है ॥९६॥

टी०—मुनिका पक्ष या प्रतिज्ञा सब जीवोपर दया करना है । अत पीछी उसका चिह्न है । तथा यह चिह्न मनुष्योमे विश्वास उत्पन्न कराता है कि जब यह व्यक्ति अतिसूक्ष्म कीट आदि जीवोकी भी रक्षाके लिये पीछी लिये हुए है तो हमारे जैसे बडे जीवोको कैसे बाधा पहुँचा सकता है । तथा पीछी धारण करनेसे प्राचीन मुनियोका जो रूप था उसीकी छाया वर्तमान मुनियोमे आ जाती है ॥९६॥

प्रतिलेखनाके लक्षण कहते है—

गा०—धूलि और पसीनेको पकडती न हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, और हल्की हो । जिसमे ये पाँच गुण होते है उस प्रतिलेखनाकी प्रशसा करते है ॥९७॥

टी०—सचित्त या अचित्त रज और पसीनेको ग्रहण न करती हो, क्योंकि अचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे सचित्त रजकी प्रति लेखना करनेपर उनमे रहनेवाले जीवोका घात होता है और सचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे अचित्त रजकी प्रतिलेखना करने पर भी घात होता है । पसीनेको पकडनेवाली पीछीसे रजमे रहनेवाले जीवोका घात होता है । तथा पीछी कोमल स्पर्शवाली, सुकुमार और हल्की होनी चाहिये । जिस प्रतिलेखनमे ये पाँच गुण होते है, दयाकी विधिको जाननेवाले उसकी प्रशसा करते है । इसका भाव यह है कि कठोर, असुकुमार और भारी प्रतिलेखनासे जीवोंका घात ही होता है, दया नही । इस प्रकार लिंगको स्वीकार करनेवाले साधुके चार गुणोंसे युक्त लिंगका कथन किया ॥९७॥

---

१ प्रधानाना-आ० मु० ।

जिणवयण जिनवचनं । '**अहो य रत्ती य**' नक्तं दिव । '**पढिदव्वं**' अध्येतव्व । कीदृग्भूतं जिनप्रवचन-मत आह—'**निउण**' जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगत निरूपयतीति निपुण । '**सुद्ध**' पूर्वापरविरोधपुनरुक्तादि-द्वात्रिंशद्दोषवर्जितत्वात् शुद्ध । '**विपुल**' निक्षेप, [1]एकार्थ, निरुक्ति अनुयोगद्वार, नयश्चेति अनेकविकल्पेन जीवादीनर्थान्सप्रपच निरूपयतीति विपुल । अर्थगाढत्वान्निकाचित अर्थनिचित । '**अणुत्तर च**' न विद्यते उत्तर उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तर । परेषा वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, व्याहतानि, प्रमाणविरुद्धानि च तेभ्य इदमुत्तर तदसभविगुणत्वात् । '**सव्वहिदं**' सर्व प्राणहित । अन्येषा मतानि केषाचिदेव रक्षा सूचयति । '**जिघासन्तं जिघासीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्**' इत्युपदेशात्[2] ।

कलुसहर द्रव्यकर्मणा ज्ञानावरणादीना अज्ञानादेर्भावमलस्य च विनाशनात् कलुषहर । '**अहो य रत्तीय पढियव्वमित्यनेन**' अनारत अध्ययन सूचित ॥९८॥

अब शिक्षाका कथन करते है—

गा०—निपुण विपुल, शुद्ध, अर्थसे पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियोका हित करनेवाला द्रव्यकर्म भाव कर्मरूपी मलका नाशक जिनवचन रात-दिन पढना चाहिये ॥९८॥

टी०—जिनवचन रात-दिन पढना चाहिये । किस प्रकार जिनवचन पढना चाहिये ? इसके उत्तरमे कहते है—जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थोका प्रमाण और नयके अनुसार निरूपण करनेवाला हो । पूर्वापर विरोध पुनरुक्तता आदि बत्तीस दोषोसे रहित होनेसे शुद्ध हो । विपुल हो अर्थात् निक्षेप, निरुक्ति अनुयोगद्वार और नय इन अनेक विकल्पोसे जो जीवादि पदार्थोका विस्तार से निरूपण करता हो । निकाचित अर्थात् अर्थसे भरपूर हो । अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर यानी उत्कृष्ट न हो । दूसरोके वचन पुनरुक्त, निरर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध है अत उनसे जिनवचन उत्कृष्ट है क्योकि जो गुण उनमे सम्भव नही है उन गुणोसे युक्त है । सब प्राणियोका हितकारी है । दूसरोके मत तो किन्ही की ही रक्षा सूचित करते हैं । कहा है—वेदका जाननेवाला भी ब्राह्मण यदि किसीको मारता हो तो उसे मार डालना चाहिये । उससे ब्रह्म हत्याका पाप नही लगता । तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमलका विनाश करनेसे जिनवचन पापका हरनेवाला है । उसे 'रात-दिन पढना चाहिये' इससे निरन्तर अध्ययन करना सूचित किया है ॥९८॥

---

१ पक्षार्थ —आ० मु० ।

२ आ० मु० प्रत्योअधोलिखिताश्लोका म ।

"यज्ञार्थ पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयभुवा ॥
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषा तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ॥ १ ॥
"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापह ॥
क्षेत्रदारहरश्चेति षडेते आततायिन ॥"
"आततायिनमायातमपि वेदातविद् द्विजम् ॥
जिघासत जिघासीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥"

जिनवचनशिक्षाया गुणान्संहृत्य कथयति—

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो या संवेगो ॥
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥९९॥

आदहिदपइण्णा आत्महितपरिज्ञान । इंद्रियसुख अहित परिहितमिति गृह्णन्ति जना । दुःखप्रतीकारमात्र तत् ? अल्पकालिक, पराधीन, रागानुबंधकारि, दुर्लभ, भयावह, शरीरायासमात्र, अशुचिशरीरासस्पर्शनज। तत्रास्य बालस्य सुखबुद्धि । नि शेषदुःखापायजनित स्वास्थ्य अचल सुखमिति न वेत्ति । जिनवचोऽभ्यासात्त्वधिगच्छति । '**भावसवरो**' भाव परिणाम तस्य सवरो निरोध । ननु परिणाममतरेण न द्रव्यस्यास्ति क्षणमात्रमप्यवस्थान तत्किमुच्यते भावसवर इति । परिणामविशेषवृत्तिरिह भावशब्द इति मन्यते । तथा वक्ष्यति—

'**सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदीसवुडो इति**' अशुभकर्मादाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरागापेक्षया । वीतरागाणा तु केषाचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यास्रवपरिणामसवरोऽपि ग्राह्य । '**णवणवो य**' प्रत्यग्र प्रत्यग्र । '**सवेगो**' धर्मे श्रद्धा जिनवचनाभ्यासादुपजायते । '**णिक्कपदा**' निश्चलता । क्व ? रत्नत्रये । '**तवो**' स्वाध्यायाख्य तपश्च । '**भावणाय**' भावना च गुप्तीना । '**परदेसिगत्त च**' परेषामुपदेशकता च ॥

जिनवचनकी शिक्षामे जो गुण है उन्हे कहते है—

गा०—आत्महितका ज्ञान होता है। भाव सवर होता है। नवीन-नवीन सवेग होता है रत्नत्रयमे निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है। और दूसरोको उपदेश करनेकी क्षमता होती है ॥९९॥

टी०—जिनवचनके पढनेसे आत्महितका परिज्ञान होता है—इन्द्रिय सुख अहितकर है उसे लोग हितकर ग्रहण करते है। इन्द्रिय सुख दुःखका प्रतीकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है। पराधीन है, रागका सहचारी है, दुर्लभ है (?), भयकारी है, शरीरका आयासमात्र है, अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है। उसको यह अज्ञानी सुख मानता है। समस्त दुःखोके विनाशसे उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य-आत्मामे स्थितिरूप भाव-स्थायी सुख है यह नही जानता। वह सुख जिनवचनके अभ्याससे प्राप्त होता है। भाव अर्थात् परिणामका, सवर अर्थात् निरोध भावसवर है।

शंका—परिणामके विना द्रव्य एक क्षण भी नही रह सकता। तब आप कैसे भावसवर कहते है ?

समाधान—यहाँ भाव शब्द परिणाम विशेषका वाचक लिया गया है। आगे कहेगे—स्वाध्याय करनेवाला पाँचो इन्द्रियोसे सवृत होता है। अतः यहा सरागकी अपेक्षासे अशुभ कर्मों के ग्रहणमे निमित्त परिणामका ग्रहण किया है। वीतरागोमेसे तो किन्हीके जिनवचन शुद्धोपयोग मे निमित्त होता है इसलिये भावसवरसे पुण्यास्रवमे निमित्त परिणामोका सवर भी ग्राह्य है। जिनवचनके अभ्याससे नित नया 'सवेग' अर्थात् धर्ममे श्रद्धा उत्पन्न होती है। रत्नत्रयमे निश्चलता आती है। स्वाध्यायनामक तप होता है, गुप्तियोकी भावना होती है तथा दूसरोंको उपदेश देनेकी सामर्थ्य आती है ॥९९॥

आदहिदपरिण्णा इत्यस्य व्याख्यान गाथोत्तरा—

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा।
णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव ॥ १०० ॥

'**णाणेण**' ज्ञानेन। '**सव्वभावा**' सर्वे पदार्था.। '**जीवाजीवादिगा**' जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरा-मोक्षा:। '**तधिगा**' तथ्यभूता। '**णज्जंति**' ज्ञायन्ते। '**तथा**' तेनैव प्रकारेण। '**इहपरलोए**' इह परस्मिश्च लोके। '**अहिदं**' अहितं। '**हिदं**' हितं चैव। ननु च **आदहिदपरिण्णा** इत्यत्र हितस्यैव हि सूचितत्वात् जीवादिपरिज्ञान असूचितं कथं व्याख्यायते पूर्वमभिहितं हितमनुक्त्वा ? अत्रोच्यते—आत्मा च हितं च आत्महिते तयो परिज्ञानं इति गृहीतं। न चात्मनो हितमिति। ततो युक्तं व्याख्यातं। एवमपि जीव एव निर्दिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यास: कथं ? आत्मशब्दस्योपलक्षणत्वाददोष। **जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं** [त०सू० १।४] इत्यत्र सूत्रे आदौ निर्दिष्टो जीव प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षणं क्रियते। अथवा आत्मन्यज्ञाते हितमेव दुर्ज्ञातं आत्म-परिणामो हि हितं तच्च स्वास्थ्यं। तच्च स्वस्थे आविदिते स्वास्थ्य सुज्ञातं भवति। तत आत्मा ज्ञातव्य.।

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिदं विमलं। रहियं तु उग्गहादिहिं सुहंति एयंतियं भणियं" [प्र० व० १।५९]। इति वचनात् अनंतज्ञानरूपं सुखं यदि हितमिति गृहीत, तथापि चेतनाया जीवत्वाच्चैतन्यावस्था-स्वरूपत्वात् केवलस्यावस्थानात् आत्मा ज्ञातव्य एव। मोक्षस्तु कर्मणा तदपायतयाधिगतव्य। तत्परिज्ञानम-जीवेऽनिर्ज्ञाते न भवति। पुद्गलानामेव द्रव्यकर्मत्वात्, तद्वियोगस्य मोक्षत्वात्। स च मोक्षो बंधपुरस्सर। न

आगे आत्महित परिज्ञानका व्याख्यान करते है—

गा०—ज्ञानके द्वारा जीव अजीव आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते है। उसी प्रकारसे इस लोक और परलोकमे अहित और हित जाना जाता है ॥१००॥

टी०—शंका—'आत्महित परिज्ञा' इस पदमे तो हितको ही सूचित किया है, जीवादिके परिज्ञानको तो सूचित नही किया है तब पहले कहे गये हितका कथन न करके जीवादि परिज्ञान-का व्याख्यान क्यो किया है ?

समाधान—आत्महित परिज्ञानका अर्थ आत्मा और हितका परिज्ञान लिया है। 'आत्माका हित' अर्थ नही लिया है। अत जीवादिका व्याख्यान करना युक्त है।

शंका—ऐसा अर्थ करनेपर भी जीवका ही निर्देश किया है। तब अजीव आदिका उपन्यास क्यो किया ?

समाधान—आत्म शब्द अजीवादिका उपलक्षणरूप होनेसे कोई दोष नही है। क्योकि 'जीवाजीवा' इत्यादि सूत्रमे जीवका प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगेके अजीवादिका उपलक्षण किया है। अथवा, आत्माका ज्ञान हुए विना उसके हितको जानना कठिन है। आत्माका परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है। अत. स्वस्थका ठीक ज्ञान होनेपर स्वास्थ्यका सम्यग्ज्ञान होता है। अत आत्मा ज्ञातव्य है। अथवा ऐसा कहा है—अनन्त पदार्थोंमे व्याप्त और अवग्रह आदिके क्रमसे रहित निर्मल सम्पूर्णज्ञान जो परकी सहायताके विना स्वयं होता है उसे एकान्तस सुखरूप कहा है।' इस कथनसे यद्यपि अनन्तज्ञानरूप सुखको हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है और केवलज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है अत आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मोंके विनाश-रूप होनेसे जानने योग्य है। कर्मोका ज्ञान अजीवको जाने विना नही होता, क्योकि पुद्गल ही

ह्यसति बधे मोक्षोऽस्ति । स च बधो नासत्यास्रवे । मोक्षस्य चोपायौ संवरनिर्जरे । अहितं इति यदि दु खं गृह्यते तदैहलौकिकमनुभवसिद्धमेव । किं तत्र जिनवचनेन ? अहितकारण यद्यहितमुच्यते तत्कर्म तच्चाश्रा-जीववचनेन आक्षिप्त । अथ हिसादय परपराकारणत्वेन दु खस्यावस्थिता अहितशब्देनोच्यन्ते । तथाप्ययुक्त आस्रवेऽन्तर्भूतत्वात् । अत्रोच्यते—अनुभूतमपि दु ख अस्मिञ्जन्मनि जडमतयो विस्मरन्त्यत एव सन्मार्गं न ढौकते । तेषा स्मृतिर्जन्यते जिनवचनेन मनुजभवापदा प्रकटनेन । जुगुप्सिते कुले प्रादुर्भूतिर्विचित्रास्तत्र रोगोरगदशनजनिता विपद । निर्द्रविणता, दुर्भगता, अबधुता, अनाथता, प्रार्थितद्रविणपरागनालाभधूमध्वजनिर्दग्धचित्तता, द्रविणवतां कुत्सितप्रेषणकरण, तथापि तेषा आक्रोशननिर्भर्त्सनताडनादीनि, परवशतामरणादीन्येवमादिना, इह लोके हित दानतप प्रभृतिक हितकारण हित इति यदा गृह्यते 'हितमारण्यमौषध' इति यथा । यतो दानादिके कुशलकर्मणि वर्तमाना जनै स्तूयते वद्यन्ते । **उक्त च—**

दानेन तिष्ठन्ति यशांसि लोके दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बधुत्वमुपैति दानात्तस्मात्सुदान सततं प्रदेयम् ॥" इति ।—[वरांच० ७।३६]

इद्रचक्रधरादयोऽपि प्रणतिमायान्ति तपोद्रविणानाम् । परलोके अहित भवान्तरभाविदु ख नरकगतौ हि, तिर्यक्त्वे च, परलोके हित निवृतिसुख, तदेत्सकल अवबोधयति जैनी भगवती भारती ।

द्रव्यकर्मरूप होते है और उनका विनाश मोक्ष है। वह मोक्ष बन्धपूर्वक होता है। क्योंकि बन्धके अभावमे मोक्ष नही होता। तथा बन्ध आस्रवके बिना नही होता। और मोक्षके उपाय संवर और निर्जरा है।

शंका—यदि अहितसे दु ख लेते है तो इस लोकमे होनेवाला दु ख अनुभवमे सिद्ध है। उसमे जिनवचनकी क्या आवश्यकता ? यदि अहितके कारणको अहित कहते है तो वह कर्म है और अजीव शब्दसे उसका ग्रहण होता है। यदि परम्परासे दु खका कारण होनेसे हिंसा आदिको अहित शब्दसे लेते है तो भी अहितका पृथक् कथन अयुक्त है क्योकि आस्रवमे उनका अन्तर्भाव होता है।

समाधान—इस जन्ममे अनुभूत भी दु:खको अज्ञानी भूल जाते है इसीसे वे सन्मार्गमे नही लगते। जिनवचनके द्वारा मनुष्य भवमे होनेवाली विपत्तियोको बतलानेसे उनका स्मरण होता है। निन्दनीय कुलमे जन्म होनेपर वहाँ रोगरूपी साँपके डसनेसे उत्पन्न हुई विपत्तियाँ आती हैं। दरिद्रता, भाग्यहीनता, अबन्धुता, अनाथता, इच्छित धन और पर स्त्रीकी प्राप्ति न होने रूप अग्निसे चित्तका जलते रहना, धनिकोंकी निन्दनीय आज्ञाका पालन करनेपर भी उनके गाली; गलौज, डाँट फटकार, मारपीट, परवश मरण आदिको सहना पडता है।

जब हितका अर्थ हितका कारण लिया जाता है तो इस लोकमे दान, तप आदि हित है। जैसे जगली औषधी हितका कारण होनेसे हित कही जाती है क्योकि जो दान आदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और वन्दना करते है। कहा भी है—'दानसे लोकमे चिरस्थायी यश होता है। दानमे वैर भी नष्ट हो जाते हैं। दानसे पराये भी बन्धु हो जाते है। अत सुदान सदा देना चाहिए ॥' तपोधनोको इन्द्र चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते है। परलोकमे अहितसे मतलब है आगामी नरकगति और तिर्यञ्चगतिके भवमे होनेवाला दु:ख। और परलोकमे हितसे मतलब है मोक्षसुख। जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है ॥१००॥

आत्महितापरिज्ञाने दोषमाचष्टे—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं ।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ।।१०१।।

"**आदहिदमयाणंतो**' आत्महितमबुध्यमान । '**मुज्झदि**' मुह्यति अहितं हितमिति प्रतिपद्यते । मोहे को दोष इत्यत आह—'**मूढो**' मोहवान् '**समादियदि**' समादत्ते । '**कम्मं**' कर्मसामान्यशब्दोऽप्यय अशुभकर्मवृत्ति- र्ग्राह्य । कर्मग्रहणे को दोष इत्यत आह—'**कम्मणिमित्तं**' कर्महेतुक, जीव '**परीदि**' परिभ्रमति । किं '**भवसायरम्**' भवसमुद्र '**अणंतं**' अनन्तम् ।।१०१।।

आत्महितपरस्योपयोगमादर्शयति—

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य ।
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं ।।१०२।।

'**जाणंतस्स**' जानत । '**आदहिदं**' आत्महित । '**अहिदणियत्ती य**' अहितनिवृत्तिश्च । '**हिदपवत्ती य**' हिते प्रवृत्तिश्च । '**होदि य**' भवति च । '**तो**' तत हितज्ञानात्पश्चात् । '**तम्हा**' तस्मात् '**आदहिदं**' आत्म- हित । '**आगमेदव्व**' शिक्षितव्यम् । अत्र चोद्यते—ननु आत्महितज्ञस्य हिते प्रवृत्तिर्भवतु, अहितान्निवृत्ति कथ ? अहितज्ञोऽहितान्निवर्तते हितमहित न भिन्नमेव । यद्यतो भिन्न न तस्मिन्नवगते तदन्यदवगत भवति । यथा— वानरेऽवगते न मकर । भिन्न च हितादहित तस्माद्धितज्ञोऽहित अजानन् कथमहितान्नियोगतो निवर्तेत ? अत्रो-

आत्महितका ज्ञान न होनेके दोष कहते है—

गा०—आत्माके हितको न जाननेवाला मोहित होता है । मोहित हुआ कर्मको ग्रहण करता है । और कर्मका निमित्त पाकर जीव (अणत) अनन्त भवसागरमे भ्रमण करता है ।।१०१।।

टी०—आत्महित या आत्मा और हितको जाननेवाला अहितको हित मानता है । यही मोह है । इस मोहमे क्या दोष है ? इसके उत्तरमे कहते है कि मोही जीव कर्मको ग्रहण करता है । यहापर यद्यपि कर्म सामान्य कहा है तथापि अशुभकर्म ग्रहण करना चाहिए । कर्मोके ग्रहणमे क्या दोष है ? इसके उत्तरमे कहते है कि कर्मके कारण जीव भव समुद्रमे अनन्तकाल तक भ्रमण करता है ।।१०१।।

आत्महितके ज्ञानका उपयोग दिखलाते है—

गा०—आत्महितको जाननेवालेके अहितसे निवृत्ति और हितमे प्रवृत्ति होती है । हिता- हितके ज्ञानके पश्चात् उसका हिताहित भी जानता ही है । इसलिए (आदहिदं) आत्महितको आगममे सीखना चाहिए ।।१०२।।

टी०—शका—आत्महितको जाननेवालेकी हितमे प्रवृत्ति होओ, किन्तु अहितसे निवृत्ति कैसे ? जो अहितको जानना है वह अहितसे निवृत्त होता है । तथा हित और अहित भिन्न है । जो जिससे भिन्न होता है उसके जाननेपर उससे भिन्नका ज्ञान नही होता । जैसे बन्दरको जानने- पर मगरका ज्ञान नही होता । और हितसे अहित भिन्न है अत हितको जाननेवाला अहितको नही जानता । तब वह कैसे नियमसे अहितसे निवृत्त होगा ?

च्यते–सर्वमेव वस्तु स्वपरभावाभावोभयाधीनात्मलाभं यथा घट. पृथु[1]लोदराद्याकारात्मक पटादिरूपतया ग्राह्य , अन्यथा विपर्ययस्त तज्ज्ञानं भवेत् । एवमिहापि हितविलक्षणमहितं अजानता तद्विलक्षणता हितस्[2] ज्ञाता भवेत् । अतो हितज्ञोऽहितमपि वेत्तीति युक्ता निवृत्तिस्तत ।।१०२।।

शिक्षाया अशुभभावसवरहेतुता प्रतिपादनायाह—

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसुंवुडो तिगुत्तो य ।।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ।।१०३।।

''**सज्झायं**' स्वाध्याय पचविध वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन । तत्र निरवद्यस्य ग्रन्थस्या ध्यापन तदर्थाभिधानपुरोग वाचना । सदेहनिवृत्तये निश्चितबलाधानाय वा सूत्रार्थविषय प्रश्न । अवगतार्थानुप्रेक्षण अनुप्रेक्षा । आम्नायो गुणना । आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेदनीति चतस्र कथास्तासा कथनं धर्मोपदेश । त स्वाध्याय कुर्वन् । '**पंचिंदियसवुडो होदि**' पचेन्द्रियसवृतो भवति । ननु पञ्चेन्द्रिय शब्द निष्ठातस्य पूर्वनिपातात्सवृतपचेन्द्रिय इति भवितव्यम् ? सत्य । 'जातिकालसुखादिभ्य परवचनम्' इत्यनेन बहुव्रीहो पचेन्द्रियत्वजातिवृत्तिरिति जातिवचन । ततो निष्ठात परत प्रयुज्यते इति मन्यते । इन्द्रियमनेकप्रकार द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय इति । इह तु रूपाद्युपयोगा इन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेनायमर्थ स्वाध्या[य] कुर्वन्निरुद्ध-

समाधान—प्रत्येक वस्तुका जन्म स्वके भाव और परके अभाव, इन दोनोके अधीन है। जैसे घट बडे पेट आदि आकारवाला होना है, पटादिरूपसे उसका ग्रहण नही होता । यदि घटका पटरूपसे ग्रहण हो तो वह ज्ञान विपरीत कहलायेगा । इसी तरह यहाँ भी जो हितसे विलक्षण अहितको नही जानता वह उससे विलक्षण हितका भी ज्ञाता नही हो सकता । अत. जो हितको जानता है वह अहितको भी जानता है । इसलिए उसको अहितसे निवृत्ति उचित ही है ।।१०२।।

शिक्षा अशुभभावके सवरमे हेतु है, यह कहते हैं—

गा०—विनयसे युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचो इन्द्रियोके विषयोसे सवृत और तीन गुप्तियोसे गुप्त एकाग्रमन होता है ।। १०३ ।।

टी०—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद है। उसके अर्थका कथन करने पूर्वक निर्दोष ग्रन्थके पढानेको वाचना कहते है । सन्देहको दूर करनेके लिये अथवा निश्चितको दृढ करनेके लिये सूत्र और अर्थके विषयमे पूछना प्रश्न है । जाने हुए अर्थका चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । कण्ठस्थ करना आम्नाय है । कथाके चार प्रकार है—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेदनी । उनके करनेको धर्मोपदेश कहते है । उस स्वाध्यायको करने वाला पञ्चेन्द्रिय सवृत होता है ।

शङ्का—बहुव्रीहि समासमे निष्ठान्तका पूर्वनिपात होनेसे 'सवृत पञ्चेन्द्रिय' होना चाहिये ।

समाधान—आपका कथन सत्य है । 'जातिकाल सुखादिभ्य परवचनम्' इस सूत्रसे पञ्चेन्द्रिय शब्द पञ्चेन्द्रिय जातिवृत्ति होनेसे जातिवाचक है । इसलिये निष्ठान्तका प्रयोग पञ्चेन्द्रियके आगे किया है ।

इन्द्रियके अनेक भेद है—द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय । किन्तु यहाँ इन्द्रियशब्दसे रूपादि विषयक

१. पृथुतलाद्या–अ० । पृथुलाद्या–आ० । २. यान्नि–आ० मु० ।

रूपाद्युपयोगो भवति इति । रूपाद्युपयोगनिरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोज्ञामनोज्ञरूपाद्युपयोगावलम्बनौ रागद्वेषौ । न ह्यनवबुध्यमानो विषय स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तेऽन्यमनस्के वा रागादीना विषयसन्निधावप्यदर्शनात् ।

"गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥" **[पञ्चास्ति० १२९]**

इति वचनाच्च । कथं स्वाध्याये प्रवर्तमान **'विणयेण समाहिदो'** ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा य स्वाध्याय करोति **'तिगुत्तो य होदि'** तिसृभिर्गुप्तिभिश्च भवति । मनसोऽप्रशस्तरागाद्यनवलेपात्, अनृतरूक्षपरुषकर्कशात्मस्तवनपरदूषणादावव्यापृते , हिंसादौ शरीरेणाप्रवृत्तेश्च, **"एयग्गमणो य होदि भिक्खू'** इति पदघटना—एकमुखान्त करणश्च भवति भिक्षु स्वाध्याये रत । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमप्यासादयतीति । न ह्यकृतश्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने भवितुमर्हत । अपायोपायभवविपाकलोकविचयादयो धर्मध्यानभेदा । अपायादिस्वरूपज्ञान जिनवचनबलादेव **'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः'** [त–सू० ९।३७] इत्यभिहितत्वाच्च ॥१०३॥

प्रत्यग्रसंवेगप्रभवक्रममाचष्टे—

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु ।
तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए ॥ १०४ ॥

उपयोग कहा गया है। अत यह अर्थ होता है कि स्वाध्यायको करने वालेका रूपादि विषयक उपयोग रुक जाता है।

शङ्का—रूपादि विषयक उपयोगको रोकनेका क्या फल है ?

समाधान—रागादिकी प्रवृत्ति नही होती। राग द्वेष मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादि विषयक उपयोगका आश्रय पाकर होते है। जिस विषयको जाना नही वह विषय केवल अपने अस्तित्वमात्रसे राग द्वेषको पैदा नही करता। क्योकि सोते हुए या जिसका मन अन्य ओर है उस मनुष्यमे विषयके पासमे होते हुए भी राग द्वेष नही देखे जाते। कहा है—'गतिमें जाने पर शरीर बनता है। शरीरसे इन्द्रियाँ बनती है। इन्द्रियोसे विषयोंका ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष होते है। जो विनय पूर्वक स्वाध्याय करता है वह पञ्चेन्द्रिय सवृत और तीन गुप्तियोसे गुप्त होता है क्योकि उसका मन अप्रशस्त रागादिके विकारसे रहित होता है, झूँठ, रुक्ष, कठोर, कर्कश, अपनी प्रशसा, परनिन्दा आदि वचन नही बोलता, तथा शरीरके द्वारा हिसा आदिमे प्रवृत्ति नही करता। तथा स्वाध्यायमे लीन साधु एकाग्रमन होता है। अर्थात् ध्यानमे भी प्रवृत्ति करता है। जिसका श्रुतसे परिचय नही है उसके धर्मध्यान शुक्लध्यान नही होते। अपायविचय, उपायविचय, विपाकविचय, लोकविचय आदि धर्मध्यानके भेद है। अपाय आदिके स्वरूपका ज्ञान जिनागमके बलसे ही होता है। कहा भी है—आदिके दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववित् श्रुतकेबलीके होते हैं ॥ १०३ ॥

नवीन सवेगके उत्पन्न होनेका क्रम कहते हैं—

गा०—जैसे-जैसे अतिशय अभिधेयसे भरा, जिसे पहले कभी नही सुना ऐसे श्रुतको अवगाहन करता है, तैसे-तैसे नई नई धर्मश्रद्धासे आह्लाद युक्त होता है ॥ १०४ ॥

'जह जह' यथा यथा । **'सुदं'** श्रुतं **'ओग्गाहदि'** अवगाहते शब्दश्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत् । **'अदिसयरसपसरं अतिशयरसप्रसरं'** समयातरेषु अनुपलब्धोऽर्थोऽतिशयितो रस । शब्दस्य हि रसोऽर्थ तस्य सारत्वात् आम्रफलादिरस इव । प्रसरशब्देन प्राचुर्यमतिशयितार्थस्य सूचयति । ततोऽयमर्थोऽस्य–अतिशयाभिधेयबहुलं श्रुतमिति । ननु प्रवादिनोऽपरेऽपि स्वसमयमेव प्रशसन्ति । प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुद्धमर्थस्वरूप केवल नित्यत्वमनित्यता वा निरूपयतामागमाना नातिशयार्थप्रसरता । प्रमाणातरसबाधागमार्थोऽतिशयितो भवति नापरः । **'असुदपुव्वं तु'** अश्रुतपूर्वमेव । ननु भव्यानामभव्याना च कर्णगोचरतामायात्येव श्रुत किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति ? अथ श्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमात्र श्रुतमप्यश्रुत इति गृह्यते तदप्ययुक्त, अर्थोपयोगस्यापि असकृत् ज्ञातत्वात् । अयमभिप्राय श्रद्धानसहचारिबोधाभावाच्छ्रुतमप्यश्रुतमिति । **'तह तह पल्हादिज्जइ'** तथा तथा प्रल्हादमुपैति । **'नवनवसंवेगसड्ढाए'** प्रत्यग्रतरधर्मश्रद्धया । ननु च ससाराद्भीरुता सवेग ततोऽयमर्थ स्यादसंबंधः न दोष । ससारभीरुताहेतुको धर्मपरिणाम । आयुधनिपातभीरुताहेतुककवचग्रहणवत् । तेन सवेगशब्द कार्ये धर्मे वर्तते ।।१०४।।

निष्कपताख्यानायाह—

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा ।
विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ।।१०५।।

टी०—जैसे-जैसे श्रुतका अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुतके अर्थको जानता है । वह श्रुत 'अतिशयरस प्रसर' होना चाहिये । अन्य धर्मोमे जो अर्थ नही पाया जाता उसे 'अतिशयरस' कहा है । क्योकि शब्दका रस उसका अर्थ है वही उसका सार है । जैसे आम्रफलादिका रस । प्रसर शब्दसे अतिशयित अर्थकी बहुलता सूचित होती है । अत 'अतिशयितरस प्रसर' का **अर्थ है**—अतिशय अभिधेयसे भरा हुआ श्रुत ।

शङ्का—अन्य मतावलम्बी भी अपने सिद्धान्तकी प्रशसा करते है ?

समाधान—प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध अर्थके स्वरूप केवल नित्यता या केवल अनित्यता का कथन करने वाले आगम अतिशय अर्थबहुल नही है । जिस आगमका अर्थ अन्य प्रमाणोसे प्रमाणित होता है वही आगमार्थ अतिशयित होना है, अन्य नहीं । तथा वह अश्रुतपूर्व जो पहले नही सुना, होना चाहिये ।

शङ्का—भव्य और अभव्य जीवोके कानोमे श्रुत सुननेमे आता ही है तब आप अश्रुत पूर्व कैसे कहते है ? यदि श्रुतके अर्थका ज्ञान न होनेसे शब्दमात्र श्रुतको अश्रुन कहते है तो यह भी ठीक नही है क्योकि अर्थके उपयोगका भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है ?

समाधान—अभिप्राय यह है कि श्रद्धान पूर्वक ज्ञान न होनेसे श्रुत भी अश्रुत होता है । तो जैसे श्रुतका अवगाहन करता है वेसे वैसे नई नई धर्मश्रद्धासे युक्त होता है ।

शङ्का—संसारसे भीरुताको सवेग कहते है । तब आपका अर्थ धर्म ठीक नही हैं ।

समाधान—इसमे कोई दोष नही है । ससारसे भीरुता धर्म परिणामका कारण है । जैसे शस्त्रके आघातके भयसे कवच ग्रहण करते है इससे सवेग शब्द सवेगका कार्य जो धर्म है उसको कहता है ।। १०४ ।।

आयापायविदण्हू वृद्धिहानिक्रमज्ञ । प्रवचनाभ्यासादेव रत्नत्रयाभिवृद्धि एव तथा हानिरिति यो जानाति असौ । '**दंसणणाणतवसजमे**' श्रद्धाने, ज्ञाने, तपसि, सयमे वा । '**ठिच्चा**' स्थित्वा । '**विहरदि**' प्रवर्तते । '**विसुज्झमाणो**' शुद्धिमुपयान् । '**जावज्जीवं**' जीवितकालावधि । तु शब्दोऽन्ते नेय । '**णिक्कपो दु**' विनिष्प्रकपो निश्चल एवेति यावत् । नि शकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धि , शकादिना हानि । अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धि । अनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च ज्ञानहानि । यथा चोक्तम्—"**पुव्वमहिदं पि णाणं** [1]**संकुडवियजुत्तजोगिस्स**" इति । तपसो द्वादशविधस्य वृद्धि सयमभावनया वीर्याविनिगूहनात् ज्ञानोपयोगात् । हानि पुनस्तद्विपर्ययादैहिककार्यासगाद्वा । सम्यक् पापक्रियाभ्य उपरम सयम । पापक्रियाश्चाशुभमनोवाक्काययोगा· तेन चारित्र सयम । '**पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं**' इति वचनात् । तस्य सयमस्य वृद्धि पचविशतिभावनाभिर्हानि तासा भावनाना अभावेन । श्रुतादिना ज्ञानादीना गुणदोष वा न वेत्ति । [2]अनिर्ज्ञातगुण कथ गुणानुपवहयेत्, अविदितदोषो वा नास्त्यजेत् । तेन शिक्षायामादर कार्य ॥१०५॥

जिनवचनशिक्षा तप इत्येतदुच्यते—

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥१०६॥

निष्कम्पताका कथन करते है—

गा०—वृद्धि और हानिके क्रमको जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और सयममे स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है वह निश्चल ही है ॥ १०५ ॥

टी०—प्रवचनके अभ्याससे जो यह जानता है कि ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी वृद्धि होती है और ऐसा करनेसे हानि होती है वह श्रद्धान, ज्ञान, तप, और सयममे स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त करता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है ।

नि शकित आदि गुणोसे सम्यग्दर्शनकी वृद्धि होती हे और शका आदिसे हानि होती है । अर्थशुद्धि, व्यजनशुद्धि और उभयशुद्धिसे तथा स्वाध्यायमे उपयोग लगानेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है । उपयोग न लगानेसे तथा नवीन अपूर्व अर्थको ग्रहण न करनेमे ज्ञानकी हानि होती है । कहा है—'पूर्वमे ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमे उपयोग नही लगाता उसका घट जाता है ।' सयमकी भावनासे व अपनी शक्तिको न छिपाकर ज्ञानमे उपयोग लगानेसे बारह प्रकारके तपकी वृद्धि होती है । उससे विपरीत करनेसे और लौकिक कार्योंमे फँसे रहनेसे तपकी हानि होती है । पाप क्रियाओसे सम्यक् रीतिसे विरत होनेको सयम कहते है । अशुभ मनोयोग, अशुभ वचन योग और अशुभकाय योग पापक्रिया है । अत चारित्र सयम है । कहा भी है—'पाप क्रियाओसे निवृत्ति चारित्र है ।' उस सयमकी वृद्धि पच्चीस भावनाओसे होती है और उन भावनाओके अभावसे सयमकी हानि होती है । शास्त्राभ्यासके विना ज्ञान आदिके गुण अथवा दोषको नही जानता । जो गुणोको नही जानता वह कैसे गुणोको बता सकता है । और जो दोषोको नही जानता वह कैसे उन्हे छोड सकता है ? अत शिक्षामे आदर करना चाहिये ॥ १०५ ॥

जिनवचनकी शिक्षा तप है, यह कहते है—

---

१ सकुडइविजु–मु० । २ अज्ञात–आ० मु० ।

'बारसविहम्मि य' द्वादशप्रकारे । **'तवे'** तपसि । **'सब्भतरबाहिरे'** सहाभ्यन्तरबाह्याभ्यां वर्तते इति साभ्यन्तरबाह्य । बाह्यमभ्यन्तरं वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्यां सह वर्तते इत्युच्यते ? तप सामान्य विशेषै सह वर्तते इत्युच्यते । अजाद्यदन्तत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च अभ्यन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातोऽल्पस्वरादपि बाह्यशब्दात् । **'कुसलदिट्ठे'** ससार , ससारकारण, बधो, बधकारण, मोक्षस्तदुपाय इत्यत्र वस्तुनि ये कुशला. सर्वविदस्तैरुपदिष्टे । **'सज्झायसमं'** स्वाध्यायेन सदृश । **'तवोकम्म'** तप क्रिया । **'ण वि अत्थि'** नैवास्ति । **'ण वि य'** नैव । **'होहिदि'** भविष्यति । नाप्यासीदिति कालत्रयेऽपि स्वाध्यायसदृशस्यान्यस्य तपसोऽभावः कथ्यते । अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धरेविशेषात् कर्मतपनसामर्थ्यस्याविशेषात् । किमुच्यते स्वाध्यायसदृश तपो नेति ? कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया सदृशमन्यत्तपो नैवास्तीत्यभिप्राय । तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् न वा ? आत्मपरिणामत्वे कथ कस्यचिद्बाह्यता ? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जरां कुर्यात् घटादिवदित्यत्रोच्यते–आत्मपरिणाम एव तप । कथ तर्हि बाह्यता ? बाह्या सद्धर्ममार्गाद्वे जना तैरप्यवगम्यत्वात् बाह्यमित्युच्यतेऽनशनादि बाह्यैर्वाचरणात् । सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तरा । तदवगम्यत्वा[1]-त्तैराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति सूरेरभिप्राय ॥

गा०—सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्यभेद सहित बारह प्रकारके तपमे स्वाध्यायके समान तपक्रिया नही है और न होगी ही ॥ १०६ ॥

टी०—**शंका**—बाह्य और अभ्यतर तपको छोडकर अन्य तप क्या है जो बाह्य अभ्यन्तर सहित बारह प्रकारका तप कहते हो ?

समाधान—सामान्य तप विशेषोके साथ रहता है यह कहनेका अभिप्राय है । यद्यपि बाह्य शब्दमे अल्प स्वर है फिर भी अभ्यन्तर शब्दके आदिमे अच् होनेसे तथा पूज्य होनेसे अभ्यन्तर शब्दको प्रथम स्थान दिया है । ससार और ससारके कारण, बन्ध और बन्धके कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय इन वस्तुओमे जो कुशल सर्वज्ञ है उनके द्वारा उपदिष्ट तपोमे स्वाध्यायके समान तप न है, न होगा और न था, इस प्रकार तीनो कालोमे स्वाध्यायके समान अन्य तपका अभाव कहा है ।

शंका स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है । दोनोमे ही कर्मको तपनेकी शक्ति समान है । फिर कैसे कहते है कि स्वाध्यायके समान तप नही है ?

समाधान—कर्मोकी निर्जरामे हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अन्य तप नही है इस अपेक्षासे उक्त कथन किया है ।

शंका—तप, क्या आत्माका परिणाम है अथवा नही है ? यदि आत्माका परिणाम तप है तो वह कैसे हुआ ? यदि तप आत्माका परिणाम नही है तो वह कर्मोकी निर्जरा नही कर सकता जैसे घट ।

समाधान—आत्माका परिणाम ही तप है । तब आप कहेगे कि वह बाह्य कैसे है ? समीचीन धर्ममार्गसे जो लोग बाह्य हैं वे भी उन्हे जानते है इसलिए अनशन आदिको बाह्य तप कहा है, क्योकि बाह्य लोग भी उन्हे करते है । जो सन्मार्गको जानते है वे अभ्यन्तर है । उनके द्वारा ज्ञात होनेसे अथवा उनके द्वारा पालन किये जानेसे अभ्यन्तर कहे जाते हैं । इस प्रकार तप

१ त्वात् घटादिवत्तै–आ० मु० ।

प्रतिज्ञामात्रेण स्वाध्यायस्यान्यतपोभ्योऽतिशयितता न सिद्धयतीति मन्यमानं प्रति अतिशयसाधनायाह—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥१०७॥
छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१०८॥

'**जं**' यत् । '**अण्णाणी**' सम्यग्ज्ञानरहित । '**कम्मं**' कर्म । '**खवेदि**' क्षपयति । '**भवसदसहस्सकोडीहिं**' भवशतसहस्रकोटिभि । '**त**' तत् कर्म । '**णाणी**' सम्यग्ज्ञानवान् । '**तिहि गुत्तो**' त्रिगुप्तियुक्त । '**खवेदि**' क्षपयति । '**अंतोमुहुत्तेण**' अन्तर्मुहूर्तमात्रेण । झटिति कर्मशातनसामर्थ्यं तपसोऽन्यस्य न विद्यते इत्ययमतिशय स्वाध्यायस्य ॥१०७॥

स्वाध्याये उद्यतो गुप्तिभावनाया प्रवृत्तो भवति । तत्र च वृत्तस्य रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तरगाथया कथ्यते—

सज्झायभावणाए य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ होदि ॥१०९॥

मनोवाक्कायव्यापारा कर्मादानहेतव सर्व एव व्यावर्तंते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तय. । कृताभिमतादियोगत्रयनिरोधश्च रत्नत्रय एव घटते इति सुखसाध्यता । अनतकालाभ्यस्ताशुभ-

---

बाह्य और अभ्यन्तर कहे गये है ऐसा आचार्यका अभिप्राय है ॥१०६॥

जो कहता है कि केवल कहने मात्रसे स्वाध्यायकी अन्य तपोसे श्रेष्ठता सिद्ध नही हो सकती, उसके प्रति श्रेष्ठता सिद्ध करते है—

गा०—सम्यग्ज्ञानसे रहित अज्ञानी जिस कर्मको लाख करोड भवोमे नष्ट करता है, उस कर्मको सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियोसे युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्तमात्रमे क्षय करता है ॥१०७॥

गा०—अज्ञानीके दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करनेसे जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानीके होती है ॥१०८॥

टी०—इतनी शीघ्रतासे कर्मोको काटनेकी शक्ति अन्य तपमे नही है, यह स्वाध्यायका अतिशय है ॥१०८॥

जो स्वाध्यायमें तत्पर होता है वह गुप्ति भावनामे प्रवृत्त होता है । और जो गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है वह रत्नत्रयकी आराधना सुख पूर्वक करता है वह आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—स्वाध्याय भावनासे सब गुप्तियाँ भावित होती है । और गुप्तियाकी भावनासे मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामोकी आराधनामे तत्पर होता है ॥१०९॥

टी०—स्वाध्याय करनेपर मन वचन कायके सब ही व्यापार, जो कर्मोके लानेमे कारण हैं चले जाते हैं । ऐसा होनेसे गुप्तियाँ भावित होती है । और तीनो योगोका निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रयमे ही लगता है । अत. रत्नत्रय सुख पूर्वक साध्य होता है, इसका भाव यह है कि

योगत्रयस्य कर्मोदयसहायस्य व्यावर्तनमतिदुष्करं स्वाध्यायभावनैव क्षमा कर्तुमिति भाव । **'सज्झायभावणाए य'** स्वाध्यायभावनया वा । **'भाविदा'** भाविता । **'होंति'** भवन्ति । **'सव्वगुत्तीओ'** सर्वगुप्तय । **'गुत्तीहिं'** गुप्तिभि । **'भाविदाहिं'** भाविताभि । **'मरणे'** मरणकाले । **'आराधगो'** रत्नत्रयपरिणामाराधनपर । **'होदि'** भवति । स्वाध्यायभावनारत परस्योपदेशको भवन् इतरोऽज्ञ कमुपकार परस्य सपादयेदभव्यस्य ।१०९ ॥

परस्योपदेशकत्वे किमस्यायातमित्यत्राह—

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती ।
होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स ॥११०॥

'आदपरसमुद्धारो' आत्मनः परस्य वा उद्धरणमुद्दिश्य व्यापृत स्वाध्याये स्वकर्माण्यपि साधयति परेषामप्युपयुक्तानां । **'आणा'** "**श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेश** " (वरागच० १।१३।) इत्याज्ञा सर्वविदा, सा परिपालिता भवतीति शेष । **'वच्छल्लदीवणा'** वात्सल्यप्रभावना परेषामुपदेशकत्वे कृता भवति । **'भत्ती'** भक्तिश्च कृता भवति जिनवचने तदभ्यासात् । **'होदि'** भवति । **'परदेसगत्ते'** परेषामुपदेष्टृकत्वे सति । **'अव्वोच्छित्ती य'** अव्युच्छित्तिश्च । **'तित्थस्स'** तिसु चिट्ठदित्ति तित्थ मोक्षमार्ग श्रुतं वा । श्रुतमपि रत्नत्रयनिरूपणे व्यापृतत्वात् तत्रस्थ भवति । ततोऽयं अर्थ —श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा **अव्युच्छित्तिरिति** ॥ ११०॥ सिक्खा गदा ॥

लिंगग्रहणानतर ज्ञानसपत्ति कार्या, ज्ञानसपदि वर्तमानेन विनयोऽनुष्ठातव्य । स च पचप्रकार इत्याह—

विणओ पुण पंचविहो णिद्दिट्ठो णाणदंसणचरित्ते ।
तवविणवो य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥१११॥

अनन्तकालसे जिन तीन अशुभयोगोका इस जीवने अभ्यास किया हुआ है और कर्मका उदय **जिसका सहायक है** उससे अलग होना अत्यन्त कठिन है । स्वाध्यायकी भावना ही इसे करनेमे **समर्थ है** ॥१०९॥

जो स्वाध्यायकी भावनामे लीन रहता है वह दूसरोको भी उपदेश करता है किन्तु जो **स्वयं अज्ञानी है** वह किसी अन्य भव्यका भी क्या उपकार कर सकता है ? ऐसी स्थितिमे परको **उपदेश** देनेपर इसे क्या लाभ है, यह कहते हैं—

गा०—टी०-अपने और दूसरोके उद्धारके उद्देशसे जो स्वाध्यायमे लगता है वह अपने भी **कर्मोंको** काटता है और उसमे उपयुक्त दूसरोके भी कर्मोंको काटता है । सर्वज्ञ भगवानकी जो **आज्ञा है** कि कल्याणके इच्छुक जिन शासनके प्रेमीको नियमसे धर्मोपदेश करना चाहिये, उसका **भी पालन होता है** । दूसरोको उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है । जिन वचनके **अभ्याससे जिन वचनमें** भक्ति प्रदर्शित होती है । दूसरोको उपदेश करनेपर मोक्षमार्ग **अथवा श्रुतरूप तीर्थकी** अव्युच्छित्ती—परम्पराका अविनाश होता है । श्रुत भी रत्नत्रयके कथनमे सलग्न **होनेसे तीर्थ है** । अतः स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करनेसे श्रुत और मोक्षमार्गका विच्छेद **नही होता** । वे सदा प्रवर्तित्त रहते हैं ॥११०॥

लिंग स्वीकार करनेके पश्चात् ज्ञानरूप सम्पदाका सचय करना चाहिये । और ज्ञान सम्पदाका संचय करते हुए विनय करनी चाहिये । उसके पाँच भेद हैं—उन्हे कहते है—

विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभं तद्विनयः । तथा चोक्तं—"**जह्मा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंग मोक्खो य**" (मूलाचार ७।८१) इति । '**पुण**'-पश्चात् जिनवचनाभ्यासोत्तरकाल । '**पंचविहो**' पंचप्रकारः । '**णिद्दिट्ठो**' निर्दिष्टः । '**णाणदंसणचरित्ते**' विषयलक्षणेयं सप्तमी । ज्ञानदर्शनचारित्रविषयः ।। '**तवविणओ य**' तपसि विनयश्च ।। '**चउत्थो**' चतुर्थः । '**चरमो**' अन्त्यः ।। '**उवयारिओ विणयो**' उपचारविनयश्चेति ।।

ज्ञानविनयभेदानाचष्टे—

काले विणये उवधाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अठ्ठविहो ।।११२।।

'**काले** स्वाध्यायवाचनकालाविह कालशब्देन गृह्येते । अन्यथा कालमन्तरेण कस्यचिदपि वृत्त्यभावात् कालग्रहणमनर्थकं स्यात् । भवतु नाम कालविशेष कालशब्दवाच्यः तथापि नासौ विनयो न कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्सर्वस्याकर्मवत्ता प्राप्नुयात् । '**काले**' इति सप्तम्यन्तं पदं । तेन वाक्यशेषपुरस्सरोऽयं **सूत्रार्थो** जायते । साध्याहारत्वात् सर्वसूत्राणां । काले अध्ययनमिति । परिवर्जनीयत्वेन निर्दिष्टं कालं सध्यापर्व-दिग्दाहोल्कापातादिकं परिहृत्याध्ययनं कर्म विनयति इति विणए इति प्रथमान्तः । विनयः श्रुतश्रुतधर-माहात्म्यस्तवनं श्रुतश्रुतधरभक्तिरिति यावत् ।

गा०—जिनवचनके अभ्यासके पश्चात् विनय पाँच प्रकारकी कही है। ज्ञानविनय दर्शन-विनय चारित्रविनय और चतुर्थ तपविनय और अन्तिम उपचार विनय है ।।१११।।

टी०—'विनयति' जो अशुभ कर्मको दूर करती है वह विनय है। कहा है—यत आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करती है अतः विनय है ।।१११।।

ज्ञान विनयके भेदोको कहते है—

गा०—काल, विनय, उपधान, बहुमान, तथा निह्नव, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि ये ज्ञानके विषयमे आठ प्रकारकी विनय है ।।११२।।

टी०—यहाँ काल शब्दसे स्वाध्यायकाल और वाचन काल ग्रहण किये जाते है। अन्यथा कालके बिना किसीका भी अस्तित्व संभव न होनेसे कालका ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा।

शंका—काल शब्दका वाच्य काल विशेष रहो। किन्तु काल विनय नही है क्योकि काल कर्मको नष्ट नही करता। यदि करे तो सब ही जीव कर्म रहित हो जायेगे ?

समाधान—'काले' यह सप्तमी विभक्तिसे युक्त पद है अतः इसके साथमे शेष वाक्य जोड़नेसे सूत्रार्थ होता है; क्योकि सभी सूत्र अध्याहार सहित होते है। उनमे ऊपरसे कुछ वाक्य जोडना होता है। अतः 'कालमे अध्ययन' यह उसका अर्थ होता है। सन्ध्या, पर्व, किसी, दिशामे आग लगना, उल्कापात आदि जो काल छोडने योग्य कहे हैं उन कालोको छोडकर किया गया अध्ययन कर्मको नष्ट करता है। 'विणए' यह प्रथमान्त शब्द है। श्रुत और श्रुतके धारकोके माहात्म्यका स्तवन अर्थात् श्रुत और श्रुतके धारकोकी भक्ति विनय है।

---

१ 'काले' प्राप्नुयात्' इत्येतद् प्रतिषु उत्थानिकारूपेण लिखितम् ।

'**उवहाणे**' अवग्रह. । यावदिदमनुयोगद्वार निष्ठामुपैति तावदिद मया न भोक्तव्य, इद अनशन **चतुर्थ**-षष्ठादिक करिष्यामीति सकल्पः । स च कर्म व्यपनयतीति विनय ।

'**बहुमाणे**' सन्मानं । शुचे कृताजलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनस. सादरमध्ययन । '**तह**' तथा ।

'**अणिण्हवणे**' अनिह्नवश्च निह्नवोऽपलाप । कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यान्यो गुरुरित्यभिधानमपलापः । **बंजण अत्थ तदुभये**' व्यजन शब्दप्रकाशन, अर्थ शब्दवाच्यः, तदुभयशब्देन व्यजनमर्थश्च निर्दिश्यते । **वजण** अत्यतदुभये व्यजन च अर्थश्च तदुभय चेति द्वद्वे कृते सर्वो द्वद्वो विभाषया एकवद् भवतीति एकवद्भावार्थस्य एकवचन कृत । अर्थशब्दस्य अजाद्यदतत्वादल्पाच्तरत्वाच्च पूर्वनिपातप्रसग इति चेन्न, सर्वतोऽभ्यर्हित पूर्वं **निपतति** इति व्यजनशब्द पूर्व प्रयुज्यते । कथमभ्यर्हित ? स्वय परप्रत्ययहेतुत्वात्स्वय च शब्दश्रुतादेवार्थया-थात्म्यमवैति पर चावबोधयति । अत्र च '**वंजणअत्थतदुभये सुद्धी**' इति शेष ।

तत्र व्यजनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषा तथैव पाठ. । शब्दश्रुतस्यापि व्यज्यते ज्ञायते अनेनेति विग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूल हि श्रुतज्ञान ।

उपधानका अर्थ अवग्रह है। जब तक आगमका यह अनुयोगद्वार समाप्त नही होता तब तक मै अमुक वस्तु नही खाऊँगा। या यह अनशन या चतुर्थ अथवा षष्ठम उपवास करूँगा इस प्रकारका संकल्प अवग्रह है। वह भी कर्मको दूर करता है अत विनय है।

बहुमाणका अर्थ सन्मान है। पवित्र हो, दोनो हाथ जोड और मनको निश्चल करके सादर अध्ययन बहुमान है।

निह्नव अपलापको कहते हैं। किसीके पासमे अध्ययन करके उससे अन्यको गुरु कहना है अपलाप है।

व्यंजन शब्दके प्रकाशनको कहते है। शब्दके वाच्यको अर्थ कहते है। 'तदुभय शब्दसे व्यंजन और अर्थ कहे जाते है। 'व्यजन और अर्थ और तदुभय' इस प्रकार द्वन्द्व समास करनेपर सब द्वन्द्वोमे विकल्पसे एकवद्भाव होता है इसलिये एक वचन किया है।

शंका—अर्थ शब्दके आदिमे अच् होनेसे और अल्प अच्वाला होनेसे पूर्व निपातका अर्थात् प्रथम रखनेका प्रसग आता है ?

समाधान—नही, क्योकि जो सबसे पूज्य होता है वह प्रथम रखा जाता है इसलिये व्यंजन शब्दका प्रयोग पहले किया है।

शका—व्यंजन सबसे पूज्य क्यो है ?

समाधान—व्यजन अर्थात् शब्द स्वय दूसरोको ज्ञान करानेमे हेतु है, और स्वय शब्द श्रुत से ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता है तथा दूसरोको ज्ञान कराता हैं।

यहाँ व्यंजन अर्थ और तदुभयके साथ शुद्धि शब्द लगाना चाहिये। गणधर आदिने जैसे बत्तीस दोषोसे रहित सूत्र रचे है उनका वैसा ही पाठ व्यजन शुद्धि है। 'व्यज्यते' अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है ऐसा विग्रह करनेपर ज्ञान शब्दसे शब्दश्रुतका भी ग्रहण होता है क्योंकि श्रुतज्ञानका मूल शब्द है।

अथ अर्थशब्देन किमुच्यते ? व्यंजनशब्दस्य सान्निध्यादर्थशब्द शब्दाभिधेये वर्तते, तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति गृह्यते। तस्य का शुद्धि ? [1]अविपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणाया अर्थाधारत्वान्निरूपणाया अवैपरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते। सूत्रार्थनिरूपणाया शब्दश्रुतत्वादविपरीतनिरूपणापि व्यजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः कदाचिदिति चेत्, न परकृत शब्दश्रुता[3]विपरीतपाठे। व्यंजनशुद्धिस्तदर्थनिरूपणाया अवैपरीत्य अर्थशुद्धि। प्रत्ययश्रुते तु अर्थयाथात्म्यप्रतिभासोऽर्थशुद्धि ॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यजनस्य अर्थस्य च शुद्धि.।

ननु व्यजनार्थशुद्धयो प्रतिपादितयो तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति तत कथमष्टविधता ? अत्रोच्यते-पुरुषभेदापेक्षयेयं निरूपणा—

कश्चिदविपरीत सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं पठति। तत्तथा न कार्यमिति व्यजनशुद्धिरुक्ता। अन्यस्तु सूत्रमविपरीत पठन्नपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तन्निराकृतयेऽर्थशुद्धिरुदाहृता। अपरस्तु सूत्र विपरीतमधीते सूत्रार्थं च कथयितुकामो विपरीत व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुपन्यस्ता। अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभासपरिकरोऽष्टविध कर्म विनयति व्यपनयति विनयशब्दवाच्यो भवतीति सूरेरभिप्राय ॥११२॥

व्यंजन शब्दकी समीपतासे अर्थशब्द शब्दके वाच्यको कहता है अतः अर्थसे सूत्रार्थका ग्रहण होता है। अविपरीत रूपसे सूत्रके अर्थकी निरूपणामें निरूपणाका आधार अर्थ होता है। अत. निरूपणाकी अविपरीतताको अर्थ शुद्धि कहते है अर्थात् सूत्रके अर्थका यथार्थ कथन अर्थ शुद्धि है।

शंका—सूत्रके अर्थकी निरूपणा शब्दश्रुत रूप होती है अतः अविपरीत निरूपणा भी व्यजन शुद्धि ही हुई, अर्थ शुद्धि कभी भी नही है ?

समाधान—नही, क्योकि दूसरेके द्वारा किया गया शब्दश्रुतका अविपरीत पाठ व्यंजन शुद्धि है। और उसके अर्थका अविपरीत निरूपण अर्थ शुद्धि है। किन्तु ज्ञानरूप श्रुतमे अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान अर्थ शुद्धि है। व्यजन और अर्थकी शुद्धिको तदुभय शुद्धि कहते है।

शंका—व्यजन शुद्धि और अर्थशुद्धिके कहनेपर तदुभय शुद्धि आ जाती है क्योकि उन दोनों शुद्धियोंके बिना तदुभय शुद्धि नही होती। तब आठ भेद कैसे रहे ?

समाधान—यह निरूपणा पुरुष भेदकी अपेक्षासे है। कोई व्यक्ति सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है किन्तु सूत्रको विपरीत पढता है। ऐसा नही करना चाहिये इसके लिए व्यंजन शुद्धि कही है। दूसरा व्यक्ति सूत्र तो ठीक पढता है किन्तु सूत्रका अर्थ अन्यथा कहता है उसके निराकरणके लिये अर्थ शुद्धि कही। तीसरा व्यक्ति सूत्रको ठीक नही पढ़ता और सूत्रका अर्थ भी विपरीत करता है। इन दोनोंको दूर करनेके लिये उभय शुद्धि कही है। यह आठ प्रकारका ज्ञानाभ्यासका परिकर आठ प्रकारके कर्मोंका विनयन करता है उन्हे दूर करता है इसलिये उसे विनय शब्दसे कहते है यह आचार्यका अभिप्राय है ॥११२॥

---

१ कस्य मा–आ० मु०। २ विपरीत–आ० मु०। ३ श्रुतवि०–अ०।

दर्शनविनयसूचनपरोत्तरगाथा—

उवगूहणा'दिया पुव्वुत्ता तह भत्तिया'दिया य गुणा ।
संकादिवज्जणं पि णेओ सम्मत्तविणओ सो ॥११३॥

उवगूहणादिगा उपबृंहणादिका । उपबृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना चेत्येते । **'पुव्वुत्ता'** पूर्वाचार्यैरुक्ताः पूर्वोक्ता । अस्मात् सूत्रात्पूर्वेण व सूत्रेण **''उवगूहणठिदिकरण वच्छल्लपभावणा भणिदा''** इत्यनेनोक्ताः पूर्वमुक्ता । पूर्वोक्तो वा **सम्मत्तविणओ** सम्यक्त्वविनय इति सबध्नीय । **'तध भत्तियादिगा य गुणा'** तथा भक्त्यादिकाश्च गुणा' विनयस्तथा ते तत्प्रकारेण अवस्थिता इति । अर्हदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत् । **'संकादिवज्जणं पि य'** शकादिवर्जन च । चशब्द' पादपूरण । **'णेओ'** ज्ञेय' ॥ **'सम्मत्तविणओ'** **सम्यक्त्वविनय** इति ॥ उपबृहणादीना भक्त्यादीना च गुणाना बहुत्वात् तेषामेव च विनयत्वात् सम्मत्तविणया इति वाच्यमिति चेत्, विनयसामान्यापेक्षया तस्यैकत्वादेकवचनेन पदसस्कार कृतो न निवर्तते । न च पदातर-वाच्यापेक्षया बहुत्वमस्तीत्येतावता अप्रातिपदिकात् सुबुत्पद्यते । तथा च प्रयोग वृक्षा वनमिति ॥११३॥

चारित्रविनयनिरूपणापरा गाथा—

इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥११४॥

आगे **दर्शनविनयका** कथन करते है—

गा०—पूर्वोक्त उपगूहण या उपवृहण आदि तथा भक्ति आदि गुण, शका आदिका त्याग यह **सम्यक्त्वविनय जानो** ॥११३॥

टी०—पूर्वोक्त अर्थात् पूर्वाचार्योके द्वारा कहे गये, या इससे पहलेके गाथा सूत्र 'उवगूहण ठिदिकरणं **वच्छल्ल** पभावणा भणिदा' के द्वारा कहे गये उपवृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और **प्रभावना ये गुण** सम्यक्त्वविनय है । तथा अर्हन्त आदि विषयक भक्ति आदि गुण सम्यक्त्वविनय है **और शंका आदि** दोषोका त्याग सम्यक्त्व विनय है ।

शंका—उपवृहण आदि और भक्ति आदि गुण बहुत हैं और वे गुण ही सम्यक्त्वकी विनय रूप है **। इस लिये गाथा**में 'सम्मत्तविणया' इस प्रकार बहुवचनका प्रयोग करना चाहिये ?

समाधान—विनय सामान्यकी अपेक्षा सम्यक्त्व विनय एक है अत' एक वचन पदका **प्रयोग किया है।** विनय पदके वाच्य बहुत होनेसे बहुपना सभव नही है क्योकि 'वृक्षा वनम्' ऐसा **प्रयोग होता है अर्थात्** वृक्ष बहुत होनेसे 'वन' मे बहुवचनका प्रयोग जैसे नही हुआ वैसे ही यहाँ **भी जानना ॥११३॥**

अब चारित्र विनयका कथन करते है—

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपसे आत्माकी परिणति न होना, और गुप्तियाँ और समितियां, यह संक्षेपसे चारित्र विनय ज्ञातव्य है ॥११४॥

---

१ णमादीया अ० । २ भत्तियादि गुणा अ० ।

इंदियकसायपणिधाणं पि य । इंद्र आत्मा तस्य लिंगमिन्द्रियं । यत्करण तत्कर्तृमद्यथा—परशु । करणं च चक्षुरादिक । तेनास्य कर्त्रा केनचिद्भाव्यमिति । तच्च द्विविधं द्रव्येंद्रिय भावेन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रिय नाम निर्वृत्युपकरणे । मसूरिकादिसस्थानो य शरीरावयव कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृति । उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनमिंद्रियमनेनेत्युपकरण अक्षिपत्रशुक्लकृष्णातारकादिक । भावेद्रिय नाम ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषोपलब्धि., द्रव्येद्रियनिमित्तरूपाद्युपलब्धिश्च । इह इद्रियशब्देन मनोज्ञामनोज्ञरूपादिसान्निध्ये रागकोपानुगरूपादिनिर्भासाः प्रतीतयो गृहीताः ।

[1]कषयंति हिंसति आत्मक्षेत्रमिति कषायाः । अथवा **तरूणां** [2]वल्कलरस' कषाय , कषाय इव कषाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ वर्तते कषायशब्द उपमार्थ । यथा कषायो वस्त्रादे शौक्ल्यशुद्धिमपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वदात्मनो ज्ञानदर्शनशुद्धि विनाशयति, आत्मावलग्नश्च दु खेनापोह्यते इति । यथा वा पटादे स्थैर्यं करोति कषायस्तद्वदेव कर्मणा स्थितिप्रकर्षमात्मनि निदधाति क्रोधादि । इन्द्रियाणि च कषायाश्च इन्द्रियकषाया । इन्द्रियकषाययो अप्रणिधान अनाक्षेप आत्मनो व्यावर्णितेद्रियकषायापरिणति । '**गुत्ती ओ चेव**' गुप्तयश्च । **संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्ति** ।

ससारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनस्य कारण कर्म ज्ञानावरणादि । तस्मात्ससारकारणादात्मनो

टी०—इन्द्र आत्माको कहते है । उसका लिंग इन्द्रिय है । जो करण होता है वह कर्तावाला है जैसे परशु । चक्षु आदि करण है । अत उनका कोई कर्ता होना चाहिये। वह इन्द्रिय दो प्रकार की है—भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । उनमेसे निर्वृति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय है । कर्मकेद्वारा जो मसूर आदिके आकाररूप शरीरका अवयव रचा जाता है वह निर्वृति है। और जिसके द्वारा ज्ञानकी साधन इन्द्रिय उपकृत होती है वह उपकरण है । जैसे आँखके पलक, आँखकी काली सफेद तारिका । ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषकी प्राप्तिको भावेन्द्रिय कहते है। और द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे जो रूपादिका बोध होता है वह भी भावेन्द्रिय है । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादिके प्राप्त होनेपर जो राग और कोपको लिये हुए रूपादिकी प्रतीति होती है उनको ग्रहण किया है ।

जो 'कषयन्ति' आत्माका घात करती है वे कषाय है। अथवा वृक्षोकी छालके रसको कषाय कहते है। कषायके समान जो है वह कषाय है। इस उपमाके द्वारा क्रोधादिको कषाय शब्दसे कहते है। यह उपमा रूप अर्थ है। जैसे कषाय—वृक्षकी छालका रस यदि वस्त्रपर लग जाता है तो उसकी सफेदीको हर लेता है और उसे दूर करना अशक्य होता है। उसी तरह क्रोधादि आत्माकी ज्ञान दर्शन रूप शुद्धिको नष्ट कर देता है। और आत्मासे सम्बद्ध होनेपर बडे कष्टसे छूटता है। तथा जैसे कषाय वस्त्रादिको टिकाऊ करती है वैसे ही क्रोधादि आत्मामे कर्मो की स्थितिको बढाते हैं। इन इन्द्रिय और कषायमे अप्रणिधान अर्थात् आत्माका कहे गये इन्द्रिय और कषाय रूपसे परिणत न होना चारित्र विनय है।

ससारके कारणोसे आत्माके गोपनको गुप्ति कहते हैं। द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन भाव परिवर्तन और भव परिवर्तन रूप ससारके कारण ज्ञानावरण आदि कर्म है।

---

१ का ति मु० । २. वाल्क–आ० मु० ।

गोपन रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते। भावे क्ति, अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिः। गोपयतीति कर्तृसाधनो वा क्तिन्। शब्दार्थव्यवस्थेयम्। किं स्वरूप तस्या इति चेत्। सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। कायवाङ्मन कर्मणा प्राकाम्याभावो निग्रह, यथेष्ट[1]चारिताभावो गुप्ति। सम्यगिति विशेषणात्पूजापुरस्सरा क्रिया संयतो महानयमिति यशश्चानपेक्ष्य पारलौकिकमिंदियसुख वा क्रियमाणा गुप्तिरिति कथ्यते। इति सूरयो व्यवस्थिता। रागकोपाभ्या अनुपप्लुता नोइन्द्रियमति मनोगुप्तिरिति ब्रूमहे। एव चाय वक्ष्यति सूत्रकारो 'जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति' मिति। अनृतपरुषकर्कशमिथ्यात्वासयमनिमित्तवचनाना अवक्तृता वाग्गुप्ति। अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितभूभागेऽचक्रमण, द्रव्यातरादाननिक्षेपशयनासनक्रियाणां अकरण कायगुप्ति कायोत्सर्गो वा।

'समिदीओ' समितय। प्राणिपीडापरिहारादरवत सम्यगयन प्रवृत्ति समिति। सम्यग्विशेषणाज्जीवनिकायस्वरूपज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा प्रवृत्तिर्गृहीता। ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा पचसमितय.। ईर्यादिसमितीना वाक्कायगुप्तिभ्या अविशेषस्ततो भेदेनोपादानमनर्थकं, प्राणिपीडाकारिण्याः कायक्रियाया निवृत्ति. कायगुप्ति, ईर्यादिसमितयश्च तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिरूपा। अत्रोच्यते—निवृत्तिरूपा गुप्तय प्रवृत्तिरूपा समितय इति भेदे विशिष्टा गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपणोत्सर्गक्रिया समितय इति उच्यन्ते। 'एसो'

उन ससारके कारणोसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा गुप्ति कही जाती है। यहाँ भाव साधनमे क्ति प्रत्यय हुआ है। अथवा अपादान साधन कर लेना। जिससे गोपन हो वह गुप्ति है। अथवा जो रक्षा करता है वह गुप्ति है इस कर्तृसाधनमें क्तिन् प्रत्यय करनेसे गुप्ति शब्द बनता है, यह शब्दार्थ व्यवस्था है। गुप्तिका स्वरूप दूसरा है योगके सम्यक् निग्रहको गुप्ति कहते है। काय, वचन और मनकी क्रियाओकी स्वेच्छारिताके अभावको निग्रह कहते हैं। स्वेच्छाचारिताका अभाव गुप्ति है। सम्यक् विशेषणसे पूजा पूर्वक क्रियाकी और यह महान संयमी है इस यशकी अपेक्षाके बिना तथा पारलौकिक इन्द्रिय सुखकी इच्छाके बिना जो योग निग्रह किया जाता है वह गुप्ति कही जाती है। ऐसा आचार्योंने कहा है।

मनका राग और क्रोध आदिसे अप्रभावित होना मनोगुप्ति है। आगे ग्रन्थकार कहेगे—मनका रागादिसे निवृत्त होना मनोगुप्ति है। असत्य, कठोर और कर्कश वचनोको तथा मिथ्यात्व और असंयममे निमित्त वचनोको न बोलना वचनगुप्ति है। अप्रमादी होनेसे बिना देखी और बिना बुहारी हुई भूमिमे गमन न करना तथा किसी वस्तुका उठाना रखना, सोना बैठना आदि क्रियाओंका न करना कायगुप्ति है। अथवा कायसे ममत्वका त्याग कायगुप्ति है।

प्राणियोको पीडा न हो, इस भावसे सम्यक् रूपसे प्रवृत्ति करना समिति है। सम्यक् विशेषणसे जीवके समूहोके स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक प्रवृत्ति ली गई है। समिति पाँच हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग।

शंका—ईर्या आदि समितियाँ वचन गुप्ति और काय गुप्तिसे भिन्न नहीं है। अतः उनका अलगसे कथन व्यर्थ है, क्योकि प्राणियोको पीडा पहुँचाने वाली शारीरिक क्रियासे निवृत्तिको काय गुप्ति कहते हैं। ईर्या आदि समितियाँ भी उसी प्रकारकी कायक्रियाकी निवृत्ति रूप है।

समाधान—गुप्तियाँ निवृत्ति रूप है और समितियाँ प्रवृत्ति रूप हैं, यह इन दोनोमे भेद है।

१ यथोक्त–आ०।

एष । '**चरित्तविणओ**' चारित्रविनयः । '**समासदो**' संक्षेपतः । '**णादव्वो**' ज्ञातव्य । '**होदि**' भवति ।

इंद्रियकषायाप्रणिधान मनोगुप्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते ? सत्यम् । वाक्कायगुप्त्योरेव गुत्तीओ इत्यनेन परिग्रह । अथवा रागद्वेषमिथ्यात्वाद्यशुभपरिणामविरहो मनोगुप्ति सामान्यभूता । इंद्रियकषायाप्रणिधानं तद्विशेष । सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदान्न पौनरुक्त्यं । मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि इंद्रियकषायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादान चारित्रार्थिनोऽवश्यं परिहार्यत्वख्यापनार्थं वा ।

ननु त्रयोदशविध चारित्रं पंच महाव्रतानि, पच समितय., तिस्रो गुप्तय इति । तत समितीना गुप्तीना चारित्रत्वे चारित्रस्य विनय इति कथ भेदेनाभिधानं ? व्रतान्येवात्र चारित्रशब्देनोच्यते । तेषा परिकरत्वेनावस्थिता गुप्तय समितयश्चेति सूत्रकारस्याभिप्राय. । तथा चोक्तमन्यै 'कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्यश्च विरति' अहिंसाभेदेन पचप्रकारा गुप्तिसमितिविस्तार[1] संक्षेपो भवति । कश्चारित्रविनयव्यास[2] इति चेत् पचविंशतिभावना । '**तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पच पचेति**' (त० सू० ७।९) निरूपिता ॥११४॥

गमन, भाषण, भोजन, ग्रहणनिक्षेप और मल मूत्र त्याग रूप क्रियाको समिति कहते है। ये सब सक्षेपसे चारित्र विनय है ।

शका—इन्द्रिय और कषायमे उपयोग न लगाना तो मनोगुप्ति ही है, उसे पृथक् क्यो कहा ?

समाधान—आपका कहना सत्य है। यहाँ 'गुत्तीओ' से वचन गुप्ति और कायगुप्तिका ही ग्रहण किया है ।

अथवा रागद्वेष मिथ्यात्व आदि अशुभ परिणामोका अभाव सामान्य मनोगुप्ति है। और इन्द्रिय तथा कषायमे उपयोगका न होना विशेष मनोगुप्ति है। और सामान्य तथा विशेषमे कथंचित् भेद होनेसे पुनरुक्तता दोष नही है। अथवा इन्द्रिय और कषायका अप्रणिधान यद्यपि मनोगुप्तिमे आ जाता है फिर भी उसका पृथक् ग्रहण चारित्रके इच्छुकोंको उसका त्याग अवश्य करना चाहिये, यह बतलानेके लिये किया है ।

शंका—चारित्रके तेरह भेद है—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति। अत समिति और गुप्ति चारित्र है। तब इन्हे चारित्रकी विनयके रूपमें भिन्न क्यों कहा है ?

समाधान—यहाँ चारित्र शब्दसे व्रत ही कहे गये है। गुप्ति और समितियाँ उन व्रतोंके परिकर रूपसे स्थित हैं यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। अन्य आचार्योंने भी कहा है—कर्मोको लानेमे निमित्त क्रियाओसे विरति अहिंसा आदिके भेदसे पाँच प्रकारकी हैं। गुप्ति समिति उनका विस्तार है ।

शका—चारित्र विनयका विस्तार क्या है ?

समाधान—पाँच व्रतोकी पच्चीस भावना विस्तार है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—उन व्रतो-की स्थिरताके लिये पाँच-पाँच भावना है ॥११४॥

---

१ स्तारसं-आ० मु० । २ यन्यास-आ० मु० ।

पणिधाणं पि य दुविहं इंदिय णोइंदियं च बोधव्वं ।
सद्दादि इंदियं पुण कोधाईयं भवे इदरं ॥११५॥

सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इयरे य ।
जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधाणं ॥११६॥

णोइंदियपणिधाणं कोधो माणो तधेव माया य ।
लोभो य णोकसाया मणपणिधाणं तु त वज्जे ॥११७॥

तपोनिरूपणार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सद्धाए ।
आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ ॥११८॥

सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यामुत्तरकालभावित्वात्सयम उत्तरगुणशब्देनोच्यते । न हि श्रद्धान ज्ञान चातरेण सयम प्रवर्तते । अजानत श्रद्धानरहितस्य वाऽसयमपरिहारो न सभाव्यते । तेनायमर्थ —सयमोद्योग[1] इति तपसो निर्जराहेतुता सति सयमे, नान्यथेति तपस सयम परिकर । तथा चाहु '**सजमहीण च तव जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ**' इति । '**सम्मं**' सम्यक् । सक्लेश दैन्य चातरेण '**अधियासणं**' सहन क्षुधादे ।

गा०—प्रणिधानके भी दो भेद है इन्द्रिय और नोइन्द्रिय । शब्द आदि इन्द्रिय और क्रोधादिक नोइन्द्रिय प्रणिधान है ऐसा जानना ॥ ११५ ॥

गा०—मनोहर और अमनोहर शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शमे जो राग द्वेष होता है वह पाँच प्रकारका इन्द्रिय प्रणिधान होता है ॥ ११६ ॥

गा०—नो इन्द्रिय प्रणिधान क्रोध मान तथा माया लोभ और नोकषाय है । ये तो मन प्रणिधान छोडना चाहिये[2] ॥ ११७ ॥

तपका कथन करनेके लिये आगे दो गाथा कहते है—

गा०—उत्तर गुण अर्थात् संयममे उद्यम सम्यक् रीतिसे भूख प्यास आदिको सहन करना, तपमे अनुराग पहले कहे गये छह आवश्यकोकी न्यूनता न होना आधिक्य न होना ॥ ११८ ॥

टी०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके उत्तर कालमे होनेसे सयमको उत्तरगुण कहते हैं। श्रद्धान और ज्ञानके बिना सयम नही होता । अथवा जो जानता नही है और न जिसे श्रद्धा है वह असंयमका त्याग नही कर सकता । इससे यह अर्थ हुआ कि सयमके होने पर तप निर्जराका कारण होता है, अन्यथा नही होता । इन प्रकार संयम तपका परिकर है । कहा भी है—'जो

---

१ द्योततपसो–आ० मु० । २. गा० ११४, ११५, ११६ पर टीका नही है । आशाधरजीने अपनी टीकामें कहा हैं कि टीकाकार इन्हे स्वीकार नही करता ।–सं० ।

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेषु क्षुत्तृड्जनितवेदनया अव्याकुलता, कथमिदमुद्वहामीति वा अदीनता, भक्तपानयोर्मनसोऽप्रणिधानं, अद्मि पिबामीति वा भक्तकथापरित्यागः, तत्कथनानादर इतस्ततश्चापरिवर्तनं क्षुधा तृषा वा बाधितोऽस्मीति एवं वचन सहनं, अथवा भोजनदिवसे याचाया अकरणं, श्रातोऽम्युपवासेन रूक्ष भोक्तुं न शक्नोमि क्षीरघृतशर्करादिकं दातव्यमिति वचनेन याचाया अकरणं, मनसा वा यदीदं लभ्यते भद्रं स्यात् इति वाऽप्रार्थना, कायसंज्ञया वा क्षीरादीनामप्रदर्शनं क्षीरादिदाने वाऽप्रहसितायमानमुखता, शीतरूक्षाद्याहारदाने वा अकुपिताननता, अलाभेऽपि लाभादलाभो मे परं तपोवृद्धिरिति सकल्पेनालाभपरीषहसहनं वा, अथवा लौकिकानां धर्मस्थानां वा सत्कारपुरस्काराकरणे तपसि महति वर्तमानोऽप्यहमेतैषां न पूजित इति कोपसंक्लेशाकरण । सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनं वा ।

रसपरित्यागं कृतवत रसवदाहारकथादर्शनोपजायमानतदादरनिवारणं रसपरित्यागजातशरीरसतापक्षमा वा सहनं । आतापयोगधारिणो घर्माद्युपनिपाते असक्लिष्टचित्तता तत्प्रतीकारवस्तुषु अनादरश्च सहनं । जनविविक्तदेशे वसत पिशाचव्यालमृगाद्यवलोकनादिकृतभीतिव्युदासोऽरतिविजयश्च सहनं । प्रायश्चित्तमाचरतोऽपि महदिदं दत्तं गुरुणा बलाबलं ममानिरूप्येति कोपाकरणं, प्रायश्चित्तकरणजनितश्रमेण वा असक्लिष्टतासहनं । ज्ञानविनये वर्तमानस्य क्षेत्रकालशुद्धिकरणे मामेव नियोजयति इति कोपनिरासो वा, तद्गतश्रमे असक्लेशश्च सहनं । दर्शनविनये अभ्युद्यतस्य सन्मार्गात्प्रच्यवमानस्य स्थिरीकरणे महानायासः,

---

सयमके बिना तप करता है वह निरर्थक करता है।' 'सम्मं' का अर्थ सम्यक् है अर्थात् सक्लेश और दीनताके बिना भूख आदिका सहन करना। अनशन, अवमौदर्य और वृत्ति परिसख्यान नामक तपोंमें भूख प्याससे होने वाली वेदनासे व्याकुल न होना कि कैसे इसे सहूँगा। अथवा अदीनता, खान-पानमे मनको न लगाना, मै खाता हूँ पीता हूँ इस रूपमें भोजनकी कथा न करना, उसकी कथामे आदर भाव न रखना, इधर उधर नही घूमना, मै भूख या प्याससे पीडित हूँ इस प्रकारके वचनको सहन करना, अथवा भोजनके दिन माँगना नही, मै उपवासमें कमजोर हो गया हूँ, रूखा भोजन नही कर सकता, दूध घी शक्कर आदि देना चाहिये। इस प्रकारके वचनसे याचना नही करना अथवा यदि अमुक वस्तु प्राप्त हो तो उत्तम है ऐसी मनसे प्रार्थना न करना अथवा शरीरके सकेतसे दूध आदिको न दिखलाना, अथवा दाता दूध आदि दे तो मुखको प्रफुल्लित न करना और ठडा रूखा आहारादि दे तो मुख पर क्रोध न लाना अथवा भोजन न मिलने पर लाभसे अलाभमे मेरे तपकी परम वृद्धि है ऐसा संकल्प करके अलाभ परीषहको सहना, अथवा लौकिक या धर्मात्मा पुरुषोके द्वारा आदर सम्मान न करने पर 'मै महान् तपस्वी हूँ फिर भी इन्होंने मेरी पूजा नहीं की' इस प्रकारका कोप और सक्लेश न करना, अथवा सत्कार पुरस्कार परीषहको सहना।

यदि रसका त्याग किया है तो रस युक्त आहारकी कथा अथवा रस युक्त आहारको देखनेसे उसके प्रति उत्पन्न हुए आदर भावका निवारण करना, रसको त्यागनेसे शरीरमे उत्पन्न हुए सतापको सहना। यदि आताप योग धारण किया है तो धूप आदि आने पर चित्तमे संक्लेश न करना, और उसका प्रतीकार करने वाली वस्तुओमे आदर भाव न करना, मनुष्योसे शून्य देशमे निवास करते हुए पिशाच, सर्प, मृग आदिको देखने आदिसे उत्पन्न हुए भयको रोकना तथा अरति परीषहको जीतना। प्रायश्चित करते हुए भी 'गुरुने मुझे मेरा बलाबल न देखकर महान् प्रायश्चित दे दिया' इस प्रकार कोप न करना अथवा प्रायश्चित करनेसे उत्पन्न हुए श्रमसे मनमे सक्लेश न करना। ज्ञान विनय करते समय 'क्षेत्र शुद्धि काल शुद्धि करनेमे मुझे ही लगाते है' इस

स्वचेतसोपि ऋजुतापादनमतिदुष्करं किमंग पुनः परस्येत्यसंकल्प सहनं । पुरस्कृतचारित्रविनयस्य ईर्यादिसमितयो दुष्कराः । जीवनिकायाकुले जगति कियंत परिहर्तुं शक्यते ? निपुणतरं प्रतिपदन्यास जीवावलोकने तत्परिहृतौ च कियद्गन्तु शक्यते ? तथा प्रवर्तमानं बाधन्तेतरामातपादय । नवकोटिपरिशुद्धा भिक्षा क्व लप्स्यते, खलेषु कृतज्ञता वेति मनसोऽप्यप्रणिधान चारित्रविनय । तपोविनयमुपगतस्यानशनादितपोऽनुष्ठानातिशयस्य मम स्वल्पमसंयमं अप्रासुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जात तप एवोन्मूलयतीति असंकल्पं सहन । असकृदभ्युत्थान, अनुगमन प्रेषणकरण, उपकरणशोधनादिक वा क कर्तुं शक्नोति प्रतिदिनमित्यनभिसंधिरुपचारविनयसहनं ।

'**सद्दा य**' श्रद्धा च । क्व तपसि । तपसा सपाद्यमुपकारमात्मनोऽवलोक्य बुद्ध्या तपो हि प्रत्यग्रं कर्म संवृणोति, चिरार्जिताना कर्मणा निर्जरामापादयति, इद्रचक्रलाछनादिसपदोऽप्यानयति । समीचीनस्य तपसोऽलाभादेव जननमरणावर्तसहन, असुखाकुले भवाभोधौ पर्यटन ममासीद् भविष्यति च तथैव इति तपस्यनुराग कार्यं ।

'**आवासगाणं**' आवश्यकाना । ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासग इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवाय शब्दो वर्तते । व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवश परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्य कर्मेति । यथा आशु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न व्याघ्रादौ वर्तते अश्वशब्दोऽपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग एव । एवमिहापि अवश्य यत्किचन कर्म इतस्तत परावृत्तिराक्रदन, पूत्करण वा न तद्गृह्यते अथवा आवास-

प्रकारका कोप न करना अथवा उससे होने वाले श्रमसे संक्लेश भाव न करना, उसे सहना । दर्शन विनय करते हुए 'सन्मार्गसे गिरते हुएको स्थिर करना बडा कठिन है अपने चित्तको भी सरल करना कठिन है फिर दूसरेका तो कहना क्या । इस प्रकार संकल्प न करना उसे सहना । चारित्र विनय करने वालेको, 'ईर्या आदि समितियाँ दुष्कर हैं, यह जगत जीवोसे भरा है कहाँ तक उन्हे बचाया जा सकता है ? अत्यन्त कुशलता पूर्वक पदको रखते हुए जीवोंको देखकर उन्हे बचाते हुए चलनेमे कौन समर्थ है ? इस प्रकारसे चलने पर आतप आदिकी अत्यन्त बाधा होती है । दुर्जनोमे कृतज्ञताकी तरह नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा कहाँ मिलती है' इस प्रकार मनमे न सोचना चारित्र विनय है । तप विनय करने वालेके 'अनशन आदि तपके अनुष्ठानमे लगे मेरे अप्रासुक जल पीने अथवा अशुद्ध भिक्षाके ग्रहणसे हुआ थोडा सा असयम तपसे नष्ट हो जाता है' इस प्रकारका संकल्प न करना सहना है । 'बार-बार उठना, पीछे जाना, आज्ञा पालना, उपकरण आदि शुद्धि, कौन प्रतिदिन कर सकता है' इस प्रकारका संकल्प न करना उपचार विनय सहन है । तप नवीन कर्मोंका आना रोकता है । चिरकालसे सचित कर्मोंकी निर्जरा करता है । इन्द्र, चक्रवर्ती आदिको सपदा भी लाता है । सम्यक् तपके अलाभसे ही जन्म मरणके चक्र और दु खसे भरे ससार समुद्रमे भ्रमण मुझे करना पडा है तथा करना पडेगा, इस प्रकार तपके द्वारा होने वाले उपकारोको अपनेमे देखकर तपमे अनुराग करना चाहिये ।

न वश, अवश और अवशका कर्म आवश्यक है । ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी सामायिक आदिको ही आवश्यक कहते हैं । व्याधि, दुर्बलता आदिसे पीडितको भी अवश या परवश कहते हैं, और उसके द्वारा किया गया कर्म आवश्यक है । किन्तु जैसे जो 'आशु' शीघ्र चलता है वह अश्व (घोडा) हैं ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी व्याघ्र आदिको अश्व नही कहते, बल्कि प्रसिद्धिवश घोड़ेको ही अश्व कहते हैं । वैसे ही यहाँ भी जो अवश्य कर्म हैं—यहाँ-वहाँ घूमना, रोना, चिल्लाना

काना इत्ययमर्थ । आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो, वंदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्ग इत्यमीषा ।

तत्र सामायिकं नाम चतुर्विध नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन । निमित्तनिरपेक्षा कस्यचिज्जीवादेरध्याहिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीर यत्तदाकार-सादृश्यात्तदेवेदमिति स्थाप्यते यच्चित्रपुस्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्रव्यसामायिक नाम 'श्रुतस्याद्य सामायिकं नाम ग्रथ , तदर्थज्ञो य सामायिकाख्यात्मपरिणामप्रत्यवभास प्रत्ययरूपेण साप्रतमपरिणत आत्मा । नो आगमद्रव्यसामायिक नाम यत्त्रिविकल्पं ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदेन । सामायिकज्ञस्य यच्छरीर तदपि सामायिकज्ञानकारण, आत्मेव शरीरमतरेण तस्याभावात् । यस्य हि भावाभावौ नियोगतो यदनुकरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । तत' प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगोचरं सामायिकशब्द-वाच्य भवति । चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः सोऽभि-धीयते भाविसामायिकशब्देन । चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपशमावस्थ नो आगमद्रव्यतद्व्यतिरिक्त-कर्म सामायिकमिति ग्राह्य । आगमभावसामायिकं नाम प्रत्ययसामायिक । नो आगमभावसामायिक नाम सर्व-सावद्ययोगनिवृत्तिपरिणाम । अयमिह गृहीत' ।

चतुर्विंशतिमख्याना तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्ताना वृषभादीना जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा

आदि, उन्हे आवश्यक नही कहते । अथवा 'आवासयाण' का अर्थ आवासक है। जो आत्मामें रत्नत्रयका आवास कराते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ।

उनमेंसे नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे सामायिकके चार भेद है। निमित्तकी अपेक्षाके बिना किसी जीव आदिका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक है। सर्व सावद्यके त्याग रूप परिणाम वाले आत्माके द्वारा एकीभूत शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है उस आकारके समान होनेसे 'यह वही है' इस प्रकार जो चित्र, पुस्त आदिमे स्थापना की जाती है वह स्थापना सामायिक है। द्वादशाग श्रुतका आद्य ग्रन्थका नाम सामायिक है। उसके अर्थका जो ज्ञाता है जिसे सामायिक नामक आत्म परिणामका बोध है किन्तु जो वर्तमानमे उस ज्ञानरूपसे परिणत नहीं है अर्थात् उसका उपयोग उसमें नही है वह आगम द्रव्य सामायिक है। नो आगम द्रव्य सामायिक ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे तीन प्रकार है। सामायिकके ज्ञाता का जो शरीर है वह भी सामायिकके ज्ञानमे कारण है क्योंकि आत्माकी तरह शरीरके बिना भी ज्ञान नही होता। जिसके होने पर जो नियमसे होता है और अभावमे जो नही होता, वह उसका कारण है। ऐसी वस्तुओंमे कार्य कारणभावकी व्यवस्था है। अत. ज्ञान सामायिकका कारण होनेसे त्रिकालवर्ती शरीर सामायिक शब्दसे कहा जाता है। चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशम विशेषकी सहायतासे जो आत्मा भविष्यमे सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप परिणाम वाला होगा उसे भावि सामा-यिक शब्दसे कहा जाता है। जो चारित्र मोहनीय नामक कर्म क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त है वह नोआगमद्रव्य तद्व्यतिरिक्त सामायिक है। प्रत्यय रूप सामयिक आगमभाव सामायिक है। और सर्वसावद्य योगके त्यागरूप परिणाम नोआगमभाव सामायिक है। यहाँ इसीको ग्रहण किया है।

इस भारतमें हुए वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोके जिनवरत्व आदि गुणोके ज्ञान और श्रद्धान

चतुर्विंशतिस्तवनपठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते ।

वंदना नाम रत्नत्रयसमन्विताना यतीना आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशयं विज्ञाय श्रद्धापुरःसरेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्तिः । प्रत्येकं तयोरनेकभेदता कर्तव्य केन, कस्य, कदा, कस्मिन्कतिवारानिति । अभ्युत्थान केनोपदिष्टं, किंवा फलमुद्दिश्य कर्तव्य ? पूर्वमेव विनय कर्तव्यतयोपदिष्ट सर्वैर्जिनै कर्मभूमिषु सदा मानकषायभगः । गुरुजने बहुमान, तीर्थकराणां आज्ञासपादन श्रुतधर्माराधनाक्रिया भावशुद्धिरार्जवं, तुष्टिं च फलमपेक्ष्य[1] केन तत् क्रियते । अमानिना, सविग्नेन, अनलसेनाशठेनानुग्रहकारणार्थिना, परगुणप्रकाशनोद्यतेन सघवत्सलेन । असयतस्य सयतासयतस्य वा नाभ्युत्थान कुर्यात्, पार्श्वस्थपचकस्य वा । रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यताना अभ्युत्थान कर्तव्य कुर्यात् । सुखशीलजनेऽभ्युत्थान कर्मबन्धनिमित्त प्रमादस्यापनोबृहणकरणात् । सविग्नजन प्रति क्रियमाणमभ्युत्थान निर्जरानिमित्त विरतिस्यापनोपबृहणकरणात् । वाचनामनुयोग वा शिक्षयत अवमरत्नत्रयस्याम्युत्थातव्य तन्मूलेऽध्ययन कुर्वद्भि सर्वैरेव । वसते, कायभूमित, भिक्षात, चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामातराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्य । गुरुजनश्च यदा निष्क्रामति निष्क्राम्य प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थान कार्य । अनया दिशा यथागममितरदप्यनुगतव्यम् ।

दुऊणदं जहाजादं बारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदिकम्मं पउंजए ।। [मूलाचार-७।१०४]

पूर्वक चौबीस स्तवनोको पढना नोआगमभाव चतुर्विंशतिस्तव है । उसीका यहाँ ग्रहण है ।

रत्नत्रयसे सहित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और स्थविर मुनियोके गुणातिशयको जानकर श्रद्धापूर्वक अभ्युत्थान और प्रयोगके भेदसे दो प्रकारकी विनयमें प्रवृत्तिको वन्दना कहते है । उन अभ्युत्थान विनय और प्रयोग विनयके अनेक भेद है कि किमको किसका कब, कितनी बार करना चाहिये ।

शंका—अभ्युत्थानका उपदेश किसने दिया है और किस फलके उद्देशसे करना चाहिए ?

समाधान—सब जिनदेवोने कर्मभूमियोमे सदा प्रथम ही कर्तव्यरूपसे विनयका उपदेश दिया है । विनयसे मानकषायका विनाश होता है । गुरुजनोमे बहुमान, तीर्थङ्करोकी आज्ञाका पालन, श्रुतमे कहे गये धर्मकी आराधना, परिणाम विशुद्धि, आर्जव और सन्तोषरूप फलकी अपेक्षा करके विनय की जाती है । यह विनय कौन करता है ? जो मान रहित समारसे विरक्त, निरालसी, सरल अनुग्रह करनेका इच्छुक, दूसरोके गुणोको प्रकट करनेमे तत्पर और सघका प्रेमी होता है वह विनय करता है । असयमी और सयमासंयमी तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकारके भ्रष्ट मुनियोके सन्मानमे उठना नही चाहिए । जो रत्नत्रय और तपमे नित्य तत्पर रहते है उनके प्रति उठना चाहिए । जो सुखशील साधु हैं उनके सन्मानमे उठना कर्मबन्धका कारण है क्योंकि वह प्रमादको बढानेमें कारण होता है । जो वाचना देता है अथवा अनुयोगका शिक्षण देता है वह अपनेसे रत्नत्रयमे न्यून भी हो तब भी उनके पासमे सब अध्ययन करनेवालोको उनके सन्मानमें उठकर खडा होना चाहिए । वसतिसे, कायभूमिसे, भिक्षासे, जिन मन्दिरसे, गुरुके पाससे अथवा ग्रामान्तरसे आनेके समय उठना चाहिए । जब-जब गुरुजन निकलते है अथवा निकलकर प्रवेश करते हैं तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए । इसी प्रकार आगमसे अन्य भी जानना चाहिए ।

१. क्ष्यत्केन तत्-आ० मु० ।

इत्यादिक' प्रयोगविनय ।

प्रतिक्रमण प्रतिनिवृत्ति षोढा भिद्यते-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमण भट्टि दारिगा सामिणी इत्यादिकमयोग्य नाम । आप्ताभासानामर्च्चा, त्रसस्थावराणा रूपाणि लिखितान्युत्कीर्णानि वा स्थापनाशब्देनेह गृह्यन्ते । तत्राप्ताभासप्रतिमाया पुर स्थिताया यदभिमुखतया कृताजलिपुटता, शिरोवनति , गंधादिभिरभ्यर्च्चनं च न कर्तव्यम् । एव सा स्थापना परिहृता भवति । त्रसस्थावरादिस्थापनानामविनाशन, अमर्द्दन, अताडन वा परिहार प्रतिक्रमण । वास्तुक्षेत्रादीना दशप्रकाराणा उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टाना वसतीना, उपकरणाना, भिक्षाणा च परिहरण, अयोग्याना चाहारदीना, गृद्धेर्दर्पस्य च कारणाना सक्लेशहेतूना वा निरसन द्रव्यप्रतिक्रमण । उदककर्द्दमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जन क्षेत्रप्रतिक्रमण । यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहार , तच्च किं ? ज्ञानतपोवृद्धैरनाध्यासित । रात्रिसध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेपु गमनागमनादिव्यापाराकरणात् कालप्रति-

---

मूलाचारमे कहा है—क्रियाकर्ममे दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति, और तीन शुद्धियाँ होती है । पंचनमस्कारके आदिमे एक नमस्कार और चौबीस तीर्थंकरोके स्तवनके आदिमे दूसरा नमस्कार इस प्रकार दो नमस्कार होते है—पचनमस्कारका उच्चारण करनेके प्रारम्भमे मनवचनकायके सयमनरूप तीन शुभयोगोके सूचक तीन आवर्त होते है । पचनमस्कारकी समाप्ति होनेपर भी उसी प्रकार तीन आवर्त होते है । इसी प्रकार चौबीस तीर्थङ्करोंके स्तवनके आदि और अन्तमे तीन-तीन आवर्त होते हैं । इस प्रकार बारह आवर्त होते है । अथवा एकबार प्रदक्षिणा करनेपर चारो दिशाओमे चार प्रणाम होते है । इस प्रकार तीन प्रदक्षिणाओमे बारह प्रणाम होते है । पचनमस्कार और चतुर्विंशति स्तवके आदि और अन्तमे दोनो हाथ मुकुलितकर मस्तकसे लगाना, इस तरह चार सिर होते है । इस प्रकार मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक क्रियाकर्म होता है यह सब प्रयोग विनय है ।

दोषोसे निवृत्तिको प्रतिक्रमण कहते है । उसके छह भेद है—नामप्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण । अयोग्य नामोका उच्चारण न करना नाम प्रतिक्रमण है । भट्टिनी, दारिका, स्वामिनी इत्यादि अयोग्य नाम है । स्थापना शब्दसे यहाँ आप्ताभासोकी मूर्ति, त्रस और स्थावरोकी आकृतियाँ लिखित या खोदी हुई, ग्रहण की गई है । उनमेसे आप्ताभासोकी प्रतिमाओके सन्मुख हाथ जोडना, सिर नमाना और गन्ध आदिसे पूजन नही करना चाहिए । इस प्रकार करनेसे उस स्थापनाका परिहार हो जाता है यह स्थापना प्रतिक्रमण है ।

त्रस स्थावर आदिकी स्थापनाओंको नष्ट न करना अथवा तोडना-फोड़ना आदि न करना स्थापना प्रतिक्रमण है । मकान खेत आदि दस प्रकारकी परिग्रहोका, उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे दूषित वसतिकाओका, उपकरणोका, और भिक्षाओका, अयोग्य आहार आदिका और जो तृष्णा और मदके तथा सक्लेशके कारण है उन द्रव्योका त्याग द्रव्य प्रतिक्रमण है । जल, कीचड और त्रस स्थावर जीवोसे भरे क्षेत्रोमे आने जानेका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है । अथवा जिस क्षेत्रमे रहनेसे रत्नत्रयकी हानि हो उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है । ऐसे क्षेत्रोमें ज्ञान और तपसे वृद्ध मुनिगण नही रहते, इसलिए उनमे रहना वर्जित है । रात, तीनो सन्ध्या, स्वाध्याय

क्रमण। कालस्य दुष्परिहार्यत्वात्कालाधिकरणव्यापारविशेषा कालसाहचर्यात्कालशब्देन गृहीता। मिथ्यात्वम-सयम, कषाय, राग, द्वेष, सञ्ज्ञा, निदान, आर्तरौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामा, पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामा इह भावशब्देन गृहीता गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमण इति केषाचिद्व्याख्यान। चतुर्विधमित्यपरे। निमित्तनिरपेक्ष कस्यचिन्नामत्वेन नियुज्यमान प्रतिक्रमणमित्यभिधान नामप्रतिक्रमण। अशुभपरिणामना विशिष्टजीवद्रव्यानुगतशरीराकारसादृश्यापेक्षया चित्रादिरूप स्थापित स्थापनाप्रतिक्रमण। प्रमाणनयनिक्षेपादिभि प्रतिक्रमणावश्यकस्वरूपज्ञ[1]स्तत्रानुपयुक्त प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते। नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमण त्रिविध ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदै। यथात्मा कारण प्रतिक्रमणपर्यायस्य, तथा तदीयमपि शरीर त्रिकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दवाच्य भवति। चारित्रमोहक्षयोपशमसान्निध्ये भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमण। क्षयोपशमावस्थामुपगत चारित्रमोह नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्म प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमण। मिच्छाणाणमिच्छादसणमिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमित्ति एवं स्वरूपज्ञान। अशुभपरिणामदोषमवबुध्य श्रद्धाय तत्प्रतिपक्षपरिणामवृत्तिर्नोआगमभावप्रतिक्रमण।

सामायिकात्[2] प्रतिक्रमणस्य को भेद ? सावद्ययोगनिवृत्ति सामायिक। प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्कायनिवृत्तिरेव तत्कथ षडावश्यकव्यवस्था ?

और षडावश्यकोके कालमे गमन आगमन आदि व्यापार न करना काल प्रतिक्रमण है। कालका त्याग तो अशक्य जैसा है अतः कालमे होनेवाले कार्य विशेषोको कालके सम्बन्धसे काल शब्दसे ग्रहण किया है। मिथ्यात्व, असयम, कषाय, राग, द्वेष, आहारादि सज्ञा, निदान, आर्त रौद्र इत्यादि अशुभ परिणाम और पुण्यास्रवभूत शुभ परिणाम यहाँ भाव शब्दसे ग्रहण किये है। उनसे निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है। ऐसा किन्ही आचार्योंका व्याख्यान है।

अन्य आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते है। निमित्तकी अपेक्षा न करके किसीका प्रतिक्रमण नाम रखना नामप्रतिक्रमण है। अशुभ परिणामवाले जीवोके शरीरका जैसा आकार होता है उस आकारके सादृश्यकी अपेक्षासे चित्रमे अशुभ परिणामोकी स्थापना स्थापना प्रतिक्रमण है ? प्रमाण नय-निक्षेप आदिके द्वारा प्रतिक्रमण नामक आवश्यकके स्वरूपका जो ज्ञाता उसमे उपयुक्त नही है वह प्रतिक्रमण विषयक ज्ञानका कारण होनेसे आगम द्रव्य प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है। नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमणके तीन भेद है—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। जैसे प्रतिक्रमण पर्यायका कारण आत्मा है वैसे उसका त्रिकालवर्ती शरीर भी कारण है इसलिए वह प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है। चारित्रमोहके क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मा भविष्यमे प्रतिक्रमण पर्यायरूप होगा वह भावि प्रतिक्रमण है। क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त चारित्रमोह कर्म नोआगमद्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमणरूप ज्ञान आगम भाव प्रतिक्रमण है। अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे मै विरत हूँ इस प्रकारका स्वरूपज्ञान आगमभाव प्रतिक्रमण है। अशुभ परिणामके दोषको जानकर और उसपर श्रद्धा करके उसके प्रतिपक्षी शुभपरिणामोमे प्रवृत्ति नोआगमभाव प्रतिक्रमण है।

शका—सामायिक और प्रतिक्रमणमे क्या भेद है ? सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है और अशुभ मनवचनकायसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है तब छह आवश्यककी व्यवस्था कैसे सम्भव है ?

---

१ ज्ञसूत्रा–आ० मु०। २ कस्य प्र–आ० मु०।

अत्रोच्यते—सव्वं सावज्जजोग पच्चक्खामीति वचनाद्धिंसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्ययोग-निवृत्ति[1] सामायिकं । हिंसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्ति प्रतिक्रमणं ।

"मिच्छत्तपडिक्कमण, तहेव असंजमपडिक्कमणं ।
कसाएसु पडिक्कमणं, जोगेसु अप्पसत्थेसु" ॥ [**मूलाचा० ७।१२०**]

इति वचनादिति केचित्परिहन्ति ।

इद त्वन्याय्य प्रतिविधान । योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते । स च वीर्यान्तिरायक्षयोपशमजनित-त्वात् क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरशुभकर्मादाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरात्मन सामायिक । मिथ्या-त्व[1]मसयम कषायाश्च दर्शनचारित्रमोहोदयजा औदयिका । मिथ्यात्व तत्त्वाश्रद्धानरूपं, असंयमो हि हिंसादि-रूप , क्रोधादयस्तु परस्परतो मिथ्यात्वादसयमाच्चानुभवसिद्धवैलक्षण्यरूपा । ये भिन्नहेतुस्वरूपास्ते नैक्यमा-पद्यन्ते यथा शालियवगोधूमादिधान्य । भिन्नहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वासयमकषाया । तेभ्यो विरतिर्व्यावृत्ति प्रतिक्रमण । सावद्ययोगमात्रनिवृत्ति सामायिकमिति भेदो महाननयो । भेदमेवाश्रित्यामीषा परिणामाना चदुपच्चय[2]गो बधो इति सूत्रमवस्थित । अन्यथा योगविकल्पत्वे मिथ्यात्वादीनां चतु सख्या न न्याय्या योगेन सह ।

प्रत्याख्यान नाम अनागतकालविषया क्रिया न करिष्यामि इति सकल्प । तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-काल भावविकल्पेन षड्विध । अयोग्य नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यान । आप्ताभासाना

समाधान—'सर्व सावद्ययोगको त्यागता हूँ' इस प्रकार हिसा आदिका भेद न करके सामान्यसे सर्व सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है । और हिसा आदिके भेदसे सावद्ययोगके भेद करके उससे निवृत्ति प्रतिक्रमण है । सूत्रमे कहा है—'मिथ्यात्व प्रतिक्रमण' असयम प्रतिक्रमण, कषाय प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योग प्रतिक्रमण होता है ।

उक्त शंकाका कोई आचार्य ऐसा उत्तर देते है किन्तु वह उचित नही है । योग शब्दसे वीर्यपरिणाम कहा जाता है । वह वीर्यपरिणाम वीर्यान्तिरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण क्षायोपशमिक भाव है । उससे निवृत्ति अर्थात् अशुभकर्मको लानेमे निमित्त योगरूपसे आत्माका परिणमन न करना सामायिक है । मिथ्यात्व, असंयम और कषाय दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक हैं । मिथ्यात्व तत्त्वोके अश्रद्धानरूप है । असयम हिंसादि-रूप है और क्रोधादि तो मिथ्यात्व और असयमसे विलक्षण है यह अनुभवसिद्ध है । जिनका हेतु और स्वरूप भिन्न होता है वे एक नही हो सकते जैसे शालि, जौ, गेहूँ आदि धान्य । मिथ्यात्व, असयम और कषायके हेतु और स्वरूप भिन्न-भिन्न है उनसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है । और सावद्य योग-मात्रसे निवृत्ति सामायिक है । अत दोनोमे महान् भेद है इन परिणामोंके भेदको ही लेकर 'चदु-पच्चयगो बन्धो'—बन्धके चार कारण है, यह सूत्र अवस्थित है । अन्यथा यदि मिथ्यात्व आदि योगके भेद हो तो फिर योगके साथ चारकी सख्या नही बन सकती ।

आगामी कालमे मै यह काम नही करूँगा, इस प्रकारके संकल्पका नाम प्रत्याख्यान है । नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे उसके छह भेद हैं । मैं अयोग्य नामका

---

१. त्वासयमक—आ० मु० । २ पच्चयाण बधो—आ० मु० ।

प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण त्रसस्थावरस्थापनापीडा न करिष्यामीति प्रणिधान मनस स्थापनाप्रत्याख्यान। अथवा अर्हदादीना स्थापना न विनाशयिष्यामि नैवानादर तत्र करिष्यामि इति वा। अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिताप्रबधो द्रव्यप्रत्याख्यान योग्यानि वा निष्ठितप्रयोजनानि। सयमहानि सक्लेश वा सपादयति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यान। कालस्य दु परिहार्यत्वात् कालसाध्याया क्रियाया परिहृताया काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्य। तेन सध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिक न सपादयिष्यामीति चेत कालप्रत्याख्यान। भावोऽशुभपरिणाम तन्न निर्वर्तयिष्यामि इति सकल्पकरण भावप्रत्याख्यान। तद्द्विविध मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति। ननु च मूलगुणा व्रतानि तेषा प्रत्याख्यान निरासो भविष्यत्कालविषयश्चेन्न स सवरार्थिना कार्य, सवरार्थमवश्यमनुष्ठीयते इति। उत्तरगुणाना कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते मूलगुणशब्द मूलगुणश्च स प्रत्याख्यान च तत् इति मूलगुणप्रत्याख्यान। व्रतोत्तरकालभावित्वादनशनादिक उत्तरगुण इति उच्यते। उत्तरगुणश्च स प्रत्याख्यान च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यान। तत्र सयताना जीवितावधिक मूलगुणप्रत्याख्यान। सयतासयताना अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशभाजि भवति। तेषा द्विविध प्रत्याख्यान अल्पकालिक, जीवितावधिक चेति। पक्षमासषण्मासादिरूपेण भविष्यत्काल सावधिक कृत्वा तत्र स्थूलहिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्नाचरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालिकम्।

उच्चारण नही करूँगा, इस प्रकारका विचार नाम प्रत्याख्यान है। मै आप्ताभासोकी प्रतिमाको नही पूजूँगा, मनवचनकायसे त्रस और स्थावरोकी स्थापनाको पीडा नही पहुँचाऊँगा, इस प्रकारका मनका सकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा मै अर्हन्त आदिकी स्थापनाको नष्ट नही करूँगा, न उसका अनादर ही करूँगा, इस प्रकारका मनका सकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है।

अयोग्य आहार तथा उपकरण द्रव्योको मै ग्रहण नही करूँगा, इस प्रकारके चिन्ता प्रबन्धको द्रव्य प्रत्याख्यान कहते है। जो क्षेत्र सयमको हानि पहुँचाते है अथवा सक्लेश उत्पन्न करते है। उन्हे मैं छोडूँगा इस प्रकारके सकल्पको क्षेत्र प्रत्याख्यान कहते है। कालको छोडना तो अशक्य जैसा है अत काल साध्य क्रियाका त्याग करने पर कालका ही प्रत्याख्यान होता है ऐसा लेना चाहिये। अतः सन्ध्याकाल आदिमे अध्ययन गमन आदि नही करूँगा इस प्रकारके चित्तको काल प्रत्याख्यान कहते है। भावसे अशुभ परिणाम लेना। मै अशुभ परिणाम नही करूँगा, इस प्रकारका सकल्प करना भाव प्रत्याख्यान है। उसके दो भेद है—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

शङ्का—मूलगुण व्रतोको कहते है। उनका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग भविष्यत् कालमे यदि किया जायेगा तो सवरके इच्छुक यतिको उसे नही करना चाहिये, उसे तो सवरके लिये व्रत अवश्य पालनीय होते है ?

समाधान—उत्तर गुणोका कारण होनेसे व्रतोंको मूलगुण कहते हैं अत मूलगुण रूप प्रत्याख्यान मूलगुण प्रत्याख्यान है। व्रतोके उत्तर कालमे अनशन आदि होते है इसलिये उन्हे उत्तर गुण कहते हैं। यहाँ भी उत्तर गुणरूप प्रत्याख्यान उत्तरगुण प्रत्याख्यान है। उनमेसे सयमियोके जीवनपर्यन्त मूलगुण प्रत्याख्यान होता है। और सयमासंयमी श्रावकोके अणुव्रत मूलगुणव्रत कहलाते है। उनके दो प्रकारका प्रत्याख्यान होता है—एक अल्पकालिक और दूसरा जीवनपर्यन्त। पक्ष, मास, छहमास आदि रूपसे भविष्यतकालकी मर्यादा करके 'इतने काल तक मै स्थूल हिंसा,

---

१ अयोग्यानि वानिष्ट—मु०।

आमरणमवधिं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितावधिकं। उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संयतसंयतासंयतयोरपि अल्पकालिकं जीवितावधिकं वा। परिगृहीतसंयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च। भविष्यत्कालगोचराशनादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वं। सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानं। जीवनिकायं हिंसादिस्वरूपं च ज्ञात्वा श्रद्धाय सर्वतो देशतो वा हिंसादिविरतिर्व्रतं। तथा चोक्तं—'**निःशल्यो व्रती**' (त० सू० ७।१८) इति।

मिथ्यादर्शनशल्यं, मायाशल्यं, निदानशल्यं चेति त्रिविधं शल्यं तेभ्यो निष्क्रान्तः निःशल्यः। सावधारणं चेद निःशल्य एव व्रतीति। तेन सशल्यस्यव्रतिता निरस्ता भवति। न च असति श्रद्धाने मिथ्यात्वशल्यनिवृत्तिः। न च जीवाद्यर्थपरिज्ञानमंतरेण श्रद्धानस्यास्ति संभव इति ज्ञानदर्शनवत एव व्रतिता सूत्रकारेणाख्याता। तथावश्यकेऽप्युक्तम्—

"पंचवदाणि जदीणं अणुव्वदाइं च देशविरदाणं।
ण हु सम्मत्तेण विणा तो सम्मत्तं पढमदाए॥" [ ]

इति हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितमिति क्रिया पंचापि सरात्रिभोजना प्रत्याचष्टे यतिस्त्रिधा मनोवाक्कायविकल्पेन कृतकारितानुमतैर्यावज्जीवं।

सम्यग्दृष्टिस्त्वगारी मूलगुणं उत्तरगुणं वा स्वशक्त्या गृह्णाति परिमितकालं यावज्जीवं वा। आत्मना प्राक्कृतं हिंसादिकं हा दुष्टं कृतं, हा दुष्टं संकल्पितं, वचो वा हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितं इति निंदागर्हाभ्या

स्थूल झूँठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और परिग्रहका आचरण नहीं करूँगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान अल्पकालिक है। मरणपर्यन्त मैं स्थूल हिंसादि नहीं करूँगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान जीवितावधि है।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान संयत और संयतासंयतके भी अल्पकालिक अथवा जीवनपर्यन्त होता है। जिसने संयम ग्रहण किया है उसके सामायिक आदि और अनशन आदि होते हैं इसलिये सामायिक आदि और तप उत्तरगुण है। और भविष्यत्कालमें अनशन आदिके त्यागरूप होनेसे प्रत्याख्यान रूप भी है। सम्यक्त्वके होने पर ही ये दोनों प्रत्याख्यान होते हैं।

जीवनिकाय और हिंसा आदिके स्वरूपको जानकर तथा श्रद्धा करके सर्वदेश अथवा एक देशमें हिंसा आदिके त्यागको व्रत कहते हैं। कहा भी है—जो निःशल्य है वही व्रती है। मिथ्यादर्शन शल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, इस प्रकार तीन शल्य हैं। उनसे जो रहित है वह निःशल्य है। यह निःशल्य शब्द अवधारण सहित है। निःशल्य ही व्रती होता है। इससे जो शल्य सहित है उसके व्रतीपनेका निषेध किया है। श्रद्धानके अभावमें मिथ्यात्वशल्यसे निवृत्ति नहीं होती। और जीवादि पदार्थोंके ज्ञानके बिना श्रद्धान संभव नहीं है। अतः ज्ञानदर्शनवानको ही सूत्रकारने व्रती कहा है। तथा आवश्यकमें भी कहा है—'सम्यक्त्वके बिना न तो यतियोंके पाँच व्रत होते हैं और न देशविरत श्रावकोंके अणुव्रत होते हैं। अतः सम्यक्त्वको प्रथमता है।'

इस प्रकार यति मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजनके साथ हिंसा आदि पाँचों पापोंका त्याग जीवनपर्यन्तके लिये करता है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मूलगुण अथवा उत्तरगुणको अपनी शक्तिके अनुसार कुछ काल या जीवनपर्यन्तके लिये ग्रहण करता है। अपने द्वारा पहले किये गये हिंसा आदिको 'हा, मैंने बुरा किया, हा, मैंने बुरा संकल्प किया, हिंसा

स्वपरविषयाभ्यां दूषयन्वर्तमानं चासंयमं कृत क्रियमाणासंयमसदृश न करिष्यामि इति मनसि कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति।

अगारिणां विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते। स्थूलकृतप्राणातिपातादिक कृतकारितानुमतविकल्पात् त्रिविध मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति। मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिक न करोमि, तथा वचसा कायेनेति त्रिविधं कृतम्। मनसा स्थूलकृत प्राणातिपातादिक न कारयामि तथा वचसा कायेन चेति त्रिविकल्प कारितं। तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिक नानुजानामि, तथा वचसा कायेन चेति त्रिभेदमनुमनन। एव नवविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यक्तुमशक्तोऽगारी।

तथा मनोवाग्भ्या स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतिविकल्पात्त्रिविध व कर्तुमशक्तो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि। वचसा न करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति। कायेन कृत-कारितानुमतविकल्पान् हिंमादीश्च न समर्थो विहातु। तथा च सूत्र—

'न खु तिविध तिविधेण य दुविधेक्कविधेण वापि विरमेज्ज इति ॥' [ ]

कथ तर्ह्यगारी विरतिमुपैति? अत्रोच्यते कृतकारितविकल्पाद्द्विप्रकार हिसादिक मनोवाक्कायैस्त्यजति। वाचा कायेन वा हिंसादिविषय कृतकारित त्यजति। कायेन एकेन वा कृत कारित त्यजति। अत एवोक्तं **'दुविध पुण तिविधेण य दुविधेक्कविधेण वा विरमेज्ज'** इति। अथवा हिंसाया स्वय करण एक मनोवाक्का-यैस्त्यजति। नाह मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिक पचक करोमीति अभिसधिपूर्वक विरमण

आदिमे प्रवर्तन करने वाला वचन बोला,' इस प्रकार स्व और परविषयक निन्दा गर्हाके द्वारा दोषयुक्त बतलाते हुए, तथा वर्तमानमें मैं जो असयम करता हूँ और पूर्वमे जैसा असयम किया है वैसा मै भविष्यमें नही करूँगा, ऐसा मनमें संकल्प करके त्याग करता है।

अब गृहस्थोके विरतिरूप परिणामोके भेद कहते है—कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तोन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको ग्रहस्थ मन वचन कायसे नही त्यागता है। मनसे स्थूल हिंसा आदिको नही करता हूँ तथा वचनसे और कायसे नही करता हूँ, ये तीन भेद कृत है। मनमे स्थूल हिसा आदिको न कराता हूँ तथा वचनसे और कायसे नही कराता हूं। ये तीन भेद कारितके है। तथा मनसे स्थूल हिंसा आदिमें अनुमति नही देता हूँ तथा वचनसे और कायसे अनुमति नही देता हूँ ये तीन भेद अनुमतके है। इस प्रकार नौ प्रकारकी स्थूल हिंसा आदिका त्याग करनेमे गृहस्थ असमर्थ होता है। तथा कृत कारित अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिसा आदिको मन और वचनसे करनेमे असमर्थ होता है। मनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ। वचनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ। कायसे कृत कारित अनुमतरूप हिंसा आदिको छोडनेमे समर्थ नही हूँ। सूत्रमे कहा है—कृतकारित अनुमतके भेदसे तीन भेद रूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे अथवा मन वचनसे अथवा कायसे त्याग नही करता है।

तब गृहस्थ कैसे त्याग करता है यह बतलाते हैं—

कृत और कारितके भेदसे दो भेदरूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे छोडता है। कृत कारित रूप हिंसादिको वचन और कायसे छोड़ता है। अथवा कृत कारित रूप हिंसा आदिको एक कायसे छोड़ता है। इसीसे कहा है—'कृत कारित रूप हिंसा आदिको तीन रूपसे, दो रूपसे या एक रूपसे छोड़ता है।' अथवा हिंसाके एक स्वयं करनेको मन वचन कायसे त्यागता है। 'मैं मनसे वचनसे कायसे स्थूल हिंसादि पाँच पापोंको नही करता हूँ' इस प्रकार संकल्प पूर्वक त्याग

करोति । वाक्कायाभ्यां वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा । तथा चोक्तम्—'**एकविधं तिविधेण वापि विरमेज्ज**' इति । एवमेते व्रतविकल्पाः भविष्यत्कालविषयतयानुयुज्यमाना प्रत्याख्यानविकल्पा भवन्तीत्य-त्रोपन्यासः कृतः ।

कायोत्सर्गो निरूप्यते—काय शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्याग कायोत्सर्ग । उपलब्ध्यधिष्ठानेन्द्रियावयवक. कर्मनिर्वर्तित पुद्गलप्रचयविशेष औदारिकाख्य इह कायशब्देन गृहीत इतरत्र उत्सर्गस्यासभवात् वक्ष्यमाणस्य ।

ननु च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ।

आत्मशरीरयोरन्योऽन्यस्य प्रदेशानुप्रवेशिनोरायुर्वशात् अनपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्व सप्तधातुरूप-तया अशुचितमं शुक्रशोणितबीतबीजत्वाच्च, तथा अनित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्वहत्व, असारत्व, दु खहेतुत्वं, शरीरगतममताहेतुकमनतसंसारपरिभ्रमण इत्यादिकान्सप्रधार्य दोषान्नेद मम नाहमस्येति सकल्पवतस्तदादरा-भावात्कायस्य त्यागो घटत एव । यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मदिरे त्यक्ते-त्युच्यते तस्यामनुरागाभावान्ममेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि । किं च कायापायसन्निपातेऽपि अपाय-निराकरणाभिलाषस्याभावात् । यो यदपायनिराकरणानुत्सकस्तेन तत्परित्यक्त यथा वसनादिक परिहृत । शरीरा-पायनिराकरणानुत्सुकश्च यतिस्तस्माद्युज्यते कायस्य त्याग ।

करता है । अथवा स्वय करनेको वचन और कायसे त्यागता है या एक कायसे त्यागता है । कहा है—'एक कृतको तीन प्रकारसे त्यागता है । इन व्रतके भेदोको भविष्य कालके साथ जोडने पर कि मै भविष्यमे ऐसा नही करूँगा, ये प्रत्याख्यानके भेद होते हैं ।

अब कायोत्सर्गको कहते है—काय अर्थात् शरीरके, उत्सर्ग अर्थात् त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं । पदार्थोंको जाननेका आधार इन्द्रियाँ जिसकी अवयव है, और कर्मके द्वारा जिसकी रचना हुई तथा जो पुद्गलोका एक समूह विशेष है उस औदारिक नामक शरीरको यहाँ काय शब्दसे ग्रहण किया है क्योकि आगे कहे जानेवाला उत्सर्ग अन्य शरीरोमे सम्भव नही है ।

शका—आयुकर्म जब पूर्णरूपसे समाप्त हो जाता है तब आत्मा शरीरको छोडता है अन्य कालमें नही छोडता । तब कैसे आप कायोत्सर्गकी बात करते है ?

समाधान—आत्मा और शरीरके प्रदेश परस्परमे मिलनेसे आयुकर्मके कारण यद्यपि शरीर ठहरा रहता है तथापि शरीर सात धातु रूप होनेसे अपवित्र है, रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेसे विशेष अपवित्र है । तथा अनित्य है, नष्ट होनेवाला है, दु खसे धारण करने योग्य है, असार है दु खका कारण है, इस शरीरसे ममत्व करनेसे अनन्त ससारमे भ्रमण करना होता है, इत्यादि दोषोंको जानकर 'न यह मेरा है, न मै इसका हूँ' ऐसा सकल्प करनेवालेके शरीरमे आदरका अभाव होनेसे कायका त्याग घटित होता ही है । जैसे प्राणोसे भी प्यारी पत्नी अपराध करनेपर उसमे अनुराग न रहनेसे 'यह मेरी है' इस प्रकारका भाव न होनेसे एक ही घरमें रहते हुए भी 'त्यागी हुई' कही जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना । दूसरे, शरीरके विनाशके कारण उपस्थित होनेपर भी कायोत्सर्ग करनेवालेके विनाशके कारणको दूर करनेकी इच्छा नही होती । जो जिसके विनाशके कारणोको दूर करनेमें उत्सुक नहीं है उसने उसे त्याग दिया है, जैसे त्यागा हुआ वस्त्रादि । और यति शरीरके विनाशके कारणको दूर करनेमे उत्सुक नहीं होता । अतः उसके

'स च शरीरनि स्पृह , स्थाणुरिवोर्ध्वकाय , प्रलंबितभुज , प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमितानतकाय', परीषहानुपसर्गांश्च सहमान , तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे ।

अन्तर्मुहूर्त कायोत्सर्गस्य जघन्य काल , वर्षमुत्कृष्ट । अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया । सायाह्नोच्छ्वास शतक, प्रत्यूषसि पचाशत्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासेषु चतु शतानि, पचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासाना[२] । प्रत्युषसि प्राणिवधादिषु पचस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्र काल कायोत्सर्ग कार्य । कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिक स्थातव्यम् ।

उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थित, उपविष्टनिविष्ट इति चत्वारो विकल्पा । धर्मे शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्ग उत्थितोत्थितो नाम । द्रव्यभावोत्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्ष उत्थितोत्थितशब्देनोच्यते । तत्र द्रव्योत्थान शरीर स्थाणुवदूर्ध्व अविचलमवस्थान । ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानाख्यस्य भावस्य भावोत्थान । आर्तरौद्रयो परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उत्थितनिषण्णो नाम कायोत्सर्ग । शरीरोत्थानादुत्थितत्व शुभपरिणामोद्गतिरूपस्योत्थानस्याभावान्निषण्ण इत्युच्यते । अत एव विरोधाभावो भिन्न-

---

कायत्याग उचित है। तथा वह शरीरसे निस्पृह होकर, स्थाणुकी तरह शरीरको सीधा करके, दोनो हाथोंको लटकाकर, प्रशस्त ध्यानमे लीन हो, शरीरको ऊँचा-नीचा न करके परीषहो और उपसर्गो को सहन करता हुआ, कर्मोको नष्ट करनेकी अभिलाषासे जन्तुरहित एकान्त देशमे ठहरता है।

कायोत्सर्गका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल एक वर्ष है। अतिचारोको दूर करनेके लिए कायोत्सर्गके रात, दिन, पक्ष, मास, चार मास, वर्ष आदिकालमे होनेवाले अतिचारोकी अपेक्षा अनेक भेद हैं। सायकालमे सौ उच्छ्वास प्रमाण, प्रात कालमे पचास उच्छ्वास प्रमाण, पाक्षिक अतिचारमे तीन सौ उच्छ्वास प्रमाण, चार मासोमें चार सौ उच्छ्वास प्रमाण और वार्षिकमे पाँच सौ उच्छ्वास प्रमाण काल कायोत्सर्गका है। हिंसा आदि पाँच अतिचारोमे एक सौ आठ उच्छ्वास मात्र काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करनेपर यदि उच्छ्वासका अथवा परिणामका स्खलन हो जाये तो आठ उच्छ्वासप्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्गके चार भेद हैं—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टउत्थित, और उपविष्टनिविष्ट। जो धर्मध्यान या शुक्लध्यान सहित कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितोत्थित नामक कायोत्सर्ग है। यहाँ द्रव्य और भाव दोनोके ही उत्थानसे युक्त होनेसे उत्थितोत्थित शब्दसे उत्थानका प्रकर्ष कहा है। स्थाणुकी तरह शरीरका उन्नत और निश्चल रहना द्रव्योत्थान है। ज्ञानरूप भावका ध्यान करने योग्य एक ही वस्तुमे स्थिर रहना भावोत्थान है। जो आर्त रौद्रध्यानके साथ कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग होता है। शरीरके खड़े होनेसे इसे उत्थित और शुभपरिणामकी उद्गतिरूप उत्थानका अभाव होनेसे निविष्ट या निषण्ण कहते हैं। इसीसे एक कालमे एक क्षेत्रमे उत्थान—खडे होना और निविष्ट—बैठना इन दोनो आसनोंमे कोई विरोध नही है क्योकि दोनोके निमित्त भिन्न है। जो बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यान करता है उसके उत्थितनिषण्ण कायोत्सर्ग होता है क्योकि उसके परिणाम तो उत्थित

---

१. तत्र शरीर—आ० मु० । २ ना प्रत्युषसि प्राण—आ० मु० ।

निमित्तत्वादुत्थानासनयो एकत्र एकदा । यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थितनिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च । यस्तु निषण्णोऽशुभध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णक कायशुभपरिणामाभ्या अनुत्थानात् ।

दैवसिकाद्यतीचार रत्नत्रयगत मनसा विमृश्य इद मया[1] न सुष्ठु कृत प्रमादिनेति सचिन्त्य पश्चाद्धर्मे शुक्ले वा ध्याने प्रयतितव्यम् ।

कायोत्सर्गप्रपन्न स्थानदोषान्परिहरेत् । के ते इति चेदुच्यते । १ तुरग इव कुटीकृतपादेन अवस्थानम् २ लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थान ३ स्तभवत्स्तब्धशरीर कृत्वा स्यान । ४ स्तभोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलग्नशिरसा वावस्थानम् । ५ लबिताधरतया, स्तनगतदृष्ट्या वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तन कृत्वा । ६ खलीनावपीडितमुखहय इव मुखचालन सपादयतोऽवस्थान । ७ युगावष्टब्धबलीवर्द इव शिरोऽध पातयता । ८ कपित्थफलग्राहीव विकाशिकरतल, सकुचिताङ्गुलिपचक वा कृत्वा ९ शिरश्चालन कुर्वन् १० मूक इव हुकार सपाद्यावस्थान ११ मूक इव नासिकया वस्तूपदर्शयता वा १२ अगुलीस्फोटन १३ भ्रूनर्तन वा कृत्वा १४ शबरवधूरिव स्वकौपीनदेशाच्छादनपुरोग १५ शृखलाबद्धपाद इव वावस्थान १६ पीतमदिर इव परवशगतशरीरो वा भूत्वावस्थान इत्यमी दोषा ॥

व्यावर्णितानामावश्यकाना अपरिहाणिर्हानिर्न कार्या । अणुस्सेगो आधिक्येनाकरण च ।

है किन्तु शरीर बैठा हुआ है। जो बैठे हुए अशुभध्यानमे लीन होता है उसके निषण्ण निषण्ण कायोत्सर्ग होता है। क्योंकि न तो उसका शरीर उत्थित है और न शुभपरिणाम ही हैं। रत्नत्रयमे दैवसिक आदि अतीचारोको मनसे विचारकर 'मुझ प्रमादीने यह ठीक नही किया' ऐसा सोचकर पीछे धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करना चाहिये।

कायोत्सर्ग करने वालेको स्थान सम्बन्धी दोष दूर करना चाहिये। वे दोष इस प्रकार है— १ घोडेकी तरह पैरको थोडा मोडकर खडा होना। २ बेलकी तरह इधर-उधर हिलते हुए खडे होना। ३ स्तम्भकी तरह शरीरको स्तब्ध करके खडे होना। ४ स्तम्भ अथवा दीवारके आश्रयसे अथवा ऊपरके तल्लेसे सिरको लगाकर खडे होना। ५ ओष्ठको लटकाकर दृष्टि अपने स्तनो पर रखकर कौएकी तरह आँखोको इधर-उधर घुमाना। ६ लगामसे पीडित मुख वाले घोडेकी तरह मुख चलाते हुए अवस्थित होना। ७ जैसे कन्धे पर जुआ होनेसे बैल अपना सिर नीचे डालता है उस तरह सिरको लटकाकर अवस्थापन करना। ८ कैथके फलको ग्रहण करने वाला मनुष्य जैसे अपनी हथेलीको फैलाता है उस तरह हथेलीको फैलाकर या पाँचो अगुलियोको सकुचित करके अवस्थित होना। ९ सिरको चलाते हुए अवस्थान। १० गूँगेकी तरह हुकार करते हुए अवस्थान। ११ गूँगेकी तरह नाकसे वस्तुको दिखलाते हुए अवस्थान। १२ अगुली चटकाते हुए अवस्थान। १३ भौको नचाते हुए अवस्थान। १४ भीलनीकी तरह अपने अग्रभागको हथेलीसे ढाँकते हुए अवस्थान। १५ ऐसे खडे होना मानो दोनो पैर साँकलसे बँधे है। १६ मदिरा पिये हुए की तरह अथवा पराधीन शरीर वालेकी तरह खडा होना। ये कायोत्सर्गके दोष है।

जो पहले छह आवश्यक कहे है उनमे हानि नही करनी चाहिये और न उनमे आधिक्य करना चाहिये ॥ ११८ ॥

---

१ मया दुष्ट कृत—आ० मु० ।

भत्ती तवोधिगंमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं ।
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ।।११९।।

'**भत्ती**' भक्ति । **वदननिरीक्षणादिप्रसादेन अभिव्यज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागः** । '**तवोऽधिगम्मि**' तपोऽधिके च '**तवम्मि**' य सम्यक्तपसि, तद्वति च, भक्तिरिति यावत् । तच्च सम्यग्ज्ञानदर्शनसयमानुगत । '**अहीलणा य**' अपरिभवश्च । '**सेसाणं**' शेषाणा । तपसा न्यूनानामात्मन ज्ञानश्रद्धानचरणवता परिभवे ज्ञानादीन्येव परिभूतानि भवति । ततो बहुमानाभावो ज्ञानातिचार , वात्सल्याभावो दर्शनातिचार । सातिचारज्ञानदर्शनस्य चारित्रममशुद्ध इति, महाननर्थ इति भाव. । '**एसो**' एष व्यावर्णितपरिणामसमूह उत्तरगुणोद्योगादिक । '**तवम्मि**' तपसि तपोविषय' । '**विणओ**' विनय' । '**जहुत्तचारिस्स**' श्रुतनिरूपितक्रमेणाचरत । '**साधुस्स**' साधो ।।११९।।

उपचारविनयनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो हु पंचमो विणओ ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव पारोक्खो ।।१२०।।

'**काइगवाइगमाणसिगोत्ति**' पदसबध । पचमो विनयस्त्रिप्रकार कायेन, मनसा, वचसा च, निर्वर्त्यते इति । '**सो पुण सव्वो**' स पुनस्त्रिप्रकारोऽपि विनय । '**दुविधो**' द्विविध । '**पच्चक्खो चेव**' प्रत्यक्ष । '**पारोक्खो**' परोक्षश्चेति ।।१२०।।

गा०—जो तपमें अधिक है उनमे और तपमे भक्ति और जो अपनेसे तपमे हीन है उनका अपरिभव यह श्रुतके अनुसार आचरण करने वाले साधुकी तप विनय है ।।११९।।

टी०—मुखकी प्रसन्नतासे प्रकट होनेवाले आन्तरिक अनुरागको भक्ति कहते है । तपसे अधिकमे ओर सम्यक् तपमे भक्ति करना । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सयमके अनुगत तप ही सम्यक् तप है । जो तपमे न्यून है उनका तिरस्कार नही करना । जो ज्ञान श्रद्धान और चारित्रसे युक्त होनेपर भी अपनेसे तपमे कम है, उनका तिरस्कार करनेपर ज्ञानादिका ही तिरस्कार होता है । और ऐसोका बहुमान न करना ज्ञानका अतिचार है । उनमे वात्सल्य न रखना सम्यग्दर्शनका अतिचार है । और जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार है उसका चारित्र अशुद्ध है, इस तरह महान् अनर्थ है । यह ऊपर कहा, उत्तरगुणोमे उद्योग आदि शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधु की तप विषयक विनय है ।।११९।।

उपचार विनयका निरूपण करते है—

गा०—पाँचवी उपचार विनय तीन प्रकारकी है कायिक, वाचनिक और मानसिक । और वह तीनो प्रकारकी विनय दो प्रकारकी है प्रत्यक्ष विनय और परोक्ष विनय ।।१२०।।

टी०—पाँचवी विनय तीन प्रकारकी है जो कायसे, मनसे और वचनसे की जाती है । और ये तीनो प्रकारकी भी विनय दो प्रकारकी है—प्रत्यक्ष और परोक्ष ।।१२०।।

तत्र प्रत्यक्षकायिकविनयप्रदर्शनाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

अब्भुट्ठाणं किदियम्मं णवसणं अंजली य मुंडाणं ।
पच्चुग्गच्छणमेत्तो पच्छिद अणुसाधणं चेव ॥१२१॥

'**अब्भुट्ठाणं**' अभ्युत्थान गुर्वादीना प्रवेशनि क्रमणयोः । '**किदियम्मं**' **णवंसणं**, वंदना, शरीरावनतिश्च । '**अंजली य**' कृताजलिपुटता च । '**मुंडाण**' शिरोवनतिश्च । '**पच्चुग्गच्छणं**' प्रत्युद्गमन । आसीने स्थिते वा गुरौ । '**पच्छिद अणुसाधणं चेव**' स्वय गच्छत दूरात्परिहृत्य निभृतकरचरणस्यावनतगात्रस्य गमनं, सहगमे वा पृष्ठत स्वशरीरमात्रप्रमाणभूभागेन त परिहृत्य गमनं ॥१२१॥

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ।
आसणदाणं उवगरणदाणमोगासदाणं च ॥१२२॥

णीचं च आसणं नीचैरासन । पृष्ठत स्वहस्तपादश्वासादिभिरुपद्रुतो न भवति यथा गुर्वादिस्तथासन । अग्रतोऽभिमुखात् मनागपसृत्य वामपार्श्वेऽनुद्धतस्येषदवनतोत्तमागस्य चासनं । आसने गुरावुपविष्टे स्वय भूमावासन च । '**सयणं च णीचमिति**' पदघटना । नीचै शयनमिति यावत् । [1]अनुन्नते देशे शयन, गुरुनाभिप्रमाणमात्रभूभागे वा स्वशिरो भवति यथा तथा शयन । हस्तपादादिभिर्वा यथा न घट्यते गुर्वादि । '**आसणदाणं**'

उनमेसे प्रत्यक्षकायिक विनयको चार गाथाओसे दिखलाते है—

टी०—गुरु आदिके प्रवेश करनेपर या बाहर जानेपर अभ्युत्थान—खडे होना, कृतिकर्म अर्थात् वन्दना करना, णवसण अर्थात् शरीरको नम्र करना, दोनो हाथोको जोड़ना, सिरको नवाना, प्रत्युद्गमन अर्थात् गुरुके बैठने अथवा खडे होनेपर उनके सामने जाना, और जब गुरु जावे तो उनसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको शान्त और शरीरको नम्र करके गमन करना और गुरु के साथ जानेपर उनके पीछे अपने शरीर प्रमाण भूमिभागका अन्तराल देकर गमन करे ॥१२१॥

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपनी टीकामे लिखा है कि टीकाकार तो 'पच्छिद अणुसाधण' के स्थानमे 'पच्छिद ससाहणा' पढते है और उसकी व्याख्या करते है कि—आचार्य उपाध्याय आदिके द्वारा प्रार्थित और मनसे अभिलषितका सम्यक् प्रसाधन करना अर्थात् आज्ञा नही देनेपर भी सकेतसे ही जानकर करना । यह टीकाकार कोई दूसरे जान पडते हैं क्योकि विजयोदयामे तो यह पाठ नही है ।

गा०—नीचा स्थान, नीचा गमन, नीच आसन, नीचे सोना, आसनदान, उपकरणदान और अवकाशदान ये उपचार विनयके प्रकार है ॥१२२॥

टी०—नीचा आसन—गुरुके पीछे इस प्रकार बैठे कि अपने हाथ पैर श्वास आदिसे गुरुको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे । आगे बैठना हो तो सामनेसे थोड़ा हटकर गुरुके वाम भागमे उद्धतता त्यागकर और अपने मस्तकको थोड़ा नवाकर बैठे । आसन पर गुरुके बैठने पर स्वय भूमिमे बैठे । नीचे सोना—अर्थात् जो ऊँचा नही हो ऐसे देशमे सोना, अथवा गुरुके नाभि प्रमाण मात्र भूभागमे अपना सिर रहे इस प्रकार सोना । अथवा अपने हाथ पैर वगैरहसे गुरु आदिका

---

१. अनुत्तरे देशे आ० मु० ।

आसितुमिच्छति इत्यवगम्य निरूप्य चक्षुषा प्रमार्जनयोग्य न वेति, पश्चात्प्रतिलेखनेन लाघवमार्दवादिगुणान्वितेनातिशनकै प्रमार्ज्य भूभाग पीठादिक च आसनदान । **'उपकरणदानं'** ज्ञानसयमो उपक्रियेते अनुगृह्येते येनतदुपकरणं पुस्तकादि ग्रहीतुमभिप्रेत तस्य दान । अथवा उद्गमोत्पादनैषणादिदोषैरदुष्टस्य सुप्रतिलेखनस्यात्मना लब्धस्य उपकरणस्य दानं । **'ओगासदाणं च'** अवकाशदान च शीतार्त्तस्यावस्थितनिवातावकाशदानं, उष्णाभितप्तस्य शीतलस्थानदान ग्रामनगरादिस्वावासस्थानदान वा ॥१२२॥

पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य ।
पेसणकरणं संथारकरणमुवकरणपडिलिहणं ॥१२३॥

'पडिरूवकायसंफासणदा' कायस्य सस्पर्शन कायसस्पर्शन । प्रतिरूप कायस्य सस्पर्शन प्रतिरूपकायसंस्पर्शन तस्य भाव प्रतिरूपकायसस्पर्शनता । गुर्वादिशरीरानुकूल सस्पर्शनमिति यावत् ।

अयं चात्र क्रम —मनागुपसृत्य स्थित्वा तदीयेन पिच्छेन काय त्रि प्रमृज्य आगतुकजीवबाधापरिहारोपयुक्त सादर स्वबलानुरूप यावद्यादृग्मर्द्दनसहस्तावदेव मर्द्दन कुर्यात् । उष्णाभितप्तस्य यथा शैत्य भवति तथा स्पृशेच्छीतार्त्तस्य यथौष्ण्य तथा ।

'पडिरूवकालकिरिया य' कालकृतोऽवस्थाविशेषो बालत्वादिरिह कालशब्देनोच्यते कालप्रभवत्वात् ।

सघट्टन न हो इस प्रकार शयन करे। आसनदान—गुरु बैठना चाहते है ऐसा जानकर चक्षुसे देखे कि प्रमार्जनके योग्य है या नही ? पीछ लाघव कोमलता आदि गुणोसे युक्त पीछीसे अत्यन्त धीरेसे भूभाग और आसन आदिको पोछ देवे। उपकरणदान—जिसमे ज्ञान और समय का उपकार हो उसे उपकरण कहते है। गुरु पुस्तक आदि चाहते हो तो उन्हे देना। अथवा उद्गम उत्पादन आदि दोषोसे रहित उपकरण अपनेको मिला हो तो उसे देना उपकरणदान है। अवकाशदान—शीतसे पीडितको वायु रहित स्थान देना और गर्मीसे पीडितको शीतल स्थान देना, अथवा ग्राम नगर आदिमे अपना आवास स्थान देना ॥१२२॥

विशेषार्थ—नीचा स्थानका मतलब है गुरु जहाँ बैठे या खडे हो उसके वाम भागमे या पीछे बैठना। और नीचे गमनका मतलब है—गुरुके बैठे रहते या खडे रहते स्वय गमन करते शिष्यका गुरुसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको निश्चल रखते हुए और शरीर को नम्र करके गमन करना।

गा०—गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन, बालपने आदि अवस्थाके अनुरूप वैयावृत्य करना, और गुरु आदिकी आज्ञाका पालन करना, तृण आदिका सथरा करना, उपकरणोकी प्रतिलेखना करना ॥१२३॥

टी०—कायके स्पर्शनको कायस्पर्शन कहते हैं। प्रतिरूप कायका स्पर्शन प्रतिरूप काय स्पर्शन है और उसका भाव प्रतिरूपकाय स्पर्शनता है अर्थात् गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन करना। इसका क्रम इस प्रकार है—गुरुसे थोडा हटकर बैठे और उनकी पीछीसे तीन बार उनके शरीरका प्रमार्जन करके आगन्तुक जीवको किसी प्रकारकी बाधा न हो इस प्रकार सादर अपने बलके अनुरूप जितने काल तक और जितना मर्दन गुरु सह सके उतना ही मर्दन करे। यदि गुरु गर्मीसे तप्त हों तो शीतपना जिस प्रकार सभव उस प्रकार स्पर्श करे और यदि शीतसे पीडित हों तो गर्मी पहुँचाना जैसे हो उस प्रकार स्पर्श करे। तथा 'प्रतिरूपकाल क्रिया' में काल शब्दसे

तेन बालत्वाद्यनुरूपवैयावृत्यक्रियेति यावत् । पेमणकरणं गुर्वादिभिराज्ञप्तस्य । '**संथारकरणं**' तृणफलकादिकमस्तरणक्रिया । '**उवकरणपडिलिहणं**' गुर्वादीनां ज्ञानसंयमोपकरणप्रतिलेखनं अस्तमनवेलाया आदित्योद्गमने च ॥१२३॥

इच्चेवमादि विणओ उवयारो कीरदे सरीरेण ।
एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्मि ॥१२४॥

उपचारिकविनय । शेष सुगम ।

वाचिकविनयनिरूपणार्थं गाथाद्वयम्—

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च ।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥१२५॥

'**पूयावयणं**' पूजापुरस्सर वचन भट्टारक इद शृणोमि, भगवन्निद कर्तुमिच्छामि युष्मदनुज्ञयेत्यादिक । '**हिदभासणं च**' गुर्वादीना यद्धित लोकद्वयस्य तस्य भाषण । '**मितभासणं**' यावता विविदिषितार्थप्रतिपत्तिर्भवति तावदेव वक्तव्य न प्रमक्तानुप्रसक्त । '**मधुरं**' च श्रोत्रप्रिय । '**सुत्ताणुवीचिवयणं**' सूत्रानुवीचिवचन । भाषासमित्यधिकारे यानि वाच्यानि निर्दिष्टानि वचासि तेषा कथन । '**अणिट्ठुरं**' अनिष्ठुर परचित्तपीडाकृतावनुद्यत । '**अकक्कसं वयणं**' अकर्कश वचन अपरुषमिति यावत् ॥१२५॥

कालकृत अवस्थाविशेष बाल्य अवस्था आदि ग्रहण की है क्योकि वह कालसे होती है। अतः गुरुकी बाल आदि अवस्थाके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये। उनके लिये तृणोंका या लकडीके पटियाका सथरा करना चाहिये। सूर्यके अस्त और उदय होनेके समय उनके ज्ञान और सयमके उपकरण शास्त्र कमण्डलु आदिकी सफाई करना चाहिये ॥१२३॥

गा०—इस प्रकारको आदि लेकर उपचार विनय शरीरके द्वारा साधुवर्गमे यथा योग्य की जाती है। यह कायिक विनय है ॥१२४॥

टी०—यह उपचार विनय है। शेष सुगम है ॥१२४॥

दो गाथाओसे वाचिक विनयका निरूपण करते है—

गा०—पूजा पूर्वक वचन, हितकारी भाषण, मित भाषण, मधुर भाषण, सूत्रानुसार वचन, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन वचनविनय है ॥१२५॥

टी०—'हे भट्टारक ! मै सुन रहा हूँ,' 'हे भगवन् आपकी आज्ञा हो तो मै ऐसा करना चाहता हूँ। इस प्रकारसे पूजा पूर्वक वचन बोलना। जो गुरु आदिके लिये इस लोक और परलोक मे हितकर हो ऐसा हित भाषण करना। जितना बोलनेसे विवक्षित अर्थका बोध हो उतना ही बोलना, प्रासगिक या अप्रासंगिक न बोलना। कानोको प्रिय वचन बोलना, भाषासमिति अधिकार मे जो वचन बोलने योग्य कहे हैं उन्हे ही बोलना, तथा दूसरेके चित्तको पीड़ा करने वाले निष्ठुर वचन और कर्कश वचन न बोलना वाचिक विनय है ॥१२५॥

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयण ।
एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो ॥१२६॥

'उवसंतवयणं' प्रशातरागकोपः उपशात' तस्य वचन उपशातवचनं । विरागस्य विरोषस्य च यद्वच-स्तदेव भाष्य। **'अगिहत्थवयणं'** गृहस्था मिथ्यादृष्टयोऽसयता अयोग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तेषा यद्वचन न भवति तस्य अभिधान । **'अकिरियं'** षट्कर्मव्यावर्णनपर यन्न भवति। **'अहीलणं'** परानवज्ञाकारि । **'एसो'** व्यावर्णितवचनव्यापारः । **'वाचिगविणओ'** वाग्विनयो । **'जधारिहं'** यथार्हं । **'होदि कादव्वो'** कर्तव्यो भवति ॥१२६॥

मानसिकविनय निरूपयति—

पापविसोत्तिग परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ।
णायव्वो संखेवेण एसो माणस्सिओ विणओ ॥१२७॥

'पापविसोत्तिगपरिणामवज्जण' पापशब्देन अशुभकर्माण्युच्यंते । स्रोत प्रवाह' । स्रोत इव अविच्छेदेन प्रवृत्ते कर्माणि अपि पापविस्रोत शब्देन उच्यते । पापविस्रोत प्रयोजना परिणामा ये तेषा वर्जनं । इह गुरु-विनयस्य प्रस्तुतत्वात् गुरुविषयोऽशुभ परिणामः आत्मनो यथेष्टचारित्वनिवारणजनितः क्रोध । अविनीतता-दर्शनादनुग्रहाभावमपेक्ष्य नाध्यापयति पूर्ववन्न मया सह सभाषण करोति इति वा क्रोध । गुरुविनये आलस्य,

गा०—उपशान्त वचन, जो वचन गृहस्थो के योग्य नही है, कृषि आदि आरम्भ से शून्य वचन, दूसरो की अवज्ञा न करने वाला वचन बोलना यह यथा योग्य वाचिकविनय करने योग्य होती है ॥१२६॥

टी०—जिसका राग द्वेष शान्त हो गया है उसे उपशान्त कहते है। उसका वचन उपशान्त वचन है। अर्थात् राग रहित और रोष रहितका जो वचन होता है वही बोलना चाहिये। गृहस्थ अर्थात् मिथ्यादृष्टि और असंयमी जो योग्य अयोग्य वचनोको नही जानते, उनका जो वचन हो वह नही बोलना जो वचन वे नही बोलते वही बोलना चाहिये। जिम वचन मे असि, मषी, कृषि, सेवा, वाणिज्य आदि षट्कर्मोका उपदेश न हो वह बोलना चाहिये। तथा जो वचन दूसरेका निरादर न करता हो वह बोलना चाहिये। ये जो वचन कहे हैं इनका बोलना वचन विनय है। उसको यथायोग्य करना चाहिये ॥१२६॥

मानसिक विनय को कहते हैं

गा०—पापको लाने वाले परिणामोको न करना, जो गुरुको प्रिय और हितकर हो उसीमे परिणाम लगाना, यह सक्षेपसे मानसिक विनय जानना ॥१२७॥

टी०—पाप शब्दसे अशुभ कर्मोको कहा है। स्रोतका अर्थ प्रवाह है। प्रवाहकी तरह लगातार होनेसे कर्मोको भी पाप विस्रोत शब्दसे कहा है। पापको लाना ही जिनका काम है उन परिणामोको त्यागना चाहिये। यह गुरु विनयका प्रकरण होनेसे गुरु विषयक अशुभ परिणाम लेना। गुरुके द्वारा अपनी स्वेच्छाचारिताका निवारण करनेसे क्रोध उत्पन्न होना, शिष्यको अविनयी देख उसपर गुरु कृपा न करे तो 'मुझे पहलेकी तरह नहीं पढाते है न मेरे साथ पहलेकी तरह वार्तालाप करते हैं इस प्रकार क्रोध करना, गुरुकी विनयमे प्रमाद करना, गुरुकी अवज्ञा

गुरुं प्रत्यवज्ञा, निंदा, सभ्रम', तत्प्रतिकूलवृत्तितेत्येवमादय' । '**पियहिदे य परिणामो**' गुरोर्यत्प्रियं तस्मै यद्धित आत्मने वा तत्र परिणाम. । '**णादव्वो**' ज्ञातव्य' । '**संखेवेण**' समासेन । '**एसो**' एष' । '**माणस्सिगो**' मानसिक । '**विणओ**' विनय' ॥१२७॥

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो ।
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए ॥१२८॥

'**इय**' एव । '**एसो**' एषः । '**पच्चक्खो**' प्रत्यक्षो विनयः । सन्निहितगुरुविषयत्वात् । '**पारोक्खिओ वि**' गुरो परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनय । कोऽसाविति चेदाह—'**गुरुणो विरहम्मि विवट्टिज्जइ**' गुरोर्विरहेऽपि यत् क्रियते । '**आणाणिद्देसचरियाए**' आज्ञायाम्—इत्थमेव भवता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्थमिति यन्निर्दिश्यते तदाज्ञानिर्देश' । '**बद्दंतगो विहारो दसणणाणचरणेसु कादव्वो**' इत्येवमादिसदृशः ॥१२८॥

न गुरुष्वेव विनय कार्य इति ग्रहीतव्यं, एतेष्वपि विनय कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जाहरिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२९॥

'**राइणिय अराइणिएसु**' यथा रत्नानि दुर्लभानि अभिलषितदानक्षमाणि तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि श्रद्धानादिपरिणामेनोत्कृष्टेन वर्तमान राइणिय इत्युच्यते । आत्मनो न्यूनरत्नत्रया अराइणिया अथवा '**रादिणिग ऊमरादिणिगेसु**' ज्येष्ठकनिष्ठव्रतेषु च शेष सुगम ॥१२९॥

करना निन्दा करना, उनके प्रतिकूल चलना इत्यादि पाप परिणामोंको छोडना । और गुरुको जो प्रिय हो और हितकर हो उसमें ही परिणाम लगाना । ये सक्षेपसे मानसिक विनय है ॥१२७॥

गा०—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, परोक्ष विनय भी वह है जो गुरुके अभावमे उनकी आज्ञा निर्देशका आचरण करनेमे की जाती है ॥१२८॥

टी०—यह प्रत्यक्ष विनय है क्योकि गुरुके सामनेकी जाती है और गुरुके अभावमे जो उनकी आज्ञाका पालन किया जाता है वह गुरुके परोक्षमे होनेसे परोक्ष विनय है । 'आप मुमुक्षु है आपको ऐसा ही करना चाहिये और कभी भी उसके विपरीत नही करना चाहिये' यह आज्ञा निर्देश है । जैसे 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रमे सदा विहार करना चाहिये', इत्यादि ॥१२८॥

'न केवल गुरुकी ही विनय करना चाहिये किन्तु इनकी भी विनय करना चाहिये यह कहते है—

गा०—रत्नत्रयमें जो अपनेसे उत्कृष्ट है, रत्नत्रयमें जो अपनेसे हीन है उनमे, आर्यिकाओंमे और गृहस्थवर्गमे वह विनय जो जिस योग्य हो, प्रमाद रहित होकर करना ही चाहिये ॥१२९॥

टी०—जिस प्रकार इच्छित वस्तुको देनेमे समर्थ रत्न दुर्लभ है उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रत्न शब्दसे कहे गये हैं । अत' जो उत्कृष्ट श्रद्धान आदि परिणामो से युक्त है तथा अपनेसे न्यून रत्नत्रयसे युक्त है उनकी विनय करना चाहिये । अथवा 'रादिणिग ऊमरादिणिगेसु' ऐसा पाठ होनेपर भी अपनेसे जो व्रतोंमें ज्येष्ठ हैं और कनिष्ट है उनकी विनय करना चाहिये । शेष गाथा सुगम है ॥१२९॥

विनयाभावे दोषमाचष्टे–दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढता कर्तुम्—

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥१३०॥

'**विणएण विप्पहूणस्स**' विनयरहितस्य यते । '**हवइ सिक्खा णिरत्थिया सव्वा**' सर्वशिक्षा निष्फला । किं शिक्षायाः फलं इत्यारेकय आह—'**विणओ सिक्खाए फलं**' व्यावर्णित पञ्चप्रकारो विनय शिक्षायाः फल । तस्य विनयस्य किं फलं ? पुरुषार्थो हि फलमित्याशंक्याह '**विणयफलं सव्वकल्लाणं**' सर्वमभ्युदयनि श्रेयसरूपं कल्याणस्थानमानैश्वर्यादिकं इन्द्रियानिन्द्रियसुखं च ॥१३०॥

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य ॥१३१॥

'**विणओ मोक्खद्दारं**' यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तेरुपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरवशेषकर्मापायस्य प्राप्तावुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपिते पञ्चप्रकारे विनये स्त्यत्येवे (?) कर्मापायो भवतीति '**विणयादो**' विनयाद् हेतो '**संजमो**' सयमो भवति । ज्ञानादिविनयेषु अनवरतं प्रवर्तमानो ह्यसयम परिहर्त्तुं शक्नोति नापर । इन्द्रियकषाययोरप्रणिधान यदि न स्यात् कथमिन्द्रियसयम प्राणिसयमो वा भवति ? '**तवो**' तप ज्ञाना-

---

विशेषार्थ—प० आशाधरने अपनी टीकामे 'रादिणिग ऊमरादिणिगेसु' पाठ रखा है—'रादिणिगा' अपनेसे रत्नत्रयसे अधिक या समान साधु। ऊमरादिणिगा–अपनेसे हीन रत्नत्रय वाले, ऐसा अर्थ किया है। और लिखा है कि अन्य टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते है—रातिका और अवम रातिका अर्थात् जो अपनेसे तपमे एक रात आदि बडे या छोटे है ॥

दोष प्रकट करनेसे भय उत्पन्न कराकर विनयमे दृढ करनेके लिये विनयके अभावमे दोष कहते हैं—

गा०—विनयसे रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल होती है। शिक्षाका फल विनय है। विनयका फल सब कल्याण है ॥१३०॥

टी०—विनय रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल है; क्योकि पूर्वमे कही पाँच प्रकार की विनय शिक्षाका फल है और उस विनयका फल सर्व कल्याण है। सब लौकिक अभ्युदय और मोक्ष रूप कल्याण उसका फल है अर्थात् विनयसे मान, ऐश्वर्य आदि तथा इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख मिलता है ॥१३०॥

गा०—विनय मोक्षका द्वार है। विनयसे संयम, तप और ज्ञानकी प्राप्ति होती है। विनयसे आचार्य और सर्व संघ अपने वशमे किया जाता है ॥१३१॥

टी०—जैसे द्वार इष्ट देशकी प्राप्तिका उपाय होता है उसी तरह समस्त कर्मोंके विनाश रूप मोक्षकी प्राप्ति का उपाय विनय है इस लिये मोक्षका द्वार कहा है। पूर्वमे कही पाँच प्रकार की विनयके होनेपर ही कर्मोंसे छुटकारा होता है। विनयसे ही संयम होता है। क्योंकि जो पाँच प्रकारकी विनयोमें सदा लगा रहता है वही असंयमको त्यागनेमे समर्थ होता है, जो विनयोमें प्रवृत्ति नही करता वह असंयमको नहीं छोड सकता। यदि इन्द्रियों और कषायोंकी ओरसे विमुखता न हो तो कैसे इन्द्रिय संयम या प्राणिसंयम हो सकता है। तथा ज्ञानादिकी विनयसे

दिविनयशून्यं अनशनादिकं न कर्म तपतीति विनयहेतुकं तपसः तपस्त्वमिति मत्वोच्यते विनयात्तप इति। **'णाणं'** ज्ञान च विनयहेतुक। अविनीतो हि ज्ञान न लभते। **'विणएण'** विनयेन। **'आराधिज्जदि'** आराध्यते स्ववशे स्थाप्यते। **'आयरिओ'** आचार्यः। **'सव्वसंघो य'** सर्वश्च सघ. ॥१३१॥

आयारजीवकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा।
अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हादकरणं च ॥१३२॥

'आयारजीदकप्पगुणदीवणा' रत्नत्रयाचरणनिरूपणपरतया प्रथममङ्गमाचारशब्देनोच्यते। आचारशास्त्र-निर्दिष्ट क्रम आचारजीदशब्देन उच्यते। कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दण्ड स कल्पस्तस्य गुण. उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात्। अनयो प्रकाशन **'आचारजीदकप्पगुणदीवणा'**। एतदुक्त भवति–कायिको वाचिकश्च विनय प्रवर्तमान आचारशास्त्रनिर्दिष्ट क्रमं प्रकाशयति। कल्पोऽपि विनय विनाशयतो दण्डयतो विनय निरूप-यति। तद्भयादय प्रवर्त्यते इति कल्पसपाद्य उपकार प्रकटितो भवति इति केषाचिद् व्याख्यान। अन्ये तु वदन्ति। कल्पयते इति कल्प्य योग्य कल्प्या गुणा कल्प्यगुणा आचारक्रमस्य कल्प्याना च गुणाना प्रकाशन **'आचारजीवकल्पगुणदीवणाशब्देनोच्यते'** श्रुताराधना चारित्राराधना च कृता भवतीत्येतदाख्यात अनेनेति।

'अत्तसोधिणिज्झंझा' विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानदर्शनवीतरागात्मिकाया निमित्तमिति आत्मशुद्धि-रुच्यते। अथवा ज्ञानादिविनयपरिणति कर्ममलापायलभ्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मन पङ्कापायलभ्या जलादि-

---

शून्य अनशन आदि कर्मको नष्ट नही कर सकते। इसलिये तपमे तपपनाका कारण विनय है ऐसा मानकर 'विनयसे तप होता है', कहा है। तथा ज्ञानका कारण भी विनय है। अविनीत पुरुष ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। और विनयसे आचार्य तथा समस्त सघ अपने वशमे हो सकता है ॥१३१॥

गा०—आचारके क्रम तथा कल्प्य गुणोका प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्यका अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने और दूसरोको प्रसन्न करना, ये विनय के गुण है ॥१३२॥

टी०—रत्नत्रयके आचरणका कथन करनेमे तत्पर होनेसे पहले अगको आचाराग कहते है। और आचार शास्त्रमे कहे गये क्रमको 'आचारजीत' शब्दसे कहते है। 'कल्प्यते' अर्थात् जो अपराधके अनुरूप दण्डको कहता है वह कल्प है उसका गुण अर्थात् उपकार। इन दोनोका प्रकाश 'आचारजीदकप्पगुणदीवणा' है। इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक विनयके करनेसे आचारशास्त्रमे कहे गये क्रमका प्रकाशन होता है। कल्प भी विनयको न मानने वाले साधुको दण्डका विधान करता है अत. विनयका ही निरूपण करता है। उसके भयसे साधु विनय करता है इस प्रकार कल्पके द्वारा किया जाने वाला उपकार प्रकट होता है। ऐसा किन्ही का व्याख्यान है। अन्य टीकाकार कहते है—

'कल्प्यते इति कल्प्य' अर्थात् योग्य। कल्प्य गुणोंको कल्प्यगुण कहते है। आचारके क्रमका और कल्प्य गुणोका प्रकाशन 'आयारजीद कल्प गुण दोवणा' शब्दका अर्थ है। इससे यह कहा है कि विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्र की आराधना होती है। तथा विनय करना आत्म शुद्धिका अर्थात् ज्ञान दर्शन और वीतराग रूप परिणतिका निमित्त है। अथवा ज्ञानादि विनय रूप परिणति कर्ममलके विनाशसे प्राप्त होती है अत. उसे आत्माकी शुद्धि कहते है। जैसे

शुद्धिरिव । वैमनस्याभावो **'णिज्झंझा'** विमनस्को भवति विनयहीनो गुर्वादिभिरननुगृह्यमाण. ।

'अज्जवं' आर्जव नाम ऋजुमार्गवृत्ति., शास्त्रनिर्दिष्ट वा चरण ऋजु । **'मद्दव'** अभिमानत्यागो **मार्दव** परगुणातिशये श्रद्धानेन, तन्माहात्म्यप्रकाशनेन च विनयेन च अभिमाननिरास कृतो भवति । लाघव **विनीतो** हि आचार्यादिषु न्यस्तभरो भवतीति लाघव विनयमूल । **'भत्ती'** विनीतस्य हि सर्वजनो विनीतो भवति इति **विनयहेतुका** भक्ति: । **'पल्हादकरणं'** च प्रकृष्ट सुख प्रकृष्टसुख प्रह्लादस्तस्य करण क्रिया प्रह्लादकरण-मित्युच्यते । येषा विनय क्रियते तेषा सुख सपादित भवति इति परानुग्रहो गुण आत्मनो वा प्रह्लादकरण । कथमविनीतो हि निर्भर्त्सनादिभिरनवरत दु खितो भवति । विनीतो हि निर्भर्त्सनाद्यभावात् सुखी भवति । बाधाभावे एव सुखव्यवहारो लोके ॥१३२॥

कित्ती मेत्ती माणस्स भजणं गुरुजणे य बहुमाणो ।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥१३३॥

'कित्ती' विनीतोऽयमिति सशब्दन कीर्ति । **मेत्ती'** परेषा दु खानुत्पत्त्यभिलाषो **मैत्री** । परस्य **दु ख** नैवेच्छति विनीत इति । **'माणस्स भजणं'** मानस्य भङ्ग ।

ननु मार्दवशब्देनाभिहित एव मानभङ्ग पूर्वसूत्रे तत पौनरुक्त्य इति । उच्यते **'माणस्स भंजणं' 'परस्स'** इति शेष: एकस्य विनयदर्शनात् परोऽपि स्व मान जहाति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोक: ।

कीचडके दूर होनेसे जलादिकी शुद्धि होती है। 'णिज्झझा' का अर्थ वैमनस्यका अभाव है। जो विमनस्क होता है अर्थात् जिसका मन स्थिर नही होता वह विनय हीन होता है। गुरु उसपर अनुग्रह नही करते। ऋजु मार्ग पर चलनेको आर्जव कहते है और शास्त्रमे कहे गये आचरणको ऋजु कहते है। मार्दवका अर्थ अभिमानका त्याग है। दूसरेके गुणातिशयमे श्रद्धा करनेसे और उनके माहात्म्यको प्रकट करनेसे तथा विनय करनेसे अभिमानका निरास स्वय हो जाता है। जो विनीत साधु होता है वह अपना भार आचार्यपर सौपकर लघु हो जाता है अर्थात् आचार्य स्वयं उसकी चिन्ता करते है अत: लाघव का मूल विनय है। जो विनीत होता है सभी मनुष्य उसकी विनय करते है अत: विनय भक्तिका कारण है। प्रकृष्ट सुखको प्रह्लाद कहते है उसका करना प्रह्लादकरण है। जिनकी विनय की जाती है उनको सुख होता है इस प्रकार दूसरोको प्रसन्न करना विनयका गुण है। अपनेको प्रसन्न करना भी विनयका गुण है क्योकि जो अविनयी होता है सब उसका तिरस्कार आदि करते है अत: वह निरन्तर दुखी रहता है। और जो विनयी होता है उसका कोई तिरस्कार आदि नही करता, अत वह सुखी रहता है क्योकि लोकमें बाधाके अभावको ही सुख कहा जाता है ॥१३२॥

गा०—कीर्त्ति, मित्रता, मानका विनाश, गुरुजनोका बहुमान, और तीर्थङ्करोकी **आज्ञाका** पालन और गुणोकी अनुमोदना ये विनयमे गुण है, ॥१३३॥

टी०—यह विनयी है ऐसा कहना कीर्ति है। विनयीकी कीर्ति होती है। दूसरोको दु:ख न होनेकी भावना मैत्री है। जो विनीत होता है वह दूसरोको दु:ख नही चाहता। और मानका **भंग** होता है।

शङ्का—पूर्व गाथामे मार्दव शब्दसे मानभंगको कहा ही है। पुन: कहनेसे पुनरुक्तता **दोष** आता है?

नूनमभिमानत्यागो गुणो अन्यथा किमित्यय विनयं करोतीति । गुरवो हि बहुमान्या कृता भवन्ति विनयेनेत्याह—'**गुरुजणे य बहुमाणो**' इति ।

'**तित्थयराणं आणा सपाविवा होदित्ति**' शेष । विनयमुपदिशता तीर्थकृता आज्ञा सपादिता भवति, अनुष्ठितेन विनयेन । '**गुणानुमोदोय**' गुणिपु विनय प्रवर्तयता तदीयगुणानुमनन कृत भवति इति । केचिद् गुणेषु श्रद्धानादिपु हर्ष कृतो भवतीत्येव वदन्ति । एते विनयगुणाः । गुणशब्द उपकारवचनोऽत्र विनयजन्यत्वाद्विनयस्य गुणा इत्युच्यन्ते ॥१३३॥

विनयव्याख्यानानन्तर समाधिनिरूपणार्थ उत्तरप्रबध ! योग्यस्य, गृहीतलिङ्गस्य, ज्ञानभावनोद्यतस्य, ज्ञाननिरूपते विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मानस सम्यगाराधन न्याय्यमित्यधिकारसबन्धोऽनुगतव्य । चेतः समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति चोद्यद्वयप्रतिविधानार्था[1] गाथा ।

चित्तं समाहिदं जस्स होज्ज वज्जिदविसोत्तियं वसियं ।
सो वहदि णिरदिचारं सामण्णधुरं अपरिसंतो ॥१३४॥

'**चित्तं समाहिदं जस्स**' **जस्स चित्त वज्जिदविसोत्तिगं वसियं समाहिदं** इति पदघटना । यस्य चेतः परित्यक्ताशुभपरिणतिप्रसर वशवर्ति च यत्र नियुङ्क्ते तत्रैव तिष्ठति, तच्चित्त समाहितमिति ग्राह्यम् । [2]अत्रैव

समाधान—यहाँ परके मानभगको कहा है। एक की विनय देखकर दूसरा भी अपना मान छोड देता है, क्योकि लोग प्राय गतानुगतिक होते है। दूसरोको जैसा करता देखते है स्वय भी वैसा करते है। वे सोचते है—निश्चय ही अभिमानका त्याग गुण है, अन्यथा यह विनय क्यो करता। विनयसे गुरुवोका बहुत मान होता है क्योकि विनयी शिष्य अपने गुरुजनोका बहुत सम्मान करता है।

तथा तीर्थङ्करोकी आज्ञाका पालन होता है। अर्थात् विनयका उपदेश देने वाले तीर्थंकरो की आज्ञाका पालन विनय करने से होता है। तथा गुणीजनो की विनय करनेसे उनके गुणोकी अनुमोदना होती है। कोई कहते है कि श्रद्धानादि गुणोमे हर्ष प्रकट होता है। ये विनयके गुण हैं। यहाँ गुणशब्द उपकारवाची है। विनयसे पैदा होनेके कारण इन्हे विनयके गुण कहते है॥१३३॥

विनयका कथन करनेके पश्चात् समाधिका कथन करते है। जो योग्य हो, जिसने साधु लिंग स्वीकार किया हो, ज्ञान भावनामे तत्पर हो, शास्त्र निरूपित विनयका पालन करता हो और जिसका मन रत्नत्रय मे हो, उसको सम्यक् आराधना करना योग्य है, इस प्रकार अधिकार का सम्बन्ध लगाना चाहिये। अब समाहित चित्त कैसा होता है और उसका क्या फल है? इन दो प्रश्नो का उत्तर गाथा द्वारा देते है—

गा०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोके प्रवाहसे रहित और वशवर्ती होता है वह चित्त समाहित होता है। वह समाहित चित्त विना थके निरतिचार चारित्रके भारको धारण करता है ॥१३४॥

टी०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोके प्रवाहको छोड देता है और जहाँ उसे लगाया जाय वही ठहरा रहता है वह चित्त समाहित जानना। यहाँ यह विचार करते है कि यह चित्त

---

१ प्रतिविबोधना आ० मु० । २ अन्यैरेव आ० मु० ।

विचार्यते । किमिदं चित्तं नाम ? मन इति चेद् द्रव्यमनो भावमनश्चेति तद्द्विप्रकार, कस्येह ग्रहण ? न तावत् द्रव्यमन पुद्गलत्वादसभविनी कर्मादाननिमित्ततया परिणतिरिति । '**वज्जिदविसोत्तिगमिति**' विशेषणमसभवीति । न च तद्वशवर्त्यात्मन' । तेन भावमनो गृह्यते । नोइन्द्रियमति' सा रागादिसहभाविनी तद्रहिता चास्तीति युज्यते '**वज्जिद विसेसोत्तिगं**' इति विशेषण वसिगमिति च तस्या घटते । नोइन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमवत आत्मनो वशेन नोइन्द्रियमतिर्वर्तते । तथा हि रागकोपभयदु खादयो नटादीना वशेन परिणामा वर्तंते तत्कार्यपुलकादिदर्शनेनानुमीयमाना । तद्वदेव नोइन्द्रियमतिरपि आत्मेच्छया क्वचिदेवावरुद्धानुभूयते इति । '**सो**' स. '**समाहिदचित्तो**' वहति **वहदि** धारयति । तथा च प्रयोग —विणय वहति धारयति इति गम्यते । '**निरदिचारं**' निरतिचार निर्दोष । कि ? **सामण्णधुरं** रागकोपानुपप्लुतचित्त समण इत्युच्यते । तथा च नैरुक्तका वदन्ति '**सममणो**' समणो इति । समणस्स भावो सामण्ण । तच्च किं ? समानता चारित्रं । तस्य भार कीदृश निरतिचार निर्मल । '**अपरिसंतो**' अश्रान्तश्चारित्रभारोद्वहन फल समाहितचित्तस्येत्याख्यात भवति । अनिभृतमनस्ताया दोषाख्यानव्याजेन निभृत मन कार्यमिति द्रढयत्युत्तरगाथया । कश्चित्कचिदुज्जयिनीस्थ दक्षिणापथाभिमुखमाह अल्पधान्य क्षुद्रजनबहुलो द्रमिलदेश इति । स एवमुक्त प्रत्येति अय जनपद सुभिक्ष सुजनाधिवासः इति ॥१३४॥

चालणिगय व उदयं सामण्ण गलइ अणिहुदमणस्स ।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१३५॥

क्या है ? यदि चित्तसे मतलब मनसे है तो उसके दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन । यहाँ किसका ग्रहण किया है ? द्रव्यमनका ग्रहण तो सभव नही है क्योकि पौद्गलिक होनेसे कर्मोके ग्रहणमे निमित्त रूपसे उसकी परिणति सभव नही है । तथा 'वज्जिदविसेसोत्तिग' यह विशेषण भी सभव नही है । तथा द्रव्यमन आत्माके वशवर्ती भी नही है । अत चित्तसे भावमनका ग्रहण होता है । वह भावमन नोइन्द्रियमति है और नोइन्द्रियमति रागादि सहित और रागादि रहित होती है । उसमे 'वज्जिद विसेसोत्तिग और 'वसिग' दोनो विशेषण घटित होते है । नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम वाले आत्माके नोइन्द्रियमति होती है अत वह उसके वशवर्ती है । जैसे राग, कोप, भय और दुःख आदि परिणाम नट आदिके अधीन होते है क्योकि उनका कार्य देखकर दर्शकोको रागादि होते है । इससे अनुमान किया जाता है कि रागादि परिणाम नट वगैरहके वशवर्ती है । उसी तरह नोइन्द्रिय मति भी आत्माकी इच्छासे किसी एक विषयमे रुकी हुई अनुभवमे आती है । अर्थात् आत्माकी इच्छानुसार भावमन किसी भी विषयमे लीन हो जाता है । वह समाहित चित्त निर्दोष 'सामण्णधुरा' को धारण करता है । जिसका चित्त राग द्वेषसे अबाधित होता है उसे समण कहते है । निरुक्तिकार कहते है 'सममणो समणो' समता युक्त मन जिसका है वह समण है और समणके भावको सामण्ण कहते है । वह समानता चारित्र है । उसके निरतिचार अर्थात् निर्मल भारको वह अश्रान्त होकर धारण करता है । इससे यह बतलाया है कि समाहित चित्तका फल चारित्रके भारको धारण करना है । जैसे किसी उज्जयिनीके निवासीको जो दक्षिणापथकी ओर जाता था किसी ने कहा कि द्रमिल देशमे अन्नकी कमी है और क्षुद्र जनोसे भरा है । उसके ऐसा कहने पर वह जान लेता है कि यह देश सुभिक्षशाली और सुजनोंसे भरा है । उसी तरह चित्तकी चंचलतामे दोष कहनेके बहानेसे ग्रन्थकार उत्तर गाथासे यह दृढ़ करते है कि मनको निश्चल करना चाहिये ॥१३४॥

'चालणिगयं व उदयं' उदकमिव चालनीगतं । **'सामण्णं'** सामान्यं समानभावो । **'गलइ'** गलति । कस्स **'अणिहुवमणस्स'** अनिभृत चेतो यस्य । **'कायेण य वायाए'** कायेन च वचसा च । **'जदि वि चरदि'** यद्यपि चरति प्रवर्तते भिक्षु. । **'जधुत्तं'** यथाशास्त्रेणोक्त ।' तथा वाक्कायाभ्यामाचरतोऽपि मनोनिभृतताभावे श्रामण्यं नश्यतीत्यर्थ । तस्माच्चेत समाधानं कार्यमित्युपसहार ॥१३५॥

मनसो दुष्टता प्रपञ्चेनोपदिश्य तदेवभूत मनो यो निगृह्णाति तस्य श्रामण्य भवति समानभावो नेतरस्येत्येतदुत्तरप्रबन्धेनोच्यते तद्दौरात्म्यप्रकाशनार्थ गाथापञ्चकम्—

वादुब्भामो व मणो परिधावइ अटि्ठदं तह समंता ।
सिग्घं च जाइ दूरंपि मणो परमाणुदव्वं वा ॥१३६॥

'वादुब्भामो' इत्यादिक । **'वादुब्भामो व'** वात्येव । **'मणो'** मन । **'परिधावइ'** धावति परिरनर्थक प्रलंबित इति यथा । **'अट्ठिदं'** इति क्रियाविशेषण अस्थित धावति । क्वचिद्विषयेऽनवस्थितिराख्याता मनस । **'तह समंता'** तथा समतात् । **'दूरं'** पि दूरमपि । **सिग्घं च जाइ'** शीघ्र याति । **'मणो'** मन । **'परमाणुदव्वं वा'** परम प्रकृष्टो अणु सूक्ष्म परमाणु स एव द्रव्य गुणपर्यायगमनात् तदिव । एतेन झटिति दूरस्थितविषयग्रहण तस्य दौरात्म्यमावेदितं ॥१३६॥

अंधलयबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ ।
दुक्खो य पडिणियत्तेदुं जो गिरिसरिदसोदं वा ॥१३७॥

गा०—जिसका चित्त चंचल है उसका समान भाव चालनीमे रखे पानीकी तरह गल जाता है । यद्यपि वह भिक्षु कामसे और वचनसे शास्त्रमे कहे अनुसार आचरण करता है ॥१३५॥

टी०—इसका सार यह है कि वचन और शरीरसे शास्त्रानुसार आचरण करने वाले भी साधुका मन यदि निश्चल नही है तो उसका श्रामण्य नष्ट हो जाता है। अत चित्तको स्थिर करना चाहिये । यह उपसहार है ॥१३५॥

मनकी दुष्टताका विस्तारसे कथन करके, इस प्रकारके मनको जो वशमे करता है उसके समान भावरूप श्रामण्य होता है, अन्यके नही होता, यह आगे कहते है । प्रथम ही पाँच गाथाओं से मनकी दुष्टता प्रकट करते है—

गा०—बडे जोरसे चलने वाली हवाकी तरह मन उसीकी तरह चहुँ ओर अस्थिर रूपसे दौडता है । और परमाणु द्रव्यकी तरह मन दूरवर्ती भी वस्तुके पास शीघ्र जाता है ॥१३६॥

टी०—प्रचण्डवायुकी तरह मनके अस्थिर गमनसे यह बतलाया है कि मन किसी भी विषयमे स्थिर नही रहता । तथा दूरवर्ती वस्तुके पास परमाणु द्रव्यकी तरह शीघ्र जाता है। परम अर्थात् प्रकृष्ट, अणु अर्थात् सूक्ष्म जो है वह परमाणु हैं। वह परमाणु द्रव्य है क्योकि गुण पर्यायो वाला है। इससे मनकी दुष्टता बतलाई है कि वह दूर स्थित विषयको झट ग्रहण कर लेता है (जैसे परमाणु एक समयमे चौदह राजु गमन करता है) ॥१३६॥

गा०—मन अन्धे बहरे और गूँगेके समान है शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। और पहाडी नदीके प्रवाहकी तरह लौटाना अशक्य है ॥१३७॥

'अंधलयबहिरमूओ व्व मणो हवइ' इति शेष । अंधवद्बधिरवन्मूकवच्च भवति मन । **कदाचित्क-थचित्क्वचिद्विषये सक्तं** मन. सन्निहितमपि विषय न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति । ननु **चक्षुरादेः** कर्तृता **दर्शनादौ न** मनसस्तत्सर्वदापि न किंचित्पश्यति, न शृणोति वक्ति वा ? उच्यते—मनस **करणस्य** कर्तृता परशुश्छिनत्तीति यथा । एतदुक्त भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवचनादिके, **स्वपरहिते** **वाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्मनसो** दुष्टतेति । यथा भृत्यो दुष्ट इत्युच्यते स्वामिना नियुक्ते कर्मण्यप्रवर्तमान । एव मनोऽप्यात्मना नियुक्तेऽव्यापृतेदुष्टमिति भाव । **'लहुमेव विप्पणासेदि य'** आशु विनश्यति च । **अनित्य-**तादोषस्तु वस्तुयाथात्म्यग्राहिणो मनस. नो इन्द्रियमते । **'दुक्खो य'** दुःख अशक्य । **'पडिनियत्तेदुं जं'** प्रति-निवर्त्तयितुं वस्तुन्यभूतरूपग्रहणे भूतरूपनिरासे च प्रवृत्त ता[1]भ्या निवर्तयितुं न शक्य रागादिसहचारित्वात् प्रतिनिवर्तयितु । किमिव **'गिरिसरिदसोदंव्व'** गिरिनदीप्रवाह इव ॥१३७॥

तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदुं दुट्ठओ जहा अस्सो ।
वीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धणिदं ॥१३८॥

'तत्तो' तस्मात्प्रतिनिवर्तनात । **'दुक्खे'** दुष्करे **'पथे'** मार्गे । **'पाडेदु'** पातयितु । किमिव । **'दुट्ठओ जहा अस्सो'** दुष्टोऽजानेयालो यथैवाश्व । एतेन दुष्करमार्गविपातित्वदोष प्रकटित । **'वीलणमच्छोव्व'** मसृणतरदेह-मत्स्य इव । **'धणिदं दुक्करो णिघेत्तुं'** नितरा दुष्कर ग्रहीतु मन । एतेन दुरवग्रहता ख्याता ॥१३८॥

टी०—मन अंधे, बहरे और गूगे मनुष्यकी तरह है क्योकि कभी-कभी किसी विषयमे आसक्त मन निकटवर्ती भी विषयको नही देखता, नही सुनता, और नही बोलता ।

शङ्का—देखने आदिका काम तो चक्षु आदि इन्द्रियोका है, मनका नही । मन तो सदा ही न कुछ देखता है, न सुनता है, न बोलता है ।

समाधान—मन करण है फिर भी उसे कर्ता कहा है । जैसे परशु लकडी काटनेमे करण है फिर भी उसे कर्ता कहा जाता है परशु काटता है । इसका आशय यह है कि देखने योग्य जीवादिमे, सुनने योग्य जिन वचन आदिमे और स्वपरका कल्याण करने वाले वचनोमे मनका प्रवृत्त न होना उसकी दुष्टता है । जैसे जो सेवक स्वामीके द्वारा कहे गये कार्यमे प्रवृत्त नही होता उसे दुष्ट कहा जाता है । उसी तरह मन भी आत्माके द्वारा नियुक्त कार्यमे प्रवृत्त न होनेसे दुष्ट कहा जाता है । तथा शीघ्र नष्ट हो जाता है । इससे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले मनकी अनित्यताका दोष बतलाया है । तथा वस्तुके अविद्यमान स्वरूपको ग्रहण करनेमे और विद्यमान स्वरूपका निरास करनेमे प्रवृत्त हुए मनको उससे हटाना वैसे ही अशक्य है जैसे पहाडी नदीके प्रवाहको लौटाना अशक्य होता है; क्योकि मन रागादिभावमे आसक्त होता है ॥१३७॥

गा०—अयोग्य विषयसे हटानेसे मन दुष्कर मार्गमे गिराता है । जैसे दुष्ट घोडा गिराता है । अति चिकने मच्छकी तरह पकडने मे अत्यन्त दुष्कर है ॥१३८॥

टी०—जैसे कुमार्गपर चलते हुए दुष्ट घोडेको रोकनेसे वह मार्गमें गिरा देता है वैसे ही मन भी खोटे मार्गमें गिराता है । इससे दुष्कर मार्गमे गिरानेका दोष प्रकट किया । तथा जैसे

---

१. तु यदन्य आ० मु० । २. द्वाभ्या आ० ।

जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति ।
भीमासुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥१३९॥

'**जस्स य**' यस्स च । '**कदेण**' करोति क्रियासामान्यवाची इह चेष्टावृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः यस्य मनसश्चेष्टितेन जीवा संसारं पञ्चविधं परावर्तं परिभ्रमन्ति । '**अणंतगं**' अनन्तप्रमाणावच्छिन्नं । '**भीमासुहगदिबहुलं**' भयावहाशुभनरकादिगतिप्रचुरं । '**दुक्खसहस्साणि**' शारीरागन्तुकमानसस्वाभाविकाख्यानि प्रत्येकमनेकविकल्पानि । '**पावंता**' प्राप्नुवन्तो जीवाः । एतेन चतुर्गतिपरावर्तमूलतादोषः प्रकटितः ॥१३९॥

जम्हि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा ।
णासंति रागदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स ॥१४०॥

'**जम्हि**' यस्मिंश्च मनसि । '**वारिदमेत्ते**' वारित एव मात्रग्रहणं वारणादन्यं निराकर्तुमुपात्तं । मनोनिवारणादेव '**रागदोसादिया**' रागद्वेषादयः । '**णासंति खु**' नश्यन्त्येव । '**सज्जो**' सद्यः तदानीमेव । '**संसारकारया**' परावर्तपञ्चकस्य संपादनोद्यताः ॥१४०॥

इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पंडिट्ठवेदि य अकंपं ।
सुहसंकप्पपयारं च कुणदि मज्झायसण्णिहिदं ॥१४१॥

चिकने शरीर वाली मछलीको पकडना कठिन है वैसे ही मनको रोकना बहुत कठिन है। इससे 'दुरवग्रहता' नामक दोष कहा ॥१३८॥

गा०—जिस मनकी चेष्टासे जीव हजारों दुःख भोगते हुए भयंकर अशुभ गतियोंसे भरे हुए अनन्त संसारमें भ्रमण करते हैं ॥१३९॥

टी०—गाथामें आया 'कदेण' शब्द करने रूप क्रियासामान्यका वाची है किन्तु यहाँ उसका अर्थ चेष्टा लिया है। अतः ऐसा अर्थ होता है कि जिस मनकी चेष्टासे जीव पाँच परावर्तन रूप संसारमें भ्रमण करते हैं, वह संसार अनन्त प्रमाण वाला है और उसमें भयानक नरक आदि अशुभ गतियोंका बाहुल्य है। तथा वे जीव शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक स्वाभाविक आदि अनेक प्रकारके दुःखोंको पाते हैं। इससे 'चतुर्गतिमें भ्रमणका मूल' दोष प्रकट किया ॥१३९॥

गा०—जिस मनके निवारण करने मात्रसे मनुष्यके सब संसारके कारक राग द्वेष आदि दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥१४०॥

टी०- 'वारिदमेत्ते' में 'मात्र' पदका ग्रहण निवारणसे अन्यका निराकरण करनेके लिये किया है। अर्थात् अन्य कुछ न करके मात्र मनको रोका जाये तो पाँच परावर्तन रूप संसारके कारण सब दोष तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥१४०॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो दुष्ट मनको रागादिसे निवारण करता है, और निश्चलरूपसे श्रद्धानरूप परिणामादिमें स्थापित करता है। तथा शुभसंकल्पोंमें मनको प्रवृत्त करता है और स्वाध्यायमें मनको लगाता है उसके सामण्ण-समताभाव होता है ॥१४१॥

'इय' एव व्यावर्णितरूपेण । **'दुट्ठयं'** दुष्टक दुष्ट । **'मणं'** मनो । **'जो वारेदि'** यो निवारयति रागादिभ्य । **'परिट्ठवेदि य'** प्रतिष्ठापयति च श्रद्धानपरिणामादौ । **'अकंपं'** निश्चल । क्रियाविशेषणमेतत् । **तस्स सामण्णं होदि** वक्ष्यमाणेन सबन्ध । **'सुभसकप्पपयारं जो कुणदि तस्स सामण्णं होदित्ति'** सबधनीय । शुभ सकल्प. तस्मिन्प्रकृष्टश्चारो गमन प्रवृत्तिर्यस्य मनसस्तच्छुभसकल्पप्रचार मनो य करोति । **'सज्झायसण्णिहिवं' च जो कुणदि तस्स सामण्ण इति** सबन्धते । सम्यगध्ययन स्वाध्याय द्रुतविलबितादिदोषरहितत्व अर्थव्यञ्जनशुद्धिश्च सम्यक्त्व । स पुन पञ्चप्रकार वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन ।

प्रश्नस्य कथं स्वाध्यायता ? प्रश्नो हि ग्रन्थेऽर्थे वा सशयच्छेदाय इत्थमेवैतदिति निश्चितार्थबलाधानाय वा प्रच्छन । न हि य पृच्छति ग्रन्थमर्थ वा सोऽधीते ? अध्ययनप्रवृत्त्यर्थत्वात् प्रश्नेऽध्ययनव्यपदेश इन्द्रप्रतिमार्थे दारुणि इन्द्र[1]व्यपदेश इव । अथवा किमिदमेव पठितव्यमिति अधीत एव ग्रन्थे सदिहान । अर्थसदेहेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वायमर्थ इति । यद्वाप्यते एव निश्चितबलाधानार्थे प्रश्ने यो[2]ज्यम् ।

अनुप्रेक्षा कथ स्वाध्याय ? अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा अन्तर्जल्परूपमध्ययनमस्त्येव तत्रापीति मन्यते ।

घोषपरिशुद्ध श्रुत परावर्त्यमान आम्नाय स्वाध्यायो भवत्येव ।

आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेदनी चेति कथाश्चतस्रस्तासामुपदेशो धर्मोपदेश स च स्वाध्याय । एतस्मिन्स्वाध्याये सम्यक् निहित निक्षिप्त मनो य करोति इत्यर्थ ।

टी०—जो ऊपर कहे अनुसार रागादिसे दुष्ट मनको हटाता है और श्रद्धानादिमे निश्चलरूपसे मनको स्थापित करता है उसके सामण्ण होता है इस प्रकार आगेके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। शुभ संकल्पमे प्रकृष्ट चार प्रचार अर्थात् प्रवृत्ति जिसके मनकी है अर्थात् जो मनको शुभ सकल्पोमे लगाता है उसके सामण्ण होता है। सम्यक् अध्ययनको स्वाध्याय कहते है। जल्दी पढना या देरसे धीरे-धीरे पढना इत्यादि दोषोसे रहित होना तथा अर्थशुद्धि और वचनशुद्धिका होना सम्यकपना है। उस स्वाध्यायके पाँच भेद है—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। प्रश्न कैसे स्वाध्याय है यह बतलाते है—ग्रन्थ अथवा अर्थके सम्बन्धमे सशयको दूर करनेके लिए अथवा निश्चित अर्थको पुष्ट करनेके लिए पूछना प्रश्न है। जो ग्रन्थ या अर्थको पूछता है वह अध्ययन नही करता, किन्तु ऐसा करना अध्ययनकी प्रवृत्तिके लिए होता है इससे प्रश्नको अध्ययन कहा है। जैसे इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए लाये गये काष्ठको इन्द्र कहा जाता है। अथवा 'क्या इसे इस प्रकार पढना चाहिए' इस तरह पढे हुए ही ग्रन्थमे सन्देह करना, तथा अर्थमे सन्देह होनेपर भी 'क्या इस पद अथवा वाक्यका यह अर्थ है' इस प्रकार पूछना स्वाध्यायका कारण होनेसे स्वाध्याय है। इसी प्रकार निश्चित अर्थको दृढ करनेके लिए भी प्रश्नकी योजना करनी चाहिए। अनुप्रेक्षा कैसे स्वाध्याय है ? जाने हुए अर्थका मनसे अभ्यास करनेको अनुप्रेक्षा कहते है। इसमे भी अन्तर्जल्परूप अर्थात् मन ही मनमे अध्ययन होता ही है। शुद्ध उच्चारणपूर्वक श्रुतका पाठ करना आम्नाय है। यह तो स्वाध्याय है ही। आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी इस प्रकार चार कथाएँ है। उनका उपदेश धर्मोपदेश है। यह भी स्वाध्याय है। इस स्वाध्यायमे जो मनको सम्यक्रूपसे लगाता है उसके सामण्ण होता है।

---

१. तर्हि यदृच्छावग्रहमर्थं वा–आ० मु० ।   २ द्रव्यव्य–आ० मु० ।

अत्रैवं पदघटना अध्याहृतं कृत्वा '**इय दुट्ठकं मणो सो वारेदि अकंपं पडिट्ठवेदि य जो मणं सुभसकप्पपयारमेव कुणदि सज्झायसण्णिहिदं काऊण इति**'। एव दुष्ट मन स वारयति निश्चल प्रतिष्ठापयति वा। यो मन. शुभसकल्पप्रचारमेव करोति। स्वाध्याये सन्निहित कृत्वेति सूत्रार्थ । तस्येत्थंभूतस्य श्रामण्य समानता वा भवति ॥१४१॥

जो विय विणिप्पडंतं मणं णियत्तेदि सह विचारेण।
णिग्गहदी य मणं जो करेदि अदिलज्जियं च मणं ॥१४२॥

'**जो वि य**' यश्चापि। '**विणिप्पडत**' वि शब्दो नानार्थ , निर् इत्युपसर्गो बहिर्भावे, पडिर्गमनार्थ । ततोऽयमर्थोऽस्य पदस्य विचित्र बहिर्निर्गच्छन्निवर्तयेदिति। ननु च सत्यभ्यतरे कस्मिश्चित्तदपेक्षो भवति बहिर्भावस्तत किम्? अभ्यन्तरमिह गृहीतं रत्नत्रय। कथमस्याभ्यन्तरता? आत्मनो निजस्वरूपमिति। रागकोपादयस्तु चारित्रमोहोदयजा भावा परिणामा बाह्या मिथ्यात्वासयमकषायादिभेदेन विचित्रास्तदभिमुखतया प्रवृत्त । '**णियत्तेदि सह विचारेण जो**' इति शेष

कोऽसौ विचार ? उच्यते—इद तत्त्वाश्रद्धान, इय च हिंसादिपरिणतिरय वा क्रोधादिको भावो मया परिणामिकारणभूतेन निर्वर्त्यमानो जातिजरामरणपरिणामरूपानन्तमसारकारणाना कर्मणा मूलोत्तरप्रकृतिभेदेन सख्यात[1]विकल्पाना, स्थितिविशेषमात्मप्रदेशेष्ववस्थानरूप, तीव्रमध्यममन्दरूपाश्रद्धानासयमकषायपरि-

---

इस प्रकार जो दुष्ट मनका निवारण करता है और उसे श्रद्धानादिमे स्थिर करता है तथा जो मनको शुभसकल्पोमे ही लगाता है और स्वाध्यायमे प्रवृत्त रहता है उसके श्रामण्य अथवा समता होती है ॥१४१॥

गा०—जो भी रत्नत्रयसे च्युत होकर विचित्र रागादिमे जानेवाले मनको विचारोके साथ हटाता है, और जो मनको निन्दा गर्हाके द्वारा निगृहीत करता है—उसकी निन्दा करता है, और मनको अति लज्जित करता है उसके सामण्ण होता है ॥१४२॥

टी०—'विणिप्पडत' मे 'वि' शब्दका अर्थ अनेक है, 'निर' यह उपसर्ग बहिर्भावके अर्थमे है और 'पडि' का अर्थ गमन है। अत इस पदका अर्थ है अनेक बाह्य विषयोमे जानेवाले मनको रोके।

शङ्का—किसी अभ्यन्तरके होनेपर उसकी अपेक्षा बहिर्भाव होता है यहाँ वह अभ्यन्तर कौन है?

समाधान—रत्नत्रय है और वह आत्माका निजस्वरूप होनेसे अभ्यन्तर है। राग-कोप आदि तो चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले भाव है, वे बाह्य है। तथा मिथ्यात्व, असयम और कषाय आदिके भेदसे नाना है। उनके अभिमुखरूपसे प्रवृत्तिको जो विचारोमे रोकता है।

शंका—वह विचार कौन है?

समाधान—यह जो तत्त्वका अश्रद्धान है, अथवा हिंसादिरूप परिणति है, अथवा क्रोधादि भाव है, इन रूप मै परिणमन करता हूँ तो ये हिंसादिरूप परिणाम जन्म जरा मरण परिणामरूप अनन्त संसारके कारण जो कर्म है, जो मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे संख्यात[1]भेदवाले हैं,

---

१ संख्यातासख्यात–आ० मु०।

णामनिर्वर्तनसामर्थ्यमनुभवाख्य च निर्वर्तयति । तानि चात्मप्रदेशस्थान्यनन्तप्रदेशपुद्गलस्कन्धद्रव्याणि सन्निहित-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावसहायापेक्षया पुनरपि मिथ्यात्वादिपरिणाममापादयन्ति । न हि सन्निहिताविकलकारण-समूहस्य कार्यस्य अनुत्पत्तिर्नाम सभाव्यते । तेन चाश्रद्धानादिपरिणामेन तथैव कर्मणामादान, आत्तानां स्थिति', सामर्थ्यातिशय इत्यादिका परपरता तयानन्तकालपरिभ्रमणमिति महानयमनर्थो मम भविष्यतीति, एवभूतेन विचारेण मनो निवर्तयति यस्तस्य श्रामण्यमिति सबन्ध । '**णिग्गहदि य मण जो**' यो मनो निगृह्णाति '**हा दुट्ठं चिंतितमिदमिति**' निन्दागर्हाभ्या तस्य श्रामण्यमिति सबन्ध । '**करेदि अविलज्जियं च मणं**', करोत्यतीव लज्जा-परं यो मन । कथ ससारमहित तत्कारणभूतान्परिणामान्मुक्ति तदुपायाश्च भावानधिगच्छत श्रद्धानस्य तत्परि-णामव्यपोहनार्थमेव गृहीतनिर्ग्रन्थलिगस्य चिन्तेयमयुक्तेति, निरूपयति, अतिव्रीडा मनसो जनयति ॥१४२॥

दासं व मणं अवसं सवसं जो कुणदि तस्स सामण्णं ।
होदि समाहिदमविसोत्तियं च जिणसासणाणुगदं ॥१४३॥

'**अवसं दासं व मणं सवसं जो कुणदि**' इति पदसबन्ध । **दासं** व चेटिपुत्र अवशवर्तिन यथा कश्चि-द्बलात्स्ववश करोत्येवमधीतजिनवचन आत्मनो मनो निरवग्रहतया प्रवृत्त अशुभपरिणामप्रसरे यदि नाम तथापि बलात्तन्निर्भर्त्स्याभिमतशुभभावपरपरानुकूलतया य स्थापयति जैनमतामृतास्वादकारितत्सामर्थ्यातिशयस्तस्य

उनके स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धके कारण होते है। आत्माके प्रदेशोमे कर्मोके अवस्थानका नाम स्थितिबन्ध है और तीव्र मध्यम मन्दरूप अश्रद्धान, असयम और कषायरूप परिणामोको उत्पन्न करनेकी शक्तिको अनुभाग बन्ध कहते है। आत्माके प्रदेशोके साथ बन्धको प्राप्त हुए वे अनन्तप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध सम्बद्ध द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भावकी सहायता पाकर पुन. मिथ्या-त्वादिरूप परिणामो की उत्पत्तिमे सहायक होते है। क्योकि जिस कार्यके समस्त कारण पूर्णरूपसे विद्यमान होते है वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न हुए अश्रद्धानादिरूप परिणामसे पुन उसी प्रकारसे नवीन कर्मोका बन्ध होता है। उनमे स्थिति और अनुभाग शक्ति पडती है। इस प्रकार यह परम्परा चलती है। उस परम्परामे अनन्तकाल तक ससारमे भ्रमण करना पडता है। इस प्रकार अश्रद्धान आदिरूप परिणाम करनेसे मेरा महान् अहित होगा। इस प्रकारके विचारसे जिसका मन अश्रद्धान आदिसे हटता है उसके श्रामण्य होता है। तथा जो मैने बुरा किया, बुरा विचारा इत्यादि निन्दा और गर्हासे मनका निग्रह करता है उसके श्रामण्य होता है। तथा जो मनको अत्यन्त लज्जित करता है—हे आत्मन्! ससार अहित है, उसके कारणभूत परिणामोको, मुक्तिको और मुक्तिके उपायरूप भावोको तू जानता है उनकी श्रद्धा करता है। ससारके उन कारणोको दूर करनेके लिए ही तूने निर्ग्रन्थलिग धारण किया है, तुझे ऐसी चिन्ता नही करनी चाहिए इस प्रकार मनको लज्जित करता है उसके श्रामण्य होता है ॥१४२॥

गा०—वशमे रहनेवाले दासकी तरह वशमे न रहनेवाले मनको जा अपने वशमे करता है, उसके एकमात्र शुद्ध चिद्रूपका अवलम्बन करनेवाला पाप परिणामोसे निवृत्त और जिन शासन-का अनुगामी श्रामण्य होता है ॥१४३॥

टी०—वशमे न आनेवाले दासीपुत्रको जैसे कोई बलपूर्वक अपने वशमें करता है, वैसे ही जो जिनागमका अभ्यासी अशुभपरिणामोके प्रवाहमे वे रोक प्रवृत्त हुए अपने मनको बलपूर्वक उसकी डाँट फटकार करके इष्ट शुभ भावोकी परम्पराके अनुकूल बनाता है, उसमे यह विशेष

'**सामण्णं**' समानता '**होदि**' भवति । '**समाहिदं**' एकमुख । '**अविसोत्तिगं**' दूरापसृतविश्वरूपाशुभपरिणामप्रवाहं । '**जिणसासणाणुगदं**' सपाटितद्रव्यभावकर्मकरपराभवाना यच्छासन–शिष्यते जीवादय पदार्था अनेनास्मिन्वेति शासन आगमस्तेनानुगतम् ।।१४३।।

योग्यस्य गृहीतमुक्त्युपायलिङ्गस्य श्रुतशिक्षापरस्य पञ्चविधविनयवृत्ते स्ववशीकृतमनस अनियतवासो युक्तः । कस्तत्र गुण ? इत्यारेकाया समाधिगतस्य अनियतविहारगुणप्रकटनार्थं उत्तरसूत्र—

दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं ।
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति ।। ४४।।

'**दंसणसोधी**' दर्शनशुद्धि । दृशिर प्रेक्षणे इति पठितोऽपि धातु श्रद्धानार्थवृत्तिरिह गृहीत । धातूनामनेकार्थत्वात् । तथा च सूत्र—'**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**' । [त०सू० १।२] इति जिनागमनिरूपितार्थविषयश्रद्धानमिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्नैर्मल्य । '**ठिदिकरण**' स्थितिकरण रत्नत्रयपरिणामस्यात्मनोऽनपाय [1] । तस्य करण स्थितिकरण । '**भावणा**' भावना अभ्यास पुन पुनर्वृत्ति । '**अदिसयत्तकुसलत्तं**' अतिशयितेष्वर्थेषु निपुणता । '**खेत्तपरिमग्गणावि य**' क्षियति [2] निवसन्ति तस्मिन्निति क्षेत्र । ग्रामनगरादिक क्षेत्र । तस्य क्षेत्रस्य अन्वेषणा च । अनियतस्थानवसने गुणा '**होंति**' भवन्ति ।।१४४।।

सामर्थ्य जैनमतरूपी अमृतका पान करनेसे आई है। उसके 'मामण्ण' अर्थात् समभावपना होता है। वह श्रामण्य एक मुख होना है, अशुभपरिणाम प्रवाहको, जिन्होने विश्वको अपने रगमे रंगा है, दूर करता है, और जिनशासनानुगत होता है। द्रव्य और भावकर्मके द्वारा किये जानेवाले पराभवोको जिन्होने नष्ट कर दिया है उन जिनका शासन। जिसके द्वारा या जिसमे जीवादि पदार्थ सिखाये जाते है उसे शासन कहते है अर्थात् जिनागमका अनुगामी होता है।।१४३।।

जो योग्य है, जिसने मुक्तिका उपाय जो निर्ग्रन्थलिंग है उसे स्वीकार किया है, श्रुतके अभ्यासमे तत्पर है, पाँच प्रकारकी विनयका पालन करता है, और जिसने मनको अपने वशमे कर लिया है उसके लिए अनियतवास युक्त है। उसमें क्या गुण है ? ऐसी शंका होनेपर समाधि करनेवालेके अनियत विहारके गुण प्रकट करते है—

गा०—दर्शन विशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थोंमे निपुणता और क्षेत्रका अन्वेषण ये अनियत स्थानमे बसनेमे गुण होते है।।१४४।।

टी०—दर्शन शब्द जिस 'दृशिर' धातुसे बना है यद्यपि उसका अर्थ देखना है फिर भी यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान ग्रहण किया है। क्योकि धातुओके अनेक अर्थ होते हैं। तत्त्वार्थसूत्रमे कहा भी है—'तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।' अत यहाँ दर्शन शब्दसे जिनागममे कहे गये अर्थोंका श्रद्धान लिया है। उसकी शुद्धि अर्थात् निर्मलता दर्शनविशुद्धि है। आत्माके रत्नत्रयरूप परिणामका नष्ट न होना स्थिति है। उसका करना स्थितिकरण है। पुन पुन अभ्यास करनेको भावना कहते है। ग्राम नगर आदि क्षेत्र है। उसकी खोज, ये सब अनियत स्थानमे बसनेके गुण हैं।।१४४।।

विशेषार्थ—समाधिमरणके इच्छुकको एक स्थानमे नही बसना चाहिए। अनियत स्थानमें

---

१. पायपरिणाम तस्य आ० मु०। २ क्षति आ०। क्षयंति मु०।

दसणशुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पत्ती य तित्थचिण्हणिसिहीओ ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

'**जम्मण**' जन्माभिनवशरीरग्रहण । तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते । गृहीतशरीरस्य वात्मनो जनन्युदराद्यत्र निष्क्रमण जात तद्वा । '**अभिणिक्खवणे**' रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं यस्मिन्क्षेत्रे तदिह निष्क्रमण । '**णाणुप्पत्ती य**' केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थयाथात्म्यग्रहणक्षम यत्केवल तदिह ज्ञानमिति गृहीत । सामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्ति प्रतीतैव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साहचर्यात् '**णाणुप्पत्ती य**' शब्देनोच्यते । '**तित्थं**' चिण्ह । तीर्थमिह समवशरण गृह्यते । तरन्ति तस्मिन्भव्या पापविनाशार्थिन इति । तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भा । '**णिसिहीओ**' निषिधीयोगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते । एतज्जन्मादिस्थान श्रुतेन प्रागवगत । '**पासंतस्स**' पश्यत । कस्य ? '**जिणाणं**' जिनाना '**सुविसुद्धं**' सुष्ठु विशुद्ध । '**दंसण**' श्रद्धान । '**होदि**' भवति । एतदुक्त भवति—

देशान्तरातिथे जिनाना जन्मादिस्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते । यथा काचिद्वर्ण्यमानरूपा विलासिनी परोक्षामगवन्य परस्य वचनोपजाताभिलाषस्य तस्या दर्शनपथमुपजाताया श्रद्धातिशयो जायते इति ।

बसनेके उक्त गुण कहे है । इन गुणोका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वय करते है । टीकाकारने भावनाका अर्थ पुन पुन अभ्यास किया है और प० आशाधरने परीषह सहन किया है । आगे ग्रन्थकारने भी यही अर्थ भावनाका किया है । अभ्याससे ही परीषह सहनकी सामर्थ्य होती है । सम्भवत. इसी भावसे भावनाका अर्थ अभ्यास किया है । लोकमे भावनाका यही अर्थ प्रचलित है ॥१४४॥

'दसणसुद्धी' इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

गा०—जिनदेवोके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और समवसरणके चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषीधिका स्थान देखनेवालेके सम्यक्रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन होता है ॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते है । वह जन्म जिस क्षेत्रमे हुआ, जन्मके साहचर्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है । अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका माताके पेटसे निकास जहाँ हुआ वह जन्म है । रत्नत्रय धारण करनेकी भावनासे घरसे बाहर जाना जिस क्षेत्रमे हुआ उसे निष्क्रमण कहा है । केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थो के यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेमे समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है, क्योकि सामान्यवाची शब्दोकी भी विशेषमे प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है । यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है । जिसमे पापके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते है वह तीर्थ है । उस समवसरणके चिह्न मानस्तम्भ है । निषिधि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमे हो उसे निषिधी कहते है । श्रुतसे पहले जाने हुए जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखता है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है । देशान्तरमे भ्रमण करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे किसी सुन्दर नारीको वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती है और उसे साक्षात् देखनेपर विशेष श्रद्धा होती है ।

अथवा जब तीर्थंकर जन्म लेते है तब अनियत विहार करने वाला यति तीन ज्ञानके धारी

अथवा यदा तीर्थकृत सभवन्ति तदा अनियतविहारो यतिर्जिनानां ज्ञानत्रयधारिणां अवाप्तस्वर्गावितरणपूजातिशयाना जन्माभिषेककल्याण भुवनभवनान्तर्लीनतमोवितानापनयनोद्यत, सुधापानमिव सकलप्राणभृदारोग्यविधायि, सुरविलासिनीनर्तनमिव सकलजगदानन्ददायि, प्रियवचनमिव मन.प्रसादकारि, पुण्यकर्मेव अगण्यपुण्यवितरणप्रवीण, लक्ष्मीपरिचारिकाभि साश्चर्यं ससभ्रमं ईक्षित, गुह्यकामरप्रकीर्णानेकसुरभिप्रसूनकरणगन्धानुभ्रमद्भ्रमरकृतकोलाहल अनारतप्रहतमगलभेरीभभाध्वनिभरितभुवनविवर, सुरवधूनर्तनजिगीषयेव सौधशिखररङ्गनृत्यत्प्रत्यग्रपञ्चवर्णपताकाविलासिनीक, हरिविष्टरप्रचलनोपनीतसाध्वसनवसुरवल्लभारभसकण्ठग्रहप्रीतिविकासिमुखशतमखसुख, सभ्रमोत्थितकृताञ्जलिपुटसुरपरिवारसादराकर्ण्यमानवज्रभृदाज्ञ, भेर्यादिध्वानाहूतप्रमुखसकलगीर्वाणचक्र, परस्परसघर्षगृहीतोत्तरवैक्रियिकदेवपृतनाव्याप्तपवनपथदेश, जन्माभिषेकसमयप्रयाणसपादानायातपौलोमीनूपुरध्वानचकितहसीविलासविराजमानगजमन्दिराङ्गण, ऐरावतावतीर्णप्रसारितवज्रिवज्रघनभुजार्गल, सुरकरप्रहारप्रसरद्दुभिभेरीध्वानसन्मिश्रसिंहनादबधिरितविशालाशामुख, प्रहतानेकप्रयाणकपटहगम्भीरधीराराव, असकलशशिकरावदातचमररुहविक्षेपदक्षबलभिन्निकुरुबजिनावलोकनव्यग्रसुराग्रमहिषीक, श्वेतातपत्रजलधरघटावरुद्धनभोमडल, विद्युदायमानपताकाकुल, इन्द्रनीलमयसोपानप्रयायिसुरपृतन, सुरगजरदनसरोनलिनदलरगशोभाविधायिनर्तकीसलीलपदन्यास, गृहीताष्टमगलदेवीसहस्रपुरोगान, देवप्रतीहारदूरापमार्यमाणक्षुद्रामरगण, आत्म-

---

और स्वर्गसे अवतरित होते समयकी विशिष्ट पूजाको प्राप्त जिनदेवके जन्माभिषेक कल्याणको देखता है। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घरमे छिपे हुए अन्धकारके फैलावको दूर करने मे तत्पर होता है। अमृतपान की तरह समस्त प्राणियोको आरोग्य देने वाला है। देवागनाओके नृत्यकी तरह समस्त जगत्को आनन्दमयी है, प्रियवचनकी तरह मनको प्रसन्न करता है। पुण्यकर्मकी तरह अगणित पुण्यको देने वाला है। लक्ष्मीरूपी परिचारिकाओ के द्वारा बडे आश्चर्य और शीघ्रता के साथ इसे देखा जाता है। गुह्यक जाति के देवोके द्वारा बरसाये गये अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोकी गन्ध पर मडराने वाले भौरो की गुजनके कोलाहलसे पूर्ण होता है। निरन्तर बजने वाली मगल भेरी और वाद्योकी ध्वनिसे समस्त भुवन भर जाता है। देवागनाओके नृत्यको जीतनेकी इच्छासे ही मानो महलोके शिखर पर पाँच वर्णकी पताका रूपी नृत्यागनाएँ नाचती है। भगवान्के जन्मके समय इन्द्रके सिहासनके कम्पनसे भयभीत हुई नवजन्म वाली दवागनाएँ जल्दीसे इन्द्रके कण्ठसे लिपट जाती है तब इन्द्रका मुख प्रेमसे खिल उठता है। तब देव परिवार जल्दीसे उठकर बडे आदरसे इन्द्रकी आज्ञा सुनता है। भेरीके शब्दको सुनकर इन्द्रादि प्रमुख सब देवगण एकत्र होते हैं. परस्परके सघर्षसे उत्तर वैक्रियिक शरीरको धारण करने वाले देवोकी सेनासे आकाश मार्ग व्याप्त हो जाता है। जन्माभिषेकके समय जिन बालकको लानेके लिये आई हुई इन्द्राणीके नूपुरोके शब्दसे चकित हुई हँसीके विलाससे राजमन्दिरका आँगन शोभित होता है। ऐरावतसे उतरकर इन्द्र अपनी वज्रमयी भुजाये फैला देता है। देवताओके हाथोके प्रहारसे ढोल और भेरीके शब्दके साथ मिला सिहनाद विशाल दिशाओको बधिर कर देता है। गमन करते समय बजाये जाने वाले अनेक नगारोका गम्भीर शब्द होता है। इन्द्रोका समूह अपूर्ण चन्द्रमाकी किरणोके समान शुभ चमरोको दक्षतापूर्वक ढोरता है। इन्द्राणियाँ बालक जिनका मुख देखनेके लिये उत्कण्ठित होती हैं। श्वेत छत्ररूपी मेघोकी घटाओसे आकाश ढक जाता है। पताकाये बिजुलीकी तरह प्रतीत होती है। इन्द्रनीलमय सीढ़ियोकी तरह देवसेना गमन करती है। ऐरावतके दाँतों पर बने सरोवरोंमे खिले कमलके पत्रों पर नर्तकियाँ लीलाके साथ पद निक्षेप करती हुई नृत्य करती

रक्षदेवसहस्रसंपाद्यमानरक्षाविधान, नर्तनव्यग्राद्भुतविग्रहाग्रेसरभूत, प्रदक्षिणीकृतसुराचल, आरूढसुरगिरिशिखरायमाणसिंहासन, तद्देवकुमारपरपरानीतक्षीरवारिधिजलभरितरत्नकलशकृताभिषेक, पौलोमीरचितबालानुरूपमण्डन, गुणस्तवव्यापृतेंद्रवैतालिकसहस्र, सुराधिपरचितजन्मोत्सवनर्तन, जन्माभिषेककल्याण पश्यति तस्य पश्यत' ।

अभिनिष्क्रमण वा जिनानामीदृक् तदिति वण्यते । सर्व एव जिना समधिगतोदीरितजन्माभिषेककल्याणा, शतमखशासनस्थसादरधनदोपनीयमानदिव्योचिताङ्गरागवसनभोजनवाहनालंकारसपत्सदोहा मनोनुकूलक्रीडासपादनचतुरदेवकुमारपरिवारा, केचित्पुरातनपुण्यपरिपाकोदयाचलोद्गतविराजमानारकसहस्रचक्रविसहायेन अमेयभुजविक्रमेण वशीभूताशेषमागधप्रभासादिदेवविद्याधरभूमिपालसहतय, सुरकुमारीरूपयौवनविभ्रमापहसनचतुरानेकद्वात्रिंशद्वीसहस्राननारविंदविकामनोद्यता, पाकशासनप्रहितनर्तकीनृत्तावलोकनविनोदा, सादराकर्णितकिन्नरादिदेवगान्धर्वगीता, कालमहाकालादिनवनिधिप्रभव, प्रत्येकदेवसहस्रपरिपाल्यमानचक्रादिचतुर्दशरत्नानुयाता, द्वात्रिंशत्सहस्रमुकुटबद्धशातकुम्भघटितमोलि[1]तटमकरिकास्थितरत्नप्रदीपाली-

हुई नृत्य करती है। हजारो देवियाँ हाथोमे अष्ट मगल लिये हुए आगे गमन करती है। देवोके द्वारपाल क्षुद्र देवगणोको वहाँसे दूर कर देते है। हजारो आत्मरक्ष जातिके देव रक्षा करनेमे तत्पर रहते हैं। नाचनेमे मग्न अद्भुत शरीरधारी देव आगे रहते है। सब सुमेरुको प्रदक्षिणा करते हैं। सुमेरुके शिखरके समान सिंहासन पर भगवान्को विराजमान करते है। देवकुमारोकी परम्परासे लाये गये क्षीर समुद्रके जलमे भरे रत्नमयी कलशोसे जिन भगवान्का अभिषेक करते है। इन्द्राणी बालकका उनके अनुरूप शृंगार करती है। सहस्रो इन्द्र वैतालिक भगवान्के गुणोका स्तवन करते हैं। जन्मोत्सवके अवसर पर इन्द्र नृत्य करता है। ऐसे जन्माभिषेक कल्याणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन अति निर्मल होता है।

जिन भगवान्का अभिनिष्क्रमण इस प्रकारका होता है। उसका वर्णन करते है—

सभी जिनदेवोका जन्माभिषेक कल्याणक बडी विभूतिके साथ मनाया जाता है। इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर उनके लिये दिव्य अगराग, वस्त्र, भोजन, वाहन, अलकार आदि सपत्ति प्रस्तुत करता है। मनके अनुकूल क्रीडा करनेमे चतुर देवकुमारोका परिवार रहता है। उनमेसे कोई-कोई जिनदेव पूर्वसंचित पुण्यकर्मके उदयरूपी उदयाचल पर प्रकट हुए एक हजार आरोमे युक्त चक्ररूपी सूर्यकी सहायतासे और अपने अपरिमित भुज पराक्रमसे समस्त मागध प्रभास आदि देव, विद्याधर और राजाओके समूहको अपने अधीन कर लेते है, देवागनाओके रूप, यौवन और विलासको तिरस्कृत करनेमे चतुर बत्तीस हजार पट्टरानियोके मुखरूपी कमलोको विकसित करनेमे तत्पर रहते है। इन्द्रके द्वारा भेजी गई नर्तकियोके नृत्यका अवलोकन करते हुए मनोविनोद करते है। किन्नर आदि देवगन्धर्वोके गीतोको बडे आदरसे सुनते है। काल महाकाल आदि नौ निधियाँ उनके राजकोषमे उत्पन्न होती हैं। चक्ररत्न आदि चौदह रत्न होते है। प्रत्येक रत्नकी एक हजार देव रक्षा करते हैं। बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओके स्वर्ण निर्मित मुकुटोके ऊपरकी मकरिकामे लगे रत्नदीपोंकी पक्तिके द्वारा उनके पादपीठ निरन्तर पूजे जाते है अर्थात् बत्तीस हजार राजा उन्हे नित्य नमस्कार करते हैं। देवकुमार भेंट ले लेकर उनकी सेवामें सदा उपस्थित होते है। इस

१ मौलिव्रपुकटिका–अ० ।

प्रकरेणानवरतमर्च्यमानपादपीठा, देवकुमारोपनीयमानोपायनविलोकनैकव्यग्रा', मनुजभोगाग्रेसर सुखमखेदेनानुभवन्ति। अपरेऽपि मण्डलीकमहामण्डलीकपदमुपगता।

पुनस्तीर्थकरनामकर्मोदयात् चारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षानुगतादनादिकालावलग्नस्वपरकर्मरजोविधूननाववद्धकक्ष्या इत्थं मन' प्रणि[1]दधति—केयं[2] मोहस्य महत्ता येनास्मानप्यध्यक्षीक्रियमाणदुरन्तसंसारसरिदधिपदु खावर्तान् प्रवर्तयत्यारम्भपरिग्रहयो। अणिमाद्यष्टगुणसपत्क, अपदमापदा, अभिलाषस्याप्यविषयम्, अपरामराणा कुशाग्रीयबुद्धीनामपि वलभिदामगोचर वचसामप्रत्यूह, अपराधीन, अनास्वादितान्यूनतारस, अहमिंद्रसुख चिरतरमनुभूतवतामस्माक केयमुत्कण्ठा मनुजभागसपदि, खलजनमत्रीव विचित्रदु खानुबधविधानोद्यताया चलाया विपुण्यगमितिरिव परायत्तवृत्तौ, कुकविकृतिरिवाल्पार्थसग्रहाया, दूरभव्यस्य मुक्तिपदवीगतिरिव अनेकप्रत्यूहप्रतिहताया अनन्तकालपरिभुक्ताया इति।

तदैव च ब्रह्मलोकान्तावामादधिगतलौकान्तिकव्यपदेशा, शङ्खावदाततनव, स्वावधिज्ञानलोचनेनावलोक्य स्वपरोत्तारणाबद्धपरिकरता जिनाना, महदिद कार्य अनेकभव्यानुग्रहकर भगवता प्रारब्ध, अस्माभिरपि एतदनुमन्तव्य। पूज्यपूजाव्यतिक्रमश्च स्वार्थभ्र शकारीति सुरपथादवतीर्य स्वामिन पुरस्तात्सबहुमानमवस्थिता एव विज्ञापयति—

तरह वे मनुष्योको प्राप्त भोगोसे होने वाले सर्वोत्कृष्ट सुखको बिना किसी खेदके भोगते हैं, अन्य कुछ जिनदेव मण्डलीक, महामण्डलीक आदि राजपदोको प्राप्त होते है।

पुन तीर्थंकर नामकर्मके उदयमे और चारित्र मोहके क्षयोपशमके प्रकर्षसे अनादिकालसे लगी हुई अपनी और दूसरोकी कर्मरूपी धूलिको दूर करनेमे कमर कसकर वे इस प्रकार मनमे विचारते है—यह मोहकी कैसी महत्ता है कि दुरन्त ससार समुद्रके दु खरूपी भँवरोको प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले हम जैसाको भी आरम्भ और परिग्रहमे फँसाता है। हमने चिरकाल तक अहमिन्द्रका सुख भोगा है जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोसे सम्पन्न होता है, जिसमे कभी कोई आपत्ति नही आती, जिसकी कोई कल्पना भी नही कर सकता, अन्य देव और कुशाग्र बुद्धिशाली इन्द्रोको भी वह मुख प्राप्त नही है, वचनके अगोचर है, अपराधीन है, उसमे कभी कमी नही होती। ऐसा अहमिन्द्र पदका सुख चिरकाल तक भोग चुकनेपर हमारी यह मनुष्यकी भोगसम्पदामे उत्कण्ठा कैसी? यह भोग सम्पदा दुष्टजनकी मैत्रीकी तरह अनेक दु खोकी परम्पराको उत्पन्न करने वाली है, चचल है, पाप पुण्यकर्मके समान पराधीन है, जैसे कुकविकी रचनामे अल्पसार होता है वैसे ही इस भोगसम्पदामे भी सार नही है। जैसे दूर भव्यके मोक्ष गमनमे अनेक बाधाएँ रहती है वैसे ही इस भोगसम्पदामे अनेक बाधाएँ रहती है और हमने इसे अनन्तकाल भोगा है।

उसी समय ब्रह्मलोक स्वर्गके अन्तमे रहनेसे लौकान्तिक नामधारी देव, जिनका शरीर शखके समान श्वेत होता है, अपने अवधिज्ञान रूपी चक्षुसे देखते है कि जिनदेव स्वयको और दूसरोको ससार समुद्रसे पार उतारनेके लिये एकदम तत्पर है तो विचारते है—भगवान्ने अनेक भव्य जीवो पर अनुग्रह करने वाला यह महान् कार्य करनेका बीडा उठाया है, हमे भी इसकी अनुमोदना करनी चाहिए। तथा पूज्य पुरुषोकी पूजा न करना भी स्वार्थका घातक है। ऐसा विचार स्वर्गसे उतरकर भगवानुके सम्मुख बडे आदरके साथ उपस्थित हो, इस प्रकार निवेदन करते है—

१ प्रतिदधति–आ० मु०। २. कथं मोहस्य बलवत्ता–आ० मु०।

भट्टारका ! उचित एवायमुद्योगो भवता कल्पमहीरुहा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, जगदनुग्रहकारिणो हि महान्त , मिथ्यात्वतिमिरावगुण्ठितज्ञानलोचनतया विनेयजनराशिरुत्पथप्रस्थानोऽसकृत्कुगतिगर्तपतितो नि सर्तुमभिलषन्नपि असमर्थ क्लिश्यति । स च भवत्पातितायतदृढसमीचीनदृष्टिरज्ज्वावकृष्ट युष्मदुपदर्शितातिप्रगुणविशालमुक्तिमार्गढौकनादनन्तज्ञानात्मकेन सुखेन सुखी भवत्वित्यभिधाय गतेषु सारस्वतादिषु ।

जिननिर्वेदसमीरणान्दोलितहरिविष्टरो हरि प्रणिधानप्रवर्तितावधिलोचनाधिगतगुरुप्रारभ्यमाणकार्य , सिंहासनत. ससम्भ्रममुत्थाय, स्वामिसमवस्थितदिगभिमुख गत्वा सप्तपदमात्र, ललाटतटविन्यस्तेन प्रबुद्धनलिनदलच्छायापहासिना, अकुशकुलिशकलशादिलक्षणोद्भासिना दक्षिणेन करेणालकृतमौलिरत्नप्रभादतुरमवनम्य शिर सलील नम सद्धर्मतीर्थप्रवर्तनोद्यतेभ्य शरणागतविनेयत्राणकारिभ्योऽलौकिकनयनेभ्यो जिनेभ्य इत्यभिधाय, पुरोधावद्भेरीध्वानादिभिर्झटिति विदितकार्येण, समुदितावनतेन, स्वनायकपुरोयायिना, विचित्रातपत्रशस्त्रवस्त्रविभूषणवाहनोज्ज्वलेन गीर्वाणचक्रेणानुगम्यमान सौधर्म सह नरामरेन्द्रै , चमररुहहरिविष्टरश्वेतातपत्रादिपरमेश्वरलाछनमखिलमपहाय प्रतीहारनिवेदितागमनस्तदाज्ञयाशु धर्मचक्रलाछनातिकमवाप्य सबहुमानप्रणाममारभते स्म ।

ततो जिनात्सादरावलोकनप्रसादमात्मोचितमुपलभ्य विज्ञापन करोति । सकलोऽयमायातोऽच्युताधिपपुर सर शक्रलोको भट्टारकाणा परिनिष्क्रमणपरिचर्यामुपपादयितुमना अवगतमुक्तिमार्गोऽयय स्वाधीनज्ञानात्म-

भगवन् ! आपका यह उद्योग उचित ही है। महान् पुरुष कल्पवृक्षकी तरह प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके जगत् पर अनुग्रह करते है। मिथ्यात्व रूपी अन्धकारसे ज्ञानरूपी दृष्टिके अवरुद्ध हो जानेसे ससारके भव्य जीव कुमार्गमे चल पडते है। बार-बार कुगतिरूपी गढेमे गिरकर निकलना चाहते हुए भी नही निकल पाते और कष्ट भोगते है। आपके द्वारा डाली गई विस्तृत दृढ समीचीन दृष्टिरूपी रस्सीके द्वारा खीचे गये वे भव्य जीव आपके द्वारा बतलाये गये गुणशाली विशाल मोक्षमार्ग पर चलकर अनन्त ज्ञानात्मक सुखसे सुखी हो। इतना कहकर वे लौकान्तिक देव चले जाते है।

भगवान्के वैराग्यरूपी हवाके झकोरोसे इन्द्रका सिहासन कम्पित होता है। तब इन्द्र अवधिज्ञान रूपी दृष्टिका उपयोग करके भगवान्के द्वारा प्रारम्भ किये जाने वाले कार्यको जानता है। तत्काल सिंहासनसे उठ, जिस दिशामे भगवान् है उस दिशाकी ओर सात पद चलकर, खिले हुए कमलकी पाखुरीकी शोभाको तिरस्कृत करने वाले और अकुश, वज्र, कलश आदि शुभ लक्षणोसे शोभित दाहिने हाथको मस्तकसे लगाकर मुकुटके रत्नोकी प्रभामे भासित सिरको नवाकर कहता है—'समीचीन धर्मरूप तीर्थके प्रवर्तनके लिये उद्यत, शरणागत भव्य जनोकी रक्षा करने वाले और अलौकिक नेत्रोसे विशिष्ट जिनदेवको नमस्कार हो। भेरी आदिके शब्दसे सब देवोंको ज्ञात हो जाता है। नाना प्रकारके छत्र, शस्त्र, वस्त्राभूषण और वाहनोके साथ अपने नायकको आगे करके सब देव सौधर्मके पीछे चलते है। सौधर्मेन्द्र अन्य इन्द्रो और राजाओके साथ राजमहलके द्वार पर पहुँच सिंहासन, चमर छत्र, आदि इन्द्रत्वके सब चिह्नोको दूर करके द्वारपालसे अपने आनेका समाचार निवेदन कराता है। आज्ञा मिलने पर इन्द्र तत्काल धर्मचक्रके प्रवर्तक भगवान्के समीप जाकर अत्यन्त बहुमान पूर्वक नमस्कार करता है। जिनदेव इन्द्रकी ओर आदरपूर्वक देखते है। भगवान्के इस सादर अवलोकनको ही अपने योग्य प्रसाद मानकर इन्द्र निवेदन

कानन्तसुखात्मत्वलम्पटोऽपि, अवधीरितेन्द्रियसुखखेदोऽपि, अपरिप्राप्तसंयमघातिकर्मक्षयोपशम , न चारित्रे प्रयतते, न परान्प्रवर्तयितुमीहते । सुविशुद्धज्ञानदर्शनोऽपि न विना समीचीन चारित्र तपश्च, कर्माणि निरवशेष क्षपयितु घटते । अनेकसमुद्रगणनायु स्थितितया दीर्घससारी बराकोऽस्मदादि. क्लिश्यति । उत्थातुमभिलषन्नपि दारको यथा पतत्येवमपि जनश्चारित्राभिलाष्यपि तद्वोढुमसमर्थस्तिष्ठति । यूय पुनर्विदितवेदितव्या क्षयोपशमपरिप्राप्तनिवृत्तिपरिणामा , पूज्यतमा जन्मान्तरेऽस्माकमपीदृशी वीतरागता सकलारम्भपरिग्रहपरित्यागोद्योगो विनेयजनोपकारशक्तिश्च भवत्प्रसादादस्यानुमननाच्च भवतु सज्जीकृतमिदं विमान आनीतमलकरोतु देव इत्युपरतवचसि सुरनाथे हर्षविषादपरवश ज्ञातिवर्ग अन्त पुराणि परिवारं चावलोक्य कृपया जिना वदन्ति—

चिरसवासादल्पकोपकारापेक्षया जनस्यानुरागो भवति तदनुसारी कोपस्ताभ्या दुरन्तकर्मादान ततो भवति ममेदभाव सर्वदु खाना मूलमपनेतुमर्हति विद्वान् । न हि कस्यचित् किंचिन्मित्र, धनं, शरीर वानपाय्यस्ति । पात्रे समिता हि बन्धव , परिवाराश्च, धन पुनरर्जने विनाशे च महतीमानयति दु खासिका । तदर्थिभिरन्यैश्च सह विरोध कारयति । तृष्णा प्रकर्षवतीमादधाति लवणजलपीतिमिव । वामलोचना पुन सुरा इव चित्त मोहयन्ति, व्यलीकरोदनेन हसनेन चाटुभिश्च पुसामल्पसत्त्वाना चेत स्ववशीकुर्वन्ति । चर्ममयपुत्रिकासु, चपलासु, सध्याम्बुदावलीवास्थिररागासु, मायाजननीषु, मृषाचेटीनायिकासु, सुगतिवज्रार्गलयष्टिषु

करता है—अच्युतेन्द्र आदि समस्त इन्द्रगण भगवान्के निष्क्रमण कल्याणक सम्बन्धी परिचर्या करनेके अभिलाषी है । हम मुक्तिके मार्गको जानते है । स्वाधीन ज्ञानात्मक अनन्त सुखका अनुभव करनेके लिये भी आतुर है, इन्द्रिय सुखको भी खेद रूप जानकर उसकी उपेक्षा करते हैं । किन्तु सयमका घात करने वाले कर्मका क्षयोपशम हमे प्राप्त नही है । इसलिये न हम स्वय चारित्रमे प्रवृत्त होते है और न दूसरोको ही प्रवृत्त करना पसन्द करते है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त व्यक्ति भी समीचीन चारित्र और तपके बिना समस्त कर्मोका क्षय नही कर सकता । अनेक सागरो प्रमाण आयु होनेसे दीर्घ ससारी हमलोग कष्ट उठाते है । जैसे शिशु उठना चाहते हुए भी गिरता है वैसे ही हम लोग चारित्रके अभिलाषी होते हुए भी उसे धारण करनेमे असमर्थ रहते है । आप तो सब कुछ जानते है । चारित्रमोहका क्षयोपशम होनेसे आपके निवृत्ति रूप परिणाम हुए है । आप पूज्यतम है । आपके प्रसादसे तथा आपकी अनुमोदना करनेसे आगामी जन्ममे हमे भी इस प्रकारकी वीतरागता, समस्त आरम्भ और परिग्रहको त्यागनेका उद्योग तथा भव्य जीवोका उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हो । यह सजाया हुआ विमान तैयार है, देव ! इसे सुशोभित करे ।

देवेन्द्रके कथनके पश्चात् अन्त पुर, परिवार और ज्ञातिवर्गको हर्ष और विषादमे देखकर जिनदेव कृपापूर्वक कहते है—चिरकाल तक साथ रहनेसे तथा थोडा बहुत उपकार करनेसे लोगोमे अनुराग होता है तथा कोप भी होता है । इस अनुराग और कोपसे दुरन्तकर्मोका बन्ध होता है । उससे 'यह मेरा है' इस प्रकारका भाव होता है, यह सब दु खोका मूल है । विद्वान्को इसे दूर करना चाहिए । न किसीका कोई मित्र है और न धन और शरीर ही स्थायी है । बन्धु बान्धव और परिवार यानपात्रमे मिले हुए पुरुषोंके समान है । धनके कमानेमे और कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेपर बहुत दु ख होता है । उस धनके अर्थी अन्यजनोमे विरोध होता है । जैसे खारा जल पीनेसे प्यास बढती है वैसे ही धन पानेसे धनकी तृष्णा बढती है । स्त्रियाँ मदिराकी तरह चित्तको मोहित करती हैं । बनावटी रोने और हँसने तथा मीठे वचनोसे कमजोर मनुष्योके चित्तको अपने वशमे कर लेती हैं । स्त्रियाँ चर्मनिर्मित पुतलियाँ है, चचल होती है,

कोऽनुराग प्रज्ञावताम् ? शरीर पुनरिदमनेकाशुचिनिधान, वचारपुञ्जवत्प्राणभृतामनपायी भार महारोग-नागानां वल्मीकीभूतं, जराव्याघ्रीनिवासबिलं, नेत्रखण्डचर्मवेष्टितलोष्टवदन्तर्नि सार बहिर्मनोहर, गुण पुनरत्र एक एव धर्मसहायता। गिरिनदीस्रोतासीवानवस्थितानि यौवनानि। तृणाग्निज्वाला इव सपद क्षणमात्र दृष्टनष्टा। इत्थमवगम्य मा कृथा वृथा प्रमाद जननरत्नाकरपारगमनाय कुरुतोद्योग। मर्षणीयोऽस्माभि प्रमादात्कृतोपराध इति।

भगवद्भारतीसमनन्तर सुरकुमारकरप्रहता समन्ततो दुन्दुभयो ध्वनन्ति। सकल च जगदिन्द्रप्रमुख जयध्वनिमुखर जायते। समन्तात्सुरतरुण्य सविलास नृत्तमारभन्ते। जगन्नाथाश्च त्रिलोकभूषणा धवलदुकूलपरिधाना परमशुक्ललेश्यया निर्वृतिसफल्येव मुक्ताकण्ठिकाव्याजेनोपगतयालकृतग्रीवा विरागाणामपि मुखरागकरणे पाटवं न पश्यतेति दर्शयद्भ्यामिव कुण्डलाभ्या विराजमानपूर्णमसृणगण्डस्थला। वृत्त प्रिय एषा चेन्नोवसर इतीवोपगतेन कटकद्वयेनाश्लिष्टप्रकोष्ठा। यत्रामीषामतिशयरत्नाभिमान तत्पश्याम स्थित्वोच्चैरितीवोत्तमाङ्गस्थेन मुकुटरत्नकलापेन शोभमान निर्वाणपुरमिव विमान प्रविशन्ति।

तत शतमखयुग्मवाहस्कन्धोत्क्षिप्तेन विमानेन सदेवीकचतुर्निकायामरससानीकपरिवृतेन गत्वा अवतीर्य

सन्ध्याकालीन मेघमालाकी तरह उनका राग अस्थिर होता है। वे स्वभावसे मायावी होती है, सुगतिके लिए वज्रनिर्मित अर्गला हैं। उनमे बुद्धिमानोका कैसा अनुराग ? यह शरीर अनेक अपवित्र वस्तुओंकी खान है, कचरेके ढेरकी तरह प्राणियोका ऐसा भार है जो कभी नष्ट नही होता। महारोगरूपी सर्पोंके लिए वामी है और जरारूपी सिहनीके रहनेके लिए बिल है। जैसे लोष्ठको चमडेसे मढकर उसपर आँखे लगा देनेपर वह बाहरसे सुन्दर और भीतरसे नि सार होता है उसी तरह यह शरीर भी बाहरसे सुन्दर और भीतरसे नि सार है। इसमे केवल एक ही गुण है कि यह धर्ममे सहायक होता है। पहाडी नदीके स्रोतोकी तरह यौवन स्थायी नही है। तृणोकी आगकी लपटोकी तरह सम्पदा क्षणमात्रमे देखते-देखते नष्ट हो जाती है। ये सब जानकर वृथा प्रमाद मत करो, जन्म समुद्रको पार करनेके लिए उद्योग करो। हमसे प्रमादवश जो अपराध हुए उन्हे क्षमा करे।

भगवान्की वाणीके पश्चात् देवकुमार दुदुभियाँ बजाते है। इन्द्र आदि सब लोग जय जयकार करते है। देवागनाएँ विलासपूर्ण नृत्य आरम्भ करती है। तीनो लोकोके भूषण और जगत्के स्वामी जिनदेव सफेद वस्त्र धारण करते है। गलेमे मोतियोकी माला पहने है मानो मुक्तिकी दूतीके समान परमशुक्ल लेश्याने उस मुक्तामालाके व्याजसे भगवान्के कण्ठको सुशोभित किया है। दोनो कानोके कुण्डलोसे भगवान्का स्निग्ध गण्डस्थल शोभित है, मानो दोनो कुण्डल यह दिखला रहे है कि विरागोके भी मुखको रागयुक्त (लाल) करनेमे हमारा चातुर्य लोग देखे। दोनो हाथोमे दो गोल कडे है। वे गोल कडे मानो यह विचार कर ही आये हैं कि भगवान्को वृत्त प्रिय है। वृत्तका अर्थ चारित्र भी है और गोल भी। सिरपर रत्नमय मुकुट शोभित है। रत्नोने सोचा—इन्हे रत्नो (रत्नत्रय) का बडा अभिमान है जरा इनके साथ रहकर देखे तो। इस प्रकारसे आभूषित भगवान् मोक्षपुरीके द्वारके समान विमानमे प्रवेश करते हैं।

उस विमानको इन्द्र अपने कन्धोपर उठाते है। देवागनाओके साथ चारो निकायोके देव और उनकी सातो सेनाएँ विमानको घेरे होती हैं। उस विमानसे जाकर भगवान् रमणीक स्थानमे

रम्यतमे देशे उत्तराभिमुखा , कृतसिद्धनमस्कृतय मुकुटादिक क्रमेण अलकारादिक अपनयन्ति । परित्यक्तोभयसकलग्रथा परिगृह्णन्ति योगत्रयेण रत्नत्रयमित्थभूत च परिनिष्कमण पश्यत ।

'णाणुप्पत्ति' ज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञायतेऽवबुध्यते सकलमर्थयाथात्म्यमनेनेति ज्ञान इति केवलमुच्यते । तस्योत्पत्तिरवतारितमोहनीयभाराणा, योगवासराधीश्वरनिर्मूलितज्ञानदृगावरणतमसा, उत्खातान्तरायविषविटपिना, अ[1]पनीतक्रममनपेक्षितकरणचेष्टम[2]पास्तसशीतिक, दूरीकृतविपर्यासं केवलमुत्पद्यते । तस्य फलस्य दर्शनाज्जिनप्रणीते मार्गे अपनीतशङ्कादिकलङ्का श्रद्धोत्पद्यते । फलार्थी तद्वत्सु रोचते दृष्टसामर्थ्य इति किं चित्रम् ? ॥१४५॥

एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिस्वार्थमुपदर्श्य परोपकार स्थिरीकरण प्रकटयति—

सविग्गं संविग्गाणं जणयदि सुविहिदो सुविहिदाणं ।
जुत्तो आउत्ताण विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥१४६॥

'संविग्गं' ससारभीरुता । **'जणयदि'** जनयति । क ? **'सुविहिदो'** सुचरितो योऽनियतवास । केषा ? सुविहिदाण सुचरितानां । **'संविग्गाण'** सविग्नाना । **'जुत्तो'** अनशनादिके तपसि युक्त । **'आजुत्ताणं'** योगचाराणा । **'विसुद्धलेस्सो'** विशुद्धलेश्य । **'सुलेस्साणं'** सुलेश्याना च । सम्यक् चारित्रतपसो शुद्धलेश्याया च

उतरते है । और उत्तरकी ओर मुख करके सिद्धोको नमस्कार करते है । तथा क्रमसे मुकुट आदि अलकारोको उतार देते है । अन्तरग बहिरग सब परिग्रहको त्यागकर मन-वचन-कायसे रत्नत्रयको स्वीकार करते है । इस प्रकारके निष्क्रमणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है ।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते है—

जिसके द्वारा समस्त पदार्थो का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है उसे ज्ञान कहते है । यहाँ ज्ञानसे केवलज्ञान कहा है । उसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—जो मोहनीयका भार उतार देते है, योगरूपी सूर्यसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूपी अन्धकारको निर्मूल कर देते है और अन्तराय कर्मरूपी विषवृक्षको उखाड देते है उनके क्रमरहित, इन्द्रियोकी सहायता न लेनेवाला, सशय तथा विपरीततासे दूर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । उसके फलके दर्शनमे जिनकथित मार्गमे शका आदि दोषोसे रहित श्रद्धा उत्पन्न होती है । जो उस फलके अभिलाषी है वे उसकी शक्तिको देखकर यदि उस रत्नत्रयसे युक्त भगवन्तोंमे रुचि करते है तो इसमे आश्चर्य क्या है ? ॥१४५॥

इस प्रकार अनियत विहारसे दर्शनविशुद्धिरूप स्वार्थको बतलाकर अब स्थिरीकरणरूप परोपकारको प्रकट करते है—

गा०—सम्यक् आचार और अनशन आदि तपसे युक्त विशुद्ध लेश्यावाले मुनियोका अनियतवास सम्यक् आचारवाले, योगके धारी, सम्यक् लेश्यावाले और संसारसे भीत साधुओमे ससारसे भय उत्पन्न करता है ॥१४६॥

टी०—सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और शुद्धलेश्यामे वर्तमान अनियत विहारी साधुको देखकर सभी सम्यक् चारित्रवाले, सम्यक् तप करनेवाले और शुद्ध लेश्यावाले यतिगण अत्यन्त ससारसे भीत होते है । वे मानते है कि हम ससारसे वैसे भीत नही हैं जैसे यह भगवान् मुनिराज है । अत एव हमारा चारित्र और तप सदोष है । अर्थात् सम्यक् आचार, तप और विशुद्ध लेश्या-

---

१ वीतक्र–आ० मु० । २ मत्यस्त–आ० मु० ।

प्रवर्तमान दृष्ट्वा सर्वेऽपि सुचारित्रा सुतपम , शुद्धलेश्या यनयः अतिशयवती ससारभीरुतां प्रतिपद्यन्ते । न वयमतीव ससारभीरव , यथाय भगवान् अतएव नश्चारित्र तपश्च सातिचार इति मन्यमाना ॥१४६॥

उत्तरगाथया एतदाचष्टे न केवल अतिशयितचारित्रतपोगुण एव पर सविग्न करोति किंतु एवभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुत्तत्थविसारदो असढभावो ।
सवेग्गाविदि य परं साधू णियद विहरमाणो ॥१४७॥

'**पियधम्मवज्जभीरू**' प्रिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यश्चावद्यस्य पापस्य भीरु । '**सुत्तत्थविसारदो**' सूत्रार्थयोर्निपुण । '**असढभावो**' शाठ्यरहित । '**सवेग्गाविदि य**' पर सविग्न करोति । '**साधू**' साधु । '**णियदं**' सर्वकाल '**विहरमाणो**' देशान्तरातिथि ॥१४७॥

पूर्वगाथाया परस्थिरीकरण प्रतिपाद्य उत्तरयात्मानमपि स्थिरयति इत्यभिधत्ते—

संविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे ।
सयमवि पियथिरधम्मो साधू विहरतओ होदि ॥१४८॥

'**ठिदियरणं**' । '**सविग्गतरं**' इत्यादिकया । असकृत्पञ्चविधपरावर्तनिरूपणाहितचेतस्तयोपगततदागमन-भयातिशया सविग्नतरा । अभिनवकर्मनिरोध चिरतनगलन करोति, अभ्युदयानि श्रेयससुखानि च प्रयच्छति सुचरिता धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनारत चेत समाधानान्प्रियधर्मतरा , स्वल्पमप्यशुभयोगानामवसरा-

---

वाले अनियत विहारी साधुको देखकर अन्य मुनि जो सम्यक् आचारवान् है, तपस्वी है, विशुद्ध लेश्यावाले है वे भी प्रभावित होकर और भी अधिक आचार, तप और लेश्यामे बढनेके लिए प्रयत्नशील होते है। यह अनियतवाससे परोपकार होता है। दर्शनविशुद्धिका लाभ तो अपना उपकार है ॥१४६॥

आगेकी गाथासे कहते हैं कि केवल विशिष्ट चारित्र और तप ही दूसरेको ससारसे विरक्त नही करता किन्तु

गा०—जो उत्तम क्षमा आदि धर्मका पालक है और पापसे डरता है, सूत्र और उसके अर्थ-मे निपुण है, शठतासे रहित है ऐसा सदा देशान्तरमे विहार करनेवाला साधु दूसरोमे विराग उत्पन्न करता है ॥१४७॥

पूर्वगाथामे दूसरोके स्थिरीकरणका कथन किया है। आगेकी गाथासे अपने भी स्थिरीकरण-को कहते है—

गा०—सविग्नतर प्रिय धर्मतर और अवद्य भीरुतर साधुको देखकर विहार करनेवाला साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर, संविग्नतर और अवद्य भीरुतर होता है ॥१४८॥

टी०—बार-बार पाँच प्रकारके परावर्तनोका निरूपण चित्तमे बैठ जानेसे जो उस परावर्तन-के आगमनसे अत्यन्त भीत होते है वे साधु सविग्नतर होते है। अच्छी तरह पालन किया गया धर्म नये कर्मो के आनेको रोकता है और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करता है। तथा इहलौकिक अभ्युदय और मोक्षका सुख देता है। धर्मके फलके इस माहात्म्यमे जिनका चित्त लीन होता है वे

दानादवद्यभीरुतरा । स्वयमात्मना प्रियस्थिरधर्मतरा । अन्तरेणाप्यतिशायिकप्रत्ययमतिशयार्थगतिरत्र 'अभिरूपाय कन्या देयेति' यथा प्रियस्थिरधर्मतर इति । अपिशब्देन सविग्नतर अवद्यभीरुतरश्चेति ग्राह्यम् ॥१४८॥

भावना व्याचष्टे—परिषहसहनमिह भावनेत्युच्यते—

चरिया छुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ।
सेज्जा वि अपडिबद्धा विहरणेणाधिआसिया होदि ॥१४९॥

'**चरिया**' चर्याजन्य दुःखमिह चर्येति गृहीत । उपानहान्येन वा अकृतपादरक्षस्य, गच्छतो निशितशर्करापाषाणकण्टकादिभिस्तुद्यमानचरणस्य, उष्णरज सतप्तपादस्य, वा यद्दुःख यस्यानुभवनमसक्लेशेन चर्याभावना । '**छुहा य**' अपरिचिते देशे सयतं पूर्वमनध्यासिते अल्पधान्यसग्रहे प्रयोग्याया अलाभात् भिक्षाया समुपजाता क्षुद्वेदना सोढा भवति । चिरमेकत्र वसतो जन परिचयाद्दाक्षिण्याद्वा भिक्षा प्रयच्छतीति न महान्परिश्रम । '**सीदं उण्हं च**' शीतोष्णस्पर्शज दुःख इह गृह्यते । तदनुभवन सक्लेशरहितभावित[1] सोढ भवति । '**सेज्जा**' य शय्या च वसति । '**अपडिबद्धा**' ममेद भावरहिता । '**अधिआसिदा**' सोढा भवति । '**विहरणेण**' विविधदेशगमनेन ॥१४९॥

प्रियधर्मतर होते है । और जो थोडेसे भी अशुभ योगको नही होने देते वे अवद्यभीरुतर होते है । उन्हे देखकर सदा विहार करनेवाला साधु स्वय भी प्रियस्थिर धर्मतर होता है । गाथामे 'पियथिरधम्मो' पाठ है उसमे अतिशयको बतलानेवाला 'तर' प्रत्यय नही है फिर भी अतिशय अर्थका बोध होता है । जैसे किसीने कहा है 'अभिरूपको कन्या देना', यहाँ अभिरूपसे विशिष्ट रूपवानका बोध होता है । अत प्रियस्थिर धर्मतर अर्थ लेना । 'अपि' शब्दस सविग्नतर और अवद्यभीरुतर भी ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् वह साधु दूसरे इस प्रकारके विशिष्ट साधुओको देख स्वय भी वैसा विशिष्ट बन जाता है । यह विहारसे लाभ है ॥१४८॥

अब भावनाको कहते है । यहाँ परीषह सहनको भावना कहते है—

गा०—अनेक देशोमे विहार करनेसे, चर्या भूख, प्यास शीत और उष्णका दुःख संक्लेशरहित भावसे सहना होता है । वसति भी ममत्वसे रहित सहनेमे आती है ॥१४९॥

टी०—यहाँ 'चर्या' शब्दसे चर्यासे होनेवाले दुःखका ग्रहण किया है । जूता अथवा अन्य किसी वस्तुसे अपने पैरोकी रक्षा नही करनेवाले साधुके चलते हुए तीक्ष्ण ककर पत्थर काँटे आदिसे पैर छिद जाते है, अथवा गर्मधूलिसे पैर झुलस जाते है । उसके दुःखको विना सक्लेशके सहना चर्याभावना है । अनजान देशमे, जहाँ पूर्वमे कभी साधुओका जाना नही हुआ, और अनाजका सग्रह भी कम है, वहाँ, योग्य भिक्षाके न मिलनेसे उत्पन्न हुआ भूखका दुःख सहना होता है । बहुत समय तक एक स्थानपर बसनेसे मनुष्य परिचित होनेसे अथवा उदारतावश भिक्षा देते है इसलिए भिक्षामे बडा श्रम नही होता । शीत उष्णसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शसे होनेवाला दुःख यहाँ लिया है । उसका अनुभवन अर्थात् सक्लेशरहित भावपूर्वक सहना होता है । तथा रहनेके लिए वसतिका जो प्राप्त होती है उसमे भी 'यह मेरी है' ऐसा भाव नही रहता । ये सब विहार करनेवाले मुनियोको सहना होता है ॥१४९॥

१ भाविना आ० मु० ।

[1]णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाण ।
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥१५०॥

अतिशयार्थकुशलताख्यं गण कथयति—

सुत्तत्थथिरीकरण अदिसयिदत्थाण होदि उवलद्धी ।
आयरियदंसणेण दु तम्हा सेविज्ज आयरियं ॥१५१॥

'**सुत्तत्थथिरीकरण**' अल्पवर्णरचन, अभिधेयविषयसशयाकारि सारार्थवदभ्यन्तरीकृतोपपत्तिक, प्रमाणान्तरदर्शित[2]वस्तुतद्रूपविरुद्धानुपदर्शनेन निर्दोष इत्येतद्गुणसहित सूत्र तस्यार्थो वाच्य बाह्य. आन्तरो वा अर्थ., तयो सूत्रार्थयो थिरीकरण इत्थमेवेद सूत्र शब्दत., अभिधेय चास्येदमेवेति यत्तत्[3] । '**होदि उवलद्धी**' अतिशयेनार्थोपलब्धिर्भवति । '**आयरियदंसणेण**' आचार्याणा दर्शनेन । तु शब्द पादपूरण अवधारणार्थो वा । आचार्यदर्शनेनैव अथवा सूत्रार्थाना स्थिरीकरण व्याख्यातॄणामाचार्याणा तत्र दर्शनात् । '**अदिसइदत्थाण**' अतिशयिताना सूत्रार्थाना '**उवलद्धी**' उपलब्धि । '**होदि**' भवति । प्रमाणनयनिक्षेपैनिरुक्त्या अनुयोगद्वारेण निरूप्यमाण सूत्रार्थो अतिशयितो भवति । आचार्याणा व्याख्यातॄणा दर्शनेन गतभेदेन । केचिन्निक्षेपमुखेनैव सूत्रार्थमुपपादयन्त्यपरे नैगमादिविचित्रनयानुसारेण अन्य सदाद्यनुयोगोपन्यासेन । अपरे '**अदिसयसत्थाण होइ**

गा०—देशान्तरमे जानेसे अनेक देशोके सम्बन्धमे कुशल हो जाता है। अनेक देशोमे पाये जानेवाले शास्त्रोके शब्दार्थके विषयमे कुशल होता है ॥१५०॥

अतिशय अर्थकुशलता नामक गुणको कहते है—

गा०--आचार्योके दर्शनसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण और अतिशयित अर्थोकी उपलब्धि होती है। इसलिये आचार्यकी सेवा करनी चाहिए ॥१५१॥

टी०—थोडे शब्दोमें रचा गया हो, अर्थके विषयमे सशय उत्पन्न न करता हो, सारसे भरा हो, जिसकी उपपत्ति उसीमे गर्भित हो, और अन्य प्रमाणोके द्वारा वस्तुका जो स्वरूप बतलाया गया है उसके विरुद्ध कथन न करनेसे निर्दोष हो। जिसमे ये गुण होते है वह सूत्र है। उसका अर्थ बाह्य और आन्तर दोनो प्रकारका है। इन सूत्र और उसके अर्थका स्थिरीकरण—यह सूत्र शब्दरूपसे इसी प्रकार है अर्थात् इसके शब्द ठीक हैं और इसका अर्थ भी यही है—यह सूत्रार्थका स्थिरीकरण है। आचार्योके पास रहनेसे यह लाभ होता है तथा अतिशयित सूत्रार्थकी उपलब्धि होती है।

जो सूत्रका अर्थ प्रमाण नय निक्षेप निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा किया गया हो उसे अतिशयित कहते है। आचार्य अर्थात् सूत्रके अर्थका व्याख्यान करने वाले व्याख्याताओमे दर्शन अर्थात् मतभेद देखा जाता है। कोई व्याख्याता निक्षेप द्वारा ही सूत्रके अर्थका उपपादन करते है। अन्य व्याख्याता नैगम आदि विभिन्न नयोके द्वारा सूत्रार्थका कथन करते हैं। कुछ अन्य सत् आदि अनुयोगोंका उपन्यास करके सूत्रार्थका कथन करते है। 'तु' शब्द पादपूर्तिके लिये अथवा अवधारणके लिये है। आचार्य दर्शनसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण होता है और अतिशयित अर्थकी प्राप्ति

१ इयं गाथा क्षिप्ता मन्तव्या। २ वस्तुतया विह–आ० मु०। ३ यत्तेन आ० मु०।

उवलद्धो' इति पठन्ति । तत्रायमर्थः—अतिशयभूतानां शास्त्राणां प्रत्यग्राणामारातीयैः सूरिभिः कृतानां चिरंतनानामेवाप्रत्याख्यातानां उपलब्धिर्भवति ।

प्रकारान्तरेण अतिशयार्थकुशलत्वमाख्यातुमीहते—

णिक्खवणपवेसादिसु आयरियाणं बहुप्पयाराणं ।
सामाचारी कुसलो य होदि गणसंपवेसेण ॥१५२॥

'**णिक्खवणपवेसादिसु**' इत्यनया गाथया । '**आयरियाणं**' आचार्याणां । '**बहुप्पयाराणं**' बहुविधानां । केचिदाचार्या चरणक्रममवगच्छन्ति परै सहाचरणात् । अपरे पुन. शास्त्रनिगदितमेव । अन्ये तदुभयज्ञा. । इति बहुप्रकारता । एवं आचार्याणां अनेकप्रकाराणां **गणसंपवेसेण** गणप्रवेशेन निःक्रमणप्रवेशादिकासु क्रियासु । '**कुसलो य होदि**' कुशलश्च भवति । क ? सामाचारी । ते यथा आचरन्ति तथा प्रवर्तमान स्वावासदेशान्निर्गन्तुमिच्छता शीतलादुष्णाद्वा[1] देशाच्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा प्रविशतापि । किमर्थं ? शीतोष्णजन्तूनामाबाधापरिहारार्थं अथवा श्वेतरक्तकृष्णगुणासु भूमिषु अन्यस्या नि क्रमणे अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदेशादध कार्यं । अन्यथा विरुद्धयोनिसक्रमेण पृथिवीकायिकानां तद्भूमिभागोत्पन्नानां त्रसानां चाबाधा स्यात् । तथा जलं प्रविशता सचित्ताचित्तरजसो पदादिषु लग्नयोर्निरास । यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलान्तिक एव तिष्ठेत् । महतीनां नदीनां उत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवन्दन यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्वं

होती है, कोई 'अदिसयसत्थाण होइ उवसद्धो' ऐसा पढते है । उसका यह अर्थ है—अतिशयभूत शास्त्रोंकी जो नवीन बने है अथवा प्राचीन आरातीय आचार्योंके द्वारा रचे गये हैं उनकी उपलब्धि होती है—उनको जानना देखना होता है ॥१५१॥

प्रकारान्तरसे अतिशय अर्थकुशलताका कथन करते है—

गा०—बहुत प्रकारके आचार्योंके गणमें प्रवेश करनेसे वसति और दाताके घरसे निकलने और प्रवेश करने आदिमे जो उनका सम्यक् आचरण है उसमें प्रवीण होता है ॥१५२॥

टी०—आचार्य बहुत प्रकारके होते हैं। कुछ आचार्य दूसरोके साथ आचरण करनेसे आचरणका क्रम जानते हैं । दूसरे कोई आचार्य शास्त्रमे जो आचार कहा है उसे ही जानते हैं । अन्य कुछ आचार्य दोनोंको जानते है । इस प्रकार आचार्योंके बहुत प्रकार है । इस प्रकार अनेक प्रकारके आचार्योंके संघमे प्रवेश करनेसे निष्क्रमण प्रवेश आदिमे सामाचारी कुशल होता है । वे आचार्य जैसा आचरण करते हैं उसी प्रकार जो आचरण करता है उसे सामाचारी कहते है । अपने रहनेके स्थानसे यदि बाहर जाना चाहता है वह स्थान शीतल हो अथवा गर्म हो, शरीरका प्रमार्जन करके बाहर जाना चाहिए । इसी प्रकार प्रवेश करते हुए भी प्रमार्जन करना चाहिए । यह प्रमार्जन पीछीसे शरीरकी सफाई शीतकाय और उष्णकायके जीवोको बाधा न हो, इसलिए किया जाता है । अथवा सफेद, लाल या काले गुणवाली भूमियोंमें एकमेंसे निकलकर दूसरीमे प्रवेश करनेपर कमरसे नीचे प्रमार्जन करना चाहिए । अन्यथा विरुद्ध योनिके संक्रमसे पृथिवीकायिक जीवोंको और उस भूमिमे उत्पन्न हुए त्रसोंको बाधा होती है । तथा जलमे प्रवेश करते समय पैर आदिमें लगी सचित्त और अचित्त धूलीको दूर कर देना चाहिए । जब तक पैर न सूखे तबतक जलसे निकलकर जलके पास ही ठहरना चाहिए, वहाँसे जाना नही चाहिए । यदि बड़ी नदीको

१. द्वा सकलशरीर-अ० ।

शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत् । तदतिचारव्यपोहार्थं । एवमेव महत कान्तारस्य प्रवेशनं क्रमणयो ।

तथा भिक्षानिमित्त गृह प्रवेष्टुकाम अवलोकयेत्किमत्र बलीवर्दा, महिष्य, प्रसूता वा गाव, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचरा श्रमणाः वा सन्ति न सन्तीति । सन्ति चेन्न प्रविशेत् । यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेश कुर्यात् । ते हि भीता यति बाधन्ते स्वय वा पलायमाना त्रसस्थावरपीडा कुर्यु । क्लिश्यन्ति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयु ।

गृहीतभिक्षाणा वा तेषा निर्गमन गृहस्थै. प्रत्याख्यान वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्य । अन्यथा बहव आयाता इति दातुमशक्ता कस्मैचिदपि न दद्यु । तथा च आहारान्तराय[1] कृत स्यात् । क्रुद्धा परे भिक्षाचरा निर्भर्त्सनादिक कुर्युरस्माभिराशया प्रविष्ठ गृह किमर्थ प्रविशतीति । अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा अन्वेषन्ते[2] भिक्षा, यत्र वा स्थिताना गृहिण प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभाग यति प्रविशेन्न गृहाभ्यन्तर । गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेत्यभिहितोऽपि नान्धकार प्रविशेत् त्रसस्थावरपीडापरिहृतय । तद्द्वारकाद्युल्लङ्घने कुप्यन्ति च गृहिण[3] । एलक वत्स वा नातिक्रम्य प्रविशेत् । भीता पलायन कुर्युरात्मान वा पातयेयु ।

द्वारमप्यायामविष्कम्भहीन प्रविशत गात्रपीडा इति सकुटितागस्य विवृताधोभागस्य वा प्रवश दृष्ट्वा

पार करना हो तो इस ओर सिद्धोकी वन्दना करे और जबतक मै नदीके पार न पहुँचूँ तबतकके लिए मेरे सब शरीर भोजन और उपकरणका त्याग है इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करे और चित्तको समाहित करके नौका आदिम चढे। तथा दूसरे तटपर पहुँचकर कायोत्सर्ग करे। यह कायोत्सर्ग नदी पार करनेमे लगे दोषकी शुद्धिके लिए किया जाता है। इसी प्रकार किसी महान् वनमे प्रवेश करने और निकलनेपर करना चाहिए।

तथा भिक्षाके लिए घरमे प्रवेश करनेसे पूर्व देख ले कि यहाँ, साड, भैंस, ब्याई हुई गाय, अथवा दुष्ट कुत्ते ओर भिक्षाके लिए श्रमण है अथवा नही है। यदि हो तो घरमे प्रवेश न करे। यदि वे पशु साधुके प्रवेशसे न डरे तो सावधानतापूर्वक प्रवेश करे। वे पशु डरनेपर यतिको बाधा कर सकते है। अथवा स्वय भागकर त्रस और स्थावर जीवोको पीडा पहुँचा सकते है। स्वय कष्टमे पड सकते है। किसी बडे गड्ढेमे गिरकर मर सकते है। अथवा भिक्षा लेकर निकलते हुए साधुओको देखकर और गृहस्थोके द्वारा उनका प्रत्याख्यान सुनकर घरमे प्रवेश करना चाहिए। अन्यथा 'बहुतसे साधु आ गये, हम इन्हे भिक्षा देनेमे असमर्थ है ऐसा सोच गृहस्थ किसीको भी भिक्षा नही देगे। और तब आहारमे अन्तराय हो जायगा। अन्य भिक्षार्थी क्रुद्ध होकर तिरस्कार करेगे कि जिस घरमे हम भिक्षा लेते है उसमे ये क्यो प्रविष्ट हुए। अन्य भिक्षा लेनेवाले जहाँ खडे होकर भिक्षाकी प्रतीक्षा करते है अथवा जहाँपर खडे हुए भिक्षार्थियोको गृहस्थ भिक्षा देते हैं, वही तक साधुको जाना चाहिए। घरके भीतर प्रवेश नही करना चाहिए। गृहस्थोके द्वारा 'पधारिये' घरमे प्रवेश कीजिए, ऐसा कहनेपर भी त्रस और स्थावरजीवोको पीडा न पहुँचे इसलिए अन्धकारमें प्रवेश नही करना चाहिए। उनके द्वार आदिको लाँघनेपर गृहस्थ क्रुद्ध हो सकते है। बछडे आदिको लाँघकर नही जाना चाहिए, क्योकि ऐसा करनेसे वे डरकर भाग सकते हैं अथवा साधुको गिरा सकते है। लम्बाई चौडाईसे रहित द्वारमे प्रवेश करते हुए अंगोको

---

१. भोगान्तराय –आ० मु०। २. लभन्ते–आ० मु०। ३. गृहिण भीत –आ०।

कुप्यन्ति हसन्ति वा । आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च । द्वारपार्श्वस्थजन्तुपीडा स्वगात्रमर्द्दने च शिक्याव-लम्बितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशी अभिहृति । तस्मादूर्ध्वं तिर्यक्चावलोक्य प्रवेष्टव्यं ।

तदानीमेव लिप्ता, जलसेकार्द्रा, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपलाशादिभिर्निरन्तरा, सचित्तमृत्तिकावती, छिद्र-बहुला, विचरत्त्रसजीवा, गृहिणा भोजनार्थं कृतमण्डलपरिहारा, देवताध्युषिता निकटभूतना[1]नाजनामतिकस्था-सनशयनामासीनशयितपुरुषा, मूत्राल्पपुरीषादिभिरुपहता भूमि न प्रविशेत् ।

सयमविराधना आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च परिहर्तुं भुक्त्वा निर्गच्छन्नपि शनैरतीवानवनतो वन्दमान प्रति दत्तयोग्याशीर्वादो निर्गच्छेत् । तथा भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल च ज्ञात्वा गृहीतावग्रह, ग्राम-नगरादिकं प्रविशेदीर्यासमितिसम्पन्न । भोजनकालपरिमाण ज्ञात्वा ग्रामादिभ्यो नि सरेत् । जिनायतन, यति-निवास वा प्रविशन्प्रदक्षिणा कुर्यान्निसीधिकाशब्दप्रयोगं च । निर्गन्तुकाम आसीधिकेति । आदिशब्देन परिगृहीता स्थानभोजनशयनगमनादिक्रिया । तत्रापि यत्नो यतीना । त सकल वेद्मि गुरुकुलवासी सूत्रार्थज्ञोऽहं, न मया-चारक्रम सूत्रार्थो वान्यसकाशे ज्ञातव्य इत्यभिमान न वहेत् ॥ १५२॥

शिक्षायामुद्योगपरो भवेदित्याह—

[2]कंठगदेहि वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कादव्वो ।
सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जध तहेव ॥१५३॥

सकुचित करनेपर शरीरमें पीडा होती है । नीचेके भागको फैलाकर प्रवेश करनेपर लोग देखकर कुपित होगे या हँसेगे । तथा आत्माकी विराधना और मिथ्यात्वकी आराधना होती है ।

अपने शरीरका मर्दन करनेपर द्वारके पार्श्वभागमें स्थित जीवोको पीडा होती है । विना देखे घरमे प्रवेश करनेवाला साधु छीकेपर रखे बरतनोंसे टकराता है । अत ऊपर और इधर-उधर देखकर घरमे प्रवेश करना चाहिए । जो भूमि तत्काल लीपी गई हो, जलके सिंचनसे गीली हो, हरे फूल, फल पत्र आदिसे सर्वत्र ढकी हो, सचित्त मिट्टीवाली हो, जिसमे बहुत छिद्र हो, जिसपर त्रसजीव विचरते हो, गृहस्थोके भोजके लिए मण्डल आदि रचे गये हो, जहाँ देवताका निवास हो, पासमें बहुतसे आदमी बैठे हो, आसन शय्या पासमे हो, पुरुष सोये या बैठे हो, टट्टी पेशाब आदि पड़े हो उस भूमिसे प्रवेश नही करना चाहिए । सयमकी विराधना, आत्माकी विराधना और मिथ्यात्वकी आराधनासे बचनेके लिए भोजन करके निकलते हुए भी धीरेसे अति नम्र हो, वन्दना करनेवालोको आशीर्वाद देते हुए निकलना चाहिए । तथा भिक्षाका समय और अपनी भूखके समयको जानकर कोई नियम ग्रहण करके ईर्यासमितिपूर्वक ग्राम नगर आदिमे प्रवेश करना चाहिए । और भोजनके कालका परिमाण जानकर ग्रामादिसे निकलना चाहिए । जिन मन्दिरमे अथवा साधु निवासमें प्रवेश करते समय निसिधिका शब्दका प्रयोग करना चाहिए और प्रदक्षिणा करना चाहिए । निकलते समय 'आसीधिका' शब्दका प्रयोग करना चाहिए । आदि शब्दसे स्थान, भोजन, शयन, गमन आदि क्रियाका ग्रहण किया है । उनमे भी यतियोंको साव-धानता बरतनी चाहिए । मै सब जानता हूँ, गुरुकुलका वासी और सूत्रके अर्थका ज्ञाता हू, मुझे दूसरेसे आचारक्रम और सूत्रार्थ नही जानना है' ऐसा अभिमान नही करना चाहिए ॥१५२॥

शिक्षामें उद्योग करना चाहिए, ऐसा कहते है—

१. त भाजना–अ० । २ एषापि गाथा क्षिप्तैव–मूलारा० ।

'कण्ठगदेहिं वीरयादिना'। कण्ठगतैः प्राणै सह वर्तमानेनापि साधुना आगमशिक्षा कर्तव्यैव सूत्र-स्यार्थस्य सामाचारस्य च ॥१५३॥

क्षेत्रपरिमार्गणां व्याचष्टे—

संजदजणस्स य जम्हि फासुविहारो य सुलभवुत्ती य ।
तं खेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं ॥१५४॥

'संजदजण' इत्यादिना। असयमान् हिंसादीन्ज्ञात्वा श्रद्धाय च तेभ्य उपरतो व्यावृत्त सम्यग्यत सयत इत्युच्यते तस्य संयतजनस्य। 'जम्हि' यस्मिन्क्षेत्रे। 'फासुविहारो य' प्रासुक विहरण जीवबाधारहित गमनं अत्रसहरितबहुलत्वादप्रचुरोदककर्दमत्वाच्च क्षेत्रस्य। 'सुलभवुत्ती य' सुखेनाक्लेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मिन्क्षेत्रे। 'तं खेत्तं' तत्क्षेत्र। 'णाहिदि' ज्ञास्यत्यात्मन परस्य वा। 'सल्लेहणाजोग्गं' सम्यक्कायकषायतनूकरण सल्लेखना तस्या योग्य। क ? 'विहरंतो' देशान्तराणि भ्रमन् ॥१५४॥

न देशान्तरभ्रमणमात्रादनियतविहारी भवति किन्त्वेवंविध इत्याचष्टे—

वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे ।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो ॥१५५॥

'वसईसु अ' इत्यादिना—'वसतिषु' उपकरणेषु। ग्रामे नगरे गणे श्रावकजने च। सर्वत्र अप्रतिबद्ध।

गा०—प्राणोके कण्ठमे आ जानेपर भी साधुको आगमका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। जैसे वह सूत्रका और अर्थका और समाचारीका अभ्यास करता है उसी प्रकार उसे आगमका अभ्यास करना चाहिए ॥१५३॥

टी०—कण्ठगत प्राणोंके होते हुए भी साधुको आगमकी शिक्षा करना ही चाहिए तथा सूत्र, अर्थ और सामाचारीकी भी शिक्षा करना चाहिए ॥१५३॥

विशेष०—आशाधर इस गाथाको प्रक्षिप्त बतलाते है।

क्षेत्र परिमार्गणाको कहते हैं—

गा०—जिस क्षेत्रमे सयमीजनका प्रासुक विहार और सुलभ आहार हो, वह क्षेत्र देशान्तर-मे भ्रमण करनेवाला सल्लेखनाके योग्य जानता है ॥१५४॥

टी०—असयमरूप हिंसा आदिको जानकर और श्रद्धान करके जो उनसे अलग होता है अर्थात् उनका त्याग करता है उस सम्यक् यतको सयत कहते है। सयमी मनुष्यका जिस क्षेत्रमें प्रासुक विहार अर्थात् जीव बाधारहित गमन होता है; क्योंकि क्षेत्रमें त्रस और हरितकायकी बहुलता और पानी कीचडकी अधिकता नही होनी चाहिए। तथा जहाँ वृत्ति अर्थात् आहार सुखपूर्वक विना क्लेशके प्राप्त होता है वह क्षेत्र देशान्तरमें विहार करनेवाला अनियत विहारी साधु सल्लेखनाके योग्य जानता है। सम्यक् रीतिसे शरीर और कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं उसके योग्य वह क्षेत्र होता है ॥१५४॥

आगे कहते है कि केवल देशान्तरमे भ्रमण करनेसे अनियत विहारी नही होता किन्तु जो ऐसा होता है—

गा०—वसतियोमें और उपकरणोंमे ग्राममें नगरमे सघमे और श्रावकजनमे सर्वत्र यह मेरा है इस प्रकारके सकल्पसे रहित साधु सक्षेपसे अनियत विहारी होता है ॥१५५॥

टी०—वसति, उपकरण, ग्राम, नगर, गण और श्रावकजनमे जो सर्वत्र अप्रतिबद्ध है, यह

ममेदं वसत्यादिकं अहमस्य स्वामीति सकल्परहित' अनियतविहारी भवति इति सक्षेपत' प्रतिपत्तव्यः । **विहारो गदो** ।।१५५।।

अनियतवासादनन्तर परिणामं प्रतिपादयितु उत्तरगाथा—

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा ।
णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो कादुं ।।१५६।।

'**अणुपालिदो य**' अनुपालितश्च सूत्रानुसारेण रक्षित । '**दीहो**' दीर्घ चिरकालप्रवृत्ति । '**परियाओ**' पर्यायः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूप । '**वायणा वि**' वाचनापि । '**मे**' मया । '**दिण्णा**' दत्ता । '**णिप्पादिदा य सिस्सा**' निष्पादिताश्च शिष्या । '**सेयं**' श्रेय हित । '**अप्पणो कादुं**' आत्मन कर्तु '**जुत्तं**' इति शेष । एतदुक्त भवति । ज्ञानदर्शनचारित्रेषु चिरकाल परिणतोऽस्मि । सूत्रानुसारेण परेभ्यश्च निरवद्यग्रन्थार्थदान च कृत । शिष्याश्च व्युत्पन्ना मवृत्ता । एव स्वपरोपकारक्रियया गतः काल । इत प्रभृत्यात्मन एव हित कर्तुं न्याय्यमिति चेत प्रणिधान इह परिणामशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—

अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परिहियं च कायव्वं ।
अप्पहियपरहियादो अप्पहियं सुट्ठु कादव्वं ।। [ ]

किण्णु अधालंदविधी भत्तपइण्णेंगिणी य परिहारो ।
पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पडिवण्णो ।।१५७।।

'**किं णु अधालदविधि**' । कोऽसावयथालन्दविधि ? उच्यते—परिणाम मामर्थ्य, गुरुविसर्जन, प्रमाण, स्थापना, आचारमार्गणा, अथालन्दमासकल्पश्च । गृहीतार्था कृतकरणा., परीषहोपसर्गजये समर्था , अनि-

---

वसति आदि मेरी है और मैं इसका स्वामी हू इस प्रकारके सकल्पसे रहित है उसे संक्षेपमे अनियत विहारी जानना । इस प्रकार अनियत विहार समाप्त हुआ ।।१५५।।

अनियत वासके अनन्तर परिणामका कथन करनेके लिए गाथा—

गा०—दीर्घकाल तक ज्ञान दर्शन चारित्र और तप रूप पर्यायका मैने शास्त्रानुसार पालन किया । और मैने वाचना भी दी और शिष्योको तैयार किया । अब निश्चयसे अपना कल्याण करना उचित है ।।१५६।।

टीका—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानदर्शन चारित्रमे मै चिरकालतक रमा हूँ । तथा दूसरोको आगमके अनुसार निर्दोष ग्रन्थ और उसके अर्थका दान किया है । शिष्य भी व्युत्पन्न हो गये । इस प्रकार अपना और परका उपकार करनेमे काल बीता । आजसे अपना ही हित करना उचित है । इस प्रकारके मनोभावको यहाँ परिणाम शब्दसे कहा है । कहा भी है—'अपना हित करना चाहिए । यदि शक्ति हो तो परका हित भी करना चाहिए । किन्तु आत्महित और परहित में से आत्महित अच्छे प्रकार करना चाहिए ।।१५६।।

गा०—क्या अथालन्द विधि, भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, परिहार विशुद्धि चारित्र, पादोपगमन अथवा जिनकल्पको धारण करके मै विहार करूँ ।।१५७।।

टी०—अथालन्दविधि क्या है, यह कहते हैं—परिणाम, सामर्थ्य, गुरुके द्वारा विसर्जन, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अथालन्दकमासकल्प यह क्रम है । जो मुनि शास्त्रज्ञ, करने

गूहितबलवीर्या, आत्मानं मनसा तुलयन्ति । किमथालन्दविधिरारभ[1]णीयोऽथवा प्रायोपगमनविधिरिति । परिहारस्यासमर्था अथालन्दविधिमुपगन्तुकामास्त्रय , पञ्च, सप्त, नव वा ज्ञानदर्शनसपन्नास्तीव्रसंवेगमापन्ना., स्थविरमूलनिवासिन , अवधृतात्मसामर्थ्या विदितायु स्थितय स्थविर विज्ञापयन्ति—भगवन् ! किमिच्छामोऽथालन्दकमयमं प्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा स्थविरो वारयति धृत्या शरीरेण च दुर्बलान्परिणामातिशयविरहितांश्च काश्चिदनुजानाति । समग्रगुणास्ते निसृष्टा स्थविरेण प्रशस्तेऽवकाशे स्थिता कृतलोचा , गुरूणामालोचना कृत्वा कृतव्रतारोपणा अचिरोद्गते आदित्ये कल्पस्थितमेकं गणस्यालोचना श्रोतु शुद्धि चैव कर्तुं समुद्यत स्थापयन्ति । स एव प्रमाण गणस्य । आत्मन सहाया यावन्तो गणान्निर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने स्थापयितव्या गणे ।

आचारो निरूप्यते—अथालन्दसयताना लिङ्ग औत्सर्गिक, देहस्योपकारार्थं आहार वसति च गृह्णन्ति, शेष सकलं त्यजन्ति । तृणपीठकटफलकादिक उपधि च न गृह्णन्ति । प्राणिसयमपरिपालनार्थ जिनप्रतिरूपतासपादनार्थं च गृहीतप्रतिलेखना ग्रामान्तरगमने विहारभूमिगमने, भिक्षाचर्यायां, निषद्यायां च अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्ट शरीरसंस्कारा परीषहान्सहन्ते नो वा धृतिबलहीना. । अस्ति च मनोबल सयममाचरितु इति मत्वा त्रय पञ्च वा सह प्रवर्तन्ते । रोगेणाभिघातेन वा जाताया वेदनाया प्रतिक्रियया वर्ज्या यदा तपसातिश्रान्तास्तदा

योग्य कार्यको कर चुकने वाले, परीषह और उपसर्गको जीतनेमे समर्थ तथा अपने बल और वीर्य- नही छिपानेवाले होते है, वे अपनी तुलना मनमे करते है कि क्या अथालन्दविधि प्रारम्भ करे या प्रायोपगमन विधि ? जो परिहार विशुद्धिको धारण करनेमे असमर्थ है और अथालन्दविधिको स्वीकार करना चाहते है ऐसे पाँच, सात या नौ मुनि, जो ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न है, तीव्र वैराग्यसे सम्पन्न है, आचार्यके पादमूलमे रहते हैं, जिन्होने अपनी सामर्थ्यका निर्णय कर लिया है और जिन्हे अपनी आयुकी स्थिति ज्ञात है वे आचार्यसे निवेदन करते है—भगवन् ! हम अथालन्दक सयमको धारण करना चाहते है। यह सुनकर आचार्य जो धैर्य और शरीरसे दुर्बल है, जिनके परिणाम उन्नत नही है, उन्हे रोक देते है और कुछको अनुमति देते है । वे सम्पूर्ण गुणशाली गुरुके द्वारा छोड दिये जाने पर प्रशस्त स्थानमे लोच करते है। और गुरुके सन्मुख आलोचना करके व्रत धारण करते है। सूर्यका उदय होते ही कल्पस्थित मुनियोंमे से एकको जो गणकी आलोचना सुनने और दोषोंकी शुद्धि करनेके लिए तत्पर होता है, स्थापित करते है । वही गणके लिए प्रमाण होता है अपने सहायक जितने मुनि गणसे निकले है, गणमे उनके स्थानमे उतने ही मुनि स्थापित करना चाहिए ।

अब अथालन्दकोके आचारका निरूपण करते हैं—अथालन्दक मुनियोके औत्सर्गिक लिग (नग्नता) होता है । शरीरके उपकारके लिए आहार और वसति स्वीकार करते है । शेष सब छोड देते है। तृणोका आसन, लकडीका तख्त आदि परिग्रह स्वीकार नही करते। प्राणि सयमको पालनेके लिए और जिनदेवका प्रतिरूप रखनेके लिए पीछी रखते है। अन्य ग्रामको जाने पर, विहार भूमिमे जाने पर, भिक्षाचर्यामे और बैठते समय प्रतिलेखना नही करते । शरीरका सस्कार नही करते, परीषहोको सहते हैं और धैर्यबलसे हीन नही होते । सयमका आचरण करनेके लिए हममे मनोबल है ऐसा मानकर तीन या पाँच मुनि एक साथ रहते है। रोगसे या चोट आदिसे

१. राधनीयो–आ० मु० ।

सहायहस्तावलम्बन कुर्वन्ति । वाचनादिका च न कुर्वन्ति यामा[1]ष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता ध्याने यतन्ते । यदि बलादायाति निद्रा तत्राकृतप्रतिज्ञा स्वाध्यायकालप्रतीक्षणादिकाश्च क्रियास्तेषा न सन्ति । श्मशानमध्येऽपि तेषा ध्यानमप्रतिषिद्ध आवश्यकेषु च प्रयतन्ते । उपकरणप्रतिलेखना कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति । सस्वामिकेषु देवकुलादिषु तदनुज्ञया वसन्ति । अज्ञायमानस्वामिकेषु यस्येद सोऽनुज्ञा करोतु इत्यभिधाय वसन्ति । सहसातिचारे जाते अशुभपरिणामे वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तते । दशविधे समाचारे प्रवर्तन्ते । दान, ग्रहण, अनुपाल[2]ना, विनय , सह[3]भोजीन च नास्ति सघेन तेषा ; कारणमपेक्ष्य केषाचिदेक एव सल्लाप कार्य । यत्र क्षेत्रे सधर्मा तत्क्षेत्र न प्रविशन्ति । मौनावग्रहनिरता पथान पृच्छन्ति, शकितव्य वा द्रव्य शय्याधरगृह वा । एव तिस्र एव भाषा । ग्रामाद्बहिरागतुकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसन्ति । पशुपक्षिप्रभृतिभिर्यत्र ध्याने विघ्नो भवति तत स्थानादपयाति । को भवान्, कुत आयात , क्व प्रस्थित , कियत्काल अत्र भवतो वसनं, कति यूयमिति पृष्टा श्रमणोऽहमित्येव प्रतिवचनमेक प्रयच्छन्ति, इत[4]रत्र कृततूष्णीभावा । अपसरात स्थानादवकाश मे प्रयच्छ, परिपालय गृह, इत्यादिको वाग्व्यापारो यत्रान्येषा भवति, तत्र न निवसन्ति । बहिरपि वसत यदि भवति, ततोऽप्ययान्ति । स्वावासगृहे प्रज्वलिते न[5] चलन्ति चलन्ति वा गोचर्यायामप्राप्ताया-

---

उत्पन्न हुई वेदनाका प्रतीकार नही करते । जब तपसे अत्यन्त थक जाते है तब सहायके रूपमे एक दूसरेका सहारा लेते है । वाचना आदि नही करते । आठो पहर भी नहो सोते और एकाग्र होकर ध्यानमे प्रयत्न करते है । यदि अचानक निद्रा आ जाती है तो सो लेते है, नही सोनेकी प्रतिज्ञा उनके नही होती । स्वाध्यायके समय उनके प्रतिलेखना आदि क्रिया नही होती । श्मशानके मध्यमे भी वे ध्यान कर सकते है उसका उनके लिए निषेध नही है । और आवश्यकोमे प्रयत्नशील रहते है । उपकरणोकी प्रतिलेखना दोनो समय करते है । जिन देवकुलादिके स्वामी होते है उनमे उनकी आज्ञा लेकर ही निवास करते है । जिन मन्दिरोके स्वामीका पता नही होता उनमे 'जिनका यह है वह हमे स्वीकृति प्रदान करे' ऐसा कहकर निवास करते है । सहसा अतिचार लगने पर अथवा अशुभ परिणाम होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा कहकर निवृत्त हो जाते है । दस प्रकारके समाचारका पालन करते है । सघके साथ उनका देन, लेन, अनुपालना, विनय और सहभोजन या वार्तालाप नही होता । आवश्यकता होने पर किसीसे एक ही व्यक्तिको बात करना चाहिए । जिस क्षेत्रमे साधर्मी मुनि हो, उस क्षेत्रमे वे नही जाते । मौनका नियम पालन करते है किन्तु, मार्ग या शका युक्त द्रव्य और वसनिकाके स्वामीका घर पूछ लेते है । इस प्रकार तीन ही उनकी भाषा होती है । गाँवसे बाहर आने वालोके लिए जो मकान होता है उसमे कल्पस्थित मुनिकी अनुज्ञा मिलने पर ठहरते है । जिस स्थानमे पशु-पक्षी आदिके द्वारा ध्यानमे विघ्न होता हो वहाँसे चले जाते है । कोई पूछे कि आप कौन है, कहाँसे आये है, कहाँ जाते है, कितने समय तक आप यहाँ रहेगे ? तो 'मै श्रमण हू' इस प्रकार एक ही उत्तर देते है, शेष प्रश्नोके संबधमे चुप रहते है । 'यहाँसे जाओ, मुझे स्थान दो, घरको देखना, इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ अन्य लोग करते है वहाँ निवास नही करते । घरके बाहर भी ठहरने पर यदि कोई ऐसा व्यवहार करता है तो वहाँसे भी चले जाते हैं । जिस घरमे वे रहते है उसमे आग लगने पर वहाँसे नही जाते

---

१ यामाके अ० । यामाकष्टके—आ० । २. लन—आ० मु० । ३. सहजल्पन—आ० मु० ।
४. इतरेत्र आ० । इतरे कृत—मु० । ५ न चलन्ति वा—अ० ।

तृतीयपौरुष्यां द्विगव्यूतमध्वानं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महावातेन वर्षादिना जात. समतीतगमनकाल एव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिका, व्यालमृगा[1] वा पतन्ति ततोऽपसर्पन्ति न वा पादे कण्टकालग्ने, चक्षुषि रज.-प्रवेशे वा, अपनयन्ति न वा । दृढधृतिका· मिथ्यात्वचर्याराधनामात्मविराधनामवस्था दोषान्वा तस्मात्परिहरन्ति न वा । तृतीयपौरुष्यां भिक्षार्थमवतरन्ति । कृपणवनीपकपशुपक्षिगणे अपगते पञ्चमी पिण्डैषणा कुर्वन्ति मौनं च । एका, द्वे तिस्रश्चतस्र. पञ्च वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्रालन्दिकयोग प्रवर्तयन्ति । यस्मात्पाणिपात्रभोजी मिथ्याराधना न वर्जयति तस्माल्लेपमलेपं वा भुक्त्वा तत्प्रक्षालयन्ति । धर्मोपदेश[2] कुरुत प्रव्रज्यामिच्छामि भगवता पादमूले इत्युक्ताश्चापि न मनसापि वाञ्छन्ति किं पुनर्वचसा कायेन । इतरे तत्सहाया धर्मोपदेश कृत्वा सशिखं मुण्डित वा गणाधिपतयेऽर्पयन्ति ।

क्षेत्रत सप्ततिशतधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति । कालत सर्वदा । चारित्रत सामायिकच्छेदोपस्थापनयो । तीर्थत सर्वतीर्थकृता तीर्थेषु । जन्मन. त्रिशद्वर्षजीविता[3] । श्रामण्येन एकोनविंशतिवर्षा । श्रुतेन नवदशपूर्वधरा. । वेदत पुमांसो नपुंसकाश्च । लेश्यात पद्मशुक्ललेश्या । ध्यानेन धर्मध्याना. । संस्थानत षड्विधेष्वन्यतरसंस्थाना देशोनसप्तहस्तादि यावत्पञ्चधनु शतो[4]च्छ्रया । कालतो भिन्नमुहूर्ताद्यूनपूर्वकोटिकाल-

---

अथवा जाते है। गोचरी नही मिलने पर तीसरे पहरमे दो गव्यूति प्रमाण मार्ग चलते है। यदि प्रचण्ड वायु या वर्षा आदिसे गमनमे रुकावट आती है तो वही ठहर जाते है। व्याघ्र आदि अथवा सर्प मृग आदि आ जाते है तो वहाँसे हटते भी है और नही भी हटते। पैरमे काँटा लगने पर अथवा आँखमे धूल चली जाने पर उसे निकालते है, नही भी निकालते।

'दृढ धैर्यशाली वे मुनि मिथ्यात्वचर्याराधना और आत्मविराधना अवस्थाको अथवा दोषोको दूर करते है अथवा नही करते (?)। तीसरे पहर भिक्षाके लिए निकलते है। कृपण, याचक, पशु-पक्षी गणके चले जाने पर पाँचवी पिण्डैषणा करते है और मौन रखते है। जिस क्षेत्रमे एक, दो, तीन, चार अथवा पाँच गोचरी होती है उस क्षेत्रमे आलन्दिक योग करते है। यत पाणिपात्रमे भोजन करने वाला मिथ्या आराधनाको नही छोडता, इसलिए वह लेप अथवा अलेपको खाकर उसका प्रक्षालन करते है?'

कोई आकर कहे कि धर्मोपदेश करो, मै आपके चरणोमे दीक्षा लेना चाहता हूँ तो ऐसा कहने पर भी वे मनसे भी उसकी चाहना नही करते, तब वचन और कायका तो कहना ही क्या? अन्य मुनि जो उनके सहायक होते है वे उन्हे धर्मोपदेश देकर शिखा सहित अथवा मुण्डन कराकर आचार्यको सौंप देते है।

क्षेत्रकी अपेक्षा एक सौ सत्तर कर्मभूमि रूप धर्मक्षेत्रोमे ये आलन्दक मुनि होते हैं। कालकी अपेक्षा सर्वदा होते है। चारित्रकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रमे होते हैं। तीर्थकी अपेक्षा सब तीर्थङ्करोके तीर्थमे होते हैं। जन्मसे तीस वर्षतक गृहस्थाश्रममे रहकर उन्नीस वर्ष तक मुनि धर्मका पालन करते हैं, श्रुतसे नौ या दस पूर्वके धारी होते है। वेदसे पुरुष अथवा नपुसक होते हैं। लेश्यासे पद्म या शुक्ल लेश्यावाले होते है। ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं। संस्थानसे छह प्रकारके संस्थानोमें से किसी एक संस्थान वाले होते हैं। कुछ कम सात हाथसे लेकर पाँचसौ

---

१ व्यालमृगाद्या यद्याप–आ० मु०। २. कुर्वत तत्प्र–आ०। कुर्वन्त तत्प्र० मु०। ३ जीवित.–आ०। ४. शतोत्सेधा–मु०।

स्थितय.। विक्रिया चारणताक्षीरास्रविस्वादयश्च तेषा जायन्ते। विरागतया न सेवन्ते। गच्छविनिर्गतालन्दविधिरेष व्याख्यात.।

गच्छप्रतिबद्धालन्दकविधिरुच्यते—गच्छान्निर्गच्छन्तो बहि सक्रोशयोजने विहरन्ति। सपराक्रमो गणधरो ददाति क्षेत्राद् बहिर्गत्वार्थपद। तेऽपि समर्था आगत्य शिक्षा गृह्णन्ति। एको द्वौ त्रयो वा परिज्ञानधारणा गुणसमग्रा गुरुसकाशमायान्ति। कृतप्रतिप्रश्नकार्या. स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहण कुर्वन्ति। अपराक्रमस्तु गणधरो गच्छे सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अग्रोद्यान गत्वा यत्नेन ददात्यर्थपद। अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरो अन्यापसारण कृत्वा एकस्मै उपदिशति। यदि गच्छेत्क्षेत्रान्तर गण अथालन्दिका अपि गुर्वनुज्ञया यान्ति क्षेत्र। यदा गच्छनिवासिन क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयतन्ते तदा तत्र मार्गेण द्वौ अथालन्दिकौ यातौ। व्याख्यातोऽयमथालन्दविधि।

परिहार उच्यते—जिनकल्पस्यासमर्था परिहारसयमभर वोढु समर्था आत्मनो बल वीर्यमायु प्रत्यवायाश्च ज्ञात्वा ततो जिनसकाश उपगत्य कृतविनया प्राञ्जलय पृच्छन्ति "परिहारसयम प्रतिपत्तुमिच्छामो युष्माकमाज्ञया" इति तच्छ्रुत्वा येषा ज्ञानमनुत्तर उपजायते विघ्नो वा तान्निवारयति। निसृष्टास्तु यतीन्द्रेण सयताना कृतनि शल्या प्रशस्तमवकाशमुपगता, लोच कृत्वा सुनिश्चिता गुरूणा कृतालोचना व्रतानि सुविशुद्धानि कुर्वन्ति। परिहारसयमाभिमुखाना मध्ये एक सूर्योदये स्थापयन्ति कल्पस्थित गु त्वेन। सच

धनुष ऊँचे होते है। कालसे एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ कम पूर्वकोटिकी स्थितिवाले होते हैं अर्थात् अथालन्दक होनेके कालसे लेकर जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु बीते वर्षोसे हीन पूर्व कोटि प्रमाण होती है। उनको विक्रिया, चारण और क्षीरास्रवित्व आदि ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु रागका अभाव होनेसे उनका सेवन नहीं करते। यह गच्छसे निकले हुए आलन्दककी विधिका कथन है। अब गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दककी विधि कहते है—ये गच्छसे निकलकर बाहर एक योजन और एक कोस क्षेत्रमे विहार करते है। यदि आचार्य पराक्रमी होते हैं तो क्षेत्रसे बाहर जाकर उन्हे अर्थपद (शिक्षा) देते है। आलन्दकोमें से भी जो समर्थ होते है वे आकर आचार्यसे शिक्षा ग्रहण करते है। परिज्ञान और धारणा गुणसे पूर्ण एक दो अथवा तीन अथालन्दक मुनि गुरुके पास आते है, और उनसे प्रश्नादि करके अपने क्षेत्रमे जाकर भिक्षा ग्रहण करते है। (?) यदि आचार्य शक्तिहीन होते है तो गच्छमे सूत्रार्थपौरुषी (?) करके । आगेके उद्यानमें जाकर सावधानतापूर्वक अर्थपद देते है। अथवा अपने उपाश्रयमे ही अन्य शिष्योको दूर करके एकको ही अर्थपद देते हैं। यदि गण अन्य क्षेत्रको जाता है तो अथालन्दक मुनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षेत्रको जाते है। जब गच्छ निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना करते हैं तब उस मार्गसे दो अथालन्दक जाते है। यह अथालन्दकी विधि कही।

परिहारका कथन करते है—जो जिनकल्पको धारण करनेमे असमर्थ होते है और परिहार सयमके भारको वहन करनेमे समर्थ होते है वे अपना बल, वीर्य, आयु और विघ्नोको जानकर जिन भागवान्के पास जाकर हाथ जोड विनयपूर्वक पूछते है—हम आपकी आज्ञासे परिहार सयम धारण करना चाहते है। यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नही होता अथवा जिन्हे कोई बाधा होती हैं उनको रोक देते है। जिन्हें आज्ञा मिल जाती है वे मुनियोके पास नि शल्य होकर प्रशस्त स्थानोमे जाकर केशलोच करते है। फिर गुरुओके सन्मुख आलोचना करके अपने व्रतोंको अच्छी तरह विशुद्ध करते है। परिहार संयम धारण करनेवालोमेसे एक कल्पस्थितको सूर्यका उदय

प्रमाण तस्य[१]। स चालोचना श्रुत्वा शुद्धि करोति। कल्पस्थितमाचार्य मुक्त्वा शेषाणा[२]मर्द्धा अग्रे परिहार-सयमं गृह्णन्ति इति परिहारका भण्यन्ते। शेषास्तेषामनुपरिहारका। पश्चात्परिहारसयमग्राहिण अनुपरि-हारका भण्यन्ते। एवं कल्पस्थिते सति ये पश्चात्परिहारसयमार्थमात्मानमुपसृतास्तानपि स्वगणे प्रक्षिपति गणी। यावद्भिरूनो गण तावत्प्रमाण गण कृत्वा परिहारकाननुपरिहारिकाश्च व्यवस्थापयति। तेन परिहारसंयम निवि-शमाना अनुपरिहारकाश्च एको द्वौ बहवो वा भवन्ति। जदि तिण्णि, एगा गणी विदिओ परिहारसयम पडि-वण्णो, तदिओ अणुपरिहारगो। जदि पच एको कप्पट्ठिदो, दो परिहारसजम पडिवज्जति। तेसिमणुपरिहारगा पत्तेग। इतरे जदिसत्त एगो कप्पट्ठिदो, तिण्णि परिहारगा, इदरे तिण्णि अणुपरिहारगा। जदि णव एगो कप्पट्ठिदो, चत्तारि परिहारिगा, चत्तारि अणुपरिहारिगा। छहि मासेहि परिहारीणिविट्ठाणी हवति। ततो पच्छा अणुपरिहारी परिहार पट्ठवेदिदु। तेसि णिविट्ठपरिहारी हवतेणुपरिहारगा[३] ते पुणो छहि मासेहि णिविट्ठाइ भवन्ति। तु कप्पट्ठिदो पच्छा परिहार [४]पवज्जदि। तस्सेगो अणुपरिहारी एगो कप्प-ट्ठिदो वि। असोविअ छहि मासेहि णिविट्ठपरिहारगो अट्ठारममासा ते एव होति पमाणदो।

होनेपर गुरुके रूपसे स्थापित करते है। उस गणके लिए वह प्रमाण होता है। वह आलोचना सुनकर उनकी शुद्धि करता है। कल्पस्थित आचार्यको छोडकर शेषमेंसे आधे पहले परिहार संयमको ग्रहण करते है इसलिए उन्हे परिहारक कहते है। शेष उनके अनुपरिहारक होते है। जो पीछे परिहारसयम ग्रहण करते है वे अनुपरिहारक कहे जाते है। इस प्रकार कल्पस्थित होनेपर जो पीछे परिहार सयमके लिए अपनेको उपस्थित करते है उन्हे भी गणी अपने गणमे मिला लेता है। जितने साधु गणमे कम हुए है उतने प्रमाण गणको करके परिहारको और अनुपरिहारकोकी व्यवस्था गणी करता है। अत परिहार सयममे प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक एक दो अथवा बहुत होते है। यदि तीन होते है तो उनमेसे एक गणी, दूसरा परिहारसयमका धारी और तीसरा अनुपरिहारक होता है। यदि पाँच होते है तो उनमे एक कल्पस्थित गणी, दो परिहारसयमके धारी और उन दोनोमे प्रत्येकका एक-एक अनुपरिहारक होता है। यदि सात होते है तो उनमे एक कल्पस्थित, तीन परिहारक और शेष तीन अनुपरिहारक होते है। यदि नौ हो तो एक कल्प-स्थित, चार परिहारक और चार अनुपरिहारक होते है। छह महीने तक परिहार सयमी परिहार-सयममे निविष्ट होता है। उसके पश्चात् अनुपरिहारक परिहारसयममे प्रविष्ट होता है। उनके भी निर्विष्ट परिहारक होनेपर अन्य अनुपरिहारक परिहार सयममे प्रविष्ट होते है। वे भी छह मासमे निर्विष्ट परिहारक हो जाते है। पीछे कल्पस्थित परिहारमे प्रविष्ट होता है। उसका एक अनुपरिहारक और एक कल्पस्थित होता है। वह भी छह मासमे निविष्टपरिहारक होता है। इस प्रकार प्रमाणसे अठारह मास होते है।

विशेषार्थ—इसका खुलासा है कि परिहारविशुद्धि सयममे तीन मुनि धारण करनेवाले हों तो उनमेसे एक कल्पस्थित होता है जो गणी कहाता है, दूसरा परिहारक होता है और तीसरा अनुपरिहारक है। सयममे प्रवेश करनेके छह मास बीतनेपर परिहारक निविष्ट हो जाता है तब अनुपरिहारक सयममे प्रवेश करता है। छह महीना बीतनेपर वह भी निविष्ट परिहारक हो जाता

---

१. तस्य गणस्य–आ० मु०। २. णा अग्रे–अ०। ३. रगते आ०।–रगे ते मु०।
४. पडिव–मु०।

लिङ्गादिकस्तेषामाचारो निरूप्यते—एकोपधिक अवसान लिङ्ग परिहारसंयताना । वसतिमाहार च मुक्त्वा नान्यद् गृह्णन्ति तृणफलकपीठकटकादिक । सयमार्थं प्रतिलेखन गृह्णन्ति । त्यक्तदेहाश्च चतुर्विधानुपसर्गान्सिहन्ते । दृढधृतयो निरन्तर ध्यानावहिनचित्ता. । अस्ति नो बलवीर्यं सर्वगुणसमग्रता च । एवभूता अपि यदि गणे वसामो वीर्याचारो न प्रवर्तित स्यादिति मत्वा त्रय , पञ्च, सप्त, नव वा निर्यान्ति । रोगेण वेदनयोपहताश्च तत्प्रतिकार[1] च न कुर्वन्ति । प्रायोग्यमाहारं मुक्त्वा, वाचना प्रश्न परिवर्तना मुक्त्वा सूत्रार्थपौरुषीष्वपि सूत्रार्थमेवानुप्रेक्षन्ते । एव यामाष्टकेऽपि निरस्तनिद्रा ध्यायन्ति । स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषा । यस्माच्छ्मशानमध्येऽपि ध्यान न प्रतिषिद्ध । आवश्यकानि यथाकाल कुर्वन्ति । कालद्वये कृतोपकरणशोधना अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति । अनिर्ज्ञायमानस्वामिकेषु यस्येद सोऽनुज्ञान न करोतु इति वसन्ति[2] । आसीधिका च निषीधिका च निष्क्रमणे प्रवेशे च सपादयन्ति । निर्देशक मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तन्ते । उपकरणादिदान, ग्रहण, अनुपालन, विनयो, वन्दना सल्लापश्च न तेषामस्ति सघेन सह । गृहस्थैरन्यलिङ्गिभिश्च दीयमान योग्य गृह्णन्ति । तैरपि न शेषोऽस्ति सभोग । तेषा त्रयाणा, पञ्चाना, सप्ताना, नवाना च परस्परेणास्ति सभोग ।

> कप्पट्ठिदो णुकप्पी भुजणसघाडदाणगहणे वि ।
> सवासवंदणालावणाहि भुंजन्ति अण्णोण्णं ॥

है । तब कल्पस्थित परिहारसयममे प्रवेश करता है । छह माह बीतनेपर वह भी परिहारमें निविष्ट होता है । इस प्रकार परिहारमे निविष्ट होनेमे तीन मुनियोको अठारह मास लगते है । इसी तरह पाँच, सात और नौ का भी अठारह मास काल जानना । इनका कथन अन्यत्र नही मिला ।

परिहारसयतोका लिगादिक आचार कहते है—

वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन, लकडीका आसन, चटाई आदि ग्रहण नही करते । सयमके लिए पीछी ग्रहण करते है । शरीरसे ममत्व छोडकर चार प्रकारके उपसर्गोको सहते है । दृढ धैर्यशाली तथा निरन्तर ध्यानमे चित्त लगाते है । 'हममे बलवीर्य और सब गुणोकी पूर्णता है । ऐसे होते हुए भी यदि हम सघमे रहते है तो वीर्याचारका पालन नही होता ।' ऐसा मानकर तीन, पाँच, सात अथवा नौ सयमी एक साथ निकलते है । रोग और वेदनामे पीडित होने पर उसका इलाज नही करते । वाचना, पूछना और परिवर्तनोको छोडकर सूत्रार्थ और पौरुषीमे सूत्रार्थका ही चिन्तन करते है । आठो पहर निद्रा त्यागकर ध्यान करते है । स्वाध्याय काल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नही होती; क्योकि श्मशानमे भी उनके लिए ध्यानका निषेध नही है । यथासमय आवश्यक करते है । दोनो समय उपकरणोका शोधन करते है । आज्ञा लेकर देवालय आदिमे रहते है । जिन देवालयो आदि स्थानोके स्वामियोका पता नही होता, 'जिसका यह है वह हमे स्वीकारता दे' ऐसा कहकर निवास करते है । निकलते और प्रवेश करते समय आसीधिका और निषीधिका क्रिया करते है । निर्देशकको छोडकर शेष दस प्रकारके सामाचार करते है । उपकरण आदि देना, लेना, अनुपालन, विनय, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार उनका सघके साथ नही होता । गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियोके द्वारा दी हुई योग्य वस्तुको ग्रहण करते है । उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नही होता । उनमेसे तीन. पाँच, सात अथवा नौ सयतोका परस्परमे व्यवहार होता है ।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारसयमी परस्परमे सघाटदान सघाटग्रहण (सहायता देना

---

१ कारक च न अ०–कारक कचन–आ० । २ विशन्ति मु० ।

संवासवंदणोपाववाण अणुपालणाहि परिहारिं ।
अणुपरिहारी भुंजदि निवसमाणो वदणसंवासालावणाहिं ॥
कप्पट्ठिद भुंजदि अणुपरिहारिं पि गहणासंवासठाणाहिं तु ।
णिव्विसमाणो णिव्विसमाण संवासदो ण अण्णेण ॥
कप्पट्ठिदो भुंजदि संवासणुपासणगिराहिं ।
कप्पट्ठदोणुकप्पीव वंदिदा वेंति धम्मलाहोत्ति ॥
गारत्थि अण्णतित्थी अण्णतित्थीहि निव्विसंतो ।
[1]पत्तसुणीको सव्वो वि विणयं अण्णोण्णं गण वावंति ॥
दट्ठूण व सोदूण व जत्थ हु साधम्मिग्गो वसदि खेत्तो ।
त ण [2]पविसति खेत्त कुदो [3]पुणो वंदणावोगं ॥
एव कल्पोक्तः क्रमः सर्वोऽनुगन्तव्यः ।

मौनाभिग्रहरनास्तिस्रो भाषा मुक्त्वा प्रष्टव्याहृतिमनुज्ञाकरणी प्रश्ने[4] प्रवृत्ता च मार्गस्य शकितस्य वा योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनो वा प्रश्न । ग्रामाद्बहि श्मशान, शून्यगृह, देवकुल, गुहा वा आगन्तुकगृह, तरुकोटर वा अनुज्ञापयन्त्येकवार । कस्त्व, कुतो वागच्छसि, गमिष्यमि वा क देश, कियाच्चिर-मत्र वसतिर्यूय कतिजना इति प्रश्ने श्रमणोऽहमित्येकमेव प्रतिवचन प्रयच्छन्ति । इतरत्र तूष्णीभाव । इतोऽव-काशादपसर्पण कुरु, स्थानमिद प्रयच्छ, परिपालय त्वमित्येवमादिका वाग्व्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोचर्या यद्यपर्याप्ता तृतीययामे गव्यूतिद्वय यान्ति । वर्षमहावातादिभिर्यदि व्याघातो गमनस्य अतीनगमनकालास्तत्रै तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिव्यालागमने यदि ते भद्रा युगमात्र अपसर्पन्ति । दुष्टाश्चेत्पदमात्रमपि न चलन्ति । नेत्रयो-

सहायता लेना), निवास, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार करते है । अनुपरिहार सयमी परिहार-सयमीके साथ सवास, वन्दना, दान, अनुपालना आदिसे व्यवहार करते है । कल्पस्थित भी अनु-परिहारसयमीके साथ व्यवहार करता है । वन्दना करनेपर धर्मलाभ कहता है । एक दूसरेको देखकर सब परस्परमे विनय करते है । जहाँ अधार्मिकजन बसते है वहाँ वे प्रवेश नही करते । इस प्रकार सब कल्पोक्त क्रम जानना चाहिए ।[5]

ये तीन भाषाओको छोड सदा मौनसे रहते है । वे तीन भाषाएँ है—पूछनेपर उत्तर देना, माँगना और स्वय पूछना । मार्गमे शका होनेपर मार्ग पूछना पडता है ये उपकरणादि योग्य है या अयोग्य, यह पूछना होता है । शय्याधर, जो वसतिकासे सम्बद्ध होता है उसका घर पूछना होता है वसतिका स्वामी कौन है यह पूछना होता है । गाँवसे बाहर स्मशान, शून्यघर, देवालय, गुफा, आनेवालोके लिए बना घर, अथवा वृक्षके खोलमे निवास करते समय 'हमे अनुज्ञा दे' ऐसा एकबार कहना होता है । 'तुम कौन हो, कहाँसे आते हो, कहाँ जाओगे, यहाँ कितने समय तक ठहरोगे, तुम कितने जन हो' इस प्रकारके प्रश्न होनेपर 'हम श्रमण है' यह एक ही उत्तर देते है । शेषमें चुप रहते है । 'इस स्थानसे चले जाओ, यह स्थान हमे दो, जरा घर देखना' इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ होता है वहाँ नही ठहरते । गोचरी यदि नही मिलती तो तीसरे पहर दो गव्यूति जाते हैं । यदि वर्षा, आँधी आदिसे गमनमे बाधा होती है तो जहाँतक गमन किया है वही ठहर जाते हैं । व्याघ्र आदि पशुओके आनेपर यदि वे भद्र होते है तो मुनि चार हाथ चलते है और

१ पत्तसुणीको–आ० मु० । २ पससन्ति–आ० मु० । ३ कुदो हु णो–आ० मु० ।
४ प्रश्ने प्रवर्तते वा मा–आ० । ५ इन गाथाओका यथार्थ भाव स्पस्ट नही हो सका है—अनुवादक ।

धूलिप्रवेशे सकण्टकादिविद्धे वा स्वय न निराकुर्वन्ति । परे यदि निराकुर्युस्तूष्णीमवतिष्ठन्ते । तृतीययाम एव नियोगतो भिक्षाय गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे षट्गोचर्या अपुनरुक्ता भवन्ति तत्क्षेत्रमावासप्रयोग्य शेषमयोग्यमिति वर्जयन्ति ।

क्षेत्रं, तीर्थं, कालश्चारित्र, पर्याय, श्रुतं, वेद, लेश्या, ध्यान, सहनन, सस्थान, आयामो गात्रस्य, आयु, लब्धय, अतिशयज्ञानोत्पत्ति, सिद्धिरित्येतेऽनियोगा इहानुगन्तव्या । क्षेत्रत भरतैरावतयो, प्रथम-पाश्चात्ययो तीर्थे, उत्सर्पिणी-अवसर्पिण्यो कालत, छेदोपस्थापनाप्रभवाश्चारित्रत, प्रथमतीर्थकरकाले देशोन-पूर्वकोटीकायकाल । विशतिवर्षाग्र शतवर्षकाल पाश्चात्यतीर्थे । जन्मतस्त्रिशद्वर्षाः पर्यायत एकोनविंशति-वर्षा । श्रुतेन च दशपूर्विण, वेदेन पुरुषवेदा, लेश्यातस्तेज पद्मशुक्ललेश्या, धर्मध्यानपरा ध्यानत, आद्यत्रिक-सहनना षट्स्वन्यतरसस्थाना । सप्तहस्तादिपञ्चधनु शतायता अष्टादशमासा पूर्वकोटो वा आयु । चारणताहारसिद्धि, विक्रियाहारर्द्धिश्च लब्धयः । अवधिमनःपर्ययं केवल वा योगसमाप्तौ प्राप्नुवन्ति । सिद्धयन्ति वा परेषां । सक्षेपत परिहारविधिवर्णना ।

जिनकल्पो निरूप्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिषहारिवेगसहा, जिना इव विहरन्ति इति जिन-कल्पिका एक एवेत्यतिशयो जिनकल्पिकाना । इतरो लिङ्गादिराचार प्रायेण व्यावर्णितरूप एव ।

क्षेत्रादिभिनिरूप्यते—सवधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति जिनकल्पिका । काल सर्वदा । सामायिकच्छेदोपस्थापने वा

यदि दुष्ट हुए तो एक पग भी नही चलते । नेत्रोमे धूल चले जानेपर या काँटा आदि लग जानेपर स्वयं नहीं निकालते । यदि दूसरे निकालते है तो चुप रहते है । नियममे तीसरे पहरमे ही भिक्षाके लिए जाते है । जिस क्षेत्रमे छह भिक्षाएँ अपुनरुक्त होती है अर्थात् भिन्न-भिन्न घरोसे मिल जाती है वह क्षेत्र निवासके योग्य होता है, शेष अयोग्य होता है उसे छोड देते है ।

क्षेत्र, तीर्थ, काल, चारित्र, पर्याय, श्रुत, वेद, लेश्या, ध्यान, सहनन, सस्थान, शरीरकी लम्बाई, आयु, लब्धि, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति सिद्धि ये अनुयोग यहाँ जानना चाहिए । क्षेत्रकी अपेक्षा भरत और ऐरावत क्षेत्रमे, प्रथम और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमे, कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमे, चारित्रकी अपेक्षा छेदोपस्थापना चारित्रसे उत्पन्न होत है । प्रथम तीर्थ-करके कालमें उनकी आयु कुछ कम एक पूर्वकोटि और अन्तिम तीर्थकरके कालमे एक सौ बीस वर्ष होती है । जन्मसे तीस वर्षतक भोग भोगते है और मुनिपर्याय उन्नीस वर्ष होती है । श्रुतसे दस पूर्वके पाठी होते है । वेदसे पुरुषवेदी होते है । लेश्यासे तेज, पद्म और शुक्ल लश्यावाले होते है । ध्यानसे धर्मध्यानी होते है । आदिके तीन सहननवाले होते है और छह सस्थानोमेसे कोई एक सस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष लम्बे होते है । परिहारसयमके कालसे जघन्य आयु अठारह मास और उत्कृष्ट आयु परिहारसयम होनेसे पूर्वके वर्षोसे हीन एक पूर्वकोटी होती है । चारण ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि और आहार ऋद्धियाँ होती है ।

परिहारविशुद्धिरूप योगके पूर्ण होनेपर अवधिज्ञान, मनःपर्यय वा केवलज्ञानको प्राप्त होते है । मोक्ष भी प्राप्त करते है । यह सक्षेपसे परिहारविशुद्धिका वर्णन है ।

अब जिनकल्पको कहते है—रागद्वेष मोहको जीतते है, उपसर्ग और परीषहरूपी शत्रुओके वेगको सहते है । जिनके समान एकाकी ही विहार करते है इसलिए जिनकल्पिक होते है । यही जिनकल्पिकोकी विशेषता है । शेष लिंगादि आचार प्राय. उक्त प्रकार ही है ।

क्षेत्र आदिकी अपेक्षा कथन करते है—जिनकल्पी समस्त कर्मभूमियोमे होते है । सर्वदा

चारित्रत । सर्वतीर्थेषु तीर्थतः । जन्मना त्रिंशद्वर्षा. । श्रामण्यत एकान्नविंशतिवर्षा । नवदशपूर्वधारिण । तेजःपद्मशुक्ललेश्या. । धर्मशुक्लध्याना । प्रथमसहनना , षट्स्वन्यतरसंस्थाना । सप्तहस्तादिपञ्चधनुःशतायामा । भिन्नमुहूर्तादिन्यूना पूर्वकोटि काल । विक्रियाहारकचारणताक्षीरास्रावित्वादिकाश्च तपसा लब्धयो जायन्ते । विरागास्तु न सेवन्ते । अवधिमनःपर्यय केवल वा प्राप्नुवन्ति केचित । ये केवलिनस्ते नियमत. सिध्यन्ति ॥१५७॥

एवमथालन्दादिक प्रतिपद्य चारित्रविधि मयोत्साह. कर्तव्य इति विचारयति—

एवं विचारयित्ता सदिमाहप्पे य आउगे असदि ।
अणिगूहिदबलविरिओ कुणदि मदिं भत्तवोसरणे ॥१५८॥

'**एवं विचारयित्ता**' एवमुक्तेन प्रकारेण । '**विचारयित्ता**' विचार्य । '**सदिमाहप्पे य**' स्मृतिमाहात्म्ये च सति । '**आउगे असदि**' आयुष्यसति दीर्घे । '**अणिगूहिदबलविरिओ**' असवृतबलसहाय वीर्यं आहारव्यायामाभ्या कृतं बल । '**कुणइ**' करोति । '**मइ**' मति । '**भत्तवोसरणे**' भज्यते सेव्यते इति भक्त आहार । तस्य त्याग आहारेण समयसाधनेन शरीरस्थिति चिर कृत्वा स्वपरोपकार कृत । आयुष्यल्पे न शरीरमवस्थातुमलमाहारग्रहणेऽपि । तेन त्याज्यो मयाहार इति भावोऽस्य । अत एव सूत्रकारेणेदमुक्त '**दीहो परियाओ**' इति । अवशिष्टकालाल्पताख्यापनाय न केवलमायुषोऽल्पता एव भक्तत्यागमते कारण, अपि तु अन्यदपीति ॥१५८॥

होते है । सामायिक अथवा छेदोपस्थापना चारित्रवाले है । सब तीर्थङ्करोके तीर्थमे होते है । जन्मसे तीस वर्ष और मुनिपदसे उन्नीस वर्षके होते है । नव-दस पूर्वके धारी होते है । तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले होते है । धर्मध्यानी और शुक्लध्यानी होते है । प्रथम सहनन होता है और छह संस्थानोमेसे कोई एक सस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष तक लम्बे होते है । अन्तमुहूर्त आदिसे न्यून एक पूर्वकोटिकाल होता है । तपसे विक्रिया, आहारक, चारण और क्षीरास्रवित्व आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती है किन्तु विरागी होनेसे उनका सेवन नही करते । कोई-कोई अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञानको प्राप्त करते है । जो केवलज्ञानी होते है वे नियमसे मोक्ष जाते है ॥१५७॥

इस प्रकार अथालंदिक आदि चारित्रकी विधिको धारण करके मुझे उत्साह करना चाहिए, ऐसा विचार करते है—

गा०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होनेपर और आयुके अल्प होने पर अपने बल और वीर्यको न छिपाता हुआ मुनि भक्त प्रत्याख्यानमे मति करता है ॥१५८॥

टी०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होने पर आयुके लम्बा न होने पर बल और वीर्यको न छिपाता हुआ भक्त प्रत्याख्यानमें मति करता है । आहार और व्यायामसे जो शारीरिक शक्ति होती है उसे बल कहते हैं । और बलका सहायक वीर्य होता है । 'भज्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाता है उसे भक्त कहते है उसका अर्थ आहार है उसका त्याग भक्त प्रत्याख्यान है । आहारके द्वारा शरीरकी स्थितिको लम्बी करके अपना और परका उपकार किया । आयुके थोडा रह जाने पर आहार ग्रहण करने पर भी शरीर नही ठहरता । अत मैं आहारका त्याग करता हूं यह इसका भाव है । इसीसे ग्रन्थकारने शेष बचे कालकी अल्पता बतलानेके लिए 'दीहो परियाओ'

पुव्वुत्ताणण्णदरे सल्लेहणकारणे समुप्पण्णे ।
तह चेव करिज्ज मदिं भत्तपइण्णाए णिच्छयदो ॥१५९॥

'पुव्वुत्ताणण्णदरे' पूर्वमुक्तानां **'वाहीव दुप्पसज्झा'** इत्यादीनां मध्ये अन्यतरस्मिन् । **'सल्लेहणकारणे'** सम्यक् कायकषायतनूकरणं सल्लेखना तस्याः कारणे वा । **'समुप्पण्णे'** समुपस्थिते । **'तह चेव'** तथैव च । यथाल्प आयुषि करोति भक्तत्यागे मतिं तथैव **'णिच्छयदो भत्तपइण्णाए मदिं करेज्ज'** निश्चयतो भक्तप्रत्याख्याने मतिं कुर्यात् । एतद्गाथाद्वयं सूत्रकारवचनम् ॥१५९॥

आराधकस्य मनःप्रणिधानं प्रदर्शयति---

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ।
जाव य सड्ढा जायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥१६०॥

'जाव य सुई ण णस्सदि' यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नत्रयाराधनगोचरा अनुभूतविषयग्राहिणी तदित्थंभूतमिति प्रवर्तमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिविज्ञानविकल्पः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं, तद्याथात्म्यावगमो ज्ञानं, समता चारित्रमिति । श्रुतेनावगते परिणामत्रये यदुपजायते स्मार्तं ज्ञानं तदिह स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहारः, स्मृतौ नष्टायां न स्यादिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारभ्या मया सल्लेखनेति चिन्त्यम् । **'जाव य'**

कहा है। भक्त त्यागकी मति होनेका कारण केवल आयुका कम रह जाना ही नही है किन्तु अन्य भी कारण है ॥१५८॥

विशेषार्थ—स्मृति माहात्म्यसे आशय है—जिनागमके रहस्यका उपदेश सुननेसे जो उसका सस्कार रहा, उसके प्रभावसे 'मै मरते समय अवश्य विधिपूर्वक सल्लेखना करूँगा' ऐसा जो विचार किया था, उसका स्मरण भी भक्त प्रत्याख्यानका कारण होता है।

गा०—पहले कहे गये कारणामे से किसी एक सल्लेखनाके कारणके उपस्थित होने पर उसी प्रकार निश्चयसे भक्त प्रत्याख्यानमे मति करे ॥१५९॥

टी०—पहले सल्लेखनाके जो कारण 'असाध्य बीमारी' आदि कहे है उनमेसे किसी एक कारणके उपस्थित होने पर भी वैसे ही भक्त प्रत्याख्यानका विचार करना चाहिए जैसा आयुके अल्प रहने पर किया है ॥१५९॥

आराधकके मनकी दृढता बतलाते है—

गा०—जब तक स्मृति नष्ट नही होती, जब तक मेरे आतापन आदि योग पराधीन नही होते, जब तक श्रद्धा रहती है, इन्द्रियोका अपने विषयोसे सम्बन्ध हीन नही होता ॥१६०॥

टी०—पहले अनुभवमे आये विषयको ग्रहण करने वाली और 'वह वस्तु' इस प्रकार प्रवृत्ति वाली स्मृति होती है। यह मतिज्ञानका विकल्प है। यहाँ रत्नत्रयको आराधना विषयक स्मृति ग्रहण की है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है और उसके यथार्थ स्वरूपके जाननेको ज्ञान कहते हैं। तथा समताको चारित्र कहते है। श्रुतके द्वारा जाने गये रत्नत्रय रूप परिणाममे जो स्मृतिज्ञान होता है उसे यहाँ स्मृति कहा है। व्यवहारका मूल स्मृति है। स्मृतिके नष्ट होने पर व्यवहार नही होता। अतः स्मृतिके रहते हुए कालमे ही मुझे सल्लेखना प्रारम्भ

यावच्च । 'जोगा' योगा आतापनादय. । 'ण मे पराहीणा' न मे परायत्ता शक्तिवैकल्यात् । विचित्रेण तपसा निर्जरा विपुला कर्तुकामस्य मम तपोऽतिचारे सा न भवतीति यावन्निरतिचार इद तपस्तावत्सल्लेखना करोमीति कार्या चिन्ता । 'जाव य सड्ढा जायदि' यावच्छ्रद्धा जायते रत्नत्रयमाराधयितु । 'तावखमं मे काउमिति' वक्ष्यमाणेन सम्बन्ध. । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभा प्राणिना सुहृदो विद्वान्स इव । मूल ता श्रद्धाया, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते . न च तामन्तरेणातिशयवतामाहारत्याग सुखेन सपाद्यते । 'इंदियजोगा' इन्द्रियाणा चक्षुरादीना रूपादिभिर्विषयै सम्बद्धा 'अपरिहोणा' हीना न भवन्ति । दृक्श्रोत्रेन्द्रियाणामपाटवे दर्शनश्रवणाभ्या परिहार्योऽसंयम कथ परिह्रियते । दृष्ट्वा श्रुत्वा स इदमयोग्यमिति वेत्ति नान्यथा ।।१६०।।

जाव य खेमसुभिक्खं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ।
अत्थि ति गारवरहिदा णाणचरणदंसणविसुद्धा ।।१६१।।

'जाव य खेमसुभिक्खं' यावच्च क्षेमसुभिक्ष, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेर्मार्याश्चाभाव क्षम इत्युच्यते । प्रचुरधान्यता सुभिक्षत्वम् । एतदुभयमन्तरेण दुलभा निर्यापका, तानन्तरेण चतुष्काराधना । 'आयरिया जाव' आचार्या यावत् 'अत्थि' सन्ति । कीदृग्भूता 'णिज्जवणजोग्गा' निर्यापकत्वयोग्या । 'तिगारवरहिदा' गारवत्रयरहिता ऋद्धिरससातगुरुका ये न भवन्ति । ऋद्धिप्रियो ह्यसयतमपि जन निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वय च नामयमभारुभवति । असयमकारण अनुमनन च न परिहरतीति । रसासातगुरुको क्लेशासहो आराध-

करनी चाहिए ऐसा विचार करे । जब तक मेरे आतापन आदि योग शक्तिकी कमीसे पराधीन नही होते । मै अनेक प्रकारके तपसे बहुत निर्जरा करना चाहता हूँ किन्तु तपमे दोष लगने पर बहुत निर्जरा नही हो सकती । इसलिए जब तक तप निरतिचार है तब तक सल्लेखना कर लेना चाहिए, ऐसी चिन्ता करना उचित है । जब तक श्रद्धा रत्नत्रयकी आराधना करनेकी है 'तब तक मै करनेमे समर्थ हूँ ऐसा आगे कहेगे, उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । जैसे विद्वान् मित्र दुर्लभ है वेसे ही प्राणियोको उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि दुर्लभ है । वे लब्धियाँ श्रद्धाका मूल है । एक बार उस श्रद्धाके नष्ट हो जाने पर उसका पुन प्राप्त होना दुर्लभ है । श्रद्धाके बिना अतिशय शालियोका भी आहारत्याग सुखपूर्वक सम्पन्न नही होता । चक्षु आदि इन्द्रियोका रूपादि विषयोके साथ सम्बन्धको इन्द्रिययोग कहते है । वे जब तक हीन नही होते, चक्षु और कर्ण इन्द्रियके अपने विषयको ग्रहण करनेमे असमर्थ होने पर देखने और सुननेसे दूर होने वाला असयम कैसे दूर किया जा सकता है । देख और सुनकर 'यह अयोग्य है' ऐसा ज्ञान होता है, अन्यथा नही होता ।।१६०।।

गा०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है, जब तक आचार्य निर्यापकत्वके योग्य तीन गारवोसे रहित निर्मल ज्ञान चारित्र और दर्शनवाले है ।।१६१।।

टी०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है । अपने देश और परदेशकी सेनाके उपद्रव और मारी रोगके अभावको क्षेम कहते है । और धान्यकी बहुतायतको सुभिक्ष कहते है । इन दोनोके बिना निर्यापकोका मिलना दुर्लभ है और उनके बिना चार प्रकारकी आराधना दुर्लभ है । तथा आचार्य निर्यापकत्वके योग्य जब तक है तथा ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारवसे जो रहित होते हैं । जो आचार्य ऋद्धिप्रिय होता है वह असंयमी जनको भी निर्यापक बना देता है । और स्वयं भी असंयमसे नहीं डरता । तथा ऐसी अनुमति, जो असयममे कारण होती है, देनेका त्याग नहीं

कस्य शरीरपरिकर्म कथं कुरुत ? किं च स्वयं सरागो वैराग्यं परस्य संपादयत्येवेति न नियोगोऽस्ति। **'णाणचरणदंसणविसुद्धा'** ज्ञानचारित्रदर्शनेषु विशुद्धा निर्मला। जीवादियाथात्म्यगोचरता ज्ञानस्य शुद्धिः। दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसहभाविता, अरक्तद्विष्टता च चारित्रशुद्धिः। शुद्धज्ञानचरणदर्शनशुद्धा चारित्रशुद्धा भण्यन्ते। यथा प्रकृष्टशुक्लगुणयोगाच्छुक्लतम इत्युच्यते पटादि ॥१६१॥

तावं खमं मे कादुं सरीरणिक्खेवणं विदुपसत्थं।
समयपडायाहरणं भत्तपइण्णं णियमजण्णं ॥१६२॥

'ताव खमं मे काउं' तावद्युक्तं कर्तुं मम। किं ? **'सरीरणिक्खेवणं'** शरीरनिक्षेपणं शरीरत्यजनं। **विदुपसत्थं'** विद्वज्जनस्तुतं आत्महितत्वात्। **'समयपडागाहरणं'** समयः सिद्धान्तः, तस्मिन् कीर्तिता पताका आराधना पताकेव पताका उपमार्थः। यथा पताका वस्त्रादिरचिता जयादिकं प्रकटयति। एवमिय आराधनापि भवनिर्मुक्तिं प्रकटयति। तस्या हरणं ग्रहणं। **'भत्तपइण्णं'** भक्तप्रत्याख्यानं **'णियमजण्णं'** व्रतयज्ञः। ननु शरीरत्यागोऽन्यः, अन्या ज्ञान-श्रद्धान-तपःसु परिणतिरन्यद् भक्तत्यजनं, अन्यानि च व्रतानि तत्कथं समानाधिकरणनिर्देशः ? अत्रोच्यते-प्रत्येकमभिसम्बन्धः कार्यः। **'ताव खमं मे काउं'** इत्यनेन शरीरनिक्खेवणं इत्यादीनां। ततोऽयमर्थः—शरीरत्यजनं, सम्यग्दर्शनादिपरिणमनं, भक्तप्रत्याख्यानं, व्रतयज्ञश्च तावत्कर्तुं मम युक्तमिति ॥१६२॥

करता। जो आचार्य रसप्रेमी और सुख प्रेमी है वे सल्लेखना करनेवाले आराधकके शरीरकी सेवा कैसे करेंगे ? दूसरे, जो स्वयं सरागी है वह दूसरेको वैराग्य उत्पन्न कराता ही ऐसा कोई नियम नहीं है। तथा आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें विशुद्ध होना चाहिए। जीवादिके यथार्थ स्वरूपको जानना ज्ञानकी शुद्धि है। समीचीन ज्ञानका सहभावी होना दर्शनकी शुद्धि है। और राग-द्वेषका न होना चारित्रकी शुद्धि है। जिनका ज्ञान दर्शन चारित्र शुद्ध होता है वे शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र वाले कहे जाते है। जैसे उत्कृष्ट शुक्ल गुणके सम्बन्धसे वस्त्र आदि 'शुक्लतम'— अत्यन्त सफेद कहे जाते है ॥१६१॥

गा०—तब तक मुझे शरीरका त्याग, विद्वानोसे स्तुत, आगममें कही गई आराधना रूपी पताकाका ग्रहण, व्रत यज्ञ तथा भक्त प्रत्याख्यान करना युक्त है ॥१६२॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान तब तक मुझे करना उचित है, यह पूर्व गाथाओसे सम्बद्ध है। यह भक्त प्रत्याख्यान शरीरके त्यागरूप है क्योकि शरीरको त्यागनेके लिए ही किया जाता है। विद्वानोसे प्रशंसनीय है क्योकि आत्माके हित रूप है। तथा समय अर्थात् सिद्धान्तमें आराधनाको पताका कहा है। जैसे वस्त्रादिसे बनी पताका जयको प्रकट करती है वैसे ही यह आराधना भी ससारसे निर्मुक्तिको प्रकट करती है। भक्त प्रत्याख्यान उस पताको ग्रहण करने रूप है।

शका—शरीरका त्याग अन्य है, ज्ञान श्रद्धान और तप करना अन्य है, भोजनका त्याग अन्य है और व्रत अन्य है। ये सब भिन्न है तब कैसे इनका समानाधिकरण रूपसे निर्देश किया है ?

समाधान—'तब तक मुझे करना युक्त है। इसके साथ शरीर त्याग आदि प्रत्येकका सम्बन्ध करना चाहिए। तब ऐसा अर्थ होता है—शरीरका त्याग, सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणमन, भक्त प्रत्याख्यान और व्रतयज्ञ मुझे तब तक करना युक्त है ॥१६२॥

व्यावर्णितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यकथनायोत्तरगाथा—

एवं सदिपरिणामो जस्स दढो होदि णिच्छिदमदिस्स ।
तिव्वाए वेदणाए वोच्छिज्जदि जीविदासा से ॥१६३॥

'एवं सदिपरिणामो' व्यावर्णितस्मृतिपरिणामो य[1] स्मार्तज्ञानमेव परिणाम । **'जस्स दढो होज्ज'** [2]यस्य तैर्दृढो भवेत् । **'णिच्छियमदिस्स'** निश्चितमते । करिष्याम्येव शरीरनिक्षेपण इति कृतनिश्चयस्य । **'जीविदासा वोच्छिज्जइ'** जीविते आशा व्युच्छिद्यते । **'तिव्वाए वेदणाए'** तीव्रायामपि वेदनायामुदीर्णायां । एतत्प्रतीकार कृत्वा जीवामीति चिन्ता न भवति । **'से'** तस्येति जीविताशाव्युच्छेदो गुण सूचित । परिणाम गद ॥१६३॥

'उवधि जहणा' इति पदं व्याचष्टे प्रबन्धेन—

संजमसाधणमेत्तं उवधिं मोत्तूण सेसयं उवधिं ।
पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्तिं गवेसंतो ॥१६४॥

'संजमसाहणमेत्तं'—सयम साध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्र कमण्डलुपिच्छमात्र । **'उवधिं'** परिग्रह **'मोत्तूण'** मुक्त्वा । **'सेसयं'** अवशिष्ट । **'उवधिं'** अवशिष्ट उपधिर्नाम पिच्छान्तर कमण्डल्वन्तर वा तदानी सयमसिद्धौ न कारणमिति सयमसाधनं न भवति । येन साप्रत सयम साध्यते तदेव सयमसाधन अथवा ज्ञानोपकरण अवशिष्टोपधिरुच्यते । **'पजहइ'** प्रकर्षेण योगत्रयेण त्यजति । **'विसुद्धलेस्सो'** विशुद्धलेश्य । **'साहू'** साधु । **'मुत्तिं'** मुक्ति कर्मणामपायं । **'गवेसंतो'** मृगयन् । लोभकषायेणाननुरंजिता योगवृत्तिरिह विशुद्धलेश्या

ऊपर कहे परिणामके गुणोका माहात्म्य कहनेके लिए गाथा कहते है –

गा०—ऊपर कहा स्मृति परिणाम 'मै शरीरत्याग करूँगा ही' ऐसा निश्चय करनेवालेके दृढ होता है । उसके तीव्र वेदना होनेपर जीवनकी आशा नष्ट हो जाती है ॥१६३॥

टी०—'मै शरीरका त्याग करूँगा ही' ऐसा जो दृढ निश्चय कर लेता है तीव्र भी वेदनाके होनेपर मै उसका प्रतीकार करके जीवित रहूँ ऐसी चिन्ता उसे नही होती । अत. 'जीवनकी आशाका विनाश' उसका गुण सूचित किया है ॥१६३॥

'उवधिजहण' अर्थात् परिग्रहत्यागका विस्तारसे कथन करते है—

गा०—मुक्तिको खोजनेवाला विशुद्ध लेश्यासे युक्त साधु सयमके साधनमात्र परिग्रहको छोडकर शेष परिग्रहको प्रकर्ष अर्थात् मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६४॥

टी०—जिस उपकरणसे सयमकी साधना की जाती है वह उपकरण कमण्डलु और पीछीमात्र है । उनको छोडकर जो शेष परिग्रह है—दूसरी पीछी दूसरा कमण्डलु, वह उस समय संयमकी सिद्धिमे कारण न होनेसे सयमका साधन नही है । जिससे वर्तमानमे सयमकी साधना होती है वही सयमका साधन है । अथवा शेष परिग्रहमे ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि कहे है क्योकि समाधिके समय उनका उपयोग नहीं रहता । मुक्ति अर्थात् कर्मोंका विनाश करनेका इच्छुक साधु पीछी कमण्डलुमात्र परिग्रहके सिवाय शेष परिग्रहको मन-वचन-कायसे छोडता है । वह साधु विशुद्धलेश्यासे युक्त होता है । यहाँ लोभकषायसे अननुरंजित (नही रंगी हुई अर्थात् लोभरहित)

१ यस्मात्तज्ज्ञा–आ० मु० २. यस्य स्मृतेर्दृ–आ० मु० ।

गृहीता । सा हि परिग्रहत्यागे प्रवर्तयत्यात्मानमिति ॥१६४॥

वसत्यादिक तर्हि त्याज्यतया नोपदिष्टमिति आशङ्किते इति तत्त्यागमुपदिशति—

अप्पपरियम्म उवधिं बहुपरियम्मं च दोवि वज्जेइ ।
सेज्जा संथारादी उस्सग्गपदं गवेसंतो ॥१६५॥

'**अप्पपरियम्म उवधि**' अल्पपरिकर्म निरीक्षणप्रमार्जनविधूननादिक यस्मिन्त परिग्रह । '**बहु**' महत् परिकर्म यत्र त च । '**दो वि**' द्वावपि '**वज्जेदि**' वर्जयति मनोवाक्कायै । '**सेज्जासंथारादी**' वसतिसस्तरादिक । '**उस्सग्गपदं**' उत्सर्जन त्याग तदेव पद । परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारीति यावत् । गाथाद्वयेनातिक्रान्तेन द्रव्योपधित्यागो व्याख्यात । इयता परिसमाप्त परिग्रहत्याग ॥१६५॥

पंचविहं जे सुद्धिं अपाविदूण मरणमुवणमन्ति ।
पंचविहं च विवेगं ते खु समाधिं ण पावेन्ति ॥१६६॥

'**पचविहं जे सुद्धि**' इत्यादिना कि प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । अत्रोच्यते—योग्योपादनमेवायोग्यत्यागस्तत्परिहार इत्युपधित्याग एवाख्यायते उत्तरग्रन्थेनापि । '**पंचविहं**' पञ्चप्रकारा । '**सुद्धि**' शुद्धि । '**अपाविदूण**' अप्राप्य । '**जे**' य । '**मरण**' मृति । '**उवणमंति**' प्राप्नुवन्ति । '**पंचविहं**' पञ्चविध च '**विवेगं**' विवेक, '**परिहरणं**' पृथग्भाव, अप्राप्य मृतिमुपयान्ति । **खु** शब्द एवकारार्थ । स च क्रियापदात्परतो योज्यः ।

मन-वचन-कायकी वृत्तिको विशुद्धलेश्या कहा है; क्योंकि वह जीवको परिग्रहके त्यागमे प्रवृत्त करती है ॥१६४॥

यहाँ कोई शका करता है कि वसति आदिको तो त्याज्य नही कहा ? इससे उसके त्यागका उपदेश करते है—

गा०—परिग्रहत्याग पदका अन्वेषण करनेवाला साधु अल्पपरिकर्मवाले और बहुत परिकर्मवाले दोनो ही प्रकारके परिग्रहोको जिनमें वसति सस्तर आदि भी है, मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६५॥

टी०—जिसमे देखना, साफ करना, झाडना आदि कम करना होता है वह परिग्रह अल्पपरिकर्मवाला होता है। और जिसमे यह बहुत करना होता है वह बहुत परिकर्मवाला है। परिग्रहत्यागपदका खोजी साधु दोनोको ही मन-वचन-कायसे त्यागता है। अत वसति सस्तर आदि भी त्याग देता है। इन दो गाथाओसे द्रव्यपरिग्रहके त्यागका कथन किया। यहाँ तक परिग्रहत्यागका प्रकरण समाप्त होता है ॥१६५॥

गा०—जो पाँच प्रकारकी शुद्धियोको और पाँच प्रकारके विवेकको प्राप्त किये विना मरणको प्राप्त होते हैं, वे समाधिको नही ही प्राप्त होते है ॥१६६॥

टी०—**शंका**—'पञ्चविह जे सुद्धि' इत्यादिके द्वारा पहले सूचित किये विना क्या कह रहे है ?

समाधान—योग्यका ग्रहण ही अयोग्यका त्याग है। अत: आगेके ग्रन्थसे भी परिग्रहका त्याग ही कहा है। जो पाँच प्रकारकी शुद्धि और पाँच प्रकारके विवेक अर्थात् भिन्नपनेको प्राप्त किये विना मरते है वे समाधिको प्राप्त नही ही होते। गाथामे आये 'खु' शब्दका अर्थ 'ही' है और

समाधि न प्राप्नुवन्त्येवेति । उपधिपरित्यागाभावे अभिमतसमाध्यभावो दोष आख्यात ॥१६६॥

पंचविहं जे सुद्धिं पत्ता णिखिलेण णिच्छिदमदीया ।
पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुवेंति ॥१६७॥

के समाधिं प्राप्नुवतीत्यत्र आह–'**पचविहं**' पञ्चविधा, '**जे सुद्धि पत्ता**' ये शुद्धिं प्राप्ता । '**णिखिलेण**' साकल्येन । '**णिच्छियमईगा**' निश्चितमतय । '**पचविहं**' पञ्चविध च '**विवेग**' विवेक **ते हु समाहि परमुवेंति** ते स्फुटं समाधि परमुपयान्ति ॥१६७॥

का एषा पचविधा शुद्धिरित्याह—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स ।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥१६८॥

'**आलोयणाए**' आलोचनाया शुद्धि, शय्यासस्तरयो शुद्धि, उपकरणशुद्धि, भक्तपानशुद्धि, वैयावृत्यकरणशुद्धिरिति पञ्चविधा । मायामृषारहितता आलोचनाशुद्धि । मनोगतवक्रता माया । व्यलीकता **चासौ** मृषा । मायाकषाय स चाभ्यन्तरपरिग्रह '**चत्तारि तह कसाया**' इति वचनात् । मृषा कथ परिग्रह **इति चेत्** उपधीयते अनेनेत्युपधिरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिरित्युच्यते । **यत्र** यस्यादर कर्महेतौ तत्सर्वमुपधिरेवेति भाव । उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितता ममेद इत्यपरिग्राह्यता **च** वसतिसस्तरयो शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोहतयोर्वसतिसस्तरयोस्त्याग कृत इति भवत्युपधि-

---

उसे क्रियापद 'पावेति' के परे लगाना चाहिए। परिग्रहत्यागके अभावमे इष्ट समाधिका अभाव नामक दोष कहा है ॥१६६॥

गा०—पूर्णरूपसे निश्चित मति वाले जो पाँच प्रकारकी शुद्धिको और पाँच प्रकारके विवेक को प्राप्त हुए है, वे निश्चयमे परम समाधिको प्राप्त होते है ॥१६७॥

टी०—कौन समाधि प्राप्त करते है यह इस गाथामे कहा है ॥१६७॥

पाँच प्रकारकी शुद्धि कहते है—

गा०—आलोचना की शुद्धि, शय्याकी, संस्तरकी और परिग्रहकी शुद्धि, भक्तपानकी शुद्धि और वैयावृत्य करने वालोकी शुद्धि, निश्चयसे शुद्धि पाँच प्रकारकी होती है ॥१६८॥

टी०—माया और मृषासे रहित होना आलोचनाकी शुद्धि है । मनमे कुटिलताका होना माया है । असत्य भाषणको मृषा कहते है ।

माया कषाय है और वह अभ्यन्तर परिग्रह है। 'चार कषाय है' ऐसा आगमका वचन है।

शङ्का—मृषा कैसे परिग्रह है ?

समाधान—'उपधीयतेऽनेनेत्युपधि' इस शब्द व्युत्पत्तिके करने पर 'अनेन' अर्थात् असत्य भाषणके द्वारा 'उपधीयते' कर्मका ग्रहण होता है अत मृषा उपधि है। जिस कर्मके हेतुमे **जिसका** आदर है वह सब उपधि ही है यह कहनेका अभिप्राय है।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोसे रहित होना तथा 'यह मेरा है' इस प्रकार परिग्रहका **भाव न होना वसति और संस्तरकी शुद्धि है। उस शुद्धिको जिसने स्वीकार किया उसने उद्गम**

त्याग । उपकरणादीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्या सत्या उद्गमादिदोषदुष्टाना असयमसाधनाना ममेदं भावमूलाना परिग्रहाणा त्यागोऽस्त्येव । सयतवैयावृत्यक्रमज्ञता वैयावृत्यकारिशुद्धि सत्या तस्या असयता अक्रमज्ञाश्च[1] न मम वैयावृत्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति ॥१६८॥

अहवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ।
आवासयसुद्धी वि य पच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥१६९॥

'**अहवा**' अथवा । '**दंसणणाणचरित्तसुद्धी य, विनयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य**' आवश्यकशुद्धिश्चेति '**पंचवियप्पा**' पञ्चविकल्पा '**हवइ सुद्धी**' भवति शुद्धि । नि शङ्कितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनशुद्धि तस्या सत्या शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादीना अशुभपरिणामाना परिग्रहाणा त्यागो भवति । काले पठनमित्यादिका ज्ञान-शुद्धि , अस्या सत्या अकालपठनाद्या क्रिया ज्ञानावरणमूला परित्यक्ता भवन्ति । पञ्चविंशतिभावनाश्चारित्र-शुद्धि । सत्या तस्या अनिगृहीतमन प्रचारादिरशुभपरिणामोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति । दृष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धि । तस्या सत्यामुपकरणादिलाभलोभो निरस्तो भवति । मनसावद्ययोगनिवृत्ति जिनगुणानुराग वन्द्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्ति , कृतापराधविषया निन्दा, मनसा प्रत्याख्यान, शरीरासारतानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्या सत्या अशुभयोगो जिनगुणाननुराग श्रुतादिमाहात्म्येऽनादर , अपराधाजुगुप्सा, अप्रत्याख्यान, शरीरममता चेत्यमी भावदोषा परिग्रहा निराकृता भवन्ति ॥१६९॥

आदि दोषोसे दूषित वसति और सस्तरका त्याग कर दिया इस प्रकार उपधित्याग होता है। उपकरण आदि की भी शुद्धि उद्गम आदि दोषोसे रहित होना है। उसके होने पर उद्गम आदि दोषोसे दूषित, असयमके साधन और 'यह मेरा है' इस भावके मूलकारण परिग्रहोका त्याग है ही। संयमी होना और वैयावृत्यके क्रमका ज्ञाता होना वैयावृत्यकारीकी शुद्धि है। उसके होने पर असयमी और क्रमको न जानने वाले मेरे वैयावृत्य करने वाले नही है' ऐसा स्वीकार करने पर उनका त्याग होता है ॥१६८॥

गा०—अथवा दर्शन शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि इस प्रकार शुद्धिके पाँच भेद होते है ॥१६९॥

टी०—नि.शकित आदि गुणोका धारण करना दर्शन शुद्धि है। उसके होने पर शका, काक्षा, विचिकित्सा आदि अशुभ परिणाम रूप परिग्रहोका त्याग होता है। 'कालमे पढना' आदि ज्ञान शुद्धि है। उसके होने पर अकाल पठन आदि क्रिया, जो ज्ञानावरणके बन्धकी कारण हैं, उनका त्याग होता है। पच्चीस भावनाएँ चारित्र शुद्धि है। उसके होने पर मनकी चचलताको न रोकना आदि अशुभ परिणाम, जो अभ्यन्तर परिग्रह है उनका त्याग होता है। दृष्ट फलकी अपेक्षा न करके विनय करना विनय शुद्धि है। उसके होने पर उपकरण आदिके लाभका लोभ दूर होता है। सावद्य योगका त्याग, जिन देवके गुणोमे अनुराग, नमस्कार करनेके योग्य श्रुत आदि के गुणोंका पालन करना, किये हुए अपराधकी निन्दा, मनसे प्रत्याख्यान करना, शरीरकी असारता और उसके अनुपकारीपनेका चिन्तन, ये आवश्यक शुद्धि है। उसके होने पर अशुभ योग, जिन देवके गुणोमें अनुरागका अभाव, श्रुत आदिके महात्म्यमे अनादर, अपराधके प्रति ग्लानिका न होना, प्रत्याख्यानका न होना, और शरीरसे ममता, ये दोष परिग्रह है, इनका निरास होता

---

१ श्च मम–आ० ।

पञ्चविधविवेकप्रख्यापनायोद्यता गाथा—

इंदियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स ।
एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ॥१७०॥

'इंदियकसाय' इति । इन्द्रियविवेक , कषायविवेक , भक्तपानविवेक , उपधिविवेक , देहविवेकः इति एष विवेक पञ्चप्रकारो निरूपित पूर्वागमेषु । स पुन पञ्चप्रकारोऽपि द्विविध. । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपादिविषयेषु चक्षुरादीनामादरेण कोपेन वा अप्रवर्तनं । इद पश्यामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निविड-कुचनट पश्यामि, नितम्बरोमराजिं वा विलोकयामि, पृथुतर जघन स्पृशामि, कल गीत सावधान शृणोमि, मुखकमलपरिमल जिघ्रामि, बिम्बाधर समास्वादयामि इति वचनानुच्चारण वा द्रव्यत इन्द्रियविवेक । भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि विषयविषयिसम्बन्धे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-कोपाभ्या विवेचन, रागकोपसहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । द्रव्यत कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविध । भ्रूलतामङ्कोचन, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दन, शस्त्रनिकटीकरण, इत्यादिकायव्यापारा-करण । हन्मि, ताडयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलङ्काभावो भावत क्रोधविवेक । तथा मानकपायविवेकोऽपि वाक्कायाभ्या द्विविध । गात्राणा स्तब्धताकरण, शिरस उन्नमन, उच्चासनारोहणादिक च यन्मानसूचनपर तस्य कायव्यापारस्याकरण । मत्त को वा श्रुतपारग सुचरित सुतपोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च । एवमेवैतेभ्योऽह प्रकृष्ट इति मनसाहङ्कारवर्जन भावतो

है ॥१६९॥

पाँच प्रकारके विवेकका कथन करते है—

गा०—इन्द्रिय विवेक, कषाय विवेक, उपधिविवेक, भक्तपान विवेक और देहका विवेक इस प्रकार यह विवेक पाँच प्रकारका पूर्वागम मे कहा है । तथा यह पाँच प्रकारका विवेक द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार है ॥१७०॥

टी०—रूप आदि विषयोमे चक्षु आदि इन्द्रियोंका आदर भावसे या क्रोधवश प्रवृत्ति न करना, यह देखता हूँ, अथवा यह सुनता हूँ, उसके घने स्तनोको देखता हू, अथवा नितम्ब और रोमपंक्तिको देखता हूँ, स्थूल जघनको स्पर्श करता हूँ, मनोहर गीत सावधानता पूर्वक सुनता हूँ, मुख रूपी कमलकी सुगन्ध सूंघता हूँ, ओष्ठका रसपान करता हूँ, इत्यादि वचनोका उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है । विषय और विषयी अर्थात् पदार्थ और इन्द्रियका सम्बन्ध होने पर भी रूपादिका जो ज्ञान होता है जिसे भावेन्द्रिय कहते हैं, उस ज्ञानके होने पर भी राग द्वेष न करना अथवा राग द्वेषके सहचारी रूपादि विषय रूपसे मानसज्ञानका परिणत न होना भाव इन्द्रिय विवेक है। द्रव्य कषाय विवेक के दो भेद है शरीरसे और वचन से । भौको सकोचना, आँखोंका लाल होना, ओठ काटना, शस्त्र उठाना इत्यादि काय व्यापारका न करना काय द्रव्य कषाय विवेक है । मारता हूँ, ताडन करता हूँ, सूली पर चढाता हूँ इत्यादि वचन न बोलना वचन क्रोध कषाय विवेक है । दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार आदिके निमित्तसे चित्तमे मलिनताका न होना भावसे क्रोध विवेक है । तथा मान कषाय विवेकके भी वचन और कायकी अपेक्षा दो भेद है । शरीरको स्तब्ध करना, सिर को ऊँचा करना, उच्चासन पर बैठना आदि जो मान सूचक काय व्यापार हैं उनका न करना काय मान कषाय विवेक है । मुझसे बडा कौन शास्त्रका पंडित है, चारित्रवान और तपस्वी है, इस प्रकारके वचन न बोलना वचन मान कषाय विवेक है । इसी

मानकषायविवेक । वाक्कायाभ्या मायाविवेको द्विप्रकार । अन्यत् ब्रुवत इवान्यस्य यद्वचन तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, माया करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथन वाचा मायाविवेक । अन्यत्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरण कायतो मायाविवेक । लोभकषायविवेकोऽपि द्विविध. । यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य करप्रसारण, द्रव्यदेशानपायिता, तदुपादातुकामस्य कायेन निषेधन हस्तसंज्ञया निवारण, शिरश्चालनया वा एतस्य कायव्यापारस्य अकरण कायेन लोभविवेक शरीरेण वा द्रव्यानुपादान । एतन्मदीय वस्तुग्रामादिक वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारण वा लोभविवेक । नाहं कस्यचिदीशो न च मम किञ्चिदिति वचनं वा । ममेदभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभविवेक ॥१७०॥

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स ।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥१७१॥

'**अहवा**' अथवेति । विवेक प्रकारान्तरेणावेद्यते । '**सरीरसेज्जासंथारुवहीणभत्तपाणस्स**' शरीरविवेक वसतिसंस्तरविवेकावुपकरणविवेक, भक्तपानविवेक । '**वेज्जावच्चकराण य**' वैयावृत्यकराणा च विवेको भवति । '**तहा चेव**' तथैव द्रव्यभावाभ्या इति यावत् । तत्र शरीरविवेक शरीरेण निरूप्यते । ससारिण शरीराद्विवेक कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरण शरीरविवेक । शरीर उपद्रवन्त नर तिर्यञ्च देव वा न हस्तेन निवारयति । मा कृथा ममोपद्रवमिति दशमशकवृश्चिकभुजगसारमेयादीन्न हस्तेन, पिच्छाद्युपकरणेन, दण्डादिभिर्वाऽपसारयति । छत्रपिच्छकटकप्रावरणादिना वा न शरीररक्षा करोति ।

प्रकार इनसे मै उत्कृष्ट हूँ ऐसा मनसे अहकार न करना भावसे मान कषाय विवेक है। माया विवेक भी वचन और कायकी अपेक्षा दो प्रकार है। दिखाना तो ऐसा मानो कुछ अन्य बोलते हैं और बोलना कुछ अन्य, इसका त्याग अथवा माया पूर्ण उपदेशका त्याग, अथवा न मै माया करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हू ऐसा बोलना वचन माया विवेक है । अन्य करते हुए उससे अन्यका कायसे न करना काय माया विवेक है । लोभ कषाय विवेक भी दो प्रकारका है। जिस वस्तुका लोभ हो उसको लक्ष्य करके हाथ पसारना, जो उसे लेना चाहे उसे शरीरसे मना करना या हाथके सकेत से रोकना अथवा सिर हिलाकर मना करना, इस काय व्यापारका न करना काय लोभ विवेक है। अथवा शरीरसे वस्तुका ग्रहण न करना काय लोभ विवेक है। यह वस्तु ग्राम आदि मेरा है, मै इसका स्वामी हूँ इत्यादि वचनका उच्चारण न करना, अथवा न मैं किसी का स्वामी हूँ और न कुछ मेरा है ऐसा बोलना वचन लोभ विवेक है। यह मेरा है इस भावरूप मोहजन्य परिणामका न होना भाव लोभ विवेक है ॥१७०॥

गा०—अथवा शरीर विवेक, वसति विवेक, सस्तर विवेक, उपधि विवेक, भक्तपान विवेक, और वैयावृत्य करने वालोका विवेक, द्रव्य और भाव रूप होता है ॥१७१॥

टी०—प्रकारान्तरसे विवेकके भेद कहते है। शरीर विवेक शरीर के द्वारा किया जाता है।

शङ्का—ससारी जीवका शरीरसे विवेक कैसे सभव है ?

समाधान—अपने शरीरमे होने वाले उपद्रवोका दूर न करना, शरीर विवेक है। शरीरपर उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा देव को हाथसे नही रोकता कि मेरे ऊपर उपद्रव मत करो। डास, मच्छर, बिच्छू, सर्प, कुत्ते आदिको हाथसे, पिच्छी आदि उपकरणसे अथवा दण्ड वगैरहसे दूर नही करता। छाता, पीछी, चटाई अथवा अन्य किसी आवरणसे शरीरकी रक्षा

शरीरपीडा मम मा कृथा इत्यवचनं । मा पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चैतन्येन सुखदुःखसवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वचनं वाचा विवेकः । वसतिसंस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्रागध्युषितायां, सस्तरे वा प्राक्तने अशयनं अनासनं । वाचा त्यजामि वसतिं संस्तरमिति वचनं । कायेनोपकरणानामनादानं, अस्थापनं क्वचिदरक्षा च उपधिविवेकः । वाचा परित्यक्तानीमानि ज्ञानोपकरणादीनि इति वचनं वाचा उपधिविवेकः । भक्तपानयोरनशनं अपानं वा कायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं वा न गृह्णामि इति वचनं वाचा भक्तपानविवेकः । वैयावृत्यकराः स्वशिष्यादयो ये तेषां कायेन विवेकः तैः सहासवासः । मा कृथा वैयावृत्यं इति वचनं, मया त्यक्ता यूयमिति वचनं । सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदं भावस्य वा मनसा अकरणं भावविवेकः ॥१७१॥

परिग्रहपरित्यागक्रमं उपदिशति—

सव्वत्थ दव्वपज्जयममत्तसंगविजडो पणिहिदप्पा ।
णिप्पणयपेमरागो उवेज्ज सव्वत्थ समभावं ॥१७२॥

सव्वत्थ इत्यादिना । '**सव्वत्थ**' सर्वत्र देशे । '**पणिहिदप्पा**' प्रणिहितात्मा प्रकर्षेण निहितः निक्षिप्तः वस्तुयाथात्म्यज्ञाने आत्मा येन स प्रतिनिर्हितात्मा । '**दव्वपज्जयममत्तसगविजडो**' द्रव्येषु जीवपुद्गलेषु तत्पर्यायेषु च ममतारूपो यः सगः परिग्रहस्तेन परित्यक्तः । प्रणयः स्नेहः प्रेम प्रीतिः, रागः आसक्तिः । क्व ? द्रव्यपर्यायेषु जीवद्रव्ये पुत्रदारमित्रादौ, तेषां नीरोगत्वधनवत्त्वादौ पर्याये, आत्मनो वा देवत्वे, चक्रवर्तित्वेऽहमिन्द्रत्वे वा । तथा शरीरे आहारादिके भोगसाधने, तदीयरूपरसगन्धस्पर्शपर्यायेषु वा, एतेभ्य

नहीं करता । यह कायसे शरीर विवेक है । मेरे शरीरको पीड़ा मत दो, अथवा मेरी रक्षा करो, ऐसा न बोलना, अथवा यह शरीर अचेतन है, मुझसे भिन्न है, चैतन्यमें और सुख दुःखके संवेदनसे रहित है ऐसा बोलना वचनसे शरीर विवेक है । जिसमें पहले रहे हैं उस वसति में न रहना कायसे वसति विवेक है । पूर्वके सस्तर पर न सोना न बैठना कायमें सस्तर विवेक है । मैं वसति या संस्तर को त्यागता हूँ यह वचनसे वसति और सस्तर विवेक है । 'उपकरणोंका त्याग करता हूँ' ऐसा बोलना वचनसे उपधि विवेक है, भक्तपानको न खाना न पीना कायसे भक्तपान विवेक है । 'इस प्रकारके भोजन और पानको ग्रहण नहीं करता' ऐसा कहना वचनसे भक्तपान विवेक है । वैयावृत्य करने वाले अपने शिष्यों आदिके साथ वास न करना कायसे विवेक है । 'वैयावृत्य मत करो' 'मैंने तुम्हारा त्याग किया ऐसा कहना' वचनसे विवेक है । सर्वत्र शरीर आदिमें अनुरागका 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव मनमें न करना भावविवेक है ॥१७१॥

परिग्रह के त्यागका क्रम बतलाते हैं—

गा०—सर्व देशमें प्रतिनिहित आत्मा द्रव्य और पर्यायोंमें ममतारूपी परिग्रहसे रहित, प्रणय, प्रेम और रागसे रहित सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है ॥१७२॥

टी०—जिसने वस्तुके यथार्थ स्वरूप के ज्ञानमें आत्माको प्रकर्षरूपसे निहित किया है वह प्रतिनिहितात्मा है अर्थात् जो वस्तु स्वरूपके जाननेमें लीन रहता है और द्रव्य अर्थात् जीव पुद्गलमें और उनकी पर्यायोंमें ममता नहीं करता । और जीव द्रव्य अर्थात् पुत्र स्त्री मित्रादि में उनकी नीरोगता, धनवत्ता आदि पर्यायोंमें अथवा आत्माकी देवपना, चक्रवर्तीपना, अहमिन्द्रपना आदि पर्यायोंमें तथा शरीरमें, आहारादिमें; भोगके साधनमें और उनकी रूप, रस, गन्ध,

परिणामेभ्यो निर्गतो **'णिव्वणयपेमराग'** इत्युच्यते । **'उवेज्ज'** प्रतिपद्येत । **'समभावं'** समचित्ततां । द्रव्ये पर्याये वा रागकोपावन्तरेण तत्तत्स्वरूपग्रहणमात्रप्रवृत्तिर्ज्ञानिता समचित्तता ॥ **उवधी गदा** ॥१७२॥

परिग्रहपरित्यागादनन्तरोऽधिकार श्रितिर्नाम, एतद्व्याख्यातुकाम श्रितिशब्दस्यार्थद्वय व्याचष्टे भावश्रितिर्द्रव्यश्रितिरिति, अप्रकृत श्रितिशब्दार्थं निराकर्तुमिष्ट दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि ।
दव्वसिदी णिस्सेणी सोवाणं आरुहंतस्स ॥१७३॥

'जा' या । **'उवरि उवरि'** उपर्युपरि । **'गुणपडिवत्ती'** गुणप्रतिपत्ति । ज्ञानश्रद्धानसमानभावाना गुणाना प्रवृत्ताना उपर्युपरि गुणनात्तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिर्या सा । **'भावदो'** भावेन । **'सिदी होदि'** श्रितिर्भवति । भावश्रिति सैवेति यावत् । अथ का द्रव्यश्रिति ? अस्योत्तरमाह-**'दव्वसिदी'** श्रीयते इति श्रितिः द्रव्यं च तत् श्रितिश्च सा द्रव्यश्रिति । यदाश्रीयते द्रव्य निश्रेयणीसोपानादिक तदपि श्रितिशब्देनोच्यते । **'आरुहंतस्स'** आरोहत ॥१७३॥

अनयो का[1] परिगृहीतेत्यत्राह—

सल्लेहणं करेंतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ।
भावोसिदिमारुहित्ता विहरेज्ज सरीरणिव्वण्णो ॥१७४॥

स्पर्श पर्यायोमे प्रणय अर्थात् स्नेह, प्रेम और राग अर्थात् आसक्ति रूप परिणामोसे रहित हुँ वह सर्वत्र समभाव अर्थात् समचित्तताको प्राप्त होता है । द्रव्य अथवा पर्यायमे राग द्वेष के विना उनके स्वरूपको ग्रहण मात्र करनेकी प्रवृत्तिको अर्थात् ज्ञानताको समचित्तता कहते है ॥१७२॥

उपधि त्याग समाप्त हुआ ।

परिग्रह त्यागके अनन्तर श्रिति नामक अधिकार है। उसका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार श्रिति शब्दके दो अर्थ कहते हैं भाव श्रिति और द्रव्य श्रिति। श्रिति शब्दके अप्रकृत अर्थका निराकरण और इष्ट अर्थ का कथन करते है—

गा०—जो ऊपर-ऊपर गुणोकी प्रतिपत्ति हैं वह भावसे श्रिति है। ऊपर चढने वाले के नसैनी सीढी आदि द्रव्य श्रिति हैं ॥१७३॥

टी०—ज्ञान श्रद्धान समभाव आदि गुणोका ऊपर-ऊपर उन्नत होना गुण प्रतिपत्ति है और वह भाव श्रिति है। भाव अर्थात् परिणामसे श्रिति भाव श्रिति अर्थात् परिणाम सेवा है। 'श्रीयते' जिसका आश्रय लिया जाये वह श्रिति है। द्रव्यरूप श्रिति द्रव्य श्रिति है। ऊपर चढने वाला नसैनी सीढी आदि जिस द्रव्यका आश्रय लेता है उसको भी श्रिति शब्दसे कहते हैं ॥१७३॥

यहाँ इन दोनोमेसे किसका ग्रहण किया है, यह कहते है—

गा०—सल्लेखना करता हुआ शरीरसे विरक्त साधु सब सुखशीलताको मन वचन कायसे त्यागकर भावश्रिति पर आरोहण करके विहार करे ॥१७४॥

---

१. का या गृ-आ० मु० ।

'सल्लेहणं' सल्लेखना । **'करेंतो'** कुर्वन् । **'सव्वं सुहसीलयं'** सर्वां सुखभावना आसनशयनभोजनादि-विषया । **'पयहिदूण'** प्रकर्षेण त्यक्त्वा योगत्रयेणेति यावत् । **'भावसिदिमारुहित्ता'** श्रद्धानादिपरिणामसेवा प्रतिपद्य । **'विरहेज्ज'** प्रवर्तेत । **'सरीरणिव्विण्णो'** शरीरनिःस्पृह । किमनेन शरीरेण, सुलभेनासारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन दुःखविधायिनेति ॥१७४॥

दव्वसिदिं भावसिदिं अणुओगवियाणया विजाणंता ।
ण खु उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं पसंसंति ॥ १७५॥

दव्वसिदिं भावसिदिं अणुओगवियाणया विजाणंता' इत्यस्मिन्सूत्रे पदघटना । **'उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं ण खु पसंसंति'** इति । ऊर्ध्वगमने कार्ये अधोपादनिक्षेपं नैव प्रशसन्ति । **'विजाणंता'** विशेषेण जानन्त । का **'दव्वसिदिं भावसिदिं'** च द्रव्यभावश्रियो स्वरूपं उपादेयश्रितिज्ञा[1] इति यावत् । न केवल श्रितिमात्रज्ञा. किन्तु **'अणुओगवियाणया'** अनुयोगशब्द सामान्यवचनोऽपि इह चरणानुयोगवृत्तिर्गृहीतस्ते-नायमर्थः आचाराङ्गज्ञा अथवा चतुर्विधानुयोगज्ञा श्रुतमाहात्म्यवन्त न प्रशसन्ति । एतदुक्तं भवति—शुभ-परिणामवता तदतिशय एव प्रवर्तितव्य, न जघन्यपरिणामप्रवाहे निपतितव्य, यतोऽतिशयितश्रुतज्ञानलोचना यतयो निन्दति जघन्यपरिणामान् । कुतो ? मन्दायमानशुभपरिणाम क्रमेण न बहलविशालकर्मतिमिरमपा-कर्तुमर्हति नाशाभिमुख प्रदीप इव । यथा नाशसन्मुख प्रदीपोऽतितेजसा प्रवर्तमानो मन्द मन्द ज्वलन्नाशमुपैति शनैः शनैस्तमसाच्छाद्यते तथा मन्दायमानपरिणामोऽपीत्यर्थ । अशुभपरिणामसन्ततेर्मूल भवति । तेन कर्मणा स्थितिरनुभवश्च प्रकर्षमुपैति ततो व्यवस्थिता सैव दीर्घसंसारिता । समीचीनज्ञानमारुतप्रेरित. शुभपरि-

गा०-टी०—इस सुलभ, असार, अपवित्र, कृतघ्न, भाररूप, रोगोका घर और जन्म मरणसे युक्त, दुःखदायी शरीरसे क्या लाभ ऐसा विचार साधु शरीरसे निस्पृह होकर सल्लेखना धारण करता है और बैठना, सोना, भोजन आदिकी सब सुख भावनाको छोड श्रद्धानादि परिणामोका आश्रय लेता है ॥१७४॥

गा०—द्रव्यश्रितिके भावश्रितिके स्वरूपको विशेष रूपसे जानने वाले तथा आचारागके ज्ञाता ऊर्ध्वगमन रूप कार्यमे नीचे पैर रखना प्रशसनीय नही ही मानते ॥१७५॥

टी०—अनुयोग शब्द अनुयोग सामान्यका वाची होने पर भी यहाँ चरणानुयोगका वाचक ग्रहण किया है अतः उसका अर्थ आचारागके ज्ञाता होता है । अथवा चार प्रकारके अनुयोगोके ज्ञाता भी होता है । द्रव्यश्रितिके और भावश्रितिके स्वरूपको जानने वाले तथा चरणानुयोगके ज्ञाता ऊपर जानेके लिये नीचे-नीचे पैर रखना प्रशसनीय नही मानते । आशय यह है कि शुभ परिणाम वालोको शुभ परिणामोकी उत्कृष्टतामे ही लगना चाहिये, जघन्य परिणामोके प्रवाहमे नही गिरना चाहिये; क्योंकि अतिशय युक्त श्रुतज्ञान रूपी चक्षुसे सम्पन्न यतिगण जघन्य परिणामो की निन्दा करते हैं । क्योंकि जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मन्द होते जाते है वह घने विशाल कर्मरूपी अन्धकारको नाशके अभिमुख दीपककी तरह दूर नही कर सकता । जैसे बुझता हुआ दीपक तीव्र प्रकाश देता है किन्तु मन्द-मन्द जलकर बुझ जाता है और धीरे-धीरे अन्धकारसे ढक जाता है । उसी तरह मन्द होता हुआ शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामोकी परम्पराका जनक होता है और उससे कर्मोकी स्थिति और अनुभाग उत्तरोत्तर बढता है । उससे वही दीर्घ संसारि-

१. ज्ञाना इति आ० मु० ।

णामानलः प्रकृष्यमाणो विशोषितकर्मपादपरसस्तमुन्मूलयतीति ॥१७५॥

श्रितेरपायस्थानपरिहाराख्यानायोत्तरगाथा—

गणिणा सह संलाओ कज्जं पइ सेसएहिं साहूहिं ।
मोणं से मिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सजणे य ॥१७६॥

'गणिणा सह' सावधारणमिद गणिनैव सह । **'संलाओ'** प्रश्नप्रतिवचनप्रबन्ध, नान्यै सह चिरभाषण कार्यम् । आचार्येण सह सलाप शुभपरिणामस्य हेतुरित्यनुज्ञायते । इतरे तु प्रमादिनो यत्किञ्चिद् ब्रुवन्तोऽशुभपरिणाम विदध्यु । **'कज्ज पइ'** कार्यं स्व प्रति । **'सेसगेहिं साहूहिं'** शेषैः साधुभि. सम्भाषण कार्य, न प्रबन्धरूपा कथा कार्या । **'मोणं'** मौनमेव । **'से'** तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य । **'मिच्छजणे'** मिथ्यादृष्टिजने । स्वार्थे बद्धपरिकरम्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाग्राहिणा जनेन । **'भज्जं'** भाज्य विकल्प्य मौन । **'सण्णीसु'** मिथ्यादृष्टिष्वप्युपशान्तेषु । **'सजणे य'** स्वजने च । मिथ्यादृष्टी अस्यामवस्थाया मदीय वचन श्रुत्वा सम्यग्दर्शनादिकमिमे गृह्णन्तीति यद्यस्ति सम्भावना ब्रूयाद् धर्म न चेन्मौनमेव ॥१७६॥

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिदिमारुहित्तु कारणपरिभुत्तं उवधिमणुवधिं सेज्जं ।
परिकम्मादिउवहदं वज्जित्ता विहरदि विदण्हू ॥१७७॥

'सिदिमारुहित्तु' शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । **कारणभुत्त** किञ्चित्कारणमुपदिश्य श्रुतग्रहण, परेषा वा

पना प्राप्त होता है । सम्यग्ज्ञान रूपी वायुसे प्रेरित शुभ परिणाम रूप आग बढ़ती-बढती कर्म रूपी वृक्षके रसको सुखाकर उसे जडसे नष्ट कर देती है ॥१७५॥

श्रितिके विनाश स्थानोसे बचनेके उपाय कहते है—

गा०—शुभ परिणामोकी श्रेणि पर आरूढ साधुको आचार्यके ही साथ वार्तालाप करना चाहिये । कार्य हो तो शेष साधुओसे वार्तालाप करे । मिथ्यादृष्टिजनोमे मौन रहे । शान्त परिणामी मिथ्यादृष्टियोमें और अपने ज्ञातिजनोमे मौन करे, न भी करे ॥१७६॥

टी०—आचार्यके साथ ही 'सलाप' अर्थात् प्रश्नोत्तर आदि करना चाहिये । दूसरोके साथ लम्बा वार्तालाप नही करना चाहिये । आचार्यके साथ सलाप शुभ परिणाम का कारण है इसलिये उसकी अनुज्ञा है । अन्य लोग तो प्रमादी होनेसे जो कुछ भी बोलकर अशुभ परिणाम कर देते है । शेष साधुओके साथ सभाषण करना चाहिये किन्तु लम्बी कथा नही करना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जनसे बात नही करना चाहिये क्योकि वह तो स्वार्थमे डूबा है । हितोपदेशको नही सुनता । ऐसे अनुपकारो व्यक्तिसे क्या काम ? जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी शान्त परिणामी है और अपने ज्ञातिबन्धु है उनस वार्तालाप किया जा सकता है । ये मेरे वचन सुनकर सम्यग्दर्शन आदिको ग्रहण करेगे, यदि ऐसी सम्भावना है तो धर्मका उपदेश दे, नही तो मौन ही रहे ॥१७६॥

शुभ परिणामके धारी मुनिकी प्रवृत्तिका क्रम कहते है—

गा०—क्रमका ज्ञाता मुनि शुभ परिणामो की श्रेणिपर चढकर किसी कारणवश व्यवहार मे आई परिग्रहको और ईषत् उपधिरूप वसतिको तथा जो लीपने-पोतने अयोग्य है, उसे त्याग कर तपश्चरण करता है ॥१७७॥

टी०—शुभ परिणामोकी परम्परासे जो मुनि ऊपर चढ़ रहा है वह ऐसे परिग्रहको त्याग

श्रुतोपदेश, आचार्यादिवैयावृत्त्यादिकं वा, '**परिभुत्त**' व्यवहृत । '**उवधि**' परिग्रहमौषध अतिरिक्तज्ञानसंयमोपकरणानि वा । '**अणुपधि**' ईषत्परिग्रह । अन्वत्रेषदर्थवृत्ति अनुदरा कन्येति यथा । कोसावनुपधिरत आह— '**सेज्ज**' सेविज्जदि जदिणा इति व्युत्पत्तौ वसतिरुच्यते, तेन **सेज्ज** वसति । **परिकम्मादिउवहदं**' यतयोऽत्र वसन्तीति प्रमार्जनप्रलेपनादिपरिकर्मणा उपहत अयोग्य । '**परिवज्जित्ता**' वर्जयित्वा । '**विहरदि**' आचरति । '**विवण्णू**' क्रमज्ञः ॥१७७॥

श्रित्यनन्तरं किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिममि काले वीरपुरिससेविय परमघोर ।
भत्तं परिजाणंतो उवेदि अब्भुज्जदविहार ॥१७८॥

'**तो**' तस्या श्रिते । '**पच्छिमंमि काले**' पश्चिमे काले । '**वीरपुरुससेविय**' वीरैः पुरुषैराचरित । '**परमघोरं**' अतिदुष्कर । '**भत्त परिजाणंतो**' आहार परित्यक्तुकाम । '**उवेदि**' उपैति । किं ? **अब्भुज्जदविहारं**' सम्यग्दर्शनादिपरिणामाभि[१]मुख्ये उद्यन्त विहार ॥१७८॥

कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्यत्राचष्टे—

इत्तिरियं सव्वगणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए दु ।
जहिदूण संकिलेसं भावेइ असंकिलेसेण ॥१७९॥

'**इत्तिरियं**' कियत कालस्य । '**सव्वगणं**' सयताना, आर्यिकाणा, श्रावकाणा, इतरामा च समिति ।

देता है जो कारणवश व्यवहारमे आया है जैसे स्वय शास्त्राध्ययनके लिये या दूसरोको शास्त्रका उपदेश देनेके लिये ज्ञान और सयमके उपकरण शास्त्र आदि व्यवहारमे आये हो जो कि स्वय अपने लिये आवश्यक नही है । तथा आचार्य आदिकी वैयावृत्यके लिये औषध आदि व्यवहारमे आई हो । ऐसा परिग्रह कारणभुक्त परिग्रह है । तथा कारणभुक्त अनुपधिको भी त्याग दे । अनुपधिमे अन्का अर्थ ईषत् या किञ्चित् है । यह अनुपधि है 'सेज्ज' । 'जो यतिके द्वारा सेवित होती है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सेज्जाका अर्थ वसति है । तथा 'इसमे यति गण रहेगे' इस अभिप्रायसे जिस वसतिकी सफाई लिपाई पुताई की गई है वह भी त्याज्य है । इन सबको त्यागकर वह मुनि तपश्चरण करता है ॥१७७॥

श्रितिके अनन्तर वह क्या करता है यह कहते है—

गा०—उस श्रितिके अन्तिम समयमे वीर पुरुषोके द्वारा आचरित अतिकठिन आहारको त्याग देनेका इच्छुक वह मुनि सम्यग्दर्शन आदि परिणामोकी अभिमुखतामे तत्पर विहारको प्राप्त होता है । अर्थात् रत्नत्रयकी मुख्यताको लिये हुए आचरण करता है ॥१७८॥

वह अभ्युद्यत विहार कैसा है, यह कहते है—

गा०—तत्काल गुरुके पश्चात् जो संघका पालन करता है उसे, विधिपूर्वक समस्त संघको सौपकर संक्लेशको छोडकर असक्लेशसे आत्माको भाता है ॥१७९॥

टी०—सर्वगणसे मतलब है मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका तथा अन्य जनोका समूह ।

---

१ णामादिमु—आ० मु० ।

'चिंतिरिय' दत्त्वा । कथ 'विधिणा' विधिना । कथ ? सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वय बहि स्थित्वा 'एष निरतिचाररत्नत्रय' आत्मान युष्मानपि समर्थ ससारसागरादुद्धर्तुं, अनुज्ञातश्च यया सूरिरयमिति । तत एतदुपदेशानुसारेण भवद्भि प्रवर्तितव्य इति । 'अणुविसाए दु' 'अनु'पश्चादर्थे दिशिर्विधाने गुरो पश्चा-द्दिशति विधत्ते चरणक्रम य सोभिधीयते अनुदिसशब्देन । 'जहिऊण' त्यक्त्वा । 'संकिलेसं' सक्लेश परोपकार-सम्पादनायास । 'भावेइ' भावयति । 'असंकिलेसेण' न विद्यते सक्लेशोऽस्मिन्नित्यसक्लेश शुभपरिणामस्तेन भावयति आत्मान ॥१७९॥

जावंतु[1] केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं ।
ते वज्जिंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥१८०॥

त्यक्तव्यसक्लेशभावनाकल्पस्याख्यानायाचष्टे—

कन्दप्पदेवखिब्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
एसा हु संकिलिट्ठा पञ्चविहा भावणा भणिदा ॥१८१॥

कंदप्प इत्यादिना । गतिकर्म चतुर्विध नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरित्यत्र देवगतिर्नैक-प्रकारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपचेन । कन्दर्पदेवगते, किल्बिषदेवगतेराभियोग्यदेवगते, असुरदेवगते, सम्मोहदेवगतेश्च कारणभूता आत्मपरिणामा । कारणे कार्योपचारोऽन्नप्राणवत् । यथान्न वै प्राणा इति

'अनुदिसाए' मे अनुका अर्थ है पश्चात् और दिशका अर्थ है विधान । गुरुके पीछे जो चारित्रके क्रमका विधान करता है उसे अनुदिश कहते है । सल्लेखनार्थी उसको सर्वसघके मध्यमे स्थापित करके स्वयं बाहर होता है । उस समय वह कहता है—इसका रत्नत्रय निर्दोष है । यह अपना और तुम्हारा भी ससार सागर से उद्धार करनेमे समर्थ है । मैने इसे आचार्य बनने की अनुज्ञा दी है । अत इसके उपदेशके अनुसार आपको चलना चाहिये । सघके भारसे मुक्त होकर वह परोपकार करनेका प्रयत्न रूप सक्लेश छोड देता है, अर्थात् परोपकार करना छोड देता है और जिसमे संक्लेश नही है ऐसे असक्लेश अर्थात् शुभ परिणामसे आत्माकी भावना भाता है ॥१७९॥

गा०—जितना कोई परिग्रह रागद्वेषकी उदीरणा करने वाला होता है, उसे छोडता हुआ निस्सग होकर राग और द्वेष को निश्चयसे जीतता है ॥१८०॥

विशेष—इस पर विजयोदया टीका नही है । आशाधरने भी इस पर टीका नही की किन्तु इतना लिखा है कि टीकाकार इस गाथाको नही मानता ।

छोडने योग्य सक्लेश भावनाके भेद कहते है—

गा०—कन्दर्पदेवगति, किल्विषदेवगति, आभियोग्यदेवगति, असुरदवगति और सम्मोहदेव-गतिके कारण भूत आत्म परिणाम यह निश्चयसे पाँच प्रकारकी सक्लिष्ट भावना कही है ॥१८१॥

टी०—गतिकर्मके चार भेद है—नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति । इनमे से देवगतिके असुरदेवगति, नागदेवगति आदिके विस्तारसे अनेक भेद है । कन्दर्पदेवगति, किल्विष-देवगति, आभियोग्य देवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेवगतिके कारणभूत आत्मपरिणामोंको उस उस गतिके नामसे कहा है । यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया है जैसे 'अन्न ही प्राण है' । यहाँ

1. एता टीकाकारो नेच्छति—मूलारा० ।

प्राणकारणेऽन्ने प्राणोपचारात् । कार्यगतेन व्यपदेशेन कन्दर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुरभावना, सम्मोहभावनाश्चेति पञ्चप्रकारा भावना निरूपिताः सर्वविद्भि ॥१८१॥

तत्र कन्दर्पभावनानिरूपणायोत्तरगाथा—

कंदप्पकुक्कुआइय चलसीलो णिच्चहासणकहोय ।
विभ्भाविंतो य परं कंदप्पं भावणं कुणइ ॥१८२॥

कन्दप्पकुक्कुआइयचलसीलो रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग कदर्प । रागातिशयवतो हसत परमुद्दिश्याशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्य एव भवत मातर करोमीति । कदर्पकौत्कुच्याभ्या चलसील', **'णिच्चहासणकहो य'** सदा हास्यकथाकथनोद्यत । **'विभ्भावितो य परं'** पर विस्मापयन् कुहुक किञ्चिदुपदर्श्य **'कंदप्पं भावणं कुणदि'** कदर्पभावना करोति । रागोद्रेकजनितहासप्रवर्तितो वाग्योग परमविस्मयकारी वा कदर्पभावनेत्युच्यते । असकृत्प्रवर्तमान ॥१८२॥

किल्बिषभावनाख्यानायाचष्टे—

णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं ।
माइय अवण्णवादी खिब्भिसियं भावणं कुणइ ॥१८३॥

णाणस्स इत्यादिक । **'माई अवण्णवादी'** इत्येताभ्या प्रत्येक सबन्धनीयम् । ज्ञानमिह श्रुत परिगृहीत श्रुतज्ञानविषया माया यस्य विद्यते स ज्ञानसबन्धी मायावान् ज्ञानभक्तिरहितो बाह्यविनयवृत्ति । **'केवलिणं'**

प्राणके कारण अन्नमे प्राणका उपचार किया है । उन्ही परिणामोका कार्य जो कन्दर्प आदि गति है उसी कन्दर्पशब्दसे कन्दर्प भावना, किल्विष भावना, आभियाग्य भावना, असुर भावना, सम्मोह भावना ये पाँच प्रकार की भावनाएँ सर्वज्ञ देवने कही हैं ॥१८१॥

आगेकी गाथा मे कन्दर्प भावनाका कथन करते है—

गा०—कन्दर्प कौत्कुच्य आदिसे चलशील, और सदा हास्य कथा करनेमे तत्पर, दूसरेको विस्मयमे डालने वाला कन्दर्प भावनाको करता है ॥१८२॥

टी०—रागकी अत्यधिकतासे हँसीसे मिला हुआ असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है । रागकी अधिकतासे हँसते हुए दूसरे को लक्ष्य करके शरीरसे कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है । इन दोनोको जो करता है, सदा हास्य कथा करता है, और कुछ कौतुक दिखाकर दूसरेको अचरजमे डालता है, वह कन्दर्प भावना करता है । आशय यह है कि रागकी अधिकतासे होने वाले हास्य पूर्वक वचन योग और काय योग तथा दूसरेको कुतूहल पूर्वक अचरजमे डालना कन्दर्प भावना है ॥१८२॥

किल्विष भावनाको कहते है—

गा०—जो ज्ञानके, केवलियोके, धर्मके, आचार्यों और सर्व साधुओके विषयमे मायाचार करता है, झूठा दोष लगाता है वह किल्विषक भावनाको करता है ॥१८३॥

टीका—'माइय अवण्णवादी' ये दोनो पद प्रत्येकके साथ लगाना चाहिये । 'ज्ञान' से यहाँ श्रुतज्ञान ग्रहण किया है । जो श्रुतज्ञानके विषयमे माया रखता है वह ज्ञान सम्बन्धी मायाचारी है । ज्ञानमे भक्ति नही है, बाहरसे विनय करता है । केवलियोंमे आदर तो दिखलाता है किन्तु

केवलिष्वादरवानिव यो वर्तते । तदर्चनाया मनसा नु न रोचते स केवलिना मायावान् । धर्मश्चारित्रं तत्र मायया प्रवृत्त । आचार्याणां साधूनां च वञ्चक । **खिब्भिसभावणं** किल्विषभावना । '**कुणइ**' करोति ॥१८३॥

अभियोग्यभावना निरूपयत्युत्तरगाथा—

मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु ।
इड्ढिरससादहेदु अभिओगं-भावणं कुणइ ॥१८४॥

'**मंताभिओगकोदुगभूईकम्मं**' मन्त्राभियोगक्रिया, कुतूहलोपदर्शनक्रिया, बालादीनां रक्षार्थं भूति कर्म च । '**पयुंजदे**' करोति य । '**अभियोगं भावणं कुणइ**' अभियोग्या भावना करोति । किं ? सर्व एव मन्त्राभियोगादौ प्रवृत्तो नेत्याह । '**इड्ढिरससादहेदु मंताभियोगकोदुगभूईकम्मं जो पउंजदे सो अभियोगभावण कुणइ**' । द्रव्यलाभस्य, मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतु मन्त्राद्यभियोगकर्म प्रयुङ्क्ते य स एव अभियोग्यभावना करोति[1] **नेतर.** । **स्वस्य** परस्य वा आयुरादिपरिज्ञानार्थं कौतुक उपदर्शयन्, वैयावृत्यं प्रवर्तयामीति वा । उद्यत , ज्ञान-दर्शन चारित्रपरिणामादरवर्तनान्न दुष्यतीति भाव ॥१८४॥

चतुर्थी भावना वदन्ति—

अणुबद्धरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी ।
णिक्किवणिराणुतावी आसुरिअं भावणं कुणदि ॥१८५॥

उनकी पूजा मनमे नही रुचती । वह केवलियोके सम्बन्धमे मायावी है । धर्म अर्थात् चारित्रके विषयमे जो मायाचार करता है वह धर्मका मायावी है । तथा जो आचार्यो और साधुओंको ठगता हे वह किल्विष भावनाको करता है ॥१८३॥

आगेकी गाथासे अभियोग्य भावनाको कहते है—

गा०—जो द्रव्यलाभ, मिष्टरस और सुखके लिए मत्राभियोग—भूत आदि बुलाना, कौतुक—अकालमे वर्षा आदि दिखलाना और बच्चोकी रक्षाके लिये भभूत देना आदि करता है वह अभियोग्य भावना करता है ॥१८४॥

टी०—द्रव्यलाभ, मीठा भोजन और सुखके लिये जो मन्त्राभियोग क्रिया, कुतूहल दिखानेकी क्रिया और बालक आदिकी रक्षाके लिये भूतिकर्म करता है वह अभियोग्य भावनाको करता है । जो द्रव्यलाभ आदिके लोभसे मत्रादि करता है वही अभियोग्य भावना करता है, सब नही । जो अपनी या दूसरोकी आयु आदि जाननेके लिये मत्र प्रयोग करता है, धर्मकी प्रभावनाके लिये कौतुक दिखलाता है या वैयावृत्य करनेकी भावनामे तत्पर रहता है वह ज्ञान दर्शन और चारित्र परिणामोंमे आदर भाव रखनेसे दोषका भागी नही है, यह भाव है ॥१८४॥

चौथी आसुरी भावनाको कहते है—

गा०—अनुबद्ध क्रोध और कलहसे जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदिसे आजीविका करता है, निर्दय है, दूसरेको कष्ट देकर भी पश्चात्ताप नही करता वह आसुरी भावनाको करता है ॥१८५॥

---

१. ति तेन य स्वस्य–आ० मु० ।

'**अणुबधरोसविग्गहससत्ततवो णिमित्तपडिसेवी**' रोषश्च विग्रहश्च रोषविग्रहौ **अनुबन्धो रोषविग्रहौ** अनुबन्धरोषविग्रहौ अनुबन्धरोषविग्रहाभ्या ससक्त सबद्ध अनुबन्धरोषविग्रहससक्त तपो यस्य स **तथोक्तः**। '**निमित्ताजीवी य**' य स आसुरीभावना करोति इति केचित्कथयन्ति। अनुबद्धो भवान्तरानुयायी रोषो यस्य सोऽनुबद्धरोष। विग्रहेण कलहेन ससक्त तपो यस्य स विग्रहससक्ततप शब्देन भण्यते। अनुबद्धौ रोषविग्रहौ अस्येत्यनुबद्धरोषविग्रह। सम्यगतीव संसक्त संबद्ध परिग्रहेण तपो यस्य स ससक्ततपोऽभिलापवाच्य। **णिक्किव-णिराणुतावी**, य निर्दय प्राणिषु, कृत्वापि परपीडा अनुतापरहितश्चासुरी भावना करोति ॥१८५॥

समोहभावना निरूप्यते—

उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य।
मोहेण य मोहिंतो संमोहं भावण कुणइ ॥१८६॥

उम्मग्गदेसणं मिथ्यादर्शन, अविरति, वा य उपदिशति, आप्ताभासानागमास्तत्प्रणीतांश्च हितत्वेनाचष्टे। यो वा तत्त्वज्ञो हिंसादिक कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते। ज्ञान हि सर्व पाप दहति इति प्रतिपादयता हिंसादिभ्यो भय निराकुर्वता हिंसादिषु जीवा प्रवर्तिता भवन्ति। स एक उन्मार्गस्योपदेष्टा। यज्ञे प्राणिवधो न पापाय शास्त्रचोदितत्वाद्दानादिवत्। किं च पशवो हि यागार्थमेवादौ सृष्टा याजका यजमाना पशवश्च मन्त्रमाहात्म्यात्स्वर्गं लभन्ते इति। अयमेक उन्मार्गोपदेश। '**मग्गदूसणो**' सवरस्य निर्जरायाश्च निरवशेषकर्मापायस्य वा हेतुभूता समीचीनज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामा मार्ग इति उच्यते। अव्याबाधसुखस्य परपरा-

---

टी०—अनुबद्ध रोष और विग्रहमे जिसका तप सम्बद्ध है और जो निमित्ताजीवि है वह आसुरी भावनाको करता है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं। अनुबद्ध अर्थात् आगामी भवमे जानेवाला जिसका क्रोध है अर्थात् ऐसा उत्कट क्रोध है जो दूसरे भवमे साथ जाता है वह व्यक्ति अनुबद्ध रोष है, जिसका तप विग्रह अर्थात् कलहसे सम्बद्ध है वह 'विग्रह ससक्त तप' शब्दसे कहा जाता है। जिसका रोष और विग्रह अनुबद्ध है वह अनुबद्ध रोष विग्रह है। और जिसका तप परिग्रहसे अतीव सम्बद्ध है वह 'ससक्त तप' शब्दसे कहा जाता है। जो प्राणियोमे दया नही करता तथा दूसरोको पीडा पहुँचा कर भी पछताता नही है, वह आसुरी भावना करता है ॥१८५॥

सम्मोह भावनाको कहते है—

गा०—जो मिथ्यात्व या असयमका उपदेश देता है, मार्गको दूषण लगानेवाला है और रत्नत्रयका विरोधी है, अज्ञानसे मूढ है वह सम्मोह भावनाको करता है ॥१८६॥

टी०—उम्मग्गदेसण अर्थात् जो मिथ्यादर्शन अथवा अविरतिका उपदेश देता है, आप्ताभासोको और उनके द्वारा रचित शास्त्रोको हितकारी कहता है, जो तत्त्वज्ञ है वह हिंसा आदि करते हुए भी पापसे लिप्त नही होता, ज्ञान सब पापको भस्म कर देता है ऐसा कहनेवाला हिंसा आदि पापका भय दूर करके जीवोको हिंसा आदिमे लगाता है। वह उन्मार्गका उपदेशक है। यज्ञमे किया गया प्राणिवध पापका कारण नही है क्योकि वेदमे कहा है जैसे दान पापका कारण नही है। प्रारम्भमे यज्ञके लिये ही पशुओकी सृष्टि की गई थी। जो यज्ञ करते हैं, कराते हैं और पशु, ये सब मरकर मन्त्रके माहात्म्यसे स्वर्गमे जाते है। यह भी उन्मार्गका उपदेष्टा है। 'मग्ग-दूसणो'—संवर और निर्जराके तथा समस्त कर्मोंके विनाशके हेतु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप परिणाम मार्ग कहे जाते है; क्योकि बाधारहित सुखके परम्परासे कारण हैं,

कारणत्वाच्च । तस्य मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्ष किं दर्शनचारित्राभ्या ? चारित्रमेवोपाय किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं श्रुत मार्गस्तस्य दूषको यो अपव्याख्यानकारी । **'मग्गविप्पडिवणी य'** मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्न एष न मुक्तेर्मार्ग इति यस्तद्विरुद्धाचरण । **मोहेण य** अज्ञानेन च सशयविपर्यासरूपेण । **'मुज्झन्तो'** मुह्यन् । **सम्मोहेसु** तीव्रकामरागेषु कुत्सितेषु देवेषु उपपद्यते ॥१८६॥

भावनाना फल दर्शयति भयोपजननाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ ।
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं ॥१८७॥

'एदाहिं भावणाहिं य' एताभि भावनाभि । **'देवदुग्गइं लहदि'** देवेषु दुष्टा या गतिस्ता गच्छति । **'विराधगो'** रत्नत्रयाच्च्युत । **'तत्तो चुदो समाणो'** तस्या देवदुर्गतेश्च्युत सन् । **'भमिहिदि'** भ्रमिष्यति भवसागरमन्तातीत ॥१८७॥

एदाओ पंच वि वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो ।
पंचसमिदो तिगुत्तो णिस्संगो सव्वसंगेसु ॥१८८॥

'एदाओ पंच वि वज्जिय' एता पञ्च भावना परित्यज्य **'इणमो'** अय यति धीर । **'छट्ठीए'** षष्ठ्या भावनया । **'विहरदे'** प्रवर्तते । षष्ठ्या भावनाया प्रवर्तितु एवभूतो योग्य इत्याचष्टे—**'पचसमिदो'** समितिपञ्चकवर्तीन । **'तिगुत्तो'** गुप्तित्रयालकृत । **'णिस्संगो'** सगरहित । **'सव्वसंगेसु'** सर्वपरिग्रहेषु ॥१८८॥

का सा षष्ठीभावना ? अत्राचष्टे—

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणा चेय ।
धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥१८९॥

उस मार्गको दूषण लगाना । यथा—ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्रसे क्या लाभ । अथवा चारित्र ही मोक्षका उपाय है, ज्ञानकी आवश्यकता नही है । ऐसा कहनेवाला मार्गका दूषक होता है । अथवा मार्गका ज्ञान करानेवाला श्रुतमार्ग है उसका जो दूषक है—मिथ्या व्याख्यान करता है । 'मग्गविप्पडिवणी'—रत्नत्रयात्मक मार्गमे विप्रतिपन्न है । यह मुक्तिका मार्ग नही है ऐसा मानकर उसके विरुद्ध आचरण करता है और मोह अर्थात् सशय विपर्ययरूप अज्ञानसे मोहित है । वह तीव्रकामी और रागी नीच देवोमे उत्पन्न होता है ॥१८६॥

भय उत्पन्न करनेके लिये भावनाओंका फल बतलाते है—

गा०—रत्नत्रयसे च्युत हुआ व्यक्ति इन भावनाओसे देवोमे जो दुष्टगति है उसे प्राप्त करता है । उस देवदुर्गतिसे च्युत होकर अन्तरहित ससार समुद्रमे भ्रमण करता है ॥१८७॥

गा०—इन पाँचो ही भावनाओको त्याग कर यह धीर यति छठी भावनामे प्रवृत्त होता है । जो पाँच समितियोको पालता है, तीन गुप्तियोसे सुशोभित है और सब परिग्रहोमे आसक्ति रहित है । अर्थात् छठी भावनामे प्रवृत्त होनेके योग्य ऐसा यति ही होता है ॥१८८॥

छठी भावनाको कहते हैं—

'तवभावणा' तपसोऽभ्यासः । **'सुदभावणा'** ज्ञानस्य भावना । **'सत्तभावणा'** अभीरुत्वभावना । **'एगत्तभावणा'** एकत्वभावना । **'धिदिबलविभाविणावि य'** धृतिबलभावना चेति । **'असंकिलिट्ठावि पंचविधा'** असंक्लिष्टा भावनाः पञ्चप्रकाराः । ननु च ता पञ्चभावनास्तत्र किमुच्यते **'छट्ठी य भावणा चेति'** असंक्लिष्टभावनात्वसामान्यापेक्षया एकतामारोप्य षष्ठीत्युच्यते । विशेषरूपापेक्षया तपोभावनादिविवेक । अत एव सूत्रकारोऽपि एकता दर्शयति **असंकिलिट्ठा वि पंचविहा'** इति ॥१८९॥

तपोभावना समाधे कथमुपाय इत्यत्राचष्टे—

तवभावणाए पंचेंदियाणि दंताणि तस्स वसमेंति ।
इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ ॥१९०॥

'तवभावणाए' तपोभावनया असकृदशनत्यागेन द्रव्यभावरूपेण । **'पंचेंदियाणि'** पञ्चापि इन्द्रियाणि । **'तस्स'** तपोभावनावतस्य । **'वसमेंति'** वशमुपयान्ति । **'यतो'** यस्मात्, **'दंताणि'** दान्तानि निगृहीतदर्पाणि । **इंदिययोगायरिओ'** इन्द्रियाणां शिक्षाविधाय्याचार्योऽसौ । **'समाधिकरणानि'** रत्नत्रयसमाधानक्रियाः । **'सो'** स, **'कुणइ'** करोति । एतदुक्तं भवति । दान्तानि इन्द्रियाणि तपसा न कामरागमस्यानयन्ति । क्षुधादिभिरुपद्रुतात्मा न वामलोचनासुरतक्रीडादौ करोत्यादरमिति प्रतीतमेव । ननु चानशनादौ प्रवृत्तस्याहारदर्शने तद्वार्ताश्रवणे तदासेवायां चादरो नितान्तं प्रवर्तते ततोऽयुक्तमुच्यते तपोभावनया दान्तानीन्द्रियाणीति । इन्द्रियविषय-

---

गा०—असंक्लिष्ट अर्थात् संक्लेशरहित भावना भी पाँच प्रकारकी है—तप भावना, श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्वभावना और धृतिबल भावना ॥१८९॥

टी०—तपका अभ्यास तप भावना है। ज्ञानकी भावना श्रुतभावना है। निर्भयताकी भावना सत्त्व भावना है। एकत्व भावना और धृतिबल भावना ये पाँच असंक्लिष्ट भावना है।

शंका—ये तो पाँच भावना है तब छठी भावना कैसे कहा ?

समाधान—असंक्लिष्ट भावनापना इन सबमे समान है, इस अपेक्षा इनमे एकत्वका आरोप करके छठी भावना कहा है। विशेषकी अपेक्षा तपो भावना आदि भेद होता है। इसासे ग्रन्थकार भी 'असंकिलिट्ठा वि पचविहा' लिखकर एकताको बतलाते है ॥१८९॥

तपभावना समाधिका उपाय कैसे है यह कहते है—

गा० द्रव्य और भावरूप तपकी भावनासे पाँचो इन्द्रियाँ दमित होकर उस तप भावनावालेके वशमे हो जाती है। इन्द्रियोको शिक्षा देनेवाला वह आचार्य रत्नत्रयका समाधान करनेवाली क्रियाएँ करता है ॥१९०॥

टी०—इसका भाव यह है कि तपसे दमित इन्द्रियाँ साधुमे कामराग उत्पन्न नही करती। जो भूख आदिसे पीडित है वह स्त्रीके साथ रतिक्रीडा आदि करनेमे रुचि नही रखता यह प्रसिद्ध ही है।

शङ्का—जो उपवास आदि करता है उसका आहारके देखनेमे, आहारकी चर्चा सुननेमे और उसके सेवनमे अत्यन्त आदर होता ही है। अतः यह कहना अयुक्त है कि तप भावनासे इन्द्रियाँ दमित होती हैं ?

रागकोपपरिणामाना कर्मास्रवहेतुतया अहितत्वप्रकाशनपरिज्ञानपुर.सरतपोभावनया विषयसुखपरित्यागात्मकेन अनशनादिना दान्तानि भवन्ति इन्द्रियाणि। पुन' पुन सेव्यमानं विषयसुखं राग जनयति। न भावनान्तरान्तर्हितमिति मन्यते ॥१९०॥

तपोभावनारहितस्य दोषमाचष्टे उत्तरप्रबन्धेन सदृष्टान्तोपन्यासेन—

इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराजियपरस्सो।
अकदपरियम्म कीवो मुज्झदि आराहणाकाले ॥१९१॥

'इंदियसुहसाउलओ' इन्द्रियसुखस्वादलम्पटो। **'घोरपरीसहपराजियपरस्सो'** परीषहै घोरै दु:सहै क्षुदादिभि पराजितोऽभिभूत सन् य' पराङ्मुखता गतो रत्नत्रयस्य। **'अकदपरियम्म कीवो'** अकृत परिकर्म तपआराधनाया येनासौ अकृतपरिकर्मा। **'कीवो'** दीन। **'मुज्झइ'** मुह्यति विचित्ततामाप्नोति। **'आराहणाकाले'** आराधनाया काले ॥१९१॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥१९२॥

'जोग्गमकारिज्जंतो' वाक्चालनभ्रमणलङ्घनादिका शिक्षा अकार्यमाण। **'अस्सो'** अश्व। **'सुहलालिओ'** सुखलालित। **'चिरं काल रणभूमीए'** युद्धभूमौ। **'वाहिज्जमाणगो'** वाह्यमान। **'जह ण कज्जकरो'** यथा कार्यं न करोति तथा यतिरपि ॥१९२॥

सुगमत्वान्न व्याख्यायते गाथात्रयम् तवभावणा—

पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहे मुच्छिदो जीवो ॥१९३॥

समाधान—इन्द्रियके विषयमे होनेवाले राग द्वेषरूप परिणाम कर्मोके आस्रवमे हेतु होते है इसलिये वे अहितकारी हैं। इस परिज्ञानपूर्वक तपोभावनासे किये गये अनशन आदिसे जो कि विषय सुखके परित्यागरूप है, इन्द्रियाँ दमित होती है। बार बार सेवन किया गया विषय सुख रागको उत्पन्न करता है। किन्तु भावनासे दमित हुआ नही करता ॥१९०॥

जो तपभावनासे रहित है उसका दोष दृष्टान्तपूर्वक आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जो इन्द्रिय सुखके स्वादमे आसक्त है, भूख आदिकी दु सह परीषहोसे हारकर रत्नत्रयसे विमुख हुआ है, जिसने परिकर्म-आराधनाके योग्य तप नही किया है वह दीन आराधना के कालमे विचित्त हो जाता है उसका मन इधर-उधर भटकता है ॥१९१॥

इसमे दृष्टान्त देते हैं—

गा०—जैसे जिस घोड़ेको शब्दके सकेत पर चलने, भ्रमण, लंघन आदिकी शिक्षा नही दी गई है और चिरकाल तक सुखपूर्वक लालन पालन किया गया है वह घोड़ा युद्धभूमिमे सवारीके लिये ले जाया गया कार्य नही करता वैसे ही यति भी जानना ॥१९२॥

आगेकी तीन गाथाएँ सुगम हैं अतः उनकी टीका नहीं है—

जोग्गं कारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदो चिरं कालं ।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्ज ॥१९४॥
पुव्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।
होदि हु परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥१९५॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं प्रकटयति—

सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ ।
तो उवओगपइण्णा सुहमव्चविदो समाणेइ ॥९६॥

'सुदभावणाए'—श्रूयते इति श्रुतमित्यस्या व्युत्पत्तौ शब्दश्रुतमुच्यते । तस्य भावना नाम तदर्थविषयज्ञानासकृत्प्रवृत्ति । ननु शब्दश्रुतस्यासकृत्पठन श्रुतभावना स्यात्, ज्ञान ततोऽर्थान्तर ? अत्रोच्यते—श्रुतकार्ये ज्ञाने श्रुतशब्दो वर्तते इति । न दोषो वा । गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तावपि नाश्वादौ गोशब्दो वर्तते । किन्तु रूढिवशात्सास्नादिमत्येव । एवमिहापि श्रूयते इति व्युत्पादितोऽपि न सकले श्रोत्रोपलम्ये वचनसन्दर्भे प्रवर्तते, अपि तु स्वसमयरूढिवशाद् गणधरोपरचिते एव । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्ते ज्ञाने एव वर्तते । तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । **'णाणं दसणतवसजमं च परिणमइ'** समीचीनज्ञानदर्शनतप सयमपरिणति

गा०—जिसने पूर्व कालमे तप नही किया और विषय सुखमे आसक्त रहा वह जीव मरते समय समाधिकी कामना करता हुआ उस प्रकार परीषहको सहन करनेवाला नही होता ॥१९३॥

गा०—जैसे योग्य शिक्षाको प्राप्त अश्व चिरकाल तक दु खसे भावित हुआ, अर्थात् कष्ट सहनेका अभ्यासी युद्धभूमिमे सवारीमे ले जाने पर कार्य करता है ॥१९४॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमे तप करनेवाला विषय सुखसे विमुख जीव मरते समय समाधिका इच्छुक हुआ निश्चयसे परीषहको सहनेवाला होता है ॥१९५॥

श्रुतभावनाका माहात्म्य प्रकट करते है—

गा०—श्रुतभावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और सयमरूप परिणमन करता है। ज्ञान भावनासे उपयोगकी प्रतिज्ञाको सुखपूर्वक अचलित होता हुआ समाप्त करता है ॥१९६॥

टी०—'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है 'ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर श्रुतसे शब्दश्रुत कहा जाता है। उसकी भावनाका मतलब है—शब्दके अर्थविषयक ज्ञानमे बार-बार प्रवृत्ति करना अर्थात् उसका अभ्यास करना श्रुतभावना है।

शंका—शब्दरूप श्रुतका बार-बार पढना श्रुतभावना है। ज्ञान उससे भिन्न है ?

समाधान—श्रुतका कार्य ज्ञान है अत. उसे भी श्रुतशब्दसे कहते हैं। इसमे कोई दोष नही है। जो 'गच्छति' चलती है वह गौ है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी अश्व आदिको 'गौ' शब्दसे नही कहा जाता। किन्तु रूढिवश गलकम्बलवाले पशुको ही गौ कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी 'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी कानसे जो कुछ वचन समूह सुना जाता है उस सबको श्रुत नही कहते। किन्तु अपनी आगमिक रूढिवश गणधरके द्वारा रचे गये शब्दसमूहको ही श्रुत कहते है। उसी प्रकार श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानको ही श्रुत कहते है। उस श्रुतज्ञानकी भावनासे समीचीनज्ञान दर्शन तप और

प्रतिपद्यते । ज्ञानभावनापरो ज्ञानपरिणतो भवतु कथमसौ दर्शनादौ परिणामान्तरे प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोधपरिणतो मायाया प्रवृत्तो भवतीति चेन्नैष दोष । यद्यान्तरीयक तस्मिन्सति तद्भवत्येव तदधिकरणे यथा कृतकत्वेऽनित्यत्वं । ज्ञान चान्तरेण न भवन्ति सम्यग्दर्शनादय । अत्रेद चोद्य—असयतसम्यग्दृष्टेरस्ति ज्ञान तस्य तप सयमौ किमुत स्त ? सयमसद्भावे कथमसयतता ? तस्मान्न तौ स्त । कथमिद सूत्र ? नायमस्य सूत्रस्यार्थो ज्ञानभावनाया मत्या भवत्येव सर्व एव इति, किन्तु ज्ञानभावनाया सत्यामेव भवन्ति नासत्याम् । तप - सयमौ कार्यत्वेन स्थितौ चारित्रमोहक्षयोपशमविशेषसहायापेक्षिणा ज्ञानेन प्रवर्त्येते, न चावश्य कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति । धूममजनयतोऽप्यग्नेर्दर्शनात् काष्ठाद्यपेक्षस्य । 'तो' तत ज्ञानभावनात । 'उवओगपविण्णं' ज्ञानदर्शनतप सयमपरिणामप्रबन्धे प्रवर्तयाम्यात्मान इति या उपयोगप्रतिज्ञा ता । 'सुह' अक्लेशेन । 'समाणेदि' समापयति । 'अच्चविदो' अचलित ॥१९६॥

जदणाए जोग्गपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स ।
सदिलोवं कादुं जे ण चयंति परीसहा ताहे ॥१९७॥

'जदणाए' यत्नेन । 'जोग्गपरिभाविदस्स' युज्यते अनन अनशनादिना निर्जरार्थं यतिरिति बाह्य तप

सयमरूप परिणतिको प्राप्त होता है।

शका—जो ज्ञानभावनामे लीन है वह ज्ञानरूप परिणत होता है किन्तु वह दर्शन आदि अन्य परिणामरूप परिणत कैसे हो सकता है ? जो क्रोध रूपसे परिणत है वह मायारूपसे परिणत नही हो सकता ?

समाधान—यह दोष उचित नही है। जो जिसके बिना नही होता वह उसके होनेपर अवश्य होता है। जैसे जो बनाया हुआ है वह अनित्य अवश्य है। ज्ञानके बिना सम्यग्दर्शन आदि नही होते।

शका—यहाँ यह तर्क होता है कि असयत सम्यग्दृष्टीके ज्ञान है तब क्या उसके तप और सयम है ? यदि सयम है तो वह असयत कैसे है ? अत उसके तप और सयम नही है ? तब यह सूत्रगाथा कैसे ठीक है ?

समाधान—इस सूत्रगाथाका यह अर्थ नही है कि ज्ञानभावनाके होनेपर सब तप सयम आदि होते ही है। किन्तु ज्ञानभावनाके होनेपर ही होते है, उसके अभावमे नही होते। तप और सयम कार्य है अत चारित्रमोहके क्षयोपशम विशेषकी अपेक्षा सहित ज्ञानके होनेपर होते हैं। कारणके होनेपर कार्य अवश्य होता ही है ऐसा नियम नही है। काष्ठ आदिकी आग बिना धूमके भी देखी जाती है।

ज्ञानभावनासे उपयोग प्रतिज्ञाको बिना क्लेशके अचल होकर समाप्त करता है—पूर्ण करता है। 'मै ज्ञान दर्शन तप सयमरूप परिणामोमें अपनेको प्रवृत्त करता हू' यह उपयोग प्रतिज्ञा है ॥१९६॥

गा०—तब यत्नसे अपनेको तपसे भावित करनेवालेके तथा जिनागमके अनुगत चित्तवाले-के स्मृतिका लोप करनेमे परीषह समर्थ नही होती ॥१९७॥

टी०—यति निर्जराके लिए इस अनशन आदिसे 'युज्यते' युक्त होता है वह योग है। इस

योगशब्देनात्रोच्यते। तेनायमर्थः। तपसा भावितस्येति। '**जिणवयणमणुगदमणस्स**' जिनवचनानुगतचेतस.। '**सदिलोवं**' स्मृतिलोप। रत्नत्रयपरिणामप्रबन्धसम्पादनोद्योगस्य स्मृतिर्या तस्या विनाश। '**काउंजे**' कर्तुं। '**न चयंति** न शक्नुवन्ति। के ? **परिस्सहा**' क्षुदादिवेदना। '**ताहे**' तदा। एतदुक्तमनया गाथया—अभ्यस्यमान श्रुतज्ञान निर्मल पटीयो भवति। पाटवाम्यासबलेन च स्मृतिरखेदेन प्रवर्तते। स्मृतिमूलो हि योगो वाक्काय-व्यापार इति। **सुद गदं** ॥१९७॥

सत्त्वभावनाया गुणं स्तौति उत्तरगाथया—

देवेहिं भीसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥१९८॥
बहुसो वि जुद्धभावणाय ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि उवसग्गे ॥१९९॥

'**देवेहिं**' देवैस्त्रासितोऽपि। खु स्फुट। कृतापराधोऽपि भीमरूपै। **वा** अथवा। **तो** तत.। सत्त्वभावनया मोढ़ु खात्। '**वहइ भर णिब्भओ सयल**' वहति भर सयमस्य निर्भय सकल। मृतेर्भीमरूपदर्शनाच्च भीतिरुपजायते। भीतस्य प्रच्युतरत्नत्रयस्य तदतिदुरवाप। तदनवाप्त्या न कर्म निर्मूलन शक्यं कर्तुं। अना-

व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ योग शब्दसे बाह्य तप कहा है। अत 'जोगपरिभाविदस्स' का अर्थ तपसे भावित होता है। जो यत्नपूर्वक तप करता है और अपने चित्तको जिनागमका अनुसारी बनाता है उसकी स्मृतिका—अर्थात् रत्नत्रयरूप परिणामोंके प्रवन्ध सम्पादनमें उद्योग करनेकी जो उसकी स्मृति है कि मुझे रत्नत्रयरूप परिणामोको सम्पन्न करनेमे उद्योग करना है उस स्मृतिका लोप परीषह नही कर सकती। इस गाथासे यह कहा है कि सतत अभ्यास करनेसे श्रुतज्ञान निर्मल और प्रबल होता है। प्रबल अभ्यासके बलसे स्मृति विना खेदके अपना काम करती है। योग अर्थात् वचन और कायके व्यापारका मूल स्मृति है ॥१९७॥

श्रुतभावनाका कथन समाप्त हुआ।

आगेकी गाथासे सत्त्वभावनाके गुणका कथन करते है—

गा०—देवोके द्वारा पीडित किया गया भी अथवा भयकर जीवोंके द्वारा सताया गया यति सत्त्वभावनाके द्वारा दुःख सहन करनेसे निडर होकर सयमके समस्त भारको वहन करता है ॥१९८॥

टी०—मरणसे और भयकररूपके देखनेसे भय उत्पन्न होता है। डरकर यदि रत्नत्रयको छोड बैठा तो पुन उसकी प्राप्ति बहुत कठिन है। और रत्नत्रयको प्राप्त किये विना कर्मका निर्मूलन करना शक्य नही है। तथा कर्मोका विनाश न होनेपर वे आत्माको नाना प्रकारके कष्ट देते है। इसलिए भय ही अनेक अनर्थोका मूल है ऐसा निश्चय करके सबसे पहले भयको ही भगाना चाहिए ॥१९८॥

गा०—अनेक प्रकारकी भी युद्ध सम्बन्धी भावनासे जैसे योद्धा युद्धमे नहीं ही मोहित होता अर्थात् युद्धसे नही डरता। वैसे ही मुनि भी सत्त्वभावनासे उपसर्ग आनेपर मोहित नही होता ॥१९९॥

सादितप्रलयानि च कर्माणि विचित्रं यातयन्त्यात्मानं । ततो भीतिरेवानेकानर्थमूलमिति निश्चित्य सा प्रागेव निरसनीया । तथाहि—॥१९९॥

खणणुत्तावणवालणवीयणविच्छेयणावरोहत्तं ।
चिंतिय दुह अदीहं मुज्झदि णो सत्तभाविदो दुक्खे ॥२००॥
बालमरणाणि साहू सुचिंतिदूणप्पणो अणंताणि ।
मरणे समुट्ठिए विहि मुज्झइ णो सत्तभावणाणिरदो ॥२०१॥

पृथिवीकायिका सन् खननदहनविलेखनकुट्टनभञ्जनलोठनपेषणचूर्णनादिभिर्बाधां परिप्राप्तोऽस्मि । अपश्च शरीरत्वेनोपादाय घर्मरश्मिकरनिकरापातेन, दहनज्वालाकलापकवलिततनुतया पर्वतदरीसमुन्नतदेशेभ्योऽतिवेगेन शिलाघनवसुन्धरासु पतनेन, आम्ललवणक्षारादिरससमवेतद्रव्यसन्मिश्रणेन, धगधगायमानेऽग्नौ प्रक्षेपणेन, तरुतटशिलापातेन पादकरतलाभिघातेन, तरणोद्यताना विशालघनोरःस्थलावपीडनेन, अवलोकमानमहानागतरणमज्जनहस्तक्षोभणादिना च महती वेदना अधिगतोऽस्मि ।

तथा समीरणं तनुतया परिगृह्य द्रुमगुल्मशिलोच्चयादीनां प्राणभृतां नितान्तकठिनकायानां चाभिघातेन समीरणान्तरावमर्द्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दुःखासिकामनुभूतोऽस्मि ।

तथा परिगृहीताग्निशरीरो विध्यापनेन पांसुभस्मसिकतादिप्रक्षेपणेन, मुशलमात्रजलधारापातेन, दण्डकाष्ठादिभिस्ताडनेन, लोष्ठपाषाणादिभिश्चूर्णनेन प्रभञ्जनभञ्जनेन विपदमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलाशपल्लवकुसुमादिकायं स्वीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दनपेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिक

गा०—खोदना, जलना, बहना छेदना, रोपनाको विचारकर सत्त्वभावनायुक्त मुनि दुःखमे अल्पकालीन दुःखसे मोहित नही होता अर्थात् नही डरता ॥२००॥

गा०—सत्त्वभावनामे लीन साधु अपने अनन्त बालमरणोको सम्यकरूपसे विचारकर मरणके उपस्थित होनेपर भी मोहित नही होता ॥२०१॥

टी०—पृथ्वीकायमे जन्म लेकर मैने खोदने, जलने, जोतने, कूटने, तोडने, लोटने, पीसने और चूर्णकी तरह पीसे जानेका कष्ट उठाया है। जलको शरीररूपसे ग्रहण करके मैने सूर्यकी किरणोके समूहके गिरनेसे, आगकी ज्वालाके समूहके द्वारा मेरे शरीरको निगल लेनेसे, पर्वतकी गुफा जैसे ऊँचे स्थानोसे शिला और कठोर पृथिवी पर अतिवेगसे गिरनेसे, खट्टे, नमकीन, खारे आदि रसोसे युक्त द्रव्योके मिलनेसे, धक्-धक् जलती हुई आग पर फेकनेसे, वृक्ष, किनारे और शिलाओके गिरनेसे, पैर और हथेलीके अभिघातसे, तैरनेमे उद्यत मनुष्योके विशाल और दृढ छातीसे पीडित होनेसे, विशालकाय हाथियोके तैरने डूबने और सूडके द्वारा क्षोभित होनेसे मैने बडी वेदना भोगी है। तथा वायुको शरीररूपसे ग्रहण करके वृक्ष, झाडी, पर्वत आदि प्राणियोकी अत्यन्त कठोर कायाके अभिघातसे, दूसरी वायुके द्वारा दबाये जानेसे, और आगके स्पर्शनसे मैने दुखोंका अनुभव किया है। तथा अग्निको शरीररूपसे ग्रहण करके बुझानेसे, धूल भस्म रेत आदि मेरे ऊपर फेकनेसे, मूसल जैसी जलधारा डालनेसे, दण्ड काष्ठ आदिसे पीटनेसे, लोष्ठ पत्थर आदि से चूर्णित करनेसे और वायुसे पीडित होनेसे मै विपत्तियोका स्थान बन चुका हूँ। फल, पलाश, पत्र, फूल आदिके शरीरको स्वीकार करके तोड़ना, खाना, मलना, पीसना और जलाने आदिसे

तनूकृत्य छेदनेन, भेदनेनोत्पाटनेन, रोहणेन, कर्षणेन, दहनेन च क्लेशभाजनतामुपयातोऽस्मि ।

तथा कुन्थुपिपीलिकादित्रसो भूत्वा वेगप्रयायिरथचक्राक्रमणेन, खरतुरगादिपरुषखुरसन्ताडनेन, जलप्रवाहप्रकर्षणेन, दावानलेन, द्रुमपाषाणादिपतनेन, मनुजचरणावमर्दनेन, बलवता भक्षणेन च चिरं क्लिष्टोऽस्मि ।

तथा खरकरभबलीवर्दादिभावमापद्य गुरुतरभारारोपणेन, बन्धनेन, कर्कशनरकशादण्डमुशलादिताडनेनाहारनिरोधनेन, शीतोष्णवातादिसपातेन, कर्णच्छेदनेन, दहनेन, नासिकावेधनेन, विदारणेन, परश्वादिनिशितासिधाराप्रहारेण चिरमुपद्रुतोऽस्मि । तथा भग्नपाद, कृशतया व्याध्यभिभवेन वा पतित इतस्तत परावर्त्यमान, क्रूरतमव्याघ्रशृगालसारमेयादिभिर्भक्ष्यमाण, काकगृध्रकङ्कादिभि कवलीक्रियमाण, तरलतरतारकाक्षियुगलं, कस्त्रातुमासीत् । ततो यतो गुरुतरभारोद्वहनजातक्वथितव्रणसमुद्भवक्रमिकुलेन, काकादिभिश्चानारतमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजभवेऽपि करणवैकल्याद्दारिद्र्याद्साध्यव्याध्युपनिपातात्, प्रियालाभादप्रियसंयोगात्परप्रेष्यकरणादपरपराभवात्, द्रविणार्जनाशया दुष्करकर्मादानमूलषट्कर्मोद्योगाच्च, विचित्रा विपदमुगतोऽस्मि ।

तथैवामरभवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभो प्रस्थानवेला वर्तते, प्रयाणपटह ताडय, ध्वज धारय, हुताशदेवीजन पालय, तिष्ठ स्वामिनोऽभिलषितेन वाहनरूपेण, कि विस्मृतोऽस्य[1]नल्पपुण्यपण्यशतमखस्य दासेरता यत्तूष्णी तिष्ठसि । पुरो न धावसीति देवमहत्तरपरुषतरभारतीशलाकाना श्रवणतोदनेन शतमुखान्त-

तथा झाडी, बेल, वृक्ष आदिको छेदने, भेदने, उखाडने, खीचने और जलानेसे मै क्लेशका पात्र बना हूँ ।

तथा कुथु चीटी आदि त्रस पर्यायको धारण करके वेगसे जाते हुए रथके पहियेके आक्रमणसे, गधे घोडे आदिके कठोर खुरके आघातसे, जलके प्रवाहके खिचावसे, जगलकी आगसे, वृक्ष, पत्थर आदिके गिरनेसे, मनुष्यके चरणोसे रौंदे जानेसे और बलवानोके द्वारा खाये जानेसे मैने चिरकाल तक कष्ट भोगा है । तथा गधा ऊँट बैल आदिका शरीर धारण करके भारी बोझा लादनेसे, सवारी करनेसे, बाँधनेसे, अत्यन्त कठोर कोडे, दण्डे, और मूसल आदिसे पीटनेसे, भोजन न देनेसे, शीत उष्ण वायु आदिके चलनेसे, कान छेदनेसे, जलानेसे, नाक छेदनेसे, परशु आदिसे काटनेसे, तीक्ष्ण तलवारकी धारके प्रहारसे मैने चिरकाल उपद्रव सहे है । तथा पैर टूट जाने पर, कमजोर होनेसे अथवा रोगसे पीडित होनेसे गिर पडने पर, इधर-उधर घूमने पर अतिक्रूर व्याघ्र, सियार, कुत्ते आदिसे खाये जाने पर, कौवे, गिद्ध, कक आदि पक्षियोके द्वारा अपना आहार बनाये जाने पर, आखोसे आँसू बहाते हुए भी कौन मेरी रक्षा करता था। अत भारी बोझा लादनेसे उत्पन्न हुए घावो मे पदा हुए कीटोसे और उनको खाने वाले कौओसे मैं निरन्तर सताया गया हूँ । तथा मनुष्यभवमे भी इन्द्रियोकी कमी होनेसे, गरीबीसे, असाध्य रोगके होनेसे, इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, अप्रियके संसर्गसे दूसरेकी चाकरी करनेसे, दूसरेके द्वारा तिरस्कृत होनेसे, धन कमानेकी इच्छासे दुष्कर कर्मबन्धके कारण षट्कर्मोंको करनेसे अनेक प्रकारकी विपत्तियोको मैंने भोगा है। उसी प्रकार देवपर्यायमे भी—दूर हटो, जल्दी चलो, स्वामीके प्रस्थान करनेका समय है । प्रस्थान करनेके नगारे बजाओ, ध्वजा लो, निराश देवियोंको देखभाल करो, स्वामीको इष्ट वाहनका रूप धारण करके खडे रहो, क्या अति पुण्यशाली इन्द्रकी दासताको भूल गये जो चुपचाप खडे हो, आगे नही दौडते । इस

१. स्वल्प–अ० आ० ।

पुरादभ्रविभ्रमविलोकनोद्भूताभिलाषदहनजनितमन्तापेन षण्मासावस्थितेरायुष परिज्ञानेन च महदुदपादि दुःखं। एवं नरकभवेपि। इत्थमनन्तकालमनुभूतदु:खस्य मम को विषादो, दु:खोपनिपाते। न च विषण्णं त्यजन्ति दु:खानि, स्वकारणायत्तसन्निधानानि तानीति सत्वभावना। यद्यशुभशरीरदर्शनाद् भीति सापि नो युक्ता। तानि शरीराणि असकृन्मया गृहीतानि दृष्टानि च। का तत्र परिचितेभ्यो भीतिरिति चित्तस्थिरीक्रिया सत्वभावना ॥२०१॥

एयत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा।
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥२०२॥

एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणावृत्तिजनितदु:खानुभवने न दु:ख मदीय संविभजति कश्चित्। दु:खसंविभजनगुणेन स्वजन इत्यनुराग तदकरणेन च परजन इति च द्वेषो युज्यते। न चेदस्ति सुख मय्याधातुमक्षम इति न तत्सुखेनापि स्वजनपरजनविवेक। तस्मादेक एवाह न मे कश्चित्। नाप्यह कस्यचिदिति चिन्ता कार्या। तस्या गुणमाचष्टे **'एयत्तभावणाए'** एकत्वभावनया हेतुभूतया। **'न सज्जदि'** नासक्ति करोति। क्व? कामभोगे, गणे शिष्यादिवर्गे, शरीरे वा सुखे वा। कामं स्वेच्छया भुज्यन्ते इति कामभोगा। सुखसाधनतया सकल्पितभक्तपानादयो वामलोचनादिवर्गश्च तत्र न सगं करोति। **बाह्यद्रव्यसंसर्ग-**

प्रकार देवोके प्रधानोके अति कठोर वचन रूपी कीलोसे कानोके छेदनेसे, इन्द्रके अन्तपुरकी देवांगनाओके प्रचुर विलासको देखकर उत्पन्न हुई ऐसी सुन्दर देवागनाओकी अभिलाषारूपी आगसे उत्पन्न हुए सतापसे, और आयुके छह मासके शेष रहनेके परिज्ञानसे महान दुःख होता है। इसी प्रकार नरक पर्यायमे भी जानना। इस प्रकार मैने अनन्तकाल दुःखका अनुभव किया है। तब दु:ख आने पर विषाद क्यो? विषाद करनेसे दु.ख छोडता नही है। दु.ख तो अपने कारणोके होनेसे होता है। यह सत्त्वभावना है। यदि अशुभ शरीरके देखनेसे भय होता है तो वह भी ठीक नही है। ऐसे शरीर मैने बहुत बार धारण किये है और देखे है। परिचितोमे भय कैसा? इस प्रकार चित्तको स्थिर करना सत्त्वभावना है ॥२०१॥

गा०—एकत्व भावनासे कामभोगमे, सघमे अथवा शरीरमे आसक्ति नही करता। वैराग्यमे मन रमाये हुए सर्वोत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है ॥२०२॥

टी०—एकत्व भावनाका स्वरूप इस प्रकार है—जन्म, जरा, और मरणके बार-बार होनेसे उत्पन्न हुए दुःखको भोगनेमे कोई मेरे दु:खमे भाग नही लेता। अत. दु:खमे भाग लेनेसे यह स्वजन है इसलिए उसमे अनुराग और जो दु:खमे भाग नही लेता वह परजन है इसलिए उससे द्वेष करना उचित नही है। यदि कोई दु:खमे भाग नही लेता तो मुझमे सुख ही पैदा करदे सो भी बात नही है। अत जो मुझमे सुख पैदा करे वह स्वजन है और जो सुख पैदा नही करता वह परजन है ऐसा भेद सुखको लेकर भी नही होता। अत मै अकेला ही हूँ। कोई मेरा नही है। और न मै ही किसीका हूँ ऐसा विचार करना चाहिए। उसका लाभ कहते हैं कि एकत्व भावनासे काम भोगमें, शिष्यादिके समूहरूप गणमे, शरीर अथवा सुखमे आसक्ति नही होती।

'काम' अर्थात् अपनी इच्छासे जो भोगे जाते है वे कामभोग है। सुखका साधन होनेसे मनमें संकल्पित खान-पान आदि और स्त्री आदि वर्ग कामभोग है। उसमे वह आसक्ति नही

जनिता प्रीतिविशेषा सुखशब्दवाच्यास्ते तृष्णामेवातिशयवती आनयति चेतोव्याकुलकारिणी, न चेत स्वास्थ्य सपादयितुमीशा इति । न तु उपयोग्या कामभोगा , रत्नत्रयसपत्तिरेव जनस्योपयोगिनी, न तया भोगसपदास्माकं किञ्चिदस्ति कृत्य । मदीयपरिणामावलम्बिनौ हि बन्धमोक्षौ मम । तत किं तेन गणेन । शरीरमप्यकिञ्चित्कर । न चेत्कर्माणि किञ्चित्कुर्यु: । बाह्य जीवाजीवात्मक द्रव्य रागकोपनिमित्त, इदमुपकारकमनुपकारकमिति वा सकल्प्यमान नान्यथा । तत सकल्पमीदृग्भूत विहाय शुद्धात्मस्वरूपज्ञानपरिणामप्रबन्ध असहायात्मस्वरूपविषय इति एकत्वभावनोच्यते । सत्यामस्या न क्वचित्सङ्ग [1] तत 'वेरग्गपदो' वैराग्यमुपगत । 'फासेइ' स्पृशति । 'अणुत्तरं धम्मं' अतिशयित चारित्रं । एतेन ससारबीजस्य सङ्गस्य निवृत्तिरशेषकर्मापायहेतोश्चारित्रस्य च लाभो गुण एकत्वभावनाजन्य इत्याख्यात भवति । एकत्वभावना मोहमज्ञानरूप अप्यपनयति यथा जिनकल्पिको निरस्तमोह मवृत्त ॥२०२॥

भयणीए विघम्मिज्जंतीए एयत्तभावणाए जहा ।
जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तधेव ॥२०३॥

यथा जिनकल्पिको जिनकल्पक प्रपन्नो नागदत्तो नाम मुनिर्भगिन्यामयाग्य कारयन्त्यामपि एकत्वभावनया । '**ण मूढो**' मोह न गत । तथैव क्षपकोऽपि न मुह्यतीति गाथार्थ । एकत्वभावना ॥२०३॥

पञ्चमी धृतिबलभावना दु खोपनिपात अकातरता धृति सैव बल धृतिबल तस्य भावनाभ्यास असकृदकातरतया वृत्तिः । तया धृतिबलभावनया दु खदपरीषहचम्वा युध्यतीति निगदति—

करता । बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए प्रीति विशेषको सुख शब्दसे कहते है । वे चित्तको व्याकुल करने वाली अति तृष्णाको ही पैदा करते हैं । वे चित्तको स्वस्थ करनेमे समर्थ नही है । कामभोग भोगने योग्य नही हैं । रत्नत्रयरूप सपत्ति ही मनुष्यके लिए उपयोगी है । उस भोगसम्पदासे हमें कुछ नही करना है । मेरे परिणामो पर अवलम्बित बन्ध और मोक्ष ही मेरे है । अत गणसे मुझे क्या ? शरीर भी अकिञ्चित्कर है । यदि ऐसा न होता तो कर्म क्या करते । बाह्य जीव अजीव आदि द्रव्योमे यह उपकारक है और यह उपकारक नही है ऐसा सकल्प करनेसे ही रागद्वेष होते है, और सकल्प न करनेसे नही होते । इसलिए इस प्रकारका सकल्प त्यागकर शुद्ध आत्म स्वरूपके ज्ञानरूप परिणामोंका प्रबन्ध और परकी सहायतासे रहित आत्म स्वरूपका चिन्तन एकत्व भावना कहाता है । उसके होने पर किसी भी पदार्थमे ममत्व नही होता । अत वैराग्य धारण करके उत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है । इसस यह कहा है कि ससारका बीज जो ममत्वभाव है उससे निवृत्ति और समस्त कर्मोंके विनाशका कारण जो चारित्र है उसकी प्राप्ति एकत्व भावनासे होने वाले गुण हैं । एकत्व भावना अज्ञानरूप मोहको भी दूर करती है । जैसे जिनकल्पी मोहको दूर करते है ॥२०२॥

गा०—जैसे अयोग्य आचरण करनेवाली अपनी बहनमे जिनकल्पको धारण करनेवाला नागदत्त नामक मुनि एकत्व भावनासे मोहको प्राप्त नही हुआ । वैसे ही क्षपक भी मोहको प्राप्त नही होता ॥२०३॥

एकत्व भावना समाप्त हुई । पाँचवी धृतिबल भावना है । उसका अर्थ है दु.ख आनेपर कातर नही होना । धृति अर्थात् धैर्य ही हुआ बल । उसकी भावना अर्थात् अभ्यास, निरन्तर कात-

१ सग करोति वे–आ० मु० ।

कसिणा परीसहचमू अब्भुट्ठेइ जइ वि सोवसग्गावि ।
दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥२०४॥

'**कसिणा**' कृत्स्ना । '**परीसहचमू**' परीषहसेना क्षुदादिद्वाविंशतिदुःखपृतनेति यावत् । '**अब्भुट्ठेइ**' आभिमुख्येनोत्तिष्ठति । '**जइवि**' यद्यपि '**सोवसग्गा वि**' चतुर्विधेनोपसर्गेण सह वर्तमानापि । '**दुद्धरपहकरवेगा**' दुर्धरसकटवेगा । '**अप्पसत्ताणं भयजणणी**' अल्पसत्वाना भयजननी ॥२०४॥

धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्चाई ।
धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होई ॥२०५॥

'**तं**' ता पृतना । '**जोधेइ**' योधयति । कया सह ? '**धिदिभावणाए**' धृतिभावनया । क ? '**धिदिधणिदबद्धकच्छो**' धृत्या नितरा बद्धकक्ष । '**सूरो**' शूर । '**अणाइलो**' अनाकुलो विक्रमवान् । फलमाचष्टे तस्य '**संपुण्णमणोरहो होइ**' सपूर्णमनोरथो भवति ॥२०५॥

एयाए भावणाए चिरकालं हि विहरेज्ज सुद्धाए ।
काऊण अत्तसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥२०६॥

'**एयाए भावणाए**' एतया पञ्चप्रकारया भावनया सह । '**चिरकालं विहरेज्ज**' चिर प्रवर्तेत । '**सुद्धाए**' शुद्धया । '**काऊण**' कृत्वा । '**अत्तसोधिं**' आत्मशुद्धि । '**दंसणणाणे चरित्ते य**' रत्नत्रये निरतिचारो भूत्वा ॥२०६॥

व्यावर्णितभावनानन्तरा सल्लेखनेत्यधिकारसबन्धमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खू सल्लेहणं उवक्कमइ ।
णाणाविहेण तवसा बज्झेणब्भंतरेण तहा ॥२०७॥

एवं भावेमाणो '**एवं**' उक्तेन प्रकारेण '**भावेमाणो** भावनापर । '**भिक्खू सल्लेहणं**' सल्लेखना तनूकरण । '**उवक्कमइ**' प्रारभते । केन ? '**णाणाविहेण**' नानाप्रकारेण । '**तवसा**' तपसा '**बज्झेणब्भतरेण तहा**'

रता रहित वृत्ति । उस धृति बल भावनासे दु खदायी परीषहकी सेनासे मुनि युद्ध करता है, यह कहते हैं—

गा०—दु खदायी संकटके वेग सहित, अल्प शक्तिवालोको भय पैदा करनेवाली भूख आदि बाईस परीषहोंकी समस्त सेना जिसके साथमे चार प्रकारके उपसर्ग भी हैं, यदि सन्मुख खड़ी हो ॥२०४॥

गा०—धैर्यके साथ दृढतापूर्वक कमरको बाँधनेवाला शूर विना किसी घबराहटके धृति भावनासे उस सेनासे अत्यन्त युद्ध करता है । फलस्वरूप उसका मनोरथ सम्पूर्ण होता है ॥२०५॥

गा०—इस शुद्ध पाँच प्रकारकी भावनासे आत्माकी शुद्धि करके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयमे चिरकालतक विहार करना चाहिए ॥ २०६॥

भावनाओका वर्णन करनेके अनन्तर सल्लेखना अधिकारके साथ उनका सम्बन्ध कहते है—

गा०—उक्त प्रकारसे भावना भानेवाला भिक्षु नाना प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर तपसे सल्लेखनाको प्रारम्भ करता है ॥२०७॥

बाह्याभ्यन्तरेण च ॥२०७॥

भेदमकृत्वा व्यावर्णयितुं अशक्या सल्लेखनेति भेदमाचष्टे—

सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥२०८॥

'सल्लेहणा य दुविहा' सल्लेखना च द्विप्रकारा । **'अब्भंतरिया य बाहिरा चेव'** अभ्यन्तरा बाह्या चेति । **'अब्भंतरा कसायेसु'** अभ्यन्तरा सल्लेखना क्रोधादिकषायविषया । **'बाहिरा होदि हु सरीरे'** बाह्या भवति सल्लेखना शरीरविषया ॥२०८॥

बाह्यसल्लेखनोपायनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः—

सव्वे रसे पणीदे णिज्जूहित्ता दु पत्तलुक्खेण ।
अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ॥२०९॥

'सव्वे रसे' सर्वान्रसान् । प्रकर्षं नीता प्रणीता तान् अतिशयवत्[1] इत्यर्थः सुसंस्कृतान् बलवर्द्धनानित्यर्थः । **'णिज्जूहित्ता'** त्यक्त्वा । **'अण्णदरेणुवधाणेण'** अन्यतरेणावग्रहेण । **'अप्पगं'** आत्मानं शरीरं । **'कमसो'** क्रमशः । **'सल्लिहदि'** तनूकरोति ॥२०९॥

बाह्यं तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वुत्तिपरिसंखा ।
कायकिलेसो सेज्जा य विवित्ता बाहिरतवो सो ॥२१०॥

'अणसणं' अनशनं । **'उवमोदरियं'** अवमोदर्यं । **'चागो य रसाणं'** त्यागो रसानां । **'वुत्तिपरिसंखा'** वृत्तिपरिसंख्यानं । **'कायकिलेसो'** कायक्लेशः । **'सेज्जा विवित्ता'** विविक्तशय्या । **'बाहिरतवो सो'** बाह्यं तपस्तत् ॥२१०॥

तत्र अनशनतपोभेदनिरूपणार्था गाथा—

अद्धाणसण सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ।
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥२११॥

भेद किये विना सल्लेखनाका वर्णन करना अशक्य है इसलिए पहले उसके भेद कहते है—

गा०—सल्लेखनाके दो भेद है अभ्यन्तर और बाह्य । अभ्यन्तर सल्लेखना क्रोध आदि कषायकी होती है, बाह्य सल्लेखना शरीरके विषयमे होती है ॥२०८॥

बाह्य सल्लेखनाके उपाय बतलाते है—

गा०—बलको बढानेवाले सब रसोको त्यागकर प्राप्त हुए रूखे आहारसे कोई एक नियम विशेष लेकर अपने शरीरको क्रमसे कृश करता है ॥२०९॥

बाह्य तपको कहते हैं—

गा०—अनशन, अवमौदर्य, रसोंका त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शय्या ये बाह्य तप है ॥२१०॥

---

१. वत इत्यर्थ णिज्जू–आ० मु० ।

'**अद्धाणसणं**' अद्धाशब्द कालसामान्यवचनोऽप्यत्रेह चतुर्थादिषण्मासपर्यन्तो गृह्यते । तत्र यदनशन तदद्धानशन । '**सव्वाणसणं चेवि**' सर्वानिशन चेति । **दुविधमणसणं तु**' तु शब्दोऽवधारणार्थं द्विप्रकारमेवानशन । सर्वशब्द प्रकारकात्स्न्यें वर्तते । यथा सर्वमन्न भुक्ते । परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य य सर्वकाल तस्मिन्ननशन अशनत्याग सर्वानिशन । कदा तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह—'**विहरंतस्स य**' ग्रहणप्रतिसेवनकालयोर्वर्तमानस्य । '**अद्धाणसण**' अद्धानशन । इतर च इतरत् सर्वानशन । '**चरिमंते**' चरिमान्ते । परिणामकालस्यान्ते ॥२११॥

अद्धानशनविकल्प प्रतिपादयति—

होइ चउथं छट्ठट्ठमाइ छम्मासखवणपरियंतो ।
अद्धाणसणविभागो एसो इच्छाणुपुव्वीए ॥२१२॥

'**अद्धाणसणविभागो होइ**' इति पदघटना । अद्धानशनविभागो भवति । '**चउत्थं छट्ठट्ठमाइं छम्मासखमणपरियंतो**' चतुर्थषष्ठाष्टमादिषण्मासक्षपणपर्यन्त । '**इच्छाणुपुव्वीए**' आत्मेच्छा[1] क्रमेण ॥२१२॥

अवमोदर्य निरूपयितुकाम [2]आहारप्रमाण प्रायोवृत्त्या प्रवृत्त दर्शयति—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला ॥२१३॥

अनशन तपके भेद गाथा द्वारा कहते है—

गा०—अद्धानशन और सर्वानिशन इस प्रकार अनशन दो ही प्रकारका कहा है । ग्रहण और प्रतिसेवनाकालमे वर्तमानके अद्धानशन होता है और मरण समय मे सर्वानिशन होता है ॥२११॥

टी०—अन्यत्र अद्धाशब्द कालसामान्यका वाचक है । किन्तु यहाँ अद्धानशनमे अद्धाशब्द चतुर्थ आदिसे लेकर छहमास पर्यन्त जितने भेद अनशनके होते है उन सबके लिए ग्रहण किया है । उन उपवासोमे जो अनशन होता है वह अद्धानशन है । सर्वशब्द सब प्रकारोमे आता है । जैसे सब प्रकारका अन्न खाता हूँ । सन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् जबतक जीवन रहे उस सब कालमे जो भोजनका त्याग है वह सर्वानिशन है । इस तरह अनशन दो ही प्रकारका है । ये दोनो कब होते है इसके लिए कालका भेद किया है । ग्रहण कालमे अर्थात् दीक्षा ग्रहणसे लेकर सन्यास धारण करनेसे पूर्वके कालमे तथा प्रतिसेवना काल अर्थात् दोषोंकी विशुद्धिके लिए अद्धानशन होता है और परिणाम कालके अन्तमे अर्थात् मरण समयमे सर्वानिशन होता है ॥२११॥

गा०—चतुर्थ षष्ठ आदिसे छह मासके उपवास पर्यन्त यह अद्धानशनके भेद होते हैं । ये मुनिगण अपनी इच्छाके अनुसार करते है ॥२१२॥

अवमौदर्यका निरूपण करनेकी इच्छासे प्राय· प्रचलित आहारका परिमाण बतलाते हैं—

गा०—बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरुषके पेटको पूरा भरनेवाला होता है । स्त्रियोके कुक्षिपूरक आहारका परिमाण अट्ठाइस ग्रास होता है ॥२१३॥

---

१ आत्मेच्छाव्रतेन–आ० मु० । २ आहारप्रवृत्ति दर्शयति आ० । आहारपरिमाण प्रायो–मु० ।

'बत्तीसं किर कवला' पुरुषस्य कुक्षिपूरणो भवत्याहार । द्वात्रिंशत्कवलमात्र **'इत्थिआए'** स्त्रिया कुक्षिपूरणो भवत्याहार अष्टाविंशतिकवलजातानि । **'तत्तो'** तस्मादाहारात् ॥२१३॥

एगुत्तरसेढीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो ।
ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सिच्छं च ॥२१४॥

'एगुत्तरसेढीए' एककवलोत्तरश्रेण्या **'परिहीणो'** परिहीन । **'ऊमोदरियतवो'** अवमोदर्याख्य तप क्रिया यावदेककवलात्रशेषतया न्यून **'अद्धकवलं'** अर्धकवल यावदवशिष्ट । समप्रविभक्त कवलमर्धकवलशब्देनोच्यते । यावदेकसिक्थक वा अवशिष्ट । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिद अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । ननु चाहारो न्यून कथ तप इत्युच्यते इति केचित्कथयन्ति । आद्यूनतापरिहारस्य तपसो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते अवमोयरिय । तथा च निरुक्ति —अवम न्यून उदरमस्यावमोदर । अवमोदरस्य भाव कर्म च अवमौदर्यमिति ॥२१४॥

रसपरित्यागो निरूप्यते—

चत्तारि महावियडीओ होंति णवणीदमज्जमंसमहू ।
कखापसंगदप्पाऽसंजमकारीओ एदाओ ॥२१५॥

'चत्तारि महावियडीओ' चतस्रो महाविकृतय । महत्याश्चेतसो विकृते कारणत्वात् महाविकृतय इत्युच्यन्ते । **'होंति'** भवन्ति । **'णवणीदमज्जमंसमहू'** नवनीत, मद्य, मास, मधु च । कीदृश्यस्ता ? **'कङ्खा-**

गा०—पुरुष और स्त्रीके उक्त आहारमेसे एक दो आदि ग्रासकी हानिके क्रमसे जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमौदर्य तप है। जब तक अर्धग्रास ही अवशिष्ट रहे या एक सिक्थ शेष रहे तब तक भी अवमौदर्य तप है ॥२१४॥

टी०—एक ग्रासके बराबर दो भाग करने पर एक भागको अर्धकवल कहते है। एक चावल मात्र जो कहा है वह आहारकी अल्पताका उपलक्षण है। अन्यथा कोई मात्र एक चावलका भोजन करनेके लिए कैसे तत्पर हो सकता है।

शंका—थोडा आहार लेना तप कैसे है ? ऐसा कोई कहते है।

समाधान—पेट भर खानेका त्याग तपका हेतु होनेसे अवमौदर्यको तप कहा जाता है। अवमौदर्यकी निरुक्ति है—'अवम' अर्थात् न्यून (कमभरा) उदर है जिसका वह अवमोदर है और अवमोदरका भाव अथवा कर्म अवमौदर्य है ॥२१४॥

रस परित्याग तपका निरूपण करते है—

गा०—चार महाविकृतियाँ होती है, मक्खन, मद्य, मास और मधु। ये गृद्धि, प्रसग, दर्प, और असयमको करते हैं ॥२१५॥

टी०—चित्तमे महान विकार पैदा करनेसे इन्हे महाविकृति कहते है। नवनीत काक्षा अर्थात् गृद्धिको उत्पन्न करता है। मद्य प्रसग अर्थात् पुन: पुन अगम्या स्त्रीके साथ भोगविलास कराता है। मास इन्द्रियोमें मद पैदा करता है। मधु असयमको उत्पन्न करता है असंयमके दो भेद

पसंगदप्पासंजमकारीओ एवाओ' । काक्षा गाद्धर्य, प्रसंग पुन पुनस्तत्र वृत्ति', दर्प दृप्तेन्द्रियता, असंयम रसविषयानुरागात्मक' इन्द्रियासयम , रसजजन्तुपीडा प्राणासयम , एतान्दोषानिमा कुर्वन्ति ॥२१५॥

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ।
ताओ जावज्जीवं णिज्जूढाओ पुरा चेव ॥२१६॥

'आणाभिकंखिणा' । अत्रैवं पदघटना–**'ताओ'** ता महाविकृतय । **'जावज्जीवं'** जीवितावधिक । **'णिज्जूढाओ'** परित्यक्ता । **'पुरा चेव'** सल्लेखनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ता ? **'आणाभिकंखिणा'**–इदमित्थ त्वया कर्तव्यमिति कथन आज्ञा । सर्वविदा आज्ञप्ता भव्या परित्याज्या नवनीतादय । तदासेवा असयम कर्मबन्धहेतुरिति । अस्यामाज्ञायां काक्षावता आदरवता सर्वज्ञाज्ञाऽसपादनादेव दुरन्तससारमध्यपतन ममासीद्भविष्यति च तेन तदाज्ञादर कार्य इत्यभ्युद्यतेन । **'अवज्जभीरुणा'** अवद्य पाप तेन । अयमर्थ पापभीरुणा । **'तवसमाधिकामेण'** तपस्येकाग्रतामभिलषता । अतो नवनीतादित्यागोऽपि रसत्याग एव ॥२१६॥

इह सल्लेखनाकाले मर्मषा त्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

खीरदधिसप्पितेल्लगुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं ।
णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं ॥२१७॥

'खीरदधिसप्पितेल्लगुडाणं' क्षीरस्य, दध्न', घृतस्य, तैलस्य, गुडस्य, च **'णिज्जूहणं'** त्याग । कथं ? **'पत्तेगदो व'** प्रत्येक एकैकस्य वा त्याग । **'सव्वेसिं'** सर्वेषा वा क्षीरादीना त्यागः रसपरित्याग । **'ओगाहिम पणकुसण लोणमादीण'** अपूपाना, पत्रशाकाना, सूपस्य, लवणादीना वा त्यागो रसपरित्याग ॥२१७॥

है—इन्द्रिय असयम और प्राणि असयम । मधुके रसके विषयमे अनुरागकी आतुरत्ता रूप इन्द्रिय असयम होता है और मधुमे उत्पन्न जन्तुओका घात होनेसे प्राण असंयम होता है ॥२१५॥

गा०—सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रति आदरवान, पाप भीरु और तपमे एकाग्रताके अभिलाषीने वे महविकृतियाँ सल्लेखनाके समयसे पूर्व ही जीवन पर्यन्तके लिये (णिज्जूढाओ) त्याग दी है ॥२१६॥

टी०—यह काम इस प्रकार तुम्हे करना चाहिये, ऐसा कहना आज्ञा है । सर्वज्ञकी आज्ञासे भव्य जीवोंके लिये नवनीत आदि छोडने योग्य है । उनका सेवन असंयम है जो कर्मबन्धका कारण है । इस आज्ञाका पालन न करनेसे ही मेरा दुरन्त ससारके मध्यमे पतन हुआ और होगा । इसलिये उस आज्ञाका आदर करना चाहिये इस प्रकार जो उद्यत हुआ है और अवद्य अर्थात् पाप से जो डरता है तथा जो तपमे एकाग्रताका अभिलाषी है वह तो पहले ही जीवन पर्यन्तके लिये इन विकृतियोको त्याग चुका है । अत नवनीत आदिका त्याग भी रस त्याग ही है ॥२१६॥

अब इस सल्लेखनाके समय मैने इन नीचे कही वस्तुओका त्याग किया, यह कहते है—

गा०—दूध, दही, घी, तेल, गुड़का और घृत पूर, पुवे, पत्रशाक, सूप और लवण आदिका सबका अथवा एक-एकका त्याग रस परित्याग है । अर्थात् सल्लेखना कालमें दूध आदि सबका या उनमेसे यथायोग्य दो तीन चारका त्याग रस परित्याग है ॥२१७॥

अरसं च अण्णवेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ।
आयंबिलमायामोदणं च विगडोदणं चेव ॥२१८॥

'**अरसं**' च स्वादरहितं । '**अण्णवेलाकद च**' वेलान्तरकृत च शीतलमिति यावत् । '**सुद्धोदणं च**' शुद्धौदन च केनचिदप्यमिश्र । '**लुक्खं च**' रूक्ष च स्निग्धताप्रतिपक्षभूतेन स्पर्शेन विशिष्टमिति यावत् । '**आयबिलं**' असस्कृतसौवीरमिश्र । '**आयामोदणं**' अप्रचुरजल सिक्थाढ्यमिति केचिद्वदन्ति । अव[1]श्रावणसहितमित्यन्ये । '**विगडोदणं**' अतीव[2] पक्व । उष्णोदकसम्मिश्र इत्यपरे ॥२१८॥

इच्चेवमादि विविहो णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ ।
एस तवो [3]भजिदव्वो विसेसदो सल्लिहंतेण ॥२१९॥

'**इच्चेवमादिविविहो**' एवमादिविविधो नानाप्रकारो । '**णादव्वो हवइ रसपरिच्चाओ**' ज्ञातव्य सर्वेषा रसपरित्याग । '**एस तवो भजिदव्वो**' एतद्रसपरित्यागाख्य तप । '**भजिदव्वो**' सेव्य । '**विसेसदो**' विशेषेण । '**सल्लिहंतेण**' कायसल्लेखना कुर्वता । '**चाओ रसाणं**' ॥२१९॥

वृत्तिपरिसख्यानिरूपणाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं ।
सम्बूकावट्टंपि पदंगवीधी य गोयरिया ॥२२०॥

गा०—स्वाद रहित अन्य समयमे बनाया गया अर्थात् ठण्डा भोजन, और शुद्ध भात जिसमे कोई अन्य शाक वगैरह न मिला हो, और रूखा भोजन जिसमे घी आदि न हो, आचाम्ल अर्थात् काजी मिश्रित भात, थोडा जल और बहुत चावल वाला भात, और बहुत अधिकपका भात ॥२१८॥

टी०—आयामोदण' का अर्थ कोई तो थोडा जल और चावल बहुत ऐसा भान करते है । अन्य कुछ अवश्रावण सहित (?) कहते है । विगडोदणका अर्थ दूसरे व्याख्याकार गर्मजलसे मिश्रित भात करते है ॥२१८॥

गा०—इत्यादि अनेक प्रकारका रस परित्याग सबको जानने योग्य है । शरीर सल्लेखना करने वालेको यह रस परित्याग नामक तप विशेष रूपसे सेवन करना चाहिये ॥२१९॥

रस परित्याग तपका वर्णन समाप्त हुआ । आगे चार गाथाओसे वृत्तिपरि सख्यान तपका कथन करते हैं

टी०—'गत्तापच्चागद'—जिस मार्गसे पहले गया उसीसे लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही ग्रहण करूँगा । 'उज्जुवीहिं'—सीधे मार्गसे जानेपर मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही ग्रहण करूँगा । 'गोमूत्तिय' बैलके मूतने हुए जानेसे जैसा आकार बनता है मोडेदार, वैसे जाते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही ग्रहण करूँगा । 'पेल्लविय'—वस्त्र सुवर्ण आदि रखनेके लिए बास के पत्ते आदिसे जो सन्दूक बनता है, जिसपर ढकना भी हो, उसके समान चौकोर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही ।

'**संबूकावट्ट**'—शखके आवर्तोके समान गाँवके अन्दर आवर्ताकार भ्रमण करके बाहरकी

---

१ अवसावण आ मू । २ अतीवतीव्रपक्व आ. मु । ३ कायव्वो अ० आ० ।

'गत्तापच्चागदं'। यया वीथ्या गत पूर्वं तयैव प्रत्यागमन कुर्वन्यदि भिक्षा लभते गृह्णाति नान्यथा। **'उज्जुवीहिं'** ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा। गोमूत्रिकाकारं भ्रमण वा संपादयन्। **'पेलवियं'** वशदलादिभिर्निष्पादित वस्त्रसुवर्णादिनिक्षेपणार्थं पिधानसहित यत्तद्वच्चतुरस्राकार भ्रमण। **'संबूकावट्टं पि य'** शबूकावर्त इव। **'पदंगवीधी य'** पतगमाला पतगवीथीत्युच्यते। सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं। **'गोयरिया'** गोचर्या भिक्षाया भ्रमण। एवभूतेन भ्रमणेन लब्धा भिक्षा गृह्णामि नान्यथेति कृतसकल्प[1]ता वृत्तिपरिसख्यान ॥२२०॥

पाडयणियंसणभिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं।
पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥२२१॥

'पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं' इम एव पाटक प्रविश्य लब्धा भिक्षा गृह्णामि नान्य। एकमेव पाटक पाटकद्वयमेवेति। अस्य गृहस्य परिकरतया अवस्थिता भूमि प्रविशामि न गृहमि[2]त्यमभिग्रह णियसणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति। अपरे पाटस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति सकल्प पाडगणिगमणमित्युच्यते इति कथयन्ति। भिक्षापरिमाण एका भिक्षा द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति। **'दत्तिघासपरिमाणं'** एकेनैव दीयमान द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाण। आनीतायामपि भिक्षाया इयत एव ग्रासान्गृह्णामि इति वा परिमाण। **'पिंडेसणा'** पिण्डभूतमेवाशन गृह्णामि। **'पाणेसणाओ'** द्रवबहुलतया यत्पीयते अशन। **'जागूय'** यवागू। **'पोग्गलिया वा'** धान्यान्येव निष्पावचणकमसूरकादीनि भक्षयामि इति ॥२२१॥

संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिद व सुद्धगोवहिदं।
लेवडमलेवड पाणायं च णिस्सित्थगं ससित्थं ॥२२२॥

और भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही।

'पदंगवीधी'—पक्षियोकी पक्ति जैसे भ्रमण करती है उस तरह भ्रमण करते हुए यदि भिक्षा मिली तो मै ग्रहण करूँगा। गोयरिया'—गोचरी भिक्षाके अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा। इस प्रकारके सकल्प करनेको वृत्ति परिसख्यान कहते है २२०॥

गा०-टी०—'पाडयनियसण'—इसी ही फाटकमे प्रवेश करके मिली हुई भिक्षाको ग्रहण करूँगा, अन्य फाटकमे नही। एक ही फाटकमे प्रवेश करूँगा या दो मे ही प्रवेश करूँगा। 'अमुक घरसे लगी हुई भूमिमे प्रवेश करूँगा, घरमे नही जाऊँगा ? इस प्रकारकी प्रतिज्ञाको णियसण कहते हैं। ऐसा कोई कहते है। दूसरोका कहना है कि पाटकी भूमिमे ही प्रवेश करूँगा, पाटके घरोमे प्रवेश नही करूँगा इस प्रकारके सकल्पको 'पाटकाणियसण' कहते है। 'भिक्षा परिमाण'—एक ही भिक्षा या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँगा, अधिक नही। 'दत्तिघास परिमाण'—एक के ही द्वारा देने पर या दो के ही द्वारा देनेपर भिक्षा ग्रहण करूँगा। अथवा दाताके द्वारा लाई गई भिक्षामेसे भी इतने ही ग्रास ग्रहण करूँगा ऐसा परिमाण करना। पिंडेसणा'—पिण्ड रूप भोजन ही ग्रहण करूँगा। 'पाणेसणा'—जो बहुत द्रव होनेसे पीने योग्य होगा वही ग्रहण करूँगा। 'जागूय' यवागू ही ग्रहण करूँगा। 'पुग्गलया'—चना मसूर आदि धान्य ही ग्रहण करूँगा ॥२२१॥

---

१. ल्पना वृ—आ० मु०। २ मित्यवग्रह।

ससिट्ठं शाककुल्माषादिव्यञ्जनसन्मिश्रमसृष्टमेव । **'फलिह'** समन्तादवस्थितशाक मध्यावस्थितौदनं । **'परिखा'** परितो व्यञ्जन मध्यावस्थितान्न । **'पुप्फोवहिदं च'** व्यञ्जनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्थक । **'सुद्धगोवहिद'** शुद्धेन निष्पावादिभि[1]रमिश्रेणान्नेन 'उवहिद' मसृष्ट शाकव्यञ्जनादिक । 'लेवडं' हस्तलेपकारि । **'अलेवडं'** यच्च हस्ते न सज्जति । **'पाणगं'** यच्च हस्ते न सज्जति । **'पाणगं'** पानं च कीदृक् ? **'णिसित्थगंससित्थं'** सिक्थरहित पान तत्सहित च ।।२२२।।

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए ।
इच्चेवमादिविविहा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ।।२२३।।

'पत्तस्स' एवभूतेत भाजनेनैवानीत गृह्णामि सौवर्णेन, कसपात्र्या, राजतेन मृण्मयेन वा । **'दायगस्स य'** स्त्रियैव तत्रापि बालया, युवत्या, स्थविरया सालङ्कारया, निरलङ्कारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या इत्येवमादि अभिग्रहोऽवग्रह । **'बहुविहो'** बहुविध । **'ससत्तोए'** स्वशक्त्या । **'इच्चेवमादि'** एवप्रकारा । **'विविहा'** विविधा । **'णायव्वा'** ज्ञातव्या । **'वुत्तिपरिसंखा'** वृत्तिपरिसख्या ।।२२३।।

कायक्लेशनिरूपणायोत्तरप्रबन्ध —

अणुसूरी पडिसूरी य उड्ढसूरी य तिरियसूरी य ।
उब्भागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ।।२२४।।

'अणुसूरि' पूर्वस्या दिश पश्चिमागागमन क्रूरातपे दिने । **'पडिसूरी'** अपरस्या दिश आदित्याभिमुख गमन । **'उड्ढसूरी य'** उर्ध्वं गते सूर्ये गमन । **'तिरियसूरी य'** तिर्यगवस्थित दिनकर कृत्वा गमन । **'उब्भागमेण गमणं'** स्वावस्थितग्रामाद् ग्रामान्तर प्रति भिक्षार्थ गमन । **'पडिआगमण च गन्तूणं'** प्रत्यागमन

गा०-टी०—'समिट्ठ'—जो शाक कुल्माष आदि व्यजनसे मिला हुआ हो । 'फलिह'—जिसके चारो ओर शाक रखा हो और बीचमे भात हो । 'परिखा'—चारो ओर व्यजन हो बीचमे अन्न रखा हो । 'पुप्फोवहिद'—व्यजनोके मध्यमे पुष्पावलीके समान चावल रखे हो । 'सुद्धगोवहिद'—शुद्ध अर्थात् विना कुछ मिलाये अन्नसे 'उपहित' अर्थात् मिले हुए शाक व्यजन आदि । 'लेवड' जिससे हाथ लिप जाये । 'अलेवड' जो हाथसे न लिप्त हो । सिक्थ सहित पेय और सिक्थ रहित पेय । ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा ऐसा सकल्प करता है ।।२२२।।

गा०-टी०—'पत्तस्स'—इसी प्रकार सोने, चाँदी, कासी या मिट्टीके पात्रसे ही लाया गया भोजन ग्रहण करूँगा । 'दायगस्स'—स्त्रीसे ही, उसमे भी बालिकासे या युवतीसे या वृद्धासे अथवा अलकार सहित स्त्री या अलकार रहित स्त्रीसे या ब्राह्मणीसे या राजपुत्रीसे दिया गया आहार ही ग्रहण करूँगा । इस तरह बहुत प्रकार के अभिग्रह अपनी शक्तिके अनुसार होते है । ये सब विविध वृत्ति परिसख्यान जानना चाहिये ।।२२३।।

काय क्लेशका कथन करते है—

गा०-टी०—'अणुसूरि'—जिस दिन कडी धूप हो सूरजको पीछे करके पूरव दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर जाना । 'पडिसूरि'—पश्चिम दिशासे सूरजकी ओर मुख करके गमन करना । 'उड्ढसूरी'—सूरजके ऊपर आ जाने पर गमन करना, 'तिरियसूरी'—सूरजका एक ओर रखते हुए गमन करना । 'उब्भागेण गमण'—जिस ग्राममे मुनि ठहरे हो उस ग्रामसे दूसरे गाँवमे भिक्षाके

---

१. दिभरमि–अ० आ० ।

च [1]गत्वा ॥२२४॥

स्थानयोगनिरूपणा—

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव वोसट्टं ।
समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥२२५॥

'**साधारणं**' प्रमृष्टस्तम्भादिकमुपाश्रित्य स्थानं । '**सवीचारं**' ससंक्रमं पूर्वावस्थितादेशादन्यत्र गत्वापि स्थापितस्थानं । '**सणिरुद्धं**' निश्चलमवस्थानं । '**तहेव**' तथैव । '**वोसट्टं**' कायोत्सर्गं । '**समपाद**' समौ पादौ कृत्वा स्थानं । '**एगपाद**' एकेन पादेन अवस्थानं । **गिद्धोलीणं** गृद्धस्योर्ध्वगमनमिव बाहू प्रसार्यावस्थानं ॥२२५॥

आसनयोगनिरूपणा—

समपलियंकणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया ।
मगरमुह हत्थिमुण्डी गोणिसेज्जद्धपलियङ्का ॥२२६॥

'**समपलियंकणिसेज्जा**' सम्यक्पर्यङ्कनिषद्या । '**समपद**' स्फिक्पिण्ड[2]समकरणेनासनं । '**गोदोहिगा**' गोदोहने आसनमिवासनं । **उक्कुडिगा**' ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । '**मगरमुह**' मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावस्थानं । '**हत्थिसुण्डी**' हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनं । हस्तं प्रसार्येत्यपरे । '**गोणिसेज्ज अद्धपलियंकं**' गोनिषद्या गवामासनमिव अर्द्धपर्यङ्कं ॥२२६॥

वीरासणं च दण्डायउढ्ढसाई य लगडसाई य ।
उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥२२७॥

लिये जाना । 'गतूण पडिआगमण'—जाकर लौट आना ये सब काय क्लेश तप है ॥२२४॥

स्थान योगका कथन करते है—

गा०-टी०—'साधारण'—चिकने स्तम्भ आदिका आश्रय लेकर खडे होना । सवीचार—पूर्व स्थानसे दूसरे स्थान पर जाकर कुछ काल तक खडे रहना । 'सणिरुद्ध'—अपने स्थान पर ही निश्चल स्थित होना । 'वोसट्ट'—कायोत्सर्ग करना । समपाद—दोनो पैर बराबर करके खडे होना । 'एगपाद'—एक ही पैर से खडे होना । 'गिद्धोलीण'- जैसे गिद्ध उडते समय अपने दोनो पख फैलाता है उस तरह दोनो हाथ फैलाकर खडे होना ॥२२५॥

आसन योगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—'समपलियकणिसेज्जा'—सम्यक् पर्यकासनसे बैठना । 'समपद'—जाघे और कटि भागको सम करके बैठना । 'गोदोहिगा' गौ दूहते समय जैसा आसन होता है वैसे आसनसे बैठना । 'उक्कुडिया'—ऊपरको सकुचित आसनसे बैठना अर्थात् दोनो पैरोको जोड भूमिको न छूते हुए बैठना । 'मगरमुह'—मगरके मुखकी तरह पैर करके बैठना । 'हत्थिसुडी—हाथीके सूँड फैलानेकी तरह एक पैर फैलाकर बैठना । दूसरो का कहना है कि हाथ फैलाकर बैठना हत्थिसूँडी है । 'गोणिसेज्ज' दोनो जघाओको सकोच कर गायकी तरह बैठना । और अर्धपर्यकासन । ये सब कायक्लेश के आसन है ॥२२६॥

---

१. कृत्वा अ० । २. समकरणेना—मु० ।

'वीरासणं' जघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासन। दण्डवदायत शरीर कृत्वा शयन। **स्थित्वा शयनं च** ऊर्ध्वशायीत्युच्यते। **'लगडसाई'** सङ्कुचितगात्रस्य शयनं। उत्ताणो उत्तान शयन। अवमस्तकशयन एक-पार्श्वशयन च ॥२२७॥

अब्भावगाससयणं अणिट्ठवणा अकंडुगं चेव।
तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचो य ॥२२८॥

'अब्भावगाससयणं' बहिर्निरावरणदेशे शयन। **'अणिट्ठिवणगं'** निष्ठीवनाकरण। **'अकंडुवणगं च'** अकण्डूयनं। **'तणफलगसिलाभूमीसेज्जा'** तृणादिषु शय्या। **'तहा'** तथा। **'केसलोओ य'** केशलोचश्च ॥२२८॥

अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतघोवणं चेव।
कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥२२९॥

'अब्भुट्ठणं च रादो' रात्रावशयन जागरणमित्यर्थ। **'अण्हाणं'** अस्नान। **'अदन्तघोवणं चेव'** दन्तानामशोधन। **'कायकिलेसो'** कायक्लेश। **'एसो'** एष। **'सीदुण्हादावणादी य'** शीतातपनमुष्णातपनमित्येवमादिक ॥२२९॥

विविक्तशयनासननिरूपणा—

जत्थ ण विसोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूवगन्धफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा ॥२३०॥

'जत्थ ण विसोत्तिग' यस्या वसतौ न विद्यतेऽशुभपरिणाम। **सद्दरसरूवगन्धफासेहिं** शब्दरसरूपगन्धस्पर्शै करणभूतै. मनोज्ञैरमनोज्ञैर्वा। **'सा विवित्ता वसधी'** विविक्ता वसति। **'सज्झायज्झाणवाघादो'** स्वाध्यायध्यानयोर्व्याघातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति ॥२३०॥

गा०-टी०—दोनों जघाओको दूर रखकर आसन वीरासन है। आगे शयनके भेद करते है—दण्डेके समान शरीरको लम्बा करके सोना। खडे होकर सोना। इसे ऊर्ध्वशायी कहते है। 'लगण साई'—शरीरको सकुचित करके सोना। उताण—ऊपरको मुख करके सोना। ओमच्छिय-मस्तक नीचे करके सोना अर्थात् नीचे मुख करक सोना। एक करवटसे सोना। मडयसाइ—मृतककी तरह निश्चेष्ट सोना ॥२२७॥

गा०-टी०—'अब्भवगास सयण'—बाहर खुले आकाशमे सोना। 'अणिट्ठिवणग'—थूकना नही। अकडूतग—खुजाना नही। तथा तृण, काठका पटिया, शिला, या भूमिपर सोना और केसलोच ॥२२८॥

गा०-टी०—रातमें शयन नही करना अर्थात् जागना। स्नान नही करना। दाँतोको नही धोना, उनकी सफाई नही करना। और शीतकालमे तथा गर्मीमे आतपन योग करना इत्यादि यह कायक्लेश है ॥२२९॥

विविक्त शयनासन तपका कथन करते हैं—

गा०—जिस वसतिमे मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शके द्वारा अशुभ परिणाम नही होते। अथवा स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नही होता वह विविक्त वसति है ॥२३०॥

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अन्तो वा।
इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥२३१॥

'**वियडाए**' उद्घाटितद्वाराया। '**अवियडाए**' अनुद्घाटितद्वाराया वा। '**समविसमाए**' समभूमिसमन्विताया विषमभूमिसमन्वितायां वा। '**बहिं व**' बहिर्भागे वा। '**अन्तो वा**' अभ्यन्तरे वा। '**इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए**' स्त्रीभिर्नपुंसकैः पशुभिश्च वर्जिताया वसतौ। '**सीदाए**' शीताया। '**उसिणाए**' उष्णाया ॥२३१॥

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु।
वसति असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥२३२॥

'**उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए**' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहिताया। तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते। वृक्षच्छेदस्तदानयन इष्टकापाकः, भूमिखनन, पाषाणसिकतादिभिः पूरण, धराया कुट्टन, कर्दमकरण, कीलानां करण, अग्निनायसस्तापन कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटन, वासीभिस्तक्षण, परशुभिश्छेदन इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधा कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते। यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पाषण्डिनामेवेति वा श्रमणानामेवेति, निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्देसिगा वसदित्ति भण्यते। आत्मार्थं गृहं कुर्वता अपवरकं संयतानां भवत्विति कृतं अब्भोवब्भमित्युच्यते। आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह बहुभिः श्रमणार्थमानीतात्पेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते। पाषण्डिनां गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेश्म मिश्रम्। स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति स्थापितं ठविद इत्युच्यते। संयत स च यावद्भिर्दि-

गा०—वह वसति खुले द्वार वाली हो अथवा बन्द द्वार वाली हो। उसकी भूमि सम हो अथवा ऊँची नीची हो। वह बाहरके भागमे हो अथवा अन्दरके भागमे हो। स्त्री नपुंसक और पशुओंसे रहित हो ठंडी हो या गर्म हो ॥२३१॥

गा० उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित, दुःप्रमार्जन, आदि संस्कारसे रहित, जीवोंकी उत्पत्तिसे रहित, शय्यारहित वसतिकामें अन्दर या बाहरमें विविक्त शयनासन तपके धारी मुनि निवास करते है ॥२३२॥

टी०—उद्गमदोषको कहते हैं—वृक्षको काटना, उसको लाना, ईंटे पकाना, भूमि खोदना, उसे पत्थर रेत वगैरहसे भरना, पृथ्वीको कूटना, कीचड तैयार करना, कीलें बनाना, आगमें लोहा गरम करके उसे पीटकर करोतोंसे लकडी चीरना। विसौलोसे छीलना, फरसोंसे काटना, इत्यादि व्यापारसे छहकायके जीवोंको बाधा पहुँचाकर अपने द्वारा बनाई या दूसरेसे बनवाई वसति अधःकर्मनामक दोषसे युक्त है। जितने दीन अनाथ दरिद्र अथवा वेषधारी आयेंगे उनके उद्देससे बनाई, अथवा यह पाषंडियोंके ही लिए है, या श्रमणोंके ही लिए है या निर्ग्रन्थोंके ही लिए है, ऐसी वसति उद्देसिग दोषसे युक्त होती है। अपने लिए घर बनाते हुए यह कोठरी संयमियोंके लिए रहे ऐसा संकेतपूर्वक बनाई वसतिका अब्भोलब्भ कहलाती है। अपना घर बनानेके लिए लाए गये बहुतसे काष्ठ आदिके साथ थोडा-सा सामान श्रमणोंके लिए लाकर दोनोंके मेलसे बनी वसति पूतिक कही जाती है। पाषण्डियों अथवा गृहस्थोंके लिए घर बनवाकर पीछे मुनियोंका उद्देश करके उसमें काष्टआदि मिलाकर बनवाई वसति मिश्रदोषसे दूषित है। अपने ही लिए

नैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कार सकल करिष्याम इति चेतसि कृत्वा यत्सस्कारित वेश्म तत्पाहुडिगमित्युच्यते। तदागमानुरोधेन गृहसस्कारकालापन्हाम कृत्वा वा सस्कारिता वसति। यद्गृह अन्धकारबहुल तत्र प्रकाशसपादनाय यतीना छिद्रीकृतकुडघ, अपाकृतफलक, सुविन्यस्तप्रदीपक वा तत्पादुकारशब्देन भण्यते। द्रव्यक्रीत भावक्रीत इति द्विविध क्रीत वेश्म, सचित्त गोबलीवर्दादिक दत्वा सयतार्थक्रीत, अचित्त वा घृतगुडखडादिक दत्वा क्रीत द्रव्यक्रीत। विद्यामन्त्रादिदानेन वा क्रीत भावक्रीत। अल्पमृण कृत्वा वृद्धिसहित अवृद्धिक वा गृहीत सयतेभ्य पामिच्छ उच्यते। मदीये वेश्मनि तिष्ठतु भवान् युष्मदीय तावद्गृह यतिभ्य प्रयच्छेति गृहीत परिगट्टमित्युच्यते। कुडघाद्यर्थं कुटीरकक्टादिक स्वार्थ निष्पन्नमेव यत्सयतार्थमानीत तदभ्यहिडमुच्यते। तद्द्विविधमाचरितमनाचरितमिति। दूरदेशाद् ग्रामान्तराद्वानीतमनाचरित इतरदाचरित। इष्टकादिभि, मृत्पिडेन, वृत्या, कवाटेनोपलेन वा स्थगित अपनीय दीयते यत्तदुद्भिन्न। निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमिय वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमि सा मालारोहमित्युच्यते। राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीय यद्दीयते तदुच्यते अच्छेज्ज इति। अनिसृष्ट पुनर्द्विविध। गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसति यदस्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सोभय्यप्यनिसृष्टेति उच्यते। उद्गमदोषा निरूपिता।

उत्पादनदोषा निरूप्यते—पचविधाना धात्रीकमणा अन्यतमेनोत्पादिता वसति। काचिद्दारक स्नप-

---

बनाये घरको सयमियोके लिए स्थापित करना ठविद दोष है। अमुक मुनि जितने दिनोमे आवेगे, उनके प्रवेश करनेके दिन घरकी सब सफाई आदि करायेगे, ऐसा चित्तमे विचारकर बनवाया घर 'पाहुडिग' कहा जाता है। अथवा मुनिके आनेके अनुरोधसे घरका सस्कार करनेका जो समय नियत किया था उस समयमे पूर्व मसार करना पाडुडिग दोष है। जिस घरमे बहुत अन्धकार रहता है उसमे मुनियोके लिए बहुत प्रकाश लानेके उद्देशसे दीवारमे छेद करना, लकडीका पटिया हटाना, दीपक रखना पादुकारदोष है। खरीदा हुआ दो प्रकारका होता है द्रव्यक्रत और भावक्रत। सचेतन गाय बैल वगैरह देकर मुनिके लिए खरीदा गया अथवा अचित्त घी गुड खाँड आदि देकर खरीदा गया घर द्रव्यक्रत है। विद्या मत्र आदि देकर खरीदा गया घर भावक्रत है। बिना व्याजका अथवा व्याज पर थोडा सा ऋण लेकर मुनियोके लिए लिया गया घर पामिच्छ कहा जाता है। आप मेरे घरमे रहे, अपना घर यातियोको देदे इस प्रकार ग्रहण किया घर परियट्ट कहाता है। अपनी दीवार आदिके (?) लिए जो तैयार या उसे मुनिके लिए लाना अभ्यहिड कहाता है। उसके दो भेद है आचरित और अनाचरित। जो दूर देशसे या अन्य ग्रामसे लाया गया वह अनाचरित है शेष आचरित है। जो घर इट आदिसे, मिट्टीके ढेलोसे, बाडसे, कपाटसे या पत्थरसे ढपा है इनको हटाकर दिया गया वह घर उद्भिन्न दोपसे युक्त है। सीढी वगैरहसे ऊपर चढकर 'यहाँ आओ, आपकी यह वसति है' इस प्रकारसे जो दूसरे या तीसरे खण्डकी भूमि दी जाती है उसे मालारोहण कहते है। राजा मत्री आदिके द्वारा भय दिखलाकर जो दूसरेकी वसति दी जाती है। वह अच्छेज्ज है। अनिसृष्टके दो भेद है। घरके स्वामीके द्वारा जो नियुक्त नही है ऐसे व्यक्तिके द्वारा जो वसति दी जाये वह अनिसृष्ट है। और जो पराधीन बालक स्वामी के द्वारा दी जाए वह भी अनिसृष्ट है। ये उद्गमदोष कहे।

उत्पादन दोष कहते है—धायके पाँच काम है—कोई बालकको नहलाती है। कोई उसे

यति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति स्वापयति वा। वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा। ग्रामान्तरान्नगरान्ता गाच्च देशादन्यदेशतो वा सबन्धिना वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता। अग, स्वरो, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा। आत्मनो जाति, कुल, ऐश्वर्य वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते। भगवन्सर्वेषा आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्य किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजन प्रतिकूलवचनरुष्टो वसति न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते। अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता। क्रोधोत्पादिता च। गच्छतामागच्छता च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रय इतीय वार्ता दूरादेवास्माभि श्रुतेति पूर्व स्तुत्वा या लब्धा, वमनोत्तरकाल च गच्छन्प्रशसा करोति पुनरपि वसति लप्स्ये इति। एव उत्पादिता सस्तवदोषदुष्टा। विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिण वशे स्थापयित्वा लब्धा, मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायानिसस्थापना मूलकर्म। विरक्ताना अनुरागजनन वा। उत्पादनाख्योऽभिहितो दोष षोडशप्रकार।

अथ एषणादोषान्दश प्राह—

किमिय योग्या वसतिर्नेति शङ्किता। तदानीमेव सिक्ता सत्यालिप्ता सती वा छिद्रस्रुतजलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता या म्रक्षितेत्युच्यते। सचित्तपृथिव्या अपा, [1]वायो हरिताना, बीजाना

भूषण पहिनाती है। कोई खेल खिलाती है, कोई भोजन कराती है, कोई सुलाती है, इनमेसे कोई एक कर्म करके प्राप्त की गई वसति धात्रीदोषसे दूषित है। अन्य ग्राम, अन्य नगर या देशान्तमे रहनेवाले सम्बन्धियोकी कुशलवार्ता कहकर प्राप्त की गई वसति दूतकर्मके द्वारा उत्पादित होनेसे दूतकर्म दोषसे दुष्ट है। अग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष, इस प्रकार निमित्तोके उपदेशसे—गृहस्थोका शुभाशुभ बतलाकर प्राप्त की गई वसति निमित्त नामक दोषसे दुष्ट है। अपनी जाति, कुल अथवा ऐश्वर्यको कहकर अपना बडप्पन प्रकट करके प्राप्त की गई वसति आजीव शब्दसे कही जाती है। भगवन्! सबको आहार देने और वसति देनेसे क्या महान् पुण्य होता है? ऐसा गृहस्थ पूछे तो, 'नही होता' ऐसा कहनेपर गृहस्थ प्रतिकूल वचनसे रुष्ट होकर वसति नही देगा' इस विचारसे उनके अनुकूल कहकर प्राप्त की गई वसति 'वणिगवा' शब्दसे कही जाती है। आठ प्रकारकी चिकित्साके द्वारा प्राप्त की गई वसति चिकित्सा दोषसे दुष्ट है। क्रोधादिके द्वारा प्राप्त की गई वसति क्रोध आदि दोषसे दुष्ट है। आने जानेवाले यात्रियोके लिए आपका ही घर आश्रय है यह बात हमने दूर देशसे ही सुनी है, इस प्रकार पहले स्तुति करके प्राप्त की गई अथवा निवास करनेके पश्चात् जाते समय प्रशसा करना कि पुन: आनेपर वसति प्राप्त हो तो वह संस्तव दोषसे दुष्ट है। विद्या, मन्त्र या चूर्णके प्रयोगसे गृहस्थको वशमे करके प्राप्त की गई वसति विद्यादोष, मत्रदोष और चूर्णदोषसे दुष्ट है, मूलकर्मके द्वारा प्राप्त की गई अथवा विरागियोंको राग उत्पन्न करके प्राप्त हुई वसति मूलकर्म दोषसे दुष्ट है।

उत्पादन नामक सोलह प्रकारका दोष कहा।

दस एषणा दोष कहते हैं—

यह वसति योग्य है या नही, ऐसी शका करना शकित दोष है। जो वसति तत्काल ही सीची गई या लीपी गई है अथवा छिद्रसे बहनेवाले जलके प्रवाहसे या जलपात्रके लुड़कानेसे

१ वाल्या आ०। अपा हरि–मु०।

त्रसाना उपरि स्थापित पीठफलकादिक अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते वसति सा निक्षिप्तेत्युच्यते । हरित-कटकसचित्तमृत्तिकापिधानमाकृष्य या दीयते सा पिहिता । काष्ठचेलकण्टकप्रावरणाद्याकर्षण कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसति साहारणशब्देनोच्यते । मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन, मत्तेन, व्याधितेन, नपुसकेन, पिशाचगृहीतेन, **नग्नया** वादीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा । स्थावरै पृथिव्यादिभि त्रसै पिपीलिकामत्कुणादिभि सहितोन्मिश्रा । वितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ग्रहण प्रमाणातिरेकदोष । शीतवातातपाद्युपद्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दा कुर्वतो वसन धूमदोष । निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग **इङ्गाल** इत्युच्येत । एवमेतैरुद्गमादिदोषैरनुपहता वसति शुद्धा तस्या । '**अकिरियाए**' दु प्रमार्जनादि-सस्काररहिताया । '**असंसत्ताए**' जीवसभवरहिताया । '**णिप्पाहुडियाए**' शय्यारहिताया । **सेज्जाए** वसतौ । **अन्तर्बहिर्वा वसइ** वसति । यतिविविक्तशयासनरत ॥२३२॥

अथ का विविक्ता वसतिरित्यत्राह—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले ।
अकदप्पब्भारागमघरादीणि य विवित्ताइ ॥२३३॥

शून्य गृह, गिरेर्गुहा, वृक्षमूल, आगन्तुकाना वेश्म, देवकुल, शिक्षागृह केनचिदकृत अकृतप्राग्भार-

---

उसी समय लीपी गई है उसे म्रक्षित कहते है । सचित्त पृथिवी, वायु, जल हरे बीज, और त्रस-जीवोके ऊपर स्थापित पीठ, काष्ठफलक आदिको यहाँ शय्या करे ऐसा कहकर जो वसति दी जाती है उसे निक्षिप्त कहते है । हरित काँटे, सचित मिट्टीके आवरणको हटाकर जो वसति दी जाती है वह विहित दोषसे युक्त है । काष्ट, वस्त्र, कण्टकके आवरण आदिका खीचते हुए आगे जानेवाले मनुष्यके द्वारा दिखलाई गई वसति साधारण शब्दसे कही जाती है । जिसे मरण अथवा जननका शौच लगा है ऐसे गृहस्थके द्वारा या मत्त, रोगी, नपुसक, जिसे पिशाचने पकडा हुआ है या बालिकाके द्वारा दी गई वसति दायक दोषसे दूषित है । स्थावर पृथिवी आदि, त्रस चांटी खटमल आदिसे सहित वसति उन्मिश्रा है । जितने बालिस्त प्रमाणभूमि साधुको चाहिए उससे एक बालिश्त भूमि भी अधिक लेना प्रमाणातिरेक नामक दोष है । यह वसति शीतवायु, धूप आदि उपद्रववाली है ऐसी निन्दा करते हुए भी उसी वसतिमे रहना धूमदोष है । यह वसति विशाल है इसमे हवा नही आती, अधिक गर्म भी नही है, सुन्दर है इस प्रकार उससे अनुराग करना इगाला दोष है । वसति इन दोषोसे रहित होनी चाहिए ॥२३२॥

विशेषार्थ—साधुको देने योग्य आहार, औषध, वसति, सस्तर, उपकरण आदि दाताकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओसे उत्पन्न होते हैं वे उद्गम आदि सोलह दोष है । और मार्गविरुद्ध जिन क्रियाओंसे भोजन आदि बनाये जाते हैं वे सोलह उत्पादन दोष है । ये बत्तीस भी आधाकर्मरूप होनेसे दोष कहे जाते हैं । यतिके भोजन आदिके लिए छहकायके जीवोको बाधा देना अथवा ऐसे कारणसे उत्पन्न भोजन आदि आधाकर्म कहे जाते हैं । एषणादोष दस हैं । मूलाचारमे इन दोषोंका कथन है ।

विविक्त वसति कौन है यह कहते हैं—

टी०—शून्य घर, पहाडकी गुफा, वृक्षका मूल, आनेवालोंके लिए बनाया घर, देवकुल,

शब्देनोच्यते । आरामगृह क्रीडार्थमायाताना आवासाय कृत । एता विविक्ता वसतय. ॥२३३॥

अत्र वसने दोषाभावमाचष्टे—

कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्ति च ।
ज्झाणाज्झयणविघादो णत्थि विवित्ताए वसधीए ॥२३४॥

'**कलहो बोलो**' । ममेय वसतिस्तवेय वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । '**बोलो**' शब्दबहुलता । '**झंझा**' सक्लेशो । '**वामोहो**' वैचित्त्य । '**संकरो**' अयोग्यैरसयतै सह मिश्रण । '**ममत्वं च**' ममेदभावश्च । '**णत्थि**' नास्ति । '**ज्झाणज्झयणविघादो**' ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघात । उक्त कलहादिर्न विद्यते । क्व ? '**बिवित्ताए वसधीए**' बिविक्ताया वसतौ । एकस्मिन्प्रमेये निरुद्धज्ञानसततिर्ध्यान । अनेकप्रमेय-संचारी स्वाध्याय ॥२३४॥

इय सल्लीणमुवगदो सुहप्पवत्तेहिं तत्थ जोएहिं ।
पंचसमिदो तिगुत्तो आदट्ठपरायणो होदि ॥२३५॥

'**इय**' एव । '**सल्लीणं**' एकात्मता '**उवगदो**' उपगत । केन ? '**जोगेहिं**' योगै तपोभिर्ध्यानैर्वा । **सुहप्पवत्तेहि** सुखप्रवृत्तै सुखेनाक्लेशेन प्रवृत्तै । '**पंचसमिदो**' समितिपचकोपेत । '**तिगुत्तो**' कृताशुभमनोवाक्का-यनिरोध । '**आदट्ठपरायणो होदि**' आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते--विविक्तवसतिस्थायी यति-निष्प्रतिद्वन्द्वध्यानै शुभैस्तपोभिर्वा स्वास्थ्यमुपगत सवर निर्जरा च स्वप्रयोजन सपादयति इति ॥२३५॥

सवरपूर्विका निर्जरा स्तोतुमाह--

जं णिज्जरेदि कम्म असंवुडो सुमहदावि कालेण ।
तं संवुडो तवस्सी खवेदि अतोमुहुत्तेण ॥२३६॥

शिक्षाघर, किसीके द्वारा न बनाया गया स्थान, आरामघर—क्रीडाके लिए आये हुओके आवासके लिये जो बनाया गया है ये सब विविक्त वसतियाँ है ॥२३३॥

इनमे रहनेमे कोई दोष नही है, यह कहते है—

गा०—विविक्त वसतिमे कलह, शब्द बहुलता, सक्लेश, चित्तका व्यामोह, अयोग्य असय-मियोके साथ सम्बन्ध, यह मेरी है ऐसा भाव, तथा ध्यान और अध्ययनमे व्याघात नही है ॥२३४॥

टी०—विविक्त वसतिमे यह मेरी वसति है यह तेरी वसति है इस प्रकार कलह नही होता क्योकि वहाँ अन्य लोग नही होते । इसीसे ऊपर कहे अन्य दोष भी नही होते । ध्यान अध्ययनमे बाधा नही होती । एक पदार्थमे ज्ञानसन्तातिके निरोधको ध्यान कहते है और अनेक पदार्थोमे संचारको स्वाध्याय कहते है ॥२३४॥

गा०—इस प्रकार विविक्त वसतिमे निवास करनेसे विना क्लेशके सुखसे होनेवाले तप अथवा ध्यानके द्वारा बाह्यतपमे एकात्मताको प्राप्त यति पाँच समितियोसे युक्त हुआ अशुभ मन वचनकायका निरोध करके आत्माके कार्यमे तत्पर होता है ॥२३५॥

टी०—यहाँ कहा है कि विविक्त वसतिमे रहनेवाला यति निर्विघ्न ध्यानके द्वारा अथवा शुभतपके द्वारा स्वास्थ्यको प्राप्त होकर सवर और निर्जरारूप अपने प्रयोजनको करता है ॥२३५॥

'जं णिज्जरेदि कम्मं' यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाह्येन । क ? **'असंवुडो'** असवृत अशुभयोगनिरोधरहित. । **'सुमहदावि कालेण'** सुष्ठु महता कालेनापि । **'तं'** तत्कर्म **'खवेदि'** क्षपयति । **'अतोमुहुत्तेण'** अतिस्वल्पेन कालेन । क. ? **'सवुडो'** संवृत गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयपरिणत । **'तवस्सी'** तपस्वी अनशनादिमान् ॥२३६॥

एवमवलायमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ।
दोसेणिग्घाडतो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥२३७॥

एवमुक्तेन क्रमेण एतेन । **'तवण भावेमाणो'** तपसा भावयन्नात्मानमुद्यत । **'अवलायमाणो'** अपलायमान । कुतो दुर्धरात्तपस । **एवमवलोयमाणो** इति क्वचित्पाठ । तत्रायमर्थ — **किल एवमेवेण तवेण भावेमाणो** इति पदसबन्ध । एवमेतेन तपसा भावयमान अपलोयमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति । तदयुक्त – अशब्दार्थत्वात् । **'दोसे'** दूषयति रत्नत्रयमिति दोषा अशुभपरिणामा तान् घातयन् । **'पग्गहिददर'** नितरा । **'परक्कमदि'** चेष्टते मुक्तिमार्गे ॥२३७॥

यतिना निर्जरार्थिना एवभूत तपोऽनुष्ठेय इति कथयति ।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कदं ण उट्ठेदि ।
जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ॥२३८॥

'सो णाम बाहिरतवो' तन्नाम बाह्य तप । किं ? **'जेण मणो दुक्कड ण उट्ठेदि'** यन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृत प्रति नोत्तिष्ठते । **'जेण य सड्ढा जायदि'** येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यभ्यन्तरे श्रद्धा जायते । **'जेण य जोगा ण हायंति'** येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न हीयन्ते । तत्तथाभूत तपोऽनुष्ठेयमिति यावत् ॥२३८॥

सवरपूर्वक निर्जराकी प्रशसा करते है—

गा०—असवृत्त अर्थात् अशुभयोगका निरोध न करनेवाला यति महान् कालके द्वारा भी जिस कर्मकी बाह्य तपके द्वारा निर्जरा नही करता उस कर्मको सवृत् अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजयको करनेवाला तपस्वी अति स्वल्पकालमे क्षय करता है ॥२३६॥

गा०—उक्तक्रमसे इस तपसे अपनेको तत्पर करता हुआ दुर्धरतपसे न डरकर रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभ परिणामोको घातता है और अत्यन्त मुक्तिके मार्गमे चेष्टा करता है ॥२३७॥

टी०—कहीपर 'एवमवलोयमाणो' ऐसा पाठ है। 'एदेण तवण भावेमाणो' पदके साथ उसका सम्बन्ध करके ऐसा अर्थ करते है—इस प्रकार इस तपसे भावना करता हुआ 'अपलोयमाण' अर्थात् द्रव्यकर्मका विनाश करता है। यह युक्त नही है क्योंकि यह शब्दार्थ नही है ॥२३७॥

निर्जराके इच्छुक यतिको इस प्रकार तप करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—उसीका नाम बाह्य तप है, जिस तपके करनेसे मन पापकी ओर नही जाता। और जिस तपके करनेसे अभ्यन्तर तपमें श्रद्धा उत्पन्न हो और जिसके करनेसे पूर्वमे गृहीत योग-व्रत विशेष हीन नही होते। इस प्रकारका तप करना चाहिए ॥२३८॥

बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता ।
सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३९॥

बाह्यतपोऽनुष्ठाने गुणं कथयत्युत्तरं सूत्रं । **'बाहिरतवेण'** बाह्येन तपसा हेतुभूतेन । **'सव्वा सुहसीलदा परिचत्ता होदि'** सर्वा सुखशीलता परित्यक्ता भवति । सुखभावना रागं जनयति । रागः स्वयं च कर्मबंधहेतुदोषं चानयति । बधः कर्मस्थितिहेतुः सैवमर्था[1] निरस्ता भवति इति मन्यते । **'सल्लिहिदं च सरीरं'** भवति । शरीरं दुःखनिमित्तं तत्त्यक्तुकामस्य तनूकरणमुपायः तदनुष्ठितं भवतीति यावत् । **'ठविदो'** स्थापितः । **'आदा य'** स्वयं च, **'संवेगे'** समारभीरुतायां । ननु च ससारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तस्याः, ततोऽयुक्तमभाणि सूत्रकारेण बाह्येन तपसा संवेगे स्थापित । लोकेनाय संविग्नचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो युक्तमुच्यते ॥२३९॥

दंताणि इंदियाणि य समाधिजोगा य फासिदा होंति ।
अणिगूहिदवीरियओ जीविदतण्हा य वोच्छिण्णा ॥२४०॥

दंताणि दातानि **'इंदियाणिय'** इन्द्रियाणि च । **होंति'** भवन्ति । अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेन जिह्वा दान्ता भवति इति । विविक्तशय्यासनेन इतराणि इन्द्रियाणि दान्तानि भवन्ति । मनोज्ञेन्द्रियविषयरहितायां वसतावस्थानात्तानि निगृहीतानि भवन्ति । **समाधिजोगा य फासिदा होंति** रत्नत्रयैकाग्र्यं समाधिः । समाधिषु योगा समाधियोगा । योगा सम्बन्धास्ते च **'फासिदा होंति'** स्पृष्टा भवन्ति । रत्नत्रयसमाधानसम्बन्धा स्पृष्टा भवन्ति । अशनादिकं त्यजता विषयरागो निरस्तो भवति । विषयरागव्याकुलो हि रत्नत्रये न घटते । असति तस्मिन्नव्याकुलोऽशुभपरिणामैकमुखो भवति इति मन्यते । **'अणिगूहिदवीरियदा'** अनिगूढवीर्यता

आगेकी गाथासे बाह्यतपको करनेके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य तपमे सब सुख शीलता छूट जाती है। क्योकि सुख शीलता रागको उत्पन्न करती है। राग-रागको बढाता है और कर्मबन्धके कारण दोषोको लाता है। बन्ध-कर्मकी स्थितिमे हेतु है। इस तरह बाह्य तपसे अनर्थ करनेवाली यह सुखशीलता नष्ट होती है। शरीर दुःखका कारण है। उसको छोडनेका उपाय है शरीरको कृश करना। बाह्य तपसे शरीर कृश होता है और स्वय आत्मा ससारसे भीरुतामें स्थापित होती है।

शंका—न तो ससारसे भीरुता तपका हेतु है और न तप संसारसे भीरुताका हेतु है अत. ग्रन्थकारने यह अयुक्त कहा है कि बाह्य तपसे संवेगमे स्थापित होता है ?

समाधान—जो बाह्य तप करता है उसे लोग मानते है कि इसका चित्त संसारसे विरक्त है। अतः ग्रन्थकारका कथन युक्त है ॥२३९॥

गा०-टी०—इन्द्रियाँ दान्त होती है। अनशन, अवमौदर्य और वृत्ति परिसख्यान तप करनेसे जिह्वा दान्त होती है। विविक्त शय्यासन तपसे शेष इन्द्रियाँ दान्त होती है। जहाँ इन्द्रियोको प्रिय लगनेवाले विषय नही हैं ऐसी वसतिमे रहनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है। रत्नत्रयमें एकाग्रताको समाधि कहते है। समाधिमे योग अर्थात् सम्बन्ध स्पष्ट होते है। भोजन आदिका त्याग करनेसे विषयोसे राग नही रहता। जो विषयरागसे सताया हुआ है वह रत्नत्रयमें नही लगता। रत्न-

1. सैवमर्थ नि–आ० । सैवमर्थान्नि–मु० ।

च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । ' **'जीविदतण्हा य'** या जीविते तृष्णा च **'वोच्छिण्णा'** व्युच्छित्ति गता । न हि जीविताशावान् अशनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तृष्णावान्यत्किंचित्कृत्वा असंयमादिकं प्राणानेव धारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ॥२४०॥

दुक्खं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुक्खे ।
मुसमूरिया कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥२४१॥

'दुःखं च भावियं होइ' दुःखं च भावितं भवति । दुःखभावना च कथमुपयोगिनी असंक्लेशेन दुःखसहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषकर्मापायस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते । अपि चासकृद्भावितदुःखो निश्चलो भवति[1] ध्याने । **'अप्पडिबद्धो य होइ'** अप्रतिबद्धश्च भवति । **'देहरससोक्खे'** शरीररससौख्ये । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समाधेर्विघ्नं स निरस्तो भवतीति भावः । **'मुसुमूरिदा कसाया'** उन्मृदिता कषाया भवन्ति । कथं अनशनादिना कषायनिग्रहः कृतो भवति ? क्षमामार्दवार्जवसन्तोषभावनादिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कषायान्नेतरदिति चेत् अयमभिप्रायः—अशनाद्यलाभे, स्वल्पलाभे, अशोभनानां वा लाभे क्रोधकषायः उत्पद्यते । तथा प्रचुरलाभाद्रसवद्भिक्षालाभाच्च लब्धिमानहमेवेति मानकषायः । अस्मदीयभिक्षागृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति चिन्ता मायाकषायः । अशने रसप्राचुर्यविशिष्टे वासक्तिर्लोभकषायः । तथा वसत्यप्रदाने कोपः, तल्लाभे च मानकषायः प्राग्वत् । अन्येऽप्यागच्छन्तीति न मम वस[2]तिरस्त्यवकाशो[3]वाऽत्रेति वचनान्मायाकषायः । अहमस्य स्वामीति लोभः । इत्थं

त्रयमे न लगनेसे व्याकुल होकर अशुभ परिणामोमे ही लगता है । अपनी शक्तिको छिपाता नही है और वीर्याचारमे प्रवृत्त होता है । जीवनकी जो तृष्णा है वह भी नष्ट हो जाती है । जिसे जीनेकी तृष्णा है वह भोजनादिकका त्याग करना नही चाहता । जीवनकी तृष्णावाला जो कुछ भी असयम आदि करके प्राणधारण करनेमे ही तत्पर रहता है, रत्नत्रयमे नही लगता ॥२४०॥

गा०-टी०—दुःखका सहन होता है । बिना किसी सक्लेशके दुःख सहनेमे कर्मोकी निर्जरा होती है । और क्रमसे होनेवाली निर्जरा समस्त कर्मोके विनाशका उपाय है इसलिए दुःखभावना उपयोगी है । दूसरे, बार-बार दुःखकी भावना करने वाला ध्यानमे निश्चल होना है । शरीर, रस और सुखमे अप्रतिबद्ध–अनासक्त होता है । इन तीनोमे आसक्ति समाधिमे विघ्न करती है । अत उसका निरास होता है । कषायोका मर्दन होता है ।

शका—अनशन आदिसे कषायका निग्रह कैसे होता है ? कषायोकी विरोधी क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष भावना आदि कषायोको नष्ट करते है, अन्य नही ।

समाधान—अभिप्राय यह है कि भोजन आदि न मिलने पर, या कम मिलने पर अथवा अरुचिकर मिलने पर क्रोध कषाय उत्पन्न होती है । तथा प्रचुर लाभसे और स्वादयुक्त भिक्षाके लाभसे मै 'लब्धि सम्पन्न हूँ' ऐसी मान कषाय उत्पन्न होती है । मेरे भिक्षा लेनेके घरका दूसरे न जान सके इस तरह घरमे प्रवेश करूँ, यह चिन्ता माया कषाय है । रसीले अत्यधिक भोजनमे आसक्ति लोभ कषाय है । तथा वसति नही देने पर क्रोध और उसके मिलने पर मानकषाय होती है जैसा पहले भोजनके सम्बन्धमे कह आये है । दूसरे भी आने वाले है इस वसतिमे स्थान नही है

---

१ तीतिध्या–आ० मु० । २. वसतेर–आ० मु० । ३. शश्चात्र–आ० मु० ।

कषायनिमित्तवस्तुत्यागाच्च कषायाणामवसर इति । '**विसएसु**' विषयेषु स्पर्शनादिषु । '**अणादरो होइ**' अनादरो भवति औदासीन्य जायते । तदौदासीन्यात् तदादरनिमित्तकर्मसवरो भवतीति भाव । अशनस्य हि [1]शुक्लादिरूपे मृदुस्पर्शे, सौगन्धे, रसे वाऽऽदरस्त्यक्तो भवति अशन त्यजता । तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादिरूपेषु ॥२४१॥

कदजोगदादमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ।
लाभालाभे समदा तितिक्खणं बंभचेरस्स ॥२४२॥

'**कदजोगदा**' सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविन योगश्च कृतो भवति बाह्येन तपसा । '**आददमण**' आत्मनो दमन आहारे सुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात् । '**आहारणिरासदा**' आहारे नैराश्य सम्पादित प्रतिदिन आहारगताशापरित्यागाभ्यासात् । सर्वत्यागकालेऽपि सुकरा भवत्याहारनिराशतेति भाव । '**अगिद्धी य**' अगृद्धिश्च अलपटता च । **क्व** ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमान्लब्ध्वा त त्यजति । **लाभालाभे समदा** लाभालाभयो समता । लाभे च सत्याहारस्य हर्षाकरणात् अलाभे च तथाऽकोपात् । य स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथमिव परेषामदाने दुर्मनीभवति । **तितिक्खण बभचेरस्स**' ब्रह्मचर्यं च सोढ भवति । रसवदाहारत्यागादभिनवेऽसति शुक्रसचये अनशने च सचितप्रलये सति न स्त्रीष्वनुरागा भवति इति भाव । तथा गलितशुक्राणा पुसा वैमुख्य अगनासु प्रतीतमेव ॥२४२॥

ऐसा कहना माया कषाय है । मै इस वसतिका स्वामी हूँ यह लोभ कषाय है । इस तरह जो वस्तु कषायमे निमित्त है उनका त्याग करनेमे कषायका अवसर नही रहता । (विसएसु अणादरो होई) स्पर्शन आदि विषयोमे अनादर होता है अर्थात् उदासीनता होती है । विषयोमे उदासीनतासे विषयोमे आदर भाव रखनेके निमित्तसे बन्धने वाले कर्मोका सवर होता है यह भाव है । भोजनके त्यागमे भोजनके शुक्ल आदि रूपमे, कोमल स्पर्शमे, सुगन्धमे अथवा रसमे आदरका त्याग हो जाना है । तथा दूध आदिका भी त्याग करनेसे दूध आदिके रूप रस आदिमे आदरका त्याग हो जाता है ॥२४१॥

गा०-टी०—'कद जोगदा'—बाह्य तपसे मरणकालमे जो सर्व आहारका त्याग करना होता है उसका अभ्यास होता है । 'आत्मदमण'—आहार और सुखमे जो अनुराग है उसका प्रशमन होनेसे आत्माका दमन होता है । 'आहारणिरासदा'—प्रतिदिन आहार सम्बन्धी आशाके त्यागके अभ्याससे आहारके विषयमे निराशा सम्पन्न होती है । अभिप्राय यह है कि समस्त आहारका त्याग करने के कालमे भी आहार सम्बन्धी इच्छाका विनाश सुकर होता है । 'अगिद्धीय'—और आहारमे लपटता नही रहती । जिसको आहारमे गृद्धि है वह आहार पाकर उसे छोड़ नही सकता । 'लाभालाभे समदा'—लाभ और अलाभमे समता रहती है । आहारका लाभ होने पर हर्ष नही करता और अलाभमे क्रोध नही करता । जो स्वयं भी प्राप्त आहारको छोड देता है वह दूसरोके न देने पर अपना मन खराब कैसे कर सकता है । 'तितिक्खण बंभचेरस्स'—ब्रह्मचर्यको धारण करता है । रसीले आहारके त्यागसे नवीन वीर्यसचय नही होता और अनशनसे सचितवीर्य क्षय होता है तब स्त्रीमे अनुराग नही होता । तथा जिन पुरुषोमे वीर्यहीनता होती है उनके प्रति स्त्रियोकी विमुखता प्रसिद्ध ही है ॥२४२॥

१. हि भक्तादिरूपे–आ० ।

णिद्दाजओ य दढझाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो ।
सज्झायजोगणिव्विग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥२४३॥

'**णिद्दाजओ य**' निद्राजयश्च । प्रतिदिनमश्नत रसवदाहारसेवापरस्य बहुभोजिनश्च निवाते सुखस्पर्शे निरुपद्रवे च देशे शयानस्य निद्रा महती जायते, यया परवशो निश्चेतन इव भवत्यशुभपरिणामप्रवाहे च पतति, न च रत्नत्रयेण घटयति, तस्या जयो । '**दढझाणदा**' दृढध्यानता च दुःखोपनिपाताच्चलति ध्यानाद भावितदुःखो यति । कृततपोभावनस्तु क्षुदादिपरीषहोपनिपातेऽपि सहते । '**विमुत्ती य**' विमुक्तिर्विशिष्ट-त्याग अनशनादावुद्यतेन शरीरमेव त्यक्त भवति तदेव दुस्त्यज । '**दप्पणिग्घादो**' असयमकरणो यो दर्पस्तस्य निर्घातश्च कृतो भवति । '**सज्झायजोगणिव्विग्घदा य**' वाचनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशैर्योग सबन्धो यस्तस्य विघ्नाभावश्च । आहारार्थे भ्रमत कथ स्वाध्याय क्रियते ? बहुभोजनश्च उत्तान स्वपिति आसितुमप्य-समर्थ । रसवदाहारभोजी आहारोष्मणा दह्यमान इतस्तत परावर्तते । अविविक्ताया वसतौ वर्तमान परेषा वच शृण्वस्तै सह सभाषण कुर्वन्नाधीते । विविक्तदेशस्थायी पुनर्निर्व्याकुल स्वाध्याये घटते । '**सुह-दुःखसमदा य**' सुखेन हृष्यति दुःखेन दुष्यति इति रागद्वेषावन्तरेण सुखदुःखानुभव सुखदुःखसमता । अशन रसाश्च सुखसाधनभूतास्त्यजता सुखे रागस्त्यक्तो भवति । क्षुदादिजनितवेदनोपनिपाते असक्लेशात् दुःखे न च द्वेषोऽस्यास्तीति । '**बाहिरतवेण होदि हु**' इत्यनेन पञ्चसूत्र[1]निर्दिष्टाना प्रत्येक सबन्ध ॥२४३॥

गा०-टी०—'णिद्दाजओय'–निद्राजय होता है। जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसीले आहार के सेवनमे तत्पर रहता है, बहुत भोजन करता है, उसे वायुके प्रकोपमे रहित, सुखकारक स्पर्शवाले उपद्रवहीन देशमे सोने पर गहरी नीद आती है, जिसके अधीन होकर वह चेतनाहीन जैसा हो जाता है और अशुभ परिणामोके प्रवाहमे गिर जाता है। वह रत्नत्रयमे नही लगता। उस निद्रा-का जय होता है। 'दढझाणदा' दृढ ध्यान होता है। जिस यतिको दुःख सहनेका अभ्यास नही होता, वह दुःख पडने पर ध्यानसे विचलित हो जाता है। किन्तु तपका अभ्यासी भूख आदि परी-षह आने पर सहता है। 'विमुत्तीय' विमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग करता है क्योकि जो अनशन आदिमे तत्पर रहता है वह तो शरीर ही को छोड देता है और शरीर ही को छोडना कठिन होता है। 'दप्पणिघादो' —असयमको करने वाला जो दर्प है उसका भी पूरी तरहसे घात होता है। 'सज्झायजोगणिव्विग्घदाय'—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके साथ जो सम्बन्ध है उसमे कोई विघ्न नही होता। आहारके लिए भ्रमण करने वाला साधु कैसे स्वाध्याय कर सकता है। बहुत भोजन करने वाला तो ऊपरको मुख करके सोता है बैठ भी नही सकता। रसीला आहार खाने वाला आहारकी ऊष्मासे इधर-उधर करवटे बदलता है। जो बहुजन सकुल वसतिमे रहता है वह दूसरोंकी बाते सुनकर उनके साथ बातचीत करता है, स्वाध्याय नही करता। किन्तु एकान्त स्थानमे रहने वाला व्याकुलता रहित होकर स्वाध्याय करता है। 'सुह-दुक्खसमदाय'—सुखसे हर्षित होना और दुःखसे दुःखी होना राग-द्वेष है। उनके बिना सुख-दुःख का अनुभव सुख-दुःख समता है। सुखके साधनभूत भोजन और रसोंको जो त्यागता है वह सुखमे रागको त्यागता है। भूख प्यासका कष्ट होने पर सक्लेश न होनेसे उसे दुःखमे द्वेष नही होता।

---

१ त्रीनिर्दि–अ० मु०।

आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविदं हवदि सव्वं ।
अलसत्तणं च विजडं कम्मं च विणिद्धुयं होदि ॥२४४॥

'**आदा कुल गणो पवयणं च सव्व सोभाविद हवदि**' पदघटना । बाह्येन तपसा स्वय कुलमात्मनो, गण, स्वशिष्यसन्तानश्च शाभामुपनीतो भवति । '**अलसत्तणं च**' अलसत्व च । '**विजडं**' त्यक्त भवति । दुर्धरतप समुद्योगात् '**कम्मं च विणिद्धुवं**' कर्म च समारमूल विशेषेण निर्द्धत भवति ॥२४४॥

बहुगाणं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।
मग्गो य दीविदो भगवदो य अणुपालिया आणा ॥२४५॥

'**बहुगाणं**' बहूना । '**संवगो जायदि**' ससारभीरुता जायते । यथा सन्नद्धमेक दृष्ट्वा नूनमत्र भयमस्ति किंचिदहमपि सन्नह्यामीति जन प्रवर्तते । एव तपस्युद्यतमवलोक्य ससारभयादयमेव क्लिश्यति तदस्माकमप्य-निवारितमेवेति बिभेति । भीतश्च प्रतिक्रिया प्रारभते । '**सोमत्तणं च मिच्छाणं**' मिथ्यादृष्टीना सौम्यता सुमुखता वा जायते । दुर्द्धरमिद महत्तपो यतीना इति प्रसन्ना भवतीति यावत् । '**मग्गो य दीविदो**' मार्गश्च मुक्ते प्रकाशितो भवति यतीना बाह्येन तपसा करणभूतेन । न तपसा विना कर्मणा निर्जराऽस्तीति '**भगवदो य अणुपालिदा आणा**' भगवत आज्ञा चानुपालिता भवति यतिना बाह्येन तपसा करणेन ॥२४५॥

देहस्स लाघवं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।
जवणाहारे संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥२४६॥

'**देहस्स लाघवं**' शरीरस्य लाघवगुणो बाह्येन तपसा भवति । लघुशरीरस्य आवश्यकक्रिया सुकरा भवन्ति । स्वाध्यायध्याने चाक्लेशसम्पाद्ये भवत । '**णेहस्स लूहण**' शरीरस्नेहविनाशन च गुण । शरीरस्नेहादेव

उक्त पॉच गाथामे जो कुछ कहा है उसका सम्बन्ध 'बाह्यतपसे होता है' इस वाक्यके साथ लगाना चाहिए ॥२४३॥

टी०—बाह्य तपसे आत्मा, अपना कुल, गण, अपनी शिष्य परम्परा शोभित होती है । आलस्य छूट जाता है । और दुर्धर तप करनेसे ससारका मूल कर्म विशेषरूपसे नष्ट होता है ॥२४४॥

टी०—यतिके बाह्य तप करनेसे बहुतसे लोगोको ससारसे भय उत्पन्न होता है । अवश्य ही यहाँ कुछ भय है मै भी तैयारी करता हूँ । इस प्रकार लोग तपमे प्रवृत्त होते है । तपमे उद्यत जनको देखकर 'यह ससारके भयसे इस प्रकारका कष्ट उठाता है । हम भी इससे बच नही सकते ऐसा मान ससारसे डरता है और डरकर उसका प्रतीकार करता है । तपस्वीको देखकर मिथ्या-दृष्टियोमे भी सौम्यता आ जाती है । यतियोका यह महान तप दुर्द्धर है इस प्रकार अपनी प्रस-न्नता प्रकट करते हैं । यतियोके बाह्य तप करनेसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित होता है । क्योकि तपके बिना कर्मोकी निर्जरा नही होती । और भगवान्की आज्ञाका अनुपालन होता है ॥२४५॥

टी०—बाह्य तपसे शरीरमे हलकापन आता है । जिसका शरीर हल्का होता है वह आवश्यक क्रियाओको सरलतासे करता है । तथा स्वाध्याय और ध्यान विना कष्टके होते है ।

जनोऽसयमे प्रवर्तते । शरीरमेवानर्थहेतुरिति तपोऽपि न करोति । तेनाहित शरीरस्नेहो विनाशितो भवति । '**उवसमो तहा परमो**' तथा चोत्कृष्टश्चोपशमो भवति रागादेदु करे तपसि वर्तमानस्य । किं च मम रागेण उपद्रवकारिणा । सति रागे हि नवकर्मबन्धो जायते । चिरन्तनकर्मरसोपबृंहण च । सति चेत्थ मदीय· क्लेशो निष्फलो भवेदिति मन प्रणिधानादुपशम । '**जवणाहारो**' परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तत्र च गुणो नीरोगतादिकमिति । तथा चाहुर्मिताशिन षड्गुणा भजन्ते इति । अपरे शरीरस्थितिमात्रहेतुराहार जवणाहारशब्द शरीरवाच्य इति स्थिता ॥२४६॥

एवमित्यादिनोपसहरति—

एवंउग्गमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण ।
मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेद कुणदि णिच्चं ॥२४७॥

'**एवमेदं तवो णिच्चं कुणदित्ति**' पदघटना । '**एवं**' व्यावर्णितरूपेण । '**एदं**' एतत् बाह्य तप । '**कुणदि**' करोति । '**णिच्च**' नित्य । '**उग्गमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण**' उद्गमोपादनैषणादोषरहितेन, भक्तेन पानेन च । कीदृग्भूतेन ? "**मिदलहुगविरसलुक्खेण**' परिमितेन लघुना, विरसेन, रूक्षेण । एवंभूत शुद्धमाहार भुक्त्वा तप [1]कुर्यान्नाशुद्धमिति भाव ।

उल्लीणोल्लीणेहिं य अहवा एक्कंतवड्ढमाणेहिं ।
सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगिंतो ॥२४८॥

'**उल्लीणोल्लीणेहि य**' प्रवर्द्धमानेन हीयमानेन च तपसा चतुर्थषष्ठादिक्रमेणानशनतपोवृद्धि । एकद्वि-

---

शरीरसे स्नेहका विनाश होता है यह भी एक गुण है। शरीरके स्नेहसे ही मनुष्य असयमका आचरण करता है। शरीर ही अनर्थका कारण है। इसीके स्नेहवश मनुष्य तप नही करता। अत तपसे अहितकारी शरीरस्नेहका नाश होता है। दुष्कर तप करनेवालेके रागादिका उत्कृष्ट उपशम होता है। वह मनमे विचारता है, इस उपद्रवकारी रागसे मुझे क्या ? रागके होनेपर नवीन कर्मका बन्ध होता है, और पूर्वबद्धकर्मोमे रसकी वृद्धि होती है। ऐसा होनेपर मेरा कष्ट सहन निष्फल है। ऐसे विचारसे उपशम होता है। 'जवणाहारो'—इसका अर्थ कोई 'परिमित आहार' करते है। उसमे नीरोगता आदि गुण है। कहा है 'परिमित भोजनमे छह गुण होते हैं।' अन्य कुछ शरीरकी स्थितिमात्रमे हेतु जो आहार है वह जवणाहार है ऐसा कहते है ॥२४६॥

उक्त चर्चाका उपसहार करते है—

गा०—कहे अनुसार उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे रहित भोजन और पानसे और परिमित, लघु, रसरहित और रूक्ष भोजन पानसे यह बाह्य तप नित्य यति करता है। इसका भाव है कि इस प्रकारका शुद्ध आहार खाकर तप करना चाहिए। अशुद्ध आहार करके नही ॥२४७॥

गा०—वर्द्धमान या हीयमान अनशन आदि तपोसे अथवा सर्वथा वर्द्धमान तपोके द्वारा आहारकी विधिको अल्प करता हुआ मुनि शरीरको कृश करता है ॥२४८॥

टी०—चतुर्थ, षष्ठ आदिके क्रमसे अनशन तपकी वृद्धि होती है। एक दो आदि ग्रास कम

---

१ कुर्यान्नाशुद्ध–अ० । कुर्यु· सुशुद्ध–आ० ।

कवलादिन्यूनतया अवमोदर्यवृद्धि । एकस्य रसस्य द्वयोस्त्रयाणामित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धि । एकपाटक, गृहसप्तक, गृहत्रय वा प्रविशामीति, भिक्षाग्रासपरिमाणन्यूनताकरणेन वा वृत्तिपरिसख्यानवृद्धिः । दिवसे आतपन कृत्वा रात्रौ प्रतिमावग्रहकरणमित्यादिना कायक्लेशवृद्धि । एव श्रमे महति सजाते क्रमेण अनशनादीना न्यूनताकरण । **'अहवा'** अथवा । **'एयंतवड्ढमाणेहिं'** एकान्तेन वर्धमानै तपोभि । **'सल्लिहइ'** सल्लिखति । **'मुणी'** मुनि । **'देहं'** । **'आहारविधि'** अशनादिविधि । **'पयणुगितो'** अल्पीकुर्वन् ॥२४८॥

प्रकारान्तरेण सल्लेखनोपायमाचष्टे—

अणुपुव्वेणाहारं संवट्टंतो य सल्लिहइ देहं ।
दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ ॥२४९॥

'अणुपुव्वेण' क्रमेण । **आहारं संवट्टंतो य** आहार न्यूनयित्वा । **सल्लिहइ देहं** तनूकरोति । **दिवसुग्गहिगेण तवेण** चावि एकैकदिन प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशन, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसख्यानं इति । **सल्लेहणं कुणइ** सल्लेखना करोति ॥२४९॥

विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं ।
संजममविराहिंतो जहाबलं सल्लिहइ देहं ॥२५०॥

'विविहाहिं' नानाप्रकारै । **'एसणाहिं य'** भोजनै रसवर्जितैरल्पै शुष्कैराचाम्लैर्वा । **'अवग्गहेहिं'** नानाप्रकारैरवग्रहै । **'उग्गेहिं'** उग्रै । **'सजममविराधेंतो'** संयम द्विप्रकार अविनाशयन् । **'जहाबलं'** स्वबलानतिवृत्त्या देह तनूकरोति ॥२५०॥

सदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ [1]भिक्खुपडिमाओ ।
ताओ वि ण बाधंते जहाबलं सल्लिहंतस्स ॥२५१॥

करनेसे अवमौदर्यकी वृद्धि होती है। एक रसका, फिर दो रसका, फिर तीन रसका, इत्यादि क्रमसे त्याग करनेसे रसपरित्यागकी वृद्धि होती है। मै एक पाटकमे या सात घरमे या तीन घरमे प्रवेश करूँगा। अथवा भिक्षाके ग्रासोका परिमाण कम करनेसे वृत्तिपरिसंख्यान तपकी वृद्धि होती है। दिनमे आतापन योग करके रात्रिमे प्रतिमा योग धारण करने आदिसे कायक्लेशकी वृद्धि होती है। इस प्रकार करनेसे महान् श्रम होनेपर क्रमसे अनशन आदिमे कमी करता है। या फिर बढाता ही जाता है और आहारको कम करके मुनि शरीरको कृश करता है ॥२४८॥

प्रकारान्तरसे सल्लेखनाका उपाय कहते है—

गा०—क्रमसे आहारको कम करते हुए शरीरको कृश करता है। और एक एक दिन ग्रहण किये तपसे, एक दिन अनशन, एक दिन वृत्तिपरिसख्यान इस प्रकार सल्लेखनाको करता है ॥२४९॥

गा०—नाना प्रकारके रस रहित भोजन, अल्प भोजन, सूखा भोजन, आचाम्ल भोजन आदिसे और नाना प्रकारके उग्र नियमोसे दोनो प्रकारके सयमोको नष्ट न करता हुआ यति अपने बलके अनुसार देहको कृश करता है ॥२५०॥

---

१. मासिय दुय तिय चउ पच मास छम्मास सत्त मासो य ।
तिण्णेव सत्तराइ राईदिय राइपडिमाओ ॥ —मूलाराधनादर्पणे ।

'सदि आउगे' आयुषि सति । **'सदि बले'** सति बले । **'जाओ'** या **'विविहाओ'** विचित्रा. । **'भिक्खु-पडिमाओ'** भिक्षुप्रतिमा । **'ताओ वि'** ताश्च । **'ण बाधंते'** न पीडा जनयति महती । कस्य ? **'जहाबलं सल्लिहंतस्स'** यथाबल तनूकुर्वत बलमन्तरेण कुर्वत प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभङ्ग सक्लेशश्च महान् जायते इति भावः ॥२५१॥

शरीरसल्लेखनाहेतुषु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

सल्लेहणा सरीरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ।
आयंबिलं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विंति ॥२५२॥

'सल्लेहणा शरीरे' शरीरसल्लेखनानिमित्त शरीरे सल्लेखना इत्युच्यते । **'तवोगुणविधी'** तप सज्ञितो गुणविकल्प । **'अणेगहा भणिदा'** अनेकधा निरूपित अतीतसूत्रै । **'तत्थ'** तत्र । **'महेसी'** महर्षय । **'आयंबिल दु'** आचाम्लाश[1]नमेव । **'उक्कस्सगं'** उत्कृष्टमिति । **'वेंति'** ब्रुवन्ति ॥२५२॥

टी०—आयुके होते हुए और बलके होते हुए अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करने वाले यतिके जो विविध भिक्षु प्रतिमाएँ है, वे भी महान् कष्ट नही देती । जो शक्तिके बिना करता है उसे प्रारम्भ मे ही महान् क्लेश होनेसे योगका भग तथा महा सक्लेश परिणाम होते है ॥२५१॥

विशेषार्थ—आशाधरजीने एक गाथाके द्वारा उसका अर्थ करते हुए भिक्षु प्रतिमाओका कथन किया है जो इस प्रकार है—

आत्माकी सल्लेखना करने वाला, धैर्यशाली, महासत्त्वसे सम्पन्न, परीषहोका जेता, उत्तम सहननसे विशिष्ट, क्रमसे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानको पूर्ण करना हुआ मुनि जिस देशमे रहता है उस देशके लिये दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है कि यदि एक मासमे ऐसा आहार मिला तो मै भोजन करूँगा, अन्यथा नही करूँगा । उस मासके अन्तिम दिन वह प्रतिमा योग धारण करता है । यह एक भिक्षु प्रतिमा है । इस प्रकार पूर्वोक्त आहारसे सौगुने उत्कृष्ट अन्य-अन्य भोजन सम्बन्धी नियम लेता है । ये नियम दो, तीन, चार, पाँच, छे और सात मासको लेकर होते है । अर्थात् दो या तीन आदि सात मासमे ऐसा आहार मिलेगा तो आहार करूँगा । सर्वत्र नियमोके अन्तिम दिन प्रतिमा योग धारण करता है । ये सात भिक्षु प्रतिमा है । पुन पूर्व आहार से सौगुना उत्कृष्ट दुर्लभ अन्य-अन्य आहारका नियम सात-सात दिनका तीन बार ग्रहण करता है । अर्थात् सात दिनमे ऐसा मिला तो ग्रहण करूँगा । ये तीन भिक्षु प्रतिमा है । फिर रात दिन प्रतिमायोगसे स्थित रहकर पीछे रात्रि प्रतिमायोग धारण करता है । ये दो भिक्षु प्रतिमा है । इनके धारण करनेपर पहले अवधि मन पर्यय ज्ञानको प्राप्त करनेके पीछ सूर्योदय होनेपर केवलज्ञानको प्राप्त करता है । इस तरह बारह भिक्षु प्रतिमायोगसे स्थित होकर पश्चात् रात्रि प्रतिमायोग धारण करता है ॥२५१॥

ऊपर जो शरीरकी सल्लेखनाके हेतु कहे है उनमे कौन उत्कष्ट है, यह कहते है—

गा०—शरीरकी सल्लेखनाके निमित्त अनेक प्रकार तप नामक गुणके विकल्प पूर्व गाथाओ के द्वारा कहे है । उनमेसे महर्षि आचाम्लको ही उत्कृष्ट कहते है ॥२५२॥

१ शनाय च आ० । —शनाख्य च मु० ।

शरीरसल्लेखनोपायोत्कृष्टमाचाम्लाशनमित्युक्तं तत्कीदृगिति चोदिते आह—

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं विदियअट्ठेहिं ।
मिदलहुग आहारं करेदि आयबिलं बहुसो ॥२५३॥

'**छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं विदियअट्ठेहिं**' द्वित्रिचतुःपञ्चदिनोपवासैः उत्कृष्टैः । '**मिदलहुगं आहारं करेदि**' परिमित लघ्वाहार करोति । '**आयंबिलं**' आचाम्ल । '**बहुसो**' बहुश ॥२५३॥

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्ण्यमानस्य कियत्काल इत्यत्रोत्तर—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो ।
कालम्मि सपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ॥२५४॥

'**उक्कस्सएण**' उत्कर्षेण । '**भत्तपइण्णाकालो**' भक्तप्रत्याख्यानकाल । '**जिणेहिं णिद्दिट्ठो**' जिनैर्निर्दिष्ट । '**कालम्मि**' काले । '**सपहुत्ते**' महति सति । '**बारसवरिसाणि**' सम्पूर्णद्वादशवर्षमात्रान् ॥२५४॥

उक्तेषु द्वादशवर्षेषु एव कर्तव्यमिति क्रमं सल्लेखनाय दर्शयति—

जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ सवच्छराणि चत्तारि ।
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि [1]सोसेदि ॥२५५॥

'**जोगेहिं**' कायक्लेशैः । '**विचित्तेहिं दु**' विचित्रैर्नियतैः । '**खवेदि**' क्षपयति । '**सवच्छराणि चत्तारि**' वर्षचतुष्टयं । यत्किंचिद्भुक्त्वा । '**वियडी णिज्जूहित्ता**' रसादीन्क्षीरादीन्परित्यज्य । '**चत्तारि**' वर्षचतुष्टय । '**पुणो वि**' पुनरपि । [2]'**सोसेदि**' तनूकरोति तनुम् ॥२५५॥

शरीरकी सल्लेखनाके उपायोमे आचाम्लको उत्कृष्ट कहा, वह कैसा होता है, यह कहते है—

गा०—उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पाँच दिनके उपवासके बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार आचाम्लको करते है ॥२५३॥

विशेषार्थ—'अदिविकट्ठेहि' के स्थानमे वियदि अट्ठेहि' पाठ भी मिलता है। उसका अर्थ 'विशेष अतिकष्ट' ऐसा होता है। इस गाथाका तात्पर्य यह है षष्ठ आदि उपवासोसे सक्लेशको न प्राप्त होता यति मित और लघु काजी का आहार प्रायः करता है। उसे सलेखनाके हेतुओमे उत्कृष्ट कहते है ॥२५३॥

जिस भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन चल रहा है उसका काल कितना है ? इसका उत्तर देते है—

गा०—यदि आयुका काल अधिक शेष हो तो जिन भगवान्ने उत्कृष्टसे भक्त प्रत्याख्यानका काल पूर्ण बारह वर्ष कहा है ॥२५४॥

उक्त बारह वर्षमे ऐसा करना चाहिये, इस प्रकार सल्लेखनाका क्रम बतलाते है—

गा०—नाना प्रकारके कायक्लेशोके द्वारा चार वर्ष बिताता है। दूध आदि रसोको त्यागकर फिर भी चार वर्ष तक शरीरको सुखाता है ॥२५५॥

---

१ मोमेइ अ० । २ मोरोदि अ० ।

आयंबिलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयबिलेण एक्कं च ।
अद्धं णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ॥२५६॥

'**आयबिलणिव्वियडीहिं**' आचाम्लेन निर्विकृत्या च । '**दोण्णि**' वर्षद्वयं क्षपयति । '**आयंबिलेण**' आचाम्लनैव । '**एक्कं च**' एक वर्षं । '**अद्ध**' अवशिष्टस्य वर्षस्य षण्मासान् । '**नादिविगट्ठेहिं**' अत्यनुत्कृष्टैस्तपोभिः क्रशयति । '**अदो अद्ध विकट्ठेहिं**' अत परं षण्मासान् उत्कृष्टैस्तपोभि ॥२५६॥

व्यावर्णितेनैव क्रमेण आचरितव्यमिति नियोगो न विद्यते इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्तं कालं धादुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा ।
वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभं ण उवयंति ॥२५७॥

'**भत्त**' आहार शाकबहुल, रसबहुल, कुल्माषप्राय, निष्पावचणकादिमिश्र, शाकव्यञ्जनादिरहित वा । '**खेत्तं**' अनूपजाङ्गलसाधारणविकल्प । '**कालं**' घर्मशीतसाधारणभेद । धातुमात्मन शरीरप्रकृति च । '**पडुच्च**' आश्रित्य । '**तह**' तथा । '**तव कुज्जा**' तप कुर्या'**ज्जहा खोभं ण उवयति**' । यथा क्षोभ नोपयान्ति । '**वादो पित्तो सिंभो वा**' वातपित्तश्लेष्मत्रिक ॥२५७॥

शरीरसल्लेखनाक्रममभिधायाभ्यन्तरसल्लेखनाक्रममभिधातु अभ्यन्तरसल्लेखनया सह सम्बन्ध कथयन्ति—

एव सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा व फासेंतो ।
अज्झवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज्ज ॥२५८॥

'**एव**'मुक्तेन क्रमेण । '**शरीरसल्लेहणाविहिं**' नानाप्रकार । '**फासेंतो वि**' स्पृशन्नपि । '**अज्झवसाण-**

गा०—आचाम्ल और निर्विकृतिके द्वारा दो वर्ष बिताता है। आचाम्लके द्वारा एक वर्ष बिताता है। मध्यम तपके द्वारा शेष वर्षके छह माह और उत्कृष्ट तपके द्वारा शेष छह मास बिताता है ॥२५६॥

विशेषार्थ—शेष चार वर्षोमे से दो वर्ष काजी और रस व्यजन आदिसे रहित भात वगैरह खाकर बिताता है। एक वर्ष केवल काजी आहार लेता है। अन्तिम बारहवे वर्षके प्रथम छह महीनोंमे मध्यम तप करता है। अन्तिम छह महीनोमे उत्कृष्ट तप करता है ॥२५६॥

आगे कहते है कि ऊपर कहे क्रमके अनुसार ही आचरण करनेका नियम नही है—

गा०—आहार, क्षेत्र, काल अपनी शारीरिक प्रकृतिको विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिये जिस प्रकार वात पित्त और कफ क्षोभको प्राप्त न हो ॥२५७॥

टी०—आहारके अनेक प्रकार है—शाक बहुल—जिसमे शाक ज्यादा है, रस बहुल—जिसमे घी दूध आदि रस अधिक है। कुल्माषप्राय—जिसमे कुलथी अधिक है। कच्चे चने आदि से मिला आहार और शाक व्यंजन आदिसे रहित आहार। क्षेत्र भी अनेक प्रकारके है जिसमें पानीकी प्रचुरता है, वर्षा अधिक होती है, कही वर्षा कम होती है। काल गर्मी सर्दी और साधारण होता है। इन सबका तथा अपनी प्रकृतिका विचार करके तप करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य खराब न हो ॥२५७॥

शरीरकी सल्लेखनाका क्रम कहकर अभ्यन्तर सल्लेखनाका क्रम कहनेके लिये अभ्यन्तर सल्लेखनाके साथ सम्बन्ध कहते है—

गा०—उक्त क्रमसे नाना प्रकारकी शरीर सल्लेखनाकी विधिको करते हुए भी परिणामो

विसुद्धि' परिणामविशुद्धि । '**खवगो खणमवि ण मुंचेज्ज**' क्षपक क्षणमपि न त्यजेत् ॥२५८॥

अभ्यन्तरशुद्धयभावे दोष कथयति—

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंपि ।
कुव्वंति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥२५९॥

'**अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा**' अध्यवमानविशुद्धया वर्जिता । '**जे**' ये । '**तवं**' तप । '**विगट्ठंपि कुव्वंति**' उत्कृष्टमपि कुर्वन्ति । '**बहिल्लेस्सा**' बहिर्लेश्या पूजासत्काराद्याहितचित्तवृत्तय । '**ण होदि तेंसि केवला सुद्धी**' दोषोन्मिश्रका भवतीनि शुद्धिरिति यावत् ॥२५९॥

केवला शुद्धि कस्य तर्हि भवतीत्याह—

अविगट्ठ पि तव जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ ।
अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवल सुद्धिं ॥२६०॥

'**अविकट्ठं वि**' अनुत्कृष्टमपि तपो य करोति । सुविशुद्धशुक्ललेश्यासमन्वित विशुद्धपरिणाम स केवला शुद्धि प्राप्नोति इति गाथार्थ ॥२६०॥

प्रस्तुता द्वितीया कषायसल्लेखनामुक्तयाध्यवसायविशुद्धया योजयति—

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति ।
अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा ॥२६१॥

'**अज्झवसाणविसुद्धी**' परिणामविशुद्धि । '**कसायकलुसीकदस्स**' कषायै कलुषीकृतस्य । '**णत्थि**' नास्ति यस्मात् इति तस्मात् । '**अज्झवसाणविसुद्धी**' परिणामविसुद्धि । '**कसायसल्लेहणा भणिया**' कषायसल्लेखनेति गदिता ॥२६१॥

की विशुद्धिको क्षपक एक क्षणके लिये भी न छोडे ॥२५८॥

अभ्यन्तर शुद्धिके अभावमे दोष कहते है—

गा०—परिणामोकी विशुद्धिको छोडकर जो उत्कृष्ट भी तप करते है उनकी चित्तवृत्ति पूजा सत्कार आदिमे ही लगी होती है । उनके अशुभ कर्मके आस्रवसे रहित शुद्धि नही होती । अर्थात् दोषोसे मिली हुई शुद्धि होती है ॥२५९॥

तब केवल शुद्धि किसके होती है, यह कहते है—

गा०—जो अतिविशुद्ध शुक्ललेश्यासे युक्त और विशुद्ध परिणामवाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धिको पाता है । यह गाथाका अर्थ है ॥२६०॥

प्रस्तुत दूसरी कषाय सल्लेखनाको उक्त अध्यवसान विशुद्धिसे जोड़ते है—

गा०—जिसका चित्त कषायसे दूषित है उसके परिणाम विशुद्धि नही होती । इसलिये परिणाम विशुद्धिको कषाय सल्लेखना कहा है ॥२६१॥

विशेषार्थ—जिस मुनिका चित्त क्रोधाग्निके द्वारा कलुषित है उस मुनिके परिणाम विशुद्ध नहीं हैं । अतः उसके कषाय सल्लेखना नही है । कषायके कृश करनेको कषाय सल्लेखना कहते हैं । और कषायके कृश हुए बिना परिणाम विशुद्ध नही होते । अत परिणाम विशुद्धिके साथ कषाय सल्लेखना का साध्य साधन भाव सम्बन्ध है ॥२६१॥

शुभपरिणामप्रवाहवृत्तेन चतुष्कषायसल्लेखना कृता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कषायाणा तनूकरणे उपाय प्रतिपक्षपरिणामचतुष्क कथयति—

कोध खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए ॥२६२॥

कोध खमायेत्यादिना कषायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्याग ॥२६२॥

उत्पद्यमानो हि कषायो वृद्धिमुपैतीति कथयति—

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं ।
जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चेव वज्जेइ ॥२६३॥

'कोहस्स य' अत्रैव पदघटना । **'जो तेसिं कसायाणमुप्पत्तिं चेव वज्जेदि'** यस्तेषां कषायाणामुत्पत्ति एव परिहरति । **'कोधस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं'** क्रोधमानमायालोभाना स नोपैति वश । यस्तेषामुत्पत्तिमपेक्षते स तद्वशग कथ कषायसल्लेखना कुर्यादिति भाव ॥२६३॥

कषायोत्पत्तिं परिहर्तुमिच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह—

तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गी ।
त वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥२६४॥

'त वत्थु मोत्तव्वं' तद्वस्तु मोक्तव्य । **'जं पडि उप्पज्जदे'** यन्निमित्त उत्पद्यते **'कसायग्गी'** कषायाग्नि । **'तं वत्थुमल्लिएज्जो'** तद्वस्तूपाश्रयण कुर्यात् । **'जत्थ'** यत्रोपाश्रयणे । **'उवसमो कसायाणं'** कषायाणामुपशमो भवति ॥२६४॥

जइ कहवि कसायग्गी समुट्ठिदो होज्ज विज्झवेदव्वो ।
रागद्दोसुप्पत्ती विज्झादि हु परिहरंतस्स ॥२६५॥

'जइ कहवि कसायग्गी' यदि कथचित्कषायाग्नि । **'समुट्ठिदो होज्ज'** समुत्थितो भवेत् । **'विज्झवे-**

जो शुभ परिणामोके प्रवाहमे बहता है वही चार कषायोकी सल्लेखना करता है यह कहकर, सामान्य से चारो कषायो को कृश करनेका उपाय उनके प्रतिपक्षी चार प्रकारके परिणाम हैं, यह कहते है—

टी०—क्रोधको क्षमासे, मानको मार्दवसे माया को आर्जवसे और लोभको सन्तोषसे, इस प्रकार चारो ही कषायोको जीतो ॥२६२॥

आगे कहते है कि उत्पन्न हुई कषाय बढती है—

टी०—जो उन कषायोकी उत्पत्तिको ही रोक देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया, लोभके वशमे नही होता ॥२६३॥

जो कषायकी उत्पत्तिसे बचना चाहता है उसे क्या करना चाहिए यह कहते हैं—

गा०—उस वस्तुको छोड देना चाहिए जिसको लेकर कषायरूपी आग उत्पन्न होती है । और उस वस्तुको अपनाना चाहिए जिसके अपनानेसे कषायोका उपशम हो ॥२६४॥

गा०—यदि थोडी भी कसायरूप आग उठती हो तो उसे बुझा दे। जो कषायको दूर करता है उसके राग-द्वेषकी उत्पत्ति शान्त हो जाती है ॥२६५॥

टी०—नीच जनकी संगतिकी तरह कषाय हृदयको जलाती है । अशुभ अंगोपांग नामकर्म-

वध्यो' विध्यापयितव्य' । **'रागद्दोसुप्पत्ती'** रागद्वेषयोरुत्पत्ति । **'विज्झावि हु'** शाम्यत्येव । **'परिहरंतस्स'** परिहरत । कषायाग्नि प्रशान्ति नीयते। तद्दोषापेक्षणेन नीचजनसाङ्गत्यमिव हृदय दहति, अशुभाङ्गोपाङ्ग-नामकर्मवद्विरूपानन करोति । रज इव चक्षुषो रागमानयति । महासमीरण इव तनु कम्पयति । सुरापानमिव यत्किचिन्निगदयति[2] । समीचीनज्ञानलोचन मलिनयति । दर्शनवनमुत्पाटयति । चारित्रसर शोषयति । तपः-पल्लव भस्मयति । अशुभप्रकृतिलता स्थिरयति । शुभकर्मफल विरसयति । प्रत्यग्रमनोमल ढौकयति । हृदय कठिनयति । प्राणभृतो घातयति । भग्तीममत्या प्रवर्तयति । गुरूनपि गुणान्लङ्घयति । यशोधन नाशयति । परानपवादयति । महतोऽपि गुणान्स्थगयति । मैत्रीमुन्मूलयति । कृतमप्युपकार विस्मारयति । अपकारमध्या-पयति । महति नरकगर्ते पातयति । दु खावर्ते निमज्जयतीत्यनेकानर्थविहन्वभावनया ॥२६५॥

रागद्वेषप्रशान्त्युपायकथनाय गाथा[3]—

जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं ।
ते वज्जतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥२६६॥

'जावंति केइ सगा' यावन्त केचन परिग्रहा । **'उदीरगा होंति रागदोसाणं'** उत्पादका भवन्ति राग-द्वेषयो । **'ते वज्जंतो'** तान्परिग्रहान्निराकुर्वन् । **'जिणदि खु'** जयत्येव । **'रागं दोसं च'** रागद्वेषौ । **'निस्संगो'** नि परिग्रह ॥२६६॥

के उदयसे जो मुख विरूप होता है वैसे ही कषायके उदयमे मनुष्यका मुख क्रोधसे विरूप हो जाता है। जैसे धूल पडनेसे आँख लाल हो जाती है उसी तरह क्रोधसे आँख लाल हो जाती है। जैसे महावायुसे शरीर काँपने लगता है वैसे ही क्रोधसे मनुष्य काँपने लगता है। जैसे शराबी शराब पीकर जो चाहे बकता है वैसे ही क्रोधमे मनुष्य जो चाहे बोल देता है। जैसे जिसपर भूतका प्रकोप होता है वह कुछ भी करता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे करता है। कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टिको मलिन कर देती है। सम्यग्दर्शनरूपी वनको उजाड देती है। चारित्र-रूपी सरोवरको सुखा देती है। तपरूपी पत्रोको जला देती है। अशुभकर्मरूपी बेलकी जड जमा देती है। शुभकर्मके फलको रसहीन कर देती है। अच्छे मनको मलिन करती है। हृदयको कठोर बनाती है। प्राणियोका घात करती है। वाणीको असत्यकी ओर ले जाती है। महान् गुणोका भी निरादर करती है। यशरूपी धनको नष्ट करती है। दूसरोको दोष लगाती है। महापुरुषोके भी गुणोको ढाँकती है, मित्रताकी जड खोदती है। किये हुए भी उपकारको भुलाती है। महान् नरकके गढेमे गिराती है। दु खोंके भँवरमे फँसाती है। इस प्रकार कषाय अनेक अनर्थ करती है। ऐसी भावनासे कषायको शान्त करना चाहिए ॥२६५॥

आगे गाथाके द्वारा रागद्वेषकी शान्तिके उपाय कहते है—

गा०—जितने भी परिग्रह रागद्वेषको उत्पन्न करते है, उन परिग्रहोंको छोड़नेवाला अपरि-ग्रही साधु राग और द्वेषको निश्चयसे जीतता है ॥२६६॥

---

१ विज्झादिषु अ० । विज्भादिसु आ० । २. यति । आविष्टग्रह इव यत्किचन कारयति समी–मु० । ३ गाथार्थं., अ० ।

एवमुदयमुपयाति कषायाग्नि स चेत्थमपकार करोत्येव प्रशान्ति नेतव्य इत्येतद्गाथात्रयोदाहरणेनोच्यते—

पडिचोदणासहणवायखुभिदपडिवयणइंधणाइद्धो ।
चंडो हु कसायग्गी सहसा संपज्जलेज्जाहि ॥२६७॥

'पडिचोधणा' प्रतिचोदनाया असहनमेव वात तेन क्षुभित:, प्रतिवचनेन्धनैरिद्ध क्रूर. कषायाग्नि. सहसा प्रज्वलति ॥२६७॥

जलिदो हु कसायग्गी चरित्तसार डहेज्ज कसिणं पि ।
सम्मत्तं[1] पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥२६८॥

'जलिदो हि कसायग्गी' ज्वलितश्च कषायाग्नि । **'चरित्तसार'** चारित्राख्य सार दहत्येव । सम्यक्त्व विनाश्यानन्तसमारपरिभ्रमणे रत कुर्यादेव ॥२६८॥

तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव ।
इच्छामिच्छादुक्कडवदणसलिलेण विज्झाहि ॥२६९॥

'तम्हा खु' तस्मात्खलु कषायाग्नि पापमुत्पद्यमानमेव प्रशमयेत् । केन "इच्छामि भगवत शिक्षा, मिथ्या भवतु मम दुष्कृत, नमस्तुभ्यं" इत्येवभूतेन सलिलेन ॥२२९॥

तह चेव णोकसाया सल्लिहियव्वा परेणुवसमेण ।
सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ ॥२७०॥

इस प्रकार कषायरूपी अग्निका उदय होता है और वह इस प्रकार अपकार करती है, तथा इस प्रकारसे उसे शान्त करना चाहिए, यह तीन गाथाओसे कहते है—

टी०—शिष्यकी अयोग्य प्रवृत्तिको रोकनेके लिए गुरुके द्वारा शिक्षा दिये जानेपर शिष्यने जो प्रतिकूल वचन कहे वह गुरुको सहन नही हुए। वही हुई वायु। उस वायुसे गुरुके मनम आग भडक उठी। उसके पश्चात् गुरुने शिष्यको पुन समझाया तो शिष्यने पुन. प्रतिकूल वचन कहे। उसने गुरुकी कोपाग्निमे ईधनका काम किया तो आग भडक उठा। अथवा गुरुने शिष्यको शिक्षा दी। शिष्य उससे क्रुद्ध हुआ। शिष्यकी क्रोधरूप वायुमे क्षुब्ध होकर गुरुने पुन उसे शिक्षा दी। उस शिक्षाने शिष्यकी क्रोधाग्निको भडकानेमे ईधनका काम किया। ऐसे भयानक कषायाग्नि सहसा भड़कती है ॥२६७॥

गा०—जलती हुई कषायरूप आग समग्र चारित्र नामक सारको जला देती है। सम्यक्त्वको भी नष्ट करके अनन्त ससारके परिभ्रमणमे लगा देती है ॥२६८॥

टी०—इसलिए पापरूप कषायाग्निको उत्पन्न होते ही बुझा देना चाहिए उसको बुझानेका जल है—मै भगवान् जिनेन्द्रदेवकी शिक्षाकी इच्छा करता हूँ। मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मै नमस्कार करता हूँ ॥२६९॥

---

१. 'सम्मत्तम्मि विराधिद'–अ०।

'**तह चेव णोकसाया**' तथैव नोकषाया तनूकर्तव्या । '**परेणुवसमेण**' परेणोपशमेन । सज्ञा, गारवाणि, अशुभाश्च लेश्या , हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुसकवेदा नोकषाया इत्युच्यन्ते । आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा सज्ञा । ऋद्धौ तीव्राभिलाषो, रसेषु, सुखे च गा[१]रवशब्देन उच्यते ॥२७०॥

कषायवत्स्वार्थभ्रशकरत्वाविशेषान्नोकषायादीनामपि मुमुक्षो सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

परिवड्ढिदोवधाणो विगडसिराण्हारुपासुलिकडाहो ।
सल्लिहिदतणुसरीरो अज्झप्परदो हवदि णिच्चं ॥२७१॥

'**परिवड्ढिदोवधाणो**' परिवर्द्धितावग्रह । अन्येषा पाठ [२]'**परिवद्दिदवावधाणो** परिवर्धितावधान । ''**वियडसिराण्हारुपासुलिकडाहो**' प्रकटीभूता महत्य अल्पाश्च सिरा पार्श्वास्थिमहतय कटाक्षदेशाश्च यस्य । '**सल्लिहिदतणुसरीरो**' सम्यक्तनूकृत शरीर यस्य स । '**अज्झप्परदो**' अध्यात्म ध्यान तत्र रत । '**होइ**' भवति । '**णिच्च**' नित्य ॥२७१॥

एवं कदपरियम्मो सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणे ।
संसारमोक्खबुद्धी सव्वुवरिल्लं तवं कुणदि ॥२७२॥

'**एवं कदपरियम्मो**' एवमुक्तेन क्रमेण कृतपरिकर । '**सब्भतरबाहिरम्मि सल्लिहणे**' अभ्यन्तरसल्लेखनासहिताया बाह्यसल्लेखनाया । '**संसारमोक्खबुद्धी**' ससारत्यागे कृतबुद्धि '**सव्वुवरिल्लं तवं**' सर्वेभ्यस्तपोभ्य उत्कृष्ट तपश्च[३]रति । **सल्लेहणा सम्मत्ता** ॥२७२॥

सल्लेखनानन्तर कार्यमुपदिशति—

वोढुं गिलादि देह पव्वोढव्वमिणसुचिभारोत्ति ।
तो दुक्खभारभीदो कदपरियम्मो गणमुवेदि ॥२७३॥

गा०-टी०—इसी तरह उत्कृष्ट उपशमभावके द्वारा नोकषाय, सज्ञा, गारव और अशुभ लेश्याओका घटाना चाहिए। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसक वेद इन्हे नोकषाय कहते है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी चाहका नाम सज्ञा है। ऋद्धिकी तीव्र अभिलाषा, रस और सुखकी चाहको गारव कहते है ॥२७०॥

गा०-टी०—जो प्रतिदिन अपने नियमोको बढाता है, जिसकी बडी और छोटी सिरायें, दोनो ओरकी हड्डियाँ और नेत्रोकी हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई देती है—शरीरको सम्यक्रूपसे कृश करनेवाला वह यति नित्य आत्मामे लीन रहता है ॥२७१॥

गा०-टी०—उक्त क्रमके अनुसार अभ्यास करनेवाला अभ्यन्तर सल्लेखना सहित बाह्य सल्लेखना करनेपर ससारके त्यागका दृढ निश्चय करके सब तपोंसे उत्कृष्ट तप करता है ॥२७२॥

सल्लेखना समाप्त हुई।

सल्लेखनाके अनन्तर होनेवाले कार्यका उपदेश देते हैं—

---

१ गौरव–अ०, आ० । २ परिवधाणो–अ० । ३ श्चरइ चरति–अ० ।

'वोढुं गिलादि देहं' शरीरोद्वहनहर्षरहित । **'पव्वोढव्व इणमसुइभारोत्ति'** परित्यागार्हमिव अशुचि-भारभूत शरीरमिति कृतचित्त । **'तो'** पश्चाद् **'दुःखभारभीवो'** दुःखभाजनाच्छरीराद्भीत । **'कयपरिकम्मो'** कृतसमाधिमरणपरिकर । **'गणं'** शिष्यवृन्दं । **'उवेदि'** ढौकते । अन्येषा पाठ **'वोढुं गिलामि देहं'** इति । ते व्याख्यानयन्ति–शरीरं वोढु अकृतादरोऽस्मि । **पव्वोढव्वमिणमसुइभारोत्ति** परित्याज्यमिद अशुचिभारभूत शरीरमिति कृतनिश्चय ॥२७३॥

सल्लेहणं करेंतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण ।
ताए वि अवत्थाए चिंतेदव्वं गणस्स हियं ॥२७४॥

'सल्लेहणं करेतो' सल्लेखना कर्तुमुद्यत । **'जइ'** यदि **'आयरिओ हवेज्ज'** आचार्यो भवेत् । **'तो'** तत । **'तेण'** तेन । **'ताए वि'** तस्यामपि । **'अवत्थाए'** अवस्थाया । **'चितेयव्वं'** चिन्तनीय । **'गणस्स'** गणस्य । **'हियं'** हित ॥२७४॥

कालं संभावित्ता सव्वगणमणुदिसं च वाहरिय ।
सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे[1] मंगलोगासे ॥२७५॥

'काल सभावित्ता' आत्मन आयु स्थिति विचार्य । **'सव्वगणं'** सर्वगण । **'अणुदिसं च'** बालाचार्यं च । **'वाहरिय'** व्याहृत्य । **'सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे'** सौम्ये दिने, करणे, नक्षत्रे, विलग्ने **'मंगलोगासे'** शुभे देशे ॥२७५॥

गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू ।
तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥२७६॥

गा०–टी०—यह अपवित्र और भाररूप शरीर त्यागने योग्य है ऐसा निश्चय करके जो शरीरको धारण करनेसे ग्लानि करता है उसे शरीरके धारण करनेमे कोई हर्ष नही होता । पीछे दुःखके घर इस शरीरसे डरकर समाधिमरणकी तैयारी करता हुआ अपने शिष्योके पास जाता है ।

दूसरे आचार्य 'वोढु गिलामि देह' ऐसा पाठ पढते है वे उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—मुझे शरीर धारण करनेमे कोई रुचि नही है यह अशुचि और भारभूत शरीर छोडने योग्य है ऐसा मैने निश्चय किया है ॥२७३॥

गा०–टी०—सल्लेखना करनेवाले दो प्रकारके होते है—एक आचार्य, दूसरे साधु । यदि आचार्य हो तो उसे उस अवस्थामे भी गणका हित विचारना चाहिए । अर्थात् आचार्य यदि सल्ले-खना धारण करनेका निश्चय करे तो उसे अपने सघके सम्बन्धमे भी विचार करना चाहिए कि उसकी क्या व्यवस्था की जाये ॥२७४॥

गा०–टी०—अपनी आयुकी स्थिति-विचारकर समस्त सघको और बालाचार्यको बुलाकर शुभ दिन, शुभकरण, शुभनक्षत्र और शुभलग्नमे तथा शुभ देशमे ॥२७५॥

गा०–टी०—गच्छका अनुपालन करनेके लिए गुणोसे अपने समान भिक्षुका विचार करके

---

१ गो तह मं–अ० ।

'गच्छाणुपालणत्थं' गच्छानुपालनार्थं । **'आहोइय'** विचार्य । **'अत्तगुणसम'** आत्मनो गुणैः समान । **'भिक्खु'** भिक्षु । **'तो'** तत । **'तम्मि'** तस्मिन् । **'गणविसग्गं'** गणत्याग । **'अप्पकहाए'** अल्पया कथया । **'कुणइ धीर'** करोति धीर । अन्ये तु वदन्ति **'अप्पणो'** कथयेति ।।२७६।।

किमर्थमेव प्रयतते सूरि ?

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ।
अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा वोत्ति बोधित्ता ।।२७७।।

'अव्वोच्छित्तिणिमित्तं' धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य व्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थं । **'सव्वगुणसमोयरं'** सर्वगुणसमन्वित । **'तगं'** तक **'णच्चा'** ज्ञात्वा, **'अणुजाणेदि'** अनुज्ञा करोति । **'दिसं'** आचार्य **'सो'** स एष । दिसा आचार्य **'वोत्ति'** युष्माकमिति । **'बोधित्ता'** बोधयित्वा । **दिसा समत्ता'** ।।२७७।।

क्षमाग्रहणक्रम निरूपयति—

आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि य तं गणिं ठवेदूण ।
तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं ।।२७८।।

'आमंतेऊण गणि' आमन्त्र्य आचार्यं । **'गच्छम्मि य'** गणे । **'तं गणि ठवेदूण'** त आत्मनानुज्ञात स्थापयित्वा, स्वय पृथग्भूत्वा । **'तिविधेण खमावेदि खु स बालउड्ढाउलं गच्छं'** मनोवाक्कायैर्ग्राहयति क्षमा स बालवृद्धैः सकीर्ण गण ।।२७८।।

जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहरागेण ।
कडुगफरुसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि ।।२७९।।

'ज दीहकालसवासदाए' दीर्घकाल सह सवासेन यज्जात ममत्व, स्नेहो, द्वेषो, रागश्च तेन । **'जं'** यत् **'कडुगफरुसं च भणिया'** कटुक परुष वा वच भणिता **'तं'** तत् युष्मान् । **'सव्वं खमावेमि'** सर्वान् क्षमा ग्राहयामि ।।२७९।।

पश्चात् वह धीर आचार्य थोडीसी बातचीत पूर्वक उस पर गणका त्याग करता है ।।२७६।।

आचार्य ऐसा क्यों करते है ? यह कहते है—

गा०-टी०—ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक धर्मतीर्थकी व्युच्छित्ति न हो, इसलिए उसे सब गुणोसे युक्त जानकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा शिष्योको समझाकर आप इस गणका पालन करे ऐसा उस नवीन आचार्यको अनुज्ञा करते है ।।२७७।।

दिसा प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब क्षमाग्रहणका क्रम कहते है—

गा०-टी०—आचार्यको बुलाकर गणके मध्यमे उस अपने द्वारा स्वीकृत गणीको स्थापित करके और स्वय अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियोसे भरे उस गणसे वह पुराने आचार्य मन वचन कायसे क्षमा मांगते है ।।२७८।।

गा०-टी०—दीर्घकाल तक साथ रहनेसे उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और रागसे जो कटुक

गणेन संपाद्य क्रममाचष्टे—

वंदिय णिसुडिय पडिदो तादार सव्ववच्छल तादिं ।
धम्मायरियं णिययं खामेदि गणो वि तिविहेण ॥२८०॥

'वंदिय णिसुडिय पडिदो' अभिवद्य सकुचितपतित. । **'तादारं'** ससारदु खात्त्रातार । **'सव्ववच्छलं'** सर्वेषा वत्सल । **'तादिं'** यति । **धम्मायरियं'** दर्शविधे उत्तमक्षमादिके धर्मे, स्वय प्रवृत्तं अन्येषा प्रवतक । **'णिययं'** आत्मीय । **'खामेदि गणो वि तिविहेण'** क्षमा ग्राहयति गणस्त्रिविधेन । **खमावणा समत्ता** ॥२८०॥

अनुशासननिरूपणार्थ उत्तरप्रबन्ध —

संवेगजणियहासो सुत्तत्थविसारदो सुदरहस्सो ।
आदट्ठचिंतओ वि हु चिंतेदि गणं जिणाणाए ॥२८१॥

'संवेगजणिवहासो' संसारभीरुतया करणभूतया उत्पादितहास । परिग्रहेऽस्मिस्त्यक्ते अभ्यन्तराश्च रागादय निमित्तापायादपयान्ति । तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि प्रलयमुपव्रजन्ति । तेषु नष्टेष्वेव चतुर्गति-भ्रमण नक्ष्यति[1] इति जात हर्ष । **'सुत्तत्थविसारदो'** सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थे च विसारदा निपुण **'सुदरहस्सो'** श्रुतप्रायश्चित्तग्रथ । **'आदट्ठचिंतओ वि हु'** आत्मप्रयोजनचितापरोऽपि । **'चिंतेदि गण जिणाणाए'** जिनाना-माज्ञया गणचिन्ता करोति ॥२८१॥

और कठोर वचन कहे गये आपसे मै उन सबकी क्षमा माँगता हूँ ॥२७९॥

गणके द्वारा किये जाने वाले कार्यको कहते है—

गा०–टी०—वन्दना करके, पृथ्वीपर पाँचो अगोको स्थापित करके अर्थात् पञ्चाग नमस्कार करके ससारके दु खोसे रक्षा करने वाले सबको प्रिय अपने दश प्रकारके उत्तम क्षमादिरूप धर्ममे स्वयं प्रवृत्त और दूसरोको प्रवृत्त करने वाले आचार्यसे गण भी मन वचन कायसे क्षमा माँगता है ॥२८०॥

क्षमाका प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे अनुशासनका कथन करते है—

गा०–टी०—संसारसे डरनेके कारण जिसे हर्ष प्रकट हुआ है अर्थात् इस परिग्रहका त्याग करने पर अभ्यन्तर रागादि अपने निमित्तका विनाश होनेसे चले जायेगे क्योकि बाह्य परिग्रह रागादिके उत्पत्तिमे निमित्त है अत निमित्तके न रहनेसे नैमित्तिक रागादि भी नही रहेगे । और रागादिके न रहनेसे रागादिके कारण बन्धने वाले कर्म नष्ट हो जायेगे । उनके नष्ट होने पर चार गतियोमे भ्रमण नष्ट हो जायेगा, इसलिए जिसे हर्ष उत्पन्न हुआ है, और जिन भगवान्के द्वारा कहे गये सूत्र और उसके अर्थमे जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्त शास्त्र सुना है वह आचार्य अपने प्रयोजनकी चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान्की आज्ञासे गणकी चिन्ता करता है । अर्थात् यद्यपि आचार्य संल्लेखना धारण करनेके लिए अपना गण त्यागकर दूसरे गणमे जानेके लिए तत्पर है फिर भी गणकी चिन्ता करके उसे उपदेश देते है ॥२८१॥

---

१. इति विजित हर्षः आ० मु० ।

णिद्धमहुरगंभीरं गाहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ।
अणुसिट्ठिं देइ तहिं गणाहिवइणो गणस्स वि य ॥२८२॥

'**णिद्ध**' स्नेहसहिता । '**महुरं**' माधुर्यसमन्विता । '**गभीर**' सारार्थवत्तया गृहीतगाम्भीर्या । '**गाहुगं**' ग्राहिका सुखावबोधा । '**पल्हादणिज्जपच्छं च**' चेतःप्रल्हादविधायिनी । '**पत्थं**' पथ्या हिता । '**अणुसिट्ठि देइ**' अनुशिष्टि ददाति । '**तहिं**' तस्मिन्पूर्वोक्ते काले देशे च । '**गणाहिवइणो गणस्स वि य**' गणाधिपतये गणाय च ॥२८२॥

वड्ढंतओ विहारो दंसणणाणचरणेसु कायव्वो ।
कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गे ॥२८३॥

"**वड्ढंतगो विहारो कायव्वो**' वर्धमानविहार कार्य । क्व ? '**सव्वेसि कप्पाकप्पट्ठियाणं अणागदे मग्गे**' सर्वेषा प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थितानां मुक्तिमार्गे । प्रमत्तसयतादिगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्म दसणवदसामायिकादिविकल्पेन प्रवृत्तिधर्मोऽपि विचित्ररूप । तस्य सकलस्योपादान सर्वेषामित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशकायामाह—सामान्येन '**दंसणणाणचरणेसु**' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु । चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुपदेश ॥२८३॥

सूरये कथयति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण वड्ढंती ।
उदधिंतेण वरणदी तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि ॥२८४॥

'**संखित्ता वि य**' संक्षिप्तापि च '**पवहे**' प्रवाहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाह उत्पत्तिस्थान तत्र संक्षिप्तापि सती वरनदी । '**जह वच्चइ**' यथा व्रजति । '**वित्थरेण**' पृथुलतया । '**वड्ढंती**' वर्द्धमाना । '**उदधिंतेण**' यावत्समुद्र । '**तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि**' तथा शीलगुणैस्त्व वर्धस्व ॥२८४॥

मज्जाररसिदसरिसोवम तुमं मा हु काहिसि विहारं ।
मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च ॥२८५॥

गा०–टी०—उस पूर्वोक्त शुभ तिथि आदिसे युक्त काल और देशमे गणाधिपति और गणको भी स्नेह सहित, माधुर्यसे युक्त, सारवान होनेसे गम्भीर सुखसे समझमे आने वाली, चित्तको आनन्द दायक और हितकारी शिक्षा देते है ॥२८२॥

गा०–टी०—सब प्रवृत्ति और निवृत्ति मे स्थित मुनियो और गृहस्थोको मुक्तिके मार्गमे सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रमे वर्धमान विहार उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए। यति धर्म प्रमत्त सयत आदि गुणस्थानोकी अपेक्षा अनेक प्रकार है। प्रवृति रूप गृहस्थ धर्म भी दर्शन, व्रत सामायिकके भेदसे अनेक प्रकार है। उस सबका ग्रहण यहाँ 'सब' शब्दसे किया है। यह चारों प्रकारके सघको लक्ष्य करके आचार्य उपदेश देते है ॥२८३॥

नये आचार्यको कहते है—

गा०टी०—उत्पत्ति स्थानमे छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तारके साथ बढ़ती हुई समुद्र तक जाती है उसी प्रकार तुम शील और गुणोसे बढो ॥२८४॥

'मज्जाररसिदसरिसोवमं' मार्जारस्य रसित रटन मार्जाररसित तेन सह सादृश्य उपमा परिच्छेदो यस्य विहारस्य तन्मार्जाररमितसदृशोपम विहार चरण । **'तुम'** भवान् । **'मा हु काहिसि'** मा कार्षी । मार्जारस्य रसित प्राड्महत् क्रमेणापचीयते तद्वद्रत्नत्रयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मन्दायमाना न कर्तव्येति यावत् । **'मा णासेहिसी दोण्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च'**—आत्मनो गणस्य च विनाश मा कृथा । प्रथममेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनाया प्रवृत्तो भवान् गण च तथा प्रवर्त्यमानो दुश्चरतया नश्यति ।।२८५।।

जो सघरं पि पलित्तं णेच्छदि विज्झविदुमलसदोसेण ।
किह सो सद्दहिदव्वो परघरदाहं पसामेदुं ।।२८६।।

'जो सघरं पि' य स्वगृह अपि । दह्यमानमालस्यान्न वाञ्छति विध्यापयितु कथमसौ श्रद्धातव्य परकीयगृहदाह प्रशमयितु उद्योग करोतीति ।।२८६।।

तस्माद्भवतैव प्रवर्तितव्यमित्याचष्टे—

वज्जेहि चयणकप्पं सगपरपक्खे तहा विरोधं च ।
वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ।।२८७।।

'वज्जेहि चयणकप्पं' वर्जय अतिचारप्रकार ज्ञानदर्शनचारित्रविषय । अवाचनाकाले अस्वाध्यायकाले वा पठन । क्षेत्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि वा विना । निह्नव, ग्रन्थार्थयोरशुद्धि, अबहुमान इत्यादिको ज्ञानातिचार । शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशमासस्तवा सम्यग्दर्शनातिचारा । समितिभावनारहितता चारित्रातिचार । एते च्यवनकल्पेनोच्यन्ते । **'सगपरपक्खे तहा विरोहं च'** धर्मस्थेषु, मिथ्यादृष्टिषु च विरोध वर्जयेत् । चेत समाधानविनाशकारण **वादं च वज्जणीय** । वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जय पराजय परस्य वा

गा०-टी०—तुम विलावके शब्दके समान आचरण मत करना। विलावका शब्द पहले जोरका होता है फिर क्रमसे मन्द हो जाता है उसी तरह रत्नत्रयकी भावनाको पहले बडे उत्साहसे करके पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना। और इस तरह अपना और सघ दोनोका विनाश न करना। प्रारम्भमे ही कठोर तपकी भावनामे लगकर आप और गणको भी उसीमे लगाकर दुश्चर होनेसे विनाशको प्राप्त होगे।।२८५।।

गा०-टी०—जो जलते हुए अपने घरको भी आलस्यवश बचाना नही चाहता। उसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरेके जलते घरको बचायेगा।।२८६।।

इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए, यह कहते है—

गा०-टी०—ज्ञान दर्शन और चारित्रके विषयमे अतिचारोको दूर करो। जो वाचना और स्वाध्यायका काल नही है उसमे क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि. और भाव शुद्धिके बिना वाचना आदि करना, निह्नव, ग्रन्थ और अर्थकी अशुद्धि, आदरका अभाव इत्यादि ज्ञान विषयक अतिचार हैं। शंका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशसा और सस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतिचार है। समितिकी भावना न होना चारित्रका अतीचार है। ये सब 'च्यवनकल्प' कहे जाते हैं। धार्मिको और मिथ्यादृष्टियोके साथ विरोध नही करना चाहिए। चित्तकी शान्तिको भग करने वाला वाद भी नहीं करना चाहिए। वाद करने वाला जिस प्रकार अपनी जय और दूसरेकी पराजय हो यही

भवति तदेवान्वेषते न तत्त्वसमाधानवान् । 'विसग्गिभूदे कसाये य' कषाया हि क्रोधादय स्वस्य परस्य च मृत्यु उपानयन्ति इति विषभूता, हृदय दहन्तीति दहनभूतास्ताश्च वर्जय ।

तथा चोक्त— त्रिलोकमल्लाः कुलशीलशत्रवो, मलानि दुर्मार्ज्यतमानि चापि ते ।
यशोहरा हानिकरास्तपस्विनां, भवन्ति दौर्भाग्यकरा हि देहिनाम् ॥ १ ॥—[ ]
न केवल ते परलोकलोपिनः, इमं च लोकं क्षपयन्ति वारुणाः ।
न धर्ममात्रस्य च विघ्नहेतवो, धनस्य कामस्य च ते विघातकाः ॥ २ ॥ इति—[ ]

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।
ण चएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधणी सो ॥२८८॥

'णाणम्मि दसणम्मि य' रत्नत्रये गणमात्मान च यो न स्थापयितु समर्थो नैवासौ गणधर । ण च एदि न समर्थ । बहवो मम वशवर्तिन सन्ति एतावता भवतो गणित्वगर्वो माभूदिति भाव ॥२८८॥

कीदृक्तर्हि गणधरो भवतीति चेदेवभूत इत्याचष्टे—

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।
चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥२८९॥

स्पष्टार्था गाथा ॥२८९॥

पिंडं उवहिं सेज्जं अविसोहिय जो हु भुंजमाणो हु ।
मूलट्ठाण पत्तो मूलोत्ति य समणपेल्लो सो ॥२९०॥

प्रयत्न करता है तत्त्वका समाधान नही करता। क्रोधादि कषाय अपनी और दूसरेकी मृत्युमे कारण होती है इसलिए वे विषरूप है और हृदयको जलाती हैं इसलिए आगके समान है। उन्हे छोडना चाहिए। कहा भी है—

ये कषायें तीन लोकमे मल्लके समान है। कुल और शीलके शत्रु है। वे ऐसे मल है जिनको दूर करना सबसे कठिन है। ये कषाये तपस्वियोकी हानि करने वाली और उनके यशको हरने वाली हैं तथा प्राणियोके दुर्भाग्यको करने वाली है। 'वे कषाये केवल परलोकको ही नष्ट नही करती, किन्तु इस लोकको भी हीन करती हैं। वे केवल धर्ममे ही विघ्न नही डालती किन्तु अर्थ और काम की भी घातक हैं' ॥२८७॥

टी०—आगमके सारभूत तीन दर्शन ज्ञान और चारित्र रत्नत्रयमे जो गणको और अपनेको स्थापन करनेमे समर्थ नही है वह गणधर नही है। मेरे अधीन बहुतसे मुनि है इसलिए आपमे गणी होनेका घमण्ड नही होना चाहिए ॥२८८॥

तब गणधर कैसा होता है यह कहते हैं—

गा०—आगमके सारभूत तीन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रमे अपनेको और गणको स्थापित करनेमें जो समर्थ होता है वह गणधर है ॥२८९॥

---

१. वतो न ग–अ० । २ अ० आ० प्रत्यो' इयं गाथा 'णाणम्मि दसणम्मि इति लिखिता, न सर्वा ।

पिंडं उवहि सेज्जं उग्गमउप्पादणेसणादीहिं ।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ॥२९१॥

'**पिंडं**' आहार, '**उवहिं**' उपकरण, '**सेज्जं**' वसति । **सोधितो** शोधयन् । '**उग्गमउप्पादणेसणादीहिं**' उद्गमोत्पादनैषणादिभिर्दोषैः । किमर्थं शोधयति ? '**चारित्तरक्खणट्ठं**' चारित्ररक्षणार्थं उद्गमादिदोष परिहरति । सुसयत इति लोके यशो मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशने लाभो ममेत्थ भवतीति वा चेतस्यकृत्वेति भाव. । एवभूत सुचरित्रो भवतीति यति ॥२९१॥

एसा गणधरमेरा आयारत्थाण वण्णिया सुत्ते ।
लोगसुहाणुरदाणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ॥२९२॥

'**एसा गणधरमेरा**' एषा गणधरमर्यादा । '**सुत्ते वण्णिदा**' सूत्रे निरूपिता । केषा ? '**आयारत्थाण**' आचारस्थाना । पञ्चविधे आचारे ये स्थितास्तेषा गणिना व्यवस्था सूत्र वर्णिता । '**लोगसुहाणुरदाणं**' लोकानुवर्तिना सुखेप्सुना च । यथेच्छया असयतजनससर्ग सुखादरश्च शास्त्रे निषिद्ध । तत्र ये वर्तन्ते स्वेच्छया तेषा '**अप्पच्छंदो**' आत्मेच्छा एव केवला न तेषा गणधरमर्यादा सूत्रे [1]वर्णिता । अथवा लोकसुख नाम मृष्टाहारभोजन, यथाकाम, मृदुशय्याशयन, मनोज्ञे वश्मनि वसन च तत्र रताना विषयातुराणामित्यर्थ ॥२९२॥

सीदावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ॥२९३॥

'**सीदावेदि**' मद करोति । '**विहार**' चारित्र रत्नत्रये प्रवृत्ति । '**सुहसीलगुणेहि**' सुखसमाधानाभ्यासै. । '**जो अबुद्धिओ**' यो बुद्धिरहित । **सो[2] णवरि लिगधारी**' स वृथालिगी भवति, द्रव्यलिंग धारयति । **सजमसारेण णिस्सारो**' सयमाख्येन इंद्रियप्राणसयमविकल्पेन सारेण नि सार केवलनग्न स इति ।[3] एतदुक्त भवति ॥२९३॥

गा०—आहार, उपकरण और वसतिका शोधन किये बिना जो उसका सेवन करता है वह साधु मूल स्थान नामक दोषको प्राप्त होता है और वह भ्रष्टश्रमण[4] है ॥२९०॥

आहार, उपकरण और वसतिका जो उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषोंसे चारित्रकी रक्षाके लिए शोधन करता है वह सम्यक् सयमी है। मेरा लोकमे यश होगा कि यह सुसयमी है अथवा अपने आगमका प्रकाश करनेसे मुझे लाभ होगा ऐसा वह अपने मनमे नही सोचता। ऐसा यति ही सम्यक् चारित्र वाला होता है ॥२९१॥

गा०-टी०—पाँच प्रकारके आचारमे स्थित जो गणी है उन गणियोकी यह गणधर मर्यादा सूत्रमेकही है। जो लोकके अनुसार चलने वाले सासारिक सुखके इच्छुक है अथवा लोकसुख यानी मिष्टाहारका यथेच्छ भोजन, कोमल शय्या पर शयन, मनोहर घरमे निवास, इनमे जो रत है अर्थात् जो स्वेच्छाचारी है उनकी गणधर मर्यादा सूत्रमे नही कही है ॥२९२॥

गा०-टी०—जो बुद्धिहीन साधु सुखशील गुणोके कारण रत्नत्रयमे प्रवृत्तिरूप चारित्रमे उदासीन रहता है वह केवल द्रव्यलिंगका धारी है और इन्द्रिय सयम तथा प्राणसयमसे शून्य है ॥२९३॥

---

१ व्यावर्णिता—आ० मु० । २ सो नवरिलिंगी भवति द्रव्य—अ० । ३ नि सार एत—आ० मु० ।
४. इस गाथा पर टीका नही है ।

पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिय जो खु भुंजमाणोदु ।
मूलट्ठाणं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो ॥२९४॥

य उद्गमादिदोषोपहृतमाहार, उपकरणं, वसतिं वा गृह्णाति तस्य नेन्द्रियसंयम, नैव प्राणसयम., न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ॥२९४॥

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ ममत्तिं जो ।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ॥२९५॥

'कुलगामणयररज्जं' कुल, ग्राम, नगर, राज्य च । **'पयहिय'** परित्यज्य । **तेसु कुणदि ममत्तिं जो'** ग्रामादिषु पुन य करोति ममता । मदीयं कुल, अस्मदीयो ग्राम, नगर, राज्य चेति । यो हि यत्र ममता करोति तस्य यदि शोभन जात तुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, सक्लिश्यति वा । ततो रागद्वेषयोर्लभे च वर्तमान. [1]असयतेष्वादरवात् (वत्त्वात्) कथमिव सयतो भवतीति भाव ॥२९५॥

[2]अपरिस्साई सम्म समपासी होहि सव्वकज्जेसु ।
संरक्ख सचक्खुं पि व सबालउड्ढाउलं गच्छं ॥२९६॥

'अपरिस्साई' गुरुरयमिति शका विहाय निगदितानामपराधाना प्रकटन मा कृथा । **'समपासी चेव होहि कज्जेसु'** कार्येषु सम्यक् समदर्श्येव च भव । **'संरक्ख सचक्खुं पि व'** परिपालय स्वनेत्र इव । किं ? **'सबालउड्ढाउल गच्छ'** सबालैर्वृद्धैराकीर्णं गण ॥२९६॥

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ।
पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो व तं वज्जो ॥२९७॥

'णिवदि विहूणं खेत्तं परिहर' नृपतिरहित क्षेत्र त्यज । **'णिवदि वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज'** नृपतिर्वा यस्मिन् देशे दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्र परित्यज । **'पव्वज्जा च ण लब्भदि जत्थ'** प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे ।

गा–०टी०—जो उद्गम आदि दोषोसे सहित आहार, उपकरण अथवा वसतिको स्वीकार करता है उसके न प्राणिसयम है और न इन्द्रिय सयम है। वह केवल नग्न है। न वह यति है और न गणधर है ॥२९४॥

गा०–टी०—जो कुल, ग्राम, नगर और राज्यको छोडकर भी उससे ममत्व करता है कि मेरा कुल है, हमारा गाँव है या नगर है राज्य है, वह भी केवल नग्न है। जो जिससे ममता करता है उसका यदि अच्छा होता तो उसे सन्तोष होता है अन्यथा द्वेष करता है अथवा सक्लेश करता है। इस तरह राग-द्वेष करने पर असयतोमे आदरवान होनेसे वह कैसे सयमी हो सकता है ॥२९५॥

गा०–टी०—'हमारा यह गुरु आलोचित दोषोको दूसरेसे नही कहता। ऐसा मानकर शिष्योके द्वारा प्रकट किये अपराधोको किसी अन्यसे मत कहो। कार्योंमे समदर्शी ही रहो। और बाल और वृद्ध यतियोंसे भरे गणकी अपनी आँखकी तरह रक्षा करो ॥२९६॥

गा०–टी०—जिस क्षेत्रमे कोई राजा न हो उस क्षेत्रको त्याग दो। अथवा जिस क्षेत्रका राजा

---

१ असंयतो भवतीति–आ० मु०। २. गाथा २९५-२९६ ग०।

शिष्या यत्र न जायंते तत्र्न। **'संजमघादो व जत्थ'** संयमस्य चोपघातो यत्र क्षेत्रे **'तं वज्जो'** त्यजेति गणिशिक्षा ॥ **गणिसिक्खा** ॥२९७॥

गण शिक्षयत्युत्तरप्रबन्धेन—

कुणह अपमादमावासएसु संजमतवोवधाणेसु ।
णिस्सारे माणुस्से दुल्लहबोहिं वियाणित्ता ॥२९८॥

'कुणह अपमादमावासगेसु' कुरुताप्रमादमावश्यकेषु । **'संजमतवोवधाणेसु'** सयमस्य, तपसश्चाश्रयेषु । अभ्यर्हित सयम इति पूर्वनिपात । सयम विना न तप शक्नोति कर्तुं मुक्तिर्मिति सामायिकादौ प्रवर्तमानस्य सयमो भवति । असयम त्यजतीति, सावद्यक्रियानिवृत्तौ सत्या कर्माणि तपतीति तपो भवति । नान्यथेति तपसोऽप्याश्रय । **'णिस्सारे माणुस्से'** साररहिते मानुष्ये अनित्यतया अशुचितया मनुजाना असार । तत्र **'दुर्लभां बोधि'** दुर्लभा दीक्षाभिमुखा बुद्धि । **'विजाणित्ता'** ज्ञात्वा ॥२९८॥

समिदा पंचसु समिदीसु सव्वदा जिणवयणमणुगदमदीया ।
तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुत्ता य दंडेसु ॥२९९॥

सम्यक्प्रवृत्ता **'होह'** भवत । **'पचसु समिदिसु'** पञ्चसु समितिषु । **'सव्वदा'** सवदा । **'जिणवयणमणुगदमदीगा'** जिनवचनमनुगतबुद्धय । **'तिहि गारवेहि रहिया'** गारवत्रयरहिता **'तिगुत्ता य'** गुप्तित्रयसमन्विता भवत । **'च दंडेसु'** अशुभमनोवाक्कायेषु ॥२९९॥

सण्णाउ कसाए वि य अट्ट रुद्दं च परिहरह णिच्चं ।
दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता सव्वप्पणो जिणह ॥३००॥

दुष्ट हो उस क्षेत्रको त्याग दो। जिस क्षेत्रमे प्रव्रज्या प्राप्त न हो अर्थात् शिष्य न बने, अथवा जिस क्षेत्रमे सयमका घात हो उस क्षेत्रको त्याग दो ॥२९७॥

आचार्य शिक्षा समाप्त हुई ।

आगे गण (सघ) को शिक्षा देते है—

गा०-टी०—मनुष्य जन्म अनित्य और अशुचि होनेसे सार रहित है। उसमे दीक्षा धारण करनेकी बुद्धि होना दुर्लभ है ऐसा जानकर आवश्यकोमे, जो संयम और तपके आश्रय हैं, प्रमाद मत करो। यहाँ पूज्य होनेसे सयमको तपसे पहले रखा है क्योंकि सयमके बिना अकेला तप मुक्ति नही प्राप्त करा सकता। सामायिक आदिमे प्रवर्तमान मुनिके सयम होता है। असयमको वह त्यागता है। सावद्य क्रियाकी निवृत्ति होने पर कर्मोंको तपनेसे तप होता है। सयमके बिना तप नही होता। अत आवश्यक कर्म तपके भी आश्रय है। इसलिए साधुको उनमे प्रमाद नही करना चाहिए ॥२९८॥

गा०—हे मुनिगण! आप सर्वदा पाँच समितियोके पालनमे तत्पर रहे। अपनी बुद्धिको जिनागमकी अनुगामिनी बनाओ। तीन गारव मत करो और अशुभ मन वचन कायके विषयमे तीन गुप्तियोका पालन करो ॥२९९॥

गा०—नित्य आहारादि विषयक सज्ञाओको, कषायोको और आर्त तथा रौद्रध्यानको दूर करो। तथा ज्ञान और तपसे युक्त होकर अपनी सर्वशक्तिसे दुष्ट इन्द्रियोको जीतो ॥३००॥

'सण्णाओ' संज्ञा आहारादिविषया । **'कसाए वि'** कषायानपि । **'अट्टं रुद्दं च'** आर्त रौद्र च ध्यान । **'परिहरत'** निराकुरुत । **'णिच्च'** नित्य । **'दुट्ठाइं इंदियाइं'** दुष्टानीन्द्रियाणि च । **'जुत्ता'** युक्ता ज्ञानेन तपसा च । **'सव्वप्पणा जिणह'** सर्वशक्त्या इन्द्रियजय कुरुत ॥३००॥

धण्णा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि ।
विहरति विगदसंगा णिराउला णाणचरणजुदा ॥३०१॥

'धण्णा हु ते मणुस्सा' धन्यास्ते मनुष्या । के ? **'जे विसयाउलम्मि लोयम्मि'** ये शब्दादिभिराकीर्णे जगति । **'विगदसंगा'** निःसगा क्वचिदपि विषये स्पर्शादौ । **'णिराउला'** । **'णाणचरणजुदा'** ज्ञानेन चारित्रेण च युता । ज्ञानचारित्रयुताना प्रशसा तत्रादरज[1]ननार्था गणस्य ॥३०१॥

सुस्सूसया गुरूण चेदियभत्ता य विणयजुत्ता य ।
सज्झाए आउत्ता गुरुपवयणवच्छला होह ॥३०२॥

'सुस्सूसगा गुरूणं' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रै गुणैर्गुरुतया गुरव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधव । तेषा शुश्रूषाकारिणो भवत । शुश्रूषापरेण भाव्य । लाभादिकमनपेक्ष्य तेषा गुणेष्वनुराग कृतो भवति । गुणानुरागाद्दर्शनशुद्धिस्तदीयरत्नत्रयानुमनन च भवति । सुकरो ह्युपाय पुण्यार्जने अनुमनन नाम । **'चेदियभत्ता य'** चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ता । यथा शत्रुणा मित्राणा वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुस्मरणे निमित्तनास्ति तद्वज्जिनसिद्धगुणा अनन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरण सपादयन्ति सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरण अनुरागात्मक ज्ञानदर्शने सन्निधापयति । ते च

गा०—वे मनुष्य धन्य है जो शब्दादि विषयोंसे व्याप्त जगत्मे किसी भी स्पर्शादि विषयमे आसक्ति नही रखते और निराकुल होकर ज्ञान और चारित्रसे युक्त होते है। जो ज्ञान और चारित्रसे युक्त होते है उनकी प्रशसा करनेसे सघका उनके विषयमे आदरभाव उत्पन्न होता है ॥३०१॥

गा०टी०—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नामक गुणोसे महान् होनेसे आचार्य उपाध्याय और साधुको गुरु कहते है। उनकी सेवामे तत्पर रहना चाहिए। लाभ आदिकी अपेक्षा न करके उनके गुणोमे अनुराग करना चाहिए। गुणोमे अनुराग करनेसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है और उनके रत्नत्रयकी अनुमोदना होती है। अनुमोदना पुण्य उपार्जन करनेका सरल उपाय है। चैत्य अर्थात् जिन और सिद्धोकी कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिबिम्बोमे भक्ति करना चाहिए। जैसे शत्रुओ और मित्रोकी प्रतिकृति देखनेसे द्वेष और राग उत्पन्न होता है। यद्यपि वे प्रतिकृतियाँ कोई अपकार या उपकार नही करती, तथापि उन शत्रुओ और मित्रोने जो अपकार या उपकार किये होते है उनके स्मरणमे उनकी प्रतिकृतियाँ निमित्त होती है। उसी तरह यद्यपि प्रतिबिम्बोमे जिन और सिद्धोके गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सम्यक्त्व वीतरागता आदि नही होते, तथापि उनके समान होनेसे उनके गुणोका स्मरण कराती है। और वह गुणोका स्मरण जो

१ जननार्थं गणस्य–आ० । जननसमर्था गणस्य मु० ।

संवरनिर्जरे महत्यौ सपादयत । तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनी कुरुत । 'विणयजुदा य' विलय नयति कर्ममलमिति विनय । ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रविनया उपचारविनयश्चेति पञ्च¹प्रकारेण विनये युक्ता भवत । शास्त्रोक्तवाचनास्वाध्यायकालयोरध्ययन श्रुतस्य श्रुत प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्व कृत्वा, अवग्रह परिगृह्य, बहुमानं कृत्वा, निह्नवं निराकृत्य, अर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धि सपाद्य एव भाव्यमान श्रुतज्ञान सवर निर्जरा च करोति। अन्यथा ज्ञानावरणस्य कारण भवेत् ।

शकाकाक्षादिनिरासो दर्शनविनय ।

स च प्रयत्नेन भवद्भि सपाद्योऽन्यथा शकादिपरिणामा मिथ्यात्वमानयन्ति । दर्शनमोहनीयस्य चास्रवा भवन्ति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मवशादनन्तससारपरिभ्रमण दु खभीरूणा भवता जायते । रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु मनोज्ञामनोज्ञेषु सन्निहितेषु अनन्तकालाभ्यासाद्रागोऽप्रीतिश्च जायते । तथा कषायाश्च बाह्यमभ्यन्तर च निमित्तमाश्रित्य प्रादुर्भवन्ति । ते चोत्पद्यमानाश्चारित्र विनाशयन्ति । कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो हि चारित्रं । रागादयश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अशुमनोवाक्कायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ता । तथा षड्जीवनिकायबाधापरिहारमन्तरेण गमन । मिथ्यात्वेऽसयमे वा प्रवर्तक वचन साक्षात्पारम्पर्येण वा जीवबाधाकरण भोजन अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेपौ शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडाहेतुरेता कर्मपरिग्रहनिमित्ता

अनुरागात्मक होता है, ज्ञान और दर्शनमे लगाता है। और वे ज्ञान और दर्शन महान् सवर और निर्जरा करते है । इसलिए उपयोगी चैत्य भक्ति करना चाहिए । कर्ममलका जो विलय करती है वह विनय है । ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तपविनय और उपचार विनय, इन पाच प्रकारकी विनयमे सलग्न रहो । शास्त्रमे जो वाचना और स्वाध्याय काल कहा है, उन कालोमे श्रुतका अध्ययन, और श्रुतका दान भक्तिपूर्वक करके अवग्रह स्वीकार करके, बहुमान करके, निह्नवको दूर करके, अर्थशुद्धि, व्यजन शुद्धि और अर्थ व्यजन दोनोकी शुद्धि करके । इस प्रकार आठ अंगोके साथ भाया गया श्रुत ज्ञान सवर और निर्जरा करता है। ऐसा नही करनेमे ज्ञानावरणका कारण होता है।

शङ्का कांक्षा आदिको दूर करना दर्शन विनय है। आपको प्रयत्नपूर्वक शका आदिको दूर करना चाहिए। ऐसा न करनेसे शका आदि परिणाम मिथ्यात्वको लाते हैं और दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवमे कारण होते है। उससे मिथ्यादर्शनमे निमित्त मिथ्यात्वकर्मके कारण आप जैसे दु:ख भीरुजनोको अनन्त ससारमे परिभ्रमण करना पडता है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्दके मिलनेपर अनन्तकालके अभ्यासवश राग और द्वेष उत्पन्न होते है। तथा बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तका आश्रय पाकर कपाये उत्पन्न होती है। और वे उत्पन्न होकर चारित्रको नष्ट करती है। कर्मोके ग्रहणमे निमित्त क्रियाओके रोकनेको चारित्र कहते है। रागादि कर्मोको ग्रहणमे निमित्त क्रिया है। अशुभ मन वचन और कायकी क्रिया भी कर्मोके ग्रहणमे निमित्त होती है। तथा छहकायके जीवसमूहको बाधा न पहुंचाये विना गमन करना, मिथ्यात्व और असयममे प्रवर्तक वचन बोलना, साक्षात् या परम्परासे जीवोको बाधा करनेवाला भोजन करना, विना देखे और बिना साफ किये वस्तुओको ग्रहण करना और रखना, विना देखी और बिना साफ की गई भूमिमे मलमूत्र त्यागना ये सब क्रियाएँ जीवोको कष्ट पहुचानेवाली हैं अतः

---

१. प्रकारे वि–आ० मु०।

क्रियाः। आसां परिवर्जनं चारित्रविनयः। व्यावर्णिताशुभक्रियापरिवर्जनं विना चारित्रं नाम किमारम्भवतां तस्मादत्रोद्योगं कुरुत। अनशनादिकतपोजनितक्लेशसहनं तपोविनयः। सति सक्लेशे महानास्रवो भवेदल्पा निर्जरा। उपचारविनयाद्विनीत इति पूज्यते बुधैरन्यथा अविनीत इति निन्द्यते किं च उपचारविनयं मनोवाक्कायविकल्पं यो न करोति, स गुरून्मनसावजानाति, नाभ्युत्तिष्ठति, नानुगच्छति. नाञ्जलिं करोति, न स्तौति, न विज्ञप्तिं करोति, गुरोरग्रत आसनमारोहति, याति पुरस्तेषां, निन्दति, परुषं वदति, आक्रोशति वा स नीचैर्गोत्रं बध्नाति। तेन श्वपाकचाण्डालादिकुलेषु गर्हितेषु, सारमेयग्रामसूकरादिषु वा जायते। न च रत्नत्रयं गुरुभ्यो लभते। विनीतं हि शिक्षयन्ति गुरवः, प्रयत्नेन मानयन्ति च ततो विनयपरा भवत। अविनये दोषं विनये च गुणं महान्तमवबुध्य **सज्झाए आजुत्ता होह**' शोभनं अध्ययनं स्वाध्यायः। जीवादितत्त्वपरिज्ञानं, तदुपायभूतश्च ग्रन्थः तस्मिन्स्वाध्याये आजुत्ता आयुक्ता भवत निद्रां, हास्यं क्रीडां, आलस्यं, लोकयात्रां च त्यक्त्वा। तथा चोक्तम्—

> **णिद्दं ण बहु मण्णेज्ज हासं खेडं विवज्जए।**
> **जोग्गं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा॥'' इति।** [ ]

'**गुरुपवयणवच्छल्ला होह**' गुरुप्रवचनवत्सला भवत ॥३०२॥

दुस्सहपरीसहेहिं य गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं।
अभिभूदा वि हु संता मा धम्मधुरं पमुच्चेह ॥३०३॥

कर्मोके ग्रहणमे निमित्त है। इनको त्यागना चारित्र विनय है। इन कही गई अशुभ क्रियाओको त्यागे विना आरम्भ करनेवालोके चारित्र कैसे हो सकता है। अतः इसमे उद्योग करना चाहिए। अनशन आदि तपसे होनेवाला कष्ट सहना तपविनय है। सक्लेश परिणाम होनेपर महान् आस्रव होता है और थोड़ी निर्जरा होती है। उपचार विनय करनेसे विद्वानोसे पूजित होता है। नही करनेपर अविनयी कहा जाता है और निन्दाका पात्र होता है। तथा मन वचन कायसे जो उपचार विनय नही करता वह मनसे गुरुओकी अवज्ञा करता है, उनके आनेपर खडा नही होता, उनके जानेपर पीछे-पीछे गमन नही करता, हाथ नही जोडता, स्तुति नही करता, विज्ञप्ति नही करता, गुरुके सामने आसन पर बैठता है, उनके आगे चलता है, निन्दा करता है, कठोर वचन बोलता है, चिल्लाता है, ऐसा करनेवाला नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर श्वपाक चाण्डाल आदि नीचकुलोमे और कुत्ता सुअर आदिमे जन्म लेता है। उसे गुरुओंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति नही होती। गुरु विनीतको शिक्षा देते है और प्रयत्नपूर्वक उसका सन्मान करते हैं। इसलिए अविनयमे दोष और विनयमे महान् गुण जानकर विनयी होना चाहिए। तथा स्वाध्यायमे लगना चाहिए। सुन्दर अध्ययनको स्वाध्याय कहते है। जीवादितत्त्वोका परिज्ञान और उसके उपायभूत ग्रन्थोकी स्वाध्यायमे निद्रा, हास्य, क्रीड़ा, आलस्य और लोकयात्राको त्यागकर लगना चाहिए। कहा भी है—'बहुत सोना नही चाहिए। हास्य क्रीड़ा छोड़ना चाहिए। सदा आलस्य त्यागकर श्रमणधर्मके योग्य कार्यमे लगना चाहिए।' तथा गुरुमे प्रवचनवात्सल्य रखना चाहिए ॥३०२॥

गा०—दुःसह परीषहोंसे और तीक्ष्ण आक्रोशवचनरूपी काँटोसे पराभूत होकर भी धर्मकी धुराके भारको मत त्यागो ॥३०३॥

'दुस्सहपरीसहेहिं य' दु सहै परिषहैश्च । **'गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं'** आक्रोशवचनकण्टकैस्तीक्ष्णैश्च । **'अभिभूदा वि य संता'** प[१]राभूता अपि सत । **'माधम्मधुरं पमुच्चेह'** मा कृथा धर्मभारत्याग । ननु च **'दुस्सहपरीसहेहिं य अभिभूदा मा धम्मधुरं पमुच्चेहं'** इत्यनेनैव आक्रोशपरीषहसहन उपदिष्ट ? किमनेन **'गामवचीकंटएहिं'** इत्यनेन ? । अयमभिप्राय सूत्रकारस्य-सोढक्षुदादिवेदनोऽपि न स[२]हतेऽनिष्ट वचस्ततोऽति-दुष्करमपि तत्सोढव्य इति दर्शनाय पृथगुपादानम् ॥३०३॥

तपस्युद्योग सर्वप्रयत्नेन त्यक्तालस्यैर्भवद्भि इत्युपदिशति—

तित्थयरो चदुणाणी सुरमहिदो सिज्झिदव्वयधुवम्मि ।
अणिगूहिदबलविरिओ तवोविधाणम्मि उज्जमदि ॥३०४॥

'तित्थयरो' तीर्थंकर तरति ससार येन भव्यास्तत्तीर्थं । केचन तरति श्रुतेन गणधरैर्वालबनभूतैरिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणात्तीर्थंकर । अथवा 'तिसु तिट्ठदित्ति तित्थ' इति व्युत्पत्तौ तीर्थशब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मक उच्यते तत्करणात्तीर्थंकरो भवति । **'चउणाणी'** मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञान-वान् । **'सुरमहिवो'** सुरैश्चतु प्रकारै पूजित स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणेषु । **'सिज्झिदव्वगधुवम्मि'** नियोगभाविन्या सिद्धावपि । तथापि **'अणिगूहियबलविरिओ'** अनुपह्नुतबलवीर्य । **'तवोविहाणम्मि'** तप - समाधाने । **'उज्जमवि'** उद्योग करोति ॥३०४॥

किं पुण अवसेसाणं दुक्खक्खयकारणाय साहूणं ।
होइ ण उज्जमिदव्वं सपच्चवायम्मि लोयम्मि ॥३०५॥

'किं पुण अवसेसाणं' कि पुनर्न प्रयतितव्य अवशिष्टै साधुभि । **'दुक्खक्खयकारणाय'** दु खविनाशन-

---

टी०—शङ्का—'दु सह परीषहोंसे अभिभत होकर भी धर्मकी धुराको मत त्यागो । इतना कहनेसे आक्रोश परीषहका सहनेका उपदेश दे दिया, फिर 'तीक्ष्ण आक्रोश वचन' आदिके कहने-की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि भूख आदिकी वेदनाको सहनेवाला भी अनिष्टवचन नही सहता । अत अति दुष्कर भी आक्रोश वचनका सहना चाहिए । यह बतलानेके लिए पृथक् ग्रहण किया है ॥३०३॥

आगे उपदेश देते है कि आलस्य त्यागकर आपको पूरे प्रयत्नसे तपसे उद्योग करना चाहिए—

गा०—टी०—जिसके द्वारा भव्यजीव ससारको तिरते है वह तीर्थ है । कुछ भव्य श्रुत अथवा आलम्बनभूत गणधरोके द्वारा ससारको तिरते है अत श्रुत और गणधरोको भी तीर्थ कहते है । इन दोनो तीर्थोको जो करते है वे तीर्थंकर है । अथवा 'तिसु तिट्ठदित्ति तित्थ' इस व्युत्पत्तिके अनुसार तीर्थ शब्दसे रत्नत्रयरूप मार्ग कहा जाता है । उसके करनेसे तीर्थंकर होता है । वे मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्ययज्ञानके धारी होते है । स्वर्गसे गर्भमे आनेपर, जन्माभिषेक और तपकल्याणमे चार प्रकारके देव उनकी पूजा करते है । उनको सिद्धिकी प्राप्ति नियमसे होती है फिर भी वे अपने बल और वीर्यको न छिपाकर तपके विधानमे उद्यम करते है ॥३०४॥

गा०—टी०—तब दुःखका विनाश करनेके लिए शेष साधुओका तो कहना हो क्या है ।

---

१ अभिभूता अ० । २. सहतोऽतिदुष्क-अ० ।

निमित्तं । सापाये लोके आयुष , शरीरस्य, बलस्य नीरोगतायाश्च विनाशे अविदितकाले सति, दावानलसमाने मृत्यावायाति, लोकवनमिदं अशेषं भस्मसात्कर्तुं अद्य इत्यपि सुचिरं निमेषमात्रेणापि मृत्युरेयात् मासमर्द्धमासं ऋतुमयनं संवत्सरं वा प्रति वचनाधिकारं कस्माद्यावन्नायाति मृत्युस्तावत्तपस्युद्योगः कार्यः । न हि मृत्योर्देशनियमोऽस्ति । स्थल एव प्रचारो यथा शकटादीनां, समीरणपथ एव ज्योतिषां, सलिल एव मीनमकरादीनां । कष्टतमस्य पुनरस्य मृत्योः स्थले, जले, वियति च विहृतिः । दहनस्य, सुधासूतेर्वा सुराधिपतेः, प्रभंजनस्य शीतस्योष्णस्य वा, हिमान्या वा अप्रवेशदेशाः सन्ति न तथा मृत्योः । यथा वा निदानमानं व्याधीनां पित्तानिलश्लेष्मरूपमेव मृत्योः पुनरखिलमेव निदानं । वातस्य पित्तस्य कफस्य, शीतोष्णयोर्वर्षाहिमातपानां शक्यः प्रतीकारविधिर्न पुनः संसारे मृत्योः । हिमोष्णवर्षादीनां च कालो विदितोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य किंचिद्विद्यते । यथा राहुवदनकुहरे प्रवेशो निशापतेः । असत्यपि मृत्यूपनिपाते जीवतोऽपि कुरोगाशनिभ्यो महद्भयं । यथा वियतो निपतत्यबुद्ध एवाशनिः । आयुर्बलं रूपादयश्च । गुणास्तावदेव यावन्नोपैति रोगो देहं । यत्तु तन्त्वलग्नस्य[1]फलस्य तावदपातो यावन्न श्वपुसनः । व्याधौ बाध्यमाने देहे न सुखेन शक्यते श्रेयः कर्तुं, यथा वेश्मनि दह्यमाने समन्तान्न शक्यते प्रतीकारः । असन्तु वा रोगेषु रागशत्रुः सुहृन्मु[2]खेन शत्रुरिव प्रवृद्धः यदा नरस्य चित्तं बाधते न तदा समेऽधिकारः । पित्तोदयो वैद्यशुभप्रयोगैः प्रशाम्येदपि, रागोदयस्य

इस विनाशशील लोकमे आयु, शरीर, बल और नीरोगताके विनाशका काल अज्ञात है। दावानलके समान मृत्यु इस समस्तलोकरूपी वनको जला डालनेके लिए आज या देरमे या क्षणमात्रमे अथवा एकमास, एकपक्ष, ऋतु दो, मास, छहमास अथवा एक वर्षमे कब आ जायेगी यह कहना कठिन है। जबतक मृत्यु नही आती तबतक तपमे उद्योग करना चाहिए। मृत्युका कोई देश नियत नही है। जैसे गाडी आदि स्थलपर ही चलती है। ज्योतिषीदेव आकाशमे ही चलते है, मीन मगर आदि पानीमे ही चलते है। किन्तु यह सबसे अधिक दुखदायी मृत्यु जल, थल और आकाशमे विहार करती है। ऐसे देश है जहाँ आग, चन्द्रमा, इन्द्र, वायु, शीत, उष्ण अथवा बर्फका प्रवेश नही है। किन्तु ऐसा कोई देश नही जहाँ मृत्युका प्रवेश नही है। जैसे रोगोका निदान बात पित्त कफ ही है। किन्तु मृत्युका निदान तो सब ही है। वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, वर्षा, हिम, आतप इन सबका प्रतीकार करनेकी विधि है। किन्तु ससारमे मृत्युका कोई इलाज नही है। शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदिका काल तो ज्ञात है किन्तु मृत्युका काल ज्ञात नही है। जैसे चन्द्रमा राहुके मुखमे प्रवेश करके उससे दूर जाता है उस तरह मृत्युके मुखमें प्रवेश करके निकलना सम्भव नही है। मृत्यु न भी आये और जीवन बना रहे तब भी कुरोगरूपी वज्रपातका महाभय रहता है। जैसे आकाशसे अचानक वज्रपात होता है वैसे ही अचानक रोगका आक्रमण होता है। आयु, बल और रूपादि गुण तभी तक है जबतक शरीरमे रोग नही होता। तन्तुसे लगा फल तभी तक नही गिरता जबतक वायुको झोका नही आता। शरीरके रोगसे पीड़ित होनेपर सुखपूर्वक आत्मकल्याण नही किया जा सकता। जैसे घरके चारो ओरसे जलनेपर प्रतीकार सम्भव नही होता। अथवा रोगोके नही होनेपर रागरूपी शत्रु मित्रके रूपमे शत्रुकी तरह बढकर जब मनुष्यके चित्तको पीडा देता है तब समभाव कठिन होता है। पित्तका विकार वैद्यके कुशल प्रयोगोसे शान्त हो भी सकता है। किन्तु प्राणीके लिए अहितकर रागके उदयको समाप्त

१ रेवान्न मा–आ० मु० । २. मुखे श–अ० ।

प्राप्यहितस्य हन्तु प्रशम सुदुर्लभ । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धि पूर्वोक्तकर्मप्रशान्तौ तदैव श्रेयस्कृतौ **शक्ति** पित्तोपशान्तौ कार्यचित्ते च । इत्थ मृत्युव्याधयो राग इत्येते प्रत्यवाया जगति तारचेतसि कृत्वा, यदा **ते न सन्ति तदोद्योग** कार्य ॥३०५॥

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ।
आणाए णिज्जरित्ति य सबालउड्ढाउले गच्छे ॥३०६॥

'**सत्तीए भत्तीए**' शक्त्या भक्त्या च । '**विज्जावच्चुज्जदा**' वैयावृत्त्ये उद्यता । '**सदा होह**' नित्य भवत । '**आणाए णिज्जरित्तिय**' सर्वज्ञानामाज्ञा वैयावृत्त्य कर्तव्यमिति तदाज्ञया हेतुभूतया, वैयावृत्त्य हि तप निर्जरा भवतीति च । '**सबालउड्ढाउले**' सह बालैर्वर्धमाना ये वृद्धास्तैराकीर्णे गणे ॥३०६॥

वैयावृत्त्य [1]कर्तुमित्युक्त तदिदमिति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे ।
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥३०७॥

'**सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे**' शय्याकाशस्य, निषद्यास्थानस्य, उपकरणाना च प्रतिलेखना[2], उपग्रह उपकार । किंविषय ? '**आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु**' योग्यस्य आहारस्य औषधस्य वा दान स्वाध्यायोत्मारण अशक्तस्य शरीरमलनिराम । '**उवत्तणं**' पार्श्वात्पार्श्वान्तिरस्योत्थापनं ॥३०७॥

अद्धाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ।
वेज्जावच्चं उत्त संगहसारक्खणोवेदं ॥३०८॥

'**अद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे**' अध्वना श्रमेण श्रान्ताना पादादिमर्दन । स्तेनैरुपद्रुय-

करनेके लिए प्रशमभाव दुर्लभ है। जैसे पित्तके शान्त होनेपर चित्त काममे लगता है वैसे ही जिस समय पूर्वोक्त कर्मका उपशम होनेपर प्रशमभावकी प्राप्ति होती है, उसी समय आत्मकल्याण करनेकी शक्ति आती है। इस प्रकार ससारमे मृत्यु, व्याधि और राग ये बाधक है। उनको चित्तमे लाकर जब वे न हो तब तपमे उद्योग करना चाहिए ॥३०५॥

गा०—बालमुनि और वृद्ध मुनियोंसे भरे हुए गणमे सर्वज्ञकी आज्ञासे सदा अपनी शक्ति और भक्तिसे वैयावृत्य करनेमे तत्पर रहो। सर्वज्ञदेवकी आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिये। वैयावृत्य तप है और तपसे निर्जरा होती है ॥३०६॥

वैयावृत्य करनेके लिये कहा है। उस वैयावृत्य को बतलाते है—

गा०—सोनेके स्थान, बैठनेके स्थान और उपकरणोकी प्रतिलेखना करना, योग्य आहार योग्य औषधका देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनिके शरीरका मल शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य है ॥३०७॥

गा०—जो मुनि मार्गके श्रमसे थक गये है उनके पैर आदि दबाना, जिन्हे चोरों ने सताया

१. कर्तुमम्युद्युक्त प्रतीदमिति द–आ०, मु० । २ नाया उ–आ० ।

माणाना तथा श्वापदैः, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकैः मार्या च तदुपद्रवनिरासः विद्यादिभिः । 'ऊमे' दुर्भिक्षे सुभिक्षदेशनयन । 'वेज्जावच्च वुत्तं' वैयावृत्यमुक्तम् । 'संगहसारक्खणोवेदं' सग्रहसरक्षणाभ्यामुपेत' ॥३०८॥

वैयावृत्याकरण निन्दति—

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥३०९॥

अनिगूहितेत्यादिना—अनिगूढवीर्यो यो वैयावृत्य जिनोपदिष्ट क्रमेण न करोति । शक्तोऽपि सन् स निर्धर्मो भवति धर्मान्निष्क्रान्तो भवति इति सूत्रार्थ ॥३०९॥

दोषान्तराणि व्याचष्टे—

तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविराधणा अणायारो ।
अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ॥३१०॥

'तित्थयराणाकोवो' तीर्थकराणामाज्ञाकोप । 'सुदधम्मविराहणा' श्रुतोपदिष्टधर्मनाशन । 'अणाचारो' आचाराभाव वैयावृत्याख्ये तपसि अवृत्ते । 'अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि' आत्मा साधुवर्ग प्रवचन च त्यक्त भवति । तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तो भवति, आपद्युपकाराकरणाद्यतिवर्ग, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्त ॥३१०॥

गुणान्वैयावृत्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सद्धा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य ।
संधाणं तव पूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥३११॥

'गुणपरिणामो' यतिगुणपरिणति । 'सद्दा' श्रद्धा । 'वच्छल्लं' वात्सल्य । 'भत्ती' भक्ति । 'पत्तलंभो

है जगली जानवरोसे, दुष्ट राजासे, नदीको रोकने वालो से और मारी रोगसे जो पीडित है, विद्या आदिसे उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्षमे फँसे है उन्हे सुभिक्ष देशमे लाना, आप न डरे इत्यादि रूप से उन्हे धैर्य देना तथा उनका सरक्षण करना वैयावृत्य कहा है ॥३०८॥

वैयावृत्य न करने की निन्दा करते है—

गा०—अपने बल और वीर्यको न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्य नही करता है तो वह धर्मसे वहिष्कृत होता है यह इस गाथा का अभिप्राय है ॥३०९॥

वैयावृत्य न करनेसे तीर्थङ्करोकी आज्ञाका भग होता है। शास्त्रमे कहे गये धर्मका नाश होता है। आचारका लोप होता है और उस व्यक्तिके द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप मे उद्योग न करनेसे आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति मे उपकार न करनेसे मुनिवर्गका त्याग होता है और शास्त्र विहित आचरण न करनेसे आगमका त्याग होता है ॥३१०॥

दो गाथाओ से वैयावृत्य करनेमे गुणों को कहते हैं—

गा०—वैयावत्य करनेका पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है

य' पात्रस्य लाभ । **'संधाणं'** सधान । **'तव'** तप । पूया पूजा । **'अव्वुच्छित्ती य तित्थस्स'** अव्युच्छित्तिश्च तीर्थस्य । **'समाधी य'** समाधिश्च ।।३११।।

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य ।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ।।३१२।।

'आणा संजमसाखिल्लदा य' आज्ञा सयमसाहाय्य च । **'दाणं च'** दान च । सर्वज्ञोपदिष्टवैयावृत्यकरणादाज्ञा सपादिता । आज्ञासपादनमाज्ञासयम । परस्य वैयावृत्यकृत उपकार । रत्नत्रयस्य निरतिचारस्य दानं । **'संजमसाखिल्लदा य'** सयमसाहाय्यमिति चार्थ । **'अविदिगिंछा य'** अविचिकित्सा च । **'वेज्जावच्चस्स गुणा'** वैयावृत्यस्य गुणा । **'पभावणा'** प्रभावना च । **'कज्जपुण्णाणि'** कार्यनिर्वहणानि च ।।३१२।।

गुणपरिणामो इत्येतत्पद व्याचष्टे—

मोहग्गिणादिमहदा घोरमहावेयणाए फुट्टंतो ।
डज्झदि हु धगधगंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ।।३१३।

'मोहग्गिणा' अज्ञानाग्निना । **'अदिमहदा'** अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महदज्ञान तेन । **'डज्झदि'** दह्यते । **'घोरमहावेदणाए'** घोरया महत्या वेदनया । **'फुट्टंतो'** विशीर्यमाण । **'धगधगंतो'** धगधगायमान । **'ससुरासुरमाणुसो लोगो'** देवासुरमानुषै सह वर्तमानो लोक ।।३१३।।

एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्झविदे ।
डाहुम्मुक्का होंति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ।।३१४।।

'एदम्मि' एतस्मिन्लोके दह्यमाने । **'णवरि'** पुन । **'मुणिणो णिव्वेदणा चेव होंति'** मुनय एव निर्वेदना

उसकी पीडित साधुके गुणो मे वासना होती है कि मै भी ऐसा बनूं । और जिस साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणोमे विशेष प्रवृत्ति होती है । इसके सिवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रका लाभ, सन्धान-अपने मे जो गुण पूजा छूट गये है उनका पुन आरोपण, तप, धर्म तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि, ये गुण है ।।३११।।

गा०—सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करनेसे सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है। आज्ञा पालनसे आज्ञा सयम होता है । वैयावृत्य करने वालेका उपकार होता है । निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है । सयम मे सहायता होती है । विचिकित्सा—ग्लानि दूर होती है । धर्म की प्रभावना होती है और कार्यका निर्वाह होता है ।।३१२।।

'गुण परिणाम' पद का व्याख्यान करते है—

गा०—अति महान मोहरूपी आगके द्वारा सुर असुर और मनुष्यो सहित यह वर्तमान लोक धक्-धक् करते हुए जल रहा है । घोर महावेदनासे उसके अग टूट फूट रहे है ।।३१३।।

विशेषार्थ—'यह मेरा है और मै इसका हूँ' इत्यादि प्रत्यय रूप अज्ञान समस्त वस्तुओके सम्बन्धमे होनेसे उसे अतिमहान कहा है । तथा लोकमे बहिरात्मा प्राणियो का समूह लिया गया है ।

गा०—इस लोकके जलने पर भी मुनियो को कोई वेदना नही है । क्योकि ज्ञानरूपी जलके

भवन्ति । कथ ? 'णाणजलोवग्गहेण' ज्ञानजलोपग्रहेण । 'विज्झविदे' नष्टे मोहाग्नौ । 'डाहुम्मुक्का' दाहोन्मुक्ताः । 'दमेण' रागद्वेषप्रशमन च । एतदुक्त भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहोन्मूलिताज्ञानवह्निप्रसरत्व नाम यतीना गुण निर्वेदनत्व चेति ॥३१४॥

णिग्गहिदिंदियदारा समाहिदा समिदसव्वचेट्ठंगा ।
धण्णा णिरावयक्खा तवसा विधुणंति कम्मरय ॥३१५॥

'**णिग्गहिदिंदियदारा**' इन्द्रिय द्विविध द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय इति । तत्र द्रव्येन्द्रिय पुद्गलस्कन्धा आत्मप्रदेशाश्च तदाधारा । भावेन्द्रिय ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च । तत्रेहोपयोगेन्द्रिय गृहीत तस्माहचर्याद्रागद्वे षावमनोज्ञे मनोज्ञे च विषये प्रवृत्तौ इह पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारशब्देनोच्येते । तेनायमर्थ —निगृहीतेन्द्रियविषयरागद्वेषा इति । '**समाहिदा**' रत्नत्रये समवहितचित्ता । '**समिदसव्वचेट्ठंगा**' सम्यक्प्रवृत्तसर्वेहा । '**धण्णा**' पुण्यवन्त । '**णिरावयक्खा**' निश्चला इति केचिद्वदन्ति । अन्ये निरपेक्षा । सत्कार लाभ वानपेक्षमाणा इति कथयन्ति । '**तपसा विधुणंति कम्मरयं**' तपसा कर्मरजोविधूनन कुर्वन्ति । निगृहीतेन्द्रियत्व, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवद्यचेष्टावत्ता, सत्कारादर्निरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूनन च यतिगुणा एतया गाथया सूचिता ॥३१५॥

इय दढगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स ।
वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥३१६॥

'**इय**' एव '**दढगुणपरिणामो**' यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु दृढपरिणाम । '**साधुस्स वेज्जावच्चं करेइ**'

प्रवाहसे—आत्मा और शरीर आदिके भेद ज्ञानरूपी जलके प्रवाहसे मोहरूपी आगके नष्ट हो जानेसे तथा रागद्वेषके शान्त हो जानेसे वे दाह से मुक्त है। आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान रूपी जलके प्रवाहसे अज्ञानरूपी आगके फैलावको समाप्त कर देना और वेदना रहित होना अर्थात् ज्ञानानन्दमय होना यतियो का गुण है ॥३१४॥

गा०-टी०—इन्द्रियके दो भेद है द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल स्कन्धोके और उनके आधार भूत आत्म प्रदेशोके इन्द्रियाकार रचनाको द्रव्येन्द्रिय कहते है। और ज्ञानावरणके क्षयोपशम और इन्द्रियसे होने वाले रूपादि विषयक उपयोगको भावेन्द्रिय कहते है। इनमेसे यहाँ उपयोगरूप इन्द्रियका ग्रहण किया है, क्योकि उसकी सहायतासे मनको प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयो मे राग द्वेष होते है। पापकर्ममे निमित्त होनेसे यहाँ इन्द्रियद्वार कहा है अत यह अर्थ होता है जिन्होने इन्द्रियोके विषयोमे होने वाले रागद्वेषका निग्रह कर दिया है। जिनका चित्त रत्नत्रयमे लीन रहता है। जो ईर्याभाषा आदि चेष्टाएँ सम्यक् रूप करते है और जो 'णिरावयक्खा' है। इसका अर्थ कोई 'निश्चल' कहते है और कोई निरपेक्ष कहते है अर्थात् जो सत्कार और लाभ की अपेक्षा नही करते। वे पुण्यशाली मुनि तपसे कर्म रूपी धूलिको नष्ट करते है। इस प्रकार इन्द्रियो का निग्रह करना, रत्नत्रयमे एकाग्र होना, निर्दोष चेष्टाएँ करना, सत्कार आदि की अपेक्षा न करना, तप मे लीन रहना और कर्म रूपी रजका दूर करना ये यतियोके गुण इस गाथाके द्वारा कहे है ॥३१५॥

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे यतिके गुणोमे जिसका परिणाम दृढ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यतिमे

साधोर्वैयावृत्त्यं करोति । '**वेज्जावच्चेण**' वैयावृत्त्येन । '**तवो**' तेन '**गुणपरिणामो कदो होदि**' गुणपरिणाम कृतो भवति । एतदुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुणा, इमे नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यश्चेतसि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य चोपकारं कृतस्तस्य च गुणेषु परिणतिः कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यं इति आख्यातं ॥३१६॥

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढिं ।
वड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसड्ढावि ॥३१७॥

'**जह जह**' यथा यथा गुणपरिणामो भवति । '**तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढि**' तथाऽऽरोहति चारित्र-गुणश्रेणीः । '**वड्ढइ**' वर्धते । '**जिणवरमग्गे**' जिनेन्द्रमार्गे । किं वर्द्धते ? '**नवनवसवेगसड्ढावि**' प्रत्यग्र-संसारभीरुता श्रद्धापि । इह गुणशब्देन गुणनिर्भासं स्मार्तं प्रत्ययं उच्यते । तेनायमर्थः—यथा यथा यति-गुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानुपारोहति । विस्मृतयतिगुणो न तत्र प्रयतते । तेषां गुणानां स्मरणात्तत्र रुचिरुपजायते । गुणानुरागिणो हि भव्याः । संसारभीतिः श्रद्धा च प्रवर्तमाना दृढयति यतिं रत्नत्रये । एतया गाथया सूचिता श्रद्धा व्याख्याता ॥३१७॥

गुणानामनुस्मरणात्तत्र रुचिर्भवति रुचौ प्रवृद्धायां वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याचष्टे—

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि ।
तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥३१८॥

'**सड्ढाए वड्ढियाए**' श्रद्धया वर्धितया । '**वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि**' वात्सल्यं भावेन मनसा प्रारभते । '**तो**' ततः । '**तिव्वधम्मराओ**' धर्मे तीव्रो रागः । '**सव्वजगसुहावहो होदि**' सर्वेषु जगत्सु यत्सुख

ये गुण है। यदि मै इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा जो चित्तमे विचारता है वह उन गुणोमे परिणत होता है। और जिसकी सेवा की है उसकी गुणो मे परिणति होती है। अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणोसे सुवासित होता है और जिसका वैयावृत्य किया जाता है वह यति अपने गुणोसे च्युत नही होता। अतः अपने और दूसरोके उपकारके लिए वैयावृत्य कहा है ॥३१६॥

गा०—टी०—जैसे-जैसे गुण परिणाम होता है वैसे वैसे चारित्र रूप गुणोकी सीढी पर चढता है, और जिनेन्द्रके मार्गमे नई-नई संसार भीरुता और श्रद्धा भी बढती है। यहाँ गुण शब्दसे गुणोको विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता है—जैसे-जैसे यतिके गुणोका स्मरण होता है वैसे-वैसे चारित्र गुण पर आरोहण करता है। जो यतिके गुणोको भूल जाता है वह उसमे प्रयत्न नही करता। उनके गुणोका स्मरण करनेसे उनमे रुचि पैदा होती है। भव्य जीव गुणोकी अनुरागी होते है। संसारसे भय और श्रद्धा यतिको रत्नत्रयमे दृढ करती है। इस गाथासे श्रद्धा गुणका कथन किया ॥३१७॥

आगे कहते है कि गुणोके स्मरणसे उनमे रुचि होती है। रुचि बढने पर सम्यग्दर्शनका वात्सल्य नामक गुण होता है—

गा०—श्रद्धाके बढने पर मुनि मनसे वात्सल्य करते है। उससे धर्ममे तीव्र राग होता है। धर्ममे तीव्र राग समस्त जगतमे जो इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है। अथवा

ऐन्द्रियमतीन्द्रिय वा तदावहत्याकर्षति धर्मे तीव्रो राग । तीव्रधर्मरागो वा यतिरात्मन सकल सुखमावहति । वात्सल्य इत्येतद्व्याख्यात गाथयाऽनया ॥३१८॥

वैयावृत्यस्य च भक्तिर्नाम यो गुणस्त व्याचष्टे—

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य ।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य ॥३१९॥

'**अरहंतसिद्धभत्ती**' तत्रार्हन्तो नामातिक्रान्ते तृतीये भवे दर्शनविशुद्ध्यादिपरिणामविशेषवद्धतीर्थकरत्व-नामकर्मातिशया, स्वर्गावतरणादिपञ्चमहाकल्याणभागिन, घातिकर्मप्रलयाधिगतसकलद्रव्यत्रिकालगोचरस्वरूपावभासनपटुनिरतिशयज्ञानदर्शनमोहोन्मूलनोपजातवीतरागसम्यक्त्वा, चारित्रमोहोत्पाटनलब्धवीतरागभावा, वीर्यान्तरायकर्मप्रक्षयाविर्भूतानन्तवीर्या, परीतसंसारभव्यजनोद्धरणवद्धप्रतिज्ञा, अष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयविशेषा । सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्माष्टकबन्धनिर्मुक्ता अजरामराव्याबाधा उपमातीतानन्तसुखा जाज्वल्यमाननिरावरणज्ञानतनव पुरुषाकारावाप्तपरमात्मावस्था । एतयोरर्हत्सिद्धयोर्भक्ति । गुरुशब्देनात्राचार्योपाध्यायौ गृहीतौ तयोर्भक्ति । '**सव्वसाहुभत्ती य**' सर्वसाधुभक्तिश्च । '**आसेविआ**' आसेविता भवति । '**समग्गा**' समस्ता '**विमला वरधम्मभत्तीय**' प्रधाने धर्मे रत्नत्रयात्मके भक्तिश्च आसेविता भवति । अर्हदाद्युपदिष्टवैयावृत्त्यकरणात्तेषा भक्ति कृता भवति । रत्नत्रयवतामुपकारकरणात्तदादरत एव तत्र भक्ति । वैयावृत्य भक्तिमापादयति अर्हदादिष्वित्युक्त ॥३१९॥

धर्ममे तीव्रराग रखने वाला यति सब सुखको प्राप्त होता है। इस गाथासे वात्सल्यका कथन किया ॥३१८॥

वैयावृत्यका भक्ति नामक जो गुण है उसे कहते है—

गा०–टी०—इस भवसे पूर्व तीसरे भवमे दर्शन विशुद्धि आदि परिणाम विशेषसे जिसने तीर्थकरत्व नामक अतिशयशाली कर्मका बन्ध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण का भागी है जो कल्याणक किसी अन्यको प्राप्त नही होते, घातिकर्मोके विनाशसे जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्योके स्वरूपको प्रकाशित करनेमे पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन मोह के क्षय से जिन्हे वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्रमोहके क्षयसे जिसने वीतरागता प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्मके प्रक्षयसे जिनमे अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके ससारका अन्त आ गया है उन भव्यजीवोका उद्धार करनेकी प्रतिज्ञासे जो बद्ध है, जो आठ महाप्रातिहार्य और चौतीस अतिशय विशेषसे युक्त है, वे अर्हन्त है। मिथ्यात्व आदि परिणामोसे आये आठ कर्मोके बन्धनसे जो छूट चुके है, जो अजर अमर, अव्याबाध गुणसे युक्त है अनुपम अनन्त सुखसे शोभित है जिनके सदा प्रज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार है और जिन्होने परमात्म अवस्थाको पालिया है वे सिद्ध है। इन अर्हन्तो और सिद्धोकी भक्ति अर्हन्त सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्दसे यहाँ आचार्य और उपाध्यायका ग्रहण किया है। उनकी भक्ति गुरु भक्ति है। और सर्वसाधुओकी भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रयमे सम्पूर्ण निर्मल भक्ति। इन अर्हन्त आदि का ऊपर कहा वैयावृत्य करनेसे उनकी भक्ति की गई जानना। रत्नत्रयके धारकोका उपकार करनेसे उनका आदर ही उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमे भक्ति व्यक्त होती है ॥३१९॥

इदानीं तस्या माहात्म्यं स्तौति—

संवेगजणियकरणा णिस्सल्ला मंदरुव्व णिक्कपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि ससारे ॥३२०॥

'संवेगजणियकरणा' ससारभीरुताजनितोत्पादा । करणशब्द सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिरत्र-गृहीत । **'णिस्सल्ला'** मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता । **'मंदरुव्व णिक्कपा'** मदर इव निश्चला । **'जस्स दढा जिणभत्ती'** यस्य जिने भक्तिर्दृढा । **'ण तस्स भयमत्थि संसारे'** तस्य भय नास्ति ससारात् । जिन-शब्देना चात्रार्हदादय सर्व एवोच्यन्ते—कर्मैकदेशाना समस्ताना च जयात् । धर्मोऽपि कर्माण्यभिभवति इति द्रव्यलाभादिकमनुद्दिश्य प्रवृत्तेस्तत्कथयति । **'संवेगजणियकरणा'** इत्यनेन ससारभयनिराकरणोपायभूता जिन-भक्तिरिति ज्ञात्वा प्रवृत्तेति यावत् । वैनयिकमिथ्यादृष्टे सर्वत्र भक्ति प्रवर्तते इति तन्निरासाय णिस्सल्ला इत्युच्यते । **'मदरुव्व णिक्कंपा'** इत्यनेन सर्वकालवृत्तिताख्याता । सासादनसम्यग्दृष्टेरल्पकालापि न ससारा-न्निस्सारयतीति ॥३२० ।

वैयावृत्यस्य पात्रलाभगुणमाचष्टे—

पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गहिदकसायवेदणो दंतो ।
लब्भदि हु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो ॥३२१॥

'पचमहव्वयगुत्तो' पञ्चभिर्महाव्रत कृतास्रवनिरोध । **'णिग्गहियकसायवेयणो'** निगृहीतकषायवदन कषायस्तु तपयत्यात्मानमिति वेदना । **'दंतो'** दान्त शान्तरागजदोष । परिज्ञानाद्वैराग्यभावनात प्रशान्त-राग इति कृत्वा दान्त इत्युच्यते । **'लब्भदि खु पत्तभूदो'** लभ्यत पात्रभूत । **'णाणासुदरयणाधिभूदो'** नाना-

---

अब उस भक्तिका माहात्म्य कहते है—

गा०-टी०—'सवेग जणिय करण'मे 'करण' शब्द क्रिया सामान्यका वाचक होने पर भी यहाँ उसका अर्थ उत्पत्तिरूप क्रिया लिया है। अत ससारके भयसे जो उत्पन्न होती है, मिथ्यात्व माया और निदान नामक शल्योंसे रहित सुमेरुकी तरह निश्चल, ऐसी दृढ जिन भक्ति जिसके है उसे ससारसे भय नही है। कर्मोंके एक देशको अथवा सब कर्मोंको जीतनेसे यहा 'जिन' शब्दसे अर्हन्त आदि सभी लिये है। 'धर्म भी कर्मोंको निरस्त करता है इसलिये जिन शब्दसे धर्म भी कहा जाता है। किन्तु वह धर्म द्रव्यलाभके उद्देशसे न होकर जिन भक्ति ससारका भय दूर करनेका उपाय है। यह जानकर होना चाहिये। वैनयिक मिथ्यादृष्टिकी भक्ति सबमे होती है उसके निरा-करणके लिये निःशल्य कहा है। मेरुकी तरह निश्चल कहनेसे वह भक्ति सर्वकालमे होनी चाहिये ऐसा कहा है। सासादन सम्यग्दृष्टीके अल्पकालीन भक्ति होती है किन्तु वह ससारसे नही निकालती ॥३२०॥

वैयावृत्यका एक गुण पात्रलाभ है। उसे कहते है—

गा०टी०—वयावृत्य करनेसे, पाँच महाव्रतो के द्वारा कर्मोके आस्रवको रोकने वाला, कषाय वेदनाका निग्रह करने वाला, कषाय आत्माको सन्तप्त करती है इससे वेदना कहा है, दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये है, वस्तु तत्त्वको जाननेसे वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावनासे राग शान्त होता है इससे दन्त कहा है, तथा जो नाना प्रकारके शास्त्रोरूपी रत्नोका निधि है नाना शास्त्रोका ज्ञाता है, ऐसा पात्र प्राप्त होता है' अर्थात् वैयावृत्य

श्रुतरत्ननिधिभूत ।।२२१।।

दंसणणाणे तव सजमे य संधाणदा कदा होइ ।
तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ।।३२२।।

'**दंसणणाणे**' दर्शनज्ञानयो । '**तवसजमे य**' तपश्चारित्रयोश्च । '**संधाणदा होदि**' कुतश्चिन्निमित्ता-द्विच्छिन्नाना दर्शनादीना सधान कृत भवति वैयावृत्त्येन । '**तो**' तस्मात् तेनैव वैयावृत्त्यकारिणा । '**सिद्धिमग्गे**' रत्नत्रये । '**ठविदो अप्पा परो चेव**' स्थापित आत्मा परश्च । अनया सधानमित्येतत्सूत्रपदव्याख्यानम् ।।२२२।।

तव इत्येतद्व्याख्यातुमाह—

वेज्जावच्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ।।३२३।।

'**वेज्जावच्चकरो पुण**' वैयावृत्यकर पुन '**अणुत्तरं तवसमाधि मारूढो**' उत्कृष्ट वैयावृत्याख्ये तपसि समाधिमेकाग्रतामुपाश्रित । '**पप्फोडिंतो विहरदि**' विधूनयन्विहरति । '**बहुभवबाधाकरं कम्मं**' बहुभवेषु बाधा मपादयत्कर्म ।।३२३।।

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा ।
तिविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होंति ।।३२४।।

'**जिणसिद्ध साहुधम्मा**' तीर्थकृत , सिद्धा , साधवो, धर्मश्च । '**अणागदातीदवट्टमाणगदा**' सर्वे त्रिकाल-वर्तिन '**सव्वे तिविधेण पूजिदा होंति**' सर्वे मनोवाक्कायै पूजिता भवन्ति । '**सुद्धमइणा**' शुद्धचेतसा । तीर्थ-कृदादयस्तदाज्ञामपालनात्पूजिता , दशविधे धर्मे तपसोऽन्तर्भावाद्वैयावृत्यस्य च तदन्तर्गतत्वाद्वैयावृत्ये आदरात् तत्प्रवृत्तेश्च धर्म पूजितो भवति ।।३२४।।

करने वालेको वैयावृत्यके लिये ऐसे सत्पात्र मुनी प्राप्त होते है यह एक महान् लाभ है ।।३२१।।

गा०-टी०—किसी निमित्तसे सम्यग्दर्शन आदिमे त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक् चारित्रमे पुन नियुक्ति हो जाती है । अत उसी वैयावृत्यकारीके द्वारा स्वय आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय मे पुन स्थिति होती है । इससे दोनो का ही लाभ है । इस गाथाके द्वारा 'सधान' पदका व्याख्यान किया है ।।३२२।।

तप गुणको कहते है—

गा०—वैयावृत्य करनेवाला मुनि उत्कृष्ट वैयावृत्यनामक तपमे एकाग्र होकर अनेक भवोमे कष्ट देनेवाले कर्मोकी निर्जरा करता हुआ विहार करता है ।।३२३।।

गा०—शुद्धचित्तसे वैयावृत्य करनेवालेके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालके सब तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म मन-वचन-कायसे पूजित होते है । तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन करनेसे सभी तीर्थंकर आदि इसके द्वारा पूजित होते है । तथा दस प्रकाके धर्मोमे एक तपधर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है अत वैयावृत्यमे आदरभाव रखने तथा वैयावृत्य करनेसे धर्म पूजित होता है ।।३२४।।

वैयावृत्यं दशविधं आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षकग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञभेदेन । तत्राचार्यवैयावृत्यमाहात्म्यकथनायाचष्टे—

आइरियधारणाए संघो सव्वो वि धारिओ होदि ।
संघस्स धारणाए अव्वोच्छित्ती कया होई ।।३२५।।

'**आइरियधारणाए**' आचार्यधारणात, '**संघो सव्वो वि धारिदो होदि**' सर्व संघोऽवधारितो भवति । कथ ? आचार्यो हि रत्नत्रय ग्राहयति । गृहीतरत्नत्रयांस्तेषु द्रढयति । अतिचाराञ्जातानप्यपनयति । तदुपदेशबलेनैव गुणसंहतिरूपता धत्ते सघो नान्यथेति सघो धारितो भवति । सघधारणाया गुणमाचष्टे । **संघस्स धारणाए अव्वोच्छित्ती कदा होदि**' धर्मतीर्थस्याभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अव्युच्छित्ति कृता भवति । उपाध्यायादय सर्व एव साधयन्ति निरवशेषकर्मापायमिति साधुशब्देनोच्यन्ते ।।३२५।।

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणाया गुण कथयति—

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो ।
साधू चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ।।३२६।।

'**साधुस्स धारणाए**' एकस्य साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणाया । '**होदि**' भवति । '**तह चेव**' तथैव आचार्यधारणात सघधारणात् । '**धारिदो संघो**' धारितो यतिसमुदाय । कथमेकस्य धारणाया समुदायधारणा, समुदायावयवयोर्भेदादित्याशकायामाह—'**साधू चेव हि संघो**' साधव एव हि सघ । '**ण हि सघो साधुवदिरित्तो**' नैव सघो नामार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्त । कथंचित्समुदायावयवयोरव्यतिरेक इति मन्यते गाथा-

---

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञके भेदसे वैयावृत्यके दस भेद है । उनमेसे आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते है—

गा०-टी०—आचार्यका धारण करनेसे समस्त सघ धारित होता है । क्योकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण कराते है और जो साधु रत्नत्रयको धारण किये होते है उन्हे उसमे दृढ करते है । उत्पन्न हुए अतिचारोको दूर करते है । आचार्यके उपदेशके प्रभावसे ही सघ गुणोके समूहको धारण करता है अत आचार्यके धारणसे सघका धारण होता है । आचार्यके विना सघका धारण सम्भव नही है । संघके धारणसे अभ्युदय और मोक्षके सुखका साधन जो धर्म है उस धर्मतीर्थका विच्छेद नही होता । उपाध्याय आदि सभी समस्तकर्मों के विनाशकी साधना करते है इसलिए साधु शब्दसे उन सबका ग्रहण होता है ।।३२५।।

विशेषार्थ—धारणाका अर्थ है अपने धर्मकर्मकी शक्तिको भ्रष्ट करनेके निमित्तोको दूर करके उसको शक्ति प्रदान करना । इसीको वैयावृत्य भी कहते हैं ।

उक्त आचार्यादिमेसे किसी एक साधुकी धारणाके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे आचार्यकी धारणासे संघकी धारणा होती है वैसे ही एक साधुकी धारणासे अर्थात् वैयावृत्य करनेसे साधु समुदायकी धारणा होती है ।

शंका—एक साधुकी धारणासे सब साधु समुदायकी धारणा कैसे हो सकती है ? क्योकि समुदाय और व्यक्तिमें तो भेद है ? इसके उत्तरमे कहते है—

समाधान—साधु ही सघ है । साधुओसे भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नही है । समुदाय

द्वयेनानेन । अव्युच्छित्तिर्व्याख्याता ॥३२६॥

सिद्धिसुखे चेतसि एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगूहनं कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण ।
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि ॥३२७॥

'गुणपरिणामादीहिं य' गुणपरिणाम , श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्ति., पात्रलाभ , सधानं, तप , पूजा, तीर्थाव्युच्छित्तिक्रियेत्येते । **'अणुत्तरविधीहिं'** प्रकृष्टै क्रमै. । **'विहरमाणेण'** आचरता । **'जा सिद्धिसुहसमाधी'** या सिद्धिसुखैकाग्रता । **'सा वि य उवगूहिया होइ'** साप्यालिङ्गिता भवति । कारणे ह्यादर. कार्ये समाधानमन्तरेण न प्रवर्तते । न हि साध्ये घटे चेतस्यसति तदुपायभूतदण्डादिकारणकलापे जन प्रवर्तते । इह च गुणपरिणामादय उपाया सिद्धिमुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामन्तरेण ते युज्यन्ते इति भाव. ॥३२७॥

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति ।
णिग्गहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥३२८॥

'अणुपालिदा या आणा' अनुपालिता च आज्ञा भवति वैयावृत्यं कुर्वता । केषा ? तीर्थकृदादीना । एतेन **'आणा'** इत्येतत्सूत्रपदं व्याख्यात भवति । **'संजम जोगा य पालिदा होंति'** इत्यनेन सयमपदव्याख्या कृता सयमेन सह **सम्बन्धः** आचार्यादीनाम् । **'पालिदा होंति'** रक्षिता भवन्ति । व्याध्याद्यापद्गताना रोगपरीषहानसक्लेशेन धारयितुमसमर्थानाम् । अथवा सयमयोगाश्च तपासि अनशनादितपोविशेषा रक्षिता भवन्ति **स्वस्य** परेषा च, करणानुमननाभ्या स्वस्यापन्निरासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादीना सयमसपादनात् । परेषा सहायता

और उसके अवयव व्यक्तिमें कथञ्चित् अभेद होता है यह इन गाथाओंके द्वारा माना है ॥३२६॥
अव्युच्छित्तिका कथन समाप्त हुआ ।

सिद्धि सुखमे चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते है । वैयावृत्यसे उसका उपगूहन होता है, यह कहते है—

गा०—श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धान, तप, पूजा, तीर्थकी अव्युच्छित्ति (अविनाश) इत्यादि गुणोका उत्कृष्ट क्रमके साथ आचरण करनेवाले मुनिको जो सिद्धि सुखमे एकाग्रता है, वह भी प्राप्त होती है; क्योकि कार्यमे समाधान हुए विना कारणमे आदर नही होता । यदि चित्तमे घट बनानेकी भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण है उनमे मनुष्य प्रवृत्त नही होता । यहाँ गुणपरिणाम आदि सिद्धिसुखके उपाय है, सिद्धिसुखमें एकाग्रताके विना वे उपाय नहीं हो सकते । यह अभिप्राय है ॥३२७॥

गा०-टी०—'जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकरोकी आज्ञाका पालन करता है। इस कथनसे गाथाके 'आणा' पदका व्याख्यान किया है । 'सयमयोगका पालन होता है' इस कथनसे सयमपदका व्याख्यान किया है क्योकि आचार्य आदिका सयमके साथ सम्बन्ध है । जो आचार्य आदि व्याधि आदिसे पीडित होते है और विना संक्लेशके रोगपरीषहको सहनेमे असमर्थ होते है उनकी वैयावृत्य करनेसे संयमकी रक्षा होती है । अथवा 'संयमयोग' अर्थात् अनशन आदि तपके भेदोकी रक्षा होती है। अपने भी और दूसरोंके भी तपकी रक्षा होती है। दूसरोसे वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करनेकी अनुमोदना करके स्वास्थ्यको प्राप्तकर अपने तपकी रक्षा करता है तथा दूसरोकी

व्याचष्टे—**जम्हा** इति वाक्यशेषाध्याहारेण सूत्रपदानि सम्बन्धनीयानि । यस्मान्निगृहीतानि कषायेन्द्रियाणि तद्दोषोपदेश कुर्वता तस्मात् '**साखिल्लदा य कदा**' सहायता कृता ॥३२८॥

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंच्छा दरिसिदा होइ ।
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं सघकज्जं च ॥३२९॥

'**अदिसयदाणं दत्तं**' अतिशयदान दत्त भवति रत्नत्रयदानात् । '**णिव्विदिगिंछा य दरिसिया होइ**' सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । द्रव्यविचिकित्सा निरस्ता शरीरमलाना निराकरणात् जुगुप्सा विना । '**पवयणपभावणा वि य**' प्रवचनमागमस्तदुक्तार्थानुष्ठानात् प्रवचनप्रभावना कृता भवति । '**णिव्वूढं संघकज्जं च**' सघेन कर्तव्य कार्यं च निश्चयेन सपादित भवति । एतेन '**कज्जपुण्णाणि**' इत्येतद्व्याख्यातम् ॥३२९॥

वैयावृत्यस्य फलमाहात्म्य दर्शयति—

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ।
तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥३३०॥

'**गुणपरिणामादीहि य**' । अत्रैव पदसम्बन्ध '**वेज्जावच्चुज्जदो**' वैयावृत्ये उद्यत । '**गुणपरिणामादीहि**' गुणपरिणामादिभि कारणभूतै । '**पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि**' पुण्य तीर्थकरनामकर्म समर्जयति । कीदृक् ? '**तिलोयसंखोभयं**' त्रैलोक्यसक्षोभकरणक्षमम् ॥३३०॥

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य ।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो ॥३३१॥

'**एदे गुणा महल्ला**' एते गुणा महान्त '**वेज्जावच्चुज्जदस्स**' वैयावृत्योद्यतस्य । '**बहुया य**' बहव ।

आपत्तिको दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करनेपर उनके सयमकी रक्षा होती है। दूसरोकी सहायताका कथन गाथाके उत्तरार्द्धसे करते है। उसमे 'जम्हा' पदका अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है—यत वैयावृत्य करनेवाला कषाय और इन्द्रियोके दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रियोका निग्रह करता है, अत वह दूसरोको सहायता प्रदान करता है ॥३२८॥

गा०-टी०—वैयावृत्य करनेवाला उक्त प्रकारसे दूसरे साधुओको रत्नत्रयका दान करता है इसलिए वह सातिशयदानका दाता होता है। तथा वैयावृत्यसे सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीरका मलमूत्र आदि विना ग्लानिके उठानेसे द्रव्यविचिकित्सा दूर होती है। आगममे कहे हुए धर्मका पालन करनेसे प्रवचनकी प्रभावना भी होती है। और सघका जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इस गाथासे 'कज्जपुण्णाणि' पदका व्याख्यान किया है ॥३२९॥

वैयावृत्यके फलका माहात्म्य कहते है—

गा०—वैयावृत्यमे तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणोके द्वारा उस तीर्थङ्कर नामक पुण्यकर्मका बन्ध करता है जो तीनो लोकोंमे हलचल पैदा करता है ॥३३०॥

गा०—वैयावृत्यमे तत्पर साधुके बहुतसे महान् गुण होते है। जो केवल स्वाध्याय ही

'**अप्पट्ठिदो हु जायदि**' आत्मप्रयोजनपर एव जायते । '**सज्झाय चेव कुव्वंतो**' स्वाध्यायमेव कुर्वन् । वैयावृत्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्यते ॥३३१॥

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गमग्गिविससरिसं ।
अज्जाणुचरो साधू लहदि अकित्तिं खु अचिरेण ॥३३२॥

'**वज्जेह**' वर्जयत अग्निना विषेण सदृशं आर्याजनसंसर्गं । प्रमादरहितैर्भवद्भिस्त्याज्य' **अज्जाणुचरो**' आर्यानुचरः । '**साधू**' साधुर्लहदि **अकित्ति** लभते अयशः '**अचिरेण**' अचिरेण । चित्तसंतापकारितया अग्निसदृशता । संयमजीवितविनाशनाद्विषसदृशता । पापस्य अयशसश्च प्रायेण भीरुर्लोकोऽपि साध्वाचारः मिथ्यादृष्टिरसंयतोऽपि किं पुनर्विदितवेदितव्यस्य परिहार्यमशेषं उद्यतः परिहर्तुं यतिजनः पापमयशश्च न परिहरेत् । तथा च श्लोकः —

काये पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत् ।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ [ ] ॥३३२॥

थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स ।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥३३३॥

'**थेरस्स**' स्थविरस्य । '**तवसिस्स वि**' अनशनादितपस्युद्यतस्यापि । '**बहुसुदस्स वि**' बहुश्रुतस्यापि । '**पमाणभूदस्स**' प्रमाणभूतस्य । '**अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि**' आर्यापरिचयाज्जनापवादो भवति ॥३३३॥

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरित्तो ।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणय ण पावेज्ज ॥३३४॥

करता है वह तो अपने ही प्रयोजनमें लगा रहता है। किन्तु वैयावृत्य करनेवाला अपना और दूसरोंका उपकार करता है। अर्थात् केवल स्वाध्याय करनेवाले साधुसे वैयावृत्य करनेवाला विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करनेवाले साधुपर विपत्ति आवे तो उसे वैयावृत्य करनेवालेका ही मुख ताकना होता है ॥३३१॥

गा०—टी०—हे साधुजनो ! आपको प्रमादरहित होकर आग और विषके तुल्य आर्याओंके संसर्गको छोड़ना चाहिए। आर्याके साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है। आर्याका संसर्ग चित्तको सन्तापकारी होनेसे आगके समान है और संयमरूपी जीवनका विनाशक होनेसे विषके समान है। साधु आचारवाले मिथ्यादृष्टि असंयमी लोग भी प्रायः पाप और अपयशसे डरते हैं। फिर जो सब कुछ जानते हैं और समस्त त्यागने योग्य पदार्थोंके त्यागमें तत्पर रहते हैं वे साधुजन पाप और अपयशके कामसे क्यों नहीं दूर रहेंगे ? कहा भी है—शरीर नष्ट होनेवाला है उसकी रक्षा सम्भव नहीं है। यशकी रक्षा करने योग्य है जो नष्ट नहीं होता। शरीरके छूट जानेपर मनुष्य यशरूपी शरीरसे जीवित रहता है ॥३३२॥

गा०—वृद्ध, अनशन आदि तपमें तत्पर तपस्वी, बहुश्रुत और प्रमाण माना जानेवाला भी साधु आर्याजनके संसर्गसे लोकापवादका भागी होता है ॥३३३॥

'किं पुण ण पावेज्ज अणंअपणयं' किं पुनर्न प्राप्नुयाज्जनापवाद वा ? प्राप्नोति नियोगत । **केन ?** **'अज्जासंसग्गीए'** आर्यागोष्ठ्या । क ? **''तरुणो अबहुस्सुदो अणुक्किट्ठतवचरित्तो य'** तरुणो यतिरबहुश्रुतोऽनुत्कृष्टतपश्चारित्रश्च ।।३३४।।

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसग्गिलद्धपसराए ।
अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए ।।३३५।।

'जदि वि सयं थिरबुद्धी' यद्यपि स्वय स्थिरबुद्धि । **'तहा वि'** तथापि । **'संसग्गिलद्धपसराए'** ससर्गाल्लब्धप्रसराया. । **'अज्जाए'** आर्याया । **'चित्त विलेज्ज'** चित्तं द्रवति । किमिव ? **'अग्गिसमीवे व घद'** अग्निसमीपस्थ घृतमिव । न केवलमार्याजन एव परिहरणीय कि तु—।।३३५।।

सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ।
णित्थरदि बंभचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ।।३३६।।

'सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि' सर्वस्मिन्नेव स्त्रीवर्गे बालाकन्यामध्यमास्थविरासुरूपाविरूपेति विचित्रभेदे । **'अप्पमत्तो'** अप्रमत्त प्रमादरहित । सदा **'अवीसत्थो'** विश्वासरहित । **'णित्थरइ'** निस्तरति **'बंभचेरं'** ब्रह्मचर्यं । **'तव्विवरीदो'** तद्विपरीत प्रमत्त विश्वासवाश्च । **'ण णित्थरदि'** न निस्तरति ।।३३६।।

आर्यानुचरणे दोषं प्रकटयति—

सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।
सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ।।३३७।।

'सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो' सर्वस्माद्वास्तुक्षेत्रादिकाद्विमुक्त साधु सर्वत्र भवति स्ववश **'सो चेव'** स एवात्मवश । **'होइ'** भवति । **'अणप्पवसो'** अनात्मवश । किं कुर्वन् ? **'अज्जाओ अणुचरंतो'** आर्या अनुचरन् ।।३३७।।

गा०—तब जो अवस्थामे तरुण है, बहुश्रुत भी नही है और न जो उत्कृष्ट तपस्वी और चारित्रवान् हैं वे आर्याजनके ससर्गसे लोकापवादके भागी क्यो नही होगे ? ।।३३४।।

गा०—मुनि यद्यपि स्वय स्थिर चित्तवाला हो फिर भी उसके समर्गसे चित्तमे उल्लास पाकर आर्याका मन उसी प्रकार द्रवित होता है जैसे आगके समीपमे घी द्रवित होता है ।।३३५।।

गा०—तथा केवल आर्याओका ससर्ग ही त्याज्य नही है, बल्कि जो बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकारके स्त्रीवर्गमें प्रमाद रहित होता है और कभी भी उनका विश्वास नही करता वही साधु ब्रह्मचर्यको जीवन पर्यन्त पार लगाता है। जो उससे विपरीत होता है अर्थात् स्त्रियोके सम्बन्धमें प्रमादी और विश्वासी होता है वह ब्रह्मचर्यको पार नही कर पाता ।।३३६।।

आर्याके अनुचरणमे दोष बतलाते है—

गा०—जो साधु घर, जमीन आदि समस्त परिग्रहोंसे मुक्त है वह सर्वत्र अपनेको वशमें रखता है। किन्तु वही साधु आर्याका अनुगामी होकर आत्मवशी नही रहता ।।३३७।।

खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ।
अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥३३८॥

'**खेलपडिदमप्पाणं**' श्लेष्मपरीतमात्मान । '**जह ण तरइ मच्छिया विमोचेदुं**' यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुम् । '**तह अज्जाणुचरो ण तरइ अप्पाणं विमोचेदुं**' तथा आर्यानुचरो न शक्नोति आत्मान विमोचयितुम् ॥३३८॥

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा ।
चम्मेण सह अवेंतो ण य सरिसो जोणिकसिलेसो ॥३३९॥

'**साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा**' साधोर्नास्ति लोके आर्यासदृशी बन्धने उपमा । '**चम्मेण सह अवेंतो**' चर्मणा सह अपगच्छन् । '**ण य सरिसो जोणिगसिलेसो**' नैव सदृश' चर्मकारश्लेष । न केवल आर्याजनो दूरत एव परिहार्य अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥३३९॥

अण्ण पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुणदि ।
तं तं परिहरह तदो होहदि दढसंजदा तुज्झ ॥३४०॥

'**अण्णं पि तहा वत्थुं**' अन्यदपि तथाभूत वस्तु । '**जं ज साधुस्स बंधणं कुणइ**' यद्यत्साधोर्बन्धनं करोति अस्वतन्त्रता करोति । '**त त परिहरह**' तत्तत्परिहारे उद्योग कुरुत । '**तत**' वस्तुत्यागात् । '**होहदि दढसंजदा तुज्झ**' भवता दृढसयतता गुणो भवत्येवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसयमस्तत्त्यागे त्यक्तो भवति ॥३४०॥

पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ।
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥३४१॥

'**पासत्थादीपणयं**' पार्श्वस्थादिपञ्चक पार्श्वस्थ , अवसन्न , ससक्त , कुशीलो, मृगचरित्र इति पञ्च । तान् दूरतो निराकुरुत । अपरित्यागदोषमाह–'**मेलणदोसेण तम्मयदा होइ**' ससर्गदोषेण पार्श्वस्थादिमयता ॥३४१॥

तन्मयता प्रतिपत्तिक्रमाख्यानायाता गाथा—

गा०—जैसे मनुष्यके कफमे फँसी हुई मक्खी उससे अपनेको छुडानेमे असमर्थ होती है। वैसे ही आर्याका अनुगामी साधु उससे अपनेको छुडानेमे असमर्थ होता है ॥३३८॥

गा०—साधुका आर्याके साथ सहवास ऐसा बन्धन है जिसकी कोई उपमा नही है। चर्मके साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नही है ॥३३९॥

गा०—साधुको केवल आर्याजनोंके ससर्गसे ही दूर नही रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधुको परतन्त्र करती है उस-उस वस्तुको त्यागनेमे तत्पर रहो। उसके त्यागसे तुम्हारा संयम दृढ होगा। बाह्य वस्तुके निमित्तसे होने वाला असंयम उस वस्तुके त्यागसे त्यागा जाता है ॥३४०॥

गा०—पार्श्वस्थ, अवसन्न, ससक्त, कुशील और मृगचरित्र इन पाँच प्रकारके कुमुनियोंसे तुम सदा दूर रहो। उनसे मेल रखनेसे पुरुष उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४१॥

लज्जं तदो विहिंसं णिव्विसंकदं चेव ।
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥३४२॥

पार्श्वस्थादिसंसर्गं कर्तुं वाञ्छन्नपि '**लज्जं**' लज्जा उपारोहति । '**ततः**' पश्चाद्विहिंस असयमजुगुप्सां करोति । कथमहमेवंविध व्रतभङ्ग करोमि दुरतसंसारपतनहेतुमिति । पश्चाच्चारित्रमोहोदयात्परवश '**पारंभं**' प्रारभते । कृतप्राग्म्भो यतिरारम्भपरिग्रहादिषु **निव्विसंकदं** चेव निर्विशङ्कतामुपैति । '**पियधम्मोवि**' धर्मप्रियोऽपि । '**कमेणारुहंतगो**' क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जादिकं । '**तम्मओ होदि**' पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥३४२॥

यद्यपि वाक्कायाभ्यां न प्रयतते तथापि मानसी पार्श्वस्थादिता प्रतिपद्यत इत्याचष्टे—

संविग्गस्सवि ससग्गीए पीदी तदो य वीसंभो ।
सदि वीसंभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा ॥३४३॥

'**संविग्गस्स वि**' ससारभीरोरपि यते । '**संसग्गीए**' पार्श्वस्थादिसंसर्गेण । '**पीदी होदि**' प्रीतिर्भवति । '**तदो य**' प्रीते सकाशात् । '**वीसंभो होदि**' विस्रम्भो भवति । '**सदि वीसंभे य रदी**' विस्रम्भे सति रतिर्भवति । पार्श्वस्थादिषु '**रदीए वि तम्मयदा**' रत्या च तन्मयता ॥३४३॥

ससर्गवशाद्गुणदोषौ भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति—

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्टिया सुरभिणा व इदरेण ।
किह जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ॥३४४॥

'**जदि**' यदि । '**भाविज्जइ**' भाव्यते वास्यते । '**गंधेण**' गन्धेन, '**मट्टिया**' मृत्तिका । '**सुरहिणा व इदरेण**' सुरभिणा च इतरेण वा । '**कह जोएण ण होज्जो**' कथ सबन्धेन न भवेत् । '**परगुणपरिभाविओ पुरिसो**' परेषा पार्श्वस्थादीना गुणै परिभावित पुरुष ॥३४४॥ परगुणग्रहणायाह—

पार्श्वस्थ आदिके संसर्गसे कैसे पार्श्वस्थ आदिरूप हो जाता है यह बतलाते है—

गा०—पार्श्वस्थ आदिका ससर्ग करनेकी इच्छा रखते हुए भी लज्जा करता है। पश्चात् असयमके प्रति ग्लानि करता है कि मै कैसे इस प्रकार व्रत भग करूं, यह तो दुरन्त ससारमे गिराने वाला है। पश्चात् चारित्र मोहके उदयसे परवश होकर असयमका प्रारम्भ करता है। असंयमका प्रारम्भ करके यति आरम्भ परिग्रह आदिमे निःशक होकर प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार धर्मका प्रेमी भी मुनि क्रमसे लज्जा आदि करते हुए पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४२॥

यद्यपि उनको सगतिसे वचन और कायसे तो उनके आचारमे प्रवृत्ति नही करता तथापि मनसे पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है यह कहते है—

गा०—ससारसे भयभीत भी मुनि पार्श्वस्थ आदिके ससर्गसे उनसे प्रीति करने लगता है। प्रीति करनेसे उनके प्रति विश्वासी हो जाता है। उनका विश्वास करनेसे उनका अनुरागी हो जाता है और उनमें अनुराग करनेसे पार्श्वस्थादिमय हो जाता है ॥३४३॥

संसर्गसे अचेतन वस्तुओमे भी गुण और दोष उत्पन्न हो जाते है, यह दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

गा०—यदि सुगन्ध अथवा दुर्गन्धके संसर्गमे मिट्टी भी सुगन्धित अथवा दुर्गन्धयुक्त हो

जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव ।
वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण ॥३४५॥

दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ता मृत्तिका छुरिका च । तथा चोक्तं सुरभिणा व इदरेण इति ॥३४५॥

दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि ।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥३४६॥

'**दुज्जणससग्गीए**' दुष्टजनससर्गेण । '**पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि**' विजहाति स्वगुण सुजनोऽपि । '**सीयलभावं जहा उदकं पजहदि**' शैत्य भाव यथा जहात्युदक । '**अग्गिजोएण**' अग्निसम्बन्धेन । साधु. स्वगुण जहात्यनलसम्बद्धजलमिवेति सहजगुणत्यागे दृष्टान्त ॥ ३४६॥

अशोभनगुणेन संसर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण ।
माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिट्ठा ॥३४७॥

'**सुजणो वि होइ लहुओ**' सुजनोऽपि भवति लघु । '**दुज्जणसंमेलणाए दोसेण**' दुर्जनगोष्ठीदोषेण । '**मालावि मोल्लगरुया**' मालापि सुमनसा मौल्येन लघ्वी । '**होइ**' भवति । '**मडयसंसिट्ठा**' मृतकस्य सश्लिष्टा ॥३४७॥

अदुष्टोऽपि दुष्ट इति शङ्क्यते यति· पार्श्वस्थादिगोष्ठ्या इत्येतद्दृष्टान्तेनाचष्टे—

दुज्जणससग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण ।
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव ॥३४८॥

दुज्जणसंसग्गीए इति स्पष्टार्था गाथा ॥३४८॥

जाती है तो ससर्गमे पुरुष पार्श्वस्थ आदिके गुणोसे तन्मय क्यो न होगा ? ॥३४४॥

गा०—जो जिस प्रकारकी वस्तुसे मैत्री करता है वह वैसा ही हो जाता है । स्वर्ण आदिके ससर्गसे लोहेकी छुरी भी उसी रूप हो जाती है ॥३४५॥

गा०—दुष्टजनके ससर्गसे सज्जन भी अपना गुण छोड़ देता है । जैसे आगके सम्बन्धसे जल अपने शीतल स्वभावको छोड देता है । आगके सम्बन्धसे जलकी तरह साधु भी अपना गुण छोड़ देता है । यह स्वाभाविक गुणके त्यागमें दृष्टान्त है ॥३४६॥

अशोभनीय गुण वाले मनुष्यके ससर्गसे मनुष्य उसीकी तरह स्वयं भी अशोभनीय गुणवाला हो जाता है, यह कहते है—

गा०—दुर्जनोकी गोष्ठीके दोषसे सज्जन भी अपना बडप्पन खो देता है । फूलोंकी कीमती माला भी मुर्दे पर डालनेसे अपना मूल्य खो देती है ॥३४७॥

पार्श्वस्थ आदिके साथ ससर्ग करनेसे अच्छे भी यतिको लोग बुरा होनेकी शंका करते हैं, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—दुर्जनके संसर्गसे लोग संयमीके भी सदोष होनेकी शंका करते हैं । जैसे मद्यालयमे बैठकर दूध पीने वाले ब्राह्मणके भी मद्यपापी होनेकी शंका करते हैं ॥३४८॥

परदोसगहणलिच्छो परिवादरदो जणो खु उस्सूणं ।
दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजपणोगासं ॥३४९॥

'परदोसगहणलिच्छो' परदोषग्रहणेच्छावान् । **'परिवादरदो'** परोक्षे परदोषवचने रत । **'जणो'** जन । **'उस्सूणं खु'** नितरामेव । **तेण दोसत्थाणं परिहरह'** तेन दोपस्थानपरिहार कुरुत । **'जणजपणोगासं'** जन-जल्पनावकाश ॥३४९॥

दुर्जनगोष्ठी अनर्थमावहत्यैहलौकिकमित्येतत्कथयति—

अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं ।
जह घूगकए नोसे हंसो य हओ अपावो वि ॥३५०॥

अदिसजदो वि इत्यनया । अतीव सयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति । **'दोसं'** अनर्थं । यथोलूक-कृतदोषनिमित्तं अपापोऽपि हसो हत ॥३५०॥

दुर्जनगोष्ठ्या दोषान्तरमाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो सुयणमज्झयारम्मि ।
ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे वेरग्गमवहाय ॥३५१॥

'दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो' दुर्जनगोष्ठ्या भावित । **'सुजणमज्झयारम्मि'** सुजनमध्ये । **'ण रमदि'** न रमते । **'रमदि य दुज्जणमज्झे'** रमते दुर्जनमध्ये । **'वेरग्गमवहाय'** वैराग्य परित्यज्य ॥३५१॥

सुजनसमाश्रयणे गुणख्यापनायोत्तरसूत्राणि—

जहदि य णियय दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण ।
जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि ॥३५२॥

'जहदि य' जहाति निजमपि दोष दुर्जन: सुजनमिश्रगुणेन । यथा मेरुमाश्रयणे काको जहाति सहजा-

---

गा०—लोग दूसरोके दोषोंको पकडनेके इच्छुक होते है और परोक्षमे दूसरोके दोषोको कहनेमें रस लेते है । इसलिए जो दोपोका स्थान है उससे अत्यन्त दूर रहो क्योकि; ऐसा न करनेसे लोगोको अपवाद करनेका अवसर मिल जाता है ॥३४९॥

'दुर्जनोकी सगति अनर्थकारी है' यह एक लोक प्रचलित कथाके द्वारा कहते है—

गा०—महान् सयमी भी दुर्जनके द्वारा किए गये दोपसे अनर्थका भागी होता है । जैसे उल्लूके द्वारा किए गये दोपके लिए निर्दोष भी हस मारा गया ॥३५०॥

दुर्जनोंकी संगतिका अन्य दोष कहते है—

गा०—दुर्जनोकी सगतिसे प्रभावित मनुष्यको सज्जनोका सत्सग रुचिकर नही लगता । वह वैराग्यको त्यागकर दुर्जनोंमे ही रमता है ॥३५१॥

सज्जनोके सत्संगमे गुणोका कथन आगेकी गाथाओसे करते हैं—

गा०—सज्जनोकी सगतिके गुणसे दुर्जन अपना दोष भी छोड़ देता है । जैसे सुमेरु पर्वतका

मपि छायामशोभनां तद्वत्तां । सन्तोऽपि दोषा नश्यन्ति सुजनाश्रयेण ततस्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥३५२॥

सुजनसमाश्रयणे अभ्युदयफलं, पूजालाभं कथयति गाथा—

कुसुममगधमवि जहा देवयसेसत्ति कीरदे सीसे ।
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ ॥३५३॥

कुसुममित्यादिका । यथा सौगन्ध्यरहितमपि कुसुमं देवताशेषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजनमध्यवासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥३५३॥

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तास्रवनिरोधरूपे प्रवृत्तिगुण कथयति—

संविग्गाणं मज्झे अप्पियधम्मो वि कायरो वि णरो ।
उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहिं ॥३५४॥

संविग्गाणं मज्झे इत्यनया । ससारभीरूणा मध्ये वसन्नपि धर्मप्रियो न भवति । कातरश्च[1] सुखे तथापि उद्युङ्क्ते पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥३५४॥

ससारभीरोरपि यते सुजनसमाश्रयणेन गुणमभिदधाति—

संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्झयारम्मि ।
होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदव्वसंजोए ॥३५५॥

संविग्गोऽपि इत्यनया । प्रागपि ससारभीरुर्जन. संविग्नमध्यनिवासी संविग्नतरो भवति । यथा गन्धयुक्ति कृतको गन्ध प्रकृतिसुरभिद्रव्यगन्धसंसर्गे सुरभितरो भवति ॥३५५॥

आश्रय लेने पर कौवा अपनी असुन्दर छविको छोड़ देता है । इसका भाव यह है कि सज्जनोकी सत्सगतिसे विद्यमान भी दोष नष्ट हो जाते है अत सज्जनोका आश्रय लेना चाहिए ॥३५२॥

सज्जनोका आश्रय लेने पर अभ्युदय रूप फल और पूजाका लाभ होता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे सुगन्धसे रहित भी फूल 'यह देवताका आशीर्वाद है' ऐसा मानकर सिर पर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोके मध्यमे रहने वाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥

वचन और कायके निमित्तसे होने वाले आश्रवके रोकनेको द्रव्य सयम कहते है । उस द्रव्य संयममें प्रवृत्तिका लाभ कहते हैं—

गा०—जिसको धर्मसे प्रेम नही है तथा जो दु.खसे डरता है वह मनुष्य भी संसार भीरु यतियोके मध्यमे रहकर भावना, भय, मान और लज्जासे पापके कार्योंसे निवृत्त होनेका उद्योग करता है ॥३५४॥

संसारसे भीत यति भी सज्जनोका सत्सग करनेसे लाभान्वित होता है यह कहते है—

गा०—जो मनुष्य पहलेसे ही ससारसे विरक्त है वह विरागियोके मध्यमे रहकर और भी अधिक विरागी हो जाता है । जैसे बनावटी गन्धसे युक्त द्रव्य स्वभावसे ही सुगन्धित द्रव्यकी गन्धके ससर्गसे और भी अधिक सुगन्धित हो जाता है ॥३५५॥

---

१. श्चदु खे आ० । –श्चासुखे ग० ।

बहव इत्येतावता चारित्रक्षुद्रा न भवद्भि. समाश्रयणीया' एक इति वा न सुगुणः परिहार्य इत्येतदाचष्टे—

वासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि ।
जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति ॥३५६॥

'**पासत्थसदसहस्सादो वि**' पार्श्वस्थग्रहणं चारित्रक्षुद्रोपलक्षणार्थं । चारित्रक्षुद्राच्छतसहस्रादपि एकोऽपि सुशीलो वरम् । य सयममाश्रितस्य शील, दर्शन, ज्ञान, चारित्र च वर्द्धते, स भवद्भिराश्रयणीय इति भावार्थ. ॥३५६॥

संजदजणावमाणं पि वरं खु दुज्जणकदादु पूजादो ।
सीलविणासं दुज्जणसंसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥३५७॥

सयता परिभवन्ति माम सुचरित तत पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेत कार्यमित्याचष्टे— '**संजदजणावमाणं पि वरं**' सयतजनापमानमपि वर । '**दुज्जणकदादु पूजादो**' दुर्जनकृताया पूजाया । कथ ? '**दुज्जणसंसग्गी सीलविणासं कुणदि**' दुर्जनससर्ग शीलविनाशं करोति । '**ण दु इदरं**' न तु इतर । सयतजनावमान तु नैव शीलविनाश करोति ॥३५७॥

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावंति ।
तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह ॥३५८॥

'**आसयवसेण**' आश्रयवशेन । एवमुक्तेन क्रमेण । '**पुरिसा दोसं गुणं व पावंति**' पुरुषा दोष गुण वा प्राप्नुवन्ति । '**तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह**' तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आश्रय आश्रयेत् ॥३५८॥

चारित्रमे क्षुद्र यति बहुत भी हों तो आपको उनका सग नही करना चाहिए । और गुणशाली एक हो तो उसकी उपेक्षा नही करना चाहिए यह कहते है—

गा०—पार्श्वस्थ अर्थात् चारित्रमे क्षुद्र यति लाख भी हों तो उनसे एक भी सुशील यति श्रेष्ठ है जो अपने सगीके शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्रको बढाता है । आपको उसीका आश्रय लेना चाहिए । गाथामे आगत 'पार्श्वस्थ' शब्द जो चारित्रमे क्षुद्र है उन सबके उपलक्षणके लिए है ॥३५६॥

गा०—सयमीजन मुझ चारित्रहीनका तिरस्कार करते है अत मै पार्श्वस्थ आदि चारित्रहीन मुनियोके ही पास रहूँ । ऐसा मनमे विचार नही करना चाहिए, क्योकि दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे सयमीजनोके द्वारा किया गया अपमान श्रेष्ठ है । इसका कारण यह है कि दुर्जनका ससर्ग शीलका नाशक है किन्तु सयमीजनो द्वारा किया गया अपमान शीलका नाशक नही है ॥३५७॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसहार करते है—

गा०—उक्त प्रकारसे अच्छे बुरे आश्रयके कारण पुरुष दोष और गुणको प्राप्त करते है । इसलिए प्रशस्त गुणयुक्त आश्रयका ही आश्रय लेना चाहिए ॥३५८॥

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ।।३५९।।

'**पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स**' पथ्य हितं हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसत । '**कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स**' 'कटुकमौषधमिवापि तन्मधुरविपाक भवति । तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माक स्वं प्रयोजनम् । किन्त वेत्ति स्वय इति नोपेक्षितव्यम् । परोपकार कार्य एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृत विनेयजनसबोधनार्थं एव तीर्थविहार कुर्वन्ति । महत्ता नामैव यत्-परोपकाराबद्धपरिकरता । तथा चोक्त—

> क्षुद्राः संति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता ।
> स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी ।।
> दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाडवो ।
> जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ।। [ ] ।।३५९।।

इतरेणापि श्रवणयोरनिष्टमपि तद्ग्राह्य इति कथयति—

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणं णरेण घेत्तव्वं ।
पेल्लेदूण वि छूढं बालस्स घदं व तं खु हिदं ।।३६०।।

हृदयस्यानिष्टमपि पथ्य नरेण बुद्धिमता ग्राह्य हित इति चेतो निधाय । '**पेल्लेदूण वि छूढं**' अवष्टम्यापि प्रवेशित घृत बालाना हित भवति यथा तद्वदिति यावत् ।।३६०।।

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ।।३६१।।

गा०-टी०—अपने गणके वासी साधुको हितकारी किन्तु हृदयको अनिष्ट भी लगनेवाले वचन बोलना चाहिए, क्योकि वे वचन कडुवी औषधीकी तरह उसके लिए मधुर फलदायक होते है । दूसरेको अनिष्टवचन बोलनेसे हमारा अपना क्या प्रयोजन है, क्या वह स्वय नही जानता । ऐसा मान उसकी उपेक्षा नही करना चाहिए । परोपकार करना ही चाहिए । जैसे तीर्थंकर शिष्यजनोंके सम्बोधनके लिए ही विहार करते है । महत्ता नाम इसीका है कि परोपकार करनेमे तत्पर रहना । कहा भी है—

'अपने ही भरण-पोषणमे लगे रहनेवाले क्षुद्रजन तो हजारो है किन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा पुरुष सज्जनोमे अग्रणी विरल ही होता है । बडवानल अपना कभी न भरनेवाला पेट भरनेके लिए समुद्रका जल पीता है । किन्तु मेघ ग्रीष्मसे सतप्त जगत्के सन्तापको दूर करनेके लिए समुद्रका जल पीता है ।।३५९।।

आगे कहते है कि कानोको अप्रिय भी गुरुका वचन ग्रहण करना चाहिए—

गा०—हृदयको अनिष्ट भी वचन गुरुके द्वारा कहे जाने पर मनुष्यको पथ्य रूपसे ग्रहण करना चाहिए । जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुँह खोलकर पिलाया गया घी हितकारी होता है उसी तरह वह वचन भी हितकारी होता है ।।३६०।।

'अप्पपसंसं परिहरह' आत्मप्रशंसा त्यजत सदा। **'मा होह'** मा भवत। **'जसविणासयरा'** यशसा विनाशका। सद्भिर्गुणैः प्रख्यातमपि यशो भवता नश्यति आत्मप्रशंसया। **'अप्पाणं थोवंतो'** आत्मानं स्तुवन्। **'तणलहुओ होदि हु जणम्मि'** तृणवल्लघुर्भवति सुजनमध्ये ॥३६१॥

संता वि गुणा कत्थंतयस्स णस्संति कंजिए व सुरा।
सो चेव हवदि दोसा जं सो थोएदि अप्पाणं ॥३६२॥

संता वि विद्यमाना अपि **'कत्थंतयस्स'** ममैते गुणा इति कथयतः। **'गुणा णस्संति'** गुणा नश्यन्ति। **कंजिएव सुरा** सौवीरेण सुरेव। **'सो चेव हवइ दोसो'** स एव भवति दोषः। **'जं सो थोएदि अप्पाणं'** यदात्मानं स्तौति सः ॥३६२॥

स्वगुणस्तवनाकरणे यदि ते नश्यन्ति तर्हि स्तोतव्याः स्युर्न तथा नश्यन्ति इत्याचष्टे—

संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति।
अकहिंतस्स वि[1] जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥३६३॥

संता विद्यमाना अपि। **'अकहिंतयस्स'** अभाषमाणस्य। **'पुरिसस्स'** पुरुषस्य। **'गुणा ण वि य णस्संति'** नैव नश्यन्ति। यदि न स्वयं स्तौति स्वगुणान्न प्रख्यातिमुपयान्तीत्येतच्च नेति वदति। **'अकहिंतस्स वि'** अस्तुवतोऽपि **'गहवइणो'** ग्रहपते आदित्य[2]स्य **'जगविस्सुदो तेजो'** जगति विश्रुतं तेजः ॥३६३॥

आत्मन्यसतां गुणानां उत्पादकं स्तवनमिति[3] च न युज्यत इत्याह—

गा०—अपनी प्रशंसा करना सदाके लिए छोड दो। अपने यशको नष्ट मत करो क्योंकि समीचीन गुणोके कारण फैला हुआ भी आपका यश अपनी प्रशंसा करनेसे नष्ट होता है। जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनोके मध्यमे तृणकी तरह लघु होता है ॥३६१॥

गा०—'मेरेमे ये ये गुण है' ऐसा कहने वालेमे विद्यमान भी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे काँजीके पीनेसे मदिराका नशा नष्ट हो जाता है। वह जो अपनी प्रशंसा करता है यही उसका दोष है ॥३६२॥

आगे कहते है कि अपने गुणोकी प्रशंसा न करनेसे यदि वे गुण नष्ट होते हो तो उनकी प्रशंसा करना उचित है किन्तु वे नष्ट नही होते—

गा०—जो पुरुष अपने गुणोकी प्रशंसा स्वयं नही करता उसके विद्यमान गुण नष्ट नही होते। यदि वह अपने गुणोकी प्रशंसा नही करता तो उसके गुणोकी प्रख्याति नहीं होती, ऐसी बात नही है। सूर्य अपने गुणोको स्वयं नही कहता। फिर भी उसका प्रताप जगत्मे प्रसिद्ध है ॥३६३॥

आगे कहते है कि अपनी प्रशंसा करनेसे अपनेमे अविद्यमान भी गुण प्रकट होते है ऐसा कहना युक्त नही है—

---

१ वि गहवइणो णो जगविस्सदो–आ०। २. त्यस्य णो जग विस्सुदो तेजो न जगति विश्रुत तेज – आ० मु०। ३ ति वचन–आ० मु०।

ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स ।
धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ॥३६४॥

'ण य जायंति असंता गुणा' नैवोत्पद्यन्ते असंतो गुणा । **विकत्थतयस्स** स्तुवत । **'धंति'** नितरा **'महिलायंतो व'** वामलोचनेव आचरन्नपि । **'पंडगो पंडगो चेव'** षढ षढ एव भवति न युवति ॥३६४॥

संतं सगुणं किंत्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूण ।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा ॥३६५॥

'संतं सगुणं कित्तिज्जंतं' विद्यमानमपि स्वगुण कीर्त्यमान । **'सुजणो जणम्मि सोदूण'** साधुजनस्य मध्ये श्रुत्वा । **'लज्जइ'** व्रीडामुपैति । **'किह पुण'** कथ पुन **'सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा'** स्वयमेवात्मनो गुणकीर्तन कुर्यात् ॥३६५॥

स्वगुणासंकीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि ।
सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥३६६॥

'अविकत्थंतो अगुणो वि होइ' अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति । **'सगुणो व'** गुणवानिव । **'सुजणमज्झम्मि'** सुजनमध्ये । परस्परव्याहतमिद वच 'अगुणस्स गुण' इति एतस्यामाशकायामाह—**'सो चेव होदि गुणो'** स एव गुणो भवति । **'जं अप्पाणं ण थोएदि'** यदात्मान न स्तौति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणाभावान्निर्गुणा , आत्मप्रशसाऽकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थ ।

यदि सन्ति गुणस्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकागन्धः शपथेन विभाव्यते ॥ [ ] ॥३६६॥

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं ।
होदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासणं तेसिं ॥३६७॥

गा०—अपने गुणोंकी प्रशसा करने वाले पुरुषमे अविद्यमान गुण प्रशंसा करनेसे उत्पन्न नही होते । स्त्रीकी तरह खूब हाव-भाव करने पर भी नपुसक नपुसक ही रहता है, युवति नही बन जाता ॥३६४॥

गा०—सज्जन मनुष्योके बीचमे अपने विद्यमान भी गुणकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है । तब वह स्वयं ही अपने गुणोकी प्रशसा कैसे कर सकता है ॥३६५॥

अपने गुणोकी प्रशंसा न करनेके गुण कहते हैं—

गा०—अपनी प्रशंसा न करनेवाला स्वय गुणरहित होते हुए भी सज्जनोंके मध्यमे गुणवान्की तरह होता है । गुणरहितको गुणवान कहना तो परस्पर विरुद्ध है, ऐसी आशका करनेपर कहते हैं—वह जो अपनी प्रशंसा नही करता यही उसका गुण है । भावार्थ यह है कि सम्यग्ज्ञानदर्शन आदि गुणोंका अभाव होनेसे वह गुणरहित हैं किन्तु अपनी प्रशंसा न करनेके गुणसे गुणवान् है । 'यदि उसमे गुण है तो वे स्वयं कसौटीपर कसे जायेंगे । कस्तूरीकी गन्धके लिए शपथ करना नहीं होता ॥३६६॥

'वायाए जं कहणं' वाचा गुणाना यत्कथनं । **'तं णासणं हवे तेसिं'** तन्नाशन भवेत्तेषा गुणाना । **'चरिदेहिं गुणाण कहणं'** चरितैरेव गुणाना कथनं **'तेसिमुब्भासणं होइ'** गुणाना प्रकटन भवति । एतदुक्त भवति—गुणान्प्रकटयितुकामस्य यद्वाचा कथन गुणेष्वात्मन प्रवृत्तिरेव गुणप्रकाशन इति ॥३६७॥

[१]चरितेन गुणप्रकाशनस्य माहात्म्य कथयति—

[२]वायाए अकहेंता सुजणे विकतहेंया य चरिदेहिं ।
सगुणे पुरिसाण पुरिसा होंति उवरीव लोगम्मि ॥३६८॥

'वायाए अकहिंता' वाचया अकथयन्त । **'सुजणे'** साधुजनमध्ये । **'चरिदेहिं विकहिंतगा य'** चरितै प्रतिपादयन्त । **'सगुणे'** आत्मीयान्गुणान् । **'पुरिसाण पुरिसा लोगम्मि उवरीव होंति'** पुरुषाणामुपरीव भवन्ति पुरुषा लोके ॥३६८॥

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकत्थिंतो ।
सगुणो वा अकहिंतो वायाए होंति अगुणेसु ॥३६९॥

'सगुणम्मि जणे' गुणवति जने । **'सगुणो वि णरो'** गुणवानपि नर । **'लहुगो होदि'** लघुर्भवति । क ? **'सगुणं णरो विकत्थंतो'** स्वगुण नरो वाचा निरूपयन् । किमिव **'सगुणो वा'** गुणवानिव । **'वाचा अकत्थेंतो'** वचनेन अप्रकटयन् । **'अगुणेसु'** निगुणमध्ये ॥३६९॥

चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो ।
वायाए विकहिंतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ॥३७०॥

'चरिएहिं कत्थमाणो' चरितैरेव प्रकटयन् । किं **'सगुणं'** स्वगुण । **'सगुणो सोभदे'** गुणवान् जन शोभते । क्व **'सगुणेसु'** गुणवत्सु । किमिव **'वायाए विकथंतो'** वचसा ब्रुवन् । **'अगुणोव्व'** निर्गुण इव । **'अगुणम्मि'** निर्गुणमध्ये ॥३७०॥

गा०—वचनसे गुणोको कहना उनका नाश करना है। और आचरणसे गुणोका कथन उनको प्रकट करना है। अभिप्राय यह है कि जो गुणोको प्रकट करना चाहता है उसे वचनसे न कहकर गुणोमे अपनी प्रवृत्तिसे ही गुणोका प्रकाशन करना चाहिए ॥३६७॥

अपने आचरणसे गुणोको प्रकट करनेका माहात्म्य कहते है—

गा०—जो वचनसे न कहकर साधुजनके मध्यमे अपने आचरणसे अपने गुणोको कहते है पुरुष लोकमे सब पुरुषोसे ऊपर होते है ॥३६८॥

गा०—गुणवान पुरुषोमे गुणवान भी मनुष्य यदि अपने गुणोको कहता है सो लघु होता है। जैसे निर्गुणोके मध्यमे अपने गुणोको न कहने वाला गुणवान होता है ॥३६९॥

गा०—गुणवानोमे गुणवान मनुष्य अपने गुणको अपने आचरणसे प्रकट करता हुआ ही शोभता है। जैसे निर्गुण मनुष्योमे निर्गुण मनुष्य वचनसे अपने गुणोको कहता हुआ शोभित होता है ॥३७०॥

---

१. नेय उत्थानिका । —आ० मु० ।

२. 'वायाए अकहिंता सुजणे चरिदेहि कहयगा होंति ।
विकहिंतगा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव ॥' —आ० मु० ।

सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह ।
अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ॥३७१॥

'**सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह**' आत्मीये गणे परगणे वा परापवादं मा कृथा । '**अच्चासादणविरदा य होह**' अत्यासादनतो विरता भवत । '**सदा वज्जभीरू य**' पापभीरवश्च भवत ॥३७१॥

परनिन्दया दोषमाचष्टे—

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ ।
परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा ॥३७२॥

स्पष्टार्था गाथा ॥३७२॥

परनिन्दा किमर्थं क्रियते गुणित्वे स्थापयितुमात्मानमिति चेत्, तन्निराकरोति—

किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए ॥३७३॥

'**किच्चा परस्स णिंदं**' परनिन्दा कृत्वा । '**जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज**' य आत्मानं गुणितायां स्थापयितुमिच्छेत् । '**सो इच्छदि**' स वाछति । किं '**आरोग्गं**' नीरोगता । '**परम्मि कडुगोसधे पीदे**' कटुकौषधपायिन्यस्मिन् ॥३७३॥

सत्पुरुषक्रमं व्याचष्टे—

दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ।
रक्खइ य सयं दोसंव तयं जणजंपणभएण ॥३७४॥

'**दट्ठूण अण्णदोसं**' अन्यस्य दोषं दृष्ट्वा । '**सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होदि**' सत्पुरुषः स्वयं लज्जामुपैति । '**रक्खइ सयं दोसं व**' स्वदोषमिव च रक्षति । '**जणजंपणभयेण**' जननिन्दाभयेन ॥३७४॥

गा० अपने गणमे अथवा दूसरे गणमे दूसरोकी निन्दा नही करना चाहिये। तथा अति आसादनासे विरत रहो और सदा पापसे डरो ॥३७१॥

पर निन्दाका दोष कहते हैं—

गा०—परनिन्दा आयास, वैर, भय, दुख, शोक और लघुताको करती है पापरूप है, दुर्भाग्यको लाती है और सज्जनोको अप्रिय है ॥३७२॥

जो कहते है कि अपनेको गुणी कहलानेके लिये परनिन्दा की जाती है उनका निराकरण करते है—

गा०—जो परकी निन्दा करके अपनेको गुणी कहलानेकी इच्छा करता है वह दूसरेके द्वारा कड़ुवी औषधी पीनेपर अपनी नीरोगता चाहता है। अर्थात् जैसे दूसरेके औषधी पीनेपर आप नीरोग नही हो सकता। वैसे ही दूसरेकी निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नही बन सकता ॥३७३॥

गा०—सत्पुरुष दूसरोके दोष देखकर स्वयं लज्जित होता है। लोकापवादके भयसे वह अपनी तरह दूसरोके भी दोषोको छिपाता है ॥३७४॥

अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ।
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥३७५॥

'**अप्पो वि परस्स गुणो**' परस्य गुण स्वल्पोऽपि । '**सप्पुरिसं पप्प**' सत्पुरुषं प्राप्य । '**बहुदरो होइ**' अतिमहान् भवति । '**उदए व तेल्लबिन्दू**' उदके तैलबिन्दुरिव । '**किह सो जंपिहिदि परदोसं**' कथमसौ इत्थभूत-जल्पति परस्य दोषं ॥३७५॥

एसो सव्वसमासो तह जतह जह हवेज्ज सुजणम्मि ।
तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा कित्ती ॥३७६॥

'**एसो सव्वसमासो**' एष सर्वस्योपदेशस्य सक्षेप । '**तह जतह**' तथा यतध्व । '**जह हवेज्ज सुजणम्मि**' यथा भवेत्सुजने । '**तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा कित्ती**' युष्माक गुणैर्जनिता सर्वत्रापि विश्रुता कीर्ति ॥३७६॥

कासौ संयताना कीर्तिरिति शकायामुच्यते—

एस अखंडियसीलो बहुस्सुदो य अपरोवतावी य ।
चरणगुणसुट्ठिदोत्तिय धण्णस्स खु घोसणा भमदि ॥३७७॥

'**एस अखंडियसीलो**' एष अखण्डितसमाधि । '**बहुस्सुदो य**' बहुश्रुतश्च । '**अपरोवतावी य**' अपरोपता[1]-पकारी च । '**चरणगुणसुट्ठिदोत्ति य**' सुचारित्रगुणे सुस्थित इति । '**धण्णस्स खु**' पुण्यवत । '**घोसणा भमइ**' यशो विचरति ॥३७७॥

एवं गुरूपदेश श्रुत्वा गणः—

बाढत्ति भाणिदूणं एदं णो मंगलेत्ति य गणो सो ।
गुरुगुणपरिणदभावो आणंदसुं णिवाणेइ ॥३७८॥

'**बाढत्ति भाणिदूण**' बाढमित्युक्त्वा । '**एद णो मंगलोत्ति य**' एतद्भवता वचन अस्माक मगल नितरा इत्युक्त्वा । '**गुरुगुणपरिणदभावो**' गुरोर्गुणेषु परिणतचित्त । '**आणंदसुं णिवाडेइ**' आनन्दाश्रु निपात-

गा०—दूसरेका छोटासा भी गुण सत्पुरुषको पाकर अतिमहान हो जाता है । जैसे तेलकी बूँद पानीमे फैलकर महान हो जाती है । तब वह सत्पुरुष दूसरेके दोषको कैसे कह सकता है ॥३७५॥

गा०—यह समस्त उपदेश का सार है । ऐसा यत्न करो जिससे सज्जनोमे तुम्हारे गुणोसे उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैले ॥३७६॥

सयमी जनोकी वह कीर्ति क्या है, यह बतलाते है—

गा०—यह साधु अखण्डित समाधिके धारी हैं, बहुश्रुत है, दूसरोको कष्ट नही देते, और चारित्रगुणमे अच्छी तरह स्थित हैं । पुण्यशालीका यह यश सर्वत्र फैलता है ॥३७७॥

गा०—इस प्रकार गुरुका उपदेश सुनकर सघ 'हमे स्वीकार है' ऐसा कहकर आपके ये वचन हमारे लिये अत्यन्त मगल कारक है ऐसा कहता है । तथा गुरुके गुणोमें मन लगाकर

१ ताप इव कारी । —आ० । २ चरइ । —अ० आ० ।

यति ॥३७८॥

भगवं अणुग्गहो मे जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे ।
सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हु पावेंति ॥३७९॥

'**भगवं अणुग्गहो मे**' भगवन्ननुग्रहोऽस्माकं । '**जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे**' यत्स्वशरीरमिव पालिता वयम् । '**सारणवारणपडिचोयणाओ**' एवं कुरुत, [1]मैवं कृथा इति शिक्षा । '**धण्णा हुं पावेंति**' धन्याः प्राप्नुवन्ति ॥३७९॥

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणा पमादरागेहिं ।
पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करिंताणं ॥३८०॥

'**अम्हे वि खमावेमो**' वयमपि क्षमा ग्राहयाम. । '**अण्णाणा**' अज्ञानात् । '**पमादरागेहिं**' प्रमादाद्रागाच्च । '**जं पडिलोमिदा अम्हे**' भवता प्रतिकूलवृत्तयो यद्वय जाता । '**आणाहिदोवदेसं करंताणं**' आज्ञा हितोपदेश कुर्वताम् ॥३८०॥

सहिदय सकण्णयाओ कदा सचक्खू य लद्धसिद्धिपहा ।
तुज्झ वियोगेण पुणो णट्ठदिसाओ भविस्सामो ॥३८१॥

'**सहिदय सकण्णयाओ**' सहृदया सकर्णकाश्च जाता । '**कदा सचक्खू य**' कृता सलोचना । '**लद्धसिद्धिपहा**' लब्धसिद्धिमार्गा । '**तुज्झ वियोगेण पुणो**' भवद्भ्यो वियोगेन पुनः । '**णट्ठदिसाओ**' नष्टदिक्काः । '**भविस्सामो**' भविष्याम ॥३८१॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ।
पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होंति ॥३८२॥

'**सव्वजयजीवहिदए**' सर्वस्मिञ्जगति ये जीवा. तेषा हिते । '**थेरे**' ज्ञानतपोवृद्धे । '**सव्वजग जीव-**

आनन्दके आँसू गिराता है ॥३७८॥

गा०—भगवन्! आपका हमपर बडा अनुग्रह है। आपने अपने शरीरकी तरह हमारा पालन किया है। तथा 'यह करो' और 'यह मत करो' इत्यादि शिक्षा दी है। भाग्यशाली ही ऐसी शिक्षा प्राप्त करते है ॥३७९॥

गा०—आपकी आज्ञा और हितका उपदेश करनेपर हमने जो अज्ञान प्रमाद और रागवश उसके प्रतिकूल आचरण किया, उसके लिये हम भी आपसे क्षमा माँगते है ॥३८०॥

गा०—आपने हमे हृदय युक्त अर्थात् विचारशील बनाया। हमे सकर्ण बनाया अर्थात् आपके उपदेश सुनकर कानोंका फल प्राप्त किया। आपने हमे आँखे प्रदान की अर्थात् हमे शास्त्र स्वाध्यायमें लगाया। तथा आपके प्रसादसे हमने मोक्षका मार्ग प्राप्त किया। अब आपके वियोगसे हम दिशाहीन हो जायेंगे। हमे कोई मार्ग दिखाने वाला नही रहेगा ॥३८१॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोका हित करने वाले, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा समस्त जगत्

---

१. मा कुरुत मु० ।

णाथम्मि' सर्वजगतो जीवाना नाथे। 'पवसंते य मरंते' प्रवास मृतिं वा प्रतिपद्यमाने। 'देसा किर सुण्णया होंति' देशाः किल शून्या भवन्ति ॥३८२॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि।
पवसंते य मरंते होदि हु देसोंधयारोव्व ॥३८३॥
सीलड्ढगुणड्ढेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं।
पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होंति ॥३८४॥

'सीलड्ढगुणड्ढेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं' शीलाढ्यैर्बहुश्रुतैः अपरोपतापिभिः। 'पवसंते य मरंते' मृतिं प्रवास वा प्रतिपद्यमाने.। 'देसा ओखंडिया होंति' जनपदा अवखडिता भवन्ति। गतार्थोत्तरा गाथा ॥३८४॥

सव्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण णिप्पकंपाणं।
दुक्खं खु विसहिदुं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं ॥३८५॥

'सव्वस्स दायगाणं' ज्ञानदर्शनचारित्रतपोदानोद्यताना। 'समसुहदुक्खाण' सुखदुःखयो समानाना। 'णिप्पकंपाणं' परीषहेभ्यो निश्चलाना। 'वरगुरूणं' महता गुरूणा। 'चिरप्पवासो' चिरकालप्रवासो वियोगः। 'दुक्खं खु विसहिदुं जे' सोढुमतीव दुष्कर ॥३८५॥

एवं परिसमाप्य अनुशासनाधिकारं परगणचर्यां निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अब्भुज्जदं पविहरंतो।
आराधणाणिमित्तं परगणगमणे मइं कुणदि ॥३८६॥

'एवं आउच्छित्ता' आपृच्छ्य। 'सगणं' स्वगण। 'अब्भुज्जदं पविहरन्तो' प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमान। 'आराहणाणिमित्तं' आराधनानिमित्त। 'परगणगमणे मइं कुणइ' परगणगमने मतिं करोति ॥३८६॥

के जीवोंके स्वामीके अन्यत्र चले जानेपर अथवा मरणको प्राप्त होनेपर देश शून्य हो जाते हैं ॥३८२॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोके हितकारी, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा सब जगत्के जीवोके स्वामीके अन्यत्र चले जाने या मरणको प्राप्त होनेपर देशमे अन्धकार-सा छा जाता है ॥३८३॥

गा०—शीलसे सम्पन्न और गुणोसे समृद्ध, बहुश्रुत तथा दूसरोको सताप न देने वाले महर्षियोके प्रवासमें जानेपर या मरणको प्राप्त होनेपर सब देश उजाड सा प्रतीत होते है ॥३८४॥

गा०—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपका दान करनेमे तत्पर रहते है, सुख और दुःख मे समभाव रखते हैं तथा परीषहोंसे विचलित नही होते उन महान् गुरुओंके वियोगका दुःख सहना अति कठिन है ॥३८५॥

इस प्रकार अनुशासन अधिकार को समाप्त करके परगणचर्याका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार अपने गण से पूछकर रत्नत्रयमे उत्कृष्ट रूपसे प्रवृत्ति करनेमें तत्पर आचार्य आराधना करनेके लिये दूसरे गणमे जानेका विचार स्थिर करते हैं ॥३८६॥

किमर्थं परगणप्रवेशं करोति इत्याशङ्कायां स्वगणावस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकोवो फरुसं कलहपरिदावणादी य ।
णिब्भयसिणेहकालुणियज्झाणविग्घो य असमाधी ।।३८७।।

'**सगणे आणाकोवो**' आत्मीये गणे आज्ञाकोप. । '**फरुसं कलहपरिदावणादी य**' परुषवचन कलहो, दु स्वादीनि च । '**णिब्भयसिणेहकोलुणियज्झाणविग्घो य**' निर्भयता, स्नेहः कारुण्यं, ध्यानविघ्न । '**असमाही**' असमाधिश्च ।।३८७।।

उड्डाहकरा थेरा कालहिया खुड्डया खरा सेहा ।
आणाकोवं गणिणो करेज्ज तो होज्ज असमाही ।।३८८।।

'**उड्डाहकरा थेरा**' अयश सपादका स्थविरा । '**कालहिगा**' कलहकरा । '**खुड्डगा**' क्षुल्लका. । '**खरा सेहा**' परुषा अमार्गज्ञा । '**आणाकोवं गणिणो करेज्ज**' आज्ञाकोप सूरे· कुर्यु । '**तो होज्ज असमाही**' तस्मा-दाज्ञाकोपाद्भवेदसमाधि ।।३८८।।

स्वगणे स्थविरादिकृतमसमाधिकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

परगणवासी य पुणो अव्वावारो गणी हवदि तेसु ।
णत्थि य असमाहाणं आणाकोवम्मि वि कदम्मि ।।३८९।।

परगणेऽप्यमी सन्त्येव स्थविरादयस्तत्राप्यसमाधान स्यादेवास्येति शङ्का निरस्यति । '**परगणवासी य**' य. परगणे वसति गणी सो । '**अव्वावारो**'ऽव्यापार तेषु शिक्षाव्यापाररहित । तेन आज्ञाकोपो न विद्यते

किसलिये दूसरे गणमे जाते है ? ऐसी आशका होने पर अपने गणमे रहनेके दोष कहते हैं—

गा०—अपने गणमे रहनेपर आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दुख आदि, निर्भयता, स्नेह, करुणा, ध्यानमे विघ्न और असमाधि ये नौ दोष होते हैं।

विशेषार्थ—अपने सघमे रहने पर किसी को आज्ञा दे और वह न माने तो परिणामोंमे क्रोधभाव हो जाय। जो कोई गलती करे तो उसे अपना जान कठोर वचन बोला जाय। किसीको हितकी प्रेरणा करे और वह न माने तो कलह पैदा हो जाय। किसीको दोष करते देखकर मनमे सताप पैदा हो सकता है। रोगवश अपने ही परिणाम बिगड जायें तो किसीका भय न होनेसे अयोग्य आचरण भी कर सकता है। मरते समय परिचित साधुओमे स्नेह भाव आ सकता है। या किसी को दुःखी देखकर करुणा भाव हो सकता है। ध्यानमे बाधा पड सकती है और समाधि नही बन सकती। ये दोष अपने गणमे रहकर समाधि करनेमे हैं ।।३८७।।

गा०—तथा अपने गणमे ही रहे तो किसी भी बातको लेकर वृद्ध मुनि अपयश कर सकते हैं। किसीको शिक्षा देनेपर क्षुद्र अज्ञानी कलह करते हैं। मार्गको नही जानने वाले और कठोर स्वभाववाले मुनि आचार्यकी आज्ञा न माने तो आचार्यको कोप उत्पन्न होनेसे समाधि बिगड जाती है ।।३८८।।

गा०—दूसरे गणमें भी ये वृद्ध मुनि आदि होते ही है, अत· वहाँ भी उनकी असमाधि हो सकती है, इस शंका को दूर करते है—जो आचार्य अपना गण त्यागकर दूसरे गणमे रहता है उसे

आज्ञाभङ्गो नास्तीत्यर्थ । **'णत्थि य असमाधाणं'** नास्ति च असमाधि । **'आण कोवम्मि वि कयम्मि'** आज्ञा-भङ्गे कृतेऽपि ममानुपकारिणो वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्ति इति चेत प्रणिधानात् ॥३८९॥

आज्ञाकोपदोषं अभिधाय द्वितीय व्याचष्टे—

खुड्डे थेरे सेहे असंवुडे दट्ठूण कुणइ वा परुसं।
ममिकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं परुसेण ॥३९०॥

'खुड्डे थेरे सेहे' क्षुल्लकान्स्थविरानमार्गज्ञाश्च । **'असवुडे'** असवृतान् असयतान् । **'दिट्ठूण'** दृष्ट्वा । **'कुणदि वा परुसं'** करोति वा परुष । **'ममिकारेण भणेज्जो'** ममत्वेन वदेद्वा परुष । **'भणिज्ज वा तेहिं परुसेण'** भण्येत वा गणी तैः परुष वच ॥३९०॥

कलहं पूर्वार्द्धेन व्याचष्टे—

पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहि सह कलहो ।
परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥३९१॥

'पडिचोदणासहणदाए' गुरुशिक्षासहनेन । **'होज्ज कलहो तेहि गणिणो वि'** भवेत्कलहस्तै क्षुल्लका-दिभि सह गणिन । **'परिदावणादिदोसा होज्ज'** दु खादिदोषा भवेयु । **'गणिणो व तेसिं च'** गणिनस्तेषा क्षुल्लकादीना वा कलह ॥३९१॥

कलहपरिदावणादीय इत्येतत्सूत्रपद प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले करंतेसु ।
गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥३९२॥

'कलहपरिदावणादी दोसे व' कलह परितापादिदोष वा । **'अमाकुले करंतेसु'** गणेन सह कुर्वत्सु क्षुल्लकादिषु । **'गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी'** गणिनो भवेन्ममतादोषेण असमाधि ॥३९२॥

वहाँ शिक्षा आदि देनेका काम नही रहता । इससे वहाँ आज्ञा भगका प्रश्न नही रहता । आज्ञा भग होने पर भी वह मनमे विचारता है कि मैने इनका कोई उपकार नो किया नही, तब ये मेरी आज्ञाका पालन क्यो करेगे ? अत. आज्ञा भग होने पर भी असमाधि नही होती ॥३८९॥

आज्ञाकोप दोषको कहकर दूसरे दोषको कहते है—

गा०—गुणोसे हीन क्षुद्र मुनियो, तपमे वृद्ध स्थविरो और रत्नत्रय रूप मार्गको न जानने वालोको असयमरूप प्रवृत्ति करते हुए देखकर 'ये हमारे शिष्य है, सघके है' इस प्रकारके ममत्व भावसे उनके प्रति कठोर वचन कहा जाये अथवा वे क्षुद्र आदि उन्हे कठोर वचन कहे, यह दूसरा दोष है ॥३९०॥

पूर्वार्द्धसे कलह दोष कहते है—

गा०—गुरुकी शिक्षाको सहन न करनेसे आचार्यकी भी उन क्षुद्र आदिके साथ कलह हो सकती है । और उससे आचार्यको अथवा उन क्षुद्र आदि मुनियोको दु ख आदि दोष होते है ॥३९१॥

'कलहपरिदावणीदीय' इस गाथाका प्रकारान्तरसे कथन करते है—

गा०—वे क्षुद्र आदि गणमे कलह परिताप आदि दोष करे तो उसे देखकर ममत्व भावसे आचार्यकी असमाधि हो सकती है ॥३९२॥

परितावणादि इत्येतत्सूत्रपदं अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपत्तेसु ।
गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाही वा सिणेहो वा ॥३९३॥

'**रोगातंकादीहिं य**' अल्पैर्महद्भिर्व्याध्यादिभि । '**परिदावणादिपत्तेसु**' परितापनादिप्राप्तेषु । '**सगणे**' आत्मीयशिष्यवर्गे । '**गणिणो हवेज्ज दुःक्खं**' आचार्यस्य भवेद्दुःख । '**असमाही वा सिणेहो वा**' असमाधिर्वा स्नेहो वा ॥३९३॥

तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिब्भओ संतो ।
जाएज्ज व सेएज्ज व अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥३९४॥

'**तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि**' पिपासादिकेषु परीषहेषु सहनीयेष्वपि । '**सगणम्मि णिब्भओ संतो**' स्वगणे निर्भय सन् । '**जाएज्ज व सेवज्ज व**' याचते वा सेवते वा । '**अकप्पियं**' अयोग्यं किञ्चित्प्रत्याख्यातमशन पान वा । '**वीसत्थो**' विश्वस्त भयलज्जाविरहितः ॥३९४॥

सिणेह इत्यस्य व्याख्या—

उढ्ढे सअंकवढिढय बाले अज्जाउ तह अणाहाओ ।
पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतियविओगे ॥३९५॥

उड्ढे सअंकवड्ढिय इत्यादिका वृद्धान्यतीन्स्वाकवर्धितबालान् यतीस्तथा आर्यिका , अनाथा. पश्यतः स्नेहो भवेदात्यन्तिके वियोगे ॥३९५॥

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुड्डा य खुड्डियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ।
तो होज्ज ज्झाणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥३९६॥

'परितावणादि' इस गाथा पदको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

गा०—अपने शिष्य वर्गके छोटी बडी व्याधियोसे पीडित होने पर आचार्यको दुःख हो सकता है । अथवा स्नेह पैदा हो सकता है और उससे समाधिकी हानि हो सकती है ॥३९३॥

गा०—अपने गणमे रहकर समाधि करने पर प्यास आदि की परीषह सहने योग्य होने पर भी निर्भय होकर और भय तथा लज्जा को त्याग अयोग्य की भी याचना अथवा सेवन कर सकता । जो त्याग दिया है खानपान, उसको भी माँग सकता है या उसका सेवन कर सकता है, क्योंकि वहाँ उसे कोई भय नहीं है सब उसीके शिष्यगण हैं ॥३९४॥

स्नेह का कथन करते हैं—

गा०—वृद्ध यतियोंको, जिन्हे बचपनसे अपनी गोदमें बैठाकर पाला है उन बाल यतियोको, आर्यिकाओंको अनाथ होते देखकर मरते समय सर्वदाके लिए वियोग होने पर स्नेह पैदा हो सकता है ॥३९५॥

'कोलुगिण' पदका व्याख्या न करते है—

'खुड्डा य खुड्डियाओ' क्षुल्लका, क्षुल्लिक्यः आर्या कुर्युरारटन। ततो ध्यानविघ्नोऽसमाधिर्वा गणधरस्य भवतीति ॥३९६॥

कारुण्य विवृणोति—

भत्ते वा पाणे वा सुस्सूसाए व सिस्सवग्गम्मि ।
कुव्वंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥३९७॥

'भत्ते वा पाणे वा' भक्ते पाने वा शुश्रूषाया वा प्रमाद शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भवति ॥३९७॥

एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति सगणवासिस्स ।
भिक्खुस्स वि तारिसयस्स होंति पाएण ते दोसा ॥३९८॥

'एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंदि' एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे वसत । 'भिक्खुस्स वि तारिसयस्स' भिक्षोरपि तादृशस्स उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रायेण ते दोषा ॥३९८॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति परगणणिवासिणो गणिणो ।
तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए ॥३९९॥

एदे सव्वे दोसा ण होंदि' एते सर्वे दोषा न भवन्ति। 'परगणणिवासिणो गणिणो' परगणनिवासिनो गणधरस्य। तस्मात्स्वगण परित्यज्य व्रजति परगण समाधये ॥३९९॥

संते सगणे अम्हं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ।
सव्वादरसत्तीए भत्तीए वट्टइ गणो से ॥४००॥

'सते सगणे' सत्यपि स्वगणे अस्मद्गणे जातरुचिरागतो गणमिममिति सर्वादरेण भक्त्या च गणो वर्तते ॥४००॥

गा०—क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ अर्थात् बालमुनि और आर्यिका भी गुरुका वियोग होते देख रो पड़ते हैं तो आचार्यके ध्यानमे विघ्न और असमाधि होती है ॥३९६॥

गा०—खानपान और सेवा टहलमे शिष्यवर्गके प्रमाद करने पर आचार्यकी असमाधि हो सकती है। अर्थात् आचार्यको यह विकल्प पैदा हो सकता है कि हमने इनका उपकार किया और यह हमारी सेवा भी नही करते। इससे ध्यानमे विघात होनेसे समाधि बिगड सकती है ॥३९७॥

गा०—ये दोष विशेष रूपसे अपने गणमे रहकर समाधि करनेवाले आचार्यके होते हैं। अन्य भी जो भिक्षु उपाध्याय या प्रवर्तक अपने गणमे रहकर समाधि मरण करते हैं उनके भी प्रायः ये दोष होते है ॥३९८॥

गा०—ये सब दोष दूसरे गणमे निवास करनेवाले आचार्यके नही होते। इसीलिए वह अपना गण छोड परगणमे समाधिके लिए जाता है ॥३९९॥

गा०—अपने गणके होते हुए यह हमारे गणमे रुचि रखकर यहाँ आया है ऐसा मानकर दूसरा गण पूर्ण आदरके साथ शक्ति और भक्तिसे उसकी सेवामे लगता है ॥४००॥

गीदत्थो चरणत्थो पच्छेदूणागदस्स खवयस्स ।
सव्वादरेण जु णिज्जवगो होदि आयरिओ ॥४०१॥

'गीदत्थो चरणत्थो' गृहीतार्थः ज्ञानी चरणस्थ । **'पच्छेदूणागदस्स'** प्रार्थयित्वागतस्य । **'खवगस्स'** क्षपकस्य । **'सव्वादरेण जुत्तो'** सर्वादरेण युक्तः **'णिज्जवगो होइ आयरिओ'** निर्यापको भवत्याचार्य ॥४०१॥

संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो ।
जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी ॥४०२॥

'संविग्गवज्जभीरुस्स' ससारभीरो, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरो पादमूले वर्तमानो जिनवचनसर्वसारस्य भवत्याराधक । **'तावि'** यति । **'संते सगणे'**, **'गीदत्थो'**, **'संविग्गवज्जभीरु'** इत्येतत्सूत्रत्रयेण परगणे चर्याया गुणो व्याख्यात । परगणचर्या ॥४०२॥

मार्गणानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्ध —

[1]**पंचच्छसत्तसदाणि जोयणाणं तदो य अहियाणि ।**
णिज्जावयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०३॥

पचच्छसत्तसदाणि पञ्चषट्सप्तयोजनशतानि ततोऽभ्यधिकानि वा गत्वा अन्वेषते निर्यापक । शास्त्रेण-अनुज्ञात समाधिकामो यति ॥४०३॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

एक्कं व दो व तिण्णि य वारसवरिसाणि वा अपरिदंतो ।
[2]**णिज्जवयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०४॥**

गा०—उस प्रार्थना पूर्वक आये हुए क्षपकका निर्यापक आचार्य ज्ञानी, चारित्र निष्ठ तथा उस क्षपकके प्रति पूर्ण आदर भावसे युक्त होता है ॥४०१॥

गा०—संसार और पापकर्मसे डरने वाले उस निर्यापक आचार्यके चरणोंमें विहार करता हुआ वह क्षपक यति समस्त जिनागमके सार रूप आराधनाका आराधक होता है ॥४०२॥

'सते सगणे', 'गीदत्थो', 'सविग्गवज्जभीरु' इन तीन गाथा सूत्रोके द्वारा परगणमे चर्या करनेका गुण कहा है। इस प्रकार परगणमे चर्या करनेका गुण कहा है ॥४०२॥

आगे मार्गणाका कथन करते है—

गा०—समाधिका इच्छुक यति पाँच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे अधिक जाकर शास्त्रसम्मत निर्यापकको खोजता है ॥४०३॥

गा०—समाधिका इच्छुक यति एक अथवा दो अथवा तीन आदि बारह वर्ष पर्यन्त खेद-खिन्न न होता हुआ जिनागम सम्मत निर्यापकको खोजता है ॥४०४॥

---

१ पंचच्छ सत्त जोयण सदाणि तत्तोऽहियाणि वा गतुं । णिज्जावगमण्णे सदि समाधिकामो अणुण्णाद–आ० मु० । २ जिणवयणम–आ० मु० ।

निर्यापकान्वेषणार्थं गच्छतः क्रममुदाहरति—

गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झयणपुच्छणाकुसलो ।
थंडिल्लो संभोगिय अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ ।।४०५।।

'गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेण पुच्छणाकुसलो' गच्छेदेकरात्रिभवावग्रहे अध्ययने परप्रश्ने च कुशलः । एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते । उपवासत्रय कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्बहिर्देशे श्मशाने वा प्राङ्-मुख , उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरङ्गुलमात्रपदान्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत् । सुष्ठु प्रणिहितचित्त चतुर्विधोपसर्गसह न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्य उदेति । स्वाध्याय कृत्वा गव्यूतिद्वयं गत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्या वा मगल कृत्वा याति एव स्वाध्यायकुशलता । प्रश्नकुशलतोच्यते—चैत्यसयतानार्यिका श्रावकाश्च, बालमध्यमवृद्धाश्च पृष्ट्वा कृतगवे-षणो याति इति प्रश्नकुशल । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थण्डिलान्वेषण कुर्यात् । कायशोधनार्थं सभोगयोग्य, यतिं, सघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वय वा तस्य सघाटको भवेत् । एवं स्थण्डिलान्वेषण सभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपर **स्थंडिलसभोगी य** इत्युच्यते । अतरालग्रामनगरादिसन्निवेशस्थयतिगृहिसत्कारसन्मान-प्राघूर्णकभक्तादौ सर्वत्र अप्रतिबद्धत्वात् **'अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ'** इत्युच्यते ।।४०५।।

निर्यापकको खोजनेके लिए जाते हुए क्षपकका क्रम कहते है—

गा०—एक रात्रि प्रतिमामे, अध्ययन मे और दूसरेसे प्रश्न करनेमे कुशल वह क्षपक स्थंडिलसंभोगी और सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है ।।४०५।।

टी०—एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाको कहते है । तीन उपवास करके चतुर्थ रात्रिमे ग्राम-नगर आदिके बाहर वनमें अथवा स्मशानमे पूरब अथवा उत्तर अथवा जिनप्रतिमाकी ओर मुख करके, दोनो पैरोके मध्यमे चार अगुलका अन्तर रखकर, अपनी दृष्टि नाकके अग्रभाग पर रखते हुए शरीरसे ममत्व त्याग कर स्थित होवे । अपने चित्तको अच्छी तरहसे समाहित करते हुए चार प्रकारके उपसर्गको सहकर जब तक सूर्यका उदय न हो तब तक न विचलित हो, न पतित हो । फिर स्वाध्याय करके दो गव्यूतिप्रमाण गमन करके भिक्षाके क्षेत्रकी वसतिमे जाकर ठहरे । जहाँ मार्ग दूर हो वहाँ सूत्रपौरुषी अथवा अर्थपौरुषीमे मंगलाचरण करके गमन करता है । अर्थात् एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाकी समाप्ति पर स्वाध्याय करके भिक्षाके लिए गमन करता है । यदि भिक्षाका स्थान दूर हो तो स्वाध्यायकी स्थापना करके केवल मगलाचरण करके भिक्षा स्थानके लिए गमन करता है यह उसकी स्वाध्याय कुशलता है । आगे प्रश्नकुशलता कहते हैं—जिनालयमे स्थित संयमियो, आर्यिका और श्रावकोसे तथा बाल, प्रौढ और वृद्ध पुरुषोसे भिक्षास्थान ज्ञात करके गमन करता है यह उसकी प्रश्न कुशलता है । जहाँ भिक्षा ग्रहण की वही मलत्यागके लिए स्थंडिल भूमिकी खोज करे । जिस यतिके साथ सामाचारी की जा सकती है ऐसे यतिको सहायक रूपसे ले ले या स्वय उसका सहायक हो जावे । इस प्रकार स्थडिल भूमिकी खोजमें और सामा-चारीके योग्य यतिके साथ रहनेमे जो प्रयत्नशील होता है उसे स्थडिल सम्भोगी कहते है । तथा वह क्षपक रास्तेमे आनेवाले ग्रामनगर आदिमे बने स्थानोंमे ठहरे हुए यति, गृहस्थ, उनके सत्कार, सम्मान और अतिथि भोजन आदिमे सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है । उनमें उसकी अनासक्ति

---

१. संभोगी यतिरित्यु–आ० मु० ।

आलोयणापरिणदो सम्मं संपत्थिदो गुरुसयासं ।
जदि अंतरा हु अमुहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥४०६॥

'**आलोयणापरिणदो**' रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पान्मदीयान्गुरौ निवेदयिष्यामीति कृतसकल्प । सम्मं आलोचनादोषान्परित्यज्य '**संपत्थिदो**' यातुमुद्यत । '**गुरुसयासं**' गुरुसमीप । '**जदि अंतरा खु**' यद्यन्तराल एव । '**अमुहो हवेज्ज**' पतितजिह्वो भवेत् । '**आराहवो होज्ज**' आराधको भवति ॥४०६॥

आलोचणापरिणदो सम्मं संपच्छिओ गुरुसयासं ।
जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०७॥

'**आलोचणापरिणदो**' स्वापराधकथनावहितचित्त. गुरुसमीपमागच्छतो यद्यन्तराल एव काल कुर्यात् । '**आराधगो होइ**' आराधको भवति ॥४०७॥

आलोयणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ।
जदि आयरिओ अमुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥४०८॥

तथा आलोचनापरिणत. गुर्वन्तिक प्रस्थित. आराधको भवति । यद्याचार्यो वक्तुमशक्तोजात ॥४०८॥

आलोयणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ।
जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०९॥

आचार्यकालकरणेऽप्याराधको भवति इति सूत्रार्थ ॥४०९॥

कथ आराधकता तस्य ? न कृता आलोचना नाचरितं गुरूपदिष्ट प्रायश्चित्तमित्यारेकायामाचष्टे—

सल्लं उद्धारदुमणो संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ ।
जं जादि सुद्धिहेदुं सो तेणाराहओ होइ ॥४१०॥

होती है ॥४०५॥

गा०—'मन वचन कायके विकल्प रूप रत्नत्रयमें लगे अतिचारोंको, आलोचनाके दोषोको त्यागकर मै सम्यग् रूपसे गुरुसे निवेदन करूँगा' ऐसा सकल्प करके जो गुरुके समीप जानेके लिए निकला, वह यदि मार्गमे ही अपनी बोलनेकी शक्ति खो बैठे तो भी वह आराधक होता है ॥४०६॥

गा०—मै गुरुके पास जाकर अपने दोषोकी सम्यक् आलोचना करूँगा, यह सकल्प करके जो गुरुके पास जानेके लिए निकला है वह यदि मार्गमे ही मर जाय तो भी आराधक है ॥४०७॥

गा०—आलोचना करनेका संकल्प करके जो गुरुके पास जाने के लिए चला है। यदि आचार्य बोलनेमें असमर्थ हो तो भी वह आराधक है ॥४०८॥

गा०—जो गुरुके सन्मुख अपना अपराध निवेदन करनेके लिए गुरुके पास जानेके लिए निकला है, यदि आचार्य मर जाये तो भी वह आराधक है ॥४०९॥

जिसने गुरुके सन्मुख अपने अपराधको आलोचना नही की और न गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त ही किया वह कैसे आराधक होता है ? इस शंकाका समाधान करते है—

गा०-टी०—किये गये अपराधकी आलोचना न करने पर मायाशल्य होता है। और माया-

सल्लं उद्धरिदुमणो कृतापराधाऽनालोचनाया मायाशल्यं भवति । सति मायाशल्ये न रत्नत्रयशुद्धिरिति मत्वा शल्यमुद्धर्तुमनाः । **'संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ'** संसारभीरुता संवेग., शरीरस्याशुचितामसारता, दुःखदायृता चावलोक्य, तथेन्द्रियसुखानामतृप्तिकारिता, तृष्णाभिवृद्धिनिमित्तता च तत्रोद्वेग । तौ संवेगोद्वेगौ, तीव्रा मरणकाले रत्नत्रयाराधना श्रद्धा च यस्य विद्यते स उच्यते संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ इति । अथवा संवेगोद्वेगाभ्यां प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नत्रयाराधनाया स एव भण्यते । **'जं जादि सुद्धिहेदु'** यस्माच्छुद्धिनिमित्तं याति **'सो तेण आराहओ होदि'** स तेन आराधको भवति ॥४१०॥

निर्यापकसूर्यन्वेषणार्थं गच्छतो गुणमाचष्टे—

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झंझा ।
अज्जवमद्दवलाघवतुट्ठीपल्हादणं च गुणा ॥४११॥

'आयारजीदकप्पगुणदीवणा' आचारस्य जीदसंज्ञितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि निरतिचाररत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तदर्थमेवान्वेषक प्रयतते । **'अत्तसोधि'** आत्मन शुद्धि । **णिज्झंझा** सक्लेशाभाव. । न हि सक्लेशवानित्थं दूर प्रयातुमीहते । स्वदोषप्रकटनान्माया त्यक्ता भवत्येव, तत एव माननिरासो मार्दवं । शरीरपरित्यागाहितबुद्धितया लाघव । कृतार्थोऽस्मीति तुष्टिर्भवति । प्रस्थितस्य प्रल्हादन हृदयसुख च स्वपरोपकाराभ्या गमित काल, इत उत्तर मदीय एव कार्ये प्रधाने उद्युक्तो भविष्यामि इति चिन्तया ॥४११॥

इत्थं गुर्वन्वेषणार्थमायातं दृष्ट्वा तद्गणवासिना सामाचारक्रमं व्याहरति—

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिंति सहसा हु दट्ठूण ।
आणासंगहवच्छल्लदाए चरणे य णादुं जे ॥४१२॥

शल्यके होने पर रत्नत्रयमें शुद्धि नही होती। ऐसा मानकर जो शल्यको निकालनेका भाव रखता है। तथा संसारसे भयभीत होनेको संवेग कहते हैं। और शरीरकी अशुचिता, असारता और दु खदायकताको देखकर तथा इन्द्रियजन्य सुखोंको अतृप्ति करनेवाले तथा तृष्णाको बढानेवाले जानकर उनमे विरक्ति होना उद्वेग है। जिसके संवेग और उद्वेग होते है तथा मरणकालमे रत्नत्रयकी तीव्र आराधना और श्रद्धा होती है उसे 'सवेग-उद्वेग-तीव्र श्रद्धावाला' कहते हैं। अथवा संवेग और उद्वेग द्वारा जिसकी रत्नत्रयकी आराधनामे तीव्र श्रद्धा होती है वह सवेग उद्वेग तीव्र श्रद्धावाला होता है। ऐसा वह क्षपक शुद्धिके लिए गुरुके पास जाता है इससे वह आराधक होता है ॥४१०॥

गा०-टी०—निर्यापक आचार्यकी खोजमे जाते हुए क्षपकके गुण कहते है—आचार और जीतकल्प (आचार विशेषका प्रतिपादक ग्रन्थ) के गुणोका प्रकाशन होता है। ये शास्त्र निरतिचार रत्नत्रयको ही बतलाते हैं। उसीके लिए क्षपक निर्यापककी खोज करता है। आत्माकी शुद्धि होती है। सक्लेशका अभाव होता है क्योकि जो सक्लेश परिणाम वाला होता है वह इस प्रकार दूर गमन नही करता। तथा गुरुके पास जाकर अपने दोषोंको प्रकट करनेसे मायाचारका त्याग होता ही है। इसीसे मानका निरास मार्दव भी होता है। शरीरको त्यागनेका भाव होनेसे लाघव होता है। मै कृतार्थ हूँ इस प्रकार सन्तोष होता है। 'मैने अपने और परके उपकारमें समय बिताया। अब आगे अपने ही कार्यमें प्रधान रूपसे उद्यत रहूँगा' ऐसे विचारसे हृदयमें सुख होता है। इस प्रकार गुरुके पास जानेके गुण है ॥४११॥

'आएसं' प्राघूर्णकं । ,एज्जंतं' आयान्त । 'बद्‌ठूण' दृष्ट्वा । 'सहसा अब्भुट्‌ठंति' शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यतय । 'आणासंगहवच्छल्लदाए' अब्भुट्ठेयो समणो सुसत्थविसारदो उवासेज्ज' इति जिनाज्ञासपादनार्थं आगच्छन्तं संग्रहीतुं । वत्सलतया च तस्मि 'चरणे य णावुज्ज' चरित्रं समाचारक्रम तदीय ज्ञातु च अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । क्वचित्पाठः "चरणे य णामेदु" इति च चर[1]णावगमनार्थं इति तत्रा[2]ग्राह्यम् ॥४१२॥

आगंतुगवच्छव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ।
अण्णोण्णचरणकरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥४१३॥

'आगंतुगवच्छव्वा' आगन्तुको वास्तव्याश्च । 'पडिलेहाहिं तु' दृष्ट्वा । 'अण्णमण्णेहिं' अन्योन्य । 'अण्णोण्णकरणचरणं' अन्योन्यस्य चरण करण वा । 'परिक्खन्ति' परीक्षन्ते । किमर्थं । 'जाणणहेदुं' ज्ञातुं । समितयो गुप्तयश्चरणशब्देनोच्यन्ते करणमित्यावश्यकानि गृहीतानि । आचार्याणामुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगम त ज्ञातु महावस्थानयोग्यो न वायमिति ज्ञातु वा ॥४१३॥

क्व परीक्ष्यन्ते इत्यत्राह—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥४१४॥

'आवासगठाणादिसु' अवश्यमेव सवरनिर्जरार्थिभि कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यन्ते तेषा

इस प्रकार गुरुकी खोजमे आये हुए क्षपकको देखकर उस गणके वासी साधुओकी सामाचारीका क्रम कहते हैं—

गा०—अतिथिको आता हुआ देखकर यतिगण शीघ्र खडे हो जाते हैं। जिनागमकी आज्ञाका पालन करनेके लिए, आने वालेको ग्रहण करनेके लिए और वात्सल्य भावके लिए तथा उसका कैसा आचारादि है यह जाननेके लिए वे उठकर खड़े होते हैं। कही पर 'चरणे य णामेदु' पाठ है। उसका अर्थ होता है—'अतिथिके चरणोमें नमन करनेके लिए खड़े होते है। यह यहाँ ग्रहण करने योग्य नही है ॥४१२॥

गा०-टी०—आने वाला मुनि और उस गणके वासी मुनि प्रतिलेखनाके द्वारा देखकर परस्परमें एक दूसरेके चरण और करणको जाननेके लिए परीक्षा करते है। यहाँ चरण शब्दसे समिति और गुप्ति कही है। और करण शब्दसे आवश्यकोका ग्रहण किया है। आचार्योंके उपदेशमे भेद होनेसे साधुओका समाचार अनेक प्रकारका है। इससे वह दुरवगम है। उसका जानना कठिन है उसको जाननेके लिए वे परस्परमें परीक्षा करते हैं। अथवा यह हमारे साथ रहनेके योग्य है अथवा नहीं, यह जाननेके लिए परीक्षा करते हैं ॥४१३॥

कैसे परीक्षा करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—आवश्यक स्थान आदिमें, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, बिहार और भिक्षाग्रहणमें परीक्षा करते हैं ॥४१४॥

टी०—संवर और निर्जराके इच्छुकोंको अवश्य ही करने योग्य सामायिक आदिको आव-

---

१. चरणे व णामेदुं-चरणावनमनार्थं–मूलारा० । २. तत्र ग्राह्यम्–मु० ।

स्थान स्थिति आवश्यकपरिणतिकाल । '**दुऊणदं जहाजादं बारसावत्तमेव च । चदुस्सिरं तिसुद्ध**'–(मूलाचार ७।१०४) मित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता । तेषु आवश्यकस्थानादिषु । '**पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे**' प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणेन वा, वचने, उपकरणाना ग्रहणे निक्षपे, च '**सज्झाए**' स्वाध्याये, '**विहारे**' जंघाविहारे, '**भिक्खग्गहणे**' भिक्षाग्रहणे च '**परिक्खंति**' परीक्षन्ते । किमय सामायिकादीन्यावश्यकानि करोति ? कुर्वन्नपि वा यथाकाल करोति न वा ? किं वा द्रव्यसामायिकादौ प्रवर्तते उत भावसामायिकादौ ? द्रव्यसामायिकादिकं भवति सामायिकादिक पठत , कायेन चोक्ता क्रिया कुर्वत । सावद्ययोगप्रत्याख्याने, तीर्थकृद्गुणानुस्मरणे, आचार्योपाध्यायादीना वा गुणानुस्मृतौ, स्वातिचारनिन्दागर्हयो , प्रत्याख्येयप्रत्याख्याने, शरीरममतानिरासे वा, परिणतिर्भावसामायिकादिक । तत्र प्रवृत्तो न वेति परीक्षा । चक्षुषा पूर्वमिद प्रतिलेखन योग्य न वेति कि पश्यति न वा । उपकरणेन मृदुना लघुना प्रमार्जन किं करोति न करोति वा । अथवा त्वरित प्रमार्जयति, अवपीडयति, दूरा[1]दस्थानात् पातयति, प्रमार्जनेन विरोधिनो जीवान्मिश्रयति । आहाराभिमुखान्, आहारग्राहिणो गृहीताण्डकान्, स्वनिवासदेशस्थान्, मूर्छामुपगतान्प्रमार्जयति न वेति परीक्षा । वचने परीक्षा—परुष वच , परनिन्दात्मप्रशंसाप्रवृत्त, आरम्भपरिग्रहयो प्रवर्तक, मिथ्यात्वसपादक, मिथ्याज्ञानकारि, व्यलीक, गृहस्थाना वचो वा वदति न वेति । यतो यदादेय यद्वा यत्र निक्षिपति तदुभयप्रमार्जनपूर्वक कि गृह्णाति निक्षिपति वा नेति परीक्षा । कालादिशुद्धि कृत्वा पठति कि वा न, अथवा इम ग्रन्थ पठति,

---

श्यक कहते है । उनका स्थान अर्थात् स्थिति यानी आवश्यक रूप परिणतिका काल । आदि शब्दसे 'दो बार नमस्कार, यथाजात, बारह आवर्त, चार बार सिरका नमन, मन वचन कायकी शुद्धि' इत्यादि क्रिया ग्रहण की है । चक्षु अथवा उपकरणसे प्रतिलेखना करने पर, वार्तालापमे उपकरणोंके ग्रहण और रखनेमे, स्वाध्यायमें, पैदल चलनेमे, और भिक्षा ग्रहणमे परीक्षा करते है कि यह सामायिक आदि करता है या नही ? करता है तो समय पर करता है या नही ? अथवा द्रव्य सामायिक आदि करता है या भाव सामायिक आदि करता है । सामायिक आदि पाठ पढते हुए और शरीरसे उक्त क्रिया करते हुए द्रव्य सामायिक आदि होते है । सावद्य योगका त्याग करनेपर, तीर्थंकरके गुणोका स्मरण करनेपर, अथवा आचार्य उपाध्याय आदिके गुणोका स्मरण करनेपर, अपने अतिचारोकी निन्दा गर्हा करनेपर, त्यागने योग्यका त्याग करनेपर, अथवा शरीरसे ममत्वको दूर करनेपर भाव सामायिक आदि होते है । उसमे प्रवृत्त होता है या नही, यह परीक्षा है । यह प्रतिलेखन योग्य है या नही ? ऐसा आँखोसे पहले देखता है या नही, कोमल हल्के उपकरणसे प्रमार्जन करता है या नही ? अथवा क्या जल्दीमे प्रमार्जन करता है । क्या जीवोको पीडा पहुँचाता है ? क्या दूर स्थानसे उपकरणादि गिराता है ? क्या प्रमार्जनके द्वारा विरोधी जीवोको मिलाता है ? जो जीव आहारमे लगे है, या आहार ग्रहण कर रहे है, जिन्होने मुँहमे अण्ड लिए हुए हैं, जो अपने निवास देशमे स्थित है, मूर्छाको प्राप्त है ऐसे जीवोका प्रमार्जन-रक्षण करता है या नही, यह परीक्षा है । वचन परीक्षा—कठोर वचन, परकी निन्दा अपनी प्रशसा करने वाले वचन, आरम्भ और परिग्रहमें प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्वके सम्पादक वचन, मिथ्याज्ञान कराने वाले वचन, झूठे वचन अथवा गृहस्थोंके योग्य वचन बोलता है क्या ? जहाँसे जो ग्रहण करता है अथवा जहाँ जो रखता है उन दोनोके प्रमार्जन पूर्वक ग्रहण और निक्षेप करता है या नही, यह परीक्षा है । कालादिकी शुद्धि पूर्वक ग्रन्थ पढता है या नही ? अथवा किस ग्रन्थको पढ़ता

---

१ दूरावस्थानात्–आ० । दूरावस्थान्–मु० ।

कथं वास्यार्थं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशाद्दूरे हस्तमात्रादिपरिमाणे स्थण्डिले, निर्जन्तुके निश्छिद्रे, समे, अविरोधे मार्गजनेनानवलोक्ये किं स्वशरीरमलं त्यजति उतातो विपरीते इति विहारे परीक्षा । भिक्षाग्रहणे परीक्षा नाम भ्रामर्यां या काञ्चिद्भिक्षां गृह्णाति लब्धामुत नवकोटिपरिशुद्धामिति ।।४१४।।

आगन्तुको यतिर्गुरुमुपाश्रित्य सविनयं संघाटकदानेन भगवन्ननुग्राह्योऽस्मीति विज्ञापना करोति । ततो गणधरेणापि समाचारज्ञो दातव्य सघाटक इति निगदति—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो ।
सेज्जा संथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ ।।४१५।।

'**आएसस्स तिरत्तं**' प्राघूर्णकस्य च त्रिरात्र । '**णियमा संघाडओ दु दादव्वो**' निश्चयेन सघाटको दातव्य एव । '**सेज्जा संथारो वि य**' वसति. संस्तरश्च दातव्य । '**जदि वि असंभोइओ होइ**' । यद्यप्यपरीक्षित्वात्सहानाचरणीयो भवति । तथापि सघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारश्चेत्सगृह्यते ।।४१५।।

दिनत्रयोत्तरकाल किं कार्यं गुरुणेत्याशङ्कायां वदति—

तेण परं अवियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादव्वो ।
सेज्जा संथारो वि य गणिणा अवि जुत्तजोगिस्स ।।४१६।।

'**तेण गणिणा**' तेन गणिना । '**परं**' दिनत्रयात् । '**अवियाणिय**' अविचार्य । स्वदत्तमघाटं यतिवचनश्रवणोत्तरकाल । तु शब्द एवकारार्थे प्रवर्तते स च दादव्वो इत्यतस्मात्परतो द्रष्टव्य । न दातव्य एव सघाटक । '**सेज्जा संथारो वा**' वसति सस्तरो वा न दातव्य । जु[1]त्तजोगिस्सवि युक्ताचारस्यापि न

है और कैसे उसका अर्थ करता है ? अपने निवास देशसे दूर, एक हाथ आदि प्रमाण, जन्तुरहित, छिद्ररहित, सम और जिसमे किसीका विरोध नही, रास्ता चलते लोग जिसे देख नहीं सकते ऐसे स्थडिल प्रदेशमे यह अपने शरीर मलको त्यागता है या इससे विपरीतमे त्यागता है यह बिहारकी परीक्षा है। भिक्षाग्रहणमे परीक्षाका मतलब है कि भ्रामरीमें यह जैसी तैसी भिक्षा ग्रहण करता है या नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है।।४१४।।

आने वाला यति गुरुके पास सविनय उपस्थित होकर निवेदन करता है कि भगवान् साहाय्य प्रदान करके मुझपर अनुग्रह करें। उसके पश्चात् आचार्यको भी आचारके ज्ञाता उस आगन्तुक यतिको साहाय्य देना चाहिए। ऐसा कहते है—

गा०—उस आगन्तुक यतिको नियमसे तीन रात तक साहाय्य देना चाहिए। तथा रहनेको वसति और सस्तर देना चाहिए। यद्यपि अभी उसकी परीक्षा नही ली है इससे वह साथमे आचरण करने योग्य नही है फिर भी यदि उसका आचार उचित है तो उसे साहाय्य देना चाहिए ।।४१५।।

गा०—तीन दिनके पश्चात् गुरु क्या करे, यह कहते है—तीन दिनके पश्चात् उस आचार्यको उस यतिके वचनको सुननेके पश्चात् जो साहाय्य दिया था वह साहाय्य बिना विचारे नही देना चाहिए। 'दु' शब्दका अर्थ एवकार (ही) है और उसे 'दादव्वो' के आगे रखना चाहिए। अत. उसे साहाय्य नही ही देना चाहिए, वसति अथवा सस्तर नही देना चाहिए। उसका आचार उचित भी हो तो भी उसे परीक्षा किये बिना साहाय्य आदि नही देना चाहिए। जब युक्ताचारको

१. 'अविजुत्तजोगिस्स'–आ० मु०।

वालभ्यः संघाटकादिः परीक्षामन्तरेण किं पुनरितरस्येत्याशयः ॥४१६॥

अविचार्य तेन सहावस्थानेको दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकायां दोषमाचष्टे—

उग्गमउप्पादणेसणासु सोधी ण विज्जदे तस्स ।
अणगारमणालोइय दोसं संभुज्जमाणस्स ॥४१७॥

'उग्गमउप्पादणेसणासु' उद्गमोत्पादनैषणादोषपरिहारो न विद्यते तस्य गणिनः । 'अणगारं' यतिं । 'अणालोइय दोसं' अनालोचितदोषं । 'संभुज्जमाणस्स' सगृह्णत । उद्गमादिदोषोपहतमाहारं वसतिं, उपकरणं वा सेवते य यति तेन सह संवासात् संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवति इति ॥४१७॥

उव्वादो तद्दिवसं विस्सामित्ता गणिमुवट्ठादि ।
उद्धरिदुमणोसल्लं विदिए तदिए व दिवसम्मि ॥४१८॥

'उव्वादो' श्रान्तः स्थित्वा । त दिवसं आगतदिनं । 'विस्सामित्ता' विश्राम्य । 'गणिमुवट्ठादि' आचार्यं ढौकते । 'उद्धरिदुमणोसल्लं' उद्धर्तुं मनःशल्यं अतिचारं । 'विदिए तदिए व दिवसम्मि' द्वितीये तृतीये वा दिने । मार्गणापुरस्सरा क्रिया सर्वा मार्गणेत्युपन्यस्ता ॥४१८॥

कीदृग्गुणः सूरिरनेनोपाश्रित इत्याचष्टे—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय ।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥४१९॥

'आयारवं च' आचारवान् । 'आधारवं च' आधारवान् । 'ववहारवं च' व्यवहारवान् । 'पकुव्वी०' कर्ता । 'तहेव आयावायविदंसी' तथा आयापायदर्शनोद्यत । 'उप्पीलगो चेव' अवपीडक ॥४१९॥

भी नही देना चाहिए तब अन्यकी तो बात ही क्या है, यह इसका अभिप्राय है ॥४१६॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि बिना बिचारे उसके साथ रहनेमे क्या दोष है जो इतनी सावधानी करते है, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो यति अपने दोषोकी आलोचना नही करता, तथा जो उद्गम आदि दोषोसे दूषित आहार, वसत्ति अथवा उपकरणका सेवन करता है, उसके साथ संवास करनेसे उस आचार्यके उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोका परिहार रूप शुद्धि नही होगी। यदि वह आचार्य अन्य मुनियोको उसके साथ रहनेकी अनुमति देता है तो भी उसकी अनुमोदनाका भागी होता है ॥४१७॥

गा०—मार्गके श्रमसे थका हुआ वह आगन्तुक मुनि अपने आनेके दिन तो विश्राम लेता है और दूसरे दिन मनमें शल्यकी तरह चुभने वाले दोषो को दूर करनेके लिये आचार्यके समीप जाता है। गुरुकी मार्गणा अर्थात् खोज पूर्वक की जानेवाली सब क्रियाएँ मार्गणा कही जाती है इसलिये यहाँ उनका मार्गणारूपसे कथन किया है ॥४१८॥

गा०—वह आगन्तुक किन गुणोसे युक्त आचार्यका आश्रय लेता है, यह कहते हैं—आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, तथा रत्नत्रयके लाभ और विनाश को दिखाने वाला और अवपीडक ॥४१९॥

---

१. णएस–आ० मु० ।

अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती ।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥४२०॥

'**अपरिस्साई**' अपरिस्रावी । '**णिव्वावओ**' निर्वापकः । '**पहिदकित्ती**' प्रथितकीर्तिः । '**णिज्जवण गुणोवेदो**' निर्यापनगुणसमन्वितः । '**एरिसओ होदि आयरिओ**' ईदृग्भवत्याचार्यः ॥४२०॥

आचारवत्त्वव्याख्यानायागता गाथा—

आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥४२१॥

'**आयारं पंचविहं**' पञ्चप्रकारं आचारं । '**चरदि**' विनातिचारं चरति । परं वा निरतिचारे पञ्चविधे आचारे प्रवर्तयति । '**उवदिसदि य आयारं**' उपदिशति च आचारं । '**एसो आयारवं णाम**' एष आचारवान्नाम । एतदुक्तं भवति—आचाराङ्गं स्वयं वेत्ति ग्रन्थतोऽर्थतश्च, स्वयं पञ्चविधे आचारे प्रवर्तते प्रवर्तयति च । प [?]ाचारवान् इति । पञ्चविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । चतुर्विधाहारत्यजनं, न्यूनभोजनं, वृत्तेः परिसंख्यानं, रसानां त्यागः, कायसन्तापनं विविक्तावासः इत्येवमादिकस्तपः संज्ञित आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः । एते पञ्चविधा आचाराः ॥४२१॥

प्रकारान्तरेण आचारवत्त्वं कथयति—

दसविहठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥४२२॥

'**दसविहठिदिकप्पे वा**' दशविधे स्थितिकल्पे वा । '**हवेज्ज जो सुट्ठिदो सया**' भवेद्यः सुस्थितः सदा ।

गा०—अपरिस्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और निर्यापन गुणसे युक्त ऐसा आचार्य होता है ॥४२०॥

आगे उक्त गुणोंमेसे आचारवत्त्व गुणका व्याख्यान करते हैं—

गा०—पाँच प्रकारके आचारका जो अतिचार लगाये बिना पालन करता है तथा दूसरों को पाँच प्रकारके आचारके निरतिचार पालनमे लगाता है, और आचारका उपदेश देता है यह आचारवान् नामक गुण है ॥४२१॥

टी०—इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ रूपसे और अर्थरूपसे स्वयं आचारांगको जानता है। स्वयं पाँच प्रकारके आचारका पालन करता है और दूसरोंसे पालन कराता है इस तरह पाँच आचारवान् है। पाँच प्रकारके स्वाध्यायमे लगना ज्ञानाचार है, जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानरूप परिणत होना दर्शनाचार है। हिंसादिसे निवृत्ति रूप परिणति चारित्राचार है। चार प्रकारके आहारका त्याग, भूखसे कम भोजन करना, भिक्षाके लिये जाते समय गृह आदिका परिमाण करना, रसोंका त्याग, कायक्लेश, एकान्तमें निवास इत्यादि तप नामक आचार है, 'तपमे अपनी शक्तिको न छिपाना वीर्याचार है। ये पाँच प्रकारके आचार हैं ॥४२१॥

दूसरे प्रकारसे आचारवत्त्वको कहते हैं—

गा०—जो आचार्य सदा दस प्रकारके स्थितिकल्पमें सम्यक् रूपसे स्थित है वह आचार-

'आयरिओ' आचार्य । **'आयारवं खु'** आचारवान् । **'एसो'** एष । **'पवयणमादासु आउत्तो'** प्रवचनमातृकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्तः ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

'आचेलक्कुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्म । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिंचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रह । परिग्रहार्थो ह्यारम्भप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यारम्भे कुतोऽसयम' । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । पर परिग्रहनिमित्त व्यलीक वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ब्रुवन्नेवमचेल सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि सपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमय ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतम भवति । संगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दवमपि तत्र सन्निहित । 'अजिह्मभावस्य स्फुटमात्मीय भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगत शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्तियोमे तत्पर रहता है ॥४२२॥

दस कल्पोका कथन करते है—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प है ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते है । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अत' समस्त परिग्रह के त्यागको आचेलक्य कहते है । दस धर्मोमे एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरति को त्याग कहते है वही अचेलता भी है । अत' अचेल यति त्याग नामक धर्ममे प्रवृत्त होता है । जो निष्परिग्रह है वह अकिंचन नामक धर्ममे तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमे प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यो करेगा । अत उसके असयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममे भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूँठ बोलना होता है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमे झूँठ बोलनेका कारण नही है । अत बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होता है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योकि परिग्रह की इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमे प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नही होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है । परिग्रहके अभावमे उत्तम क्षमा रहती है । मै सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नही होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको विना किसी छल कपट के प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमे तत्पर मुनि विराग

ततो विमुक्तेश्च शीतोष्णदंशमशकादिपरिश्रमा[1]णामुदीरणात्, निश्चेलतामभ्युपगच्छता तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति। एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण।

अथवान्यथा प्रक्रम्यते अचेलतागुणप्रशंसा। संयमशुद्धिरेको गुणः। स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसा सूक्ष्माः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा। ससक्तं वस्त्रं तावत्स्थापयतीति चेत्तर्हि हिंसा स्यात्। विवेचने च ते म्रियन्ते तत्र [2]संसक्तचेलवतः स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, संघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां बाधेति महानसंयमः। अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमविशुद्धिः। इन्द्रियविजयो द्वितीयः। सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि यतते। अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति। कषायाभावश्च गुणोऽचेलतायाः। स्तेनभयाद्गोमयादिरसेन लेपं कुर्वन्निगूहयित्वा कथंचिन्मायां करोति। उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चनां कर्तुं यायात्। गुल्मवल्ल्याद्यन्तर्हितो वा स्यात्। चेलादिर्ममास्तीति मानं चोद्वहते। बलादपहरणात्तेन[3] सह कलहं कुर्यात्। लाभाद्वा लोभः प्रवर्तते। इति चेलग्राहिणाममी दोषाः। अचेलतायां पुनरित्थंभूतदोषानुत्पत्तिः ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च। सूचीसूत्रकर्पटादिपरिमार्गणसीवनादिव्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति। निःसंगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात्। सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना। ग्रन्थत्यागश्च गुणः।

भावको प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोमे आसक्त नही होता। तथा परिग्रहसे मुक्त होने से शीत, उष्ण, डास, मच्छर आदि परीषहोको सहता है। अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप भी होता है। इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे सक्षेपसे दस प्रकारके धर्मो का कथन होता है।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशसा अन्य प्रकारसे कहते है। अचेलतामे सयम की शुद्धि एक गुण है। पसीना, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमे उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है। यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे सबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योकि उन्हे अलग कर देनेसे वे वहाँ मर जायेंगे। जीवोसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाडने, काटने, बाँधने, वेष्ठित करने, धोने, कूटने, और धूपमे डालने पर जीवोको बाधा होनेसे महान् असयम होता है। जो अचेल है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम की विशुद्धि होती है। दूसरा गुण है इन्द्रियोको जीतना। जेसे सर्पोसे भरे जंगलमे विद्या मंत्र आदिसे रहित पुरुष दृढ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी इन्द्रियोको वशमे करनेका पूरा प्रयत्न करता है। ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पडता है। अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है। चोरोंके डरसे वस्त्रको गोबर आदिके रससे लिप्त करके छिपानेपर कथचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोको धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पडता है या झाड झंखाड़मे छिपना होता है। मेरे पास वस्त्र हैं ऐसा अहकार होता है। यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है। वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है। इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोके ये दोष है। वस्त्रत्यागकर अचेल होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नही होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमे किसी प्रकारका विघ्न नही होता। सुई धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमे लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमे

१ मा सुरासुरोदीर्णा सोढाश्चोपसर्गा नि—आ० मु०।

२ ससक्ता चे—आ० मु०।

३ णात्स्तेनेन—मु०।

बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः। यथा तुषनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपाय अतुष धान्यं नियमेन शुद्ध्यति। भाज्या तु ह्यसतुषस्य शुद्धि.। एवमचेलवति नियमादेव भाज्या सचेले। वीतरागद्वेषता च गुणः। सचेलो हि मनोज्ञे वस्त्रे रक्तो भवति। दुष्यत्यमनोज्ञे। बाह्यद्रव्यालम्बनौ हि रागद्वेषौ तावसति परिग्रहे न भवतः। किं च शरीरे अनादरो गुण शरीरगतादरवशेनैव हि जनोऽसयमे परिग्रहे च वर्तते। अचेलेन तु तदादरस्त्यक्त', वातातपादिबाधासहनात्। स्ववशता च गुणः देशान्तरगमनादौ सहायाप्रतीक्षणात्। पिच्छमात्रं गृहीत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहः पक्षीव यातीति। सचेलस्तु सहायपरवश चौरभयात् भवति परवशमानसश्च कथं सयमं पालयेत्। चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलतायां। कौपीनादिना प्रच्छादयतो भावशुद्धिर्न ज्ञायते। निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतया स्फुटा विरागता। निर्भयता च गुण। ममेद किमपहरन्ति चौरादयः, किं ताडयन्ति, बध्नन्तीति वा भयमुपैति सचेलो नाचेलो, भयातुरो वा किं न कुर्यात्। सर्वत्र विश्रब्धता च गुण। निष्परिग्रह' न किंचनापि शङ्कते। सचेलस्तु प्रतिमार्गयायिन अन्य वा दृष्ट्वा न तत्र विश्वासं करोति। को वेत्ययं, किं करोति इति। अप्रतिलेखनता च गुण। चतुर्दशविध उपधिं गृह्णता बहुप्रतिलेखनता न तथाचेलस्य। परिकर्मवर्जनं च गुण। उद्वेष्टनं, मोचन, सीवन, बधन, रजन इत्यादिकमनेक परिकर्म

विघ्न होता है। जो निःसग है उसके इस प्रकारकी बाधा नही होती। मूत्र पौरुषी और अर्थ-पौरुषीमें निर्विघ्नता रहती है तथा स्वाध्याय और ध्यान की भावना होती है।

अचेलतामे एक गुण परिग्रहका त्याग है। बाह्य वस्त्र आदि परिग्रहका त्याग अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागका मूल है। जैसे धानके छिलकेको दूर करना उसके अभ्यन्तर मलको दूर करनेका उपाय है। बिना छिलकेका धान्य नियमसे शुद्ध होता है। किन्तु जिसपर छिलका लगा है उसकी शुद्धि नियमसे नही होती। इसी प्रकार जो अचेल है उसकी अभ्यन्तर शुद्धि नियमसे होती है किन्तु जो सचेल है उसकी शुद्धि भाज्य है। अचेलता में रागद्वेषका अभाव एक गुण है जो वस्त्र धारण करता है वह मनको प्रिय सुन्दर वस्त्रसे राग करता है और मनको अप्रिय वस्त्रसे द्वेष करता है। राग और द्वेष बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे होते हैं। परिग्रहके अभावमे राग द्वेष नही होते। तथा शरीरमे अनादर भी अचेलताका गुण है। शरीरमे आदर होनेसे मनुष्य असयम और परिग्रहमे प्रवृत्ति करता है। जो अचेल होता है उसका शरीरमे आदरभाव नही होता। तभी तो वह वायु धूप आदिका कष्ट सहता है। अचेलतामे स्वाधीनता भी एक गुण है क्योंकि देशान्तर में जाने आदिमें सहायकी प्रतीक्षा नही करनी होती। समस्त परिग्रहका त्यागी पीछी मात्र लेकर पक्षी की तरह चल देता है। जो सचेल होता है वह सहायके परवश होता है नथा चोरके भयसे उसका मन भी परवश होता है वह संयमको कैसे पाल सकता है। तथा अचेलतामे चित्तकी विशुद्धिको प्रकट करनेका भी गुण है। लंगोटी वगैरहसे ढाँकनेसे भावशुद्धिका ज्ञान नही होता। किन्तु वस्त्र रहितके शरीरके विकार रहित होनेसे विरागता स्पष्ट दीखती है। अचेलतामे निर्भयता गुण है। चोर आदि मेरा क्या हर लेंगे, क्यों वे मुझे मारेंगे या बाँधेंगे। किन्तु सवस्त्र डरता है और जो डरता है वह क्या नही करता। सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है। जिसके पास कोई परिग्रह नही वह किसी पर भी शंका नहीं करता। किन्तु जो सवस्त्र है वह त। मार्ग मे चलने वाले प्रत्येक जन पर अथवा अन्य किसी को देखकर उस पर विश्वास नही करता। यह कौन है क्या करता है यह शका होती है। अचेलतामे प्रतिलेखनाका न होना भी एक गुण है। चौदह प्रकारकी परिग्रह रखनेवालों को बहुत प्रतिलेखना करना होती है, अचेलको वैसी प्रतिलेखना नही करना पड़ती। परिकर्मका नही होना भी एक गुण अचेलका है। सवस्त्रको लपेटना, छोड़ना,

सचेलस्य । स्वस्य वस्त्रप्रावरणादेः स्वयं प्रक्षालनं सीवनं वा कुत्सितं कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च । लाघवं च गुणः । अचेलोऽल्पोपधिः स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नेतर । तीर्थकराचरितत्वं च गुणः—संहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपरा जिनाः सर्वे एवाचेला भूता भविष्यंतश्च । यथा मेर्वादिपर्वतस्थाः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्वं । चेलपरिवेष्टिताङ्गो न जिनसदृशः । व्युत्सृष्टप्रलम्बभुजो निश्चेलो जिनप्रतिरूपतां धत्ते । अनिगूढबलवीर्यता च गुणः । परीषहसहने शक्तोऽपि सचेलो न परीषहान्सहते इति । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रन्थं यो वदेत्तस्य किमपरे पाषण्डिनो न निर्ग्रन्थाः ? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति वाङ्मात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः । इत्थं चेले दोषा अचेलताया वा अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थितिकल्पत्वेनोक्ता ।

अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम् । तथा ह्याचारप्रणिधौ भणितं[1]—"पडिलेहे पात्रकंबलं तु ध्रुवमिति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ।" आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तं[2]—"पडिलेहणं पादपुंछणं, उग्गहं, कडासणं, अण्णदरं

सीना, बाँधना, रंगना इत्यादि अनेक परिकर्म करने होते है । अपने वस्त्र, ओढने वगैरह को स्वयं धोना, सीना ये कुत्सित कर्म तथा शरीरको भूषित करना ममत्व आदि परिकर्म करने होते है । लाघव गुण भी अचेलतामे है । अचेलके पास थोडा परिग्रह होता है । उठना बैठना जाना आदि क्रियाओमे वह वायुका तरह बेरोक और लघु होता है, सवस्त्र ऐसा नही होता । तीर्थंकरोंके मार्ग का आचरण करना भी अचेलताका गुण है । संहनन और बलसे पूर्ण तथा मुक्तिके मार्गका उपदेश देनेमे तत्पर सभी तीर्थंकर अचेल थे तथा भविष्यमे भी अचेल ही होगे । जैसे मेरु आदि पर्वतो पर विराजमान जिन प्रतिमा और तीर्थंकरोके मार्गके अनुयायी गणधर भी अचेल होते हैं । उनके शिष्य भी उन्ही की तरह अचेल होते है । इस प्रकार अचेलता सिद्ध होती है । जिसका शरीर वस्त्रसे वेष्ठित है वह तीर्थंकरके समान नही है । जो दोनो भुजाओंको लटका कर खडा है और वस्त्र रहित है वह जिनके समान रूपका धारी होता है । अपने बल और वीर्यको न छिपाना भी अचेलताका गुण है । सवस्त्र परीषहोको सहनेमें समर्थ होते हुए भी परीषहो को नही सहता । इस प्रकार उक्त गुणोंके कारण अचेलता जिनदेवके द्वारा कही गई है । जो अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्टित करके अपनेको निर्ग्रन्थ कहता है उसके अनुसार अन्य मतानुयायी साधु निर्ग्रन्थ क्यो नही है । हम ही निर्ग्रन्थ है वे निर्ग्रन्थ नही हैं यह तो कहना मात्र है । मध्यस्थ पुरुष इसे नही मानते । इस प्रकार वस्त्रमे दोष और अचेलतामे अपरिमित गुण होनेसे अचेलताको स्थितिकल्परूपसे कहा है ।

यदि आप मानते है कि पूर्व आगमोमें वस्त्र पात्र आदिके ग्रहणका उपदेश है । जैसे आचार प्रणिधिमे कहा है—'पात्र और कंबलकी प्रतिलेखना अवश्य करना चाहिये ।' यदि पात्रादि नही होते तो उनकी प्रतिलेखना आवश्यक कैसे की जाती । आचारांगका भी दूसरा अध्याय लोक विचय नामक है । उसके पाँचवें उद्देशमें कहा है—'प्रतिलेखना, पैर पूँछना, उग्गह (एक उपकरण),

---

१. प्रतिलिखे-मु० ।

२. 'वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा' ।—आचा० २।५।९०।

उवधिं पावेज्ज इति । तथा वत्थंसणाए वुत्त 'तत्थ **एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं, तत्थ एसे जुग्मि देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणग तदियं। तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासएस** (अणहिवासए) **तओ वत्थाणि धारेज्ज पडिलीहणं चउत्थं**।" तथा पादेसणाए कथित "**हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थाविकं पादचारित्तए इति**"। पुनश्चोक्त तत्रैव–"**अलाबुपत्त वा, दारुगपत्त वा मट्टिगपत्त वा अप्पपाणं, अप्पबीज अप्पसरिदं तथा अप्पकार पात्रलाभे सति पडिग्गहिस्सामीति**"। वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते। भावनाया चोक्त–"**वरिस चीवरधारि तेन परमचेलके तु जिणे**" इति। तथा सूत्रकृतस्य पुंडरीके अध्याये कथित '**ण कहेज्जो धम्मकह वत्थपत्तादिहेदुमिति**।

निसेधेप्युक्त—"**कसिणाइ**[3] **वत्थकवलाइ जो भिक्खु पडिग्गहिदि आपज्जदि मासिग लहुग**" इति। एव सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथ इत्यत्रोच्यते—आर्यिकाणामागमे अनुज्ञात वस्त्र कारणापेक्षया। भिक्षूणा ह्रीमानयोग्य शरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमाननवीजो वा परीषहसहने वा अक्षम स गृह्णाति।

कटासन (चटाई) इनमेसे कोई एक उपधि पाता है। तथा वस्त्रैषणामे कहा है—'जो लज्जाशील हो वह एक वस्त्र धारण करे, दूसरा प्रतिलेखना। देश विशेषमे दो वस्त्र धारण करे, तीसरा प्रतिलेखना धारण करे। जो परीषह सहनेमे असमर्थ हो वह तीन वस्त्र और चतुर्थ प्रतिलेखना धारण करे।'

तथा पात्रैषणामे कहा है—'जो लज्जाशील आदि है और पादचारी है उसके लिये वस्त्रादि योग्य हैं।' पुन· उसीमे कहा है—

'तूम्बीका पात्र, लकडीका पात्र अथवा मिट्टीका पात्र, पात्रलाभ होनेपर ग्रहण करूँगा जो अल्पबीज आदि हो।

यदि वस्त्र पात्र ग्रहण करने योग्य न होते तो ये सूत्र कैसे होते ? भावनामे कहा है—भगवान् जिनने एक वर्ष तक देव दूष्य वस्त्र धारण किया। उसके पश्चात् अचेलक (निर्वस्त्र) रहे। तथा सूत्र कृतागके पुण्डरीक अध्ययनमे कहा है—'वस्त्र पात्र आदिकी प्राप्तिके लिये धर्मकथा नही कहनी चाहिये।' निशीथ सूत्रमे कहा है—'जो भिक्षु पूर्ण वस्त्र कम्बल ग्रहण करता है वह मासिक लघु प्रायश्चित्त के योग्य है।' इस प्रकार सूत्र ग्रन्थोमे चेलका निर्देश होते हुए अचेलता कैसे सभव है ?

इसका उत्तर देते है—कारणकी अपेक्षा आर्यिकाओको आगममे वस्त्रकी अनुज्ञा है। भिक्षुओमेसे यदि किसीके शरीरका अवयव लज्जा योग्य हो, अथवा लिगके मुंह पर चर्म न हो या अण्डकोष लम्बे हो, अथवा परीषह सहनेमे असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण करता है। आचाराग मे कहा है—

'आयुष्मान्' मैने मुना, भगवान्ने ऐसा कहा। यहाँ सयमके अभिमुख स्त्री पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक सर्वश्रमणागत, एक नो सर्वश्रमणागत। उनमेसे जो सर्वश्रमणागत, स्थिर अग हाथ-पैरवाले तथा सब इन्द्रियोसे पूर्ण होते है उनको एक भी वस्त्र धारण करना योग्य नही है केवल एक पीछी रखते है। तथा कल्प सूत्रमे कहा है—'लज्जाके कारण और शरीरके अगके ग्लानियुक्त होने पर तथा परीषहोंको सहनेमें असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे।'

---

१. वद्धेसणाए अ० आ०। २. जुग्गिदे दे–मु०।

३ जे भिक्खकसिणाई वत्थाइ धरेइ धरेत वा मातिज्जति ।।—निशीथसू० १।२३।

तथा चोक्तमाचारागे '**सुद मे आउस्सतो भगवदा एवमक्खादं । इह खलु सयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपुरिसा जदा**'[1] भवति । त जहा—**सव्वसमणागदे णोसमणागदे चेव । तत्थ जे सव्वसमगदे थिरांगहत्थपाणिपादे सव्वदियसमण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थ धारिउ एव परिहिउ एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति**'' । तथा चोक्त कल्पे—'**हिरिहेतुक व होइ देहदुगुछति देहे जुग्गिदगे । धारेज्ज सिया वत्थ परिस्सहाणं च ण विहासीति (वसहई)**''

द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधक आचारे विद्यते—''[2]**अह पुण एव जाणेज्ज उपातिकते हेमंतेहिं सुपडिवण्णे से अथापडिजुण्णमुवधि पदिट्ठावेज्ज**'' इति । हिमसमये शीतबाधासह परिगृह्य चेल तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणापेक्ष ग्रहणमाख्यात । परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोध । प्रक्षालनादिकसस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्य (स्या) त्यागकथनार्थं । पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्याग पात्र च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणापेक्ष वस्त्रपात्रग्रहण । यदुपकरण गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधि. गृहीतस्य च परिहरणमवश्य वक्तव्यम् । तस्माद्वस्त्र पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्त तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्त-**वरिस चीवरधारी तेण परमेचलगो जिणोत्ति** ।—तदुक्त विप्रतिपत्तिबहुलत्वात् । कथ ? केचिद्वदन्ति 'तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति' । अन्ये 'षण्मासाच्छिन्न तत्कण्टकशाखादिभिरिति' । 'साधिकेन

आचारागमे दूसरा सूत्र भी कारणकी अपेक्षा वस्त्र ग्रहणका साधक है—

'यदि ऐसा जाने हेमन्त वीत गया, ग्रीष्म ऋतु आ गई और वस्त्र जीर्ण नहीं हुआ तो स्थापित कर दे ।' अर्थात् ठडके समय शीतकी बाधा न सहने पर वस्त्र ग्रहण कर ले । उसके चले जाने पर और ग्रीष्मके आनेपर वस्त्रको कही रख दे । इस प्रकार कारणकी अपेक्षा वस्त्रका ग्रहण कहा है ।

शङ्का—जीर्ण विशेषण देनेसे दृढ वस्त्र हो तो न छोडे ?

समाधान—तब तो अचेलता कथनके साथ विरोध आता है । धोना आदि सस्कार न किये जानेसे वस्त्रको जीर्ण कहा है, मजबूत वस्त्रका त्याग न करनेके लिए नही कहा ।

शङ्का—सूत्रके द्वारा पात्रकी प्रतिष्ठापना कही है । अत सयमके लिए पात्रका ग्रहण सिद्ध होता है ?

समाधान—नही, अचेलताका अर्थ है परिग्रहका त्याग । और पात्र परिग्रह है अत उसका भी त्याग सिद्ध ही है । अतः कारणकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका ग्रहण कहा है । और जो उपकरण कारणकी अपेक्षा ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण ग्रहणकी विधि और गृहीत उपकरणका त्याग अवश्य कहना ही चाहिए । इसलिए बहुतसे (श्वेताम्बरीय) सूत्रोंमे जो अर्थाधिकारकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका कथन किया है वह कारण विशेषकी अपेक्षा कहा है—ऐसा ग्रहण करना चाहिये ।

और जो भावनामें कहा है कि 'जिन एक वर्षतक वस्त्रधारी रहे उसके बाद अचेलक रहे ।' उसमें बहुत विवाद हैं । कोई कहते हैं कि उसी दिन वह वस्त्र वीर भगवान्के किसी व्यक्तिने ले लिया था । दूसरोका कहना है कि वह वस्त्र छह मासमे काँटे शाखा आदिसे छिन्न हो गया ।

१ जादा आ० मु० । २ 'अह पुण एव जाणिज्जा-उवाइक्कते हेमते गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नाइ । वत्थाइ परिट्ठविज्जा'—आचारा० ७।४।२०९ ।

वर्षेण तद्वस्त्रं खंडलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति । केचिद्वातेन पतितमुपेक्षित जिनेनेति । अपरे वदन्ति **'विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे** तदारोपितमिति' । एव विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्व । सचेलिङ्ग-**प्रकटनार्थं यदि चेलग्रहण** जिनस्य कथ तद्विनाश इष्ट । सदा तद्धारयितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञात **निरर्थकं तस्य ग्रहणं** । यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत् "**आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं**" इति वचो मिथ्या भवेत् । तथा **नवस्थाने** यदुक्त "**यथाहमचेलो तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति**" तेनापि विरोध । किं च जिनानामितरेषा वस्त्रत्यागकाल वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, **यदि वस्त्र** तेषामपि भवेत् । एव तु युक्त वक्तु 'सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्दस वस्त्र निक्षिप्त उपसर्गस इति ।

इद चाचेलताप्रसाधनपर शीतदशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचन परीषहसूत्रेषु । न हि सचेल शीतादयो बाधन्ते । इमानि च सूत्राणि अचेलता दर्शयन्ति—

'परिणत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए ।' अचेलपवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा ॥
सचेलगो सुखी भवदि असुखी चावि अचेलगो । अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंतए ॥

कोई कहते है कि एक वर्षसे कुछ अधिक होने पर उस वस्त्रको खडलक नामके ब्राह्मणने ले लिया था। कुछ कहते है कि हवासे वह वस्त्र गिर गया और जिनदेवने उसकी उपेक्षा कर दी। अन्य कहते है कि उस पुरुषने उस वस्त्रको वीर भगवान्के कन्धेपर रख दिया। इस प्रकार बहुत विवाद होनेसे इसमे कुछ तत्त्व दिखाई नही देता। यदि वीर भगवान्ने सवस्त्र वेष प्रकट करनेके लिए वस्त्र ग्रहण किया था तो उसका विनाश इष्ट कैसे हुआ। सदा उस वस्त्रको धारण करना चाहिये था। तथा यह वस्त्र विनष्ट होने वाला है ऐसा उन्हे ज्ञात था तो उसका ग्रहण निरर्थक था। यदि उन्हे यह ज्ञात नही था तो वीर भगवान् अज्ञानी ठहरते है। तथा यदि चेलप्रज्ञापना इष्ट थी तो 'प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धर्म अचेल था' यह वचन मिथ्या ठहरता है। तथा नव स्थानमे कहा है—'जैसे मै अचेल हुआ वैसे ही अन्तिम तीर्थङ्कर अचेल होगे।' उससे भी विरोध आता है। तथा अन्य तीर्थङ्करोने भी वस्त्र धारण किया था तो वीर भगवान् की तरह उनका भी वस्त्र त्यागनेके कालका निर्देश क्यों नही है? इसलिए ऐसा कहना युक्त है कि जब वीर भगवान् सर्वस्व त्याग कर ध्यानमे लीन हुए तो किसीने उनके कन्धे पर वस्त्र रख दिया। यह तो उपसर्ग हुआ।

परीषहोका कथन करनेवाले सूत्रोंमे जो शीत, डास-मच्छर, तृणस्पर्श परीषहोंके सहनेका कथन है वह अचेलताको सिद्ध करता है। वस्त्रधारीको शीत आदि बाधा नही पहुँचाते। तथा ये सूत्र भी अचेलताको बतलाते हैं—'वस्त्रोका त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नही करता। सदा भिक्षु अचेल होकर जिनरूपको धारण करता है। भिक्षु ऐसा विचार नही करता कि सवस्त्र सुखी होता है और अवस्त्र दु.खी होता है इसलिए मै वस्त्र धारण करूँगा।' वस्त्र रहित साधुको कभी शीत सताता है तो वह घामकी चिन्ता नही करता, आलस त्याग सहन करता है। मेरे

---

१ 'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्य पच्छिमस्स य जिणस्स ।' बृ, कल्पम् भा० गा० ६३६९ ।
२ द्वस्त्रं वस्तु नि–आ० मु० ।

अचेलग सलूहस्स (स्स लहुअस्स) सीदं भवदि एगदा ।
जातप से विचितेज्जो अधिसिज्ज अलाइसो (?) ॥
ण मे णिवारणं अत्थि छाइयं ता ण विज्जदि ।
अहं तावग्गि सेवामि इति भिक्खू ण चिंतए ॥
अचेलयाण लूहस्स सजदस्स तवस्सिणो ।
तणेसु असमाणस्स णं ते होदि विराधिदो ॥
एगेण ताव कप्पेण सवुडंगतिणसित ।
दंसावाए ओ संपसिद्धं किमंगं पुण दोहकप्पेहिं ॥

एतान्युत्तराध्ययने—

आचेलक्को य जो धम्मो जो वाय सणरुत्तरो ।
देसिदो वड्ढमाणेण पासेण अ महप्पणा ॥
एगधम्मे पवत्ताण दुविधा लिंगकप्पणा ।
उभएसिं पदिट्ठाणमह संसयमागदा ॥

इति वचनाच्चरमतीर्थस्यापि अचेलता सिद्धयति ।

णग्गस्स य मुंडस्स य दीहलोमणखस्स य ।
मेहुणादो विरत्तस्स किं विभूसा करिस्सदि ॥

इति दशवैकालिकायामुक्त । एवमाचेलक्य स्थितिकल्प ।

श्रमणानुद्दिश्य कृत भक्तादिक उद्देसिगमित्युच्यते । तच्च षोडशविध आधाकर्मादिविकल्पेन । तत्परिहारो द्वितीय स्थितिकल्प । तथा चोक्त कल्पे—

सोलसविधमुद्देस वज्जेदव्वति पुरिमचरिमाणं ।
तित्थगराण तित्थे ठिदिकप्पो होदि विदिओ दु ॥

सेज्जाधरशब्देन त्रयो भण्यन्ते वसतिं य करोति । कृता वा वसतिं परेण भग्ना पतितैकदेशा वा

पास शीत दूर करनेका कोई साधन नही है न कोई छाजन ही है । मै आगका सेवन करूँ ऐसा भिक्षु विचार नही करता । जो तपस्वी अचेल होनेसे भारमुक्त है वह सयमकी विराधना नही करता । उत्तराध्ययन सूत्रमे केसी गौतमसे प्रश्न करता है—जो यह वर्धमान भगवान्ने अचेलक धर्म कहा है और भगवान् पार्श्वने 'सान्तरोत्तर' धर्म कहा है । एक ही धर्मके मानने वालोमे दो प्रकारके लिंगकी कल्पनासे मै संशयमे पड़ा हूँ ।' इस कथनसे अन्तिम तीर्थकी भी अचेलता सिद्ध होती है ।

दशवैकालिक सूत्रमे कहा है—नग्न, मुण्डित और दीर्घ नख और रोम वाले तथा मैथुनसे विरक्त साधुको आभूषणोसे क्या प्रयोजन है । इस प्रकार आचेलक्य स्थितिकल्प है ।

२. श्रमणोके उद्देशसे बनाये गये भोजनादिको औद्देशिक कहते हैं । अध कर्म आदिके भेदसे उसके सोलह प्रकार हैं । उसका त्याग दूसरा स्थितिकल्प है । कल्पमे कहा है—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरोंके तीर्थमे सोलह प्रकारका उद्दिष्ट छोडने योग्य है । यह दूसरा स्थितिकल्प है ।

३ 'शय्याधर' शब्दसे तीन कहे जाते हैं—जो वसति बनाता है, दूसरेके द्वारा बनाई गई

सस्करोति, यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यत्रास्वेति । एतेषा पिण्डो नामाहार , उपकरणं वा प्रतिलेखनादिक शय्याधरपिण्डस्तस्य परिहरणं तृतीय स्थितिकल्प. । सति शय्याधरपिण्डग्रहे[1] प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिक । [2]धर्मफललोभाद्यो वा आहार दातुमक्षमो दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसतिं प्रयच्छेत् । सति वसती आहारादाने लोको मा निन्दति-स्थिता वसतावस्य[3] यतयो न चानेन मन्दभाग्येन तेषा आहारो दत्त इति । यते· स्नेह· स्यादाहार वसतिं च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया । तत्पिण्डाग्रहणे तु नोक्तदोषसस्पर्श. ।

राजपिण्डाग्रहण चतुर्थः स्थितिकल्पः । राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाता । राजते प्रकृति रञ्जयति इति वा[4] राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते । तस्य पिण्ड तत्स्वामिको राजपिण्ड. । स त्रिविधो भवति । आहार., अनाहार , उपधिरिति । तत्राहारश्चतुर्विधो अशनादिभेदेन । तृणफलकपीठादि अनाहार , उपधिर्नाम प्रतिलेखन वस्त्र पात्रं वा । एवभूतस्य राजपिण्डस्य ग्रहणे को दोष. इति चेत् अत्रोच्यते–द्विविधा दोषा आत्मसमुत्था परकृताश्चेति । द्विविधा परसमुत्था. मनुजतिर्यक्कृतविकल्पेनेति । तिर्यक्कृता द्विविधा ग्रामारण्यपशुभेदात् । ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति । हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्ढा , श्वानश्च ग्राम्या दुष्टा. ।

वसनिको टूटने पर या उसका एक हिस्सा गिर जाने पर जो उसकी मरम्मत कराता है, जो न करता है न मरम्मत कराता है केवल देता है कि यहाँ ठहरिये । उनका पिण्ड अर्थात् भोजन, उपकरण अथवा प्रतिलेखना आदि शय्याधर पिण्ड कहाता है । उसका त्याग तीसरा स्थितिकल्प है । शय्याधरका पिण्ड ग्रहण करने पर वह धर्मके फलके लोभसे छिपाकर आहार आदिकी योजना कर सकता है । अथवा जो दरिद्र या लोभी होनेसे आहार देनेमे असमर्थ है वह ठहरनेका स्थान नही देगा क्योकि वसतिमे ठहराकर आहार न देने पर लोक मेरी निन्दा करेगे कि इसकी वसतिमे यतिगण ठहरे और इस अभागेने उन्हे आहार नही दिया । तथा आहार और वसति देने वाले पर यतिका स्नेह हो सकता है कि इसने हमारा बहुत उपकार किया है । किन्तु शय्याधरका आहार ग्रहण न करने पर उक्त दोष नही होते । ४ राजपिण्डका ग्रहण न करना चतुर्थ स्थितिकल्प है । राज शब्दसे इक्ष्वाकु आदि कुलमे उत्पन्न हुओका ग्रहण किया जाता है । जो 'राजते' शोभित होता है या जनताका रजन करता है वह राजा है । राजाके समान सम्पत्तिशाली भी राजा कहलाता है । उसका पिण्ड अर्थात् जिस पिण्डका वह स्वामो होता है, वह राजपिण्ड है । उसके तीन भेद है— आहार, अनाहार और उपधि । अशन आदिके भेदसे आहारके चार भेद है । तृणोका फलक, आसन आदि अनाहार है । प्रतिलेखन, वस्त्र पात्रको उपधि कहते हैं ।

शङ्का—इस प्रकारके राजपिण्डके लेनेमे क्या दोष है ?

समाधान—दो प्रकारके दोष है एक आत्मसमुत्थ–स्वय किया, और दूसरा परसमुत्थ । परसमुत्थके दो भेद है—एक मनुष्यकृत और एक तिर्यञ्चकृत । तिर्यञ्चकृतके दो भेद है—एक ग्रामीण पशुके द्वारा किया गया और एक जगली पशुके द्वारा किया गया । इन दोनो प्रकारोके भी दो भेद है—दुष्टके द्वारा और भद्रके द्वारा किया गया । गाँवके घोडे, हाथी, गाय, भैंस, मेढे, कुत्ते दुष्ट होते है । दुष्टोसे सयमियोका उपघात होता है । भद्र हुए तो संयमीको देखकर भागने पर गिरकर

---

१ पिंडधग्ग्र-अ० आ० ।

२ फलेभाद्ये वा-अ० । फलेभोद्यो वा-आ० ।

३ वसतावबमा यत-अ० । वसत्यवसत्यवसाधते-आ० ।

४ वा राज्ञा सदृश अ० ।

दुष्टेभ्य संयतोपघातः । भद्रा पलायमानाः स्वयं दुःखिताः पातेन अभिघातेन वा व्रतिनो मारयन्ति वा धावनोल्लङ्घनादिपरा प्राणिन । आरण्यकास्तु व्याघ्रक्रव्याद्द्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे बन्धनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्तिर्भद्राश्चेत्तत्पलायने पूर्वदोष. । मानुषास्तु ईश्वरा तलवरा म्लेच्छा, भटा , प्रेष्या, दासा दास्य , इत्यादिका । तैराकुलत्वात् दुःप्रवेशन राजगृहं प्रविशन्तं मत्ता, प्रमत्ताः, प्रमुदिताश्च दासादय उपहसन्ति, आक्रोशन्ति वारयन्ति उल्लङ्घयति वा । अवरुद्धा या स्त्रियो मैथुनसंज्ञया बाध्यमाना पुत्रार्थिन्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति भोगार्थम् । विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिक परे गृहीत्वा अत्र संयता आयाता इति दोषमभ्यारोपयन्ति । राजा विश्वस्त श्रमणेषु इति श्रमणरूप गृहीत्वागत्य दुष्टा खलीकुर्वन्ति । ततो रुष्टा अविवेकिनः दूषयन्ति श्रमणान्मारयन्ति बध्नन्ति । वा एते परसमुद्भवा दोषा । आत्मसमुद्भवास्तूच्यन्ते । राजकुले आहार न शोधयति अदृष्टमाहृत च गृह्णाति । विकृतिसेवनादिंगालदोष., मन्दभाग्यो वा दृष्ट्वानर्घ्यं रत्नादिक गृह्णीयाद्वामलोचना वा [1]सुरूपा समवलोक्यानुरक्तस्तासु भवेत् । ता विभूतिं, अन्त पुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदान कुर्यात् । इति दोषसभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते । ग्लानार्थं[2] राजपिण्डोऽपि दुर्लभ द्रव्य । अगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो माभूदिति ।

चरणस्थेनापि विनयो गुरूणा महत्तराणां शुश्रूषा च कर्तव्येति पञ्चम कृतिकर्मसज्ञित स्थितिकल्प ।

या चोट खाकर स्वय दुःखी होते हैं अथवा दौडते हुए व्रतियोंको मारते हैं। जगलके रहने वाले व्याघ्र, सिंह, बन्दर यदि राजाके आँगनमे खुले घूमते हो और क्षुद्र हो तो उनसे अपने पर विपत्ति आ सकती है। यदि भद्र हुए तो यतिको देखकर दौड़ने पर स्वय चोट खा सकते है या यतियोको चोट पहुँचा सकते है। मनुष्य स्वामी, कोतवाल, म्लेच्छ, योद्धा, सेवक दास दासी आदि अनेक है। राजाका घर इन सबसे भरा होनेसे उसमे प्रवेश करना कठिन है। मत्त, प्रमत्त, और हर्षसे उत्फुल्ल दास आदि यतिको देखकर हँसते हैं, चिल्लाते हैं, रोकते हैं, अवज्ञा करते है। कामसे पीडित स्त्रियाँ अथवा पुत्र प्राप्तिकी इच्छुक स्त्रियाँ बलपूर्वक भोगके लिए साधुको अपने घरमें ले जाती है। राजगृहमे पड़े हुए रत्न सुवर्ण आदिको दूसरे ग्रहण करके यह दोष लगा सकते है कि यहाँ साधु आये थे। राजाका श्रमणो पर विश्वास है ऐसा जानकर दुष्ट लोग श्रमणका रूप रखकर दुष्ट काम कर सकते है। तब रुष्ट होकर अविवेकी पुरुष श्रमणोको दोष देते है, उन्हे मारते और बाँधते हैं। ये परसे उत्पन्न हुए दोष है।

अब आत्मासे हुए दोष कहते हैं—राजकुलमें आहारका शोधन नही होता, बिना देखा और छीना हुआ आहार ग्रहण करना होता है। सदोष आहार लेनेसे इगाल दोष होता है। कोई अभागा साधु बहुमूल्य रत्नादि देखकर उठा सकता है अथवा सुन्दर स्त्रियोको देखकर उनपर अनुरक्त हो सकता है। उस विभूति, अन्त:पुर और बाजारू स्त्रियोको देखकर निदान कर सकता है कि मुझे भी ये वस्तुएँ प्राप्त हों। इस प्रकारके दोष जहाँ सभव हो वहाँ राजाका आहार नही लेना चाहिए। सर्वत्र लेनेका निषेध नहीं है। रोगीके लिए राजपिण्ड भी दुर्लभ होता है। अथवा कोई ऐसा कारण उपस्थित हो कि साधुका मरण बिना भोजनके होता हो और साधुके मरनेसे श्रुतका विच्छेद होता हो तो राजपिण्ड ले सकते हैं कि श्रुतका विच्छेद न हो।

५ चारित्रमे स्थित साधुके द्वारा भी महान् गुरुओंकी विनय सेवा करना पाँचवाँ कृतिकर्म नामक स्थितिकल्प है।

---

१. वानुरूपा आ० मु० । २. गीतार्थे-आ० ।

ज्ञातजीवनिकायस्य दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति षष्ठ. स्थितिकल्प. । अचेलताया स्थित उद्दे-शिकराजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृद्विनीतो व्रतारोपणार्हो भवति । उक्त च—

आचेलक्के य ठिदो उद्देसादी य परिहरदि दोसे ।
गुरुभत्तिको विणीओ होदी वदाण सदा अरिहो ॥ [ ]

इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुख[1] स्थिताभ्यो विरतिभ्यः, श्रावकश्राविकावर्गाय च व्रतं पयच्छेत् । स्वयं स्थित सूरि. स्ववामे देशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात् । उक्त च—

विरदी सावगवग्गं च णिविट्ठं ठविय तं च सपडिमुखे ।
विरद च ठिदो वामे ठवियं गणिदो उपट्ठाधो उवट्ठवेज्ज ॥ [ ]

इति ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमण व्रत वृत्तिकरण छादन संवरो विरतिरित्येकार्था । उक्त च—

णाऊण अब्भुवेच्चय पावाण विरमण वद होई ।
विदिकरण छावण सवरो विरदित्ति एगट्ठो ॥ [ ]

इति । आद्यपाश्चात्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पंच महाव्रतानि । तत्र प्राणवियोगकरण प्राणिन प्रमत्तयोगात्प्राणवधस्ततो विरतिरहिंसाव्रत । व्यलीकभाषणेन दु ख प्रतिपद्यन्ते जीवा इति मत्वा दयावतो यत्सत्याभिधानं तद्द्वितीय व्रत । ममेदमिति सकल्पोपनीतद्रव्यवियोगे दु खिता भवन्ति इति तद्दयया

---

६ जीवोके भेद-प्रभेदोको जानने वालेको ही नियमसे व्रत दना चाहिए। यह छठा स्थिति-कल्प है। जो अचेलतामे स्थित हो, उद्दिष्ट और राजपिण्डका त्याग करनेमे तत्पर हो, गुरुकी भक्ति करने वाला हो, विनयी हो, वही व्रत देनेके योग्य होता है। कहा है—

'जो अचेलकपनेमें स्थित है और उद्दिष्ट आदि दोषोका सेवन नही करता, गुरुका भक्त और विनीत है वह सदा व्रतोको धारण करनेका पात्र होता है।' यह व्रत देनेका क्रम है— गुरु-जनोंके स्वय रहते हुए आचार्य स्वय स्थित होकर सामने स्थित विरत स्त्रियोको श्रावक श्राविका वर्गको व्रत प्रदान करे। तथा अपने वाम देशमे स्थित विरतोको व्रत प्रदान करे। कहा है—

'विरत स्त्रियोको और श्रावक वर्गको अपने सामने स्थित करके और विरत पुरुषोको अपने वाम भागमे स्थापित करके गणि व्रत प्रदान करे।' इस प्रकार जानकर तथा श्रद्धा करके पापोंसे विरत होना व्रत है। वृत्तिकरण छादन, सवर और विरति, ये सब शब्द एकार्थक है। कहा है—'जानकर और स्वीकार करके पापोसे विरत होना व्रत है। वृत्तिकरण, छादन, संवर, विरति ये सब एकार्थक है।'

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमे रात्रिभोजन त्यागनामक छठे व्रतके साथ पाँच महा-व्रत होते है। प्रमादयुक्तभावके सम्बन्धसे प्राणिके प्राणोका वियोग करना हिंसा है और उससे विरति अहिंसा व्रत है। झूठ बोलनेसे जीव दु.खी होते हैं ऐसा मानकर दयालु पुरुषका सत्य बोलना दूसरा व्रत है। जिसमें 'यह मेरा है' ऐसा सकल्प है उस द्रव्यके चले जानेपर जीव दुःखी होते हैं। इसलिए उसपर दया करके बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरत होना तीसरा व्रत है।

---

१ स्थितेभ्यो-अ०।

अदत्तस्यादानाद्विरमण तृतीयं व्रतम् । सर्षपपूर्णायां नाल्यां तप्तायसशलाकाप्रवेशनवद्योनिद्वारस्थानेकजीवपीडा-साधनप्रवेशेनेति तद्बाधापरिहारार्थं तीव्रो रागाभिनिवेशः कर्मबन्धस्य महतो मूल इति ज्ञात्वा श्रद्धावतः मैथुनाद्विमरण चतुर्थं व्रतम् । परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूल मूर्च्छानिमित्त चेति सकलग्रन्थत्यागो भवति इति पञ्चम व्रतम् । तेषामेव पञ्चानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं व्रतम् । सर्वजीवविषयम-हिंसाव्रत अदत्तपरिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि । उक्त च--

'पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे य सव्वदव्वाइं ।

सेसा महव्वदा खलु तदेकदेसम्मि दव्वाणं ॥ [आवश्यक ७९१ गा०]

पञ्चमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवति अधुनाप्रव्रजित पुमान् इत्येष सप्तम. स्थितिकल्प. पुरुषज्येष्ठत्व । पुरुषत्व नाम संग्रह उपकार, रक्षा च कर्तु समर्थ. । पुरुषप्रणीतश्च धर्मः इति तस्य ज्येष्ठता । तत सर्वाभि सयताभि विनय कर्तव्यो विरतस्य । येन च स्त्रियो लघ्व्य. परप्रार्थनीया , पररक्षापेक्षिण्य , न तथा पुमास इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्व । उक्तं च—

जेणित्थी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जाय ।

भीरु अरक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो ॥ [ ]

अचेलतादिकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमण कर्तव्यमित्येषोऽष्टम स्थितिकल्प । नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन षड्विध प्रतिक्रमणं । भट्टिणी भट्टदारिगा इत्याद्ययोग्यनामोच्चारण कृतवतस्तत्परि-

---

सरसोसे भरी हुई नलीमे तपाई हुई लोहकी कीलके प्रवेशकी तरह योनिद्वारमे स्थित अनेक जीवो-को लिंगके प्रवेशसे पीडा होती है । उस पीडाको दूर करनेके लिए 'रागका तीव्र अभिनिवेश महान् कर्मबन्धका मूल है' ऐसा जानकर और श्रद्धा करके मैथुनसे विरत होना चतुर्थ व्रत है। परिग्रह छह्कायके जीवोको पीडा पहुचानेका मूल है और ममत्वभावमें निमित्त है ऐसा जानकर समस्त परिग्रहका त्याग पाँचवाँ व्रत है । उन्ही पाँच व्रतोंका पालन करनेके लिए रात्रि भोजनका त्याग छठा व्रत है। अहिसाव्रतका विषय सब जीव हैं अर्थात् सब जीवोंकी हिसाका त्याग उसमे है। विना दी हुई वस्तुका त्याग और परिग्रहका विषय भी सब द्रव्य है। अर्थात् अचौर्यव्रती विना दिया हुआ कोई भी ऐसा द्रव्य नही लेता जिसका कोई स्वामी है। परिग्रहका त्यागी भी सब द्रव्योका त्याग करता है । किन्तु शेष व्रत द्रव्योके एकदेशको विषय करते है। कहा है—

'प्रथम व्रतमे सब जीव, तीसरे और अचौर्यव्रतमें सब द्रव्य तथा शेष महाव्रत द्रव्योंके एकदेशमे होते हैं ।'

७ चिरकालसे दीक्षित और पाँच महाव्रतोंकी धारी आर्यिकासे तत्काल दीक्षित भी पुरुष ज्येष्ठ होता है । इस प्रकार पुरुषकी ज्येष्ठता सातवाँ स्थितिकल्प है। पुरुषत्व कहते हैं संग्रह, उपकार और रक्षा करनेमे समर्थ होना। धर्म पुरुषके द्वारा कहा गया है इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है। इसलिए सब आर्यिकाओको साधुकी विनय करनी चाहिए। यतः स्त्रियाँ लघु होती है, परके द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य होती हैं । दूसरेसे अपनी रक्षाकी अपेक्षा करती हैं। पुरुष ऐसे नही होते इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है। कहा है—'यतः स्त्री लघु होती है, दूसरेके द्वारा प्रसाध्य होती है, प्रार्थनीय होती है, डरपोक होती है, अरक्षणीय होती है इसलिए पुरुष ज्येष्ठ होता है।'

८. अचेलता आदि कल्पमें स्थित साधुके यदि अतिचार लगता है तो उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह आठवाँ स्थितिकल्प है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह

हरणं नामप्रतिक्रमणं। असंयतमिथ्यादृष्टिजीवप्रतिबिंबपूजादिषु प्रवृत्तस्य तत्प्रतिक्रमणं स्थापनाप्रतिक्रमणं। सचित्तमचित्तं मिश्रमिति त्रिविकल्पं द्रव्यं तस्य परिहरणं द्रव्यप्रतिक्रमण। त्रसस्थावरबहलस्य स्वाध्याय-ध्यानविघ्नसंपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रप्रतिक्रमण। संध्यास्वाध्यायाकालादिषु गमनागमनादिपरिहारः कालप्रतिक्रमणं। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं। प्रतिक्रमणसहितो धर्म. आद्यपाश्चात्य-योजिनयोः जातापराधप्रतिक्रमणं मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति।[1]

'आलोयणादिवसिग राविग इत्तिरियभिक्खचरिया य।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठेय॥ एते आलोचनाकल्पा।'
पडिकमणं राविग देवसिगं इत्तिरियभिक्खचरिया य।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठेय य॥ [ ]

अमी प्रतिक्रमणभेदा आद्यन्ततीर्थकरप्रणीते पंचयमे धर्म्मे, इतरत्र च चतुर्यमे प्रतिक्रमणस्य कालनियम उक्त। यदायमतिचारं प्राप्तस्तदा प्रतिक्रमणमध्यात्मिक दर्शन। उक्तं च—

'समगो याणेसणो विय दूरायादो य सव्वसमणो वि।
[2]सुमणे वि यवि य सवृवो जागरमाणो वि अगदो वि॥
ठावाणिओ आयरिय णावज्जामिति मज्झिमजिणेसु।
ण पडिक्कमणं तेण दु जे णातिक्कमदि सो गेव॥ [ ]

प्रकारका प्रतिक्रमण होता है। भट्टिणी, भर्तृदारिका इत्यादि अयोग्य नामका उच्चारण करनेपर उसका परिहार करना नाम प्रतिक्रमण है। असंयत मिथ्यादृष्टि जीवके प्रतिबिम्बकी पूजा आदि करनेवाला जो उसका प्रतिक्रमण करता है वह स्थापना प्रतिक्रमण है। सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका द्रव्य होता है उसका परिहार द्रव्य प्रतिक्रमण है। जो क्षेत्र त्रस और स्थावर जीवोंसे भरा है, स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न करनेवाला है उसका परिहार क्षेत्र प्रतिक्रमण है। सन्ध्याके समय, स्वाध्यायके समय तथा असमयमे गमन आगमन आदिका परिहार-कालप्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व असयम, कषाय और योगसे निवृत्ति भावप्रतिक्रमण है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म प्रतिक्रमण सहित है अर्थात् प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। और मध्यके बाईस तीर्थंकर दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमणका उपदेश करते है। आलोचना दैवसिक, रात्रिक, इत्तिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, उत्तमार्थ—ये दस आलोचनाकल्प है।

दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, इत्तिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ये प्रतिक्रमणके भेद है। आदि और अन्तिम तीर्थंकरके द्वारा कहे पाँच महाव्रतरूप धर्ममें और अन्य तीर्थंकरोके द्वारा कहे चार यमरूप धर्ममे प्रतिक्रमणके कालका नियम कहा है। जब साधु अतिचार लगाता है तब प्रतिक्रमण आध्यात्मिक दर्शन है। कहा है—

[इन गाथाओंका शुद्धपाठ न मिलनेसे अर्थका स्पष्टीकरण नही हो सका है।] चौबीस तीर्थंकरोंमेंसे मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके साधुओंके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक नही है। दोष

१. पडिकमण देवसिअं राइअं च इत्तरिअभावकहिय च।
पक्खिअ चाउम्मासिअ संवच्छरि उत्तमट्ठेअ॥—आव० ४ अ०। (अभि० रा०, पडिक्क०)

२. सुमिणतियं दियसर्ध।

सव्वादिसु वि पविसी आदिय अंतम्मि सो पडिक्कमदि ।
मज्झिमगा अण्णेंति य अमक्खमाणं हुवे उभयं ॥
इरियं गोयर सुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमेसु सव्वो सव्वं णियमा पडिक्कमदि ॥ [मूलाचार ७।३१]

मध्यमतीर्थकरशिष्या दृढबुद्धय, एकाग्रचित्ता, अमोघलक्ष्यास्तस्माद्यदाचरित तद्गर्हया शुद्धयति । इतरे तु चलचित्ता न लक्षयन्ति स्वापराधांस्तेन सर्वं प्रतिक्रमण उपदिष्ट जिनाभ्या अंधघोटकदृष्टान्तन्यायेन ।

ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवम स्थितिकल्प । एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षम । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषा । पज्जोसमणकल्पो नाम दशम । वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थान भ्रमणत्याग. । स्थावरजगमजीवाकुला हि तदा क्षिति. । तदा भ्रमणे महानसयम वृष्टया शीतवातपातेन च वात्मविराधना । पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यत इति विंशत्यधिक

लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते हैं। इसी बातको इन गाथाओमें कहा है। शब्दादि विषयोंमे प्रवृत्ति होनेपर आदि और अन्तिम तीर्थ करोके साधु प्रतिक्रमण करते ही हैं। मध्यम तीर्थंकरोंके साधु करते भी है और नही भी करते।

ईर्यासमिति, गोचरी और स्वप्न आदिमें अतिचार लगे या न लगे। किन्तु प्रथम तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य सब प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढते हैं अर्थात् अतिचार नही लगनेपर भी उन्हें प्रतिक्रमण करना होता है।'

मध्यम बाईस तीर्थंकरोंके शिष्य दृढ बुद्धिवाले, एकाग्रचित्त और अव्यर्थ लक्षवाले होते है। इसलिए अपने आचरणकी गर्हा करनेसे शुद्ध होते है। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य चचल चित्त होनेसे अपने अपराधोको लक्षमें नही लेते। इसलिए प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरने सबके लिए प्रतिक्रमण करनेका उपदेश दिया है। इसमें अन्ध घोड़ेका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे घोडेके अन्धे होनेपर अनजान वैद्यपुत्रने अपने पिताके अभावमें उसपर सब दवाइयोका प्रयोग किया तो घोडा ठीक हो गया। इसी तरह अपने दोषोंसे अनजान साधु भी प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है।

९ छह ऋतुओंमे एक-एक महीना ही एक स्थानपर रहना और अन्य समयमे विहार करना नवम स्थितिकल्प है। एक स्थानमें चिरकाल ठहरनेपर नित्य ही उद्गमदोष लगता है। उसे टाला नहीं जा सकता। तथा एक ही स्थानमें बहुत समयतक रहनेसे क्षेत्रसे बँध जानेका, सुखशीलता, आलसीपना, सुकुमारताको भावना तथा जाने हुएसे भिक्षा ग्रहण करनेके दोष लगते हैं।

१० पज्जोसमण नामक दसवाँ कल्प है। उसका अभिप्राय है वर्षाकालके चारमासोंमे भ्रमण त्यागकर एक ही स्थानपर निवास करना। उस कालमें पृथिवी स्थावर और जगम जीवोसे व्याप्त रहती है। उस समय भ्रमण करनेपर महान् असंयम होता है। तथा वर्षा और शीतवायुके बहनेसे आत्माकी विराधना होती है। वापी आदिमें गिरनेका भय रहता है। जलादिमे छिपे

दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं। वृष्टिबहुलतां, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्ट कालः। मार्या, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशांतरं याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति। पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति। यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एष दशमः स्थितिकल्पः।

हुए ठूंठ, कण्टक आदिसे अथवा जल कीचड आदिसे कष्ट पहुँचता है। इसलिए एक सौ बीस दिनतक एकस्थानपर रहना उत्सर्गरूप नियम है। कारणवश कम या अधिक दिन भी ठहरते हैं। आषाढ़ शुक्लादशमीको ठहरनेवाले साधु आगे कार्तिककी पूर्णमासीके पश्चात् तीस दिन ठहर सकते है। वर्षाकी अधिकता, शास्त्रपठन, शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करनेके उद्देश से एकस्थानपर ठहरनेका यह उत्कृष्टकाल है। इस बीचमें यदि मारी रोग फैल जाये, दुर्भिक्ष पड जाये या गच्छका विनाश होनेके निमित्त मिल जाये तो देशान्तर चले जाते है क्योंकि वहाँ ठहरनेपर भविष्यमें रत्नत्रयकी विराधना हो सकती है।

आषाढकी पूर्णमासी बीतने पर प्रतिपदा आदिके दिन देशान्तर गमन करते हैं। इस तरह बीस दिन तक कम होते है। इस अपेक्षा कालकी हीनता होती है। यह दसवाँ स्थितिकल्प है।

विशेषार्थ—श्वेताम्बर परम्परामें भी ये ही दस कल्प माने गये हैं। किन्तु उनमेंसे चार स्थितकल्प है और छह अस्थितकल्प है। शय्यातर पिण्ड, चातुर्याम, पुरुषकी ज्येष्ठता और कृतिकर्म य चार कल्प स्थित है। अर्थात् मध्यम बाईस तीर्थंकरोके साधु और महा विदेहोंके साधु शय्यातर पिण्ड ग्रहण नही करते, चतुर्याम रूप धर्मका पालन करते हैं, पुरुषकी ज्येष्ठता पालते हैं अर्थात् चिरदीक्षित आर्यिका भी उसी दिनके दीक्षित साधुको नमस्कार करती है। तथा सब कृतिकर्म करते हैं। आचेलक्क, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मास और पर्युषण ये छह कल्प मध्यम तीर्थंकरोके तथा महाविदेहके साधुओंके लिए अनवस्थित हैं। यदि वस्त्र धारण करनेसे वस्त्रको लेकर रागद्वेष उत्पन्न होता है तो अचेल रहते है अन्यथा सचेल रहते हैं। साधुओंके उद्देशसे बनाया भोजन उद्दिष्ट होनेसे सदोष होता है। किन्तु उक्त तीर्थंकरो और महाविदेहोंके साधु अपने उद्देशसे बना भोजन नही लेते। अन्य साधुओंके उद्देशसे बना भोजन ले लेते हैं। प्रतिक्रमण भी दोष लगने पर करते हैं, अन्यथा नही करते। राजपिण्डमें यदि कहे गये दोष होते हैं तो ग्रहण नही करते। यदि एक क्षेत्रमे रहने पर दोष न हो तो पूर्वकोटी काल भी रहते हैं। दोष हो तो मास पूर्ण नही होने पर भी चल देते है। पर्युषणामें भी यदि वर्षामें विहार करने पर दोष हो तो एक क्षेत्रमे रहते है दोष न हो तो वर्षाकालमें भी विहार करते हैं। श्वेताम्बर परम्परामे प्राकृतमें दसवें कल्पका नाम 'पज्जोसवणा' है उसका संस्कृत रूप पर्युषणाकल्प है। इसीसे भादोके दश लक्षण पर्वको पर्युषण पर्व भी कहते है। श्वेताम्बर परम्परामे भी इसका उत्कृष्ट काल आसाढी पूर्णिमासे कार्तिकी पूर्णिमा तक चार मास है। जघन्य काल सत्तर दिन है। भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे कार्तिककी पूर्णिमा तक सत्तर दिन होते हैं। सम्भवतः इसीसे दिगम्बर परम्परामें पर्युषण पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे प्रारम्भ होता है। इस कालमें साधु विहार नही करते।

एदेसु दससु णिच्चं समाहिदो णिच्चवज्जभीरू य ।
खवयस्स विसुद्धं सो जधुत्तचरियं उवविधेदि ।।४२४।।

'**एदेसु दससु णिच्चं**' एतेषु दशस्थितिकल्पेषु नित्यं । '**समाहिदो**' समाहित । '**णिच्चवज्जभीरू य**' नित्य पापभीरु. । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**विसुद्धं जधुत्तचरियं**' यथोक्ता चर्यां । '**सो उवविधेदि**' स विदधाति ।।४२४।।

निर्यापकस्य सूरेराचारवत्त्वे क्षपकस्य गुणं व्याचष्टे—

पंचविधे आयारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ ।
सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुट्ठु आयारे ।।४२५।।

'**पंचविधे आयारे समुज्जदो**' पंचप्रकारे आचारे समुद्यत. । '**समिदसव्वचेट्ठाओ**' सम्यक् प्रवृत्ता सर्वाश्चेष्टा यस्य स. । '**सुट्ठु उज्जमेदि**' सुष्ठु उद्योग कारयति । '**खवगं**' क्षपकं । क्व ? '**पंचविधे**' आचारे ।।४२५।।

यः आचारवान्न भवति तदाश्रयणे दोषमाचष्टे—

सेज्जोवधिसंथारं भत्तं पाणं च चयणकप्पगदो ।
उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरए वा असंविग्गे ।।४२६।।

'**सेज्जं**' वसति । '**उवधिं**' उपकरण । '**संथारभत्तपाणं च**' संस्तर भक्तपान च । '**असुद्ध**' उद्गमादिदोषोपहत । '**उवकप्पेज्ज**' उपकल्पयेत् । क '**चयणकप्पगदो**' ज्ञानाचारादिकादोषच्च्यवनमुपगत '**पडिचरए वा**' प्रतिचारकान्वा योजयेत । '**असंविग्गे**' असंविग्नान् । एवमसयमे कृते महान्कर्मबन्धो भविष्यति ततोऽस्माक महती ससृतिरनेकापन्मूलेति भयरहितान् ।।४२६।।

सल्लेहणं पयासेज्ज गंधं मल्लं च समणुजाणिज्जा ।
अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज सइरं व जंपिज्ज ।।४२७।।

'**सल्लेहणं पगासेज्ज**' सल्लेखना प्रकाशयेत् लोकस्य । '**गंधं मल्ल च समणुजाणेज्ज**' गन्ध माल्य वानुजानीयात् । गन्धमाल्यानयनमभ्युपगच्छेत् । '**अप्पाउग्गं व कह कहेज्ज**' अप्रयोग्या वा कथा कथयेत्

गा०—इन दस कल्पोंमें जो सदा समाधान युक्त रहता है और नित्य पापसे डरता है वह आचार्य क्षपक ऊपर कहे विशुद्ध आचरणको पालन कराता है ।।४२४।।

निर्यापकाचार्यके आचारवान होने पर क्षपकका लाभ बतलाते है—

गा०—जो आचार्य पाँच प्रकारके आचारमे तत्पर रहता है और जिसकी सब चेष्टाएँ सम्यग्रूपसे होती हैं वह क्षपकसे पाँच प्रकारके आचारमे उद्योग कराता है ।।४२५।।

जो आचार्य आधारवान नहीं होता, उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते है—

गा०—ज्ञानाचार आदिसे थोडा सा च्युत हुआ आचार्य उद्गम आदि दोषोसे दूषित अशुद्ध बसति, उपकरण, सस्तर और भक्तपानकी व्यवस्था करेगा । तथा ऐसे परिचारक मुनियोंको नियुक्त करेगा जिन्हे यह भय नही है कि इस प्रकारका असंयम करने पर महान् कर्मबन्ध होगा और उससे हमारा संसार बढ़ेगा जो अनेक आपत्तियोका मूल है ।।४२६।।

गा०—तथा वह क्षपककी सल्लेखनाको लोगों पर प्रकाशित कर देगा । सुगंध माला आदि सेवनकी अनुमति दे देगा। क्षपकके अशुभ परिणाम करने वाली अयोग्य कथा वार्ता करेगा । और

क्षपकस्याशुभपरिणामविधायिनी । 'सइरं वा' स्वैरं वा । 'जंपेज्ज' जल्पेत् । आराधकस्याग्रत इदं युक्तं न वेत्यविचार्य वदेद्वा ॥४२७॥

ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकप्पगदो ।
उद्देज्ज वा महल्लं खवयस्स वि किंचणारंभं ॥४२८॥

'ण करेज्ज' न कुर्यात् । कि 'सारणं' रत्नत्रये वृत्ति । 'वारणं च' निषेध न कुर्यात् । तेभ्यः प्रच्यवमानस्य । 'खवगस्स क्षपकस्य । क ? 'चयणकप्पगदो च्यवनकल्पगत । 'उद्देज्ज वा महल्लं' आरम्भ कारयेद्वा महान्त आरम्भ पट्टशाला, पूजा, विमान वा । 'खवगस्स वि' क्षपकस्यापि कथन ॥४२८॥

आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि ।
तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥४२९॥

'आयारत्थो पुण' आचारस्थः पुन सूरि तान्सर्वान्विर्जयति दोषान् । 'तम्हा' तस्मात् । गुणेषु प्रवर्तमानो दोषेभ्यो व्यावृत्तश्च । 'आयारत्थो आयरिओ णिज्जवओ होदि' आचारस्थ एवाचार्यो निर्यापको भवति नापर । व्याख्यातमाचारवत्त्वम् ॥४२९॥

आधारवत्त्वव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः—

चोद्दसदसणवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥४३०॥

'चोद्दसदसणवपुव्वी' चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वो वा । 'महामदी' महामति । 'सायरोव्व गभीरो' सागर इव गम्भीर । 'आधारवं णाम कप्पववहारधारी वा' कल्पव्यवहारज्ञो वा आधारवान् ज्ञानी । दुष्परिणामा एते मनोवाक्कायविकल्पा , शुभा वा पुण्यास्रवभूता । शुद्धा वा शुभाशुभकर्मसंवरहेतव , इति बोधयति ।

यह उचित है या नही यह विचार किये बिना क्षपकके आगे स्वच्छन्दता पूर्वक बात करेगा ॥४२७॥

गा० तथा स्वय आचार च्युत आचार्य क्षपकके रत्नत्रयसे डिगने पर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति और रत्नत्रयसे च्युत होनेका निषेध नही करेगा । तथा क्षपकसे कोई महान् आरम्भ पूजा, विमानयात्रा, पट्टकशाला आदि करायेगा ॥४२८॥

गा०—किन्तु आचारवान् आचार्य इन सब दोषोको नही करता । इसलिए जो गुणोमे प्रवृत्ति करता है और दोषोंसे दूर रहता है ऐसा आचारवान् आचार्य ही निर्यापक होता है, दूसरा नही । इस प्रकार आचारवत्त्वका कथन किया ॥४२९॥

आगे आधारवत्त्वका कथन करते है—

गा०-टी०—जो चौदह पूर्व, दस पूर्व अथवा नौ पूर्वका धारी हो, महाबुद्धिशाली हो, सागर की तरह गम्भीर हो, कल्प व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता हो वह ज्ञानी आधारवान् होता है । वह समझाता है कि मन वचन कायके विकल्प रूप ये परिणाम अशुभ है, शुभ परिणाम पुण्यकर्मके आस्रवके कारण है और शुद्ध परिणाम शुभ और अशुभ कर्मोके संवरमें कारण हैं । तथा वह रात दिन श्रुतका उपदेश करते हुए शुभ और शुद्ध परिणामोमे क्षपकको लगाता है । इसलिए वह दर्शन, चारित्र और तपका आधारवाला होनेसे आधारवान होता है । ज्ञान आधार है और

शुभेषु शुद्धेषु वा प्रवर्तयति श्रुतमनारतमुपदिशन्नतोऽसौ दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च आधारवत्त्वात्। ज्ञानमाधार[1]स्तद्वानाधारवान् ॥४३०॥

यस्तु ज्ञानवान्न भवति तदाश्रयणे दोषाण्याचष्टे—

[2]णासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं।
णट्ठम्मि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥४३१॥

'णासेज्ज अगीदत्थो' नाशयेदगृहीतसूत्रार्थः। 'तस्स' तस्य क्षपकस्य। 'चउरंगं' चत्वारि ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि अङ्गानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं चतुरङ्गं। लोके यत्सारं निर्वाणं तस्याङ्गं उपकारकं। चतुरङ्गं यदि नाम नष्टं तथापि तच्चतुरङ्गं पुनर्लभ्येत इति शङ्कामिमां निरस्यति। 'णट्ठम्मि य चउरंगे' नष्टे इह जन्मनि चतुरङ्गे मुक्तिमार्गे। 'ण उ सुलहं होदि चउरंगं' नैव सुखेन लभ्यते तच्चतुरङ्गं। विनाशितचतुरङ्गो मिथ्यात्वपरिणतः कुयोनिमुपगतः कथमिव लभते चतुरङ्गं इत्यभिप्रायः ॥४३१॥

क्षपकस्य चतुरङ्गं कथमगृहीतार्थो नाशयतीत्यारेकायामित्थमसौ नाशयतीति दर्शयति—

संसारसायरम्मि य अणंतबहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि।
संसरमाणो दुक्खेण लहदि जीवो मणुस्सत्तं ॥४३२॥
तह चेव देसकुलजाइरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिं।
सवणं गहणं सद्धा य संजमो दुल्लहो लोए ॥४३३॥

जो ज्ञानवान् है वह आधारवान् है ॥४३०॥

जो ज्ञानवान् नही है उसका आश्रय लेनेमे दोष कहते हैं—

गा०-टी०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण नही किया है ऐसा आचार्य उस क्षपकके चतुरंगको नष्ट कर देता है। ज्ञान दर्शन चारित्र तप ये चार अंग जिस मोक्षमार्गके होते है वह चतुरग है। लोकमें जो सारभूत निर्वाण है उसका चतुरंग–मोक्षमार्ग उपकारक है। वह नष्ट कर देता है। शायद कोई कहे कि यदि चतुरंग नष्ट हुआ तो पुनः प्राप्त हो जायेगा ? इस शंकाका निरास करते हैं—इस जन्ममें चतुरग मोक्षमार्गके नष्ट होने पर चतुरंग सुलभ नही है—सुखसे नहीं मिलता। क्योंकि जो चतुरंगको नष्ट कर देता है वह मिथ्यात्व रूप परिणत होकर कुयोनिमें चला जाता है। तब वह कैसे चतुरगको प्राप्त कर सकता है यह उक्त कथनका अभिप्राय है ॥४३१॥

सूत्रके अर्थको ग्रहण न करने वाला आचार्य क्षपकके चतुरगको कैसे नष्ट करता है ? ऐसी आशंका करने पर बतलाते हैं कि वह इस प्रकार नष्ट करता है—

गा०—जिसमे अनन्त अत्यन्त तीव्र दुःखरूप जल भरा है उस ससार सागरमें भ्रमण करते हुए जीव बडे कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४३२॥

गा०—उस ससारमे देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्मका सुनना, उसे ग्रहण करना, उस पर श्रद्धा होना तथा संयम ये सब दुर्लभ हैं ॥४३३॥

---

१ स्तद्वानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् आ० मु०। २. इयं गाथा व्यवहारसूत्रे (उ० ३, गा० ३७७) अस्ति।

एवमवि दुल्लहपरंपरेण लद्धूण संजमं खवओ ।
ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अबहुसुयसयासे ॥४३४॥

सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्धं मुत्तिमुवगमित्ता वि ।
परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥४३५॥

सक्का वंसी छेत्तुं तत्तो उक्कड्ढिओ पुणो दुक्खं ।
इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कड्ढिदुं दुक्खं ॥४३६॥

आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ।
अट्टदुहट्टो जीवो ण रमदि णाणे चरित्ते य ॥४३७॥

सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयणेण य पुणो उवग्गहिदो ।
तण्हाछुहाकिलंतो वि होदि झाणे अवक्खित्तो ॥४३८॥

पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ।
ण कुणदि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ॥४३९॥

'पढमेण वा' क्षुधा । **'दोवेण वा'** पिपासया वा । **'बाधिज्जंतस्स तस्स'** बाध्यमानस्य तस्य । **'खवयस्स'** क्षपकस्य । **'न कुणदि उवदेसादि'** न करोत्युपदेशादि । **'समाधिकरणं'** समाधिः क्रियते येनोपदेशादिना त । **'अगीदत्थो'** अगृहीतार्थ ॥४३९॥

गा०—इस प्रकार परम्परा रूपसे दुर्लभ सयमको पाकर क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पासमे वैराग्य करने वाली देशना नही प्राप्त करता ॥४३४॥

गा०—सम्यक् उपदेश प्राप्त न करनेसे चिरकाल तक असयमके त्यागपूर्वक सयमको धारण करके आधारवत्त्व गुणसे रहित आचार्यके पासमे मरते समय सयममे गिर जाता है ॥४३५॥

गा०—जैसे छोटेसे बाँसको छेदना शक्य है। किन्तु बाँसोके झाडमेसे खीचकर निकालना बहुत कठिन है। इसी तरह सयमीका भी मन विषयोमे हटाना अल्प ज्ञानी गुरुके लिए कठिन है। आशय यह है कि यद्यपि क्षपकने रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की तथापि शरीरकी सल्लेखना करनेपर जब भूख प्यासकी परीषह सताती है तो वह श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाये विना अल्पज्ञ आचार्यके पासमे राग-द्वेषमे पडकर चारित्रका आराधक नही रहता ॥४३६॥

गा०—यह जीव आहारमय है, अन्न ही इसका प्राण है। आहारके न मिलनेपर आर्त और रौद्रध्यानसे पीडित होकर ज्ञान और चारित्रमे मन नही लगाता ॥४३७॥

गा०—किन्तु ज्ञानी आचार्यके द्वारा श्रुतका पान करानेसे और योग्य शिक्षारूप भोजनसे उपकृत होनेपर, भूख प्याससे पीडित होते हुए भी ध्यानमे स्थिर होना है ॥४३८॥

गा०—भूख और प्याससे पीडित उस क्षपकको अल्पज्ञानी आचार्य समाधिके साधन उपदेश आदि नही करता ॥४३९॥

सो तेण विडज्झंतो पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो ।
कलुणं कोलुणियं वा जायणकिविणत्तणं कुणइ ।।४४०।।

'सो तेण विडज्झंतो' स क्षपकस्तेन प्रथमेन द्वितीयेन वा । **'विडज्झंतो'** विविधं दह्यमान । **'पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो'** प्राप्य शुभपरिणामस्य भेद **'विडज्झतो' 'अप्पसुदो'** अल्पश्रुत । **'कलुणं कोलुणियं च कुणदि'** यथा शृण्वता करुणा भवति तथा करोति । **'जायण च कुणदि'** याञ्चा वा करोति । **'किविणत्तणं कुणदि'** दीनतां वा करोति ।।४४०।।

उक्कूवेज्ज व सहसा पिएज्ज असमाहिपाणयं चावि ।
गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ।।४४१।।

'उक्कूवेज्ज व सहसा' पूत्कुर्याद्वा सहसा । **'पिएज्ज'** पिबेद्वा । **'असमाधिपाणगं चावि'** असमाधिपानकमुच्यते यत्स्वय स्थित्वा स्वहस्ताभ्यां काले प्रायोग्यपान ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पान तदसमाधिपानकमुच्यते । **'गच्छेज्ज व मिच्छत्तं'** मिथ्यात्व वा गच्छेत् । कष्टोऽयं धर्म. किमनेन श्रमविधायिनेति निन्दापरेण चेतसा । **'मरेज्ज असमाधिमरणेण'**मृतिमुपेयात् असमाधिना ।।४४१।।

संथारपदोसं वा णिब्भच्छिज्जंतओ णिगच्छेज्जा ।
कुव्वंते उड्डाहो णिच्चुब्भंते विकिंते वा ।।४४२।।

'संथारपदोस वा कुणदि' इति शेष , मस्तर वा दुष्यति । **'णिब्भच्छिकज्जंतगो णिगच्छेज्ज'** रोदन पूत्कार वा कुर्वन्त यदि निभर्त्सयन्ति निर्यायात् । **'कुव्वंते'** पूत्कुर्वति मति क्षपके । **'उड्डाहो'** अयशो धर्मस्य भवति । **'णिच्चुब्भंते'** बहिर्निःसरणे । **'विकिंते वा'** पृथक्करणे वा । **'उड्डाहो होदि'** धर्मदूषणो भवति । एवमगृहीतार्थ प्रतिकारानभिज्ञो नाशयति क्षपकम् ।।४४२।।

गृहीतार्थ पुन किं करोतीति चेदाह—

गीदत्थो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ।
कण्णाहुदीहिं उव-गहिदो य पज्जलइ ज्झाणग्गी ।।४४३।।

गा०—वह अल्पज्ञानी क्षपक भूख प्याससे पीडित हो शुभभावको छोड देता है और ऐसा रुदन करता है कि सुननेवालोंको दया आती है, याचना करता है और दीनता प्रकट करता है ।।४४०।।

गा०—अथवा सहसा चिल्लाने लगता है अथवा असमाधिपानक पीता है। स्वय खडे होकर अपने दोनो हाथोसे भोजनके कालमे जो योग्यपान किया जाता है उससे अन्य विना खडे हुए असमयमें जो पान किया जाता है उसे असमाधिपानक कहते हैं। तथा यह धर्म कष्टदायक है इससे केवल श्रम ही होता है ऐसे निन्दायुक्त चित्तसे मिथ्यात्वको प्राप्त होता है असमाधिपूर्वक मरणको प्राप्त होता है ।।४४१।।

गा०—अथवा वह संस्तरको दोष देता है। रोने चिल्लानेपर उसका तिरस्कार करो तो बाहर भाग जायेगा। उसके रोने चिल्लानेपर, या बाहर निकल जानेपर अथवा सघसे निकाल देनेपर धर्ममें दूषण लगता है। इस प्रकार अज्ञानी आचार्य प्रतीकार न जानता हुआ क्षपकका जीवन नष्ट कर देता है ।।४४२।।

गृहीतार्थज्ञानी आचार्य क्या करता है यह कहते है—

---

१. उवडोइदो आ० मु० ।

'**गीदत्थो पुण**' गृहीतार्थः पुनः । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**कुणदि**' करोति । '**विधिणा**' क्रमेण । '**समाधिकरणाणि**' समाधानक्रियाः । '**कण्णाहुदीहिं**' कर्णाहुतिभिः । '**उवगहिदो**' उपगृहीतः । '**पज्जलदि**' प्रज्वलति । '**झाणग्गी**' ध्यानाग्निः ॥४४३॥

खवयस्सिच्छासंपादणेण देहपडिकम्मकरणेण ।
अण्णेहिं वा उवाएहिं सो हु समाहिं कुणइ तस्स ॥४४४॥

'**खवयस्सिच्छासंपादणेण समाधिं कुणदि**' क्षपकस्येच्छासम्पादनेन समाधिं करोति । यदिच्छत्यसौ तद्दत्वा '**समाधिं**' रत्नत्रये समवधानं तस्य करोति इति यावत् । '**देहपडिकम्मकरणेण**' शरीरबाधाप्रतिकारक्रियया । '**अण्णेहिं वा उवाएहिं**' [1]अन्यैर्वा सामवचनोपकरणदानचिरंतनक्षपकोपाख्यानादिभिरुपायैः समाधिं करोति ॥४४४॥

णिज्जूढं पि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो ।
संधेइ समाधिं पि य वारेइ असवुडगिरं च ॥४४५॥

'**णिज्जूढं पि य पासिय**' निर्यापकैर्यतिभिः परित्यक्तं दृष्ट्वा किं भवता परीषहासहनेन चलचित्तेनास्माकं ? त्यक्तोऽस्यस्माभिरिति । '**मा भीहि देइ**' मा भैषीरित्यभयं ददाति । '**होदि**' भवति । '**च आसासो**' च आश्वासः । '**संधेइ**' सधत्ते '**समाधिं पि य**' रत्नत्रयैकाग्र्यमविच्छिन्नं । '**वारेदि असंवुडगिरं च**' वारयत्यसवृताना वचनं नैवं वक्तव्यो भवद्भिरयं महात्मा । को हि नामायमिव शरीरं आहारं दुस्त्यजं त्यक्तुं क्षमः इति प्रोत्साहयन् ॥४४५॥

जाणदि फासुयदव्वं उवकप्पेदुं तहा उदिण्णाणं ।
जाणइ पडिकारं वादपित्तसिंभाण गीदत्थो ॥४४६॥

'**जाणदि य**' जानाति च । '**फासुयदव्वं**' योग्यं द्रव्यं । '**उवकप्पेदु**' विधातुं । '**तहा उदिण्णाणं**' तयो-

गा०—किन्तु गृहीतार्थ आचार्य विधिपूर्वक क्षपकका समाधान करनेकी क्रिया करता है। उसके कानोमे धर्मोपदेशकी आहुति देता है उससे उपगृहीत होकर ध्यानरूपी अग्नि भडक उठती है ॥४४३॥

गा०—वह क्षपककी इच्छा पूर्ति करके—जो वह चाहता है वह देकर—समाधि करता है अर्थात् रत्नत्रयमे उसका मन स्थिर करता है। तथा शारीरिक बाधाका प्रतिकार करके और अन्य उपायोसे जैसे शान्तिदायक वचन, उपकरणदान और प्राचीन क्षपकोके दृष्टान्त आदिसे समाधि करता है ॥४४४॥

गा०—निर्यापक अर्थात् सेवा करनेवाले यतियोंने जिस क्षपकको यह कहकर 'कि आप परीषह सहन नहीं करते और आपका चित्त चचल है हमे आपसे अब कुछ भी प्रयोजन नही है, छोड़ दिया है, उसको भी देखकर बहुश्रुत आचार्य 'मत डरो' इस प्रकार अभय देते हैं। आश्वासन देते है, और रत्नत्रयमे एकाग्रता बनाये रखते है। तथा असयतवचनोका निवारण करते हैं कि इस महात्माको आपको ऐसा नही कहना चाहिए। इनके समान कठिनतासे छोड़नेके योग्य शरीर और आहारको कौन छोड़नेमे समर्थ है। इस प्रकार प्रोत्साहन देते हैं ॥४४५॥

गा०—शास्त्रके अर्थको हृदयगम करनेवाले आचार्य उदीर्ण हुई भूख प्यासकी वेदनाको

१ अन्यैर्वा उपायैः तस्य समाधिं करोति–अ० ।

दीर्णानां क्षुधादीना विनाशने समर्थ । 'जाणदि पडियारं' जानाति प्रतिकारं । 'वादपित्तसिंभाणं' वातपित्त-श्लेष्मणां । 'गीदत्थो' गृहीतार्थः ॥४४६॥

अहव सुदिपाणयं से तहेव अणुसिट्ठिभोयणं देइ ।
तण्हाछुहाकिलिंतो वि होदि ज्झाणे अवक्खित्तो ॥४४७॥

'अहव सुदिपाणयं' अथवा श्रुतिपानं । 'से देदि' तस्मै ददाति । 'अणुसिट्ठिभोयणं देदि' अनुशासन-भोजन वा । तेन पानेन भोजनेन च । 'तण्हाछुहाकिलिंतो वि' क्षुधा तृषा वा बाध्यमानोऽपि । 'ज्झाणे अवक्खित्तो होदि' ध्याने अव्याक्षिप्तचित्तो भवति ॥४४७॥

दोषान्तरमप्याचष्टे–अगृहीतार्थसकाशे वसतः क्षपकस्य—

संसारसागरम्मि य णंते बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ।
संसरमाणो जीवो दुक्खेण लहइ मणुस्सत्तं ॥ ४४८ ॥

'संसारसागरम्मि य' ससार. सागर इव तस्मिन्ससारसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमान. संसार-सागर । तत्र द्रव्यससारो नाम शरीरद्रव्यस्य ग्रहणमोक्षणाभ्यावृत्तिरसकृत् । तद्यथा—प्रथमाया पृथिव्या सप्त-धनूषि त्रयो हस्ता षडङ्गुलाधिका प्रमाण नारकाणा शरीरस्य । अधोऽधस्तद्द्विगुणोच्छ्रयता यावत्पञ्चधनु-शतानि । एवविकल्पेषु शरीरेपु एकैकं शरीरमनन्तवार गृहीतमतीते काले भव्याना तु भाविनि काले भाज्य-मनन्तवारग्रहण । अभव्याना तु भविष्यति कालेऽप्यनन्तानि तथाविधानि शरीराणि । एष द्रव्यससार स्थूलत ।

नष्ट करनेमे समर्थ प्रासुकद्रव्योको देना जानते हैं। तथा बात पित्त कफका प्रकोप होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जानते हैं ॥४४६॥

गा०—अथवा वह आचार्य क्षपकको शास्त्रोपदेशरूपी पेय और अनुशासनरूप भोजन देते हैं। उस पान और भोजनसे भूख और प्याससे पीड़ित भी क्षपक ध्यानमे एकाग्रचित्त होता है ॥४४७॥

अल्पज्ञानी आचार्यके पास रहने वाले क्षपकके अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—बहुत तीव्र दु ख रूपी जलसे भरे अनन्त संसार रूपी सागरमे संसरण करता हुआ जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४४८॥

टी०—ससारके पाँच प्रकार हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव ससार और भाव संसार। शरीर द्रव्यका बार-बार ग्रहण और त्याग द्रव्य संसार है। प्रथम नरकमे नारकियों-के शरीरका प्रमाण सात धनुष, तीन हाथ छह अंगुल है। नीचे-नीचेके नरकोमे उसकी दुगुनी ऊँचाई होते होते अन्तमे पाँच सौ धनुष ऊँचाई है। इस प्रकारके भेद वाले शरीरोमे जीवोने अतीत कालमें एक-एक शरीर अनन्त बार ग्रहण किया। भविष्य कालमे भव्य जीवोंका अनन्तबार ग्रहण करना भाज्य है अर्थात् जो मुक्त हो जायेंगे वे अनन्त बार ग्रहण नहीं कर सकेंगे, शेष कर सकेंगे। किन्तु अभव्य जीव तो भविष्य कालमें भी उन शरीरोंको अनन्त बार ग्रहण करेंगे। यह द्रव्य संसारका कथन स्थूलरूपसे है।

क्षेत्रससार उच्यते—सीमन्तकादीनि अप्रतिष्ठान्तानि चतुरशीतिनरकशतसहस्राणि। तत्रैकैकस्मिन् नरके अनन्ता जन्ममरणयोर्वृत्तिरतीते काले। भविष्यति तु भाज्या भव्यान्प्रति। अभव्याना तु भविष्यत्यप्यनन्ताः।

कालससार उच्यते—उत्सर्पिण्या कस्याश्चित्प्रथमसमये प्रथमनरके उत्पन्नो, मृत्वान्यत्रोत्पन्न, पुन कदाचिदुत्सर्पिण्या द्वितीयादिसमये उत्पन्न एव तृतीयादिसमयेषु। एव उत्सर्पिणी समाप्ति नीता। तथा अवसर्पिण्या अपि। एवमितरेष्वपि नरकेषु। एवमुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालयोरनन्तवृत्ति। भवससार उच्यते—

प्रथमाया पृथिव्या दशवर्षसहस्रायुर्जात पुन समयेनैकैकेन अधिकानि दशवर्षसहस्राणि। एव द्विसमयाद्यधिकक्रमेण सागरोपमपर्यंतमायु समाप्ति नीतम्। द्वितीयाया समयाधिक सागरोपमादि कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमत्रयपरिसमाप्ति.। तृतीयाया समयाधिक त्रिसागरोपमादिक कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमसप्तकपरिसमाप्ति। चतुर्थ्या समयाधिकसप्तसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्ति। पञ्चम्या समयाधिकदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्ति। षष्ठ्या समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्द्वाविंशतिसागरोपमपरिसमाप्ति। सप्तम्या समयाधिकद्वाविंशतिसागरोपमादारभ्य यावत्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिसमाप्ति। एवमेतेष्वायुर्विकल्पेषु परावृत्ति भवससार।

क्षेत्र ससार कहते है—प्रथम नरकके सीमन्तकसे लेकर सातवे नरकके अप्रतिष्ठ विले पर्यन्त चौरासी लाख विले है। उनमेसे एक-एक विलेमे अतीत कालमे अनन्त बार जन्म मरण जीवोने किया है। भविष्यमे भव्य जीवोका अनन्त बार जन्म मरण भाज्य है। अभव्य जीवोका तो भविष्यमे भी अनन्त जन्म मरण होंगे।

काल ससार कहते है—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमे प्रथम नरकमे जीव उत्पन्न हुआ। मरने पर अन्यत्र उत्पन्न हुआ। फिर कभी उत्सर्पिणीके दूसरे आदि समयमे उत्पन्न हुआ। इसी तरह तीसरे आदि समयोमे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उत्सर्पिणी कालके सब समयोमे जन्म लेकर उत्सर्पिणी समाप्त की। इसी प्रकार अवसर्पिणी भी समाप्त की। इस तरह अन्य नरकोमे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमे अनन्त बार जन्मा मरा।

भव ससार कहते है—प्रथम नरकमे दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा। पुन. एक एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा। ऐसा करते करते क्रमसे एक सागर प्रमाण आयु पूर्ण की। फिर दूसरे नरकमे एक समय अधिक एक सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ मरा। इस तरह एक एक समय बढाते हुए तीन सागर प्रमाण आयु पूर्ण की। तीसरे नरकमे एक समय अधिक तीन सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और एक एक समय बढाते हुए सात सागरकी आयु पूर्ण की। फिर चतुर्थ नरकमे एक समय अधिक सात सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा। फिर एक एक समय बढाते बढाते दस सागरकी आयु पूर्ण की। फिर पाँचवे नरकमे एक समय अधिक दस सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा। फिर एक एक समय बढाते बढाते सतरह सागरकी आयु पूर्ण की। फिर छठे नरकमे एक समय अधिक सतरह सागरसे लेकर एक एक समय बढाते-बढाते बाईस सागरकी आयु पूर्ण की। फिर सातवेमे एक समय अधिक बाईस सागरसे लेकर तैतीस सागरकी आयु पूर्ण की' इस प्रकार इन आयुके विकल्पोंके परावर्तनको भव संसार कहते है।

भावसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिगम्य इति नेह प्रतन्यते । एवंभूते संसारसागरे अनन्ते । **बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि**' शारीरं, आगन्तुक, मानसं, स्वाभाविकमिति विकल्पेन बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन् तस्मिन् संसरमाणो परिवर्तमानः । जीवो '**दुक्खेण**' कष्टेन । '**लभइ**' लभते । किं '**मणुस्सत्त**'; मनुष्यत्वं । मनुष्यक्षेत्रस्याल्पत्वात् सर्वजगति तिरश्चामुत्पत्तेर्मनुजतानिर्वर्तकाना कर्मणा कारणभूता ये परिणामास्तेषा दुर्लभत्वाच्च । के ते परिणामा इत्यत्रोच्यते—

सर्व एव हि जीवपरिणामा मिथ्यात्वासंयमकषायाख्यास्त्रिप्रकारा भवन्ति । तीव्रो मध्यमो मन्द इति । कुत कर्मनिमित्ता हि मिथ्यात्वादय कर्माणि च तीव्रमध्यममन्दानुभवविशिष्टानि । तेन कारणभेदत कार्याणा परिणामाना विचित्रता । तत्र ये हिंसादय परिणामा मध्यमास्ते मनुजगतिनिर्वर्तका वालिकाराज्या, दारुणा, गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समाना यथासख्येन क्रोधमानमायालोभा परिणामा । जीवघात कृत्वा हा दुष्कृतं, यथा दु ख मरणं वास्माकं अप्रिय तथा सर्वजीवाना । अहिंसा शोभना वय तु असमर्था हिंसादिक परिहर्तुमिति च परिणाम । मृषा परदोषसूचनं[1], परगुणानामसहनं वञ्चनं वाऽसज्जनाचार । साधूनामयोग्यवचने दुर्व्यापारे च प्रवृत्ताना का नाम साधुतास्माकमिति परिणाम । तथा शस्त्रप्रहारादप्यनर्थं परद्रव्यापहरण, द्रव्यविनाशो हि सकलकुटुम्बविनाशो । नेतरत्र तस्माद्दुष्टं[2] कृत परधनहरणमिति परिणाम । परदारादिलङ्घनमस्माभि कृत तदतीवाशोभन । यथास्मद्दारागणा परैर्ग्रहणे दु खमात्मसाक्षिक तद्वत्तेषामिति परिणाम । यथा गङ्गादिमहानदीना अनवरतप्रवेशेऽपि न तृप्ति सागरस्यैव द्रविणेनापि जीवस्य सन्तोषो नास्तीति परि-

---

भाव ससारको तो सभी सुखपूर्वक जान लेते हैं। अत यहाँ उसका विस्तार नही किया। इस प्रकारके अनन्त ससार सागरमे मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है। क्योकि मनुष्य क्षेत्र अल्प है। तिर्यञ्च तो सब जगत्मे उत्पन्न होते हैं। मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेके कारणभूत जो परिणाम हैं वे दुर्लभ है। वे परिणाम कौनसे हैं यह कहते हैं—मिथ्यात्व असंयम और कषाय रूप सभी जीव परिणाम तीन प्रकारके है—तीव्र, मध्यम, मन्द, क्योकि मिथ्यात्व आदि परिणाम कर्मके निमित्तसे होते है और कर्म तीव्र मन्द और मध्यम अनुभाग शक्तिसे युक्त होते है। अतः कारणके भेदसे उनके कार्य परिणामोंमे भी विचित्रता होती है। उनमेसे जो हिंसा आदि रूप परिणाम मध्यम होते है वे मनुष्य गतिके कारण होते है। ऐसे परिणाम है बालूकी लकीरके समान क्रोध, लकडीके समान मान, गोमूत्रिकाके समान माया और कीचडके रागके समान लोभ। जीवघात करके पछताना, हा बुरा किया। जैसे दु ख और मरण हमे अप्रिय हैं उस तरह सभी जीवोको अप्रिय है। अहिंसा उत्तम है किन्तु हमलोग हिंसा आदिको त्यागनेमे असमर्थ है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण है। दूसरेको झूंठा दोष लगाना, दूसरेके गुणोको न सहना, ठगना ये दुर्जनोके आचार है। साधुओंके अयोग्य वचन और खोटे व्यापारमे लगे हम लोगोमे साधुता कैसे सभव है इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण है। दूसरेके द्रव्यका हरण करना शस्त्र प्रहारसे भी बुरा है। द्रव्यका विनाश समस्त कुटुम्बका विनाश है। इसलिए दूसरेका धन हरना खोटा काम है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं। हमने जो परस्त्री आदिका सेवन किया यह बुरा किया। जैसे हमारी स्त्रियोको दूसरे पकडे तो हमें दुःख होता है उसी तरह दूसरोको भी होता है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्य गतिके कारण हैं। जैसे गंगा आदि महा नदियोके द्वारा रात दिन जल आने पर भी सागरकी तृप्ति नही होती, इसी तरह धनसे भी जीवोंको सन्तोष नही होता।

---

१. दोषस्तवनं—आ०। २ दुद्दुष्ट—आ०।

णामः । एवमादिपरिणामानामसुलभता अनुभवसिद्धैव । इत्थ दुर्लभमनुजत्वं साधुवदने परुषमिव वच । घर्मरश्मिमण्डले तम इव, चण्डकोपे दयेव, लुब्धे सत्यवचनमिव, मानिनि परगुणस्तवनमिव, वामलोचनाया- मार्जवमिव, खलेषूपकारज्ञतेव, आप्ताभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव । तह चेव मनुजत्वमिव । 'देसकुलरूवमा- रोग्गमाउगं बुद्धी' देश , कुलं, रूपं, आरोग्य, आयुर्बुद्धिश्च । 'सवणं गहणं सद्धा य' संजमो श्रवणं, ग्रहणं श्रद्धा संयमश्चेत्येते 'दुल्लहा' दुर्लभा लोके । तत्र देशदुर्लभतोच्यते । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वीपजाः सम्मूर्च्छिमा इति चतु प्रकारा मनुजा । पञ्च भरता , पञ्चैरावताः, पञ्च विदेहा इति पञ्चदशकर्मभूमय । पञ्च हैमवतवर्षा , पञ्च हरिवर्षा , पञ्च देवकुरवः, पञ्च उत्तरकुरव , पञ्च रम्यका , पञ्च हैरण्यवतवर्षाः त्रिंशद्भोगभूमयः । लवणकालोदधिसमुद्रयोरन्तरद्वीपा । चक्रिस्कन्धावारप्रस्रवोच्चारभूमय. शुक्रसिंहाणकश्लेष्म- कर्णदन्तमलानि चाङ्गुलासख्यातभागमात्रशरीराणा सम्मूर्च्छिमाना जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमन्तरद्वीप च परिहृत्य कर्मभूमिषूत्पत्तिर्दुर्लभा । कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकपारसीकादिदेशपरिहारेण अङ्गवङ्गमगधादिदेशेषु उत्पत्ति । लब्धेऽपि देशे चाण्डालादिकुलपरिहारेण तपोयोग्ये कुले जातौ । जातिर्मातृवश । सुकुल कथ दुर्लभ इति चेदत्रोच्यते । जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तपो, बलं वा प्राप्य अगर्वितत्वं अन्येऽप्येतैर्गुणैरधिका स्वबुद्धचानमन, परानवज्ञाकरण, गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्ति , परेण पृष्टस्यापि अन्यदोषाकथन, आत्मगुणस्यास्तवन, इत्येतै परिणामै उच्चैर्गोत्र कर्म आपाद्यते तेन कुलेषु पूज्येषु जायते जन्तुरय पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमति । किंत्वेतद्विपरीतेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव बध्नाति असकृत्तेन पूज्य कुल दुर्लभ । उक्त च—

इस प्रकारके परिणामोकी दुर्लभता अनुभवसे सिद्ध है । इस प्रकार मनुष्य जन्म वैसे ही दुर्लभ है जैसे साधुके मुखमे कठोर वचन, सूर्यमण्डलमे अन्धकार, प्रचण्ड क्रोधीमे दया, लोभीमे सत्यवचन, मानीमे दूसरेके गुणोका स्तवन, स्त्रीमे सरलता, दुर्जनोमे उपकारको स्वीकृति, आप्ताभासोके मतों में वस्तु तत्त्वका ज्ञान दुर्लभ है । देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, ग्रहण, श्रवण और सयम ये लोकमे उत्तरोत्तर दुर्लभ है ।

उनमेसे देशकी दुर्लभता कहते हैं—मनुष्य चार प्रकारके है—कर्मभूमिया, भोगभूमिया, अन्तर्द्वीपज और सम्मूर्छिम । पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमिया हैं । पाँच हैमवत वर्ष, पाँच हरिवर्ष, पाँच उत्तरकुरु, पाँच देवकुरु, पाँच रम्यक, पाँच हैरण्यवत, ये तीस भोगभूमियाँ है । लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रमे अन्तर्द्वीप हैं । चक्रवर्तीकी सेनाके निवास- स्थानकी मलमूत्र त्यागनेकी भूमियाँ, वीर्य, नाक, थूक, कान और दाँतका मैल, ये अगुलके असंख्यात भाग शरीरवाले सम्मूर्छन जीवोके जन्मस्थान है । उनमेसे भोगभूमि और अन्तरद्वीपको छोड कर्मभूमियोमे उत्पत्ति दुर्लभ है । कर्मभूमियोमे बर्बर, चिलातक, पारसीक आदि देशोंको छोड अग, बग, मगध आदि देशोमे उत्पत्ति दुर्लभ है । योग्य देश मिलनेपर भी चाण्डाल आदि कुलोको छोड तपके योग्य कुल जाति मिलना दुर्लभ है । मातृवशको जाति कहते हैं ।

शङ्का—सुकुल कैसे दुर्लभ है ?

समाधान—जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप और बलको पाकर अन्य भी इन गुणोंसे अधिक है ऐसा अपनी बुद्धिसे मानकर गर्व न करना, दूसरोंकी अवज्ञा न करना, अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हों उनसे नम्र व्यवहार करना, दूसरेके पूछनेपर भी किसीके दोष न कहना, अपने गुणोंकी प्रशसा न करना, इस प्रकारके परिणामोसे उच्चगोत्रका बन्ध होता है । उससे पूज्य कुलोमे जन्म होता है । किन्तु यह अज्ञानी जीव उस प्रकारकी प्रवृत्ति नही करता, बल्कि उक्त

जात्या मत्तो यः कुलाद्वापि रूपादैश्वर्याद्वा ज्ञानतो वा बलाद्वा ।
प्राप्यार्थं वा यस्तपो वा परेषु निन्दायुक्तः स्तौति चात्मानमेव ॥ १ ॥
अन्यावज्ञानादरातिक्रमाणां कर्ता मानं योऽतिमात्रं बिभर्ति ।
नीचैर्गोत्रं नाम कर्मैव बाल्याद्बध्नात्युग्रं निन्दितं जन्मवासे ॥ २ ॥
यस्तु प्राप्याप्युत्तमत्वं कुलाद्यैरन्यानुद्बुद्धया मन्यमानो विशिष्टान् ।
अन्यान्कांश्चिन्नावजानाति धीरान्नीचैर्वृत्त्या युज्यते चाधिकेषु ॥ ३ ॥
पृष्टोऽप्यन्यैर्नान्यदोषान्ब्रवीति नात्मानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः ।
उच्चैर्गोत्रं नाम कर्मैव धीमान् बध्नातीष्टं जन्मवासे प्रजानाम् ॥ ४ ॥ इति । [ ]

नीरोगतापि दुर्लभा, असकृदसद्वेद्यकर्मबन्धनात् । बन्धाच्छेदात्ताडनान्मारणाद्दाहाद्रोधाच्चासद्वेद्यमेव बध्नाति । तथा चाभ्यधायि—

अन्येषां यो दुःखमज्ञोऽनुकम्पां त्यक्त्वा तीव्रं तीव्रसंक्लेशयुक्तः ।
बन्धच्छेदैस्ताडनैर्मारणैश्च दाहै रोधैश्चापि नित्यं करोति ॥
सौख्यं काङ्क्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सदैव ।
पश्चात्तापं तापितो यः प्रयाति बध्नात्येषोऽसातवेद्यं सदैवम् ॥ इति । [ ]

रोगाभिभवान्नष्टबुद्धिचेष्ट कथमिव हितोद्योगं कुर्यात् ।

तथा चाभाणि—

प्राप्नोत्युपात्ताविह जीवतोऽपि महाभय रोगमहाशनिभ्यः ।
यथाशनिः खान्निपतत्यबुद्धो रोगस्तथागत्य निहन्ति देहम् ॥ १ ॥

परिणामोंसे विपरीत परिणाम करके बार-बार नीचगोत्रका बन्ध करता है इससे पूज्य कुल दुर्लभ है । कहा है—

जो जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान या बलका मद करता है, धन अथवा तपको प्राप्त करके दूसरोको निन्दा और अपनी प्रशसा करता है, अन्यकी अवज्ञा, अनादर और तिरस्कार करके खूब घमण्ड करता है वह बचपनसे ही नीचगोत्र नामक कर्मका बन्ध करके नीचकुलमे जन्म लेता है। और जो उत्तमकुल आदि प्राप्त करके दूसरोको अपनेसे विशिष्ट मानता है, किसीकी भी अवज्ञा नही करता। अपनेसे अधिकोंमे नम्रव्यवहार करता है। पूछनेपर भी दूसरोंके दोष नही कहता और अपनी प्रशंसा नहीं करता। वह मानरहित व्यक्ति उच्चगोत्रका बन्ध करता है जो जनताको इष्ट है।

नीरोगता भी दुर्लभ है क्योकि जीव निरन्तर असातावेदनीयकर्मका बन्ध करता है। बन्धन, छेदन, ताडन, मारण, दाह, और रोगसे असातावेदनीय ही कर्म बँधता है। कहा है— जो अज्ञानी तीव्र सक्लेशसे युक्त हो, दया त्याग दूसरोको बन्धन, छेदन, ताडन, मारण, दाह और रोधसे नित्य तीव्र दु ख देता है, जो दुष्टचित्त नीच पुरुष अपनेको सुख चाहता हुआ सदैव नीचकर्म करता है और सताये हुएसे सताये जानेपर पछताता है वह सदैव असातवेदनीयको बाँधता है।

रोगसे ग्रस्त होनेपर उसकी बुद्धि और चेष्टा नष्ट हो जाती है तब वह कैसे अपने हितका उद्योग कर सकता है ? कहा है—

इस लोकमें जीवन प्राप्त करके भी वह रोगरूपी महान् वज्रपातसे महाभयग्रस्त रहता

बलायुषी रूपगुणाश्च तावद्यावन्न रोगः समुपैति देहम् ।
फलस्य[1] लग्नस्य हि जातु तस्योस्तावन्न पातः श्वसनो न यावत् ॥
तस्मिन्स्ववेहे परिबाध्यमाने श्रेयः प्रकर्तुं न सुखेन शक्यम् ।
गृहे समन्तान्न हि वह्यमाने शक्तः प्रकर्तुं पुरुषोऽत्र किंचित् ॥ इति । [ ]

सदा परप्राणिघातोद्यतस्तदीयप्रियतमजीवितविनाशनात् प्रायेणाल्पायुरेव भवति । आयुषश्छेदने बहूनि निमित्तानि—जल, ज्वलन, मारुत, सर्पा, वृश्चिका, रोगा, उच्छ्वासनिश्वासनिरोध, आहारालाभ, वेदनेत्येवमादीनि । ततो दीर्घमायुर्न सुलभं मनुजभवे । सामान्यवचनोऽप्यायु शब्द दीर्घे मनुजायुषि वर्तमानो गृहीतोऽन्यथायुर्मात्रस्य संसारिण सुलभत्वात् । लब्धेष्वपि देशादिषु बुद्धिर्दुर्लभा । परलोकान्वेषणपरा बुद्धिरत्र बुद्धिशब्देनोच्यते न ज्ञानमात्रवाची । तद्धि सुलभ ज्ञानावरणेनावरुद्धबोधवीर्यस्य जलधर[2]घटावरुद्धमण्डलस्य छायामान्द्यमिव दिनपतेरवि वेदक भवति ज्ञानम् । किंचिन्मिथ्यात्वोदयाद्विपर्यस्तमुदेति विज्ञान । नैवात्मा नाम कश्चित्कर्ता शुभाशुभयो कर्मणो । नापि तत्फलानुभवनिरत, नापि परलोक प्राप्य कर्मवशवर्तिना कश्चिदिति । तथाप्यधायि—

लोको नायं नापरो नापि चात्मा धर्माधर्मौ पुण्यपापे न चापि ।
स्वर्गो दृष्टः केन केनाथवा ते घोरा दृष्टा नारकाणां निवासाः ॥
बन्धः को वा कोऽथवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्वं यन्त्रजेयं निरर्था ।
प्राप्ताः कामाः सेवितव्या यथेष्टं दृष्टं त्यक्त्वा दूरगे कोऽभिलाष ॥ [ ]

है । जैसे आकाशसे अचानक वज्रपात होता है वैसे रोग अचानक आकर शरीरका घात करता है । बल, आयु, रूपादिगुण तभी तक है जब तक शरीरमे रोग नही होता । पेड़की डालमें लगा फल तभी तक नही गिरता जब तक हवा नही चलती । उसे अपने शरीरमे पीडा होने पर सुखपूर्वक कल्याण करना शक्य नही है । घरके चारो ओरसे न जलने पर ही पुरुष कुछ कर सकता है । घर भस्म हो जाने पर कुछ नही कर सकता ।

जो सदा दूसरे प्राणियोंके घातमे तत्पर रहता है वह उनके प्रियतम जीवनका विनाश करनेसे प्राय अल्प आयु वाला होता है । आयुके नष्ट होनेके बहुतसे निमित्त है—जल, आग, वायु, साँप, बिच्छु, रोग, श्वासोच्छ्वासका रुकना, भोजनका न मिलना, वेदना आदि । अत. मनुष्य भवमे दीर्घ आयु सुलभ नही है । यह आयुशब्द सामान्य आयुका वाचक होने पर भी दीर्घ मनुष्यायुके अर्थमे ग्रहण किया है । अन्यथा आयु मात्र तो संसारी जीवोमे सुलभ है । देश आदि प्राप्त होने पर भी बुद्धिकी प्राप्ति दुर्लभ है । यहाँ बुद्धि शब्दसे परलोकको खोजमे तत्पर बुद्धि ग्रहण की है, ज्ञान मात्रको वाचक बुद्धि नही । ज्ञानमात्र तो सुलभ है । जैसे सूर्यमण्डलके मेघकी घटासे ढक जानेपर हलकी छाया रहती है वैसे ही ज्ञान शक्तिके ज्ञानावरणसे ढक जानेपर साधारण ज्ञान रहता है । मिथ्यात्वका उदय होनेसे ज्ञान विपरीत हो जाता है । यथा—आत्मा नही है न कोई शुभ अशुभ कर्मका कर्ता है और न कोई उसके फलका भोक्ता है । न कोई कर्मके परवश होकर परलोक जाता है । कहा है—

'न कोई इह लोक है, न कोई परलोक है । न आत्मा है, न धर्म अधर्म है, न पुण्य पाप हैं । किसने स्वर्ग देखा है और किसने वे भयानक नारकियोके निवास देखे है ? कौन बन्ध है और कौन

१ फलस्य शाखा गतवृन्ततन्तो । २, रपटाव–आ० । रपप्लाव–मु० ।

इति । तथा [1]चान्ये—द्वयष्टवर्षिका स्त्री विंशतिवार्षिकः पुमान् तयो परस्पर प्रेमपूर्वहावभावविभ्रमकटाक्षकिलिकिंचितादिभावपूर्वकः सयोग एव स्वर्ग. नान्यः ।

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं
एनां ये प्रविहाय यान्ति कुधियः स्वर्गापवर्गेच्छया ।
तद्दोषैर्विनिहत्य ते द्रुततरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥ [शृं० श० पृ० ४५]

तथान्यैरभिहित —जलबुद्‌बुदवज्जीवा , परलोकिनोऽभावात्परलोकाभाव इति च । सत्यामपि बुद्धौ समीचीनज्ञानलोचनवता, सकलप्राणिभृद्गोचरकृपापरिष्वक्तचेतसा लाभसत्कारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरिभ्रमणप्रभवयातनासहस्रमवलोक्य प्राणभृता परमामनुकम्पामुपगतेन हा जनो विचेतनः मिथ्यादर्शनाद्यशुभपरिणामकदम्बकमिदमस्माभिरशुभगतिनिर्वर्तनप्रवणमवहातव्यमित्य ज्ञानानस्तत्रैवासकृत्प्रवर्तमानो दु खरत्नाकरमपारमुपविशत्यशरणो वराक इति कृतसकल्पेन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभ । कुत. ? दर्शनमोहोदयाज्ज्ञानावरणोदयाच्च न यतिगुणान्वेत्ति श्रद्धत्ते वा जन । तत एव न ढौकते यतीन्म वा सुगुणमविदुषस्तदुसर्पणमुपपद्यते । अपि च चारित्रमोहोदयाद[2]सयतैरतिर्गतिनरा ाणिनस्ततोऽसौ हिंसादिक स्वय करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिषु

मोक्ष है । यह सब मिथ्या और व्यर्थकी यन्त्रणा है । जो काम भोग प्राप्त है उन्हे यथेष्ट सेवन करना चाहिए । सामने वर्तमानको छोड़ दूरवर्तीकी अभिलाषा क्यो ? ।'

तथा अन्य भी कहते हैं—सोलह वर्षकी स्त्री और बीस वर्षके पुरुषका परस्परमे प्रेमपूर्वक हाव भाव, विलास, कटाक्ष, शृङ्गारादि भावपूर्वक संयोग ही स्वर्ग है । इसके सिवाय कोई दूसरा स्वर्ग नही है । कहा है—'कामदेवको जीतनेवाली और समस्त अर्थ सम्पदाको करने वाली स्त्री मुद्रा है । जो कुबुद्धि स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे इसे छोडकर जाते हैं वे उसके दोषोसे सताये जाकर जल्द ही सिर मण्डाकर नग्न हो जाते है । कुछ लाल वस्त्र धारण करते है और कुछ जटाये वढाते हैं । कुछ हाथमे मनुष्यकी खोपडी लेकर कापालिक हो जाते हैं ।' तथा कुछ दूसरोने भी कहा है—जीव जलके बुलबुलेके समान है और जब कोई परलोकी आत्मा नही है तो परलोक भी नही है ।

यतिजनोका चित्त समस्त प्राणियो पर कृपा भावसे युक्त होता है, उन्हे लाभ सत्कार पुरस्कार आदिकी अपेक्षा नही होती । चार गतियोमें परिभ्रमणसे होनेवाली हजारो यातनाओको देखकर प्राणियोमें अत्यन्त दयालु हो उन्होने सकल्प किया—'हा, यह अज्ञानी जन--अशुभगतिमे ले जानेमे समर्थ यह मिथ्यादर्शन आदि अशुभ परिणामोका समूह हमे त्यागना चाहिए' ऐसा नही जानते और बार-बार उसीमे प्रवृत्ति करते हुए बेचारे अशरण होकर दु खके अपार समुद्रमे प्रवेश करते हैं ।' उनमें बुद्धि होते हुए भी यतिजनके साथ उनका सम्बन्ध नही हो पाता, क्योकि दर्शनमोहके उदय और ज्ञानावरणके उदयसे मनुष्य यतिजनोके गुण न तो जानता है और न उनपर श्रद्धा करता है । इसीसे न तो यतियोकी ओर देखता है और उनके गुणोको न जाननेसे उनके पास नही जाता । तथा चारित्र मोहका उदय होनेसे असंयमी जनोंके प्रति उसका अत्यधिक प्रेम होता है इससे वह प्राणियोंकी स्वय हिंसा करता है, दूसरोसे कराता है और कोई स्वय हिसा करता है तो

---

१ तथा चान्येरत आरभ्य स्त्रीमुद्रा इत्यादि श्लोक पर्यन्तं नास्ति आ० । २. सयतोऽतितरा–आ० मु० ।

वर्तमानेष्वेव रतिं बध्नाति न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु। विना रतिं कथं तैः संसर्गस्तत्सेवा वा। सा हि—

संसारोच्छेदकरी प्रशमकरी ज्ञानबुद्धिवृद्धिकरी।
कीर्तिकरी पुण्यकरी संसेवा साधुवर्गस्य ॥
दर्शनमात्रमपि सतां संसारोच्छेदने भवति बीजं।
किं पुनरधिकारकृता संसेवा साधुवर्गस्य ॥
तत्सेवा यदि न स्यान्न स्याद् ज्ञानागमो विना ज्ञानात्।
हितकर्मप्रतिपत्तिर्न स्यान्न स्यात्ततो मोक्षः ॥
साधूपसेवनं यदि पारपर्येण मोक्षमानयति।
हानिश्रमौ च नृणां कौ साधून्सेवमानानाम् ॥
श्रेयाः कथं न यतयो विबुधा श्रेयोर्थिना मनुष्येण।
अक्षयमिह[1] ये श्रेयो मुधाश्रितेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥
इति सततमपोह्यमानमोहाविहपरलोकहितैषिणा नरेण।
जगदधिकतपोविभूतियुक्ता यतिवृषभा विनयेन सेवितव्याः ॥

यदृच्छया जातेऽपि यतिजनसंसर्गे न गुणः न चेद्धितं शृणुयात्। यथा न वर्षस्य पात एव गुणो नरस्य अपि तु भुवि बीजवाप। तद्वच्छ्रवण गुणो यतिसमीपगमनेन। तदेव श्रवणं दुर्लभं कथयति। समीपमुपगतोऽपि निद्रायति।

समीपस्थाना वचो यत्किंचित् शृणोति, न रोचते, वा तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशन मोहोदयात्। न जानाति

उसकी अनुमोदना करता है। जो हिंसा आदिमे लगे रहते है उन्हीमे प्रेम करता है। जो हिंसासे बचनेमे तत्पर हैं उनमे उसकी प्रीति नही होती। बिना प्रीति हुए कैसे उनके साथ सम्बन्ध हो सकता है अथवा कैसे उनकी सेवा कर सकता है?

ऐसे यतिजनोंकी सेवा ससारका विनाश करती है, शान्ति प्रदान करती है, ज्ञान और बुद्धिको बढाती है, यश तथा पुण्यको लाती है।

सज्जनोका दर्शनमात्र भी ससारके विनाश करनेमे बीज होता है फिर साधुवर्गकी अधिकार पूर्वक की गई सम्यक् सेवा का तो कहना ही क्या है? यदि उनकी सेवा न की जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति नही हो सकती। ज्ञानके बिना हितकारी कर्मोंका ज्ञान नही होता और हितके ज्ञान बिना मोक्ष नही होता। यदि साधुजनोकी सेवा परम्परासे मोक्ष लाती है तो साधुओकी सेवा करनेवाले मनुष्योकी हानि और श्रम कैसे सम्भव है? कल्याणका इच्छुक ज्ञानी मनुष्य यतियोंका आश्रय क्यो न लेवे, जो निष्प्रयोजन भी आश्रय लेनेवालोको अक्षय कल्याण प्रदान करते है। इसलिए इस लोक और परलोकमें हित चाहने वाले मनुष्यको निरन्तर मान और मोहको त्यागकर जगत्मे अधिक तपकी विभूतिमे युक्त श्रेष्ठ यतियोकी विनयपूर्वक सेवा करनी चाहिए।

अचानक यतिजनोका ससर्ग होनेपर भी यदि उनसे हितकी बात न सुने तो कोई लाभ नही है। जैसे वर्षाके होनेसे ही मनुष्यका लाभ नही है किन्तु जमीनमे बीज बोने पर लाभ है। उसी तरह यतिजनके समागमका लाभ उनसे हितकी बात सुननेमे है। इस प्रकार आचार्य उपदेश सुननेको दुर्लभ कहते हैं। मनुष्य समीपमें जाकर भी सोता है। समीपमे स्थित जनोंके वचन

1 य महाश्रियो ये मुधा—आ०।

वा मतिमान्द्यादत एव तत्र नानुरागोऽस्य । अन्तरेण चानुरागं कथं श्रोतुमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

'साधूनां शिवगतिमार्गदेशकानां संप्राप्तो निलयमपि प्रमादवोषात् ।
आस्ते यो जनवचनानि तत्र शृण्वन् गत्वासौ ह्रदमपि पङ्क एव मग्नः ॥' इति [ ]

सत्यपि श्रवणे ग्रहण विज्ञानं तन्निरूपितस्यार्थस्य दुष्कर । सौक्ष्म्याज्जीवादिवस्तुतत्त्वस्य कदाचिदप्यश्रुतत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावाच्च । ज्ञाते धर्मतत्त्वे तत्र श्रद्धा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्म. अहिंसालक्षण , सत्याधिष्ठान , परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मक , नवविधब्रह्मचर्यगुप्त , परित्यक्ताशेषमूर्छ , विनयमूल , समीचीनज्ञानपुर सर , क्षमामार्दवार्जवसतोष[1]गुण., नरकवर्तनीवज्रार्गलभूत , तिर्यग्गतिलताकुठार , कठोराशनिर्दु खाचलशिखराणा, मोहमहामहीरुहोत्पाटनपटुमातरिश्वा जरादवानलशिखामुखप्रशमनमुखरो घनाघन , प्रावर्षक. प्रावृषेण्य , मरणहरिणविशसनचटुलश्चण्डपुण्डरीक', क्रूररोगोरगाणा विनतासुत:, सपत्सुरापगाया हिमाचल , य सेतुरगाधशोकपङ्कस्य, पिता सुभगताया , ऐश्वर्यरत्नानामाकर , कुयोनिवनविप्रनष्टाना पृथुलशिवपुर, इति श्रद्धान अतिदुर्लभ दर्शनमोहोदयात् । उपशमात् क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शनमोहस्य जातेऽपि श्रद्धाने सयमो दुर्लभतर प्रत्याख्यानावरणोदयात् । उक्तं च—

थोडा बहुत सुनता है किन्तु रुचते नही । अथवा मोहके उदयसे उनके धर्मके महत्त्वका प्रकाशन उसे नही रुचता । अथवा बुद्धिकी मन्दतासे समझता नही है । इसीसे उसका उस उपदेशमे अनुराग नही होता । और अनुरागके बिना सुननेका उत्साह कैसे हो सकता है । कहा है—'जो मोक्षमार्गके उपदेशक साधुओंके निवास स्थान पर जाकर भी प्रमादवश वहाँ लोगोकी बातचीत सुनता हुआ बैठता है वह तालाब पर जाकर भी कीचडमे ही फँस जाता है ।

उपदेश सुनकर भी उसमे कहे गये अर्थका ग्रहण, उसका ज्ञान कठिन है; क्योकि एक तो जीवादि वस्तु तत्त्व सूक्ष्म है, दूसरे पहले कभी सुना नही, तीसरे श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष नही है । धर्मतत्त्वको जानने पर भी उसमे श्रद्धा दुर्लभ है । वह यह जिन भगवानके द्वारा कहा गया धर्म अहिंसा रूप है, सत्य उसका आधार है, उसमे परद्रव्यका अपहरण त्यागना होता है, नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यसे वह रक्षित है, उसमे समस्त ममत्वभाव छोडना होता है । विनय उसका मूल है । समीचीन ज्ञानपूर्वक वह धर्म होता है । क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष उसके गुण है । नरकके मार्गके लिए वज्रकी साकल रूप है । तिर्यञ्चगतिरूपी बेलके लिए कुठार है । दु खरूप पर्वतोके शिखरोके लिए कठोर वज्र है । मोहरूपी महावृक्षको उखाडनेमें चतुर प्रचण्ड वायु है । जरारूपी जगलकी आगकी लपेटोको शान्त करनेके लिए वर्षाकालीन मेघ है । मृत्युरूपी हरिणका वध करनेके लिए प्रचण्ड बाघ है । क्रूर रोगरूपी सर्पोके लिए गरुड है । सम्पत्तिरूपी गगाकी उत्पत्तिके लिए हिमवान पर्वत है । गम्भीर शोक रूपी कीचड़से पार उतरनेके लिए पुल है । सौभाग्यका पिता है । ऐश्वर्य रूपी रत्नोकी खान है, कुयोनिरूपी वनमे भटकते हुए लोगोंके लिए विशाल मोक्ष नगर है ।' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शनमोहका उदय होनेसे अति दुर्लभ है । दर्शनमोहका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे श्रद्धान होनेपर भी प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेसे सयम उससे भी अधिक दुर्लभ है । कहा है—

---

१ गुणभूषण' आ० मु० ।

दुर्ज्ञेयो भवति नरेण तत्त्वधर्मो ज्ञात्वापि प्रयतनमत्र कष्टमेव ।
तज्ज्ञात्वा धृतिमुपलभ्य दृष्टतत्त्वः, सद्धर्मे क्षणमपि मा कृथाः प्रमादम् ॥
भूयस्त्वं सुकरतरोऽपि पापकार्यात् धर्मोऽभूत्क्षणमपि दुष्करो मनुष्ये ।
आश्चर्यं किमपि न चात्र सन्ति मूढाः स्यादेतद् ध्रुवमिह कर्मणां गुरुत्वम् ॥
काकिण्यामपि गणयन्गुणं महान्तं तद्धेतो श्रममतुलं करोति यत्नात् ।
न त्वज्ञ सुरमनुजर्द्धिमोक्षमूले सद्धर्मे हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥
यत्पापे भृशमहिते करोति चेष्टामालस्यं परमहिते च याति धर्मे ।
युक्त तद्यदि न तथा भवेत्पृथिव्यां संसारं ननु पुरुषः कथं लभेत ॥ इति । [ ]

एवमपि '**परंपरेण**' दुर्लभपरपरया । '**लद्धूण वि**' लब्ध्वापि । '**संयमं**' सजम । '**खवगो**' क्षपक । **कि न** '**लभेज्ज सुदिं**' न लभते श्रुति । '**सवेगकरीं**' ससारभयजननी । '**अबहुस्सुदसकासे**' अवहुश्रुतस्य सूरे पार्श्वे । तस्माच्छ्रुतवानाचार्य आश्रयणीय इति प्रस्तुतेन सबन्ध ॥

'**सम्मं सुदिमलभतो**' समीचीना श्रुतिमलभमान । कदा ? मरणकाले । '**अबहुस्सुदसगासे**' अबहुश्रुतस्य पार्श्वे । '**चिरमद्ध**' चिर काल । '**मुत्तिमुवगमित्तावि**' मुक्तिशब्देनात्र प्राणेन्द्रियविपयासयमत्याग परिगृह्यते । तेनायमर्थ —चिरप्रवर्तितसयमोऽपीति । '**परिवडदि**' प्रच्यवते । कुत ? सयमात् । सयमहानिकथनेन चारित्राराधनाया अभाव आख्यायते । सयमात्प्रच्यवने कथमिति चेत्—मनोज्ञानाममनोज्ञाना च विषयाणा सर्वत्र सदा च सानिध्यात् अभ्यन्तरकारणस्य कर्मणोऽपि रागद्वेपमोहपरिणामा प्रादुर्भवन्तीति ते दुर्निवारा इति वदन्ति ।

मनुष्यके द्वारा धर्मका तत्त्व जानना कठिन है । जानकर भी उसमे प्रयत्नशीलता कष्टकर है । उस धर्मको जानकर, तत्त्व दृष्टिसे सम्पन्न मनुष्यो धैर्य धारण करके समीचीन धर्मके विषयमें एक क्षणके लिए भी प्रमाद मत करो । पापकार्यमें अति सुकर होने पर भी यह धर्म मनुष्योको क्षणभरके लिए दुष्कर होता है । इसमे कोई आश्चर्य नही है । यह निश्चय ही कर्मोकी गुरुताका फल है । यह मनुष्य एक कौडीमे भी महान् गुण मानकर उसके लिए अतुल श्रम करता है । किन्तु अज्ञानी देव और मनुष्योकी ऋद्धिके मूल समीचीन धर्ममें अपने मनको भी स्थिर नही करता । अत्यन्त अहितकारी पापमे तो चेष्टा करता है और परमहितकारी धर्ममे आलस्य करता है । यह ठीक ही है । यदि ऐसा न होता तो पुरुष इस पृथिवी पर ससार कैसे पाता, कैसे सर्वत्र भ्रमण करता ।'

इस तरह उत्तरोत्तर दुर्लभ संयमको धारण करके भी क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पास ससारसे भयभीत करनेवाला उपदेश नही प्राप्त कर सकता । इसलिए शास्त्रज्ञ आचार्यका आश्रय लेना चाहिए, ऐसा प्रस्तुत कथनके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । अल्पज्ञानी आचार्यके पास समीचीन उपदेश न पाकर चिरकाल तक मुक्तिको—यहाँ मुक्तिशब्दसे प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमे असयमका त्याग लिया जाता है । अत उसका अर्थ होता है—सयमको धारण करके भी मरते समय सयमसे गिर जाता है । सयमकी हानि कहनेसे उसके चारित्र आराधनाका अभाव कहा है । संयमसे क्यो गिरता है । यह कहते हैं—

मनको प्रिय और अप्रिय लगनेवाले विषयोके सदा सर्वत्र समीप रहनेसे तथा अभ्यन्तर कारण कर्मका उदय होनेसे रागद्वेष और मोहरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं और वे दुर्निवार होते

'सक्कं वंसी छेत्तूं' अल्पवंश वंशीत्युच्यते गाढावलम्नता हि तत्र संभवति शक्यते वशी च्छेत्तु । **'तत्तो'** गुल्मात् **'उक्कट्टिदुं'** अवकृष्टुं । **'पुणो'** पश्चात् । **'दुक्खं'** दुष्करं । **'इय'** एवं । **'संजदस्स वि'** सयतस्यापि मन । **'विसएसु'** रूपादिविषय । **'उक्कट्टिदुं'** अपकृष्टु । **'दुक्खं'** दुष्करं । रागद्वेषेभ्यो व्यावर्तयितु अशक्य । एतदुक्तं भवति—रागद्वेषविजये यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसल्लेखनस्य क्षुदादिपरीषहैरुपद्रुत य मन्दवीर्य[1]स्य न श्रुतज्ञानप्रणिधानन्तच्चान्तरेण रागद्वेषयो:प्रवृत्तेर्न चारित्राधकता स्यात् । बहुश्रुत पुन यथास्य रागद्वेषौ न जायेत तथोपदिशति भोगनिर्वेजनी शरीरनिर्वेजनी वा कथामित्थ—

> **एकान्तदुःखं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्षु देवेषु च मानुषेषु ।**
> **क्वचित्कदाचिन्नु कथंचिदेव सौख्यस्य संज्ञात्र शरीरिणां स्यात् ॥ १ ॥**
> **एकेन जन्मस्वटताऽप्रमेयं शरीरिणा दुःखमवाप्यते यत् ।**
> **अनन्तभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखम् सर्वशरीरसंस्थं ॥ २ ॥**
> **तत्रैकजीवः सुखभागमेकं भजेत्कियन्तं जननार्णवेऽस्मिन् ।**
> **संचूर्यमाणः परितो वराको वनेऽतिभीतो हरिणो यथैकः ॥ ३ ॥**
> **भवेष्वनन्तेषु सुखे तथापि शरीरिणैकेन समापनीये ।**
> **एकप्रसूतौ यदवाप्यते तत्कियद्भवेत्तस्य विमृश्यमाणे ॥ ४ ॥**
> **अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु तावत्दुःखराशौ पतितं तदीयम् ।**
> **स्यात्तद्रसं स्वादुरसं यथाम्बु प्राप्याम्बुदानां लवणार्णवाम्बु ॥ ५ ॥**
> **यच्चाप्यदः सौख्यमितीष्यतेऽत्र पूर्वोत्थदुःखप्रतिकार एषः ।**
> **विना हि दुःखात्प्रथमप्रसूतात् न लक्ष्यते किंचन सौख्यमत्र ॥ ६ ॥**

हैं। जैसे बाँसका झुण्ड गाढरूपसे बृहद् रहता है उसमेसे छोटा बाँस तो खीचा जा सकता है। किन्तु पीछे उसको अलग करना बहुत कठिन है। उसी तरह सयमीका भी मन रूपादिविषयोमे फँसनेपर निकालना कठिन होता है अर्थात् रागद्वेषसे हटाना अशक्य होता है। कहनेका आशय यह है कि यद्यपि रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है फिर भी शरीरकी सल्लेखना करनेपर भूख आदिकी परीषहसे पीडित और मन्दशक्ति उस क्षपकके श्रुतज्ञानकी ओर उपयोग नही होता। और उसके विना रागद्वेषमे प्रवृत्ति होनेसे चारित्रकी आराधना नही होती। किन्तु बहुश्रुत आचार्य उसको रागद्वेष पैदा न हों इस प्रकारकी भोग और शरीरसे वैराग्य करानेवाली कथा इस प्रकार कहता है—

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोमे सर्वथा दुःख ही है। उनमे प्राणियोंको सुखकी सज्ञा कभी, कही किञ्चित् ही होती है। एक प्राणी नाना जन्मोमे भ्रमण करते हुए जो अपरिमित दुःख भोगता है उसका अनन्तभाग भी सब सुख सब शरीरोमे मिलकर भी नही होता। तब इस जन्म-रूपी समुद्रमे एक जीव उस सुखका कितना भाग भोगता है? जैसे वनम एक अत्यन्त डरा हुआ बेचारा हरिण सब ओरसे त्रस्त हुआ रहता है वैसी ही दशा जीवकी ससारमे है। अनन्तभवोमे एक प्राणी के द्वारा प्राप्त सुख की जब यह स्थिति है तो उसका विचार करनेपर एक जन्ममे जो सुख प्राप्त होता है वह कितना होगा। अत्यन्त अल्प भी यह सुख दुःखके समुद्रमें गिरकर दुःखरूप ही हो जाता है। जैसे मीठा भी मेघोंका पानी लवण समुद्रके जलमे पड़कर खारा हो जाता है। तथा उसमे जो सुखका आभास होता है वह सुख नही है किन्तु पहले उत्पन्न हुए दुःखका प्रतीकार है।

---

1. स्य श्रुतज्ञानप्रणिधानात्त–आ० ।

प्रपीयते ह्यम्बु तृषाप्रशान्त्यै क्षुन्नाशनायाशनमश्यते च ।
वेश्माम्बुवातातपवारणाय गुह्यप्रतिच्छादनमम्बरं च ॥ ७ ॥
शीतापनुत्प्रावरणं च दृष्ट शय्या च निद्राश्रमनोदनाय ।
यानानि चाध्वश्रमवारणार्थं स्नानं श्रमस्वेदमलापनुत्यै ॥ ८ ॥
स्थानश्रमस्यौषधमासनं च दुर्गन्धनाशाय च गन्धसेवा ।
वैरूप्यनाशाय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिबाधनाय ॥ ९ ॥
तथेह सर्वं परिचिन्त्यमानं भोगाभिधानं सुरमानुषाणाम् ।
दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भैषज्यसेवेव रुगर्द्दितस्य ॥१०॥
पित्तप्रकोपेन विदह्यमाने द्रव्याणि शीतानि निषेवमाणः ।
मन्येत भोगा इति तानि योऽज्ञ कुर्वीत सोऽन्नादिषु भोगसञ्ज्ञाः ॥११॥
यतश्च नैकान्तसुखप्रदानि द्रव्याणि तोयप्रभृतीनि लोके ।
अतश्च दुःखप्रतिकारबुद्धिं तेषु प्रकुर्यान्न तु भोगसंज्ञाम् ॥१२॥
क्षुधाभिभूतस्य हि यत्सुखाय तदेव तृप्तस्य विषायतेऽन्नम् ।
उष्णार्दितः काङ्क्षति यानि चेह तान्येव विद्वेषकराणि शीते ॥१३॥

किं च स्वचक्रविक्रमाक्रान्तदेवमानवविद्याधरचक्राणां निकटोपनिविष्टाक्षयनवनिधीनां, समधिगतचतुर्दशरत्नानां, चक्रलाञ्छनानां, दशाङ्गभोगानुभवचतुराणां तथा सुधाशनानामप्यनेकसमुद्रोपमजीविनां, अप्रच्यवप्रत्यग्रयौवनानां, सहजस्वेच्छानुसारिदिव्याभरणमाल्यवसनसम्पत्सौभाग्यस्कन्धेन मनोनयनवल्लभरूपप्रसूनोज्ज्वलेन

पहले हुए दुःखके बिना उसमे किञ्चित् भी सुख प्रतीत नही हो सकता। प्यासकी शान्तिके लिए पानी पिया जाता है और भूखकी शान्तिके भोजन किया जाता है। पानी, हवा और घामसे बचनेके लिए मकान होता है और गुह्यभागको ढकनेके लिए वस्त्र होता है। ठडसे बचनेके लिए ओढना होता है। निद्रा तथा थकान दूर करनेके लिए शय्या होती है। मार्गके श्रमसे बचनेके लिए सवारी होती है। थकान, पसीना और मल दूर करनेके लिए स्नान होता है। बैठनेके श्रमका इलाज आसन है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए सुगन्धका सेवन होता है। विरूपताको दूर करनेके लिए आभूषण पहने जाते है। अरतिको दूर करनेके लिए कलाएँ है। इस प्रकार विचार करने पर देव और मनुष्योके जो ये भोग है वे सब दुःखको दूर करनेमे ही निमित्त हैं। जैसे रोगसे पीड़ित रोगी औषधिका सेवन करता है। पित्तके प्रकोपसे शरीरके जलने पर जो शीत पदार्थोंके सेवनको भोग मानता है वही अज्ञानी अन्न आदिको भोग नामसे कहता है। किन्तु यतः लोकमे जल आदि पदार्थ एकान्तसे सुख देनेवाले नही हैं अतः उनको दुःखका प्रतीकार करनेवाला ही कहना चाहिए, भोग नामसे नही कहना चाहिए। जो अन्न भूखसे पीडितको सुख देता है वही अन्न पेटभरे व्यक्तिको विषके समान लगता है। गर्मीसे पीड़ित मनुष्य जिन पदार्थोंकी इच्छा करता है, शीतसे पीडित उन्हींसे द्वेष करता है।

तथा अपने चक्ररत्नसे देव, मनुष्य और विद्याधरोके समूहको वशमे करनेवाले, अक्षय नौ निधियोंके स्वामी और चौदह रत्नोसे सम्पन्न चक्रवर्तियों की, जो दस प्रकारके भोगोको भोगनेमे चतुर हैं, भोगोंसे तृप्ति नही होती। तथा अनेक सागरोकी आयुवाले अमृतभोजी देवोकी भी भोगोसे तृप्ति नही होती जो देवागनारूपी लताओके वनसे घिरे रहते हैं। वे देवांगना लताएँ भी कैसी हैं? जो जन्मजात अपने इच्छानुसार दिव्य आभरण, माला, वस्त्र सम्पदारूपी सौभाग्य

विलासपल्लवेन, सौकुमार्याङ्कुरेण दिगङ्गनामुखवासायमानसौरभेण विद्रुमाधरपल्लवेन, निबिडोन्नतवृत्तस्तनफलेन, मनोभवदक्षिणानिलप्रेरणान्दोलितेन, ललितभुजशाखाप्रतानेन, स्फुरत्तपनीयमयरशनावेदिकापरीतकामनीरभरितविशालजघनसरोविभूषणेन, मुखरनूपुरभ्रमरकृतकलकलेन देवकन्यालतावनेन परिवृतानामपि परैर्भोगैस्तृप्तिर्न किं पुनरितरमानवानां। अपि च तीव्रतरपुवेदोदयानलजनितचेतोविदाहाना नैवौषध वामलोचनासगम तापप्रकर्षानुबधत्वात्। रूपयौवनविलासचातुर्यसौभाग्यादीना प्रकर्षापकर्षरूपेणावस्थितत्वादङ्गनासु। तास्ता पश्यतोऽपि उत्कण्ठानुपरतमुपजायमाना विदाहमावहति दुर्वहं। तास्त्यक्त्वा चेम यान्ति मृति वा ढौकन्ते, परैर्बलिभिर्वापह्रियन्ते। स्वय वा दुर्विमोचतमपातकयमपाशेनाकृष्यमाणो विहाय तानि विवृतमुखो, निर्निमेषनयनो नितान्तरोदनाच्छादितलोहितलोचना जहाति। तासा तनवोऽपि स्फटिकमालेवोपाश्रितगुणग्राहिण्यः ताश्चास्थिररागा सध्यासमयजलदलेखेव दुर्लभाश्च। स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादींश्च लब्धानप्य[1]पहरन्ति बलिन इति महद्भय, न च ते[2]ऽर्पयन्ति। तदर्जनार्थ षट्कर्मसु प्रयतितव्य। तानि च संदिग्धफलानि बहुतरायासमूलानि हिंसादिसावद्यक्रियापरतन्त्राणि, दुर्गतिवर्धनानि इत्येवमात्मिका भोगनिर्वजनी। शरीरं पुनरिदमशुचिनिधान, आत्मनो महान् भार, न चात्रास्ति किंचित्सारभूत। सन्निहितानेकापाय व्याधिसस्याना क्षेत्र, जराडाकिनीपितृगृह। किं

स्कन्धवाली है, मन और नेत्रोको प्रिय रूप सौन्दर्यरूपी पुष्पोसे शोभित हैं, विलासरूपी पत्तोसे वेष्ठित है, सौकुमार्य उनका अंकुर है, दिशारूपी अगनाओंके मुखकी सुवास जैसी उनकी सुगन्ध है, मूँगेके समान उनके ओष्ठरूपी पल्लव है, घने ऊँचे गोल स्तनरूपी फल हैं, कामदेवरूपी दक्षिण वायुकी प्रेरणासे वे हिलती हैं, ललित भुजारूपी उनका शाखाविस्तार है, चमकदार सोनेकी करधनीरूपी वेदिकासे घिरे और कामजलसे भरे विशाल जघनरूपी सरोवरसे भूषित है, बजते हुए नूपुररूपी भौंरोकी गुंजारसे गुंजित हैं। ऐसी देवांगनाओंसे घिरे हुए देवोकी भी जब भोगोसे तृप्ति नही होती तब अन्य मनुष्योका तो कहना ही क्या है ? तथा जिनका चित्त तीव्रतर पुरुषवेदके उदयरूपी अग्निसे जल रहा है, स्त्रियोका संगम उनकी औषधी नहीं है। उससे तो उनका सन्ताप और भी अधिक बढेगा; क्योकि स्त्रियोमे रूप, यौवन, विलास, चतुरता, सौभाग्य आदि कमती बढती पाया जाता है। उन-उन स्त्रियोको देखकर निरन्तर उत्कण्ठा उत्पन्न होकर ऐसी दाह होती है जिसको सहना कठिन होता है। वे स्त्रियाँ पतिको छोडकर चली जाती है, या मर जाती हैं अथवा दूसरे बलवान् पुरुष उन्हे हर लेते है। अथवा जिससे छूटना किसी भी तरह सम्भव नही है उस मृत्युके फन्देसे खिचकर मनुष्य, मुँह खोले, आँखे पथराये हुए स्वय, अत्यन्त रुदन करनेसे लाल आख हुई स्त्रीको स्वय छोड़कर चला जाता है। उन स्त्रियोके शरीर भी स्फटिककी मालाकी तरह जो पासमे आता है उसीके गुणोको ग्रहण करनेवाले होते है। जैसे सन्ध्याकालीन मेघोका रंग अस्थिर होता है वैसे ही स्त्रियोका अनुराग भी अस्थिर होता है। तथा वे दुर्लभ होती हैं क्योकि स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदिको बलवान् हर लेते है और देते नही हैं। इस प्रकार बडा भय रहता है। स्त्रीकी प्राप्तिके लिए छह कर्मोको करना पड़ता है। उनका फल संदिग्ध होता है। उनके लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। तथा वे षट्कर्म हिंसा आदि सावद्य क्रियाके अधीन होते हैं उनमे हिंसा आदि होती है। अत वे दुर्गतिको बढ़ाते है। इत्यादि कथा भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न करती है। तथा यह शरीर अपवित्रताकी खान है, आत्माके लिए बड़ा भाररूप है। इसमे कुछ भी सार नही है इसके साथ अनेक संकट लगे हैं। व्याधिरूपी धानके

१ प्याहर–आ० मु०। २. तर्पयन्ति आ० मु०।

च मान्ये कुले जातो विशालकीर्तिः गुणवानपि प्रहीणविभवो नीचं कर्म, पुरो धावन, प्रेषणकरण, तदुच्छिष्ट-भोजनं वा करोति शरीरपोषणाय ।

> नान्तर्गतोऽथ न बहिर्न च तस्य मध्ये सारोऽस्ति येन मनसा परिगम्यमाणः ।
> तस्मिन्नसारजनकांक्षितकामसारे कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबुद्धसारः ॥
> वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च रोगैः सदा दुरितजैः प्रविमथ्यमानः ।
> देहोऽप्ययमेवमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति बहुधेति कुरुध्व धर्मं ॥
> संघातजं प्रशिथिलास्थि तदप्रगाढ स्नायुप्रबद्धमशुभं प्रगतं शिराभिः ।
> लिप्तं च मांसरुधिरोदककर्दमेन रोगाहतं स्पृशति को हि शरीरगेहं ॥ [ ]
> इत्येवमादिका शरीरनिर्वेजनी ।

गीदत्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुगा ।
ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती ॥४४९॥

'**गीदत्थपादमूले**' गृहीतार्थस्य बहुश्रुतस्य पादमूले । '**होंति बहुगा गुणा**' '**गीदत्थो पुण खवगस्स**' इत्येवमादिसूत्रपञ्चकनिर्दिष्टा । '**ण य होइ संकिलेसो**' नैव भवति संक्लेशः. '**ण चावि उप्पज्जइ विवत्ती**' न चोत्पद्यते विपद्रत्नत्रयस्य । तस्मादाधारवानाचार्य उपाश्रयणीय इत्युपसंहार इति आधारवं ॥४४९॥

व्यवहारवत्त्वनिरूपणायोत्तरगाथा—

लिए यह खेत है । जरारूपी डाकिनीके लिए श्मसान है । मान्यकुलमे जन्म लेकर विशाल यश अर्जन करके गुणी मनुष्य भी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर शरीर-पोषणके लिए नीचकर्म करता है, आगे-आगे दौड़ता है, मालिकका सन्देश ले जाता है उसका जूठा भाजन करता है । कहा है—

उस शरीरके अन्दर, बाहर और मध्यमे कोई सार नही है जिससे मन उसे स्वीकार करे । असारजनोके द्वारा पसन्द किये जानेवाला काम ही जिसमे सार है उस शरीरके सारको जाननेवाला कौन व्यक्ति अपना मन लगायेगा । यह शरीर वायुके प्रकोपसे उत्पन्न हुए और कफ तथा पित्तके प्रकोपसे और पापकर्मसे उत्पन्न हुए रोगोसे सदा मथा जाता है । इस तरह यह अति दुःख का निमित्त होता और नाशको प्राप्त होता है इसलिए धर्मका आचरण करो ।

यह शरीररूपी घर रज और वीर्यके मेलसे बना है । इसकी अस्थियाँ ढीली-ढाली हैं । स्नायुओसे बँधा है, अशुभ है, सिराओमे वेष्ठित है, माँस और रुधिररूपी कीचड तथा जलसे लीपा गया है । रोगोसे घिरा है इसे कौन छूना पसन्द करेगा ।

इत्यादि कथा शरीरसे वैराग्य उत्पन्न करती है ॥४४८॥

गीतार्थ अर्थात् बहुश्रुत आचार्यके पादमूलमे रहनेक 'गीदत्थो पुण खयगो' इत्यादि पाँच गाथासूत्रोमे कहे गये बहुत गुण-लाभ होते है । उस क्षपकके परिणामोमे संक्लेश नही होता और न रत्नत्रयको लेकर ही कोई विपत्ति आती है अर्थात् उसके रत्नत्रयका विनाश नही होता । अतः आधारवान् आचार्यका आश्रय लेना चाहिए । इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका कथन हुआ ॥४४९॥

आगे व्यवहारवत्त्वगुणका निरूपण करते है—

पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं ।
बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो ववहारवं होइ ॥४५०॥

'पंचविहं ववहारं' पञ्चप्रकार प्रायश्चित्त । **'जो जाणदि तच्चदो सवित्थारं'** यो जानाति तत्त्वत सविस्तर । **'बहुसो य दिट्ठकदपट्ठवणो'** बहुशश्च दृष्टकृतप्रस्थापन । आचार्याणां प्रायश्चित्तदान दृष्ट, स्वय चान्येषा दत्तप्रायश्चित्त । **'ववहारव होदि'** व्यवहारवान् भवति । पूर्वार्द्धेन प्रायश्चित्तज्ञानता दर्शिता, कर्मदर्शन कर्माभ्यासश्च प्रख्यापित । अशास्त्रज्ञो यत्किंचिद्ददात्यात्मनोऽभिलषित न तेन पर· शुद्ध्यति, शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्ट[1]कर्मांकर्मसु विषादमेति । ततो ज्ञान, कर्मदर्शन, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणा यस्य स व्यवहारवानित्युच्यते ॥४५०॥

क पञ्चविधो व्यवहार , को वा विस्तर इत्याशङ्कायां तदुभय निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणा य जीवो य हुंति ववहारा ।
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिद्दिट्ठा ॥४५१॥

'आगमसुद आणाधारणा य जीवो य हुंति ववहारा' आगम , श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीव इति व्यवहारा पञ्च । **'एदेसिं'** एतेषा आगमादीना । परूवणा कीदृशी ? **सवित्थारा'** विस्तारसहिता । **'सुत्तणिद्दिट्ठा'** सूत्रेषु चिरतनेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रान्तरे च निर्दिष्टत्वादिह नोच्यते ॥४५१॥ उक्त च—

सव्वेण वि जिणवयण सोदव्वं [2]सड्ढिदेण पुरिसेण ।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण सोदव्वो ॥ इति ॥ [ ]

गा०—जो पाँच प्रकारके व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्तको तत्त्वरूपसे विस्तारके साथ जानता है तथा जिनने अनेक आचार्योंका प्रायश्चित्त देना देखा है और स्वय भी दूसरोको प्रायश्चित्त दिया है वह आचार्य व्यवहारवान् होता है। गाथाके पूर्वार्द्धसे आचार्यका प्रायश्चित्तका ज्ञाता होना दर्शाया है तथा प्रायश्चित्तकर्मका दर्शन और प्रायश्चित्तकर्मका अभ्यास होना कहा है। जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता नही होता वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रायश्चित्त देता है किन्तु उससे दूसरेके दोषकी विशुद्धि नही होती। प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञाता होते हुए भी यदि उसने अन्य आचार्योको प्रायश्चित्त देते न देखा हो तो प्रायश्चित्त देते समय खेदखिन्न होता है। इसलिए प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान, प्रायश्चित्तकर्मका देखना तथा प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास ये तीन गुण जिसमे होते है उस आचार्यको व्यवहारवान् कहते है ॥४५०॥

पाँच प्रकारका व्यवहार कौन-सा है ? और उसका विस्तार क्या है? ऐसी आशका होनेपर दोनोको कहते हैं—

गा०—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीव ये पाँच प्रकारका व्यवहार है। इन आगम आदिका विस्तारसे कथन प्राचीन सूत्रोमे कहा है। प्रायश्चित्त सब जनोके आगे नही कहा जाता, तथा अन्य शास्त्रोमें उसका कथन है इसलिए यहाँ नही कहा। कहा है—'समस्त श्रद्धालु पुरुषोंको जिनागम सुनना चाहिए। किन्तु छेदशास्त्रका अर्थ सबको नही सुनाना चाहिए' ॥४५१॥

१. अदृष्ट कर्मसु—आ० । २ सुट्ठिदेण—आ० ।

व्यवहारवानसौ परालोचितापराधस्य कथं प्रायश्चित्तं ददातीत्याशङ्कायां प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणाय गाथाद्वयम्—

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ।
संघदणं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥४५२॥

'**दव्व खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं**' द्रव्यमित्यादीना विज्ञायेत्यनेन सबन्ध । तत्र द्रव्य त्रिविध सचित्तमचित्त मिश्रमिति । पृथिवी, आपस्तेजो वायु, प्रत्येककाया, त्रसाश्चेति सचित्तद्रव्यमित्युच्यते । तृणफलकादिकं जीवैरनुन्मिश्र अचित्त । ससक्त उपकरण मिश्र । एव त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना । वर्षासु क्रोशार्द्धगमनमिष्टं अर्धयोजन वा । ततोऽधिकक्षेत्रगमन क्षेत्रप्रतिसेवना । अथवा [1]प्रतिषिद्धक्षेत्रगमन, विरुद्धराज्य-

---

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी मूलाराधना टीकामे इनका अर्थ इस प्रकार किया है—ग्यारह अगोमे कहे गये प्रायश्चित्तको आगम कहते है। चौदह पूर्वोके कहेको श्रुत कहते है। अन्य स्थानमे स्थित अन्य आचार्यके द्वारा अन्य स्थानमे स्थित अन्य आचार्यके द्वारा आलोचित अपने गुरुके दोषको ज्येष्ठ शिष्यके हाथ भजना आज्ञा है। कोई एकाकी मुनि पैरोमे चलनेकी शक्ति न होनेसे दोष लगनेपर वही रहते हुए पूर्वनिश्चित प्रायश्चित्तको करना है यह धारणा है। बहत्तर पुरुषोके स्वरूपको लेकर वर्तमान आचार्योने जो शास्त्रमे कहा है वह जीत है। श्वेताम्बरीय आगमोमे भी व्यवहारके ये ही पाँच भेद किये है। आगमव्यवहारी छह है—केवलज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी और नौपूर्वी। शेष पूर्वधारी और ग्यारह अगके धारी श्रुतसे व्यवहार करते है। आगमव्यवहारी आगमसे ही व्यवहार करता है अन्यसे नही करता। यह भी चर्चा आती है कि केवलीका व्युच्छेद हो जानेपर चौदह पूर्वधरोका भी विच्छेद हो गया अत प्रायश्चित्तदायक न रहनेसे प्रायश्चित्तका विच्छेद हो गया। किन्तु इसका निराकरण किया है। जो व्यवहार एक बार प्रवृत्त हुआ, दुबारा और तिबारा प्रवृत्त हुआ उसे महाजनने स्वीकार किया। वही पाँचवाँ जीतकल्प व्यवहार है। जीत अर्थात् अवश्य ही कल्प-आचार जीतकल्प है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव, सहनन आदिकी हानिका लक्ष्मे रखकर दिया गया प्रायश्चित्त जीत है ॥४५१॥

वह व्यवहारवान् आचार्य दूसरेके आलोचित दोषका प्रायश्चित्त कैसे देता है ? ऐसी आशका किये जाने पर दो गाथासे प्रायश्चित्त देनेके क्रमका निरूपण करते है—

गा०—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रवज्याकाल, आगम और पुरुषको जानकर प्रायश्चित्त देते है ॥४५२॥

टी०—द्रव्यके तीन भेद है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। पृथिवी, जल, आग, वायु, प्रत्येककाय, अनन्तकाय और त्रस इन्हे सचित्त द्रव्य कहते है। जीवोसे रहित तृण, फलक आदि अचित्त द्रव्य है। जीवोसे सम्बद्ध उपकरण मिश्र है। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवनाके तीन भेद हैं। वर्षामे आधा कोस अथवा आधा योजन जाना सम्मत है। उससे अधिक क्षेत्रमे जाना क्षेत्र प्रति-

---

१. प्रतिद्वेष–आ०।

गमनं, छिन्नाध्वगमन, ततो रक्षणीयागमनं तस्यार्द्धो यदा क्रान्त.। उन्मार्गेण वा गमन। अन्त पुरप्रवेश। अननुज्ञातगृहभूमिगमन। इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा। आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरण वर्षाविग्रहातिक्रमः इत्यादिका कालप्रतिसेवना। दर्प:, प्रमाद:, अनाभोग, भयं, प्रदोष इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा। एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा अथवा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्द्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसबहुल, धान्यबहुल, शाकबहुल यवागूशाकमात्र वा पानकमेव वेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञान। प्रायश्चित्तमाचरत अनूपजागलसाधारणक्षेत्रपरिज्ञान। घर्मशीतसाधारणकालज्ञानं। क्षमामार्दवार्जवसतोषकादिक भावं क्रोधादिक वा। करणपरिणाम प्रायश्चित्तक्रियाया परिणाम। सहवासार्थं किमयं प्रायश्चित्ते प्रवृत्त उत यशोर्थं, लाभार्थमुत कर्मनिर्जरार्थं इति। '**उच्छाहं**' उत्साह। '**संघवणं**' शरीरबल। '**परियायं**' प्रव्रज्याकाल। '**आगमं**' अल्प श्रुतमस्य बहु वेति। **पुरिसं** [2]जादतरोभयातरंगो इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा ॥४५२॥

मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो ॥४५३॥

'**मोत्तूण**' त्यक्त्वा। '**रागदोसे**' राग द्वेष च मध्यस्थ सन्निति यावत्। '**ववहारं पट्ठवेदि सो तस्स**' प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्तस्मै। '**ववहारकरणकुसलो**' प्रायश्चित्तदानकुशल। '**जिणवयणविसारदो**' जिनप्रणीते आगमे निपुण। धीरो धृतिमान् ॥४५३॥

सेवना है। अथवा वर्जित क्षेत्रमे जाना, विरुद्ध राज्यमे जाना, कटे-टूटे मार्गसे जाना, ऐसे मार्गका आधा भाग जानेपर वहाँसे अरक्षणीय मानकर लौट आना अथवा उन्मार्गसे जाना, अन्त पुरमे प्रवेश करना, जहाँ जानेकी आज्ञा नही है ऐसी गृहभूमिमे जाना इत्यादिके द्वारा क्षेत्र प्रतिसेवना करना। आवश्यककालमे छह आवश्यक न करके अन्यकालमे करना, वर्षाकालके नियमका उल्लंघन करना, इत्यादि काल प्रतिसेवना है। घमण्ड, प्रमाद, अनाभोग, भय, प्रदोष आदि परिणामोमे प्रवृत्ति भाव सेवा है। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवना आदिके द्वारा अपराधका निदान जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। अथवा प्रकृतिके द्रव्यादिको जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। आहारके सम्बन्धमे ज्ञान होना द्रव्यपरिज्ञान है, रसबहुल—जिसमे रसकी अधिकता हो, धान्यबहुल—जिसमे अन्नकी अधिकता हो, शाकबहुल—जिसमे शाकसब्जीकी अधिकता हो, यवागू—हलवा लपसी, शाकमात्र अथवा पानकमात्र। आहारके साथ दोषीकी प्रकृति जानकर उसे आहार बतलाना चाहिये। प्रायश्चित्त देते समय क्षेत्रका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह क्षेत्र जलबहुल है या जलकी कमी वाला है अथवा साधारण है। कालका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह गर्मीके दिन हैं या शीतके दिन है अथवा साधारण हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि भाव है। अथवा क्रोधादि भाव है। करण परिणामका अर्थ है प्रायश्चित्त करनेके परिणाम। यह प्रायश्चित्त क्यो लेना चाहता है? क्या यह साथ रहनेके लिए प्रायश्चित्तमें प्रवृत्त हुआ है अथवा यश, लाभ या कर्मो की निर्जराके लिए प्रवृत्त हुआ है। उसका प्रायश्चित्तमे उत्साह कैसा है, शरीरमे बल कितना है, दीक्षा लिए कितना काल हुआ है, शास्त्रज्ञान थोड़ा है या बहुत है। और वैराग्यमें तत्पर है या नही ॥४५२॥

गा०—प्रायश्चित्त देनेमे कुशल और जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये आगममे निपुण धीर वह आचार्य रागद्वेषको त्याग अर्थात् मध्यस्थ होकर उसको प्रायश्चित्त देता है ॥४५३॥

२. जाद जाद तरो—आ०। जातादरो भयान्तरगो—मु०।

अज्ञात्वा प्रायश्चित्तग्रन्थं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरगाथया—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरंतो खु।
उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदियदि ॥४५४॥

'**ववहार अयाणंतो**' प्रायश्चित्त ग्रन्थतोऽर्थतश्च कर्मतश्चाविद्वान्। '**ववहरणिज्जं च**' व्यवह्रियते अतिचारविनाशार्थिनेति व्यवहरणीयमालोचनादिकं प्रायश्चित्तं इति नवधा। '**ववहरंतो**' प्रयच्छन्। **उस्सीयदि** अवसीदति। क्व? '**भवपंके**' संसारपङ्के। '**अजसं आदियदि**' अयशः तुण्डाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नायं परं शोधयति, संसारभीरुयतिजनं वृथैव क्लेशयति इति। '**कम्मं च आदियदि**' बध्नाति कर्म दर्शनमोहनीयाख्यं उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाच्च। तस्मादज्ञो न दद्यात्प्रायश्चित्तमिति सूत्रार्थः। आचार्याणामियं शिक्षा। वयमाचार्या यदस्माभिर्दत्तं तदिदं [1]कुर्वन्तीति यत्किंचन न वक्तव्यम्। श्रुतरहस्या प्रायश्चित्तदाने [2]ऽयदलमिति ॥४५४॥

जह ण करेदि तिगिंच्छं वाधिस्स तिगिंच्छओ अणिम्मादो।
ववहारमयाणंतो ण सोधिकामं वि सुज्झेइ ॥४५५॥

यदि नाम मुखरा मुग्धानेकशिष्यजनपरिवृतत्वमात्रेणोपजाताहंकारा मूर्खलोकेनादृता सन्ति सूरयस्ते भवद्भिः शुद्धयर्थं न ढौकनीया इति शिक्षयति— '**जह ण करेदि तिगिंच्छं**'–यथा न करोति चिकित्सां **वाहिस्स** व्याधेः। '**तिगिंच्छगो**' वैद्यो। '**अणिम्मादो**' अनिपुणः। '**तहा**' तथा। '**ववहारमजाणंतो**' प्रायश्चित्तमजानन्सूरिः। '**सोधिकामं**' रत्नत्रयशुद्ध्यभिलाषं। **ण सोधेदि** खु न शोधयत्येव ॥४५५॥

जो प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त देता है उसका दोष कहते हैं—

गा०–टी०—जो प्रायश्चित्त शास्त्रको ग्रन्थरूपसे, अर्थरूपसे और कर्मरूपसे नहीं जानता, तथा अतिचारके विनाशके इच्छुक मुनिके द्वारा जिसका व्यवहार किया जाता है वह व्यवहरणीय है। आलोचना आदि नौ प्रकारका प्रायश्चित्त, उसे जो देता है वह आचार्य संसाररूपी कीचड़में फँसकर दुःख उठाता है तथा अपयश पाता है। लोग कहते है यह तुण्डाचार्य है जो कुछ भी प्रायश्चित्त दे देता है, दूसरेके दोषकी विशुद्धि नहीं करता। संसारसे भीरु साधुओंको व्यर्थ ही कष्ट देता है। तथा उन्मार्गका उपदेश देनेसे और सन्मार्गका नाश करनेसे दर्शनमोहनीय नामक कर्मका बन्ध करता है। अतः अज्ञानीको प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिये यह इस गाथाका अभिप्राय है। यह आचार्योंकी शिक्षा है। हम आचार्य है। हमने जो प्रायश्चित्त दिया है उसे करो, इस प्रकार जो कुछ भी नहीं बोलना चाहिये। प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ही प्रायश्चित्त देनेमें समर्थ होते हैं ॥४५४॥

जो वाचाल आचार्य मूढ अनेक शिष्योंसे घिरे रहने मात्रसे गर्वित हैं और मूर्ख लोग जिनका आदर करते है, प्रायश्चित्तके लिए उनके पास नहीं जाना चाहिये यह शिक्षा देते हैं—

गा०—जैसे अनिपुण वैद्य व्याधिकी चिकित्सा नहीं करता, वैसे ही प्रायश्चित्तको न जाननेवाला आचार्य रत्नत्रयकी विशुद्धिके इच्छुकको शुद्ध नहीं करता ॥४५५॥

---

१. कुर्वितीति आ०। कुर्विति मु०। २. यतध्वमिति आ० मु०।

तम्हा णिव्विसिदव्वं ववहारविदो हु पादमूलम्मि ।
तत्थ हु विज्जा चरणं समाधि सोधी य णियमेण ।।४५६।।

'**तम्हा णिव्विसिदव्वं**' तस्मात्स्थातव्यं । '**ववहारववो खु**' व्यवहारवतः एव । '**पादमूलम्मि**' पादमूले । '**तत्थ खु**' तत्र व्यवहारवित्पादमूले । '**विज्जा**' विद्या ज्ञान भवति । '**चरणं समाधी य**' चारित्र समाधिश्च । '**सोधी य**' शुद्धिश्च । '**णियमेण**' निश्चयेन भवति । ववहारव ।।४५६।।

पगुव्वी एतद्व्याचष्टे—

जो णिक्खमणपवेसे सेज्जासंथारउवधिसंभोगे ।
ठाणणिसेज्जागासे अगदूण विकिंचणाहारे ।।४५७।।

'**जो णिक्खमणपवेसे**' यो य. सूरिः क्षपकस्य वसतेर्नि क्रमणे प्रवेशे वा । '**सेज्जासंथारउवधिसंभोगे**' वसते , सस्तरस्य, उपकरणस्य शोधने । '**ठाणणिसेज्जागासे**' स्थाने, निषद्यावकाशे, '**अगदूणविकिंचणाहारे**' शय्याया, शरीरमलाहरणे, भक्तपानढौकने च ।।४५७।।

अब्भुज्जदचरियाए उवकारमणुत्तरं वि कुव्वंतो ।
सव्वादरसत्तीए वट्टइ परमाए भत्तीए ।।४५८।।

'**अब्भुज्जदचरियाए**' क्षपकस्य अभ्युद्यतचर्यया '**उपकारं**' अनुग्रह हस्तावलम्बनादिकं । '**अणुत्तरं पकुव्वंतो**' उत्कृष्ट प्रकुर्वन् । '**सव्वादरसत्तीए**' सर्वादरशक्त्या । '**भत्तीए**' भक्त्या । '**परमाए**' उत्कृष्टया । '**वट्टदि**' वर्तते । स प्रकुर्वक सूरिर्भवति इति सबन्ध. ।।४५८।।

इय अप्पपरिस्सममगणित्ता खवयस्स सव्वपडिचरणे ।
वट्टंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ ।।४५९।।

'**इय**' एव । '**अप्पपरिस्समं**' आत्मपरिश्रम । '**अगणित्ता**' अपरिगणय्य । '**खवयस्स**' आराधकस्य । '**सव्वपडिचरणे**' सर्वशुश्रूषाया । '**वट्टंतो**' वर्तमान । '**आयरिओ**' आचार्य । '**पगुव्वगो णाम**' [1]प्रकारको नाम '**सो होदि**' स भवति । पकुव्वी गद ।।४५९।।

इसलिये क्षपकको प्रायश्चित्तके ज्ञाता आचार्यके पादमूलमे ही ठहरना चाहिये । उनके पादमूलमे रहनेसे ज्ञान, चारित्र, समाधि और शुद्धि निश्चयसे होती है ।।४५६।।

इस प्रकार व्यवहारवान्का कथन समाप्त हुआ। प्रकुर्वित्व गुणका कथन करते है—

गा०—जो आचार्य क्षपकके वसतिसे निकलने अथवा उसमे प्रवेश करनेमे, वसति संस्तर और उपकरणके शोधनमे, खड़े होने, बैठने, सोने, शरीरसे मल दूर करनेमे, खानपान लानेमें, इन पण्डितमरण सम्बन्धी चर्यामे समस्त आदर शक्तिसे और उत्कृष्ट भक्तिसे हस्तावलम्बन आदि द्वारा उत्कृष्ट उपकार करते हैं, वह आचार्य प्रकुर्वक होते है ।।४५७-४५८।।

गा०—इस प्रकार अपने श्रमको परवाह न करके जो आचार्य क्षपकको सब प्रकारसे सेवा करते हैं वह प्रकारक नामसे कहे जाते हैं ।।४५९।।

---

१. प्रकुर्वको मु० ।

क्षपकशिक्षापरा गाथा—

खवओ किलामिदंगो पडिचरयगुणेण णिव्वुदिं लहइ ।
तम्हा णिव्विसिदव्वं खवएण पकुव्वयसयासे ॥४६०॥

'**खवगो**' क्षपक । '**गिलामिवंगो**' ग्लानशरीर । '**पडिचरयगुणेण**' शुश्रूषागुणेनैव, '**णिव्वुदिं लहदि**' सुख लभते । यस्मात् । **तम्हा**—तस्मात् **णिव्विसिदव्वं**-निर्वेष्टव्य । '**खवगेण**' क्षपकेण । **पकुव्वयसयासे** विनयकारिण. समीपे । **पगुव्वीगवं** ॥४६०॥

आयोपायविदर्शीत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध —

खवयस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा हु ।
तम्हा छुहादिएहिं य खवयस्स विसोत्तिया होइ ॥४६१॥

'**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**तीरपत्तस्स वि**' तीर प्राप्तस्यापि । '**रागदोसा गुरुगा होंति**' रागद्वेषौ गुरू तीव्रौ भवत । '**तम्हा**' तस्मात् '**छुहाविएहिं य**' क्षुत्पिपासादिभि परीषहैश्च कारणभूतै । '**खवगस्स**' क्षपकस्य '**विसोत्तिगा होइ**' अशुभपरिणामो जायते ॥४६१॥

थोलाइदूण पुव्वं तप्पडिवक्खं पुणो वि आवण्णो ।
खवओ तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविदो ॥४६२॥

'**थोलाइदूण पुव्वं**' प्रव्रज्यादिक्रमेण तद्दिनपर्यवसान रत्नत्रयातिचार निवेदयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय । '**तप्पडिवक्खं**' तस्यापराधप्रत्याख्यापनस्य प्रतिपक्षेन निवेदन । '**आवण्णो**' आपन्न प्राप्तः । '**खवगो तं तह आलोचेउ लज्जेज्ज गारविगो**' क्षपकस्तमपराध तथा स्वाचरितक्रमेण गदितु जिन्हेति सभावनागुरुः ॥४६२॥

तो सो हीलणभीरू पूयाकामो ठवेणइत्तो य ।
णिज्जूहणभीरू वि य खवओ वि न दोसमालावे ॥४६३॥

'**तो**' पश्चात् । **सो**' क्षपक । '**हीलणभीरू**' ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवजानन्ति इति अवज्ञाभीरु ।

गा०—यत रोगसे ग्रस्त क्षपक आचार्यके सेवागुणसे सुख प्राप्त करता है, अत क्षपकको सेवा करनेवाले आचार्यके समीप ठहरना चाहिये ॥४६०॥

प्रकारकका कथन समाप्त हुआ ।

आय अपाय विदर्शित्व गुणका कथन करते है—

गा०—यद्यपि क्षपक ससार समुद्रके किनारे पहुँच जाता है फिर भी उसे तीव्र रागद्वेष होते है । अत भूख प्यासकी परीषहोंके कारण क्षपकके अशुभ परिणाम होते हैं ॥४६१॥

गा०—क्षपक पूर्वमे प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेनेके दिनसे समाधि धारण करनेके दिन तक रत्नत्रयमे जो दोष लगे हैं उन सबको मै गुरुके सामने निवेदन करूँगा । ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध निवेदनका समय आता है तो अपना बडप्पन जानकर क्षपक उस अपराधको जिस प्रकार वह किया गया उसी प्रकारसे कहनेमे लज्जा करता है ॥४६२॥

गा०—पश्चात् वह क्षपक डरता है कि मेरे अपराधको जानकर ये सब मेरी अवज्ञा

'**पूजाकामो य**' वन्दनाभ्युत्थानं इत्यादिकायां पूजायामभिलाषवान् । सापराधं न पूजयन्तीति । '**ठवणइत्तो य**' आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामश्च । '**णिज्जूहणभीरू वि य**' मामिमे सापराधं त्यजन्तीति त्यागभीरुश्च । '**खवणो वि**' स्वापराधं शरीरं च क्षपयामीति प्रवृत्तोऽपि । '**णालोचेज्ज दोसं**' न कथयेद् गुरोरात्मीयं दोषं ॥४६३॥

तस्स अवायोपायविदंसी खवयस्स ओघपण्णवओ ।
आलोचेंतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥४६४॥

'**तस्स खवगस्स गुणदोसे दंसेदिति**' पदसम्बन्धः । तस्य अनालोचकस्य आलोचनाया गुणमितरत्र दोषं च दर्शयति । कः ? '**आयोपायविदसी**' आयोपायविदर्शी सूरिः । अपायो रत्नत्रयस्य विनाशः उपायो लाभः । उपशब्दोऽनर्थक इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आउः शुद्धिर्लाभः तदुभयदर्शी । '**ओघपण्णवगो**' सामान्यं प्ररूपयन् यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोष इति । '**आलोचेंतस्स वि**' अपि शब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो आलोचनां कुर्वतोऽपि । '**अणुज्जगस्स**' मायावतः ॥४६४॥

मायाया दोषं याथात्म्यकथने गुणं च दर्शयति । एवं दोषप्रकटनं कर्तव्यमित्याचष्टे—

दुक्खेण लहइ जीवो संसारमहण्णवम्मि सामण्णं ।
तं संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ॥४६५॥

'**दुक्खेण लहइ जीवो**' क्लेशेन लभते जीवः । किं ? '**सामण्णं**' श्रामण्यं चारित्रं संयमं । क्व ? '**संसारमहण्णवम्मि**' चतुर्गतिपरिभ्रमणमहार्णवे दुष्प्रापपारतया संसारो महार्णव इव । '**खु**' शब्दः '**णासेइ**' इत्यतः परतो अवधारणार्थो द्रष्टव्यः । तं संयमं नाशयत्येव '**बुधः**' अविद्वान् । '**ससल्लमरणेण**'—यद्यपि शल्यमनेकप्रकारं मिथ्यामायानिदानशल्यभेदेन तथापीह प्रकरणवशान्मायाशल्यं गृह्यते, मायाशल्यसहितेन मरणेनेत्यर्थः ।

करेंगे । उसकी अभिलाषा अपनी पूजा कराने की है कि मेरी वन्दना करे, मेरे लिए उठकर खड़े होवे । किन्तु अपराध ज्ञात होने पर तो पूजा नहीं करेंगे । वह अपनेको सम्यक् आचारमें स्थापित करना चाहता है । किन्तु अपराधी जानकर यह मुझे त्याग देंगे, इससे डरता भी है । अतः अपने अपराध और शरीरको त्यागनेके लिए तत्पर होते हुए भी वह गुरुसे अपने दोषोंको नहीं कहता ॥४६३॥

गा०—उस अपने दोषोंकी आलोचना न करनेवाले अथवा आलोचना करते हुए भी मायाचार पूर्वक आलोचना करनेवाले क्षपकको आय और उपायको दिखलाने वाले आचार्य आलोचनाके गुण और आलोचना न करनेके दोष सामान्यसे बतलाते हैं कि जो अपना अपराध नहीं कहता उसको यह दोष होता है ॥४६४॥

टी०—रत्नत्रयके विनाशको अपाय और रत्नत्रयके लाभको उपाय कहते हैं । 'उप' शब्द व्यर्थ है' ऐसा मानकर रत्नत्रयका 'आऊ' अर्थात् शुद्धि और लाभ दोनोंको दिखानेवाले आचार्य आयोपायविदर्शी होते हैं ॥४६४॥

गा०–टी०—इस संसारका पार पाना बड़ा कठिन है इसलिये चारों गतिमें भ्रमण रूप संसारको महासमुद्रकी उपमा दी है । उसमें भ्रमण करते हुए 'श्रामण्य' अर्थात् चारित्रको–संयमको जीव बड़े कष्टसे प्राप्त करता है । अज्ञानी उस संयमको सशल्य मरणसे नष्ट कर देता है । यद्यपि मिथ्यात्व, माया और निदानके भेदसे शल्यके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ प्रकरणवश मायाशल्य

ननु समानतायाः प्रस्तुतत्वात् सामण्णं इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्तं 'त संजममिति'। अस्यायमभिप्रायः[1] श्रमणशब्दस्य द्रव्येऽप्रवृत्तिनिमित्त यच्छ्रामण्यं किं च तत्सयम। तथाहि सावद्यक्रियापरो नायं श्रमण इति लोको वदति। ततो युक्तमेव भावशल्यमात्मन्यवस्थितमिव[2] दोषमावहतीति दृष्टान्तमुखेन कथयति—॥४६५॥

जह णाम दव्वसल्ले अणुद्धुदे वेदणुद्दिदो होदि।
तह भिक्खू विं ससल्लो तिव्वदुहट्टो भयोव्विग्गो ॥४६६॥

'जह णाम' यथा नाम स्फुट। **'दव्वसल्ले'** शरकण्टकादौ **'अणुद्धु दे'** अनुद्धृते अनिराकृते। **'वेदणुद्दिदो होदि'** वेदनार्तो भवति। **'तह'** तथा। **'भिक्खु वि'** भिक्षुरपि। **'ससल्लो'** भावशल्यवान्। **'तिव्वदुहिदो होदि'** तीव्रदु:खितो भवति। **'भयोव्विग्गो'** भयेन चलो भवति। एवमनुद्धृतशल्यो गमिष्यामि का गतिमिति भयमस्य जायते। एवमर्थं दृष्टान्तेनाविरोधयति ॥४६६॥

कंटकसल्लेण जहा वेधाणी चम्मखीलणाली य।
रप्फइयजालगत्तागदो य पादो पडदि पच्छा ॥४६७॥

'कंटकसल्लेण जहा' कण्टकाख्येन शल्येन करणभूतेन यथा। **'वेधाणी चम्मखीलनाली य'** व्यधनचर्मकीलनालिकाश्च भवन्ति। **'रप्फइयजालगत्तागदो य'** कुथितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः स पाद **'पडदि'** पतति पश्चाद्यथा ॥४६७॥

एवं तु भावसल्लं लज्जागारवभएहिं पडिबद्धं।
अप्पं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥४६८॥

लिया है। मायाशल्य सहित मरणसे अज्ञानी संयमको नष्ट करता है।

शङ्का—यहाँ तो 'सामण्ण' शब्दसे समानता ली गई है। उसे छोडकर 'संयम' क्यो कहा ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यमे प्रवृत्ति न करनेमे निमित्त जो श्रामण्य है वही संयम है। लोग कहते ही हैं कि यह पापकार्योंमे प्रवृत्ति करता है अत श्रमण नही है। अत आत्मामें स्थित भावशल्य दोषकारी है यह कहना उचित ही है ॥४६५॥

इसे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—जैसे शरीरमें लगे बाण, काँटा आदि द्रव्यशल्यको न निकालनेपर मनुष्य कष्टसे पीड़ित होता है। उसी प्रकार भावशल्यसे युक्त भिक्षु भी तीव्र दुखित होता है और भयमे विचल होता है कि शल्यको दूर न करनेपर मै किस गतिमें जाऊँगा। इस प्रकार दृष्टान्तसे अविरोध दिखलाया है ॥४६६॥

गा०—जैसे पैरमें काँटा घुसनेपर पहले पैरमें छिद्र होता है फिर उसमे माँसका अंकुर उग आता है और वह नाडीतक पहुचता है। पीछे उस पैरमे साँपकी बाँबी जैसे दुर्गन्ध युक्त छिद्र हो जाते हैं ॥४६७॥

---

१. प्रायः तदिति सजम श्रामण्यमेवेति निरूपित ज्ञातव्यमिति ततो युक्त-आ०। २. मिह दो-आ०।

'एवं तु' एवमेव । 'भावसल्लं' परिणामशल्य । 'लज्जागारवभयेहिं पडिबद्धं' स्वापराधनिगूहनं लज्जातो भवति । भयेन अपराध कथिते कुप्यन्ति गुरवस्त्यजन्ति वा मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति[1] । भयात् । तपस्व्ययं सुसंयत इति महती प्रसिद्धि सा विनश्यतीति गौरवेण च प्रतिबद्धमायाशल्य । 'अप्पं पि' अल्पमपि । शल्यं 'अणुद्धरियं' अनुद्धृतं । 'वदसीलगुणे' व्रतानि शीलानि गुणाश्च विनाशयति ॥४६८॥

तो भट्ठबोधिलाभो अणंतकालं भवण्णए भीमे ।
जम्मणमरणावत्ते जोणिसहस्साउले भमदि ॥४६९॥

'तो' पश्चात् । 'भट्ठबोधिलाभो' विनष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभ । 'अणंतकाल भमइ' अनन्तकाल भ्रमति । क्व ? 'भवण्णवे' भवार्णवे । 'भीमे' भयंकरे । 'जम्ममरणावत्ते' जन्ममरणावर्ते । 'जोणिसहस्साउले' चतुरशीतियोनिसहस्राकुले ॥४६९॥

तत्थ य कालमणंतं घोरमहावेदणासु जोणीसु ।
पच्चंतो पच्चंतो दुक्खसहस्साइ पप्पेदि ॥४७०॥

'तत्थ य' तत्र च भवार्णवे । 'अणंतकालं दुक्खसहस्साइ पप्पेदि इति' पदघटना । अनन्तकाल दुःख-सहस्राणि अनुभवति । 'घोरमहावेदणासु जोणीसु पच्चंतो' घोरमहावेदनासु योनिषु पच्यमान ॥४७०॥

तं न खमं खु पमादा मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण ।
आयरियपादमूले उद्धरिदव्वं हवदि सल्लं ॥४७१॥

'तं' तस्मात् । 'मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण न खमो खु' मुहूर्तमात्रमपि आसितु शल्यसहितेन रत्न-त्रयेण सह न शक्त प्रमादवशादिति संसारभीरु । 'आयरियपादमूले' उक्तगुणस्याचार्यस्य पादमूले । 'उद्धरि-दव्वं हवदि सल्लं' शल्यमुद्धर्तव्यं भवति ॥४७१॥

गा०-टी०—इसी प्रकार लज्जा भय और गारवसे प्रतिबद्ध थोड़ा-सा भी भावशल्य यदि दूर न किया जाये तो व्रत शील और गुणोंको नष्ट करता है । लज्जावश साधु अपने अपराधको छिपाता है । या अपराध प्रकट करनेपर गुरुजन क्रुद्ध होंगे, मुझे त्याग देंगे अथवा बड़ा प्रायश्चित्त देंगे इस भयसे दोषको छिपाता है । अथवा मेरी जो महत्ती प्रसिद्धि है कि यह तपस्वी उत्तम संयमी है वह नष्ट हो जायेगी इस भयसे दोषको छिपाता है । यह मायाशल्य है । इसे यदि दूर नहीं किया गया तो क्षपकके व्रत शील गुण नष्ट हो जाते हैं ॥४६८॥

गा०—पीछे दीक्षा धारण करके जो बुद्धिलाभ किया था वह नष्ट हो जाता है और चौरासी हजार योनियोंसे भरे, और जन्ममरणरूपी भँवरोंसे युक्त भयकर भवसमुद्रमें अनन्तकालतक भ्रमण करता है ॥४६९॥

गा०—और उस भवसमुद्रमे भयंकर महावेदनावाली योनियोमे भ्रमण करता हुआ अनन्त-कालतक हजारों दुःख भोगता है ॥४७०॥

गा०—इसलिए संसारसे भीत यतिको प्रमादवश एक मुहूर्तमात्रके लिए भी शल्यसहित रत्नत्रयके साथ रहना उचित नही है । उक्त गुणवाले आचार्यके पादमूलमे उसे अपने शल्यको निकाल देना चाहिए ॥४७१॥

---

१. -तीति सुतपास्त्वय सु-आ० ।

तम्हा जिणवयणरुई जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था ।
अज्जवमद्दवसंपण्णा भयलज्जाउ पमोत्तूण ॥४७२॥

'**तम्हा**' तस्मात् । '**जिणवयणरुई**' जिनागमे श्रद्धावन्त । '**जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था**' जातिजरामरणदुःखवित्रस्ता । '**अज्जवमद्दवसंपण्णा**' आर्जवेन मार्दवेन च युक्ता । '**भयलज्जाओ**' भय लज्जा वा । '**मोत्तूण**' मुक्त्वा ॥४७२॥

उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणब्भवलयाए ।
संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥४७३॥

'**उप्पाडित्ता**' उत्पाट्य । धीरा । किं ? मूलं । कथं ? '**असेसं**' निरवशेषं । कस्य मूलं ? '**पुणब्भवलयाए**' पुनर्भवलतायाः । किं तन्मूलं ? शल्यं । '**संवेगजणियकरणा**' संसारभीरुतोत्पादितक्रिया । '**तरंति**' तरन्ति । '**भवसायरमणंतं**' भवसागरमनन्तं ॥४७३॥

उक्तवस्तूपसंहारार्था गाथा—

इय जइ दोसे य गुणे ण गुरू आलोयणाए दंसेइ ।
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥४७४॥

'**इय**' एवं । '**जदि गुरू ण दंसेदि**' यदि गुरुर्न दर्शयेत् क्षपकस्य । किं '**आलोयणाए गुणे**' स्वापराधकथनस्य गुणान् । '**दोसे य**' दोषाश्च यदि न दर्शयेत् । आलोयणाए इति वाक्यशेषः । '**सो खवगो ण णियत्तदि**' असौ क्षपको न निवर्तते । कुतः ? '**तत्तो**' पूर्वोक्तदोषान्मायाशल्यात् । '**गुणे य ण परिणमदि**' गुणे च निःशल्यत्वे न परिणमते ॥४७४॥

तम्हा खवएणाओपायविदंसिस्स पायमूलम्मि ।
अप्पा णिव्विसिदव्वो धुवा हु आराहणा तत्थ ॥४७५॥

'**तम्हा**' तस्मात् आयोपायदर्शिनः पादमूले यस्माद्दोषान्निवर्तते क्षपको गुणे च परिणमते तदुभयार्थी च । '**तम्हा**' तस्मात् '**खवगेण**' क्षपकेन '**आयोपायविदंसिस्स**' गुणदोषदर्शिनः । **पादमूलम्हि** पादमूले । '**अप्पा णिव्वि-**

गा०—अतः जिनागमके श्रद्धालु और जन्म जरा मरणके दुःखसे भीत क्षपकको भय और लज्जाको छोड आर्जव और मार्दवसे युक्त होना चाहिए ॥४७२॥

गा०—धीर क्षपक पुनर्जन्मरूपी लताके मूल सम्पूर्ण शल्यको उखाड़कर संसारके भयसे उत्पन्न किये चारित्रको धारण करके अनन्तभवसागरको तिर जाते है ॥४७३॥

उक्त कथनका उपसंहार करते है—

गा० - इस प्रकार यदि गुरु क्षपकको आलोचना अर्थात् अपने अपराधको कहनेके गुण और दोष न बतलावे तो वह क्षपक पूर्वोक्त मायाशल्य दोषसे निवृत्त न हो और निःशल्य नामक गुणसे युक्त न हो ॥४७४॥

गा०—यतः आय-उपायके दर्शी आचार्यके पादमूलमे रहनेसे क्षपक दोषसे निवृत्त होता

'सिवव्वो' आत्मा स्थापयितव्य । तत्र गुणमाचष्टे **'धुवा खु आराहणा तत्थ'** निश्चिता रत्नत्रयाराधना तत्र । **आयोपायः** ॥४७५॥

अवपीडकत्व व्याख्यातुकाम सबध्न.ति पूर्वेण उपायदर्शित्वेन—

आलोचणगुणदोसे कोई सम्म पि पण्णविज्जंतो ।
तिव्वेहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए खवए ॥४७६॥

'आलोचणगुणदोसे' आलोचनाया गुणदोषान् । **'कोई'** कश्चित् । **'सम्मंपि पण्णविज्जंतो'** सम्यगवबोध्यमानोऽपि । **'खवगो णालोचए सम्म'** क्षपक सम्यक् न कथयेत् । केन हेतुना ? **'तिव्वेहि गारवादिहि'** तीव्रैर्गारवादिभि आदिशब्देन लज्जाभयक्लेशासहत्व च गृह्यते ॥४७६॥

एवमनालोचयतोऽपि भाव प्रश.न्ति नेतव्यो निर्यापिकेनेत्येतद्व्याचष्टे—

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।
तो पल्हावेदव्वो खवओ सो पण्णवंतेण ॥४७७॥

'णिदृधं' स्नेहवत् । **'मधुरं'** श्रुतिसुख । **'हिदयगमं'** हृदयानुप्रवेशि । **'पल्हादणिज्जं'** सुखदं । **'एगते'** एकान्ते । **'पल्हावेदव्वो'** शिक्षयितव्य । **'खवगो'** क्षपक । **'सो'** स । आत्मापराध यो न कथयति । **'पण्णवंतेण'** प्रज्ञापयता सूरिणा । आयुष्मन् ! उपलब्धसन्मार्गरत्नत्रयनिरतिचारकरणे समाहितचित्त ! अतिचार निवेदय लज्जा, भय, गारव च विहाय । गुरुजनो हि मात्रा पित्रा च सदृश , तेषा कथने का लज्जेति । स्वदोषमिव न प्रख्यापयन्ति परेषा यतीना । यतिधर्मस्य वा अवर्णवाद प्रयत्नेन विनाशयितुमुद्यता किमयश प्रथयन्ति ।

है और गुणसे युक्त होता है । अत क्षपकको गुणदोष दिखलानेवाले आचार्यके पादमूलमे अपनेको रखना चाहिए । ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी आराधना होना निश्चित है ॥४७५॥

आयोपायका कथन समाप्त हुआ ।

अब अवपीडक गुणका कथन करनेकी इच्छासे उसका उक्त उपायदर्शित्व गुणके साथ सम्बन्ध जोडते है—

गा०—कोई क्षपक आलोचनाके गुण और दोषोको अच्छी तरह समझनेपर भी तीव्र गारव, आदिके कारण सम्यक्रूपसे अपने दोषोको नही कहता । यहाँ आदि पदसे लज्जा, भय और कष्टको सहन न करना लिए गये है ॥४७६॥

इस प्रकार आलोचना न करनेवाले क्षपकके भावको निर्यापक आचार्यको शान्त करना चाहिए, यह कहते है—

गा०-टी०—जो अपना अपराध नही कहता उस क्षपकको समझानेवाले आचार्यको एकान्तमे स्नेहसे भरे, कानोको सुखकर और हृदयमे प्रवेश करनेवाले सुखदायक वचनोसे शिक्षा देना चाहिए । प्राप्त सन्मार्ग रत्नत्रयके निरतिचार पालनमे सावधान आयुष्मन् ! लज्जा, भय और मान छोडकर दोषोको निवेदन करो । गुरुजन माता-पिताके समान होते है उनसे कहनेमे लज्जा कैसी ? वे अपने दोषकी तरह दूसरे यतियोके भी दोष किसीसे नही कहते । जो यतिधर्म

समीचीनदर्शनस्य मुक्तिमार्गे प्रधानस्य मलं हि तद्यतिजने दूषणं । अतिचारहिमान्या हृत च रत्नत्रयकमलवनं न शोभते । परनिन्दा नीचैर्गोत्रस्यास्रव । स्वयं च निन्द्यते बहुषु जन्मसु निन्दक । परस्य मनःसंतापं दुस्सहं सम्पादयतो असद्वेद्यकर्मबन्ध स्यात् । साधुजनोऽपि निन्दति स्वधर्मतनयं किमर्थमय एव अयश पङ्केन लिम्पतीति । एवमनेकानर्थावहपरदोषप्रकटनं क सचेतन करोतीति ।।४७७।।

णिद्धं महुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।
कोइ तु पण्णविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ।।४७८।।

एव प्रज्ञापनाया सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरसूत्रार्थं ।

तो उप्पीलेदव्वा खवयस्सोप्पीलएण दोसा से ।
वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ।।४७९।।

'**तो**' पश्चात् । '**उप्पीलिदव्वा**' अवपीडयितव्या । के ? '**दोसा**' दोषा । कस्य ? '**से**' तस्य । '**खवगस्य**' क्षपकस्य । केन ? '**उप्पीलएण**' अवपीडकेन सूरिणा । अपसरास्मत्सकाशात्, किमस्माभिर्भवत प्रयोजन ? यो हि स्वशरीरलग्नमलप्रक्षालनेच्छ स ढौकते काचच्छायानुसारिसलिल सर । यो वा महारोगोरगग्रस्तस्तद-पनयनाभिलाषवान् स वैद्य ढौकते । एव रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजन । भव-तश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवादर किमनया क्षपकत्वविडम्बनया । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्रायत्ता सल्लेखनेय ।

पर मिथ्या दोषारोपणको नष्ट करनेमे तत्पर रहते हैं वे क्या अपयश फैला सकते हैं ? मोक्ष-मार्गमे प्रधान सम्यग्दर्शन है और यतिजनमे दूषण लगाना सम्यग्दर्शनका अतिचार है । रत्नत्रय-रूपी कमलोका वन यदि अतिचाररूपी हिमपातसे नष्ट हो तो वह शोभित नही होता । पर-निन्दासे नीचगोत्र कर्मका आस्रव होता है । जो दूसरोकी निन्दा करता है वह स्वय अनेक जन्मोंमे निन्दाका पात्र बनता है । दूसरेके मनको असह्य सन्ताप देनेवालेके असातावेदनीयकर्मका बन्ध होता है । साधुजन भी निन्दा करते हैं कि अपने धर्मपुत्रको यह इस प्रकार अपयशरूप कीचडसे क्यो लिप्त करता है । इस तरह दूसरोके दोषोंको प्रकट करना अनेक अनर्थोंका मूल है । कौन समझदार उसे करना पसन्द करेगा ।।४७७।।

गा०—स्निग्ध, मधुर, हृदयग्राही और सुखकर वचनोके द्वारा एकान्तमें समझानेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोको सम्यक्रूपसे नही कहता ।।४७८।।

गा०—तब जैसे सिंह स्यारके पेटमे गये मासको भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमे छिपे हुए मायाशल्य दोषोको बाहर निकालता है ।।४७९।।

टी०—हमारे सामनेसे दूर हो जाओ । आपको हमसे अब क्या प्रयोजन है ? जो अपने शरीरमे लगे मलको धोना चाहता है वह काचके समान निर्मल जलवाले सरोवरके पास जाता है । अथवा जो महान् रोगरूपी सर्पसे डँसा गया है और उसे दूर करना चाहता है वह वैद्यके पास जाता है । इसी प्रकार जो रत्नत्रयमे लगे अतिचारोंको दूर करना चाहता है उसे गुरुजनके पास जाना चाहिए । आपको अपने रत्नत्रयकी शुद्धि करनेमे आदर नही है तब इस क्षपकका रूप धारण करनेसे क्या लाभ ? यह सल्लेखना केवल चार प्रकारके आहारका त्याग करनेमात्रसे

अपि तु कषायसल्लेखनायत्ता । संवरो निर्जरा च, कषाया ह्यभिनवकर्मादाने, बन्धे, स्थितिविधाने चोद्यता परिहरणीया । तेषु च कषायेषु मायातिनिकृष्टा तिर्यग्योनिनिर्वर्तनप्रवणा । ता त्यक्तुमसमर्थस्यापि प्रविष्टस्य भवत संसारोदधेस्तिर्यग्भवावर्तं । ततो निःसरणमतिदुष्करं । वस्त्रमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रन्थताभिमानोद्वहनमप्यसत्यं, सत्येव तिर्यञ्चोऽपि निर्ग्रन्थाः स्यु. । चतुर्दशप्रकारस्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य त्यागाद्भावनैर्ग्रन्थ्य समवतिष्ठते । तदेव हि मुक्तेरुपाय । भावनैर्ग्रन्थ्यस्य उपाय इति दशविधबाह्यग्रन्थत्याग उपयोगी मुमुक्षो । न हि जीवपुद्गलद्रव्यसन्निधानमात्राधीनः कर्मबन्ध. । अपि तु तन्निमित्तजीवपरिणामालम्बन । अतिचारवन्ति दर्शनादीनि न मुक्तेरुपायः । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति किन्न भवत श्रुतिगोचरमायातं जैन वच. ? समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारित्राणा निरतिचारता । सा च गुरूपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणे । गुरवोऽपि कृतालोचनायैव प्रायश्चित्त प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरभव्य अभव्यो वा । आसन्नभव्यत्वे सति किमेव महामायाशल्यं भवति ? नैव यतिजनवन्दनार्होऽसि । 'समणं वंदेज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिद' इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लाभालाभयोर्निन्दाप्रशसयोश्च समानचित्ततया समानो भवति । अतिचारनिवेदने मा निन्दन्ति न प्रशंसन्तीति भवता नालोच्यते । तत्कथं समानोऽसि ? कथ वा वन्द्य ?

'सीहो जहा सियालं उदरमवि गदं पि मंस वामेदि' सिंहो यथा शृगालमुदरप्रविष्टमपि मासमुद्गारयति तद्वन्मायाशल्यमन्तर्लीनं निस्सारयत्यवपोडक ॥४७९॥

नही होती । किन्तु इसके लिए कषायको कृश करना चाहिए । तभी यह सल्लेखना होती है । तथा संवर और निर्जरा भी करना चाहिए । कषाय तो नवीन कर्मोंके ग्रहण, बन्ध और उनके स्थितिबन्धको करती है अत. वह त्यागने योग्य है ।

उन कषायोंमें माया अत्यन्त खराब है वह तिर्यञ्चगतिमें ले जाती है । आप उसे छोडनेमे असमर्थ है अत आप संसार समुद्रके तिर्यञ्चभवरूपी भँवरमे फँस गये है । वहाँसे निकलना अत्यन्त कठिन है । वस्त्रमात्रके त्यागसे अपनेको निर्ग्रन्थ माननेका अभिमान करना भी झूठा है । यदि कोई इतनेसे ही निर्ग्रन्थ हो तो पशु भी निर्ग्रन्थ कहे जायेंगे । चौदह प्रकारकी अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागसे भावनैर्ग्रन्थ्य होता है । वही मुक्तिका उपाय है । भावनैर्ग्रन्थ्यका उपाय है दस प्रकारकी बाह्यपरिग्रहका त्याग । वह मुमुक्षुके लिए उपयोगी है । जीव और पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धमात्रसे कर्मबन्ध नही होता, किन्तु उसके निमित्तसे होनेवाले जीवके परिणामोके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है । अतिचार सहित सम्यग्दर्शन आदि मुक्तिके उपाय नहीं है । 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है ।' क्या यह जिनागमका वचन आपके कानोंमे नही गया ? निरतिचार होना ही दर्शन ज्ञान और चारित्रकी समीचीनता है । और वह निरतिचारता गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको करनेपर ही होती है । गुरु भी उसीको प्रायश्चित्त देते हैं जो आलोचना करता है । अत आप या तो दूर भव्य है या अभव्य हैं । यदि निकट भव्य होते तो इस प्रकारका महामायारूप शल्य क्यो होता । तुम यतिजनोंके द्वारा वन्दना करने योग्य नही हो । क्योंकि आगममे कहा है—

'बुद्धिमान्को संयमी और सम्यक्रूपसे समाहित श्रमणकी बन्दना करनी चाहिए ।'

जीवनमरणमें, लाभ अलाभमे, निन्दा प्रशंसामे जिसका चित्त समान रहता है वही श्रमण या समण होता है । 'दोष कहनेपर लोग मेरी निन्दा करेंगे, प्रशंसा नही करेंगे' इसलिए आप आलोचना नहीं करते । तब आप कैसे समण (समान) है और कैसे वन्दनीय है । इस प्रकार

इदृगवपीडको भवतीत्याचष्टे—

उज्जस्सी तेजस्सी वच्चस्सी पहिदकित्तियायरिओ ।
सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥४८०॥

यो यद्धितकामस्स त बलात्तत्र प्रवर्तयति । यथा हिता माता बाल घृतपाने इत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिल्लेदूण रडंत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता ।
पज्जेइ घदं माया तस्सेव हिदं विचिंतंती ॥४८१॥

'**पिल्लेदूण मुहं विदारित्ता घदं पज्जेदि**' यथा जननी बालहितचिन्तोद्यता पूत्कुर्वन्तमपि बाल अवष्टभ्य मुख विदार्य घृत पाययति ॥४८१॥

दार्ष्टान्तिकेनायोजयति—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोसणीहरणं ।
कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडुओसहं वत्ति ॥४८२॥

'**तह**' तथा । आयरिओ' आचार्योऽपि । '**अणुज्जयस्स खवगस्स**' अनृजो क्षपकस्य । '**दोसणीहरणं कुणइ**' मायाशल्यनिरास करोति । '**कडुगोसधं वत्ति**' कटुकमौषधमिव । '**से**' तस्य । '**पच्छाहिदं होदि**' पश्चाद्धित भवतीति ॥४८२॥

यो न निर्भर्त्सयति दोष दृष्ट्वापि प्रियमेव वक्ति स गुरु शोभन इति न भवद्भिर्मन्तव्यमित्युपदिशति—

जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि ।
पाएण वि ताडिंतो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि ॥४८३॥

कहकर अवपीडक आचार्य उसके मुखमे दोष उगलवाते है ॥४७९॥

अवपीडक आचार्य ऐसे होते है, यह कहते है—

गा०—जो ओजस्वी-बलवान्, तेजस्वी-प्रतापवान्, वर्चस्वी-प्रश्नोका उत्तर देनेमे कुशल, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और सिहके समान आचार्य होते है उन्हे जिनभगवान्ने उत्पीडक नामसे कहा है ॥४८०॥

जो जिसका हित चाहता है वह उसे बलपूर्वक उसमे लगाता है जैसे हित चाहनेवाली माता बालकको बलपूर्वक घी पिलाती है यह आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—जैसे बालकके हितकी चिन्तामे तत्पर माता चिल्लाते हुए भी बालकको पकडकर उसका मुँह फाडकर घी पिलाती है ॥४८१॥

उक्त दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिके साथ जोडते है—

गा०—उसी प्रकार आचार्य भी कुटिल क्षपकके मायाशल्यरूप दोषको निकालते है । और वह कडुवी औषधिकी तरह पीछे उस क्षपकके लिए हितकारी होता है ॥४८२॥

जो क्षपकके दोष देखकर भी उसका तिरस्कार नही करता, प्रियवचन ही बोलता है वह गुरु उत्तम है ऐसा आप न सोचना, यह उपदेश क्षपकको देते है—

'**जिब्भाए वि लिहंतो**' जिह्वया स्वादयन्नपि '**न भद्दगो**' नैव भद्रक । '**जत्थ सारणा णत्थि**' यस्मिन्गुरौ दोषनिवारणा नास्ति । '**पाएण वि ताडिंतो**' पादेन ताडयन्नपि '**स भद्दगो**' स सूरिर्भद्रक । '**सारणा जत्थ अत्थि**' सारणा यत्र गुरौ विद्यते ॥४८३॥

सारणकस्य सूरेर्भद्रताप्रकटनाय गाथा—

सुलहा लोए आदट्ठचिंतगा परहिदम्मि मुक्कधुरा ।
आदट्ठं व परट्ठं चिंतंता दुल्लहा लोए ॥४८४॥

'**सुलभा लोए आदट्ठचितगा**' सुलभाः प्रचुरा । '**लोए**' लोके । '**आदट्ठचितगा**' स्वकार्ये तत्परा । '**परहिदम्मि मुक्कधुरा**' परहितकरणे अलसा. । '**आदट्ठं व**' आत्मप्रयोजनमिव । '**परट्ठं चितंता**' परप्रयोजनचिन्तासमुद्यता लोके दुर्लभा ॥४८४॥

आदट्ठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे ।
कडुय फरुसेहिं साहेंति ते हु अदिदुल्लहा लोए ॥४८५॥

'**आदट्ठमेव चितेदुमुट्ठिदा**' आत्मीयमेव प्रयोजन चिन्तयितुमुत्थिता । '**जे**' ये '**परट्ठमवि**' परप्रयोजनमपि '**कडुगफरुसेहिं**' कटुकं परुषं प्रवचनं '**साधेंति**' साधयन्ति लोके । '**अतिदुल्लहा**' अतीव दुर्लभा ॥४८५॥

सूरिर्यदि नावपीडयेत् नासौ क्षपको मायाशल्यान्निवर्तते । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नत्रये च गुणे न प्रवर्तते इति आचार्यमपाद्यमुपकार प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहमे व इदरे वा ।
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥४८६॥

'**खवगस्स ण सुहुमे व इदरे वा दोसे जइ ण उग्गालेइ**' क्षपकस्य सूक्ष्मान् स्थूलान्वा दोषान्यदि नोद्गारयति । '**सो खवगो तत्तो ण णियत्तइ**' स क्षपकस्तेभ्य सूक्ष्मेभ्य स्थूलेभ्यो वा दोषेभ्यो न निवर्तते । '**नैव गुणे**

जो गुरु शिष्यके दोषोका निवारण नही करता, वह जिह्वासे मधुर बोलनेपर भी भद्र नही है। और जो गुरु दोषोका निवारण करता हुआ पैरसे मारता भी है वह भद्र है ॥४८३॥

दोषोका निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता बतलाते है—

गा०—अपने काममे तत्पर किन्तु दूसरोका हित करनेमे आलसी मनुष्य लोकमे बहुत है। किन्तु अपने कार्यकी तरह दूसरोके कार्यकी चिन्ता करनेवाले मनुष्य लोकमे दुर्लभ है ॥४८४॥

गा०—जो अपने ही कार्यकी चिन्तामे तत्पर होते हुए दूसरोके कार्यको भी कठोर और कटुकवचनोमे साधते है वे पुरुष लोकमे अत्यन्त दुर्लभ है ॥४८५॥

गा०—आचार्य यदि क्षपकको पीडित न करे तो वह मायाशल्यसे न निकले। और मायाशल्यसे निकले विना निरतिचार रत्नत्रय गुणमे प्रवृत्त न हो ॥४८६॥

इस प्रकार आचार्यके द्वारा किये जानेवाले उपकारको प्रकट करते है—

यदि आचार्य क्षपकके सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषोको न उगलवाये तो वह क्षपक उन सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषोसे निवृत्त न हो और न गुणमे प्रवृत्त हो। और दोषोको दूर किये विना तथा

परिणमते' निराकृतदोषो गुणे वाऽपरिणतो कथमाराधक. स्यादाराधनार्थमायातोऽप्यसत्यवपीडके । उप्पीलत्ति गदं ॥४८६॥

तम्हा गणिणा उप्पीलणेण खवयस्स सव्वदोसाहु ।
ते उग्गालेदव्वा तस्सेव हिदं तया चेव ॥४८७॥

उप्पीलओत्ति गदं ।

एवं अवपीडकता व्याख्यायावसरप्राप्तामपरिश्राविता व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ।
ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥४८८॥

'लोहेण पीदमुदगं व' एवमत्र पदसबन्ध । **'जस्स आलोइदा दोसा ण परिस्सवन्ति अण्णत्तो'** यस्मै कथिता दोषा न परिस्रवन्त्यन्यत । किमिव **'लोहेण पीदमुदगंव'** लोहेन मतप्तेन पीतमिवोदक । **'सो'** स. । एवंभूतोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्रावी भवति ॥४८८॥

दंसणणाणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ।
देसच्चाए विविधे सव्वच्चाए य आवण्णो ॥४८९॥

'दंसणणाणादिचारे य वदादिचारे' श्रद्धानस्यातिचार शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशमामस्तवा , ज्ञानस्य अतिचारा अकाले पठन, श्रुतस्य श्रुतधरस्य वा विनयाकरण अनुयोगादीना ग्रहणे तत्प्रायोग्यावग्रहाग्रहण, उपाध्याय निह्नव., व्यञ्जनाना न्यूनताकरण, आधिक्यकरण, अर्थस्य अन्यथाकथन वा । तपसोऽनशना-

---

गुणमे लगे विना आराधक कैसे हो सकता है ? आराधनाके लिए गुरुके पास आकर भी यदि गुरु अवपीडक न हो तो उक्त बात नही बन सकती है ॥४८६॥

गा०—इसलिए उत्पीडक आचार्यको क्षपकके सब दोष उगलवाना चाहिए। क्योंकि क्षपकका हित इसीमे है ॥४८७॥

उत्पीडक गुणका कथन समाप्त हुआ ।

इस प्रकार अवपीडक गुणका व्याख्यान करके अवसर प्राप्त अपरिश्रावी गुणको कहते है—

गा०—जैसे तपाये हुए लोहेके द्वारा पिया गया जल बाहर नही जाता वैसे ही जिस आचार्यसे कहे गए दोष अन्य मुनियोपर प्रकट नही होते, वह आचार्य अपरिस्राव गुणसे युक्त होता है ॥४८८॥

गा०—किसीके सम्यग्दर्शनमे अतिचार लगा हो, अथवा ज्ञानमे अतिचार लगा हो, या व्रतोमें अतिचार लगा हो, या तपमें अतिचार लगा हो, यह एकदेशसे अथवा सर्वदेशसे अतिचार लगा हो तो ॥४८९॥

टी०—सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और संस्तव। ज्ञानके अतिचार हैं—असमयमे स्वाध्याय, श्रुत अथवा श्रुतके धारीकी विनय न करना, अनुयोग आदिको ग्रहण करनेमें उसके योग्य अवग्रह न करना, गुरुका नाम छिपाना, व्यंजन शब्द छोड़ जाना या अधिक जो उसमें नहीं हैं, बोलना, और अर्थका अन्यथा कथन

देरतिचार:–स्वयं न भुङ्क्ते अन्य भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च, स्वयं क्षुधा पीडित आहारमभिलषति, मनसा पारणा मम कः प्रयच्छति, क्व वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचार.। रसवदाहारमन्तरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा। षट्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्ति. प्रचुर-निद्रतया। सक्लेशकमनर्थमिदमनुष्ठितं मया, संतापकारीदं नाचरिष्यामि इति सकल्प.। अवमोदर्यातिचार. मनसा बहुभोजनादर. परं बहु भोजयामीति चिन्ता। भुङ्क्ष्व यावद्भवतस्तृप्तिरिति वचनं भुक्तं मया बह्वि-त्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचन, हस्तसज्ञया प्रदर्शनं कण्ठदेशमुपस्पृश्य। वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचाराः गृहसप्तक-मेव प्रविशामि, एकमेव पाट दरिद्रगृहमेव। एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्त ग्रहीष्यामीति वा कृत-सकल्पः गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेश, पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिक। कृतरसपरित्यागस्य रसाति-सक्ति, परस्य वा रसवदाहारभोजन, रसवदाहारभोजनानुमनन, वातिचार। कायक्लेशस्यातपनस्यातिचार. उष्णार्दितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, सन्तापापायो मम कथ स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशाना स्मरण, कठोरातपस्य द्वेष, शीतलाद्देशादकृतगात्रप्रमार्जनस्य आतपप्रवेश, आतपसतप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्ट-गात्रस्य छायानुप्रवेश इत्यादिक। वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन, पादेन, शरीरेण वा वा कायाना पीडा।

करना। तप अनशन आदिके अतिचार है—स्वय भोजन न करते हुए भी दूसरोको भोजन कराना, मनवचनकायसे दूसरेको भोजनकी अनुमति देना, स्वय भूखसे पीड़ित होनेपर मनसे आहारकी अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा, अथवा कहाँ पारणा होगी, इत्यादि चिन्ता अनशन तपके अतिचार है। अथवा रसीले आहारके विना मेरी थकान दूर नही होती, प्रचुर निद्रामे पडकर छहकायके जीवोकी बाधामे मन या वचन या कायसे प्रवृत्ति होना। मैने यह सक्लेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह सन्तापकारी है इसे नही करूँगा इस प्रकारका सकल्प भी अनशनका अतीचार है।

अवमौदर्यतपके अतिचार—मनसे बहुत भोजनमे आदर, दूसरेको बहुत भोजन करानेकी चिन्ता, जबतक आपकी तृप्ति हो तबतक भोजन करो ऐसा कहना, 'मैंने बहुत भोजन किया' ऐसा कहनेपर 'आपने अच्छा किया' ऐसा कहना, हाथके सकेतसे कठ देशको स्पर्श करके बतलाना कि मैने आकण्ठ भोजन किया।

वृत्तिपरिसख्यानतपके अतिचार—सात घरमें ही प्रवेश करूँगा, या एक ही मुहालमे जाऊँगा, वा दरिद्रके घर ही जाऊँगा, इस प्रकारका दाता पुरुष या दात्री स्त्रीके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करूँगा। ऐसा संकल्प करके दूसरेको भोजन कराना है इस भावसे सात घरसे अधिक घरोमे प्रवेश करना और एक मुहालसे दूसरे मुहालमें जाना।

रसपरित्यागतपके अतिचार – रसोमे अति आसक्ति, दूसरेको रसयुक्त आहारका भोजन कराना, अथवा रसयुक्त आहारके भोजनकी अनुमति। ये अतिचार है।

कायक्लेशतपके अतिचार—गर्मीसे पीड़ित होनेपर शीतलद्रव्यकी प्राप्तिकी इच्छा होना, मेरा सन्ताप कैसे दूर हो यह चिन्ता होना, पूर्वमें भोगे हुए शीतलद्रव्यो और शीतल प्रदेशोको याद करना, कठोर धूपसे द्वेष करना, शीतल प्रदेशसे अपने शरीरको पीछीसे शोधे विना धूपमे या गर्मस्थानमे प्रवेश करना, अथवा घामसे सन्तप्त शरीरको पीछीसे शोधे विना छायामे प्रवेश करना आदि। वृक्षके मूलमें जाकर हाथ, पैर अथवा शरीरसे जलकायिक जीवोंको पीड़ा देना,

कथं ? शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं मृदुकार्द्रायां भूमौ शयनं निम्ने जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्राहे वर्षापात कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा, छत्रकटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिकं । तथा अभ्रावकाशस्यातिचार[2] सचित्तायां भूमौ त्रस[3]सहितहरितसमुत्थितायां विवरवत्यां शयनं । अकृतभूमिशरीरप्रमार्जनस्य हस्तपादसंकोचप्रसारणं, पार्श्वान्तरसञ्चरणं, कण्डूयनं वा । हिमसमीरणाभ्यां हतस्य कदैतदुपशमो भवतीति चिन्ता, वंशदलादिभिरुपरिनिपतितहिमापकर्षणं, अवश्यायघट्टना वा प्रचुरवातापातदेशोऽयमिति संक्लेशः, अग्निप्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकं । प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा—तत्रालोचनातिचाराः 'आकंपिय अणुमाणियमित्यादिकाः । स्वभूतातिचारेऽस्य मनसा अजुगुप्सा । अज्ञानतः, प्रमादात्कर्मगुरुत्वादालस्याच्चेदं अशुभकर्मबन्धननिमित्तं अनुष्ठितं, दुष्टं कृतमिति एवमादिकप्रतिक्रमणातिचारः । उक्तोभयातिचारसमवायस्तदुभयातिचारः । भावतोऽविवेको विवेकातिचारः । व्युत्सर्गातिचार[4] कृतः शरीरममताया न निवृत्तिः अशुभध्यानपरिणतिः । कायोत्सर्गदोषाश्च तप[5] अतिचारे उक्ताः । एवं छेदस्यातिचारः न्यूनो जातोऽहमिति संक्लेशः । भावतो रत्नत्रयानादानं मूलातिचारः । सर्वो द्विप्रकार इत्याचष्टे—'देसच्चाए विविधे' देशातिचारो नानाप्रकारः मनोवाक्कायभेदात्कृतकारितानुमत-

शरीरमें लगे जलके कणोंको हाथ वगैरहसे पोंछना, हाथ या पैरसे शिलातल आदिपर पड़े जलको दूर करना, कोमल गीली भूमिपर सोना, जलके बहनेके निचले प्रदेशमें ठहरना, निश्चित स्थानपर रहते हुए 'कब वर्षा होगी' ऐसी चिन्ता करना अथवा वर्षा होनेपर 'कब रुकेगी' ऐसी चिन्ता करना, वर्षासे बचनेके लिए छाता आदि धारण करना।

अभ्रावकाशके अतिचार—सचित्त भूमिपर जिसमें त्रससहित हरितकाय हो, तथा छिद्रवाली भूमिपर सोना, भूमि और शरीरको पीछीसे शुद्ध किये बिना मोते हुए हाथ पैर सकोचना फैलाना, करवट लेना अथवा शरीर खुजाना। बर्फ और वायुसे पीड़ित होनेपर 'कब ये बन्द होंगे' ऐसी चिन्ता करना, बाँसके पत्ते वगैरहसे शरीरपर गिरे बर्फको हटाना, अथवा बर्फसे घट्टन करना, इस प्रदेशमें अधिक वायु चलती है ऐसा सक्लेश करना, अथवा शीत दूर करनेके साधन आग, ओढ़नेके वस्त्र आदिका स्मरण करना।

प्रायश्चित्तके अतिचार—आलोचना प्रायश्चित्तके अतिचार 'आकम्पिय अणुमाणिय' इत्यादि आगे कहे गये हैं। अपने लगे अतिचारोंमें मनसे ग्लानिका न होना अतिचार है। अज्ञानसे, प्रमादसे, कर्मोकी गुरुतासे, और आलस्यसे मैंने यह अशुभकर्मके बन्धमें निमित्त कार्य किया, यह बुरा किया, यह जुगुप्सा है। उसका न होना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तका अतिचार है। उक्त आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचार तदुभय प्रायश्चित्तके अतिचार हैं। भावपूर्वक विवेकका न होना विवेक प्रायश्चित्तका अतिचार है। शरीरसे ममत्व न हटना, और अशुभध्यानरूप परिणति तथा कायोत्सर्गके दोष व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तके अतिचार है। तपके अतिचार पहले कहे हैं। मेरी दीक्षा छेदनेसे मैं छोटा हो गया, यह संक्लेश छेदप्रायश्चित्तका अतिचार है। भावपूर्वक रत्नत्रयको ग्रहण न करना मूलनामक प्रायश्चित्तका अतिचार है।

अतिचारके दो प्रकार हैं—देशातिचार और सर्वातिचार। मनवचनकाय और कृत-कारित

---

१ मृत्तिकार्द्रा–आ० मु०। २ अभ्रावकशस्य–अ०। ३ त्रसरहितकायचित्ताया विव–अ०। ४ र कृतो भवत –आ०। ५ तप अतिचारा उक्ता –आ०। तप अतिचारे उक्त मु०। र कृतो भवति मु०।

मतविकल्पाच्च । 'सव्वच्चागे य' सर्वातिचारे च 'आपण्णो' आपन्न ॥४८९॥

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे ।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥४९०॥

'आइरियाण' आचार्याणा । 'भिक्खु' भिक्षु । 'कहेदि' कथयति । 'वीसत्थदाए' विश्वासेन । कि ? 'सगदोसे' स्वातिचारान् । 'कोई पुण' कश्चित्पुनराचार्यपाश. । 'णिद्धम्मो' निष्क्रान्तो बहिर्भूतो जिनप्रणीताद्धर्मात् । 'अण्णेसिं' अन्येभ्य । 'कहेदि ते दोसे' कथयति तान् आलोचितान्दोषान् । अनेन किलायमपराध कृत इति ॥४९०॥

तेण रहस्सं भिंदंतएण साधू तदो य परिचत्तो ।
अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव ॥४९१॥

'तेण' नेन । 'रहस्सं भिदंतएण' प्रच्छाद्यालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । 'साहू' साधु । 'तदो य परिचत्तो' ततस्तु परित्यक्त । स्वदोषप्रकाशने मया कृते लज्जावानय दु खितो भवति । आत्मान वा घातयेत् । कुपितो वा रत्नत्रयं त्यजेत् इति स्वचित्तेऽकुर्वता परित्यक्तो भवति । 'अप्पा परिचत्तो', 'गणो परिचत्तो, संघो परिचत्तो', इति प्रत्येकाभिसबन्ध । 'मिच्छत्ताराहणा चेव' मिथ्यात्वाराधना दोषो भवति ॥४९१॥

इत्थ साधु परित्यक्तो भवतीत्याचष्टे—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि ।
विपरिणामिज्ज उधावेज्ज व गच्छेज्ज[1] बाध मिच्छत्तं ॥४९२॥

'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण व' गुरुतया वा । 'कोई' कश्चित् । 'दोसे' दोपान् । 'परस्स' परस्मै । 'कहिदो वि' कथितोऽपि । 'विपरिणामेज्ज' पृथग्भवेत् । नाय मम गुरु प्रियो यदि स्यात्कि मदीयान्दोषानन्-

---

अनुमोदनाके भेदसे देशातिचारके अनेक भेद है ॥४८९॥

गा०—भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषोको आचार्योसे कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मसे भ्रष्ट होता है, वह भिक्षुके द्वारा आलोचित दोषोको दूसरोसे कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसे करनेवाला आचार्य जिनधर्मसे बाह्य होता है ॥४९०॥

गा०—उस आलोचित दोषको प्रकट करनेवाले आचार्यने ऐसा करके उस साधुका ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने चित्तमे यह विचार नही किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देनेपर यह लज्जित होकर दुखी होगा, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रयको ही छोड देगा। तथा उस आचार्यने अपनी आत्माका त्याग किया, गणका त्याग किया, संघका त्याग किया। इतना ही नही, उसके मिथ्यात्वकी आराधना दोष भी होता है ॥४९१॥

उस आचार्यने साधुका परित्याग कैसे किया, यह कहते है—

गा०—निर्यापकाचार्यके द्वारा दूसरेसे साधुके गुप्त दोष कहनेपर कोई क्षपक लज्जावश या मानकी गुरुतावश विपरीत परिणाम कर सकता है। यह मेरा गुरु नही है। यदि मै इसे

---

१ गच्छाहि वा णिज्जा–मु० । 'गच्छाहि वा णिज्जा',' गच्छेज्ज मिच्छत्तमितिपाठे—मूलारा० ।

गदति। मदीया बहिश्चरा प्राणा गुरुरयमिति या संभावना साद्य नष्टेति चिन्ता विपरिणामः 'उद्धावेज्ज वा' त्यजेद्वा रत्नत्रय दोषप्रकटनेन कुपित.। 'गच्छेज्ज वा' गणान्तर प्रविशेत् ॥४९२॥

आत्मपरित्यागं व्याचष्टे—

कोई रहस्सभेदे कदे पदोसं गदो तमायरियं।
उद्दावेज्ज व गच्छं भिंदेज्ज व होज्ज पडिणीओ ॥४९३॥

'कोई' कश्चित्। **'रहस्सभेदे कदे'** रहस्यभेदे कृते। **'पदोसं गदो'** प्रद्वेष गत। **'तमायरियं'** तमाचार्यं। **'उद्दावेज्ज व'** मारयेत्। **'गच्छं भिंदेज्ज'** गणभेद कुर्यात्। किमनेन सूरिणा स्नेहरहितेन, यथा ममापराध प्रकटितवान् एव युष्मानपि निवेदितापराधान्दूषयिष्यतीति ब्रुवन्। **'होज्ज पडिणीओ'** प्रत्यनीको भवेत् ॥४९३॥

गणत्याग कथयति—

जह धरिसिदो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति।
सव्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छडेज्ज वायरियं ॥४९४॥

'जह धरिसिदो इमो' यथा दूषितोऽय। **'तह'** तथा। **'अम्हं पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति'** [1]अस्मद् दूषण कुर्यात् अयमिति। **'विप्परिणमेज्ज'** पृथग्भवेत्। **'छ डेज्ज वायरियं'** त्यजेद्वाचार्य। [2]नत्वनेन सूत्रेण गण आचार्य त्यजतीति कथ्यते तेन गणस्त्यक्त इति पूर्वसूत्रित ततोऽनयोर्न सगतिरित्यत्रोच्यते। यत एव सूरिणा

प्रिय होता तो यह मेरे दोष क्यो कहता। यह गुरु मेरे बाहरमे चलते-फिरते प्राण है ऐसा जो मै सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकारकी चिन्ता विपरीत परिणाम है। अथवा दोष प्रकट कर देनेसे कुपित होकर रत्नत्रयको छोड सकता है ॥४९२॥

उस आचार्यने आत्माका त्याग कैसे किया, यह कहते है—

गा०—रहस्यभेद करनेपर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्यको मार सकता है। अथवा गणमे भेद डाल सकता है कि इस स्नेहरहित आचार्यसे क्या लेना देना है? जैसे इसने मेरा अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हे भी अपराध निवेदन करने पर दोष लगायेगा। ऐसा कहकर अन्य साधुओको विरोधी बनाकर गणमे भेद डाल सकता है। अथवा विरोधी हो सकता है ॥४९३॥

उस आचार्यने गणका त्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—जैसे इस आचार्यने अमुक साधुका दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष भी प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण गणसे अलग हो सकता है अथवा आचार्यका त्याग कर सकता है।

टी०-शंका—इस गाथामे तो कहा है कि गण आचार्यको छोड़ देता है और पूर्व गाथामें कहा है कि आचार्यने गणका त्याग किया। इन दोनों कथनोकी सगति नही बंठती?

---

१ 'अ मान् दूषितान् कुर्यात्'—आ० मु०। २. बचनन सूत्रेण—आ०।

दोष'प्रख्यापनपरेण त्यक्तोऽसौ तत एव गणस्तं त्यजति ॥४९४॥

सघस्त्यक्तो भवतीत्येतद् व्याचष्टे—

तह चेव पवयणं सव्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स ।
तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जूहणं चावि ॥४९५॥

'**तह चेव पवयणं सव्वमेव**' तथैव प्रवचन सघ सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रय यस्मिन्निति शब्दव्युत्पत्तौ सघवाची भवति प्रवचनशब्द । '**विप्परिणद**' विरुद्धतया परिणतं प्रवृत्त । '**हवे तस्स**' भवेत्तस्य । '**तो**' तत. । '**से**' तस्य । '**दिसापहरण करेज्ज**' कुर्यात् आचार्या॰पहरण कुर्यात् सघ '**णिज्जूहणं वापि करेज्ज**' इति पद-सबन्ध । परित्याग वा कुर्यात् ॥४९५॥

मिथ्यात्वाराधनाप्रतिपादनार्था गाथा—

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ ।
धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो ॥४९६॥

'**जइ धरिसणमेरिसयं**' यदि दूषणं एवभूतं । '**करेदि**' करोति । '**सिस्सस्स चेव**' शिष्यस्यैव । क आचार्य. । '**धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणिज्ज**' धिग्धिग् अपुष्टधर्मान् श्रमणान् । इति '**भणेज्ज मिच्छ-जणे**' वदेन्मिथ्यादृष्टिर्जन ॥४९६॥

प्रस्तुतापरिश्रावितोपसहारगाथा प्रसिद्धार्था—

इच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स ।
पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स ॥४९७॥

'**इच्चेवमादि दोसा इति**' । अप्परिस्सव तु गद ॥४९७॥

समाधान—यत· दोषोंको प्रकट करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया अत· गण भी उसे छोड देता है ॥४९४॥

सघ कैसे त्यागा, यह कहते है—

गा०—जिसमे रत्नत्रय 'प्रोच्यते' कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचन शब्दका अर्थ यहाँ सघ है । सभी संघ आचार्यके विरुद्ध हो सकता है और उसके आचार्य पदको छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है ॥४९५॥

दोष प्रकट करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना कैसे होती है, यह कहते हैं—

गा०—यदि आचार्य अपने शिष्यको ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते है तो इन अपुष्ट धर्मवाले श्रमणोंको धिक्कार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेगे ॥४९६॥

प्रस्तुत अपरिश्रावि गुणके कथनका उपसहार करते हैं—

गा०—जो आचार्य पूछनेपर अथवा बिना पूछे शिष्यके द्वारा प्रकट किये दोषोको दूसरोसे नही कहता वह रहस्यको गुप्त रखनेवाला आचार्य अपरिस्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते । ४९७॥

अपरिस्रावी गुणका कथन पूर्ण हुआ ।

---

१ द्वेषप्रत्याख्यान मु० । दोषप्रत्याख्यान–आ० । २ आचार्यत्रये हरण–आ० ।

'**णिव्ववगो**' इत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध —
सथारभत्तपाणे 'यस्य येनाभिसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स ' इति कृत्वा—

संथारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरंते ।
पडिचरगपमादेण य सेहाणमसंवुडगिराहिं ।।४९८।।

संथारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरन्ते कुविदो हवेज्ज खवगो मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज । इति क्रियाभि. पदसंबन्धोऽत्र कार्य । सस्तरे भक्तपाने वा । '**अमणुण्णे**' अमनाज्ञे । '**कोरंतो**' क्रियमाणे । '**कुविदो**' कुपितो भवेत्क्षपक । **मेरं वा** मर्यादा वा । भेत्तुमिच्छेत् । '**चिरं व कीरंते**' चिराद्वा सस्तरकरणे भक्तपानानयने वा । '**पडिचरगपमादेण वा**' निर्यापकाना वैयावृत्यकरणे य प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत् । मर्यादा वा आत्मीया भेत्तु इच्छेत् । '**सेहाणमसंवुडगिराहिं**' अगृहीतार्थाना असवृताभि परुषाभि प्रतिकूलाभिर्वा कुपितो भवेत् ।।४९८।।

सीदुण्हछुहातण्हाकिलामिदो तिव्ववेदणाए वा ।
कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ।।४९९।।

'**सीदुण्हछुहातण्हा किलामिदो**' शीतेनोष्णेन क्षुधा तृषया पीडित कुपितो भवेत् । '**तिव्ववेयणाए वा**' तीव्रवेदनया वा कुपितो मर्यादोल्लङ्घनेच्छुर्भवेत् ।।४९९।।

णिव्ववएण तदो से चित्तं खवयस्स णिव्ववेदव्वं ।
अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पणट्ठमाणेण ।।५००।।

'**णिव्ववएण**' सन्तोषमुत्पादयता सूरिणा । '**तदो**' तत । '**से खवयस्स**' तस्य कुपितस्य मर्यादा भेत्तुमिच्छतो वा । '**चित्त णिव्वंवव्व**' चित्त प्रशान्ति नेय । '**अक्खोभेण**' चलनरहितेन व्यवस्थावता । **खमाए जुत्तेण**' क्षमया युक्तेन । '**पणट्ठमाणेण**' प्रनष्टमानेन । न हि रोषी मानी वा सूरि परचित्तकलङ्क प्रशमयितु ईहते ततो नि कषायेण भाव्यमिति भाव ।।५००।।

गाथाके 'णिव्ववगो' पदका व्याख्यान करते है—

गा०—सस्तर और भोजनपान क्षपकको मनके अनुकूल न होने पर, अथवा उसमे देरी करने पर अथवा निर्यापकोके वैयावृत्य करनेमे प्रमाद करने पर अथवा सल्लेखना विधिमे अनजान नये साधुओके कठोर और प्रतिकूल वचनोसे क्षपक कुपित हो सकता है अथवा अपनी मर्यादाका उल्लघन कर सकता है ।।४९८।।

गा०—अथवा शीत, उष्ण, भूख, प्याससे पीडित होनेसे अथवा तीव्र वेदनासे क्षपक कुपित हो सकता है और मर्यादाको तोडनेकी इच्छा करता है ।।४९९।।

गा०—तब विचलित न होनेवाले, क्षमाशील और मानरहित आचार्यको सन्तोष वचन कहते हुए उस कुपित अथवा मर्यादाको तोडनेके इच्छुक क्षपकके चित्तको शान्त करना चाहिये ।।५००।।

टी०—क्रोधी अथवा घमण्डी आचार्य दूसरेकी चित्तकी अशान्तिको शान्त करना नहीं पसन्द करता । इसलिए आचार्यको कषायसे रहित होना चाहिए, यह इस गाथाका भाव है ।।५००।।

एवंभूतो निर्वापयतीत्येतद्व्याचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते।
रदणकरंडयभूदो खुण्णो अणिओगकरणम्मि ॥५०१॥

'अंगसुदे य' श्रुतं पुरुष मुखचरणाद्यङ्गस्थानीयत्वादङ्गशब्देनोच्यते आचारादिकं द्वादशविध तस्मिन्नङ्गश्रुते। **'बहुविहे'** नानाप्रकारे। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति.। **'णो अंगसुदे य'** अङ्गबाह्ये वा। **'बहुविधविभत्ते'** सामायिक, चतुर्विंशतिस्तवो, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिका उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहार, कल्प्य, महाकल्प्यं, पुण्डरीक, महापुण्डरीक इत्यादिना विचित्रभेदेन विभक्ते। **'रयणकरंडयभूदो'** रत्नकरण्डकभूत। **'खुण्णो अणियोगकरणम्मि'** यद्यत्प्रस्तुत च वस्तु तत्र तत्र सदादिकाद्यनुयोगयोजनाया कुशल। अनेन ज्ञानमाहात्म्य सूचित ॥५०१॥

वत्ता कत्ता च गुणी विचित्तसुदधारओ विचित्तकहो।
तह य अपायविदण्हू मइसपण्णो महाभागो ॥५०२॥

'वत्ता' वक्ता। **'कत्ता य'** कर्ता च विनयवैयावृत्ययो। **'विचित्तसुदधारगो'** विचित्र श्रुत प्रथमानुयोग, करणानुयोगश्चरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विकल्पेन। **'विचित्तकहो'** विचित्राया कथाया. निरूपणा अस्य स विचित्रकथ। ननु च **'अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते'** इत्यनेनैव गतत्वात् किमनेन **'विचित्तसुदधारगो'** इत्यनेन? नैष दोष। पूर्वसूत्रे श्रुतकेवली निर्वापकत्वेनोक्त। अनया तु असमस्तश्रुताचा-

---

आगे कहते है कि इस प्रकारका आचार्य क्षपकका चित्त शान्त करता है—

गा०-टी०—श्रुत एक पुरुषके समान है। आचार्य आदि बारह उस श्रुतपुरुषके मुख, पैर आदि अगोके स्थानापन्न होनेसे अंग शब्दसे कहे जाते हैं। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति इत्यादिके भेदसे वह अगश्रुत नाना प्रकारका है।

नो अगश्रुत अर्थात् अगबाह्य भी सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक इत्यादि विचित्र भेदसे विभक्त है। जो आचार्य इन सब श्रुत भेदोके लिए रत्न रखनेके पिटारेके समान है अर्थात् जैसे पिटारेमे रत्न सुरक्षित रहते है वैसे ही वह इन श्रुतरूपी रत्नोका अभ्यास करके उन्हे अपने हृदयमे धारण करता है। तथा जो जो प्रस्तुत विषय है उस उस विषयमे सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व आदि अनुयोगोकी योजना करनेमे कुशल होता है वही आचार्य क्षपककी अशान्तिको शमन कर सकता है। इससे आचार्यके ज्ञान माहात्म्यको सूचित किया है ॥५०१॥

गा०-टी०—तथा वह वक्ता अर्थात् व्याख्यान करनेमे कुशल, विनय और वैयावृत्यका कर्ता और प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे नाना प्रकारके श्रुतका धारक और विविध प्रकारका निरूपण करनेवाला तथा रत्नत्रयके अतिचारोका ज्ञाता और स्वाभाविक बुद्धिसे सम्पन्न तथा जितेन्द्रिय महात्मा होता है।

शंका—पूर्व गाथामे आचार्यको अंगश्रुतका और विविध अगबाह्यका ज्ञाता कहा ही है। फिर यहाँ विचित्र श्रुतका धारक क्यो कहा?

योऽपि एवभूतो निर्वापको भवतीत्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता। 'तह य' तथा च। 'आपायविवण्हू' रत्नत्रयातिचारज्ञ.। 'मइसंपण्णो' स्वाभाविकया बुद्धया समन्वित। 'महाभागो' स्ववशो महात्मा ॥५०२॥

पगदे णिस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुत्तं च।
अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं मण्णिव्ववेमाणो ॥५०३॥

'अणुसासेदि' अनुशास्ति। 'पगदे' वक्तु प्रारब्धे वस्तुनि। 'णिस्सेसं गाहुगं' समस्तमवबोधयत्तदनु शासन करोति। 'आहरणहेदुजुत्तं च' दृष्टान्तेन हेतुना च युक्त। एतस्माद्धेतोरिदमेवैतदिति युक्त्यानुशास्ति 'सुविहिदो' यति। 'कुविद' कुपित 'सण्णिव्ववेमाणो' सम्यक् प्रशमयन् सम्यक्प्रमादमुपनयन् ॥५०३॥

णिद्धं मधुरं गंभीरं मणप्पसादणकरं सवणकंतं।
देइ कहं णिव्ववगो सदीसमण्णाहरणहेउ ॥५०४॥

'णिद्ध' पियवचनबहुलतया स्निग्ध। 'मधुर' अनतिकठोराक्षरतया मधुरं। 'गभीर' अर्थगाढतया। 'मणप्पसादकरणं' मन प्रल्हादविधायिनी। 'सवणकंतं' श्रुतिसुख। 'देवि कथ' कथा कथयति। 'णिव्ववगो' निर्वापक। 'सदोसमण्णाहरणहेदु' स्मृतिसमानयनकारण। पूर्वाभ्यस्तश्रुतार्थगोचरस्मरण इह स्मृतिरिति गृह्यते मतिवचनो वा। 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'–[त० सू० १।] इति वचनात्। तेन बुद्धिसमानयनकारणमित्यर्थ इति केचित् ॥५०४॥

णिज्जावगो इत्येत्सूत्रपद व्याचष्टे—

जह पक्खुभिदुम्मीए पोद रदणभरिदं समुद्दम्मि।
णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥५०५॥

'जह पक्खुभिदुम्मीए' यथा प्रचलिततरङ्गे। 'समुद्दम्मि' समुद्रे। 'पोदं' पोत नाव। 'रदणभरिदं' रत्नैर्भरित। 'णिज्जवगो' निर्यापक। 'धारेदि खु' धारयति। 'जिदकरणो' परिचितक्रिय। 'बुद्धिसंपण्णो' बुद्धिसपन्न बुद्धिमान् ॥५०५॥

समाधान—पूर्व गाथामे श्रुतकेवलीको निर्वापक रूपसे कहा है और इसमे समस्त श्रुतका जो ज्ञाता नही है ऐसा आचार्य भी निर्वापक होना है यह कहा है। इससे पुनरुक्त दोष नही है ॥५०२॥

गा०—जिस वस्तुका निवेदन करना प्रारम्भ करे तो उसके समस्त हेय उपादेय रूपका बोध दृष्टान्त और युक्तिसे करावे कि इस हेतुमे यह ऐसा ही है। ऐसा आचार्य कुपित हुए क्षपकको सम्यक् रूपसे प्रसन्न करके उसे शिक्षा देता है ॥५०३॥

गा०—निर्वापक आचार्य प्रियवचनोकी बहुतायत होनेसे स्निग्ध, अधिक कठोर अक्षर न होनेसे मधुर, अर्थकी प्रगाढता होनेसे गम्भीर, मनको प्रसन्नता और कानोको सुख देनेवाली कथा कहते है जिससे क्षपकको पहले अभ्यास किये हुए श्रुतके अर्थका स्मरण होता है। यहाँ स्मृतिसे कोई व्याख्याकार मतिका ग्रहण करते है क्योकि तत्त्वार्थसूत्रमे मति, स्मृति संज्ञा, चिन्ता अभिनिबोधको अर्थान्तर कहा है। अत वे अर्थ करते है कि उस कथामे क्षपकमे बुद्धिका आगमन होता है, उसकी बुद्धि जाग्रत हो जाती है ॥५०४॥

आगे गाथाके णिज्जावग (निर्यापक) पदका व्याख्यान करते हैं—

तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइद्धं।
णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥५०६॥

'**तह संजमगुणभरिदं**' तथा संयमेन गुणैश्च सम्पूर्णं। संयमस्य सर्वेभ्यो गुणेभ्य प्रधानत्वात् संयमशब्दस्य पूर्वनिपात.। '**परिस्सहुम्मीहिं**' क्षुत्पिपासादु खानि परीषहास्ते ऊर्मय इवानुक्रमेणोद्गच्छन्तीति ऊर्मिव्यपदेशं लभन्ते। परीषहोर्मिभि '**खुभिदं**' चलितं। '**आइद्धं**' तिर्यग्भूत यतिपोतं। '**णिज्जवगो धारेदि हु**' निर्यापकसूरिर्धारयति। '**महुरेहिं हिदोवदेसेहिं**' मधुरैर्हितोपदेशै. ॥५०६॥

धिदिबलकरमादहिदं महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ।
सिद्धिसुहमावहंती चत्ता आराहणा होइ ॥५०७॥

'**धिदिबलकरं**' धृतिबलकारिणीं। स्मृते. स्थैर्यं धृतिस्तस्या अवष्टम्भकारिणीं। '**आदहिदं**' आत्म हितां। '**मधुरं**' मधुरा। '**कण्णाहुदिं**' कर्णाहुतिं। '**जदि ण देदि**' यदि न दद्यात्। सिद्धिसुखमावहन्तीति। सिद्धिसुखानयनकारिणी। '**आराहणा**' आराधना। '**चत्ता होदि**' त्यक्ता भवति ॥५०७॥

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ।
होइ य कित्ती पथिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥५०८॥

'**इय**' एव। '**णिव्ववगो**' निर्वापक। '**खवगस्स**' क्षपकस्य। '**णिज्जावगो होदि**' निर्यापको भवति। '**सदायरिओ**' सदाचार्य निर्यापकत्वगुणसमन्वित क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूरेर्दर्शयति। '**होदि य कित्ती पथिदा**' भवति च कीर्ति प्रथिता। '**एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स**' आचारवत्त्वादिभिर्गुणैर्युक्तस्य ॥५०८॥

गा०—जैसे नौका चलानेका अभ्यासी बुद्धिमान् नाविक तरंगोमे क्षुभित समुद्रमे रत्नोसे भरे जहाजको धारण करता है ॥५०५॥

गा०—वैसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणोसे पूर्ण, किन्तु परीषह रूप लहरोसे चचल और तिरछे हुए क्षपकरूप जहाजको मधुर और हितकारी उपदेशोसे धारण करता है उसका सरक्षण करता है ॥५०६॥

टी०—सयम सब गुणोसे प्रधान है इसलिए संयम शब्दको गुणसे पहले रखा है। तथा भूख-प्यासका दुःख परीषह है। वे लहरोकी तरह एकके बाद एक क्रमसे उठती हैं इसलिए परीषहोंको लहरे या तरगें कहा है ॥५०६॥

गा०—यदि आचार्य स्मृतिकी स्थिरता रूप धैर्यको बल देने वाली और आत्माका हित करनेवाली मधुर वाणी क्षपकके कानोमे न सुनाये तो मोक्ष सुखको लानेवाली आराधनाको क्षपक छोड बैठे ॥५०७॥

प्रस्तुत चर्चा का उपसहार करते है।

गा०—इस प्रकार निर्यापकत्व गुणसे युक्त आचार्य क्षपकका निर्यापक होता है। वह उसका उपकारी होता है। इतना कहकर उस निर्यापकाचार्यका भी इसमे स्वार्थ बतलाते है कि

इय अट्ठगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि ।
खवगो वि तं भयवदी उवगूहदि जादसंवेगो ॥५०९॥

'इय' एव । **'अट्ठगुणोवेदो'** आचारवानित्याद्यष्टगुणोपेत सूरि । **'कसिणं'** कृत्स्ना । **'आराधणं'** आराधनां । **'उवविधेदि'** ढौकयति । **'खवगो वि'** क्षपकोऽपि । **'तं'** ता **'भगवदि'** भगवती सकलबाधापनयन-माहात्म्यवती । **'उवगूहदि'** आलिंगति । **'जादसंवेगो'** उत्पन्नसंसारभीरुत्व । **सुट्ठिदं सम्मत्तम्** ॥५०९॥

एवं सुट्ठिद इत्येतद्व्याख्यात, इत उत्तर उवसम्पा इत्येतद्व्याख्यायते—

एवं परिमग्गित्ता णिज्जवयगुणेहिं जुत्तमायरियं ।
उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमग्गो तगो साहू ॥५१०॥

'एवं परिमग्गित्ता' अन्विष्य । क ? **'आयरियं'** आचार्य । कीदृग्भूत ? **'णिज्जवयगुणेहिं'** निर्यापक-गुणैराचारवत्त्वादिभि समन्वितं । **'उवसंपज्जदि'** ढौकते । क ? **'तगो'** स । **'साहू'** साधु । **'कीदृग्भूतः'** ? **विज्जाचरणसमग्गो** ज्ञानेन चारित्रेण समग्र सम्पूर्ण ॥५१०॥

गुरुकुले आत्मनिसर्ग उवसपानाम समाचार । तत्क्रम निरूपयति—

तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं ।
विणएणमंजलिकदो वाइयवसभं इमं भणदि ॥५११॥

'तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं' । तस्य निर्यापकस्य सूरे कृतिकर्म वन्दना कृत्वा । कीदृश **'तियरणसव्वावासगपडिपुण्ण'** मनोवाक्कायात्मसर्वावश्यकप्रतिपूर्णा । सामायिक, चतुर्विंशति-स्तवोवन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, इत्येते मनोवाक्कायविकल्पेन त्रिविधा षडावश्यकसंज्ञिता. । मनसा सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति, वचसा **'सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामि'** इति वचन । कायेन सावद्यक्रियानन्-

---

इन आचारवत्त्व आदि गुणोसे युक्त निर्यापकाचार्यकी कीर्ति सब जगह फैलती है ॥५०८॥

गा०—इस प्रकार आचारवान् आदि आठ गुणोसे सहित आचार्य समस्त आराधनाको प्राप्त होता है । क्षपक भी ससारसे विरक्त होकर समस्त बाधाओको दूर करनेसे माहात्म्यशाली उस भगवती आराधनाका आलिंगन करता है उसे अपनाता है ॥२०९॥

इस प्रकार सुस्थित गुणका व्याख्यान हुआ । इसमे आगे उपसपदाका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार ज्ञान और चारित्रसे सम्पूर्ण क्षपक निर्यापकके आचारवत्व आदि गुणोसे युक्त आचार्यको खोजकर उनके निकट जाता है ॥५१०॥

गुरुकुलमे आत्मोत्सर्ग करनेको 'उवसपा' नामक समाचार कहते है । यहाँ उसके क्रमका कथन करते हैं—

गा०—मन वचन कायसे छह आवश्यकोको पूर्णरूपसे करके निर्यापकाचार्यकी वन्दना करता है और विनयपूर्वक दोनो हाथोंको जोड उनकी अजली बनाकर उन आचार्य श्रेष्ठसे इस प्रकार कहता है ॥५११॥

टी०—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक मन वचन कायके भेदसे तीन भेदरूप होते हैं । मनसे सर्व सावद्ययोगकी निवृत्ति, वचनसे

ध्यानं, मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृता गुणानुस्मरणं **'लोगस्सुज्जोययरे'** इत्येवमादीना गुणाना वचन । ललाट-विन्यस्तकरमुकुलता जिनेभ्य. कायेन । वन्दनीयगुणानुस्मरण मनोवन्दना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशन-परवचनोच्चारणं । कायवन्दना प्रदक्षिणीकरण कृतानतिश्च । मनसा कृतातिचारान्निवृत्ति । हा दुष्कृतमिति वा मन प्रतिक्रमणं । सूत्रोच्चारणं वाक्प्रतिक्रमणं । कायेन तदनाचरण कायप्रतिक्रमण । मनसातिचारादीन्न करिष्यामि इति मन.प्रत्याख्यानं । वचसा तन्नाचरिष्यामि इति उच्चारणं । कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यङ्गीकार । मनसा शरीरे ममेदंभावनिवृत्ति मानसः कायोत्सर्ग । कायं वोसरामीति वचन वाचा कायोत्सर्ग । प्रलम्बभुजस्य, चतुरङ्गुलमात्रपादान्तरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्ग । कायापायनिरासमकृत्वा एकान्ते गुरावासीने प्रसन्नचेतसि शनैरागत्य शरीर भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृताञ्जलि भगवन्कृतिकर्मवन्दनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञात शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकर अविलम्बितमनुद्रुत सामायिक पठेत् । सूत्रानुगत, अविचल, अविकृत स्थित कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवमभिधाय सूरिणानुरक्तमना गुरुस्तवन पठेन् इत्येषा कृतिकर्मवन्दना । वन्दनोत्तरकालं **'विणएण'** विनयेन **'अंजलिकदो'** मुकुलीकृताञ्जलि । **'वाइयवसभं'** आचार्यवृषभ **'इणं'** इद । **भणदि** ब्रवीति इति ॥५११॥

तुज्झेत्थ बारसंगसुदपारया सवणसंघणिज्जवया ।
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥५१२॥

'तुज्झेत्थ' यूयमत्र । **'बारसंगसुदपारगा'** द्वादश आचारादीनि अङ्गानि यस्य तत् द्वादशाङ्ग श्रुत सागर इव तस्य पार गता । **'समणसंघणिज्जवगा'** श्रामयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणा तेषा समुदाय श्रमणसंघ

'मैं सर्व सावद्ययोगको त्यागता हूँ' ऐसा कहना, कायसे सावद्य क्रियाओंका न करना। मनसे चौबीस तीर्थकरोंके गुणोका स्मरण, वचनसे 'लोगस्सुजोयकरे' इत्यादि स्तुतिका पढना, कायसे दोनो हाथ मुकुलित करके मस्तकसे लगाना। वदनीय गुणोका स्मरण करना मनोवन्दना है। वचनसे उनके गुणोके माहात्म्यको प्रकट करने वाले वचनोका उच्चारण करना वचन वन्दना है। प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना काय वन्दना है। मनसे किये हुए दोषोकी निवृत्ति या हा, मैंने बुरा किया' ऐसा सोचना मन.प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण सूत्रका पढना वाक् प्रतिक्रमण है। कायसे उन दोषोका न करना काय प्रतिक्रमण है। मनसे मै अतिचार आदि नही करूँगा ऐसा संकल्प मन प्रत्याख्यान है। मै उन्हे नही करूँगा ऐसा कहना वचन प्रत्याख्यान है। कायसे नहीं करूँगा ऐसा स्वीकार करना काय प्रत्याख्यान है। मनसे शरीरमे 'यह मेरा है' ऐसा भाव न होना मानस कायोत्सर्ग है। वचनसे मै कायका त्याग करता हूँ ऐसा कहना वचन कायोत्सर्ग है। दोनो हाथोको लटकाकर और दोनो पैरोके मध्यमे चार अगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खडा होना कायसे कायोत्सर्ग है। कायके अपायका निरास न करके (?) जब गुरु एकान्त मे बैठे हो और प्रसन्न मन हो तब धीरेसे आकर शरीर और भूमिकी प्रतिलेखना करके, गुरुसे न तो दूर और न समीप बैठकर हाथोकी अंजलि बनाकर निवेदन करे कि भगवन्! कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ। इस प्रकार आलोचना करके गुरुकी अनुज्ञा मिलने पर धीरेसे उठकर दोनो हाथ मस्तकसे लगा न बहुत धीरे, न बहुत जल्दीमें सामायिक पाठ पढे। शास्त्रके अनुसार विकार रहित निश्चल खडे होकर कायोत्सर्ग करे। फिर चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन करे। फिर आचार्यमें अनुराग पूर्वक गुरु स्तवन पढे। यह कृतिकर्म वन्दना है। वन्दनाके अनन्तर विनयपूर्वक दोनो हाथ जोड़ आचार्यसे इस प्रकार निवेदन करे॥५११॥

तस्य निर्यापका । '**तुज्झं खु पादमूले**' युष्माकं पादमूले '**उज्जवेज्जामि**' उद्योतयिष्यामि । '**सामण्णं**' श्रामण्यं ॥५१२॥

आत्मेच्छां सूरये प्रकटयति—

पव्वज्जादी सव्वं कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं ।
दंसणणाणचरित्ते णिस्सल्लो विहरिदुं इच्छे ॥५१३॥

'**पव्वज्जादी सव्वं**' दीक्षाग्रहणादिका सर्वा । '**कादूणालोयण**' कृत्वालोचना '**सुपरिसुद्ध**' दोषरहिता । '**दंसणणाणचरित्ते**' दर्शनज्ञानचरित्रे । '**णिस्सल्लो**' शल्यरहितो भूत्वा । '**विहरिदु**' विहर्तुं आचरितु । '**इच्छे**' इच्छामि ॥५१३॥

एवं कदे णिसग्गे तेण सुविहिदेण वायओ भणइ ।
अणगार उत्तमट्ठं साधेहि तुमं अविग्घेण ॥५१४॥

'**एवं कदे णिसग्गे**' स्वभारत्यागे कृते । कण '**तेण सुविहिदेण**' तेन सुचरितेन क्षपकेण । '**वायओ भणइ**' वाचक सूरिर्वदति । '**अणगार**' त्यक्तद्रव्यभावागारत्वादनगार तस्य सबोधन । '**उत्तमट्ठं**' उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय द्रव्य '**साधेहि**' साधय । '**तुमं**' त्व । '**अविग्घेण**' अविघ्नेन ॥५१४॥

धण्णोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ।
संसारदुक्खमहणीं घेत्तुं आराहणपडायं ॥५१५॥

'**धण्णोसि तुमं**' धन्योऽसि । पुण्यवानसि '**तुमं**' भवान् । '**सुविहिद**' यते । '**एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ**' । उपलक्षणपर मनोज्ञाहारग्रहणे ईदृग्यस्य निश्चयो जात । '**ससारदुक्खमहणी**' ससारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि दु खानि तन्मर्दनोद्यता । '**घेत्तुं**' ग्रहीतु । '**आहारणापडागं**' आराधनापताका । रत्नत्रयाराधनया कर्माण्यपयान्ति । तदपगमात्तद्दु खनिवृत्ति इति भाव ॥५१५॥ उपसपा ।

गा०—आप द्वादशाग श्रुत सागरके पारंगामी हो । आचार आदि बारह जिसके अग है वह द्वादशांग श्रुत समुद्रके समान है आपने उसे पार कर लिया है। तथा जो श्राम्यन्ति अर्थात् तपस्या करते है वे श्रमण है। उनका समुदाय श्रमणसघ है उसके आप निर्यापक है। मै आपके चरणोमे बैठकर अपने श्रामण्यको उद्योतित करूँगा ॥५१२॥

गा०—अपनी इच्छा आचार्यके सामने प्रकट करता है—दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर जो दोष किए है उनकी दोषरहित आलोचना करके मै दर्शन, ज्ञान और चारित्रको शल्यरहित होकर पालन करना चाहता हूँ ॥५१३॥

गा०—इस प्रकार उस उत्तम चरित वाले क्षपकके द्वारा अपना भार त्यागने पर वाचक आचार्य कहते है—हे द्रव्य और भावरूप अगार (घर) का त्याग करने वाले अनगार! तुम बिना किसी विघ्न बाधाके उत्तम अर्थ रत्नत्रय रूप द्रव्यकी साधना करो ॥५१४॥

गा०—हे सुविहित श्रमण! तुम धन्य हो—पुण्यशाली हो, जो तुमने चार गतियोमे परिभ्रमण रूप ससारमे जो दुःख हैं, उन दुःखोंको नष्ट करने पर तत्पर आराधना पताकाको ग्रहण

अच्छाहि ताव सुविहिद वीसत्थो मा य होहि उव्वादो ।
पडिचरएहिं समंता इणमट्ठं संपहारेमो ॥५१६॥

'**अच्छाहि ताव सुविहिद**' आस्स्व तावद्यते । '**वीसत्थं**' विश्वस्तं । '**मा य होहि उव्वादो**' व्याकुलितचित्तो मा च भू । '**पडिचरगेहिं समं**' प्रतिचारकैः सह । '**इणमत्थं**' इद प्रयोजनं । '**संपहारेमो**' सम्प्रधारयाम । '**उवसंपा**' निरूपिता ॥५१६॥

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमट्ठे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ।
खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए समाधीए ॥५१७॥

'**तो**' पश्चात् । '**तस्स**' तस्य क्षपकस्य । '**उत्तमट्ठकरणुच्छाहं**' रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साहं । '**पडिच्छदि**' परीक्षते । '**विदण्हू**' मार्गज्ञ । कथं ? '**खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए**' क्षीरौदनद्रव्यग्रहण मनोज्ञाहारग्र[1]हण जुगुप्सापरेण । '**समाधीए**' समाधिनाहारगत लौल्यमस्य किं विद्यते न वेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । **समाधिणिमित्तं पडिच्छा** ॥५१७॥

खवयस्सुवसंपण्णस्स तस्स आराधणा अविक्खेव ।
दिव्वेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ॥५१८॥

'**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**उवसपण्णस्स**' आत्मान्तिकमुपाश्रितस्य । '**तस्स**' तस्य । '**आराहणा अविक्खेवं**' आराधनाया अविक्षेप । '**पडिलेहदि**' परीक्षते । क ? '**सो**' स सूरिर्निर्यापक । '**अप्पमत्तो**' प्रमादरहित । केण ? '**दिव्वेण**' देवतोपदेशेन । '**णिमित्तेण**' निमित्तेन वा इयमेका परीक्षा ॥५१८॥

करनेका निश्चय किया । रत्नत्रयकी आराधनासे कर्मोका विनाश होता है । उनका विनाश होनेसे दुःखसे छुटकारा होता है ॥५१५॥

गा०—हे सुविहित ! विश्वस्त होकर तब तक बैठो । अपना चित्त व्याकुल मत करो । हम वैयावृत्य करने वालोंके साथ इस विषय पर विचार करते है ॥५१६॥

'उवसपा' का कथन पूर्ण हुआ ।

आगे गाथाके 'पडिच्छा' (परीक्षा) पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—उसके पश्चात् मार्गको जाननेवाले आचार्य क्षपकके रत्नत्रयकी आराधना करनेमे उत्साहकी परीक्षा करते हैं कि उसके आराधना करनेका उत्साह है या नही है । तथा दूध भात आदि द्रव्यको ग्रहण करनेमे इसकी लोलुपता है या ग्लानि है ऐसी परीक्षा करते हैं । यहाँ दूधभात मनोज्ञ आहारका उपलक्षण है । अत आहारके सम्बन्धमे उसकी परीक्षा करते है । यह परीक्षा समाधिके निमित्त की जाती है ॥५१७॥

परीक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

गा०—आराधनाके निमित्तसे अपने पास आये क्षपककी आराधना निर्विघ्न होनेके लिए

---

१ ग्रहणोपलक्षण मु० । 'खीरोदणदव्वुग्गहदुगुछणाए' क्षीरौदनद्रव्यं मनोज्ञाहारोपलक्षण तस्य अवग्रहो ग्रहण तत्र विचिकित्सा निन्दा तया ।'—मूलारा० ।

रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च पडिलिहित्ताणं ।
गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ।।५१९।।

'**रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाण च**' राज्य, क्षेत्रं, देश ग्रामनगरादिक अधिपति गणमात्मान च । '**पडिलिहित्ताणं**' परीक्ष्य । '**गुणसाधणो**' गुणान्सम्यक्त्वादीन् साधयति य सूरि स । '**पडिच्छदि**' प्रतिगृह्णाति । कं । क्षपक । अन्यत्र गुणसाधण इति पाठ । गुणान्साधयितु उद्यत साधु प्रतिगृह्णाति । '**अप्पडिलेहाए**' उक्ताया परीक्षाया अभावे । '**बहुदोसा**' बहवो दोषा भवन्ति । के ते इति चेदुच्यन्ते । निरस्ताहारतृष्णो न वेति यदि न परीक्षित , आहारे तृष्णावाननक्तदिन तमेव चितयतीति कथमाराधक । क्षुत्पिपासापरीषहावष्टम्भासहनात्पूत्कुर्वन् धर्मदूषण कुर्यात् । आराधनाया व्याक्षेपो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि त न त्याजयति तस्यापि न कार्यसिद्धि स्वय च निन्द्यते जनेन । राज्यक्षेत्रादीना शुभाशुभपरीक्षा येन कृता सोऽशुभ चे[1]त्पश्यति तस्य राज्यादेश्च स राज्यक्षेत्रादिक अन्यदुद्दिश्य त गृहीत्वा याति । तथा च तस्योपकारको भवति । अपरीक्षाया तु राज्यादिभ्रंशे स च क्षपक स्वय च क्लिश्यति गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति, आत्मनो वा न प्रारभते कार्यं । अपरीक्षितकारी सरिन तस्योपकारको न चात्मन इति दोषा ।।५१९।।

परीक्षानन्तर आपुच्छा इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

आचार्य प्रमादरहित होकर दिव्य निमित्तज्ञानके द्वारा परीक्षा करते हैं कि इसकी आराधना निर्विघ्न होगी या नही होगी ।।५१८।।

गा०–टी०—सम्यक्त्व आदि गुणोका साधक वह आचार्य राज्य, क्षेत्र, अधिपति, गण, और अपनी शरीरकी परीक्षा करके क्षपकको ग्रहण करता है । अन्यत्र 'गुणसाधणं' पाठ मिलता है । उसके अनुसार आचार्य गुणोकी साधनाके लिए उद्यत साधुको ग्रहण करता है । उक्त परीक्षा न करनेमे बहुत दोष है ।

उन्हे ही कहते है—क्षपककी आहार विषयक तृष्णा दूर हुई है या नही, ऐसी परीक्षा यदि नही की और क्षपक आहारमे तृष्णा रखनेवाला हुआ, तो रात दिन आहार की ही चिन्ता करनेपर कैसे आराधक हो सकता है । भूख प्यासकी परीषहोको न सहनेसे चिल्ला-चिल्लाकर धर्मको दूषित करेगा । आराधनामे विघ्न आयेगा या नही, इसकी परीक्षा न करके यदि उस विघ्नको दूर नही किया जाय तो क्षपकका भी कार्य सिद्ध न हो और स्वय आचार्य लोगोंकी निन्दाका पात्र बने । जो आचार्य राज्य क्षेत्र आदिकी अच्छे बुरेकी परीक्षा करता है वह यदि क्षपक और राज्य आदिका अशुभ देखता है तो उस क्षपकको लेकर अन्य राज्य और अन्य क्षेत्र आदिमे चला जाता है । ऐसा करनेसे वह क्षपकका उपकार करता है । परीक्षा न करनेपर यदि राज्य आदिमे उत्पात हुआ तो क्षपक और आचार्य दोनोंको कष्ट उठाना पड़ता है । यदि गणका या अपना अनिष्ट देखता है तो आचार्य कार्यका प्रारम्भ नही करता । अतः विना परीक्षा किए कार्य करनेवाला आचार्य न क्षपकका उपकार करता है और न अपना उपकार करता है ।।५१९।।

परीक्षाके अनन्तर 'आपृच्छा' का कथन करते है—

१ चेन्न प–आ० ।

पडिचरए आपुच्छिय तेहिं णिसिट्ठं पडिच्छदे खवयं ।
तेसिमणापुच्छाए असमाधी होज्ज तिण्हंपि ॥५२०॥

आपुच्छा । '**पडिचरए**' प्रतिचारकान्यतीन् । '**आपुच्छिय**' आपृच्छ्य रत्नत्रयाराधने अस्मानय सहायान्कामयन् प्राघूर्णको यतिः साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणं च तीर्थकरनामकर्मणो मूलमिति भवद्भिरिदमवगतमेव, ततो वदत किमस्माभिरयमनुग्राह्यो न वेति, परार्थवन्त परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि किमुत यतय. । सकलमासन्नभव्यलोकं ससारपङ्कादुद्धत्तरादमाधादुत्तारयितुमुद्यता ।

'**अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वमिति**' वचनाच्च ।

एतदनुग्रहोद्योगः किं कार्यं इति प्रष्टव्य इति कथयति । '**तेहिं**' परिचारकैः । '**णिसिट्ठं**' निसृष्ट अभ्युपगत । '**पडिच्छदे**' प्रतिगृह्णाति । '**खवगं**' क्षपक । '**तेसिमणापुच्छाए**' परिचारकाणामपरिप्रश्ने तु । '**असमाही होज्ज तिण्हंपि**' सूरे क्षपकस्य सघस्य च असमाधि सक्लेशो भवेत् । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा अनुद्योगादिना मम[1] न किञ्चित् कुर्वन्ति इति क्षपकस्य सक्लेशो भवति । गुरोरपि सक्लेशो भवति, मयास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमे नोपयान्ति इति । परिचारकाणा च सक्लेशो बहुजनसाध्य कार्यमस्मान्गुरुर्नानुमोदयति । न बलाबलमस्माक परीक्षते इति ॥५२०॥

पडिच्छणा इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

एगो संथारगदो जजइ सरीरं जिणोवदेसेण ।
एगो सल्लिहदि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहिं ॥५२१ ॥

'**एगो संथारगदो**' एक सस्तरमारूढ । '**जजइ सरीरं**' यजते शरीरं । '**जिणोवदेसेण**' जिनानामुपदे-

---

गा०-टी०—आचार्य परिचर्या करनेवाले यतियोसे पूछता है—यह क्षपक रत्नत्रयकी साधनामे हमारी सहायता चाहता है। साधु समाधि और वैयावृत्य करना तीर्थकर नामकर्मके बन्धके कारण है यह आप जानते ही है। अत. कहिये, हमलोग इसपर अनुग्रह करे या न करे ? प्राय. लौकिकजन भी परोपकारी और परोपकारके लिए सदा तत्पर रहनेवाले होते है। तब यतिजनोंका तो कहना ही क्या है ? वे तो समस्त निकट भव्यजीवोको गहरे ससार पकसे निकालनेमे तत्पर रहते है। आगममे भी कहा है—'आत्माका हित करना चाहिए। यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए।' अतः क्या इसके कल्याणका उद्योग करना चाहिए या नही। इस प्रकार आचार्यके पूछनेपर यदि वे स्वीकार करते है तो आचार्य क्षपकको स्वीकार करते है। परिचारक यतियोसे न पूछनेपर आचार्य, क्षपक और सघ तीनोको ही सक्लेश होता है। हम लोगोने इस क्षपकको स्वीकार नही किया ऐसा मानकर यतिगण यदि उसकी विनय या वैयावृत्य न करे तो क्षपकको सक्लेश होता है कि ये मेरा कुछ भी नही करते। गुरुको भी संक्लेश होता है कि मैने इसका उपकार करना प्रारम्भ किया किन्तु वे इसमे सहायता नही करते। परिचारक यतियोको भी सक्लेश होता है कि यह कार्य बहुत जनोके करनेका है किन्तु हमारा गुरु यह नही मानता और न हमारे बलाबलकी परीक्षा करता है ॥५२०॥

आगे 'पडिच्छणा' पदको कहते है—

गा०—एक मुनि तो संस्तरपर चढकर जिनेन्द्रके उपदेशसे शरीरको आराधनामे लगाता

---

१ मम भक्ति विकु—आ० । मम न भक्ति कु—मु० ।

क्षेन । **'एगो सल्लिहदि मुणी'** एको मुनिस्तनूकरोति शरीर । **'उग्गेहिं तवोविहाणेहिं'** उग्रैस्तपोविधानै ॥५२१॥

तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाघादो ।
पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥५२२॥

'तदिओ णाणुण्णादो' तृतीयो यतिर्नानुज्ञात तीर्थकृद्भि एकेन निर्यापकेनानुग्राह्यत्वेन । कुतो यस्मात् । **'जजमाणस्स हु हवेज्ज वाघादो'** यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । **'पडिदेसु दोसु तीसु य'** सस्तरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षपकेषु **'समाधिकरणानि हायंति'** चित्तसमाधानक्रिया विनयवैयावृत्त्यादयो हीयन्ते यस्माद्यजमानस्य व्याघात ॥५२२॥

यस्मादेक एव यजमानो भवति—

[१]**तम्हा पडिचरयाणं सम्मदमेयं पडिच्छदे खवयं ।**
भणदि य तं आयरियो खवयं गच्छस्स मज्झम्मि ॥५२३॥

'तम्हा' तस्मात् । **'एगं'** एक । **'पडिच्छदे'** अनुजानाति । **'खवगं'** क्षपकमेक । **'पडिचरयाणं सम्मदं'** प्रतिचारकाणा इष्ट । **'भणदि य'** भणति च । **'तं'** क्षपक । क ? **'आयरिओ'** आचा । क्व ? **'गच्छस्स मज्झम्मि'** गणस्य मध्ये । क्षपकस्य शिक्षा । किमर्थं ? गणोऽपि मार्गज्ञो यथा स्यात् इति । **पडिच्छणेगस्स** ॥५२३॥

एवमसौ क्षपक वदतीति कथयति—

फासेहि तं चरित्तं सव्वं सुहसीलय पयहिदूण ।
सव्वं परीसहचमु अधियासंतो धिदिबलेण ॥५२४॥

'फासेहि' प्रतिपद्यस्व । **'तं'** भवान् । कि ? **'चरित्तं'** चारित्र । **'सव्वं सुहसीलद'** सर्वां सुखशीलता । **'पजहिदूण'** त्यक्त्वा । सुखशीलतया हि चारित्र मन्द भवति पिण्डस्योपकरणस्य वसतेश्चाशोधनात् । मनोज्ञाहार-

---

है । एक मुनि उग्रतप करके शरीरको कृश करता है ॥५२१॥

गा०—टी०—तीर्थंकरने एक निर्यापक आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य तीसरे यतिकी अनुज्ञा नही दी है अर्थात् एक आचार्यकी देख-रेखमे एक साथ एक दो ही मुनि सल्लेखना कर सकता है क्योंकि तपरूपी अग्निमे अपने शरीर आहुति देनेवाले मुनिकी समाधिमे विघ्न आता है । इसका कारण यह है कि यदि दो या तीन क्षपक सस्तर पर पड जाये तो चित्तको समाधान देनेवाली विनय वैयावृत्य आदिमें कमी आती है ॥५२२॥

गा०—अत आचार्य एक ही क्षपकको स्वीकार करते है जो परिचर्या करनेवाले यतियोको इष्ट होता है । तथा आचार्य गणके मध्यमे क्षपकको शिक्षा देते है जिससे गण भी समाधिको जान जाये ॥५२३॥

गा०—हे क्षपक ! तुम धैर्यके बलसे सम्पूर्ण सुखशीलताको त्यागकर सम्पूर्ण परीषहोंकी सेनाको सहन करते हुए चारित्रको धारण करो । सुखशीलतासे चारित्र मन्द होता है क्योकि

---

१ तम्हा खवय एय पडिचरगणसम्मद पडिच्छेइ । भणदि य त आइरिओ सगच्छमज्झम्मि खवयस्स ॥—आ० ।

लम्पटो न भिक्षा शोधयति नाप्युपकरणं। सु[1]खशील उद्गमादिदोषं न परिहरति मनोज्ञोपकरणबद्धाभिलाषत्वात्। क्लेशासहो यस्य कस्यचिद्वसतावास्ते ॥५२४॥

इन्द्रियजयं कषायजयं च कुर्वित्युपदिशति—

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं।
सव्वेसु कसाएसु य णिग्गहपरमो सदा होह ॥५२५॥

'**सद्दे रूवं गंधे**' इत्यनया। ननु शब्दादयो विषयास्तेषां जयो नाम क ? तद्विषयो हि रागो बन्धहेतुत्वात् तत्प्रतिपक्षवैराग्यभावनया जेतव्यत्वेनोपदेष्टव्यः। अत्रोच्यते—सोपस्कारत्वात्सूत्राणां **सद्दे, रूवे, गन्धे, रसे य फासे य रागं तुमं जिणाहि** इति पदसम्बन्धः। अथवा शब्दादीनां विषयाणां वशे न स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते। यथा पुरुषो जितोऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशानुवर्तिनी न भवति। '**सव्वेसु कसाएसु य**' सर्वेषु कषायेषु वा क्रोधादिषु। '**णिग्गहपरमो**' निग्रहप्रधानः क्षमादिभावनया सदा भव ॥५२५॥

एवं कृतेन्द्रियकषायजयेन मया पश्चात्किं कर्तव्यमित्यत्रोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता।
तो मलिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धिं ॥५२६॥

सुखशील मुनि भोजन, उपकरण और वसतिका शोधन नहीं करता। जो स्वादिष्ट भोजनका लम्पट होता है न वह भिक्षाका शोधन करता है और न उपकरणका शोधन करता है। तथा सुखशील मुनि उद्गम आदि दोषका परिहार नहीं करता, उसका मन तो मनोज्ञ भोजन और उपकरणमें रहता है। कष्ट न सहकर जिस किसीकी वसतिमें ठहर जाता है ॥५२४॥

आगे इन्द्रिय और कषायोंको जीतनेका उपदेश देते हैं—

गा०-टी०—हे यति! तुम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको जीतो।

शङ्का—शब्द आदि इन्द्रियोंके विषय हैं उनको जीतना कैसे ? उन विषयोंमें राग बन्धका कारण है। अतः उनके विरोधी वैराग्य भावनाके द्वारा उनको जीतनेका उपदेश देना चाहिए ?

समाधान—सूत्र उपस्कार सहित होते हैं अतः शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शमें जो राग है उसे तुम जीतो ऐसा पदका सम्बन्ध होता है। अथवा जो शब्दादि विषयोंके वशमें नहीं है उसे जीतनेवाला कहते हैं। जैसे जो स्त्री पुरुषकी अनुगामिनी नहीं होती उसके सम्बन्धमें कहा जाता है कि इसने पुरुषको जीत लिया।

तथा सब क्रोधादि कषायोंमें क्षमा आदि भावनाके द्वारा सदा निग्रह करनेमें तत्पर रहो ॥५२५॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायको जीतनेपर मुझे क्या करना चाहिए, क्षपकके इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

---

१ कुशील उद्गमादिदोषा परिहरति—आ०।

'हंतूण' हत्वा । **'कसाए'** कषायान् । **'इंदियाणि'** इंद्रियाणि च हत्वा । **'सव्वं च गारवं हंता'** सर्वं च गारव हत्वा ऋद्धिरससातभेदात्त्रिविकल्प । **'तो'** पश्चात् । **'मलिदरागदोसो'** मृदितरागद्वेष । **'करेहि'** कुरु । **'आलोयणासुद्धि'** आलोचनाख्यां शुद्धि । रागद्वेषौ असत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्याविति कथितौ । रागाच्च पश्यति नरो दोषान् । द्वेषाद् गुणाश्च गृह्णीते । तस्माद्रागद्वेषौ व्युदस्य कार्याणि कार्याणि ॥५२६॥

निरतिचार मदीय रत्नत्रय तत कि गुरोर्निवेदयामीति न मन्तव्यमित्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि अवस्समेव कायव्वा ।
परसक्खिया विसोधी सुट्ठुवि ववहारकुसलेण ॥५२७॥

'छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि' षट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि । **'अवस्समेव होइ कायव्वा'** अवश्यमेव भवति कर्तव्या । का ? **'विसोही'** विशुद्धि मुक्त्युपायातिचाराणामपाकृति ॥५२७॥

आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो ।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥५२८॥

'सुट्ठुवि ववहारकुसलेण' सुठु अपि प्रायश्चित्तकुशलेनापि । अष्टौ ज्ञानाचारा दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविध, पंच समितय , तिस्रो गुप्तयश्च षट्त्रिंशद्गुणा. ॥५२८॥

गा०—कषाय और इन्द्रियोको नष्ट करके तथा ऋद्धि, रस, और सातके भेदसे सम्पूर्ण गारवको नष्ट करके, पश्चात् राग और द्वेषका मर्दन करके आलोचनाकी शुद्धि करो । राग और द्वेष झूँठ बोलनेमे कारण होते है इसलिए उन्हे छोडने योग्य कहा है । रागवश मनुष्य दोषोको नही देखता, और द्वेषवश गुणोको ग्रहण नही करता । इसलिए रागद्वेषको दूर करके कार्य करना चाहिए ॥५२६॥

मेरे रत्नत्रय निरतिचार है अत गुरुसे क्या निवेदन करूँ ? ऐसा मानना योग्य नही, ऐसा कहते हैं—

गा०—छत्तीस गुणोके धारण और व्यवहारमे कुशल आचार्यको भी अवश्य अन्य मुनिकी साक्षीसे अपने रत्नत्रयकी विशुद्धि—अतिचारोका शोधन करना होता है । आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकारका तप, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण है ॥५२७॥

गा०—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस प्रकारका स्थितिकल्प, बारह तप, छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण जानना चाहिए ॥५२८॥

विशेषार्थ—दोनो प्रतियोमे यह गाथा इससे पूर्वकी गाथाकी विजयोदया टीकाके मध्यमे दी है । किन्तु विजयोदया टीकामे जो छत्तीस गुण गिनाये है वे इस गाथासे भिन्न हैं । दोनो प्रतियोंमे यद्यपि इसपर क्रमाक न० ५२२ है किन्तु इससे आगेकी गाथापर भी यही नम्बर है । इससे प्रतीत होता है कि इस गाथाको मूलमे नही गिना गया है । प० आशाधरजीने अपनी टीकामें छत्तीस गुण संस्कृत टीकामे विजयोदयाके अनुसार बतलाकर प्राकृतटीकाके अनुसार अट्ठाईस मूल-गुण और आचारवत्त्व आदि आठ इस तरह छत्तीस बतलाए है । 'यदि वा' लिखकर दस आलोचना गुण, दस प्रायश्चित्त गुण, दस स्थितिकल्प, छह जीतगुण इस तरह छत्तीस गुण बतलाकर लिखा है कि यह गाथा प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है ॥५२८॥

सव्वे वि तिण्णसंगा तित्थयरा केवली अणंतजिणा ।
छदुमत्थस्स विसोधिं दिसंति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥५२९॥

सर्वेषां तीर्थकृतामियमाज्ञा—गुरोर्निवेद्यात्मापराधं तदुक्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा शुद्धिं कार्येति । '**सव्वेवि तित्थयरा**' सर्वेऽपि तीर्थकराः । '**तिण्णसंगा**' उल्लङ्घितपरिग्रहागाधपङ्का । '**सव्वे वि केवली**' सर्वेऽपि केवलिनः । परिप्राप्तस्वर्गावतरणादिकल्याणत्रयाः केवलज्ञानावरणक्षयादधिगतविश्वज्ञाना केवलिनः । '**अणंतजिणा**' अनन्तसंसारकारकत्वाच्चारित्रसर्वघातिमिथ्यात्व[1] सम्यग्मिथ्यात्वं द्वादशकषायाश्च अनन्त तज्जयादनन्तजिना आचार्योपाध्यायसाधवः । तेऽपि सर्वे '**सदा गुरुसयासे सोधिं दिसंति**' सदा गुरुसमीपे रत्नत्रयशुद्धिं दर्शयन्ति । कस्य ? '**छदुमत्थस्स**' छद्मस्थस्य सम्बन्धिनीमिति केचिद्वदन्ति । रत्नत्रयपरिणामात्मको [2]रत्नत्रयशुद्धया शुद्धो । भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युच्यते इति वाञ्छया ॥५२९॥

यो न वेत्त्यतिचारजातमलनिराकरणक्रमं सोऽन्यस्मै कथयेद्यस्तु स्वयं वेत्ति स कस्मात् परस्मै कथयति तदुक्तं वाचरतीत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं ।
वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारभइ ॥५३०॥

'**जह सुकुसलो वि वेज्जो**' यथा सुष्ठु कुशलोऽपि वैद्य । व्याधिनिरासे '**आदुरो**' आतुर । '**अण्णस्स कहेइ**' अन्यस्मै कथयति । '**रोगं**' व्याधि । एवंभूतो मम व्याधि, चिकित्सा कुर्विति । '**वेज्जस्स तस्स सोच्चा**' तस्य वैद्यस्य श्रुत्वा वचन । '**सो वि य**' सोऽपि च आतुरो[3] वैद्य । '**पडिकम्ममारभदि**' प्रतिक्रियामारभते ॥५३०॥

सब तीर्थंकरोंकी यह आज्ञा है कि गुरुसे अपने अपराधको निवेदन करके, वे जो प्रायश्चित्त कहे उसे करके शुद्धि करना चाहिए। यही कहते है—

गा०-टी०—परिग्रहरूपी अथाह कीचडको लाँघनेवाले सभी तीर्थंकर, स्वर्गसे अवतरण, जन्म और दीक्षा इन तीन कल्याणकोंको प्राप्त करके, केवलज्ञानावरणके क्षयसे समस्त विश्वको जाननेवाले केवलज्ञानी, तथा अनन्तसंसारका कारण होनेसे चारित्रका सर्वघात करनेवाले मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और बारह कषायको अनन्त कहा है। उनको जीतनेसे आचार्य, उपाध्याय और साधु अनन्तजिन कहे जाते हैं। ये सभी सदा गुरुके समीपमे रत्नत्रयकी शुद्धि करनेको कहते है। यह शुद्धि छद्मस्थ अवस्थासे सम्बन्ध रखती है ऐसा कोई कहते है। अथवा रत्नत्रयके परिणामवाला आत्मा रत्नत्रयकी शुद्धिसे शुद्ध होता है इससे उसे छद्मस्थकी विशुद्धि कहते है ॥५२९॥

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न मलको दूर करनेका क्रम नहीं जानता उसका दूसरे आचार्यादि से कहना उचित है। किन्तु जो स्वयं जानता है वह दूसरेसे क्यों कहता है और क्यो उसके कहे अनुसार आचरण करता है इस शंकाका उत्तर देते है—

गा०—जैसे अत्यन्त निपुण भी वैद्य रोगी होनेपर अपना रोग दूसरे वैद्यसे कहता है और उस वैद्यकी चिकित्सा सुनकर वह रोगी वैद्य उसका कहा इलाज प्रारम्भ करता है ॥५३०॥

१ मिथ्यात्व द्वाद-आ०मु० । २. त्रयशुद्धया भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युक्तवानयं आ०मु० ।
३ अनातुरो आ० मु० ।

एवं जाणंतेण वि पायच्छित्तविधिमप्पणो सव्वं ।
कादव्वादपरविसोधणाए परसक्खिगा सोधी ॥५३१॥

'**एवं जाणंतेण वि**' विजानतापि । किं ? '**पायच्छित्तविधिं**' प्रायश्चित्तक्रमं । '**अप्पणो**' आत्मन. । '**सव्वं**' सर्वं । '**कादव्वा**' कर्तव्या । '**परसक्खिगा सोधी**' शुद्धि । '**आदपरविसोधणाए**' आत्मन परा उत्कृष्टा विशोधना यथा स्यादित्येवमथ स्वसाक्षिका परसाक्षिका च विशुद्धिरुत्कृष्टेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ।
[1]**तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥** [ ]

इति वचनात् । शुद्धिरतिचाराणा अनेन कृतेति परे मानयन्ति । निरतिचाररत्नत्रयोऽयमिति परे भव्या एतदुपदेशेनास्माभि प्रवर्तितव्यमिति ढौकन्ते । अन्यथा तद्गुणातिशयानवगमनान्न तदनुयायिनो भवन्ति । तत कथमनेन परानुग्रह कृत स्यात् । कर्तव्य स्वपरानुग्रह ।

तथा चोक्त—अप्पहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कायव्वं ॥ इति । तथापि—

श्रेयोर्थिना हि जिनाशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः—[वराग० १।१३] । इति । वैद्य इव । अथवा आत्मन [2]परस्परविशोधनार्थं परसाक्षिक । मम शुद्धि दृष्ट्वा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाक्षिकाया शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे स्वसाक्षिकामेव कुर्यु । तथा च न शुद्धयन्ति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोक ॥५३१॥

यस्मात्परसाक्षिका शुद्धि प्रधाना—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो ।
तं सव्वं आलोचेहि णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥५३२॥

गा०—इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रायश्चित्त विधिको जानते हुए भी मुनिको अपनी उत्कृष्ट विशुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । क्योकि अपनी और दूसरेकी साक्षीपूर्वक विशुद्धि उत्कृष्ट मानी जाती है । कहा है—'प्रायश्चित्त' शब्दमे प्रायका अर्थ लोक है और उसका मन चित्त उस चित्तका ग्राहक अथवा उस चित्तको शुद्ध करनेवाले कर्मको प्रायश्चित्त कहा है ॥५३१॥

टी०—प्रायश्चित्त करनेसे दूसरे मानते है कि इसने अतिचारोकी शुद्धि कर ली । इसका रत्नत्रय निरतिचार है । अन्य भव्यजीव उसके पास इस विचारसे आते हैं कि हमे भी इनके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करना चाहिए । यदि दोषोंकी विशुद्धि साधु न करे उसके गुणोके अतिशयको न जाननेसे भव्यजीव उसके अनुयायी नही होते । तब साधु कैसे दूसरोका उपकार कर सकता है । कहा भी है कि 'अपना हित करना चाहिए । अपना हित करते हुए शक्य हो तो परका हित करना चाहिए ।' तथा और भी कहा है—'कल्याणके इच्छुक जिनशासनके प्रेमीको नियमसे हितका उपदेश करना चाहिए । जैसे वैद्य दूसरोका हित करता है । अथवा अपनी और परकी शुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । मेरी शुद्धिको देखकर दूसरे भी ऐसा ही करेंगे, इसलिए साधु परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना है । ऐसा न करनेसे सब केवल अपनी ही साक्षीपूर्वक शुद्धि करने लगेगे । और ऐसा करनेपर वे शुद्ध नही हो सकेगे । लोग तो प्रायः देखा-देखी करनेवाले होते है ॥५३१॥

---

१ चित्तशुद्धिकर कर्म आ० मु० । २ परस्य वि–मु० ।

'**तम्हा**' तस्मात् । '**पव्वज्जादी**' प्रव्रज्यादिक । '**दंसणणाणचरणातिचारो जो**' दर्शनज्ञानचरणातिचारो य । '**तं सव्वं**' सर्वं अतिचारं । '**आलोचेहि**' कथय । '**पणिहिदप्पा**' प्रणिहितचित्तो भूत्वा । '**णिरवसेसं**' सर्वमित्यनेनैवावगतत्वात् निरवशेषमित्येतत्किमर्थं इति चेत्—ज्ञानदर्शनचारित्रविषयाणामतिचाराणा कतिपयाना सामस्त्येऽपि सर्वशब्दस्य प्रवृत्तिरस्तीति निरवशेषग्रहण प्रत्येक ज्ञानाद्यतिचारान् ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति तन्न दोष ॥५३२॥

कथ निरवशेषालोचना कृता भवतीत्यारेकायामाह—

काइयवाइयमाणसियसेवणं दुप्पओगसंभूय ।
जइ अत्थि अदीचारं तं आलोचेहि णिस्सेसं ॥५३३॥

'**काइयवाइयमाणसियसेवणं**' कायेन, वाचा, मनसा च प्रवृत्ति प्रतिसेवना । '**दुप्पओगसंभूया**' दु प्रयोगसभूता '**तं**' तां । '**आलोचेहि**' कथय । '**णिस्सेसं**' नि शेष । '**जइ अत्थि अदीचारो**' यद्यस्त्यतिचार ॥५३३॥

अमुगंमि इदो काले देसे अमुगत्थ अमुगभावेण ।
जं जह णिसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोचे ॥५३४॥

चरण अतिक्रम्याचरण । '**इदो**' अस्माद्दिनादतिक्रान्ते । '**अमुगम्मि काले**' अमुकस्मिन्काले । '**देसे**' अमुष्मिन्देशे । '**अमुगभावेण**' अनेन भावेन । '**जं**' यत् । '**जधा णिसेविदं**' यथा निषेवित । '**जेण य सह**' येन च सह । '**त सव्वमालोचे**' तत्सर्वं कथयेद्देशभेदात् कालभेदात् परिणामभेदात्, महायभेदात् च दोषाणा गुरुलघुभाव । गुरुलघुभावानुसारेण वा गुरु लघु वा प्रायश्चित्त दीयते । तत्सर्वं कथयति ॥५३४॥

शिक्षयत्यालोचनाक्रम सूरि—

गा०—यत परकी साक्षीपूर्वक की गई शुद्धि ही प्रधान है अत दीक्षासे लेकर अबतक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे जो अतिचार लगे है वे सब निरवशेष सावधान चित्त होकर कहो ।

शङ्का—सब कहनेसे ही सबका ज्ञान हो जाता है फिर निरवशेष क्यो कहा ?

समाधान—ज्ञान दर्शन और चारित्रविषयक कुछ अतिचारोको पूरी तरहसे कहनेमे भी सर्वशब्दकी प्रवृत्ति है, इसलिए 'निरवशेष' का ग्रहण ज्ञानादिके प्रत्येक अतिचारको ग्रहण करनेके लिए किया है । अत कोई दोष नही है ॥५३२॥

निरवशेष आलोचना कैसे की जाती है ? इसका उत्तर देते है—

गा०—मनवचन और कायकी प्रवृत्ति करते हुए यदि उनके दुष्प्रयोगसे अतिचार लगा हो तो उसकी पूरी तरहसे आलोचना करो ॥५३३॥

गा०—इस दिनसे लेकर अमुक कालमे, अमुक देशमे, अमुक भावसे जो दोष, जिसके साथ जिस प्रकारसे किया हो वह सब कहना चाहिए । देशभेद, कालभेद, परिणामभेद, और सहायकके भेदसे दोषोंमे गुरुपना और लघुपना होता है । और दोषोकी गुरुता और लघुताके अनुसार गुरु या लघु प्रायश्चित्त दिया जाता है । इसलिए क्षपक सब कहता है ॥५३४॥

आचार्य आलोचनाके क्रमकी शिक्षा देते है—

आलोयणा हु दुविहा ओघेण य होदि पदविभागी य ।
ओघेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदरस्स ।।५३५।।

'**आलोयणा हु दुविहा होदि**' द्विप्रकारैवालोचना भवति । '**ओघेण पदविभागी य**' सामान्येन विशेषेण च । वचो हि सामान्यं विशेष चावलम्ब्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह– '**ओघेण मूलपत्तस्स**' सामान्यालोचना मूलाख्य प्रायश्चित्त प्राप्तस्य । '**पदविभागी**' विशेषालोचना । '**इदरस्स**' मूलमप्राप्तस्य ।।५३५।।

सामान्यालोचनार्हं सामान्यालोचनास्वरूप च कथयति—

आघेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधिसव्वघादी वा ।
अज्जोपाए इच्छं सामण्णमहं खु तुच्छोत्ति ।।५३६।।

'**ओघेणालोचेदि हु**' सामान्येन कथयति । '**कोऽपरिमिदवराधो सव्वघादी वा**' बहवो अपराधा यस्य मिथ्यात्व व्रतभङ्गो वा । परसाक्षिकाया शुद्धौ मायाशल्य निरस्त भवति । मानकषायो निर्मूलितो भवति । गुरुजन पूजितो भवति । तत्परतन्त्रया वृत्तेर्मार्गप्रख्यापना च कृता स्यात् । '**अज्जोपाए**' अद्यप्रभृति । '**इच्छ सामण्ण**' इच्छामि श्रामण्य । '**अह खु तुच्छोत्ति**' अह स्वल्पको रत्नत्रयेणेति इय सामान्यालोचना ।।५३६।।

विशेषालोचनामाचष्टे—

गा०—आलोचना दो प्रकारकी होती है—एक सामान्यसे और दूसरी विशेष से । क्योकि सामान्य और विशेषका अवलम्बन लेकर ही वचनकी प्रवृत्ति होती है । किस दोषकी सामान्यसे आलोचना होती है और किसको विशेषसे होती है ? यह कहते हैं—जिसको मूल नामक प्रायश्चित्त दिया जाता है वह सामान्यसे आलोचना करता है और जिसको मूल प्रायश्चित्त नही दिया जाता वह विशेष रूपसे आलोचना करता है ।।५३५।।

विशेषार्थ—जिसकी मूलसे ही दीक्षा छेद दी जाती है वह अपने दोषोंकी सामान्य आलोचना करता है किन्तु जो सम्यक्त्व आदिमे दोष लगाता है वह अपने दोषकी विशेष आलोचना करता है । यहाँ सामान्यसे मतलब है किसी गुणविशेषमे लगे दोषकी आलोचना न करके सामान्य मुनिधर्म मात्रमे लगे दोषकी आलोचना करना, और किसी गुणविशेषमे लगे दोषकी आलोचना विशेष आलोचना है ।

सामान्य आलोचनाके योग्य कौन होता है और सामान्य आलोचनाका स्वरूप कहते है—

गा०—जो अपरिमित अपराधी है जिसने बहुत अपराध किए है या जिसने सब सम्यक्त्व व्रत आदि का घात किया है वह सामान्य आलोचना करता है । मै आज से मुनि दीक्षा लेना चाहता हूँ । मै रत्नत्रय से तुच्छ हूँ । यह सामान्य आलोचना का स्वरूप है । आचार्य आदिकी साक्षी पूर्वक शुद्धिमे मायाशल्य दूर होता है । मान कषाय जड़ से उखड जाती है । गुरुजनके प्रति आदर भाव व्यक्त होता है । उनके अधीन रह कर व्रताचरण करनेसे मोक्षमार्गकी ख्याति होती है ।।५३६।।

विशेष आलोचनाको कहते हैं—

पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण ।
पडिसेविदं तहा तं आलोचिंतो पदविभागी ॥५३७॥

'**पव्वज्जादी सव्वं**' प्रव्रज्यादिकं सर्वं । '**कमेण जं जत्थ जेण भावेण पडिसेविदं**' क्रमेण यद्यत्र कालत्रये वा देशे येन भावेन प्रतिसेवितं । '**तहा तं**' तथा तत् । **आलोचिंतो** निरूपयन्निति । यदि पदविभागी **विशेषा-लोचना** भवति ॥५३७॥

शल्यानिराकरणे दोषं शल्यापाये च गुणं दृष्टान्तेन दर्शयति—

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्दुदो होदि ।
तम्हि दु समुद्धिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥५३८॥

'**जह कंटएण विद्धो**' यथा कण्टकेन विद्धः । '**सव्वंगे**' सर्वस्मिन् शरीरे । '**वेदणुद्दुदो होइ**' वेदनयोपद्रुतो भवति । '**तम्हि समुद्दिदे**' तस्मिन्कण्टके उद्धृते । '**सो**' दुःखितः । '**णिस्सल्लो**' निःशल्यो शल्येन रहितः । '**णिव्वुदो**' निर्वृतो । '**होदि**' भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥५३८॥

दार्ष्टान्तिकयोजना—

एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ।
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥५३९॥

'**एवं**' कण्टकेन विद्ध इव । '**अणुद्धुददोसो**' अनुद्धृतदोषः । '**माइल्लो**' मायावान् । स्वापराधाकथनानुद्धृतदोषेण । '**दुक्खिदो होदि**' दुःखितो भवति । '**सो चेव वंददोसो**' स एव वान्तदोषः । '**सुविसुद्धो णिव्वुदो होदि**' निर्वृतो भवति ॥५३९॥

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च ।
अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥५४०॥

'**मिच्छादंसणसल्लं**' मिथ्यादर्शनशल्यं । '**मायासल्लं**' मायाशल्यं । '**णिदाणसल्लं**' निदानशल्यं च । '**अहवा सल्लं दुविहं**' अथवा शल्यं द्विप्रकारं । '**दव्वे भावे य**' द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । '**बोधव्वं**' बोद्धव्यम् ॥५४०॥

गा०—दीक्षासे लेकर सब कालमे सब क्षेत्रमे जिस भावसे और जिस क्रमसे जो दोष किया हो उसकी उसी प्रकार आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना है ॥५३७॥

शल्यको दूर न करनेमे दोष और दूर करनेमे गुण दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

गा०—जैसे कण्टकसे विधा हुआ सर्वशरीरमे पीड़ासे पीडित होता है और उस कण्टकके निकल जानेपर वह दुःखी मनुष्य शल्यसे रहित हो सुखी होता है ॥५३८॥

गा०—उसी प्रकार जो काँटेकी तरह दोषको नही निकालता वह मायावी अपने अपराधको न कहने रूप दोषसे दुःखी रहता है। और वही दोषको प्रकट करनेपर विशुद्ध होकर सुखी होता है ॥५३९॥

गा०—शल्यके तीन भेद हैं—मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, अथवा शल्यके दो भेद जानना—द्रव्यशल्य और भावशल्य ॥५४०॥

तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य ।
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ॥५४१॥

'तिविह तु' त्रिविध एव । **'भावसल्लं'** परिणामशल्यं । **'दंसणणाणे चरित्तजोगे य'** दर्शने, ज्ञाने, चारित्रयोगे वा । दर्शनस्य शल्यं शकादि । ज्ञानस्य शल्यं अकाले पठन अविनयादिक च । चारित्रस्य शल्य समितिगुप्त्योरनादर । [[1]योगस्य तपस प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजातं । असयमपरिणमनं वा । तपसश्चारित्रे अन्तर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तम्] **'दव्वम्मि सल्लं तिविहं'** द्रव्ये शल्यं त्रिविध । **'सचित्ते अचित्ते मिस्सगे य'** सचित्तद्रव्यशल्य दासादि । अचित्तद्रव्यशल्य सुवर्णादि । **'मिस्सगे वा'** विमिश्रद्रव्यशल्य ग्रामादि । एतत्त्रिविध द्रव्यशल्यमित्युच्यते—चारित्राचारस्य शल्यस्य कारणत्वात् ॥५४१॥

भावशल्यानुद्धरणे दोषमाचष्टे—

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं ।
लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥५४२॥

'एगमवि' एकमपि भावाना रत्नत्रयाणा शल्य । अतिचार । **'अणुद्धरित्ताण'** अनुद्धृत्य । **'जो कुणदि काल'** य करोति मरण । कस्मान्नोद्धरति ? **'लज्जाए'** लज्जया । **'गारवेण य'** गारवेण वा । **'सो ण खु आराधगो होदि'** स आराधको नैव भवति । निरतिचारता हि तेषा यतीना आराधना ॥५४२॥

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्य न कालक्षेप कार्य इति शिक्षयति—

कल्ले परे व परदो काहं दंसणणाणचरित्तसोधित्ति ।
इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणंति ॥५४३॥

'कल्ले' श्व प्रभृतिके काले । अहं करिष्यामि **'दंसणचरित्तसोधित्ति'** दर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिमिति । **'इय संकप्पमदीया'** एव कृतसकल्पमतय । **'गयंपि कालं ण जाणंति'** गतमतिक्रान्तमपि आयु.काल नैव जानन्ति ।

गा०-टी०—भावशल्यके तीन भेद है—दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य, चारित्रयोगशल्य । शका आदि दर्शनके शल्य है । अकालमे पढना, विनय न करना आदि ज्ञानके शल्य है । समिति और गुप्तिमे अनादर चारित्रके शल्य है । पहले कहे अनशन आदिके अतिचार अथवा असयमरूप परिणाम योग अर्थात् तपके शल्य है । तपका अन्तर्भाव चारित्रमे होता है इस विवक्षासे यहाँ भावशल्य तीन कहे हैं । द्रव्यशल्य भी तीन है—सचित्त, अचित्त और मिश्र । दास आदि सचित्त द्रव्यशल्य हैं । सुवर्ण आदि अचित्त द्रव्यशल्य हैं । गाँव आदि मिश्र द्रव्यशल्य है । इन तीनोको द्रव्यशल्य कहते है क्योकि ये चारित्राचारके शल्यके कारण है ॥५४१॥

भावशल्यको दूर न करनेमे दोष कहते है—

गा०—जो साधु लज्जा अथवा गारवसे एक भी भाव अर्थात् रत्नत्रयके शल्य अर्थात् अतिचारको निकाले विना मरण करता है, वह मुनि आराधक नही है । निरतिचारता ही यतियोकी आराधना है ॥५४२॥

आगे शिक्षा देते हैं कि अपराध होनेपर तत्काल कहना चाहिए, देर नही करना चाहिए—

गा०-टी०—कल या परसो मे दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी शुद्धि करूँगा ! ऐसा सकल्प

---

१ कोष्टान्तर्गत पाठो नास्ति–अ० आ० प्रत्यो ।

तत सशल्यं मरण तेषा भवति । अत एवोक्तं—'उप्पण्णाणुप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा' इति ॥— [मूलाचार ७।१२५ ॥] व्याधय. शत्रव: । कर्माणि, चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाशयन्ते । अथवा अतिचारकालं गतं चिरातिक्रान्त नैव जानन्ति । ये हि अतिचारा: प्रतिदिन जातास्तेषा काल, सन्ध्या रात्रिर्दिन इत्यादिक । पश्चादालोचनाकाले गुरुणा 'पृष्टा वा न वक्तुं जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य । अथागत त्वतीचारकाल तस्यातिचारस्य । अपिशब्देन क्षेत्रभावौ वातिचारस्य हेतू न जानन्ति न स्मरन्ति । सामान्यवाच्यपि जानाति । इह स्मृतिज्ञान[2]गोचर इति केषाचिद्व्याख्या ॥५४३॥

सशल्यमरणे को दोष इत्याशङ्कायामाचष्टे—

रागद्दोसाभिहदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा ।
ते दुक्खसल्लबहुले भमंति संसारकांतारे ॥५४४॥

'**रागद्दोसाभिहदा**' रागद्वेषाभ्यामभिहता. । '**ससल्लमरणं**' सशल्यमरण । '**मरंति**' म्रियन्ते । '**जे मूढा**' ये मूढास्ते '**संसारकांतारे भमंति**' । ते ससाराटव्या भ्रमन्ति । कीदृशि ? '**दुक्खसल्लबहुले**' दु खानि शल्यवत् दुर्द्धरत्वाच्छल्य इत्युच्यन्ते । दु खशल्यसङ्कुले ॥५४४॥

शल्योद्धरणे गुण व्याचष्टे—

तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं ।
पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे ॥५४५॥

'**तिविहंपि**' त्रिविधमपि । '**भावसल्लं**' भावशल्य । '**समुद्धरित्ताण**' समुद्धृत्य । '**जो कुणदि कालं**' य: काल करोति । कीदृग्भूत ? '**पव्वजादी**' प्रव्रज्यादिक । '**सव्वं**' सर्वं । '**स होदि**' स भवति । '**आराधओ**' आराधको दर्शनादीना । '**मरणे**' भवपर्यायप्रच्यवे ॥५४५॥

करनेवाले बीनते हुए आयुकालको नही जानते। इसीसे उनका मरण शल्य सहित होता है। इसीसे कहा है—'जैसे ही मायाशल्य उत्पन्न हो, उत्पन्न होते ही उसे आनुपूर्वीक्रमसे नष्ट कर देना चाहिए।' व्याधि, शत्रु और कर्मकी यदि उपेक्षा की जाये तो उनकी जड़ जम जाती है फिर सुखपूर्वक उनका विनाश नही होता। अथवा अपराधकी उपेक्षा करनेवाले साधु दोष लगनेके कालको बहुत दिन बीत जानेपर भूल जाते है। जो अतिचार प्रतिदिन होते है उनका काल सन्ध्यामे अतिचार लगा था या रातमे या दिनमे, इत्यादि भूल जाते है। पीछे आलोचना करते समय गुरुके पूछनेपर नही कह पाते क्योकि बहुत काल बीतनेसे भूल जाते है। अथवा बीते अतीचारके कालको और 'अपि' शब्दसे अतिचारके हेतु क्षेत्र और भावको नही जानते, उन्हे उनका स्मरण नही होता। ऐसी किन्हीको व्याख्या है ॥५४३॥

शल्यसहित मरणमें दोष कहते है—

गा०—राग और द्वेषसे पीडित जो मूढ मुनि शल्यसहित मरते है वे दु खरूपी शल्योसे भरे ससाररूपी वनमें भटकते है। शल्यकी तरह दुर्द्धर होनेसे दु खोको शल्य कहा है ॥५४४॥

शल्यको निकालनेमे गुण कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा लेनेके दिनसे लेकर तीन प्रकारके सब भावशल्यको निकालकर मरण

---

१ पृष्टातावन्न आ० मु० । २ ज्ञानागोच-ज्ञानागारव आ० मु० ।

जे गारवेहिं रहिदा णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य ।
विहरंति मुत्तसंगा खवंति ते सव्वदुक्खाणि ॥५४६॥

'**जे गारवेहिं रहिदा**' ये गोरवैविरहिता । '**णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य**' निःशल्या सन्तो दर्शने चरित्रे च । '**विहरन्ति**' प्रवर्तन्ते । '**मुत्तसंगा**' निरस्तमूर्च्छा । ते '**सव्वदुक्खाणि खवंति**' ते सर्वाणि दुःखानि क्षपयन्ति ॥५४६॥

तं एवं जाणंतो महंतयं लाभयं सुविहिदाण ।
दंसणचरित्तसुद्धो णिस्सल्लो विहर तो धीर ॥५४७॥

'**तं**' भवान् । '**एवम्**' उक्तप्रकारेण । '**जाणंतो**' जानन् । '**महंतगं**' महान्त लाभ । '**सुविहिदाणं**' सुसयताना । '**दंसणचरित्तसुद्धो**' दर्शने चारित्रे च शुद्धि । तयोः शुद्धिर्ज्ञानदर्शनशुद्धिमन्तरेण न भवतीति त्रयाणा शुद्धिरुक्ता । '**णिस्सल्लो**' शल्यरहितः सन् । '**विहर**' चर । '**तो**' तस्माद् '**धीर**' धैर्योपेत ॥५४७॥

तम्हा सतूलमूलं अविछूढमविप्पुदं अणुव्विग्गो ।
णिम्मोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्वं ॥५४८॥

'**तम्हा**' तस्मात् यस्मात्सशल्यमरणे दोष । निःशल्यमरणे च सकलदुःखनिवृत्ति दुःखकारणाना कर्मणाम[1]भावात् । '**तम्हा**' तस्मात । '**सम्मं सव्वमालोचे**' सम्यक् सर्वमतिचारं कथयेत् । दुःखनिवृत्त्यर्थं[2] मति । कथमालोचयेदित्याशङ्कायामालोचनाविशेषमाह–'**सतूलमूलं**' तूलमूलाभ्या सहित । '**सव्व**' निरवशेष । '**अविछूढं**' अविस्मृत । '**अविप्पुदं**' अद्रुत । '**अणुव्विग्गो**' निर्भय । '**णिम्मोहिदं**' मोहरहित । '**अणिगूढं**' अनिगूढं ॥५४८॥

जह बालो जंपतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥५४९॥

करते हैं वे मरते समय दर्शन आदिके आराधक होते हैं ॥५४५॥

गा०—जो तीन प्रकारके गारव और तीन प्रकारके शल्योसे रहित हो ममत्वभावको त्याग दर्शन ज्ञान और चारित्रमे विहार करते है वे सब दुःखोका क्षय करते है ॥५४६॥

गा०—हे धीर ! निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले सयमियोके ऊपर कहे महान् लाभको जानते हुए तुम दर्शन और चारित्रकी शुद्धि करके शल्यरहित होकर मोक्षमार्गमे प्रवर्तन करो । दर्शन और चारित्रकी शुद्धि ज्ञान और दर्शनकी शुद्धिके विना नही होती । इसलिए दर्शन और चारित्रकी शुद्धिमे दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोकी शुद्धि कही है ॥५४७॥

गा०—यतः शल्यसहित मरणमे दोष है और निःशल्य मरणमे दुःखके कारण कर्मोंका अभाव होनेसे समस्त दुःखोसे छुटकारा होता है । इसलिए दुःखसे निवृत्तिके लिए दीक्षाके दिनसे लेकर आज तक जो अतिचार लगे है वे सब विना भूल किये, धीरे-धीरे, विना किसी भय और मोहके सम्यक्रूपसे प्रकट करो ॥५४८॥

---

१. भाव –आ० मु० । २ त्यर्थायति.–अ० । त्यर्थं इति मु० ।

'**जह बालो जंपंतो**' यथा बालो जल्पन्। '**कज्जमकज्जं व**' कार्यमकार्यं वा। '**भणदि**' वदति। '**उज्जुगं**' ऋजुना क्रमेण। '**तह**' तथा। '**आलोचेदव्वं**' वक्तव्योऽपराध। '**मायामोसं च मोत्तूण**' मनोगता वक्रता, वचनगतां, मृषा च मुक्त्वा ॥५४९॥

उपसंहरति प्रस्तुतम्—

दंसणणाणचरित्ते कादूणालोचणं सुपरिसुद्धं ।
णिस्सल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥५५०॥

'**दंसणणाणचरित्ते**' दर्शनज्ञानचरित्रविषया। '**आलोचणं कादूण**' अपराधमभिधाय। '**सुपरिसुद्धं**' '**णिसल्लो**' मायाशल्यरहित.। '**कदसुद्धी**' कृतगुरुनिरूपितप्रायश्चित्त। '**कमेण सल्लेहणं कुणसु**' क्रमेण सल्लेखना कुरु ॥५५०॥

तो सो एवं भणिओ अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ ।
सव्वंगजादहासो पीदीए पुलइदसरीरो ॥५५१॥

एव शिक्षितोऽसौ क्षपक '**तो**' तत। '**सो**' आराधक। '**एवं भणिदो**' एव शिक्षित सूरिणा। '**अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ**' अभ्युद्यते मरणे निश्चितबुद्धि। '**सव्वगजादहासो**' सर्वांगजातहर्ष। '**पीदीए पुलगिदसरीरो**' प्रीत्या पुलकितशरीरः ॥५५१॥

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥५५२॥

'**पाचीणोदीचिमुहो**' प्राङ्मुख उदङ्मुखः। '**चेदियहुत्तो व**' चैत्याभिमुखो वा भूत्वा। '**कुणदि काउस्सग्गं**' करोति कायोत्सर्गं। कोदृग्भूत ? '**आलोयणपत्तीगं**' आलोचनाप्रत्यय आलोचनानिमित्त। कायोत्सर्गं स्थित्वा दोषा यत स्मर्यन्ते कथयितु तस्मात्कायोत्सर्ग आलोचनाहेतु। क्व त करोति ? '**एगंते**' एकान्ते जनरहित-

---

गा०—जैसे बालक बोलते हुए कार्य हो या अकार्य हो, सरलभावसे ही कहता है कुछ छिपाता नही है। वैसे ही साधुको भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूँठको त्यागकर अपना अपराध कहना चाहिए ॥५४९॥

प्रस्तुत चर्याका उपसहार करते है—

गा०—अत दर्शन ज्ञान और चारित्रसम्बन्धी अपने अपराधोको कहकर, मायाशल्यसे रहित होकर, गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करके क्रमसे सल्लेखना करो ॥५५०॥

गा०—इस प्रकार गुरुके द्वारा शिक्षित किया गया वह क्षपक समाधिमरण करनेका निश्चय करता है। उसके सब अगोमे हर्षकी लहर दौड़ती है और प्रीतिसे शरीर रोमाचित हो जाता है ॥५५१॥

गा०-टी०—वह पूरब, उत्तर या जिनबिम्बकी ओर मुख करके जनरहित एकान्त प्रदेशमे जहाँ किसी प्रकारकी बाधाकी सम्भावना नही है ऐसे जनरहित एकान्तमे स्थानमे आलोचनाके निमित्त कायोत्सर्ग करता है। यत कायोत्सर्गसे खड़े होनेपर गुरुसे कहनेके लिए दोषोका स्मरण

देशे । 'अणाबाधे' अमार्गे बहुजनमध्ये एकमुखं न भवति चित्तं । मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातकृद्भवति इति मत्वा एकान्ते । अमार्गेच्च कायोत्सर्गदेश आख्यात ॥५५२॥

कायोत्सर्गं किमर्थं करोति आलोचयितुकाम इत्याशङ्कायां कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—

एवं खु वोसरित्ता देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो ।
णिम्ममदा णिस्संगो णिस्सल्लो जाइ एयत्तं ॥५५३॥

'**एवं खु**' इत्यादिना । एवमित्यनन्तरसूत्रनिर्दिष्टक्रमेण । प्राङ्मुख उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा । एकान्ते **मार्गे । वोसरित्ता** त्यक्त्वा किं ? न हि त्याज्यमन्तरेण त्यागो युज्यते । देहमिति चेत् '**देहे वि उवेदि णिम्ममत्त सो**' इति न घटते निर्ममतैव ननु त्याग. । भिन्नयो पूर्वापरकालविषययो क्रिययोर्यत्र एक कर्ता तत्र पूर्वकाल-क्रियावचनात् क्त्वा विधीयते । अत्रोच्यते वचसा त्याग '**वोसरित्ता**' इत्यनेन उच्यते । मनसा ममाय न भवति देह इति त्याग पश्चात्तन्यते । तेन वाङ्मन करणभेदात्त्यागो भिद्यते । '**णिम्ममदा णिस्संगो**' निर्ममतया निस्सगो निष्परिग्रह । '**णिस्सल्लो**' नि परिग्रहत्वादेव नि शल्य । '**एकत्तं जादि**' एकत्वभावना[1] प्रतिपद्यते ॥५५३॥

होता है अत. कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है । बहुतसे लोगोके मध्यमे चित्त एकाग्र नही होता तथा रास्तेमे खडे होकर कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोके कार्यमे बाधा आती है । ऐसा मानकर कायोत्सर्गका स्थान एकान्त और मार्गरहित कहा है ॥५५२॥

आलोचना करनेवाला कायोत्सर्ग क्यो करता है ऐसी शका होनेपर कायोत्सर्गका उपयोग कहते है—

गा०-टी०—इस प्रकार आलोचनाके लिए एकान्त स्थानमे पूरबके सन्मुख अथवा उत्तरके सन्मुख अथवा जिनबिम्बके सन्मुख होकर 'मै शरीरका त्याग करता हूँ' इस प्रकार वचनसे त्याग करके 'यह शरीर मेरा नही है' इस प्रकार मनसे त्याग करता है । अत. वचन और मनके भेदसे त्यागके दो भेद होते है । इस प्रकारसे शरीर ममत्व त्यागकर निर्ममत्वको प्राप्त होता है और निर्ममत्वको प्राप्त होनेसे बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहसे रहित होता है । परिग्रह रहित होनेसे ही नि.शल्य होकर एकत्वभावनाको प्राप्त होता है ।

शङ्का—'त्याज्यके विना त्याग नही होता । यदि देहका त्याग करता है तो देहमे भी निर्ममत्व होता है' यह कथन नही घटता । क्योकि शरीरमे निर्ममत्व ही शरीरका त्याग है । आगे पीछे होनेवाली दो भिन्न क्रियाओका कर्ता जहाँ एक ही होता है वहाँ पूर्वकालकी क्रियासे 'क्त्वा' (करके) प्रत्यय किया जाता है । शकाकारका अभिप्राय यह है कि गाथामे कहा है कि देहका त्याग करके देहमे निर्ममत्व होता है । किन्तु देहका त्याग और देहमे निर्ममत्व यह भिन्न कार्य नही है निर्ममत्व ही त्याग है । अतः देहका त्याग करके देहमे निर्ममत्व होता है ऐसा कहना ठीक नही है ।

समाधान—'वोसरित्ता' शब्दसे वचनमे त्याग कहा है । उसके पश्चात् ही 'यह शरीर मेरा नही है' इस प्रकार मनसे त्याग होता है । अत वचन और मनके भेदसे त्यागमे भेद होनेसे उक्त कथन घटित होता है ।

---

१ वनाया प्र—अ० ।

तो एयत्तमुवगदो सरेदि सव्वे कदे सगे दोसे ।
आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सल्लंत्ति ॥५५४॥

'**एगत्तमुवगदो**' एकत्वभावनामुपगतः । निरतिचारज्ञानदर्शनचारित्राण्येवाहं । शरीरमिदमन्यदनुपकारि मम दुःखनिमित्तत्वात्, तद्विनाशे मम किं विनश्यति, क्षययितव्योऽयमरातिरिति मन्यमानः, प्रायश्चित्ताचरणे न खिद्यते । माया च कर्मोदयनिमित्ता हातुं ईहितो मम शुद्धरूपस्येयमशुद्धिरिति । '**तो**' ततः । '**सरेदि**' स्मरति । '**सव्वे**' सर्वेषां । '**कदे**' कृतानां । '**सगे**' स्वकानां । '**दोसे**' दोषाणां । किमर्थं स्मरति ? '**आयरियपादमूले**' आचार्यपादमूले । '**उप्पाडिस्सामि**' उत्पाटयिष्यामि । '**सल्लंति**' दर्शनातिचारमिति ॥५५४॥

स्मृत्वा किं करोति पश्चादित्याशङ्कायामित्याचष्टे—

इय उजुभावमुपगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ।
लेस्साहिं विसुज्झंतो उवेदि सल्लं समुद्धरिदुं ॥५५५॥

'**इय**' एवं । '**उजुभावं उवगदो**' ऋजुभावं उपगतः । '**सव्वे दोसे**' सर्वेषां दोषाणां । '**तिक्खुत्तो सरित्तु**' त्रिः स्मृत्वा । '**लेस्साहिं विसुज्झंतो**' लेश्याभिर्विशुद्धाभिर्विशुद्धयन् । '**उवेदि**' ढौकते आचार्यं । '**सल्लं**' शल्यं । '**समुद्धरिदुं**' सम्यगुद्धर्तुं ॥५५५॥

आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स ।
पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरिक्खवेलाए ॥५५६॥

'**आलोयणादिका**' आलोचनप्रतिक्रमणादिका क्रिया । अथवा '**आलोयणं**' आलोचना । '**दिया**' दिवसे । '**पुण**' पश्चात् । '**होइ**' भवति । क्व ? '**पसत्थे**' प्रशस्ते क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रशुद्धिरुक्ता । विसुद्धभावस्स विशुद्धि-

---

विशेषार्थ—इस समय मैं आलोचना करता हूँ। मेरे सम्यक्त्व आदिमें कोई भी दोष नहीं है। इस प्रकार दोषकी शंकासे मुक्त होकर मैं एक असहाय अथवा नित्य हूँ। यह शरीर मुझसे भिन्न है। दुःखका कारण होनेसे मेरा उपकारी नहीं है। मैं तो निरतिचार रत्नत्रयस्वरूप ही हूँ। अतः देहके नाशसे मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होता। मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ। इस प्रकार एकत्व भावनामय होता है ॥५५३॥

गा०-टी०—एकत्व भावनामय होकर प्रायश्चित्तका आचरण करनेमें खिन्न नहीं होता। कर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाली मायाको छोडनेमें तत्पर होता है। मैं शुद्धस्वरूप हूँ। मेरी यह माया अशुद्धि है ऐसा मानता है। अतः यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है। मैं आचार्यके पादमूलमें अपने दोषोंको जड़मूलसे दूर करूँगा, इस भावनासे अपने द्वारा किये गये सब दोषोंको स्मरण करता है ॥५५४॥

दोषोंके स्मरण करनेके पश्चात् क्या करता है यह कहते हैं—

गा०—इस प्रकार सरलभावको प्राप्त हुआ क्षपक सम्पूर्ण दोषोंको तीन बार स्मरण करके लेश्याओंसे विशुद्ध होता हुआ शल्योंको दूर करनेके लिए आचार्यके पास जाता है ॥५५५॥

गा०—आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया विशुद्ध परिणामवाले क्षपकके प्रशस्त क्षेत्रमें

परिणामस्य भावशुद्धिरनेन कथिता। **'पुव्वण्हे'** पूर्वाह्णे। **'अवरण्हे व'** अपराह्णे वा। **'सोमतिहिरिक्खवेलाए'** सौम्ये दिने, नक्षत्रे, वेलायां च ॥५५६॥

एवमादिषु अप्रशस्तेषु देशेषु आलोचना न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापरं वचनं—

णिप्पत्तकंटइल्लं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुदड्ढं।
सुण्णघररुद्ददेउलपत्थररासिट्टियापुंजं ॥५५७॥

'णिप्पत्तकंटइल्लं' निष्पत्र कण्टकाकुल। **'विज्जुहदं'** अशनिनाहत[1]। **'सुक्खरुक्खकडुदड्ढं'** शुष्कवृक्षं, कटुकरम, **'दड्ढं'** दग्ध। **'सुण्णघररुद्ददेउलपत्थररासिट्टियापुंजं'** शून्य गृह, रुद्रदेवकुल, पाषाणराशि, इष्टकापुञ्जं ॥५५७॥

तणपत्तकट्ठछारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा।
रुद्दाणं खुद्दाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥५५८॥

'तणपत्तकट्ठछारिय असुइसुसाणं च' तृणवत्पत्रवत्काष्ठवत् यत्स्थान। **'असुचिसुसाणं वा'** अशुचिश्मशान वा। भग्नानि पतितानि वा भाजनानि गृहाणि वा यस्मिन् स्थाने तद्भग्नपतित। **'अधिउत्ताणं च ठाणाणि'** देवताना स्थानानि। कीदृशीना? **'रुद्दाणं'** रौद्राणा। **'खुद्दाणं'** क्षुद्राणा स्वल्पकाना ॥५५८॥

अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं।
आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥५५९॥

'अण्णं व' अन्यद्वा स्थान एवमादिक। **'अप्पसत्थं'** अप्रशस्त। **'हवेज्ज'** भवेत्। **'जं ठाणं'** यत्स्थान। **'तत्थ'** तस्मिन्स्थाने। **'आलोयण ण पडिच्छदि'** आलोचना न प्रतीच्छति। **'गणी'** गणधर। किमर्थं? **'से'** तस्य क्षपकस्य। **'अविग्घत्थं'** अविघ्नार्थं। एतेष्वालोचनाया कृताया प्रारब्धकार्यसिद्धिर्न भवतीति मत्वा ॥५५९॥

पूर्वाह्ण अथवा अपराह्णकालमे शुभदिन, शुभनक्षत्र और शुभवेलामे होती है। यहाँ प्रशस्त क्षेत्रसे क्षेत्रशुद्धि कही है। विशुद्धपरिणामसे भावशुद्धि कही है तथा शुभदिन आदिसे कालशुद्धि कही है ॥५५६॥

आगे आचार्य शिक्षा देते हैं कि इस प्रकारके अप्रशस्त देशोंमें आलोचना नही करनी चाहिए—

गा०—जहाँ वृक्ष पत्ररहित हो, कण्टक भरे हो, वज्रपात हुआ हो, सूखे वृक्ष हों, कटुक रसवाले हो, दावानलसे जल गये हो तथा शून्य घर, रुद्रदेवका मन्दिर, पत्थरो और ईंटोंका ढेर हो ॥५५७॥

गा०—तृण, पत्र और काष्टसे भरा स्थान, स्मशान, जहाँ टूटे पात्र और खण्डहर हो, चामुण्डा आदि रौद्र देवताओका स्थान, नीचजनोंका स्थान ॥५५८॥

गा०—अन्य भी जो इस प्रकारके अप्रशस्त स्थान हों, वहाँ आचार्य उस क्षपककी निर्विघ्नताके लिए आलोचना नही कराते, क्योकि इन स्थानोंमे आलोचना करनेपर प्रारब्ध कार्यकी सिद्धि नही होती ऐसा वे मानते है ॥५५९॥

---

१ अशनेनाहतं अ०।

क्व तर्हि आलोचना प्रतीच्छतीत्यत्राह—

अरहंतसिद्धसागरपउमसरं खीरपुप्फफलभरियं ।
उज्जाणभवणतोरणपासादं णागजक्खघरं ॥५६०॥

'**अरहंतसिद्धसागरपउमसरं**' अर्हद्भिः सिद्धैश्च साहचर्यात्स्थान अर्हत्सिद्धशब्दाभ्यामिह गृहीतं । अर्हत्सिद्धप्रतिमासाहचर्याद्वा । सागरादिसमीपं स्थान सामीप्यात्सागरादिशब्देनोच्यते । '**खीरपुप्फफलभरिदं**' क्षीरपुष्पफलभरिततरुसामीप्यात् स्थान क्षीरपुष्पफलभरितमित्युच्यते । '**उज्जाणभवणतोरणपासादं**' उद्यान-भवनं, तोरण, प्रासाद । '**णागजक्खघरं**' नागाना यक्षाणा च गृह ॥५६०॥

अण्णं च एवमादिय सुपसत्थं हवइ जं ठाणं ।
आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥५६१॥

सूरिरेव स्थित्वा आलोचना प्रतिगृह्णातीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ।
आलोयणं पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विरहम्मि ॥५६२॥

'**पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व**' । प्राङ्मुख. उदङ्मुख । आयतनशब्द स्थानसामान्यवचनोऽपि जिनप्रतिमास्थानवाच्यत्र गृहीतस्तेन जिनायतनाभिमुखो वा । '**सुहणिसण्णो हु**' सुखेनासीन । '**आलोयणं**' आलो-चना । '**पडिच्छदि**' शृणोति । '**एक्को**' एक एव सूरिरेकस्यैवालोचना । '**विरहम्मि**' एकान्ते । तिमिरापसारण-परस्य घर्मरश्मेरुदयदिगिति उदयार्थी तद्वदस्मत्कार्याभ्युदयो यथा स्यादिति लोक प्राङ्मुखो भवति । सूरेस्तु

तब कहाँ आलोचना स्वीकार करते है । यह कहते हैं—

गा०–टी०–यहाँ अरहंत और सिद्ध शब्दसे अर्हन्तो और सिद्धोके साहचर्यसे युक्त अथवा अर्हन्त और सिद्धोकी प्रतिमाके साहचर्यसे युक्त स्थान लिया गया है । सागर आदि शब्दसे सागर आदिके समीपका स्थान लिया गया है । क्षीर, पुष्प और फलोसे भरे वृक्षोके समीप होनेसे स्थान-को 'क्षीर पुष्पफल भरित' कहा है । अतः अरहतका मन्दिर, सिद्धोका मन्दिर, समुद्रके समीप, कमलोके सरोवरके समीप, या जहाँ दूध वाले वृक्ष हो, पुष्पफलोसे भरे वृक्ष हो, उद्यानमे स्थित भवन हो, तोरण, प्रासाद, नागो और यक्षोके स्थान ॥५६०॥

गा०—अन्य भी जो सुन्दर स्थान हो वहाँ आचार्य क्षपककी निर्विघ्न समाधिके लिए आलोचना स्वीकार करते है ॥५६१॥

आगे कहते है कि आचार्य इस प्रकार स्थित होकर आलोचना ग्रहण करते है—

गा०—पूरबकी ओर अथवा उत्तरकी ओर अथवा जिनमन्दिरकी ओर मुख करके सुख-पूर्वक बैठकर आचार्य एकान्त स्थानमे अकेले ही एक ही क्षपककी आलोचना सुनते है ।

टी०—गाथामे आया आयतन शब्द यद्यपि स्थान सामान्यका वाची है फिर भी यहाँ जिन प्रतिमाके स्थानका वाची ग्रहण किया है ।

शङ्का—पूरब दिशा अन्धकारको दूर करनेमे तत्पर सूर्यके उदयकी दिशा है इसलिए अपने उदयका इच्छुक व्यक्ति उसीकी तरह हमारे कार्यका अभ्युदय हो इसलिए पूरबकी ओर मुख

कोऽभिप्रायो येन प्राङ्मुखो भवति । प्रारब्धपरानुग्रहणकार्यसिद्धेरङ्गं तद्दिगभिमुखता तिथिवारादिवदिति । उदङ्मुखता तु स्वयंप्रभादितीर्थकृतो विदेहस्थान् चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चैत्यायतनाभिमुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धेरङ्गं । निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्रवणं तदालोचयितु सम्मानन । यथा कथचिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरिति नोत्साह- परस्य स्यात् । एक एव शृणुयात्सूरिर्लज्जापरो बहूना मध्ये नात्मदोषं प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदश्चास्य भवति, तथा कथयत एकस्यैवालोचना शृणुयात् दुरवधारत्वा-द्युगपदनेकवचनसंदर्भस्य । सद्दोषनिग्रहं नायं वराक 'पडिच्छदि' । प्रतीच्छति इत्यनेनैवाव[1]गतत्वाद्विरहम्मि इति वचन निरर्थकं । यद्यन्येऽपि तत्र स्युर्न एकेनैव श्रुतं स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधश्चास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य सकाशे शृणुयात् इति एतत्सूच्यते । 'विरहम्मि' एकान्ते इति आचार्यशिक्षति ।।५६२।।

शिष्यस्य आलोचनाक्रममाचष्टे—

काऊण य किरियम्म पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ।
आलोएदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ।।५६३।।

'काऊण य किदिकम्मं' कृतिकर्म वन्दना पूर्वं कृत्वा । **'पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो'** प्रतिलेखनामहितः

करता है । आचार्य किस अभिप्रायसे पूरबकी ओर मुख करके बैठते हैं ?

समाधान—शुभ तिथि वार आदिकी तरह पूरबकी ओर मुख करना, प्रारम्भ किए गये क्षपक पर अनुग्रह करनेके कार्यकी सिद्धिका अंग है इसलिए आचार्य पूर्वाभिमुख बैठते हैं । विदेह क्षेत्र उत्तर दिशामें है । अत. विदेह क्षेत्रमे स्थित स्वयप्रभ आदि तीर्थ करोको चित्तमे स्थापित करके उनके अभिमुख होनेसे कार्यकी सिद्धि होती है इस भावनासे उत्तर दिशाकी ओर मुख करते हैं । जिनालयके अभिमुख होना भी शुभ परिणामरूप होनेसे कार्यसिद्धिका अग है । व्याकुलता रहित हो बैठकर सुनना आलोचना करने वालेका सन्मान है । जिस किसी प्रकारसे सुननेपर क्षपक समझेगा कि गुरुका मेरे प्रति आदरभाव नही है, इससे उसे उत्साह नही होगा । आचार्यको अकेले ही सुनना चाहिए क्योकि लज्जालु क्षपक बहुत जनोके बीचमे अपना दोष प्रकट करना नही पसन्द करता । सबके सामने कहते हुए उसके चित्तको खेद भी होता है । आचार्यको एक समयमें एककी ही आलोचना सुनना चाहिए क्योकि एक साथ अनेक क्षपकोके वचनोको अव-धारण करना कठिन होता है । लोग कहेगे कि गुरु इसके दोषोका निग्रह करना नही चाहता ।

शंका—उक्त कथनसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि गुरु एकाकी आलोचना सुनते है । फिर गाथामे 'विरहम्मि' वचन निरर्थक है ?

समाधान—'विरहम्मि' या 'एकान्तमे' पदसे यह सूचित किया है यदि अन्य भी वहाँ हों तो वह एकके द्वारा ही सुना गया नही होगा । सुनने वाले कहेगे कि यह लज्जित नहीं होता । इसने इसका अपराध जान ही लिया । अतः अन्यके पास होते हुए आचार्यको आलोचना नही सुनना चाहिए ।।५६२।।

क्षपककी आलोचनाका क्रम कहते है—

---

१. व गत—आ० मु० ।

प्राञ्जलीकरणशुद्ध । **'आलोएवि'** कथयति । **'सुविहिवो'** सुचारित्र । **'सव्वे वोसे'** पूर्वदोषान् । **'पमोत्तूण'** त्यक्त्वा । आलोचना ।।५६३।।

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोसा इत्येतद्व्याख्यामायोत्तरप्रबन्ध.—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ।।५६४।।

'आकंपिय' अनुकम्पामात्मनि सम्पाद्य आलोचना । **'अणुमाणिय'** गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना । **'जं दिट्ठं'** यद् दृष्ट दोषजात परैस्तस्यालोचना । **'बादरं च'** यत्स्थूलमतिचारजात तस्यालोचना । **'सुहुमं च'** यत्सूक्ष्ममतिचारजात तस्यालोचना । **'छण्णं'** प्रच्छन्न अदृष्टलोचना । **'सद्दाउलयं'** शब्दा आकुला यस्यां आलोचनायां सा शब्दाकुला । बहुजनशब्द सामान्यविषयोऽपीह गुरुजनबाहुल्ये वर्तते । गुरोरालोचनायाः प्रस्तुतत्वाद्बहूना गुरूणा आलोचना क्रियते सा बहुजनशब्देनोच्यते । **'अव्वत्त'** अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना । **'तस्सेवी'** तानात्मचरितान्दोषान्य सेवते स तत्सेवी तस्य आलोचना । इद सूत्र । अस्य व्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः ।।५६४।।

आकम्पिय इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ।
अणुकंपेऊण गणि करेइ आलोयणं कोइ ।।५६५।।

'भत्तेण व पाणेण व' स्वय भिक्षालब्धिसमन्वितत्वात्प्रवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्रासुकेन उद्गमादिदोष-

---

गा०—सुविहित अर्थात् सुचारित्र सम्पन्न क्षपक दक्षिण पार्श्वमे पीछीके साथ हाथोकी अजलिको मस्तकसे लगाकर मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक प्रथम गुरुकी वन्दना करके सब दोषोको त्याग आलोचना करता है ।।५६३।।

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामे लिखा है कि गुरुकी वन्दना सिद्धभक्ति और योगभक्तिपूर्वक की जाती है ऐसा वृद्धोका मत है । किन्तु श्रीचन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक कहते हैं ।।५६३।।

आलोचनाका क्रम कहकर उसके गुण-दोष कहते है—

गा०-टी०—१ आकम्पित–अपने पर गुरुकी कृपा प्राप्त करके आलोचना करना । २ अनुमानित–उपायसे गुरुका अभिप्राय जानकर आलोचना करना । ३ दूसरोने जो दोष देखा उसकी आलोचना करना । ४ बादर–स्थूल अतिचारकी आलोचना करना । ५ सूक्ष्म अतिचारकी आलोचना करना । ६ छन्न–कोई न देखे इस प्रकार आलोचना करना । ७ शब्दाकुलित–शब्दोकी भरमार होते समय आलोचना करना । ८ बहुजन शब्द सामान्य वाची होते हुए भी यहाँ गुरुजनोंकी बहुलतामें लिया गया है । गुरुसे आलोचना करनेका प्रकरण होनेसे बहुतसे गुरुओसे आलोचना करना बहुजन है । ९ अव्यक्तसे आलोचना करना । १० तत्सेवी–जो अपने समान दोषोंका भागी है उससे आलोचना करना । इसका व्याख्यान आगे करेंगे ।।५६४।।

आकम्पित दोषको कहते हैं—

गा०—स्वयं भिक्षालब्धिसे युक्त होनेके कारण प्रवर्तक होकर आचार्यकी उद्गम आदि

रहितेन भक्तेन वा पानेन वा वैयावृत्य कृत्वा, उपकरणेण कमण्डलुपिच्छादिना । **'किदिकम्मकरणेन'** कृतिकर्म-वन्दनया वा । **'आकंपेदूण'** अनुकम्पामुत्पाद्य । **'गणि'** आचार्य । **'कोइ आलोयणं करेइ'** कश्चित्स्वापराध कथयति ॥५६५॥

तस्यालोचयतो मनोव्यापार दर्शयति—

आलोइदं असेसं होहिदि काहिदि अणुग्गहंमेत्ति ।
इय आलोचंतस्स हु पढमो आलोयणादोसो ॥५६६॥

'आलोइद असेसं होहिदि' निरवशेष आलोचित भविष्यति । **'काहिदि'** करिष्यति । **'अणुग्गहं इमोत्ति'** अनुग्रह ममेति । भक्तादिदानेन कृतोपकारस्य मम तुष्टो गुरुर्न महत्प्रायश्चित्त प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव । महत्प्रायश्चित्तदानभयाभावात्स्थूल सूक्ष्म वातिचार सर्व कथयामीति । **'इय'** एव । **'आलोचेंतस्स खु'** एवं मनसि कृत्वा आलोचयत । **'पढमो'** प्रथम । **'आलोयणा दोसो'** आलोचनादोष । कोऽसौ ? अविनयो नाम । यत्किंचिल्लब्ध्वा गुरवस्तुष्यन्ति लघुप्रायश्चित्तदायिनो भविष्यन्तीति स्वबुद्धया असद्दोषाध्यारोपणान्मानसोऽविनय । अन्ये तु वर्णयन्ति आलोचना च दोषश्च आलोचनादोष । अशुभाभिसन्धिपुर सरा आलोचना[2] इति यावत् ॥५६६॥

दृष्टान्तमुखेन दुष्टतामालोचनाया दर्शयति—

केदूण विसं पुरिसो पिएज्ज जह कोइ जीविदत्थीओ ।
मण्णंतो हिदमहिदं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६७॥

'केदूण विस पुरिसो' इत्यादिना । **'जह कोइ पुरिसो जीविदत्थी विसं केदूण पिबेज्ज'** इति सम्बन्ध । यथा कश्चित्पुरुषो जीवितार्थी विष कृत्वा पिबति । **'अहिदं'** अहित कृत्वा । विषपान **'हिदं मण्णतो'** हितमिति

दोषोसे रहित प्रासुक भक्तसे अथवा पानसे अथवा कमडलु पीछी आदि उपकरणसे अथवा कृतिकर्म वन्दनासे वैयावृत्य करके अपने पर आचार्यकी कृपा उत्पन्न करके कोई साधु अपना अपराध कहता है ॥५६५॥

उसके आलोचना करते समय मनकी प्रवृत्ति दिखलाते है—

गा०-टी०-भोजन आदिके दानके द्वारा उपकार करनेसे मुझपर प्रसन्न होकर गुरु महान् प्रायश्चित्त नही देंगे, बल्कि थोड़ा ही देंगे। अतः महान् प्रायश्चित्तका भय न होनेसे मैं स्थूल और सूक्ष्म सब अतिचार कहूंगा। इस प्रकार मनमे विचार कर आलोचना करने वालेके अविनय नामक प्रथम आलोचना दोष होता है। जो कुछ प्राप्त करके गुरु प्रसन्न होगे और वे लघु प्रायश्चित्त देंगे ऐसा अपनी बुद्धिसे असत् दोषका अध्यारोपण करना मानसिक अविनय है। अन्य टीकाकार कहते है—आलोचना और दोष आलोचना दोष है। अशुभ अभिप्रायपूर्वक आलोचना दोष है ॥५६६॥

दृष्टान्त द्वारा आलोचनाकी दुष्टता दिखलाते है—

गा०-टी०—जैसे कोई जीनेका अभिलाषी पुरुष विष खरीद कर पीता है वह अहित करके

---

१. अणुग्गह ममेत्ति आ० । अणुग्गह मिमोत्ति-मु० मूलारा० । २. चना द्रष्टात्मालोचनादपि-आ० मु० ।

मन्यमान.। '**तधिमा**' तथा इय। '**सल्लुद्धरणसोधी**' मायाशल्योद्धरणशुद्धिः। सामान्यवचनोऽपि शल्यशब्दोऽत्र मायाशल्ये वृत्त। तस्य उद्धरण नाम स्वकृतापराधकथन। आलोचनाशल्योद्धरणमेव शुद्धिरुच्यते ज्ञानदर्शन-चारित्रतपसा नैर्मल्यहेतुत्वात्। जीवितार्थिन हितबुद्धया [1]गृहीताक्रीतविषपान उपमान तद्वतीयमालोचना। भक्तपानादिदानेन वन्दनया वा क्रीत्वा गुरु स्वबुद्धया क्रियमाणा न शुद्धि सम्पादयति विषपानमिव जीवितं[2] क्रयणलब्धा च दुष्टता उपमानोपमेययो. साधारणो धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेय तयोश्च साधारण धर्ममाश्रित्य सर्वत्रोपमानोपमेयता। चन्द्रमुखी कन्या इत्यादौ चन्द्र उपमान, उपमेय मुखं, वृत्तता सर्वजनमनोवल्लभता च साधारणो धर्म ॥५६७॥

उपमानान्तरेणापि उपमेय आलोचना प्रथयति—

वण्णरसगंधजुत्तं किंपाकफलं जहा दुहविवागं।
पच्छा णिच्छयकडुयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६८॥

वण्णरस इत्यादि। '**किंपाकफलं वण्णरसगंधजुत्तमवि जहा दुहविवागं**'। किंपाकाख्यस्य तरो फल। वर्णादिशून्यस्य तरो फलस्या[3]भावादवचनसिद्धेवर्णादियुक्तवचनमतिशयितवर्णादिपरिग्रह सूचयति। तेनायमर्थ —नयनप्रियरूप, मधुरसयुक्त, घ्राणसुखद सेवितमिति वाक्यशेष। '**दुहविपाक**' दु खविपाक। '**पच्छा**' अनुभवोत्तरकाल। '**णिच्छयकडुग**' निश्चयेन कटुक। '**तधिमा**' त यथा। '**सल्लुद्धरणसोधी**' आलोचनाशुद्धि

विषपानको हित मानता है। वैसा ही यह माया शल्यको निकालकर शुद्धिका अभिलाषी साधु है। यद्यपि यहाँ शल्य शब्द सामान्य शल्यका वाची है फिर भी यहाँ मायाशल्यका वाचक लिया है। उसका उद्धरण अर्थात् अपने किये अपराधको कहना। शल्यका उद्धरण ही शुद्धि कहा जाता है क्योकि वह ज्ञान दर्शन और चारित्र तपकी निर्मलतामे कारण है। जीनेके अभिलाषीने हितबुद्धि-से ग्रहण किया खरीदे हुए विषका पान उपमान है। उसीके समान यह आलोचना है। भक्त पान आदि देकर या वन्दनाके द्वारा गुरुको खरीदकर अपनी बुद्धिसे की गई आलोचना शुद्धि नही करती जैसे विषपान जीवन नही देता। खरीदकर प्राप्त करना और दुष्टता उपमान और उपमेयका साधारण धर्म है। उपमान उपमेय और उन दोषोमे पाये जाने वाले साधारण धर्मको लेकर सर्वत्र उपमान उपमेय व्यवहार होता है। जैसे 'चन्द्रमुखी कन्या' आदिमे चन्द्र उपमान है मुख उपमेय है। और गोलपना तथा सब लोगोके मनको प्रिय होना दोनोका साधारण धर्म है ॥५६७॥

अन्य उपमानके द्वारा उपमेय आलोचनाको कहते है—

गा०-टी०—किंपाक नामक वृक्षका फल वर्णरसगन्धसे युक्त होनेपर भी जैसे परिणाममें दु.ख देता है। वृक्षका फल वर्ण आदिसे शून्य नही होता अत उसका रूपादिमान होना सिद्ध है। फिर भी जो उसे वर्णादियुक्त कहा है वह विशिष्टरूप रसगन्ध आदिका सूचक है। अत यह अर्थ होता है—किंपाक वृक्षका फल नेत्रोको अत्यन्त प्रियरूपवाला होता है। मधुररससे युक्त होता है और नाकको सुखदायक होता है। परन्तु सेवन करनेपर दुःखकारी होता है उसे खानेसे मृत्यु हो जाती है। अतः सेवन करनेके पश्चात् निश्चयसे कटुक होता है। यह आलोचना शुद्धि

---

१. गृहीता अहिता त्रीत–अ० मु०। २ जीवितविक्रयण लब्ध पान दु–आ० मु०। १. स्या-भावादवचन–आ०।

किंपाकफलोपसेवा उपमान, उपमेयं आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ॥५६८॥

किमिरागकंबलस्स व सोधी जदुरागवत्थसोधीव ।
अवि सा हवेज्ज किहइ ण[1] इमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६९॥

'**किमिरागकंबलस्स व**' कृमिभुक्ताहारवर्णतन्तुभिरूतः कंबल. कृमिरागकबल. । '**तस्स सोधी**' विशुद्धिरिव पीतनीलरक्तादीना अन्यतमवर्णस्य शुक्लतेव । '**जदुरागवत्थसोधीव**' जतुवर्णवस्त्रशुद्धिरिव वा यथासौ क्लेशेन प्रवर्तमानापि न भवत्येवमियमपीति सधर्मता । '**अहवा**' अथ वा । '**अवि सा**' कृमिरागकम्बलशुद्धिर्जन्तुरागवस्त्रशुद्धिर्वा '**हवेज्ज**' भवेत् । [2]इमा इय सल्लुद्धरणसोधी मायाशल्योद्धरणशुद्धिर्न भवत्येव ॥५६९॥ इति अणुकपिय ।

द्वितीयमालोचनादोषमाचष्टे—

धीरपुरिसचिण्णाइं पवददि अदिधम्मिओ व सव्वाइं ।
धण्णा ते भगवंता कुव्वंति तवं विकट्ठं जे ॥५७०॥

'**धीरपुरिसचीण्णाइं**' धीरैः पुरुषैराचरितानि । '**पवदति**' प्रवदति । '**अदिधम्मिणो व**' अतीव धार्मिक इव । '**सव्वाइं**' सर्वाणि । '**धण्णा**' धन्याः पुण्यवन्त । '**ते भगवंता**' माहात्म्यवन्त । '**जे**' ये । '**कुव्वंति**' कुर्वन्ति । '**तवं**' तप. । '**विकट्ठं**' उत्कृष्ट इति वदति ॥५७०॥

भी उसीके समान है। यहाँ किंपाकफलका सेवन उपमान है। आलोचना उपमेय है। परिणाममे दुःख होना दोनोंका साधारण धर्म है ॥५६८॥

गा०-टी०—कीडोंके द्वारा खाये गये आहारके रगमे रगे धागोंसे बने कम्बलको कृमिराग कम्बल कहते है। उसकी विशुद्धिकी तरह, जैसे पीला-नीला-लाल आदिमेसे कोई एकवर्ण सफेद नही होता उसकी तरह कृमिराग कम्बलकी विशुद्धि नही होती। अथवा लाखके रगमें रगे वस्त्रकी शुद्धि बहुत प्रयत्न करनेपर भी नहीं होती। उसी तरह मायाशल्ययुक्त आलोचनासे भी शुद्धि नही होती। अथवा कृमिराग कम्बलकी शुद्धि और लाखके रंगमें रंगे वस्त्रकी शुद्धि हो भी जावे किन्तु यह मायाशल्यके निकलनेरूप शुद्धि नही होती ॥५६९॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें कृमिराग कम्बलकी कई व्याख्या दी हैं एक तो उक्त सस्कृत टीका विजयोदया की है। दूसरी टिप्पन की है—कृमिके द्वारा त्यागे गये रक्त आहारसे रंजित तन्तुओसे बना कम्बल कृमिरागकम्बल है। तीसरी व्याख्या प्राकृतटीका की है। उसमे कहा है—उत्तरापथमें चर्मरंग (?) म्लेच्छ देशमें म्लेच्छ जोकोंके द्वारा मनुष्यका रक्त लेकर बरतनोंमें रखते हैं। उस रक्तमें कुछ दिनोंमे कृमि उत्पन्न हो जाते है तब उससे धागोंको रंगकर कम्बल बुनते है। उसे कृमिरागकम्बल कहते हैं। वह अत्यन्त लाल रंगका होता है। आगमे जलानेपर भी वह कृमिराग नही जाता।

दूसरे आलोचना दोषको कहते है—

गा०—आलोचना करनेवाला मुनि अत्यन्त धार्मिककी तरह कहता है—धीर पुरुषोंके द्वारा आचरित उत्कृष्ट तपको जो करते हैं वे धन्य हैं, माहात्म्यशाली हैं ॥५७०॥

१ ण माया स—आ० । २. इण इय ।

थामापहारपासत्थदाए सुहसीलदाए देहेसु ।
वददि णिहीणो हु अहं जं ण समत्थो अणसणस्स ॥५७१॥

'थामापहारपासत्थदाए' बलनिगूहनेन पार्श्वस्थतया च । 'सुहसीलदाए च' सुखशीलतया च । 'तदो' तत. । 'सो' सः । 'वदवि' कथयति । 'णिहीणो' जघन्य । 'अहं' अहक । 'जं' यस्मात् । 'ण समत्थो' असमर्थोऽशक्त । 'अणसणस्स' अनशनस्य ॥५७१॥

जाणह य मज्झ थामं अंगाणं दुब्बलदा अणारोगं ।
णेव समत्थोमि अहं तवं विकट्ठं पि कादुं जे ॥५७२॥

'जाणह य' अस्मद्बल युष्माभिरवसितमेव । 'अंगाणं दुब्बलदा' उदराग्निदौर्बल्य । 'अणारोगं' रोगवत्ता च । 'अहं तवं विकट्ठं कादुं णेव समत्थोमि' अहं तप उत्कृष्ट कर्तुं नैव समर्थोऽस्मि ॥५७२॥

आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुग्गहं कुणह ।
तुज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह णिच्छरेज्जामि ॥५७३॥

'आलोचेमि य सव्वं' सर्वमतिचारजातं आलोचयामि । 'जदि पच्छा अणुग्गहं कुणह' मम यदि पश्चादनुग्रह क्रियते भवद्भि । 'तुज्झ सिरिए' भवता श्रिया । 'इच्छं' इच्छामि । 'सोधी' सुद्धि । 'णिच्छरेज्जामि' निस्तारयिष्याम्यात्मानं ॥५७३॥

अणुमाणेदूण गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा ।
कुणइ ससल्लं सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥५७४॥

'एव अणुमाणेदूण' एव अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरु प्रार्थित. करिष्यति स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानुग्रहं इति । 'पच्छा आलोयणं कुणइ' पश्चादालोचना करोति । 'ससल्लं' [2]शल्यसहित. । 'सो' स । 'से' तस्य । 'विदिओ' द्वितीय 'आलोयणादोसो' आलोचनादोष ॥५७४॥

गुणकारि ओत्ति भुंजइ जहा सुहत्थी अपच्छमाहारं ।
पच्छा विवायकडुगं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५७५॥

गा०—अपनी शक्तिको छिपाने, पार्श्वस्थ मुनि होने तथा शरीरमें सुखशील होनेसे वह कहता है—मैं तो एक जघन्य प्राणी हूँ, उपवास करनेमें असमर्थ हूँ ॥५७१॥

गा०—आप मेरे बलको जानते ही हैं । यह भी जानते हैं कि मेरी उदराग्नि दुर्बल है, मै रोगी हूँ । अतः मैं उत्कृष्ट तप करनेमे असमर्थ हूँ ॥५७२॥

गा०—मै समस्त अतिचारोकी आलोचना करूँ यदि आप उन्हे सुनकर मुझपर कृपा करें अर्थात् लघु प्रायश्चित्त दें । मै आपकी कृपासे शुद्ध होना चाहता हूँ और शुद्ध होकर अपना निस्तार करूँगा ॥५७३॥

गा०—प्रार्थना करनेपर लघु प्रायश्चित्त देकर गुरु मेरेपर अनुग्रह करेंगे, ऐसा अनुमानसे जानकर पीछे वह शल्यसहित आलोचना करता है । यह दूसरा आलोचना दोष है ॥५७४॥

---

१. गहणिदोब्बलदंब–अ० । मूलाराध० । २. शल्य सहित–आ० मु०

'गुणकारिओत्ति भुंजइ' गुणमुपकारं करोति इति भुङ्क्ते । **'जहा सुहत्थी'** यथा सुखार्थी । **'अपच्छमाहारं'** अपथ्यमाहार । कीदृग्भूत **'पच्छाविवागकडुगं'** भोजनोत्तरकाल विपाककटुक । **'तधिमा'** तथा इमा । **'सल्लुद्धरणसोधी'** शल्योद्धरणशुद्धि अपथ्यमाहार स्वबुद्धया गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम भुङ्क्ते तथापि विपाककटुक एवासौ । एव गुर्वभिप्रायानुमानेन [1]प्रवृत्ता हितबुद्धया गृहीताप्यालोचना अनर्थावहेति । न हि सकल्पवशाद्वस्तुनोऽन्यथाभाव । नापथ्यस्याहारस्य पथ्यतास्ति सकल्पमात्रेण । अणुमाणिय ॥५७५॥

जं होदि अण्णदिट्ठं तं आलोचेदि गुरुसयासम्मि ।
अदिट्ठं गूहंतो माइल्लो होदि णायव्वो ॥५७६॥

'जं अण्णदिट्ठं होदि' यदन्यदृष्ट भवति अपराधजात । **'तं आलोचेदि'** कथयति । **'गुरुसयासंमि'** गुरुसमीपे । **'अदिट्ठ'** परैरदृष्ट । **'गूहंतो'** प्रच्छादयन् । **'माइल्लो इति णादव्वो होदि'** मायावानिति ज्ञातव्यो भवति ॥५७६॥

दिट्ठं व अदिट्ठं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण ।
आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥५७७॥

'दिट्ठं व अदिट्ठं वा' परैर्दृष्टमदृष्ट वापराध । **'परमेण विणएण जदि ण कहेइ'** प्रकृष्टेन विनयेन यदि न कथयेत् । क्व **'आयरियपादमूले'** आचार्यपादमूले । **'तदिओ आलोयणादोसो'** तृतीय आलोचनादोष ॥५७७॥

जह वालुयाए अवडो पूरदि उक्कीरमाणओ चेव ।
तह कम्मादाणकरी इमा हु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥५७८॥

'जह वालुयाए' यथा वालुकाभि । **'पूरदि'** पूर्यते । **'अवडो'** वालुकामध्यकृतो गर्त । **'उक्कीरमाणगो चेव'** उत्कीर्यमाणोऽपि सन् । **'तह कम्मादाणकरी'** तथा कर्मग्रहणकारिणी । **'इमा सल्लुद्धरणसोधी'** इयमालो-

गा०—जैसे सुखका इच्छुक पुरुष अपथ्य भोजनको अपनी बुद्धिसे गुणकारी मानकर खाता है तथापि भोजन करनेके पश्चात् उसका परिपाक दुःखदायी होता है। उसीके समान यह अनुमानित दोषसहित शल्यको दूर करके शुद्धि करनेवाला है। अर्थात् अनुमानसे गुरुके अभिप्रायको जानकर हितबुद्धिसे की गई भी आलोचना अनर्थकारी होती है। संकल्पसे वस्तुका अन्यथाभाव नही होता। सकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्य नही हो सकता ॥५७५॥

अनुमानित दोषका कथन हुआ।

गा०—जो अपराध दूसरे ने देख लिया है, गुरुके पासमे उसकी आलोचना करता है। और जो अपराध दूसरोने नही देखा है उसे छिपाता है। वह मायावी है ऐसा जानना ॥५७६॥

गा०—दूसरेके द्वारा देखे गये अथवा न देखे गये, अपराधको यदि आचार्यके पादमूलमे अत्यन्त विनयपूर्वक नही कहता तो यह तीसरा आलोचना दोष है ॥५७७॥

गा०—जैसे रेतके मध्यमे गढा खोदने पर वह गढ़ा खोदते खोदते ही रेतसे भर जाता है,

१ प्रवृत आ०, प्रवृत्तो मु० । प्रवृत्तहित–मूला० ।

चनाख्या शुद्धि.। मायाशल्यनिराकरणार्थमालोचनाया प्रवृत्तोऽन्यया माययात्मानं प्रच्छादयति। यथा बालुकाविक्षेपो गर्तसंस्कारार्थो वालुकाभिरापूरयति गर्तमिति ॥५७८॥

बादरमालोचेंतो जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो।
सुहुमं पच्छादेंतो जिणवयणपरंमुहो होइ ॥५७९॥

'**बादरमालोचेंतो**'। अत्रैवं पदसम्बन्ध., '**जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो**' यस्माद्यस्माद्व्रतात्प्रतिभग्नः। तत्र '**बादरं आलोचेंतो**' स्थूलं कथयन्। '**सुहुमं पच्छादेंतो**' सूक्ष्मदोषं प्रच्छादयन्। '**जिणवयणपरंमुहो होइ**' जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥५७९॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण सुगुरूणं।
आलोचणाए दोसो एसो हु चउत्थओ होदि ॥५८०॥

स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वातिचारजातस्यानालोचना चतुर्थो दोष. इति '**सुहुमं व**' इत्यस्यार्थ ॥५८०॥

जह कंसियभिंगारो अंतो णीलमइलो बहिं चोक्खो।
अंतो ससल्लदोसा तधिमा सल्लुद्धरणसोघी ॥५८१॥

बादर ॥४॥ '**जह कंसियभिंगारो**' यथा कांस्यरचितो भृङ्गारः। '**अंतो**' अभ्यन्तरे। '**णीलमइलो**' नील. सन्मलिन। '**बहिं चोक्खो**' बहि शुद्ध। '**अंतो ससल्लदोसा**' अन्तः सशल्यदोषा इमालोचना शुद्धि ॥५८१॥

चंकमणे य ट्ठाणे णिसेज्जउवट्टणे य सयणे य।
उल्लामाससरक्खे य गब्भिणी बालवत्थाए ॥५८२॥

'**चंकमणे**' अवश्यायबहुलेन पथा व्याकुलितचित्तो मनागीर्यायामनुपयुक्तो गतवान्। '**ठाणे णिसेज्ज उवट्टणे य सयणे य**' प्रमार्जनमकृत्वा स्थान, निषद्या, शय्या च कृता। '**उल्लामाससरक्खे य**' [1]आर्द्रगात्राधिक

उसी प्रकार यह आलोचना शुद्धि कर्मोको लाने वाली है इससे नवीन कर्मोका बन्ध होता है। आशय यह है कि मायाशल्यके दूर करनेके लिए साधु आलोचना करता हुआ भी अन्य मायासे अपनेको आच्छादित करता है। जैसे गढ़ा बनानेके लिए उसमेसे रेत निकाली जाती है किन्तु उसमें और रेत भर जाती है ॥५७८॥

गा०—जिन-जिन व्रतोमे जो दोष लगे हो उनमेंसे जो साधु स्थूल दोषोकी तो आलोचना करता है और सूक्ष्म दोषोंको छिपाता है वह साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५७९॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक सुगुरुसे सूक्ष्म अथवा बादर दोषको नही कहता तो यह आलोचनाका चतुर्थ दोष है ॥५८०॥

गा०—जैसे काँसेका बना भृंगार अन्दरसे नीला और मलिन होता है तथा बाहरसे स्वच्छ होता है वैसे ही यह आलोचना शुद्धि मायाशल्य दोषसे युक्त होती है ॥५८१॥

गा०-टी०—साधु गुरुसे निवेदन करता है—ओससे भीगे हुए मार्गसे ईर्यासमितिकी ओर ध्यान न रखते हुए मै चला था। उस समय मेरा चित्त व्याकुल था। या प्रतिलेखना किए बिना

1. आर्द्रया गा०–आ० मु०।

स्पृष्टं । '**सरक्खे व**' सचित्तधूलिसहिते स्थाने स्थित सुप्तमासित वा । '**गब्भिणी**' गर्भिण्या । '**बालवच्छाए**' बालवत्सया वा । दीयमानं गृहीतं इति ॥५८२॥

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहदे थूलं ।
भयमयमायाहिदओ जिणवयणपरंमुहो होदि ॥५८३॥

'**इय**' एवं । '**जो**' य । '**दोस**' अतिचार । कीदृग्भूत ? '**लहुग**' स्वल्प । '**आलोचेदि**' कथयति । '**विणिगूहदि**' विनिगूहयति । किं ? '**थूलं**' स्थूल । '**भयमयमायाहिदओ**' भयमयमायामहितचित्त । महतो दोषान्यदि ब्रवोमि महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति भय, त्यजन्ति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानभङ्गासह स्थूलान्न शक्नोति वक्तुं । कश्चित्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न निगदति । '**जिणवयणपरंमुहो होदि**' जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥५८३॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण स गुरूणं ।
आलायणाए दोसी पंचमओ गुरुसयासे से ॥५८४॥

मायाशल्यत्यागस्य जिनवचनोपदर्शितस्य अकरणात् प्रसिद्धार्था ॥५८४॥

उत्तर गाथा—

रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुक्कडं जहा कडयं ।
अहवा जदुपूरिदयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५८५॥

'**रसपीदगं व कडयं**' रसोपलेमान्मनाग्बहि पीतवर्णकटकमिव । '**अथवा कवडुत्तरं**' तनुसुवर्णपत्राच्छादितमिव वा अन्तर्निस्सार । '**अथवा जदुपूरिदगं**' अन्तश्छिद्रं जतुपूर्णकटकमिव । पीतता रसोपलिप्तस्य यथा तथाल्पा शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्त । गुरुतरपापप्रच्छादनमात्रताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्त । गुरुतर-

---

मै बैठा, या सोया या खड़ा हुआ । या जलादिसे मैने शरीरको छुआ । या सचित्त धूलिसे सहित स्थानमे मैं खडा हुआ या बैठा या सोया । अथवा आठ आदि मासका गर्भ धारण करने वाली या जिसे प्रसव किए एक माह भी नही बीता था ऐसी स्त्रीसे मैने आहार ग्रहण किया ॥५८२॥

गा०—इस प्रकार जो अपने सूक्ष्म दोषको कहता है और भय, मद, माया सहित चित्त होनेसे स्थूल दोषको छिपाता है। यदि मै महान् दोष कहता हूँ तो गुरु मुझे महान् प्रायश्चित्त देंगे या मुझे त्याग देंगे यह भय है। मेरा चारित्र निरतिचार है ऐसा गर्व करके स्थूल दोषोंको नही कहता ।

कोई स्वभावसे ही मायावी होनेसे अपने दोषोको नहीं कहता । ऐसा करने वाला साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५८३॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक गुरुके सामने सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषको नही कहता तो यह आलोचनाका पाँचवाँ दोष है क्योकि उसने जिनागममें कहा मायाशल्यका त्याग नही किया ॥५८४॥

गा०-टी०—जैसे सोनेके रसके लेपसे लोहेका कडा बाहरसे पीला दिखाई देता है। अथवा जैसे सोनेके पतले पत्रसे ढका लोहेका कडा अन्दरसे निःसार होता है। अथवा लाखसे भरा कड़ा जैसा होता है उन्हींके समान यह आलोचना शुद्धि है। यहाँ तीन दृष्टान्तोंके द्वारा सूक्ष्म दोषकी आलोचनाकी निन्दा की गई है। जैसे सोनेके रससे लिप्त कड़ा ऊपरसे पीला होता है उसी प्रकार

मय प्रभृति निस्सार वस्तु बाह्ये तु सुवर्णशकलेन प्रच्छादितं यथा तथा स्वल्पानपराधान्कथयति । पापभीरुता-प्रकर्षादयं मुनिरित्थं सयत कथं महत्स्वतिचारे प्रवर्तत इति प्रत्ययजननाय अत. सारहितता तृतीयेनोच्यते । सुहुमं ॥५८५॥

जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ विराहणा होज्ज ।
पढमे विदिए तदिए चउत्थए पंचमे च वदे ॥५८६॥

यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यचिद्विद्यते मूलगुणे, चारित्रे, तपसि वा अनशनादावुत्तरगुणे अतिचारो भवेत् । अहिंसादिके व्रते ॥५८६॥

को तस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा हवदि सुद्धो ।
इय पच्छण्णं पुच्छदि पायच्छित्तं करिस्सत्ति ॥५८७॥

'को तस्स दिज्जइ तवो' किं तस्मै दीयते तप. ? **'केण उवाएण होदि वा सुद्धो'** केनोपायेन वा शुद्धो भवतीति । **'पच्छण्णं'** प्रच्छन्नं । **'पुच्छदि'** पृच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मयायमपराध. कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्त इति न पृच्छति । किमर्थमेव प्रच्छन्नं पृच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिस्सति करिष्यामि ॥५८७॥

इय पच्छण्णं पुच्छिय साधू जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं ।
तो सो जिणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥५८८॥

'इय' एव । **'पच्छण्णं'** प्रच्छन्नं । **'पुच्छिय'** पृष्ट्वा । **'जो साहू'** य साधु । **'अप्पणो सोधिं कुणदि'** आत्मन शुद्धिं करोति । **'सो छट्ठो आलोयणा दोसो वुत्तो जिणेहिं'** । षष्ठोऽसावालोचनादोषस्तस्य भवतीति जिनैरुक्त ॥५८८॥

अल्प शुद्धि होती है यह प्रथम दृष्टान्तका भाव है । गुरुतर पापको ढाँकने मात्रको प्रकट करनेके लिए दूसरा दृष्टान्त है । भारी लोहा वगैरह वस्तु निस्सार होती है, बाहरमे उसे सोनेके पत्रसे जैसे ढाक देते हैं उसी प्रकार वह सूक्ष्म अपराधोको कहता है । ऐसा वह यह विश्वास उत्पन्न करनेके लिए करता है कि गुरु समझे कि यह मुनि पापसे इतना भयभीत है कि सूक्ष्म पापको भी नही छिपाता तब बडा पाप कैसे कर सकता है ? तीसरे दृष्टान्तके द्वारा इसे अन्त:सार रहित कहा है ॥५८५॥

गा०—यदि किसीके मूलगुण चारित्र अथवा उत्तर गुण अनशन आदि तपमे या अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग व्रतमे अतिचार लग जाये ॥५८६॥

गा०—तो उसे कौन सा तप दिया जाता है ? वह किस उपायसे शुद्ध होता है ? ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है । अर्थात् अपनेको लक्ष करके कि मुझसे यह अपराध हुआ है उसका क्या प्रायश्चित्त है ऐसा नही पूछता । किन्तु यह जानकर प्रायश्चित्त करूँगा इस भावसे पूछता है ॥५८७॥

गा०—इस प्रकार प्रच्छन्नरूपसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि करता है उसको छठा आलोचना दोष होता है ऐसा जिनदेवने कहा है ॥५८८॥

---

१. अंतस्सार–अ० ।

धादो हवेज्ज अण्णो जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि संतम्मि ।
तो परववदेसकदा सोधी अण्णं विसोधेज्ज ॥५८९॥

'**धादो हवेज्ज अण्णो**' तृप्तो भवेदन्य । '**जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि सतम्भि**' यद्यन्यस्मिन्भुक्तवति सति । '**तो**' तत । '**परववदेसकदा सोधी**' परव्यपदेशकृता शुद्धि । '**अण्ण विसोधेज्ज**' अन्य विशोधयेत् ॥५८९॥

तवसंजमम्मि अण्णेण कदे जदि सुग्गदिं लहदि अण्णो ।
तो परववदेसकदा सोधी सोधिज्ज अण्णंपि ॥५९०॥

स्पष्टोत्तरा गाथा ।

मयतण्हादो उदयं इच्छइ चंदपरिवेसणा कूरं ।
जो सो इच्छइ सोधी अकहंतो अप्पणो दोसे ॥५९१॥

'**मयतण्हादो**' इत्यत्र पदघटनेत्य । '**जो अप्पणो दोसे अकथेंतो सोधी इच्छइ सो मयतण्हादो उदग इच्छइ, चंदपरिवेसणे कूरं इच्छइ य**' । य आत्मनो दोषाननभिधाय गुरुणा शुद्धिमिच्छति स मृगतृष्णिकात उदक वाछति, चन्द्रपरिवेशादशनमिच्छति । निष्फलतासाधर्म्यादिय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव । छन्नं ॥५९१॥

पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिएसु सोधिकालेसु ।
बहुजणसद्दाउलए कहेदि दोसे जहिच्छाए ॥५९२॥

'**पक्खियचाउम्मासिय**' पक्षाद्यतिचारशुद्धिकालेषु । '**बहुजणसद्दाउलए**' बहुजनशब्दसकटे । '**जधिच्छाए दोसे कधेदि**' यथेच्छया दोषानात्मीयान्कथयति ॥५९२॥

गा०—यदि अन्यके भोजन करनेपर अन्यको तृप्ति हो तो दूसरेके नामसे की गई विशुद्धि उससे अन्यकी शुद्धि कर सकती है ॥५८९॥

गा०—अन्यके द्वारा तपसयम करनेपर यदि अन्य व्यक्ति सुगतिको प्राप्त हो सकता हो तो दूसरेके नामसे किया गया प्रायश्चित्त भी दूसरेको शुद्ध कर सकता है ॥५९०॥

गा०—जो अपने दोषोको न कहकर गुरुसे शुद्धि चाहता है वह मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन प्राप्त करना चाहता है। अर्थात् जैसे मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन नही प्राप्त होता उसी तरह अपने दोषोको कहे बिना शुद्धि नही होती। इस तरह निष्फलताकी समानता होनेसे दोनोमे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभाव है ॥५९१॥

विशेषार्थ—चन्द्रपरिवेशसे भोजन न मिलनेका अर्थ श्रीचन्द्रके टिप्पणमे इस प्रकार किया है—राजाने चन्द्रनामक रसोइयेको निकाल दिया। यह जानकर उसके परिवारने भोजन करना छोड दिया। एक दिन जब राजा भोजनके लिए बैठा तो आकाशमें चन्द्रका परिवेश देखकर लोगोने कहा चन्द्रका परिवेष (प्रवेश) हो गया। यह सुनकर परिवारने समझा कि राजकुलमे चन्द्रनामक रसोइयेका प्रवेश हो गया। वह भोजनके लिए गया किन्तु भोजन नही मिला ॥५९१॥

गा०—पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रायश्चित्तके समय जब सब मुनिगण अपने-अपने दोष निवेदन करते है और इस तरह बहुतसे मनुष्योंके शब्दोंका कोलाहल होता है उस समय जो मुनि अपनी इच्छानुसार दोषको कहता है ॥५९२॥

इय अव्वत्तं जइ सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं ।
आलोचणाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥५९३॥

'**जदि इय अव्वत्तं सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं**' यद्येवमव्यक्तं श्रावयन्दोषान्कथयति स्वगुरुभ्य. । '**सत्तमगो आलोयणादोसो**' सप्तम आलोचनादोषः । '**गुरुसयासे**' गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥५९३॥

अरहट्टघडीसरिसी अहवा चुं दछुदोवमा होइ ।
भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लुद्धरणसोधी ॥५९४॥

'**अरहट्टघडीसरिसी**' अरगर्तघटीसदृशी यथा घटी पूर्णाप्यपूर्णा। एवमपराधकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमपि अप्रवृत्तमेव गुरुणा अश्रुतत्वात् । '**अहवा चुं दछुदोवमा होइ**' अथवा मथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुक्तापि बध्नाति एवमिय वाङ् मुखकुहरमुक्तापि मायाशल्यसहितेति बध्नाति । '**भिण्णघडसरिच्छा वा**' भिन्नघटसदृशी वा । यथा भिन्नो घटो घटकार्यं जलधारण जलाद्यानयन वा कर्तुमसमर्थ एवमियमालोचना न निर्जरा संपादयतीति साधर्म्य । सद्दाउलय ॥५९४॥

आयरियपादमूले हु उवगदो वदिऊण तिविहेण ।
कोई आलोचेज्ज हु सव्वे दोसे जहावत्ते ॥५९५॥

'**आयरियपादमूले उवगदो**' आचार्यपादमूलमुपगतः । '**तिविधेण वंदिदूण**' मनोवाक्कायशुद्धधा वन्दना कृत्वा । '**कोई**' कश्चित् । '**आलोएज्ज हु**' कथयेत् । '**सव्वे दोसे जहावत्ते**' सर्वान्दोषान्स्थूलान्सूक्ष्माश्च [1]यथावृत्तान्मनोवाक्कायक्रियारूपान् कृतकारितानुमतभेदान् ॥५९५॥

तो दंसणचरणाधारएहिं सुत्तत्थमुव्वहंतेहिं ।
पवयणकुसलेहिं जहारिहं तवो तेहिं से दिण्णो ॥५९६॥

गा०—यदि अपने गुरुओंको स्पष्टरूपसे सुनाई न दे इस प्रकार दोषोको कहता है तो गुरुके निकट शब्दाकुल नामक सातवें आलोचना दोषका भागी होता है ॥५९३॥

गा०-टी०—जैसे रहटमे लगी हुई पानी भरनेकी घटिकाएँ भरकर भी रीति होती जाती है उसी प्रकार वह आलोचना करनेवाला मुनि है। वह अपने मुखसे अपराध प्रकट करनेके लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त ही है क्योकि गुरुने उसे नही सुना। अथवा वह मन्थन चर्मपालिकाके समान है। जैसे मथानी डोरीसे छूटते हुए भी डोरीसे बँधती जाती है उसी प्रकार उसकी आलोचनावाणी मुखरूपी गर्तसे छूटकर भी मायाशल्यसे सहित होनेसे कर्मसे बद्ध करती है। अथवा फूटे घटके समान है। जैसे फूटा घड़ा घटका कार्य जलधारण अथवा जल आदिका लाना करनेमें असमर्थ होता है। उसी प्रकार यह आलोचना निर्जरारूप कार्यको नही करती। यह इन दृष्टान्तोमे और दार्ष्टान्तिमें समानता है। यह शब्दाकुलित नामक सातवाँ आलोचना दोष है ॥५९४॥

गा०—कोई साधु आचार्यके पादमूलमे जाकर, मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक वन्दना करके मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदरूप सब स्थूल और सूक्ष्म दोषोंको कहता है ॥५९५॥

---

१ यथावृत्त अ० ।

'**तो**' पश्चात् आलोचनोत्तरकालं। '**दंसणचरणाधारएहिं**' समीचीनदर्शनचारित्रधारणोद्यतैः। '**सुत्तत्थमुव्वहंतेहिं**' सूत्रार्थमुद्वहद्भिः। '**पवयणकुसलेहिं**' सूत्रार्थमुद्वहद्भिरित्यनेनैव गतत्वात्किमनेन 'प्रवचनकुशलैः' इति। अयमभिप्राय:—प्रायश्चित्तग्रन्थवृत्ति प्रवचनशब्द तेन प्रायश्चित्तकुशलैरित्यर्थ। अन्यशास्त्रज्ञो ऽपि न शोधयति न चेत्प्रायश्चित्तज्ञ इति प्राधान्यकथनार्थं पृथगुपादानं। '**तेहिं**' तैः। '**से**' तस्मै। '**जधारिहं तवो दिण्णो**' अपराधानुरूपं तपो दत्तं। तपोग्रहणं प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं तेन प्रायश्चित्तं दत्तं इत्यर्थ ॥५९६॥

[2]णवमम्मि य जं पुव्वे भणिदं कप्पे तहेव ववहारो।
अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥५९७॥

तेसिं असद्दहंतो आइरियाणं पुणो वि अण्णाणं।
जइ पुच्छइ सो आलोचणाए दोसो हु अट्ठमओ ॥५९८॥

'**तेसिं**' तेषां। '**आयरियाणं**' आचार्याणां वचनं। '**असद्दहंतो**' अश्रद्दधानः। '**पुणो वि जदि**' पुनरपि यदि पृच्छत्यन्यानसौ। '**अट्ठमगो आलोचणादोसो**' सोऽष्टमः आलोचनादोषः ॥५९७-९८॥

पगुणो वणो ससल्लं जध पच्छा आदुरं ण तावेदि।
बहुवेदणाहिं बहुसो तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५९९॥

'**पगुणो वणो**' प्रगुणः वा व्रणं उपचितं। '**ससल्लं**' शल्यसहितं। '**पच्छा**' पश्चात्। '**आदुरं**' व्याधितं। '**किमु न तावेदि**' किमु न तापयति तापयत्येव। '**बहुवेदणाहिं**' बह्वीभिर्वेदनाभिः। '**बहुसो**' बहुशः[3]। '**तधिमा**'

गा०-टी०—आलोचनाके पश्चात् सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके धारण करनेमें तत्पर, सूत्रोंके अर्थको वहन करनेवाले और प्रवचन कुशल आचार्योंने उसे अपराधके अनुरूप तप दिया। यहाँ तपका ग्रहण प्रायश्चित्तके उपलक्षणके लिए है अतः आचार्योंने उसे प्रायश्चित्त दिया।

शङ्का—सूत्रके अर्थको वहन करनेसे प्रवचनकुशलका भाव आ जाता है फिर उसे अलग ग्रहण क्यों किया ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रवचन शब्दका अर्थ प्रायश्चित्तग्रन्थ है। अतः उसका अर्थ होता है प्रायश्चित्तशास्त्रमें कुशल। अन्य शास्त्रोंका ज्ञाता होते हुए भी यदि प्रायश्चित्तका ज्ञाता नहीं है तो दोषका शोधन नहीं कर सकता। इसलिए प्रायश्चित्तकी प्रधानता कहनेके लिए 'वचनकुशल' पदका अलगसे ग्रहण किया है ॥५९६॥

गा०—प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्वमें तथा कल्प और व्यवहार नामक अंग बाह्यमें, तथा शेष अंगों और प्रकीर्णकोंमें जो प्रायश्चित्तका कथन है तदनुसार ही आचार्यने उसे प्रायश्चित्त दिया ॥५९७॥

गा०—किन्तु वह साधु उन आचार्योंके वचनोंपर श्रद्धान न करके फिर भी यदि अन्य आचार्योंसे पूछता है तो यह आलोचनाका आठवाँ दोष है ॥५९८॥

गा०—ऊपरसे अच्छा हुआ किन्तु भीतरमें कील सहित घाव पीछे बढ़कर क्या बहुत कष्ट

---

१ ज्ञो न ददाति न चेत् आ० मु०। २. अ० ज० प्रति में यह गाथा नहीं है। ३ श। यथा तथा इमा स—अ० आ०।

तथा इयं । **'सल्लुद्धरणसोधी'** आलोचनाशुद्धिः । मायामृषापरित्यागेन कृता अतिशोभना सद्वृत्ता दोषा[1] गुरुदत्तप्रायश्चित्ताश्रद्धानशल्यसमन्वितत्वाद्दुःखावह[2]त्वात् । बहुजण ॥५९९॥

आगमदो वा बालो परियाएण व हवेज्ज जो बालो ।
तस्स सगं दुच्चरियं आलोचेदूण बालमदी ॥६००॥

'आगमदो वा बालो' आगमेन ज्ञानेन वा बाल । **'परियाएण व हवेज्ज जो बालो'** चारित्रबालो वा यो भवेत् । य स **'तस्स'** तस्मै । **'सगं दुच्चरियं'** आत्मीयमतिचारं । **'आलोचेदूण बालमदी'** उक्त्वा बालबुद्धि ॥६००॥

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।
बालस्सालोचेंतो णवमो आलोचणा दोसो ॥६०१॥

'आलोचिदं' कथित । **'असेसं सव्वं'** निरवशेषं सर्वं । मनोवाक्कायकृतोऽतिचारः सर्वशब्देन उच्यते । कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याख्यायन्ते । **'मएत्ति जाणादि'** मयेति जानाति । **'बालस्सालोचेंतो'** ज्ञानबालाय चारित्रबालाय वा कथयति । **'णवमो आलोयणादोसो'** नवम आलोचनादोष ॥६०१॥

कूडहिरण्णं जह णिच्छएण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ।
पच्छा होदि अपत्थं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०२॥

कूडहिरण्णं जह पच्छा अपत्था णिच्छएण होदित्ति पदघटना । यथा कूटहिरण्य धनमिति गृहीत पश्चादपथ्य निश्चयतो भवति अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि इयमपि बालस्य क्रियमाणालोचना अनुरूपप्रायश्चित्तप्राप्तो अनुपायत्वात् सदृशी । न ज्ञानबाल परार्थयोग्यप्रायश्चित्त दातुं क्षम । **'दुज्जणकदा य मेत्ती'**

नही देता ? देता ही है । उक्त आलोचना भी उसी घावकी तरह है । यद्यपि यह आलोचना माया और असत्यको त्यागकर की जानेसे अति सुन्दर है, दोष रहित है । तथापि गुरुके द्वारा दिए गये प्रायश्चित्तके प्रति अश्रद्धान रूपी शल्यसे युक्त होनेसे दुःखदायी है । यह बहुजन नामक दोष है ॥५९९॥

गा०—जो मुनि आगम अर्थात् ज्ञानसे बालक है अथवा जो चारित्रसे बालक है अर्थात् जिसे शास्त्रज्ञान भी नही है और चारित्र भी जिसका हीन है उसके सन्मुख जो अज्ञानी अपने दोषकी आलोचना करता है ॥६००॥

गा०—और मैने अपने मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे किए सब दोष कह दिये, ऐसा जानता है । इस प्रकार ज्ञान बालक और चारित्र बालक मुनिसे दोषोका निवेदन करना नौवाँ आलोचना दोष है । इसे अव्यक्त दोष कहते है ॥६०१॥

गा०-टी०—जैसे नकली सोनेको धन समझकर ग्रहण करे तो पीछेसे वह निश्चय ही अहितकर होता है क्योंकि उससे यदि कुछ इच्छित वस्तु खरीदना चाहे तो नही खरीद सकते । इसी प्रकार बालमुनिके सन्मुख की गई आलोचना भी अनुरूप प्रायश्चित्तकी प्राप्तिका उपाय न होनेसे नकली सोनेके ही समान अहितकारी है । क्योकि ज्ञानसे बालमुनि परमार्थके योग्य प्रायश्चित्त

---

१. महूतदोषापि–मूलारा० । २ दुःखावहा–आ० ।

जहा पच्छा होइ अपत्थं इति सम्बन्धः कार्यः। दुर्जने कृता मैत्री यथा न पथ्यं, दुःखं प्रयच्छतीति एवं चारित्र-बालस्य सयमोभयविकलस्य कृतापि प्रायश्चित्तालाभमूला अनेकानर्थावहेति भाव ॥६०२॥

पासत्थो पासत्थस्स अणुगदो दुक्कडं परिकहेइ ।
एसो वि मज्झसरिसो सव्वत्थवि दोससंचइओ ॥६०३॥

'पासत्थो पासत्थस्स' पार्श्वस्थ पार्श्वस्थमनुगतः। **'दुक्कडं परिकहेदि'** दुष्कृतं परिकथयति। **'एसो वि'** एषोऽपि। **'मज्झसरिसो'** मत्सदृश। **'सव्वत्थ वि'** सर्वेष्वपि व्रतेषु। **'दोससंचइओ'** दोषसचयोद्यत ॥६०३॥

जाणइ य मज्झ एसो सुहसीलत्तं च सव्वदोसे य ।
तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महल्लत्ति ॥६०४॥

'एसो मज्झ सुहसीलत्तं जाणदि' एष मम दुःखासहत्व वेत्ति। [1]**'सव्वदोसे य जाणदि'** सर्वांश्च व्रताति-चारानवगच्छति। **'तो'** तस्मात्। **'एस मे न दाहिदि'** एष मे न दास्यति। **'महल्लं पायच्छित्तंति'** महत्प्राय-श्चित्तमिति मत्वा कथयतीति सम्बन्धः ॥६०४॥

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।
सो पवयणपडिकुद्धो दसमो आलोचणा दोसो ॥६०५॥

स्पष्टार्था ॥६०५॥

उत्तर गाथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं धोवेज्ज लोहिदेणेव ।
ण य तं होदि विसुद्धं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०६॥

'जह कोइ लोहिदकयं' करोति क्रियासामान्यवाची इह लेपे वर्तते तेनायमर्थ—यथा कश्चिल्लोहितेन लिप्त वस्त्र। **'धोवेज्ज'** प्रक्षालयेत्। **'लोहिदेणेव'** लोहितेनैव। **'ण य तं हवदि विसुद्ध'** नैतद् भवति विसुद्ध।

देनेमे समर्थ नही होता। अथवा जैसे दुर्जनसे की गई मित्रता हितकर नही होती, दुःखदायक होती है उसी प्रकार प्राणिसंयम और इन्द्रियसयमसे रहित चारित्र बालमुनिके सन्मुख की गई भी आलो-चना प्रायश्चित्तका लाभ न होनेसे अनेक अनर्थोंको लानेवाली है ॥६०२॥

गा०—पार्श्वस्थमुनि पार्श्वस्थमुनिके पास जाकर अपने दोषोको कहता है। वह जानता है कि यह भी मेरे समान है। सब व्रतोमें दोषोसे भरा है ॥६०३॥

गा०—यह मेरी सुखशीलताको जानता है कि मैं दुःख सहन नही कर सकता। मेरे सब व्रतोंके दोषोको भी यह जानता है। अतः यह मुझे बडा प्रायश्चित्त नही देगा। यह मानकर वह उससे अपने दोष कहता है ॥६०४॥

गा०—यह पार्श्वस्थमुनि मेरे द्वारा कहे सब दोषोको जानता है ऐसा मानकर उससे प्रायश्चित लेना आगमसे निषिद्ध है। और यह आलोचनाका दसवाँ दोष है ॥६०५॥

गा०—जैसे कोई रुधिरसे सने हुए वस्त्रको रुधिरसे ही धोता है तो वह विशुद्ध नही होता।

---

१. सव्वदोसे य जानाति सर्वदोषाश्च। तो–मु०।

'**तथिमा सल्लुद्धरणसोधी**' आलोचनाशुद्धिः दोषं न निरस्यति । तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजलं पङ्क वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्त वस्त्र शोधयति तथाभूतमेव लोहितं । एवमतीचाराशुद्धिः अशुद्धरत्नत्रयोद्देशप्रवृत्तेः अशुद्धयालोचनया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥६०६॥

पवयणणिण्हवयाणं जह दुक्कडपावयं करेंताणं ।
सिद्धिगमणमइदूरं तथिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०७॥

'**पवयणणिह्नवयाणं**' जिनप्रणीतवचननिह्नवकारिणा । '**दुक्कडपावगं करेंताणं**' दुष्करपापकारिणा । '**जह सिद्धिगमणमइदूरं**' यथा सिद्धगमनमतिदुष्कर । तस्सेवी गद ॥६०७॥

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ ।
णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥६०८॥

'**सो**' क्षपक । '**तदो**' ततः आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । '**दोसे णिज्जूहिय**' दोषास्त्यक्त्वा । '**दस वि**' दशापि । '**भयमायामोसमाणलज्जाओ**' भयं माया मनोगता मृषा वचनगता, मान लज्जा च त्यक्त्वा । '**संसुद्धो**' सम्यक्शुद्ध । '**विधिना आलोयणं करेदि**' विधिना आलोचनां करोति ॥६०८॥

कोऽसावालोचनाविधिरित्याशंक्याह—

णट्टचलवलियगिहिभासमूगददुरसरं च मोत्तूण ।
आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥६०९॥

'**णट्टचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च**' हस्तनर्त्तनं, भ्रूक्षेप, चलनं गात्रस्य, वलित, गृहिवचनं, मूकवत्सज्ञाकरण, घर्घरस्वर च मुक्त्वा । '**आलोचेदि**' कथयति । '**विणीदो**' कृताञ्जलिपुटोऽवनतशिरस्क । '**अदुदं**' अद्रुतं । अविलम्बितं । स्पष्ट । '**गुरुणो अहिमुहत्थो**' गुरोरभिमुखः ॥६०९॥

उसी तरह यह आलोचना शुद्धि दोषको दूर नहीं करती । उसके विपरीत निर्मल जल वस्त्रमें लगे कीचड़को दूर करता है । किन्तु रुधिरसे लिप्त वस्त्रको रुधिर शुद्ध नहीं कर सकता । इसी प्रकार अशुद्ध रत्नत्रयवाले मुनिसे की गई अशुद्ध आलोचनासे अतीचार सम्बन्धी अशुद्धि दूर नहीं होती । इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमें समानता जानना ॥६०६॥

गा०—जैसे जिन भगवान्के वचनोका लोप करनेवाले और दुष्कर पाप करनेवालोका मुक्तिगमन अति दुष्कर है उसी प्रकार पार्श्वस्थ मुनिसे दोषोको कहनेवालोंकी शुद्धि अति दुष्कर है । यह तत्सेवी नामक दसवें दोषका कथन हुआ ॥६०७॥

गा०—सदोष आलोचनासे शुद्धि नहीं होती, इसलिए निर्यापकाचार्यके पादमूलमे उपस्थित क्षपक दसो दोषोको तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जाको त्यागकर सम्यक्प्रकारसे शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करता है ॥६०८॥

वह आलोचनाकी विधि क्या है, यह कहते हैं—

गा०—हाथका नचाना, भौं मटकाना, शरीरको मोड़ना, गृहस्थकी तरह बोलना, गूँगेकी तरह संकेत करना और घर्घर स्वरको त्याग कर, दोनों हाथोकी अजली बनाकर, सिर नवाकर गुरुके सामने उनकी बायी ओर एक हाथ दूर गवासनसे बैठकर, न अति जल्दीमे और न अति रुकरुक कर स्पष्ट आलोचना करता है ॥६०९॥

पुढविदगागणिपवणे य बीयपत्तेयणंतकाए य ।
विगतिगचदुपंचिंदियसत्तारंभे अणेयविहे ॥६१०॥

'**पुढविदगागणिपवणे य**' पृथिव्यामुदकेऽग्नौ पवने च । '**बीअपत्तेयणंतकाए य**' बीजे प्रत्येककाये च वनस्पतौ । '**विगतिगचदुपंचेंदियसत्तारंभे**' द्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियसत्त्वविषये चारम्भे । '**अणेगविधे**' अनेकप्रकारे । पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणा[1]भ्रजमित्यादिकाया खननं, विलेखन, दहनं, कुट्टन, भञ्जन इत्यादिकयारम्भ । उदककरकावश्यायतुषारादीना अब्भेदाना पान, स्नानमवगाहन, तरण हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्द्दन इत्यादिकं । [2]अग्निज्वाला, प्रदीप उल्मुकं इत्यादिकस्य तेजस उपर्युदकस्य, पाषाणस्य, मृत्तिकाया. सिकताया वा प्रक्षेपण, पाषाणकाष्ठादिभिर्हननं इत्यादिक । झंझामण्डलिकादौ वायौ वातिव्यजनेन, तालवृन्तेन, शूर्पेण, चेलादिना वा समीरणोत्थापनादिक वाते वाभिगमन । बीजाना प्रत्येककायानां अनन्तकायाना च वृक्षवल्लीगुल्मलतातृणपुष्पफलादीना दहन, छेदन, मर्दन, भञ्जनं, स्पर्शन, भक्षणमित्यादिक । द्वीन्द्रियादीना मारण, छेदनं, ताडन, बन्धन, रोधनमित्यादिक ॥६१०॥

पिंडोवधिसेज्जाए गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे ।
तेणिक्कराइभत्ते मेहूणपरिग्गहे मोसे ॥६११॥

'**पिंडोवधिसेज्जाए**' पिण्डे, उपकरणे, वसतौ च उद्गमोत्पादनैषणादानातिचार । '**गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगो**' । गृहस्थाना भाजनेषु कुम्भकरकशरावादिषु कस्यचिन्निक्षेपण, तैर्वा कस्यचिदादान च चारित्रातिचार । दु प्रतिलेख्यत्वाच्छोधयितुमशक्यत्वाच्च । पीठिकायामासन्द्या, खट्वाया, मञ्चे वा आसन निपद्यो-

गा०-टी०—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक वनस्पति, साधारणकायिक वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवसम्बन्धी अनेक प्रकारके आरम्भ की आलोचना करता है। मिट्टी, पत्थर, शर्करा, रेत, नमक इत्यादिका खोदना, हलसे जोतना, जलाना, कूटना, तोडना आदि पृथिवी सम्बन्धी आरम्भ है। जल, बर्फ, ओस, तुषार आदि पानीके भेदोका पीना, स्नान, अवगाहन, तैरना, हाथ पैर या शरीरसे मर्दन करना आदि जलसम्बन्धी आरम्भ है। आग, ज्वाला, दीपक, उल्मुक इत्यादि आगके ऊपर पानी, पत्थर, मिट्टी, अथवा रेत फेकना या पत्थर लकडी आदिसे आगको पीटना आगसम्बन्धी आरम्भ है। झंझा और माण्डलिक आदि वायुको ताडके पत्रसे, सूपसे, लकडी आदिसे रोकना, या पखे आदिसे हवा करना, वायुके सन्मुख गमन करना ये सब वायुकायसम्बन्धी आरम्भ हैं। बीज, प्रत्येक काय और अनन्तकाय वृक्ष, लता, बेल, झाडी, तृण, पुष्पफल आदिको जलाना, छेदना, मसलना, तोडना, छूना, खाना आदि वनस्पतिकाय सम्बन्धी आरम्भ हैं। दो इन्द्रिय आदि जीवोको मारना, छेदना, पीटना, बाँधना, रोकना आदि दो इन्द्रिय आदि सम्बन्धी आरम्भ हैं। ये सब आरम्भ मुझसे हुए है ॥६१०॥

गा०-टी०—भोजन, उपकरण और वसतिमे उद्गम, उत्पादन और एषणासम्बन्धी अतिचार होते है। गृहस्थोके पात्र घट, झारी, सकोरा आदिमें किसी वस्तुका निक्षेपण करना अथवा उनके द्वारा किसी वस्तुका ग्रहण चारित्रसम्बन्धी अतिचार हैं क्योकि उन पात्रोंकी प्रति-

१. णाभ्रकमि–आ० मु० । लवणवज्रादिकाया मूलारा० । २. अग्नेर्ज्वाला आ० मु० ।

च्यते । पीठिकादिष्वनेकच्छिद्राकुलासु दु'प्रेक्ष्या' प्राणिनो दृष्टाश्च नापकर्तुं शक्यन्ते । ततोऽहिंसाव्रतातिचार । तथा चोक्तम्—

पीठिकासंदपल्लके [1]मंचए मालए तथा । अणाचरिदमज्जाणं आसिदुं सइदु पि वा ॥
गंभीरवासिणो पाणा दुप्पेक्खा दुव्विकिचणा । तम्हा दुप्पडिलेह च वज्जए पढमव्वए ॥ [ ]

अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निषद्याया कस्तत्र दोष इति चेत् ब्रह्मचर्यस्य विनाश स्त्रीभि सह सवासात् ? असकृत्तदीयकुचतटबिम्बाधरादिसमवलोकनाद् भोजनार्थिना च विघ्न । कथमिव यतिसमीपे भुजिक्रिया सम्पादयाम । अशुचि वेद [2]चेत्कथमस्यामासन्द्या तु तावदमी इति क्रुध्यन्ति वा गृहस्था । किमर्थमयमत्र दाराणा मध्ये निषण्णो यतिर्भुङ्क्ते न यातीति । स्नानमुद्वर्तनं, गात्रप्रक्षालन च वाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरकादिना वा बिलस्था धात्रीक्षुद्रविवरस्था इतरेऽपि स्वल्पकाया कुन्थुपिपीलिकादयो वा नश्यन्ति । तथा चोक्तम्—

सुहुमा संति पाणा खु पासेसु अ बिलेसु अ ।
सिण्हायंतो यतो भिक्खू विकट्टेणोपपीडए ॥
ण सिण्हायंति तम्हा ते सीदुसणोदगेण वि ।
जावजीवं वद घोर अण्हाणगमधिट्ठिवं ॥

लेखना कठिन है तथा उनकी शुद्धि अशक्य होती है। पीढेपर, आसनपर, खाट या मचपर बैठना निषद्या है। अनेक छिद्रवाली पीठिका आदिमे रहनेवाले जन्तुओको देखना अशक्य होता है और देख भी लिया जाय तो उन्हे दूर करना शक्य नही होता। और उससे अहिसाव्रतमे अतिचार लगता है। कहा भी है—

पीढा, आसद, पलका, मच आदि आसनोपर स्नान न करनेवाले साधुओका बैठना या शयन करना उचित नही है। गहराईमें रहनेवाले जीवजन्तु देखे नही जाते। उनका बचाव कष्ट साध्य होता है। इसलिए अहिसा नामक प्रथम व्रतमे 'ठीकसे नही देखना' छोडना चाहिए।

अथवा गोचरीके लिए जाकर घरमे प्रवेश करना और वहाँ बैठना निषद्या है।

शङ्का—इसमे क्या दोष है ?

समाधान—स्त्रियोके साथ रहनेसे ब्रह्मचर्यका विनाश होता है। क्योकि बार-बार उनके कुचो और ओष्ठोपर दृष्टि जाती है। तथा भोजन करनेके इच्छुक गृहस्थोको बाधा होती है। वे सोचते है—हम यतियोके सामने कैसे भोजन करे ? अथवा उन्हे क्रोध हो सकता है कि इस अपवित्र पलके पर ये क्यो बैठे है ? यह यति यहाँ स्त्रियोके मध्यमे बैठकर क्यो भोजन करता है, जाता क्यो नही है।

स्नान, उबटन और शरीर धोनेको वाकुस कहते है। गर्मजल, ठडे जल अथवा सौवीरक आदिसे स्नान करनेसे पृथ्वीके बिलोमे स्थित प्राणी अथवा अन्य कुन्थु चीटी आदि क्षुद्रजीव मर जाते है। कहा है—

'बिलोमे तथा आस-पासमे सूक्ष्मजन्तु रहते है। यदि भिक्षु स्नान करे तो वे पीडित होते हैं। इसलिए वे भिक्षु ठडे या गर्मजलसे या काँजीसे स्नान नही करते। वे जीवन पर्यन्त घोर अस्नानव्रतको धारण करते है।'

---

१ मंचयासालये–अ० मु० । २. वेश्मस्याद्या अ० ।

लोध्रगन्धादिभि. उद्वर्तनं च नाचरन्ति । लिङ्गविकाशनक्रिया तात्स्थ्याल्लिङ्गशब्देनोच्यते । **'तेणिक्का-राविभत्ते'** अदत्तादानं रात्रिभोजनं च । अदत्तादाने कृते तत्स्वामिन प्राणापहार एव कृतो भवति । बहिश्चराः प्राणा धनानि प्राणभृतां राजानो दण्डयन्तीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासयममूल । रात्रौ भ्रमणे षड्जीवनिकायबधो । अयोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासम्भव. । करस्य, भाजनस्योच्छिष्टनिपतनदेशस्य, दायिकागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चावस्थानदेशस्य अपरीक्षा । **'मेहुणपरिग्गहे चेव'** मैथुन परिग्रहश्चैव । **'मोसे'** मृषा च ॥४११॥

णाणे दंसणतववीरिये य मणवयणकायजोगेहिं ।
कदकारिदेणुमोदे आदपरपओगकरणे य ॥६१२॥

'णाणे' ज्ञाने । **'दंसणतववीरिए'** श्रद्धाया तपसि वीर्ये च योऽतिचार । **'मणवयणकायजोगेहिं'** मनोवाक्कायक्रियाभि । मनसा सम्यग्ज्ञानस्यावज्ञा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्रमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्यग्ज्ञानस्य वा मिथ्याज्ञानमिदमिति दूषण । मनसा वाचा कायेन वा स्वारुचिप्रकाशन, मुखवैवर्ण्येन नैतदेवमिति शिर -कम्पनेन वा । शङ्काकाङ्क्षादि दर्शनेऽतिचारः । तपस्यसयम । वीर्ये स्वशक्तिगूहन । स चातीचार सर्वस्त्रिप्रकार इति कथयति । **'कदकारिदे अणुमोदे'** कृत., कारितोऽनुमतश्च । **'आदपरपओगकरणे य'** आत्मनैव कृत कारितोऽनुमतश्च, परयोगक्रियया कृत कारितोऽनुमतो वा ॥६१२॥

वे भिक्षु लोध्र वगैरह सुगन्धित द्रव्योका उबटन भी शरीरपर नही लगाते है। लिंगशब्दसे लिंगको विकसित करनेकी क्रिया ली गई है। वह भी भिक्षु नही करते।

तेणिक्क चोरीको कहते है। भिक्षु विना दी हुई वस्तुका ग्रहण और रात्रिभोजन नही करते। विना दी हुई वस्तुका ग्रहण अर्थात् चोरी करनेपर उसके स्वामीका प्राण ही हर लिया जाता है क्योकि धन मनुष्योका बाहिरी प्राण होता है। इसी लोकमे राजा उसे दण्ड देते हैं। तथा रात्रिमें भोजन अनेक असयमोका मूल है। रात्रिमे साधु भ्रमण करे तो छहकायके प्राणियोका घात होता है। तथा रात्रिमे दृष्टिगोचर न होनेसे त्यागी हुई तथा अयोग्य वस्तु भी खानेमे आ जाती है। दाताकी परीक्षा भी असम्भव होती है। हाथमे स्थित भोजन, जूठन गिरनेका स्थान, आहार देनेवालेके आने जानेका मार्ग, उसके तथा अपने खडे होनेके प्रदेशकी परीक्षा भी रातमे नही होती। मैथुन, परिग्रह और असत्यके वे त्यागी होते है ॥६११॥

गा०–टी०—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और वीर्यके सम्बन्धमे मन वचन कायकी क्रियाके द्वारा अतिचार हुए है—

मनसे सम्यग्ज्ञानकी अवज्ञा करना, इस ज्ञानसे क्या लाभ है, तप और चारित्र ही फलदायक है। उन्हे ही करना चाहिए। अथवा सम्यग्ज्ञानको यह मिथ्याज्ञान है, ऐसा दूषण लगाना। अथवा मनसे वचनसे कायसे अपनी अरुचि प्रकट करना। अथवा मुखकी विरूपतासे या सिर हिलाकर 'यह ऐसा नही है' यह प्रकट करना सम्यग्ज्ञानके अतिचार है। सम्यग्दर्शनमे शका कांक्षा आदि अतिचार कहे है। तपमें असयम अतिचार है। वीर्यमे अपनी शक्तिको छिपाना अतीचार है। वह सब अतिचार कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे तीन प्रकार है। तथा स्वयं ही करना कराना अनुमोदना करना और परके द्वारा करना, कराना, अनुमोदना करना इस तरह कृत कारित अनुमोदनाके भी दो प्रकार हैं ॥६१२॥

अद्धाण रोहगे जणवए य रादो दिवा सिवे ऊमे ।
दप्पादिसमावण्णे उद्धरदि कमं अभिंदंतो ॥६१३॥

'अद्धाण रोहगे जणवदे' यस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गास्तेषा रोधके परचक्रे जाते यदि निस्सर्तुं न लभते संक्लिष्टा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तामपि कथयति । **'रादो दिवा'** रात्रौ अयमतिचारो जातो दिवसे इति वा कथनं । मार्यां उपद्रुते संघे विद्यया मन्त्रेण वा तन्निषेधनायामयमतिचारो जात इति वा । दुर्भिक्षे वा महति अवमोदर्यभग्नेन यदात्मना सेवितं, अन्ये वाऽयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । **'दप्पादिसमावण्णे'** दर्पादिभि समापन्नः ।

> **दप्पपमादअणाभोगआपगा आदुरे य तित्तिणिदा ।**
> **संकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥**
> **अण्णाणणेहगारव अणप्पवसअलस उपधि सुमिणंते ।**
> **पलिकुंचणं ससोधी करेंति बीसंतथे भेदे ॥**

इति दर्पादि । अत्र दर्पोऽनेकप्रकार. क्रीडासंघर्ष', व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्य, गीतश्रृंगार-वचन, प्लवनमित्यादिको दर्प । प्रमादः पञ्चविधः-विकथा', कषाया, इन्द्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति । अथवा प्रमादो नाम सक्लिष्टहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति', बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरण, समितिष्वनुपयुक्तता । छेदन भेदन, पेषणमभिघातो, व्यधनं, बन्धन, स्फाटन, प्रक्षालन, रञ्जन, वेष्टन, ग्रथन, पूरण, समुदायकरण, लेपन, क्षेपणं, आलेखनमित्यादिक सक्लिष्टहस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षण निमित्त, ज्योतिर्ज्ञानं, छंद', अर्थशास्त्र, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमयाश्च बाह्यशास्त्राणि । उपयुक्तोऽपि सम्यगतीचार न वेत्ति सोऽनाभोगकृतः, व्याक्षिप्तचेतसा

गा०-टी०—देशसे बाहर जानेके जितने मार्ग हैं, शत्रुसेनाके द्वारा उन सबके बन्द कर देनेपर साधु निकल नही पाता । उस समय परवश होकर साधुको भिक्षाचर्या करनेमे जो सक्लेश हुआ हो, अथवा अपने द्वारा अयोग्य पदार्थका सेवन हुआ है उसे भी गुरुसे कहता है । रातमे यह अतिचार हुआ, दिनमे यह अतिचार हुआ, यह भी कहता है । अथवा संघमे भारी रोगका उपद्रव होनेपर विद्या या मत्रके द्वारा उसे रोकनेमें यह अतिचार लगा, यह भी कहता है । महान् दुर्भिक्ष पडनेपर अवमौदर्य तपको भंग करके स्वयंने जो सेवन किया हो, अथवा दूसरे साधुओको अमुक प्रकारसे अयोग्य भिक्षाके ग्रहण करनेमे प्रवृत्त किया हो, वह भी कहता है । दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आपात, आर्तता, तित्तिणिदा, शकित, सहसा, भय, प्रदोष, मीमांसा, अज्ञान, स्नेह, गारव, अनात्मवशता, आलस्य, उपधि, स्वप्नान्त, पलिकुंचन, और स्वयशुद्धि ये बीस दर्पादि कहे है । इनका विवरण—

इनमेसे दर्पके अनेक प्रकार हैं—१ खेलकूदमें संघर्ष, व्यायाम, इन्द्रजाल, रसायन सेवन, हास्य, गीत, शृङ्गार, दौड़ना, तैरना आदिको लेकर घमंड करना । २ प्रमादके पाँच भेद हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियोंके विषयमें आसक्ति, निद्रा और प्रणय (स्नेह) । अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रोंकी रचना करना, काव्यरचना और समितियोमे उपयोग न लगाना ये पाँच प्रमाद है । छेदना, भेदना, पीसना, अभिघात, बीधना, खोदना, बाँधना, फाड़ना, धोना, रंगना, वेष्ठित करना, गूँथना, पूरना, समुदाय करना, लीपना, फेकना, चित्रकारी करना ये सब संक्लिष्ट हस्तकर्म हैं । स्त्री पुरुषके लक्षण जिसमें बतलाये हों ऐसा शास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र तथा लौकिक और वैदिकशास्त्र बाह्यशास्त्र हैं—

वा कृत'। नदीपूर, अग्न्युत्थापनं, महावातापात:, वर्षाभिघात, परचक्ररोध इत्यादिका आपाता। रोगार्त, शोकार्तो, वेदनार्त इत्यार्तता त्रिविधा। रसासक्तता [1]मुखरता चेति द्विप्रकारता तित्तिणिदा शब्दवाच्या। सचित्त किमचित्तमिति शङ्किते द्रव्ये भञ्जनभेदनभक्षणादिभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उद्गमादिदोषोपहतिरस्ति न वेति शङ्कायामप्युपादानं। अशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्ति सहसेत्युच्यते।

एकान्ताया वसतौ व्यालमृगव्याघ्रादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्रकषायपरिणाम' प्रदोष इत्युच्यते। उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विकल्पाश्चत्वार कषाया। आत्मन. परस्य वा बललाघवादिपरीक्षा मीमासा तत्र जातोऽतिचार। प्रसारितकराकुञ्चितम् आकुञ्चितकरप्रसारण धनुषाद्यारोपण उपलाद्युत्क्षेपण, बाधन, वृतिकण्टकाद्युल्लङ्घन, पशुसर्पादीना मन्त्रपरीक्षणा[2]य वा धारण, औषधवीर्यपरीक्षणार्थमञ्जनस्य, चूर्णस्य वा प्रयोग, द्रव्यसयोजनया त्रसानामेकेन्द्रियाणा च समूर्च्छना परीक्षा। अज्ञानामाचरण दृष्ट्वा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानभिज्ञ। अथवाऽज्ञानिनोपनीतमुद्गमादिदोषोपहत उपकरणादिकं सेवते इति अज्ञानात्प्रवृत्तोऽतीचार। शरीरे, उपकरणे, वसतौ, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, बन्धुषु, पार्श्वस्थेषु वा ममेदमाव' स्नेहस्तेन प्रवर्तित अ[3]तीचार। मम शरीरमिद शीतो वातो बाधयति कटादि-

३ उपयोग लगानेपर भी सम्यक्रूपसे अतीचारको नही जानना अथवा चित्त चचल होनेसे अतीचारको न जानना अनाभोगकृत है। ४ नदीमे बाढ आना, आग लग जाना, महती आँधी आना, वर्षाकी अत्यधिकता, शत्रुसेनाका आक्रमण इत्यादि आपात है। ५ आर्तताके तीन प्रकार है—रोगसे पीडित, शोकसे पीड़ित, कष्टसे पीडित। ६ रसमे आसक्ति और बकवादमें आसक्ति इन दोनोको तित्तिणदा कहते हैं। ७. यह सचित्त है या अचित्त ऐसी आशंका होनेपर भी उसको तोडना-फोडना खाना, अथवा आहार, उपकरण और वसतिमे उद्गम आदि दोष है या नही, ऐसी शका होते हुए भी ग्रहण करना शंकित है। ८ अशुभ मन और वचनकी झटपट प्रवृत्ति सहसा है।

९ एकान्त वसतिमे सिंह मृग सर्प और चोर आदि प्रवेश करते है इस भयसे द्वार वन्द कर देना भय है। १० तीव्र कषाय युक्त परिणामको प्रदोष कहते है। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय है इनमेसे प्रत्येकके चार-चार भेद है जैसे जलकी रेखा, धूलकी रेखा, पृथ्वीकी रेखा और पत्थरकी रेखाके समान क्रोध होता है।

११ अपने या दूसरेके बल लाघव आदिकी परीक्षाको मीमासा कहते है। फैले हुए हाथको मोडने, मोडे हुए हाथको फैलाने, धनुष आदिके चढ़ाने, पत्थर आदिके फेकने, दौडने, बाड कण्टक आदिको लाँघने, मन्त्र परीक्षाके लिए पशु सर्प आदिको धारण करने, औषधकी शक्तिकी परीक्षाके लिए अजन अथवा चूर्णका प्रयोग करने, द्रव्योके संयोगसे त्रस जीवो और एकेन्द्रिय जीवोकी उत्पत्ति करने आदिको परीक्षा मीमासा है।

१२ अज्ञानी जनोका आचरण देखकर स्वय भी वैसा करता है उसमे दोष नही जानता। अथवा अज्ञानीके द्वारा लाये गये उद्गम आदि दोषोसे दूषित्त उपकरण आदिका सेवन करता है। यह अज्ञानवश हुआ अतिचार है।

१३ शरीरमे, उपकरणमें, वसतिमें, कुलमे, ग्राममे, नगरमे, देशमें, बन्धुमे और पार्श्वस्थ

१ मुखरतता—आ०। २ णार्थं धा—आ० मु०। ३ आचार —मु०।

भिरन्तर्धानं, अग्निसेवा [1]शीतापनोदनार्थं प्रावरणग्रहणं वा, उद्वर्तनं, म्रक्षणं वा। उपकरणं विनश्यतीति तेन स्वकार्याकरण यथा पिच्छविनाशभयादप्रमार्जन इत्यादिक। म्रक्षणं तैलादिना, कमण्डल्वादीना प्रक्षालनं वा, वसतितृणादिभक्षणस्य भञ्जनादेर्वा ममतया निवारणं, बहूना यतीना प्रवेशन मदीयं कुल न सहते इति भाषणं, प्रवेशे कोप., बहूना न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्यैव वैयावृत्यकरण। निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र म[2]मतया ग्रामे नगरे देशे वा अवस्थाननिषेधनं। यतीना सम्बन्धिनां सुखेन सुखमात्मनो दु खेन दु खमित्यादिरतिचार। पार्श्वस्थाना वन्दना, उपकरणादिदान वा तदुल्लङ्घनासमर्थता। गुरुता ऋद्धित्यागासहता, ऋद्धिगौरव, परिवारे कृतादर। परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन। अभिमतर[3]सात्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरा रसगौरवं। निकामभोजने, निकामशयनादौ वा आसक्ति। सातगौरव अनात्मवशतया प्रवर्तितातिचारः। उन्मादेन, पित्तेन पिशाचादेशेन वा परवशता। अथवा ज्ञातिभि परिगृहीतस्य बलात्कारेण गन्धमाल्यादिसेवा प्रत्याख्या[4]तभोजन, रात्रिभोजन मुखवासताबूलादिभक्षण वा स्त्रीभिर्नपुसकैर्वा बलादब्रह्मकरण। चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्य। उवधिशब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्ति.। ज्ञात्वा दातृकुल पूर्वमन्येभ्य·

मुनियोंमे ममत्वभाव स्नेह है। उससे हुआ अतीचार स्नेह कहाता है। मेरे इस शरीरको शीत कष्ट देता है। इसलिए चटाई वगैरहसे शीतको रोकना, आग तापना, शीत दूर करनेके लिए कुछ प्रावरण ग्रहण करना, उबटन लगाना, तेलकी मालिश करना। उपकरण नष्ट हो जायेगा इसलिए उससे अपना कार्य न करना, जैसे पिच्छीके नाशके भयसे उससे प्रमार्जन न करना, कमडलु आदिको धोना। वसनिके तृण आदि खानेको अथवा उसके टूटने आदिको ममत्व भावसे रोकना, मेरे कुलमे बहुत यतियोंका प्रवेश सह्य नही है ऐसा कहना, प्रवेश करने पर कोप करना, बहुत यतियोका प्रवेश देनेका निषेध करना, अपने कुलकी ही वैयावृत्य करना, निमित्त आदिका उपदेश देना, ममत्व होनेसे ग्राम नगर अथवा देशमे ठहरनेका निषेध न करना, सम्बन्धी यतियोके सुखसे अपनेको सुखी और दु खसे दु:खी मानना इत्यादि अतिचार है। पार्श्वस्थ आदि मुनियोकी वन्दना करना, उन्हे उपकरण आदि देना, उनका उल्लघन करनेमे असमर्थ होना, इत्यादि अतीचारोकी आलोचना करता है।

१४ ऋद्धिके त्यागमे असमर्थ होना ऋद्धिगारव है। मुनि परिवारमे आदरभाव होनेसे प्रिय वचन और उपकरण दानके द्वारा दूसरोका अपनाना है। इष्ट रसका त्याग न करना और अनिष्ट रसमे अनादर होना रसगारव है। अति भोजन अथवा अतिशयनमे आसक्ति सात गौरव है। ये गारव सम्बन्धी अतिचार है।

१५ अपने वशमे स्वयं न होनेसे अतिचार होते है। उन्मादसे, पित्तके प्रकोपसे अथवा पिशाच आदिके कारण परवशता होती है। अथवा जातिके लोगोके द्वारा बलपूर्वक पकड़कर गन्ध माल्य आदिका सेवन, त्यागी हुई वस्तुका भोजन, रात्रि भोजन, मुखवास, ताम्बूल आदिका भक्षण कराया गया है। स्त्रियो अथवा नपुंसकोके द्वारा बलपूर्वक अब्रह्म सेवन कराया गया हो।

१६ चार प्रकारकी स्वाध्याय अथवा आवश्यकोंमे आलस्य किया हो।

१७ उपधि शब्दसे माया कही है अर्थात् छिपकर अनाचार करना। दाताका घर जानकर

१ ग्रीष्मातपनो–आ० मु०। २. मतस्य ग्रा–आ०। ३. रसत्या–अ० आ०। ४. ख्यान भो–अ० आ०।

प्रवेशः । कार्यापदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा वा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तमिति कथनं । ग्लानस्याचार्यादेर्वा वैयावृत्यं करिष्यामि इति किञ्चिद्गृहीत्वा स्वय तस्य सेवा । स्वप्नेनाऽयोग्यप्रतिसेवा सुमिणमित्युच्यते । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयेण प्रवृत्तस्यातिचारस्यान्यथा कथन पलिकुञ्चनशब्देनोच्यते । कथं ? सचित्तसेवां कृत्वा अचित्तं सेवितमिति । अचित्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति, दिवसे कृत रात्रौ कृतमिति, अकषायतया संपादित तीव्रक्रोधादिना संपादितमिति । यथावत्कृतालोचनो यतिर्यावत्सूरि प्रायश्चित्त न प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेदं मम प्रायश्चित्त इति स्वयं गृह्णाति स स्वय शोधक । एव मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदन । एवमेतैर्दर्पादिभिः समापन्नोऽतिचार '**उद्धरदि**' कथयति । '**कमं**' स्वकृतातिचारक्रम । '**अभिवंतो**' अनिराकुर्वन् ॥६१३॥

इय पयविभागियाए व ओघियाए व सल्लमुद्धरिय ।
सव्वगुणसोधिकंखी गुरूवएसं समायरइ ॥६१४॥

'**इय**' एव । पदविभागियाए व विशेषालोचनया वा । '**ओघियाए व**' सामान्यालोचनया वा । '**सल्लं**' मायाशल्यं । '**उद्धरिय**' उद्धृत्य । '**सव्वगुणसोधिकंखी**' सर्वेषा गुणाना दर्शनज्ञानचारित्रतपसा शुद्धिमभिलषन् । '**गुरूवएसं**' गुरुणोपदिष्ट प्रायश्चित्त । '**समाचियदि**' सम्यगादत्ते । रोष दैन्यमश्रद्धान च त्यक्त्वा ॥६१४॥

परिहार्यलोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचना निन्दना गुणवतीति वदति—

दूसरे साधुओसे पहले ही किसी बहानेसे भिक्षाके लिए पहुँचना जिससे दूसरे न जान सके। या अच्छा भोजन करके यह कहना कि मैंने नीरस भोजन किया है। मै रोगीकी या आचार्यकी वैयावृत्य करूँगा, इस बहानेसे कुछ वस्तु ग्रहण करके स्वयं उसका सेवन करना।

१८ स्वप्नमें अयोग्य वस्तुके सेवनको सुमिण कहते है।

१९ द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे हुए अतिचारको अन्य रूपसे कहना पलिकुंचन शब्दसे कहा जाता है। जैसे सचित्तका सेवन करके कहना कि मैने अचित्तका सेवन किया है। अचित्तका सेवन करके कहना कि सचित्तका सेवन किया है। तथा अपने स्थान पर किये गये दोषको 'मार्गमे किया है' ऐसा कहना। सुभिक्षमें किये गये दोषको दुर्भिक्षमें किया कहना। दिनमें किये को रातमे किया कहना। अकषाय पूर्वक कियेको कषायपूर्वक किया कहना।

२० विधिपूर्वक आलोचना करके आचार्यके प्रायश्चित्त देनेसे पहले स्वय ही 'यह मेरा प्रायश्चित्त है' इस प्रकार जो स्वय प्रायश्चित्त ग्रहण करता है उसे स्वय शोधक कहते हैं। उसे आचार्यसे निवेदन करना चाहिए मैंने इस प्रकार स्वयं शुद्धि की है।

इस प्रकार क्षपक अपने द्वारा किये गये दोषोके क्रमका उल्लघन न करके दर्पादिसे हुए अतिचारोको गुरुसे कहता है ॥६१३॥

गा०—इस प्रकार विशेष आलोचना अथवा सामान्य आलोचनाके द्वारा मायाशल्यको दूर करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन सब गुणोकी शुद्धिका इच्छुक क्षपक गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको रोष, दीनता और अश्रद्धाको त्यागकर स्वीकार करता है ॥६१४॥

त्यागने योग्य आलोचना दोषोंको कहकर गुरुके समीपमे आलोचना और निन्दनाके गुण कहते है—

कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ।
होदि अचिरेण लहुओ उरुहियभारोव्व भारवहो ॥६१५॥

'कदपावो वि मणुस्सो' कृतपापोऽपि मनुष्य समर्जिताशुभकर्मसंचयोऽपि मनुष्य । अथवा पापस्याशुभकर्मण कारणभूताऽसंयमादिरिह पापशब्देनोच्यते, तेनायमर्थ —कदपावोऽवि कृतासंयमादिकोऽपि । **'आलोयणणिंदओ'** कृतालोचन कृतनिन्दितश्च । क्व ? **'गुरुसयासे'** गुरुसमीपे । **'होदि'** भवति । **'अचिरेण लहुओ'** लघुनम **'उरुहियभारोव्व'** अवतारितभार इव । **'भारवहो'** भारस्य वोढा ॥६१५॥

भावशुद्धधर्था आलोचना असत्या भावशुद्धौ को वा दोष इत्याह—

सुबहुस्सुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेसु ।
ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होंति ॥६१६॥

'सुबहुस्सुदा वि संता' सुष्ठु बहुश्रुता अपि सन्त । **'जे मूढा'** ये मूढा । **'सीलसंजमगुणेसु'** शीले क्षमादिके धर्मे, सयमे, व्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतप सु च । **'भावसुद्धिं'** परिणामेन शुद्धि । **'ण उवेंति'** नोपयान्ति ते । **'दुक्खणिहेलणा'** दु खैर्निष्पीड्या । **'होंति'** भवन्ति ॥६१६॥

कृतायामालोचनायां गुरुणा कि कर्तव्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणित्ता तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण ।
जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्ठवेदव्वं ॥६१७॥

'आलोयणं' आलोचना । **'सुणित्ता'** श्रुत्वा । **'तिक्खुत्तो'** त्रि पृष्ट्वा । **'भिक्खुणो'** भिक्षो । **'उपायेण'** उपायेन । **'जदि उज्जुगोत्ति य'** यदि ऋजुरयमिति । **'णिज्जइ'** ज्ञायते । वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण ऋजुता । **'जहा'** यथा । **'कद'** कृतं पाप सुज्झदिति शेषः शुद्धयति तथा **'पट्ठवेदव्वं'** प्रायश्चित्त दातव्य ।

गा०—'कृतपाप' अर्थात् अशुभकर्मका सचय करनेवाला भी मनुष्य । अथवा पाप अर्थात् अशुभकर्मके कारणभूत असंयम आदिको यहाँ पापशब्दसे कहा है । तब यह अर्थ होता है—असयम आदि करनेवाला भी मनुष्य गुरुके समीप आलोचना और निन्दा करके शीघ्र ही हलका हो जाता है जैसे बोझको उतारनेपर बोझा ढोनेवाला हलका हो जाता है ॥६१५॥

भावोकी शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है । भावशुद्धिके अभावमे दोष कहते है—

गा०—जो मूढ मुनि बहुत अच्छे बहुश्रुत विद्वान् होकर भी क्षमा आदि धर्ममे, संयममें, व्रतोमे, ज्ञान दर्शन और तप गुणोमे भावशुद्धि नही रखते वे दु.खोसे पीडित होते है ॥६१६॥

आलोचना करनेपर गुरुको क्या करना चाहिए, यह कहते है—

गा०—आलोचना सुनकर गुरु भिक्षुसे तीन वार उपायसे पूछते हैं—तुम्हारा अपराध क्या है मै भूल गया या मैने सुना नही । इत्यादि उपायसे गुरु तीन बार पूछते है । यदि 'वचन' कहनेके ढंगसे और आचरणसे जानते हैं कि यह सरल हृदय है तो जिस प्रकार किया पापशुद्ध हो

---

१ ते तनुभवनेन वाचर—आ० ।

अनृजोर्भावशुद्धयभावान्न व्यवहारिणः प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति सूरयः। भावशुद्धिमन्तरेण पापानपायात् रत्नत्रयस्य निरतिचारत्वाभावात् ॥६१७॥

ऋज्वी इतरा वा आलोचना कीदृशी यस्यां सत्यां प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आचष्टे—

आदुरसल्ले मोसे मालागररायकज्ज तिक्खुत्तो ।
आलोयणाए वक्काए उज्जुगाए य आहरणे ॥६१८॥

'**आदुरसल्ले**' आतुरो व्याधितः स वैद्येन वारत्रयं पृच्छ्यते। किं भुक्तं ? किमाचरितं ? कीदृशी वा रोगस्य वृत्तिरिति। शल्यमपि शरीरलग्नं त्रिः परीक्ष्यते। शुद्धता व्रणस्य जाता न वेति। '**रायकज्जं तिक्खुत्तो**' राज्ञा आज्ञप्तं कार्यं किमेवं करिष्यामीति त्रिः पृच्छ्यते। '**आलोयणाए**' आलोचनायाः। '**वक्काए**' वक्रायाः। '**उज्जुगाए**' ऋज्व्याश्च। '**आहरणे**' दृष्टान्ताः। यदि वारत्रयमप्येकरूपेण वक्ति ततो ऋज्वी अन्यथा अन्यदन्यदा-चष्टे वक्रेति ग्राह्य ॥६१८॥

पडिसेवणातिचारे जदि[1] णो जंपदि जधाकमं सव्वे ।
ण करेंति तदो सुद्धिं आगमववहारिणो तस्स ॥६१९॥

'**पडिसेवणातिचारे**' प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारान्। तत्र प्रतिसेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभाव-विकल्पेन। द्रव्यप्रतिसेवा त्रिप्रकारा सचित्तमचित्तं मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात्। चित्तं ज्ञानं तथा च प्रयोगः—चित्तमात्रं जगतत्त्वं ज्ञानमात्रमिति यावत्। ज्ञानस्यात्मनः कथञ्चिदव्यतिरेकात्तात्स्थ्याद्वा चित्तशब्देनाभि-

---

उस प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए। जो सरल हृदय नहीं होता उसके भावशुद्धि नहीं होती। इसलिए व्यवहार कुशल आचार्य उसे प्रायश्चित्त नहीं देते। भावशुद्धिके विना पाप दूर नहीं होता। इसलिए उसके रत्नत्रय निरतिचार नहीं होते ॥६१७॥

सरल या वक्र आलोचना कैसी होती है जिसके होनेपर प्रायश्चित्त दिया जाता है या नहीं दिया जाता, यह कहते है—

गा०-टी०—वैद्य रोगीसे तीन बार पूछता है—तुमने क्या खाया था, क्या किया था, रोगकी क्या दशा है ? शरीरमें लगे घावकी भी तीन बार परीक्षा की जाती है कि घाव भरा या नहीं ? चोरी होनेपर तीन बार पूछा जाता है कि क्या-क्या चोरीमें गया है, कैसे चोरी हुई है ? मालाकारसे भी तीन बार पूछा जाता है कि तेरी मालाका क्या मूल्य है। राजाने जिसे कार्य करनेकी आज्ञा दी है वह तीन बार पूछता है कि क्या इस प्रकार करूँ ? इसी प्रकार आलोचनाकी परीक्षा भी तीन बार की जाती है। अपना अपराध पुनः कहो ? ये सरल और वक्र आलोचनाके सम्बन्धमे पाँच दृष्टान्त हैं। यदि तीनो बार भी एकरूपसे ही कहता है तो सरल आलोचना है। यदि अन्य अन्यरूपसे कहता है तो वक्र आलोचना है ऐसा समझना चाहिए ॥६१८॥

गा०-टी०—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे प्रतिसेवनाके चार भेद हैं। द्रव्यप्रति-सेवनाके तीन प्रकार हैं क्योंकि सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे द्रव्यके तीन प्रकार हैं। चित्त ज्ञानको कहते हैं। कहा जाता है—जगत् तत्त्व चित्तमात्र है अर्थात् ज्ञानमात्र है। ज्ञान आत्मासे

---

१. णाउ टेदि अ०।

धानं । सह चित्तेनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्य । न विद्यते चित्तं आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्त । मिश्र नाम सचित्ताचित्तपुद्गलसंहति. । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय जीवपरिगृहीता सचित्तशब्देनोच्यन्ते । अचित्त जीवेन परित्यक्तं शरीर [1]तयोरुपादाय क्षेत्रादिप्रतिसेवना च योज्या । 'अदि णो[2] जपदि' न कथयेद्यदि । 'अहाकमं' यथाक्रम । 'सव्वे' सर्वान् स्थूलान्सूक्ष्मांश्चातिचारान् । 'ण करंति' न कुर्वन्ति । 'तदो' तत । 'तस्स सोधि' तस्य शुद्धि । 'आगमववहारिणो' आगमानुसारेण व्यवहरन्त ।

एत्थ दु उज्जुगभावा ववहरिदव्वा भवंति ते पुरिसा ।
संका परिहरिदव्वा सेसे [3]पदूहि जंहि विसुद्धा ॥ [ ]

इति वचनात् सर्वमतिचारं निवेदयत एव ऋजुता, तस्यैव प्रायश्चित्तदान ॥६१९॥

पडिसेवणादिचारे जदि [4]आजंपदि जहाकमं सव्वे ।
कुव्वंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥६२०॥

स्पष्टा गाथा ॥६२०॥

यतिना निर्दोषायामालोचनायां कृतायां गणिना किं कर्तव्यमित्याशङ्किते तद्व्यापारं कथयति—

सम्मं खवएणालोचिदम्मि छेदसुदजाणगो गणी सो ।
तो आगममीमंसं करेदि सुत्ते य अत्थे य ॥६२१॥

कथञ्चित् अभिन्न होता है अथवा आत्मामें रहता है इसलिए उसे चित्त शब्दसे कहते है। जो चित्त अर्थात् आत्माके साथ रहता है वह सचित्त है। अर्थात् जीवके शरीररूपमे स्थित पुद्गलद्रव्य सचित्त है। और जिस पुद्गलमें चित्त अर्थात् आत्मा नही है वह अचित्त है। सचित्त और अचित्त पुद्गलोका समूह मिश्र है। जीवके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जिनमे जीव वर्तमान है उन पृथिवी, जल, आग, वायु और वनस्पतिको सचित्त कहते हैं। जीवके द्वारा त्यागे हुए शरीरको अचित्त कहते है। इन सचित्त अचित्तको लेकर क्षेत्र प्रतिसेवना, काल प्रतिसेवना और भाव प्रतिसेवना लगा लेना चाहिए। इन प्रतिसेवनाके निमित्तसे हुए सब सूक्ष्म और स्थूल दोषोको यथाक्रम यदि नही कहता तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि नही करते। आगममें कहा है—

'जो पुरुष सरल भावसे अपने दोष कहते हैं वे प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य होते है। और जिनके विषयमे शका हो वे प्रायश्चित्त देनेके योग्य नही है।'

अतः सब अतिचारोको कहने वालेके ही सरलता होती है। उसीको प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥६१९॥

गा०—प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारोको क्रमानुसार यदि कहता है तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते है ॥६२०॥

यतिके निर्दोष आलोचना करने पर आचार्यको क्या करना चाहिए? ऐसी आशका करने पर उसे कहते हैं—

---

१. तयोरुपादान क्षेत्रादि प्रतिसेवना योज्या–आ०मु०। २. जदि णाकुटिदि–अ०। ३. पादहि अ०। ४. आउंटेदि अ०।

'खवगेण सम्मं आलोचिदम्मि' क्षपकेन सम्यगालोचिते । **'छेदसुदजाणगो गणी सो'** छेदसूत्रज्ञ सूरि स । **'सो'** पश्चात् । **'आगममीमंसं'** आगमविचार । **'करेदि'** करोति । कथ ? **'सुत्तं य अत्थे य'** सूत्रे च अर्थे च । इदं सूत्रं अस्य चायमर्थ इति अपराधस्यैवभूतस्य इद प्रायश्चित्तमनेन सूत्रेण चेद निर्दिष्ट इति प्राग्निरूपयति ॥६२१॥

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीय किमर्थमित्यत आह—

पडिसेवादो हाणी वड्ढी वा होइ पावकम्मस्स ।
परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिव्वा व मंदा वा ॥६२२॥

'पडिसेवादो जातस्स पावकम्मस्स परिणामेण हाणी वड्ढी वा होदि' । कीदृशी ? **तिव्वा वा मन्दा वा** इति पदघटना । प्रतिसेवनातो जातस्य पापकर्मण परिणामेन पाश्चात्येन करणेन हानिर्वा वृद्धिर्वा भवति । तीव्रा हानिस्तीव्रा वृद्धि । मन्दा वा हानिर्मन्दा वा वृद्धि ॥६२२॥

तदुभयव्याख्यानाय गाथाद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंकिलिट्ठो गालेइ गुणे णवं च आदियदि ।
पुव्वकदं व दढं सो दुग्गदिभ[1]वबंधणं कुणदि ॥६२३॥

'सावज्जसंकिलिट्ठो' सावद्य[2]सक्लेशो द्विप्रकार । सह अवद्येन पापेन वर्तत इति सावद्य एक । अन्यस्तु सक्लेशश्चित्तबाधा । न तु सावद्य. । ज्ञान विमल कि मम न जायते, सम्पूर्ण चारित्र शरीर वा किमर्थमिदमति-

---

गा०—क्षपकके द्वारा सम्यक् आलोचना करने पर छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता आचार्य सूत्र और उसके अर्थको लेकर आगमका विचार करता है कि यह सूत्र है और इसका यह अर्थ है। इस प्रकारके अपराधका यह प्रायश्चित्त इस सूत्रमे कहा है, ऐसा पहले विचार करता है ॥६२१॥

दोषके अनुसार प्रायश्चित्तका विचार करने वाले आचार्यको अतिचारके समय तथा उसके बाद होने वाले क्षपकके परिणामोका भी विचार करना चाहिए क्योकि—

गा०—प्रतिसेवना अर्थात् असयम आदिका सेवन करनेसे उत्पन्न हुए पापकर्मकी पीछे हुए शुभ या अशुभ परिणामोंसे तीव्र हानि अथवा तीव्र वृद्धि, मन्द हानि अथवा मन्द वृद्धि होती है। अर्थात् असंयम सेवन करते समय जैसे तीव्र अशुभ परिणामसे तीव्र पाप बन्ध और मन्द अशुभ परिणामसे मन्द पापबन्ध हुआ था वैसे ही आलोचनाके पश्चात् तीव्र शुभ परिणाम होनेसे पापकी तीव्र हानि और मन्द शुभ परिणाम होनेसे पापकी मन्द हानि होती है इसका विचार भी आचार्य करते हैं ॥६२२॥

इन दोनो का व्याख्यान आगे दो गाथाओंसे करते है—

गा०-टी०—सावद्य सक्लेश दो प्रकारका है। एक वह जो अवद्य अर्थात् पापके साथ होता है। दूसरा सक्लेश है चित्तकी बाधा। वह सावद्य रूप नही होता। जैसे मेरा ज्ञान निर्मल क्यो

---

१ भयवधण—मूलारा० । २. सावद्यसंक्लेशसहित. क्लेशो—आ० ।

दुर्बलं तपोयोगासहमिति एवमादिकस्तन्निरासाय सावद्यविशेषणं सावद्यसंक्लिष्टं । '**गालेदि गुणे**' गालयति गुणान् दर्शनज्ञानचारित्राणि । '**णवं च आदियदि**' कर्म च आदत्ते अभिनवं । '**पुव्वकदं च दढं कुणदि**' पूर्वार्जितं च दृढीकरोति कषायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिबन्धस्य । '**दुग्गदिभयकारणं**' दुर्गतयः नारकत्वादयः विचित्रवेदनासहस्रसंकुलास्तासु भयं वर्द्धयति, यत्कर्माशुभं तदादत्ते स्थिरयति ।।६२३।।

पडिसेवित्ता कोई पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो ।
संवेगजणिदकरणो देसं घाएज्ज सव्वं वा ।।६२४।।

'**पडिसेवित्ता कोई**' कश्चित्कृतासंयमादिसेवनोऽपि । '**पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो**' पश्चात्तापेन दह्यमानचित्तः । '**संवेगजणिदकरणो**' संसारभीरुताजनितसंयमनक्रियः । '**देसं सव्वं वा घादेज्ज**' आत्माभिनवसंचितकर्मपुद्गलस्कंधैकदेशनिर्जरां वा करोति, समस्तं वा तद् घातयेत् । यदि मध्यमो मन्दो वा परिणामो देशं घातयति । अथ तीव्रः समस्तं इति भावः ।।६२४।।

तो णच्चा सुत्तविदू णालियधमगो व तस्स परिणामं ।
जावदिएण विसुज्झदि तावदियं देदि जिदकरणो ।।६२५।।

'**तो**' तस्मात् । '**णच्चा**' ज्ञात्वा । '**सुत्तविदू**' प्रायश्चित्तसूत्रज्ञः सूरिः । किं ? '**तस्स परिणामं**' कृतापराधस्य परिणामं । कथं परकीयः परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहवासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिकं सुज्ञातमेव तत्कार्योपलम्भात्, तमेव वा परिपृच्छ्य, कीदृग्भवतः परिणामोऽतिचारसमकालं वृत्त इति । किमिव ? '**णालिगधमगोव्व**' नालिकया यो धमति सुवर्णकारः सोऽग्नेर्बलाबलं विदित्वा धमनं करोति, एवं सूरिरपि अस्य कर्म तनुतरं महद्वेति विदित्वा । '**जावदिगेण**' यावता प्रायश्चित्तेन । '**विसुज्झदि**' विशुद्ध्यति । '**तावदिगं**' तावत्परिमाणं प्रायश्चित्तं अल्पं महद्वा । '**देदि**' ददाति । '**जिदकरणो**' परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः ।।६२५।।

नही होता ? या मेरे सम्पूर्ण चारित्र क्यों नही है ? मेरा शरीर क्यो इतना दुर्बल है कि तपोयोगको सहन नही करता ? इत्यादि संक्लेश चित्त बाधारूप है। उससे अलग करनेके लिए सावद्य विशेषण देकर 'सावद्य संक्लिष्ट' कहा है। यह सावद्य संक्लेश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणोका नाश करता है। नवीन कर्मका बन्ध करता है। पूर्व संचित कर्मोंको दृढ करता है। क्योकि स्थिति बन्ध कषाययुक्त परिणामके निमित्तसे होता है। नाना प्रकारके हजारो वेदनाओसे व्याप्त नारक आदि दुर्गतियोके भयको बढ़ाता है। अशुभ कर्मको स्थिर करता है ।।६२३।।

गा०-टी०—कोई असंयम आदिका सेवन करके भी पश्चात्तापके द्वारा अपने चित्तको जलाता है अर्थात् उसे अपने कर्म पर पश्चात्ताप होता है और वह संसारसे भयभीत होकर संयमका पालन करता है। तब वह अपने द्वारा संचित नवीन कर्म पुद्गल स्कन्धोके एक देशकी निर्जरा करता है अथवा समस्त कर्म पुद्गल स्कन्धका घात करता है। यदि परिणाम मध्यम या मन्द होते है तब एक देशकी निर्जरा करता है। और तीव्र होते है तो समस्तका घात करता है ।।६२४।।

गा०-टी०—अतः प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता और प्रायश्चित्त देनेकी क्रियासे परिचित आचार्य उस अपराधी भिक्षुके परिणामोको जानकर जितने प्रायश्चित्तसे उसकी विशुद्धि हो उतना ही थोड़ा या बहुत प्रायश्चित्त देते है। जैसे सुवर्णकार आगका बलाबल जानकर तदनुसार उसे धौकनी से धौकता है। उसी प्रकार आचार्य भी उसका अपराध थोड़ा या बहुत है यह जानकर प्रायश्चित्त देते है। दूसरेके परिणाम आचार्य कैसे जानते है ? इसका उत्तर है कि साथ रहनेसे यह

आउव्वेदसमत्ती तिगिंछिदे मदिविसारदो वेज्जो ।
रोगादंकामिहदं जह णिरुजं आदुरं कुणइ ॥६२६॥

'**आउव्वेदसमत्ती**' निर्ज्ञातसमस्तायुर्वेद । '**तिगिंछिदे**' चिकित्सायां । '**मदिविसारदो**' बुद्धया निपुण । '**वेज्जो**' वैद्य. । '**रोगातंकाभिहदं**' महता अल्पेन वा व्याधिना पीडित । '**आदुरं**' व्याधित । '**जह**' यथा । '**णिरुजं कुणदि**' विशुद्धं करोति ॥६२६॥

एवं पवयणसारसुयपारगो सो चरित्तसोधीए ।
पायच्छित्तविदण्हू कुणइ विसुद्धं तयं खवयं ॥६२७॥

'**एवं पवयणसारसुयपारगो**' प्रवचने यत्सारभूत श्रुतं तस्य पारगत । '**पायच्छित्तविदण्हू**' प्रायश्चित्त-क्रमज्ञ. । '**चरित्तसोधीए**' चारित्रशुद्धया । '**तयं खवयं**' तक क्षपकं । '**विसुद्ध कुणदि**' विशुद्ध करोति ॥६२७॥

स्थविरे व्यावर्णितगुणे असत्यन्योऽपि भवति निर्यापक इति शङ्कायां कथयति—

एदारिसंमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए ।
होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जदणाए ॥६२८॥

'**एदारिसम्मि**' व्यावर्णितगुणे । '**थेरे**' स्थविरे अविद्यमाने । '**गणत्थे**' गणस्थे । '**तहा**' तथा । '**उवज्झाए**' उपाध्याये वाऽसति । '**होदि**' भवति । '**णिज्जवओ**' निर्यापक । '**पवत्ती**' प्रवर्तक । '**थेरो**' स्थविरश्चिरप्रव्रजितो मार्गज्ञो । '**गणधरवसहो य**' बालाचार्यो वा । '**जदणाए**' यत्नेन प्रवर्तमान । एवमालोचनायां गुणदोष-निरूपणा समाप्ता ॥६२८॥

सो कदसामाचारी सोज्झं कट्टु विधिणा गुरुसयासे ।
विहरदि सुविसुद्धप्पा अब्भुज्जदचरणगुणकंखी ॥६२९॥

'**सो कदसामाचारी**' स क्षपक कृतसमाचार । '**सोज्झं**' शुद्धि । '**कट्टु**' कृत्वा '**विधिणा**' विधिना ।

ज्ञात हो जाता है कि यह तीव्र क्रोधी या तीव्र मानी है। अथवा उसीसे पूछनेसे कि दोष करते समय आपके परिणाम कैसे थे, ज्ञात हो जाता है ॥६२५॥

गा०—अथवा जैसे समस्त आयुर्वेदका ज्ञाता और चिकित्सामे निपुण बुद्धि वाला वैद्य महती अथवा अल्प व्याधिसे पीडित रोगीको नीरोग करता है ॥६२६॥

गा०—उसी प्रकार प्रवचनके सारभूत श्रुतका पारगामी और प्रायश्चित्तके क्रमका ज्ञाता आचार्य चारित्रकी शुद्धिके द्वारा उस क्षपकको विशुद्ध करता है ॥६२७॥

उक्त गुणवाला आचार्य न होने पर क्या अन्य भी निर्यापक हो सकता है? इसका समाधान करते है—

गा०—उक्त गुणवाले आचार्यके तथा उपाध्यायके संघमें न होने पर सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला प्रवर्तक अथवा स्थविर अथवा बालाचार्य निर्यापक होता है। जो अल्प शास्त्रज्ञ होते हुए भी सर्व संघकी मर्यादा चर्याको जानता है उसे प्रवर्तक कहते हैं। जिसे दीक्षा लिए बहुत काल बीत गया है तथा जो मार्गको जानता है उसे स्थविर कहते है ॥६२८॥

'**गुरुसयासे**' गुरुसमीपे । '**विहरदि**' प्रवर्तते । '**सुविसुद्धप्पा**' सुष्ठु विशुद्धात्मा । '**अब्भुज्जदचरणगुणकंखी**' अभ्युद्यतचारित्रगुणकांक्षासमन्वितः ।।६२९।।

एवं वासारत्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं ।
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारम्मि ।।६३०।।

'**एवं वासारत्ते**' वर्षाकाले '**फासेदूण**' स्पृष्ट्वा । '**विविध**' नानाप्रकारं । '**तवोकम्मं**' तपःकर्म। '**संथारं**' संस्तरं । '**पडिवज्जदि**' प्रतिपद्यते । '**हेमंते**' शीतकाले । '**सुहविहारम्मि**' सुखविहारे । अनशने समुद्यतस्य महान्परिश्रमो न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते ।।६३०।।

सव्वपरियाइयस्स य पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओगेण ।
सव्वं समारुहित्ता गुणसंभारं पविहरिज्जा ।।६३१।।

'**सव्वपरियाइयस्सय**' सर्वस्य ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायस्य अतिचारान् । '**पडिक्कमित्तु**' प्रतिनिवृत्तो भूत्वा । '**गुरुणिओगेण**' गुरूपदेशेन । '**गुणसंभारं**' गुणानां समूहं । '**सव्वं**' कृत्स्नं '**समारुहित्ता**' सम्यगारुह्य । '**पविहरिज्ज**' प्रवर्तेत । आलोचनागुणदोषा ।।६३१।।

कीदृशी वसतिर्योग्या का वा नेत्येतद्व्याचष्टे उत्तरेण ग्रन्थेन तथा योग्या निरूपयति—

गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य ।
णत्तियरजया पाडहियडोंबणडरायमग्गे य ।।६३२।।

'**गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य**' गायकानां, नर्तकानां, गजानामश्वानां च शालायां, तिलमर्दनकुम्भकारशालायां च यन्त्रशालायां रजकपाटहिकडोंबनटगृहाणां समीपे । राजमार्गस्य वा समीपभूतायां वसतौ ।।६३२।।

गा०—वह क्षपक सामाचारी करके विधिपूर्वक प्रायश्चित्त द्वारा अपने दोषोकी विशुद्धि करता है। और अच्छी तरहसे आत्माको विशुद्ध करके स्वीकृत चारित्रमे गुणोकी इच्छा करता हुआ गुरुके पासमे साधना करता है ।।६२९।।

गा०—इस प्रकार वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतुमें संस्तरका आश्रय लेता है। हेमन्त ऋतुमे अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नही होता, सुखपूर्वक हो जाता है इसलिए उसे सुखविहार कहा है ।।६३०।।

गा०—समस्त ज्ञान दर्शन और चारित्रके अतिचारोसे शुद्ध होकर, गुरुके उपदेशसे समस्त गुणोके समूहको धारण करके क्षपकको समाधि मरणमे लगना चाहिए ।।६३१।।

आगे कौन वसतिका योग्य है और कौन अयोग्य है यह कहते हैं। प्रथम अयोग्यका कथन करते है--

गा०—गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, शंख हाथी दाँत आदिका काम करने वालोका स्थान, कोलिक, धोबी, बाजा बजाने वाले, डोम, नट और राजमार्गके समीपका स्थान ।।६३२।।

चारणकोट्टगकल्लालकरकचे पुप्फदयसमीपे य ।
एवंविधवसधीए होज्ज समाधीए वाघादो ।।६३३।।

'**चारणकोट्टगकल्लालकरकचे**' चारणकोट्टकशालायां, रजकशालायां, रसवणिक्शालायां । पुष्पवाटस्य वा जलाशयस्य वा समीपभूतायां । '**एवंविधवसधीए**' ईदृश्यां वसतौ वसत । '**होज्ज वाघादो**' भवति व्याघात । कस्य ? '**समाधीए**' समाधेश्चित्तैकाग्र्यस्य । इन्द्रियविषयाणां मनोज्ञानां शब्दानां रूपादीनां च सन्निधानाच्छब्दबहुलत्वाच्च ध्यानविघ्नो भवतीति प्रतिषिध्यते व्यावर्णिता वसति ।।६३३।।

क्व तर्हि कथं तिष्ठत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पंचिंदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहिं णत्थि ।
चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो ज्झाणेण सुहप्पवत्तेण ।।६३४।।

'**पंचिंदियप्पयारो**' पञ्चानामिन्द्रियाणां स्वविषयाभिमुख्येनादरात् प्रकृष्टं गमनं । '**जहिं**' यस्यां वसतौ नास्ति । कीदृगिन्द्रियप्रचारो '**मणसंखोभकरणो**' मनःसंक्षोभकारी । '**तहिं**' तस्यां वसतौ । '**चिट्ठदि**' तिष्ठति । '**तिगुत्तो**' कृतमनोवाक्कायसंरक्षकः । '**ज्झाणेण**' ध्यानेन । '**सुहप्पवत्तेण**' सुखप्रवृत्तेन ।।६३४।।

मनःसंक्षोभहेतु पञ्चानामिन्द्रियाणां प्रचारो यस्यां वसतौ नास्ति तस्यां सर्वस्यां तिष्ठति न वेत्याचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु ।
वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ।।६३५।।

'**उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए**' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितायां । '**अकिरियाए हु**' [1]आत्मानमुद्दिश्य उपलेपनमार्जनक्रियारहितायां । '**वसदि**' वसति आस्ते । '**असंसत्ताए**' तत्रस्थैरागन्तुकैश्च सत्त्वैर्वर्जितायां ।

गा०-टी०—चारणशाला, पत्थरका काम करनेवालोका स्थान, कलालोका स्थान, आरासे चीरने वालोका स्थान, पुष्पवाटिका, मालाकारका स्थान, जलाशयके समीपका स्थान वसतिके योग्य नही है। ऐसी वसतिकामे रहनेसे समाधिका व्याघात होता है। इन्द्रियोके विषय मनोज्ञ शब्द रूप आदिके सम्बन्धसे तथा शब्दोकी बहुलता—होहल्लेसे ध्यानमे विघ्न होता है। इसलिए ऊपर कही वसतिकाओका निषेध किया है ।।६३३।।

तब कहाँ रहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जहाँ मनको सक्षोभ करने वाला पाँचो इन्द्रियोका अपने विषयोमे उत्सुकतापूर्वक गमन सभव नही है उस वसतिकामें साधु क्षपक मन वचन कायको गुप्त करके, सुखपूर्वक ध्यान करता हुआ निवास करता है ।।६३४।।

मनको सक्षोभका कारण पाँचों इन्द्रियोंका विषयोंमे गमन जहाँ नही है ऐसी सब वसतिकाओमें क्या निवास करता हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो वसति उद्गम उत्पादन और एषणा दोषसे रहित होती है, अपने उद्देशसे जिसमें लिपाई पुताई आदि नही कराई गई है जिसमें उसी वसतिकामें रहने वाले तथा बाहरसे

---

१. आत्मना उप-आ० मु० ।

'**णिप्पाहुडिगाए**' सस्काररहिताया । '**सेज्जाए**' वसतौ ॥६३५॥

निर्दोषा वसतिस्तर्हि का आश्रयितव्या इत्यत्र वसतिं व्यावर्णयति—

सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अवियडअणंधयाराओ ।
दो तिण्णि वि [1]वसधीओ घेत्तव्वाओ विसालाओ ॥६३६॥

'**सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ**' अक्लेशप्रवेशनिर्गमन[2]घना । '**अवियडअणधयाराओ**' अविवृतद्वारा अनन्धकाराश्च जघन्यतो द्वे शाले ग्राह्ये । एकत्र क्षपको वसति, अन्यस्या अन्ये यतयो बाह्यजनाश्च धर्मश्रवणार्थमायाता । विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्त्वगस्थिमात्रतनोर्दुस्सह दु ख स्यात् । शरीरमलत्यागोऽपि कथमप्रच्छन्ने क्रियेत । अन्धकारबहुले असयम स्यात् । असुखनिष्क्रमणप्रवेशनाया आत्मविराधना सयमविराधना च ॥६३६॥

अन्यच्चाचष्टे—

घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे ।
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ॥६३७॥

'**घणकुड्डे**' दृढकुड्ये । '**सकवाडे**' कपाटसहिते । '**गामबहिं**' ग्रामबाह्ये देशे । '**बालवुड्ढगणजोग्गे**' बालाना वृद्धाना गणस्य चतुर्विधस्य योग्ये उद्यानगृहे । '**गुहाए**' गुहाया । वा '**सुण्णघरे**' शून्यगृहे वा । '**संथारो होदित्ति**' क्रियापदाभिसम्बन्ध. ॥६३७॥

आने वाले प्राणी आकर वास नही करते, तथा जो सस्कार रहित वसति है उसमे साधु निवास करते है ॥६३५॥

तब कैसी निर्दोष वसतिमें रहना चाहिए, इसके उत्तरमे वसतिका वर्णन करते है—

गा०-टी०—जिसमे विना कष्टके सुखपूर्वक प्रवेश और निर्गमन होता हो, जिसका द्वार खुला न हो तथा जिसमे अन्धकार न हो। ऐसी दो अथवा तीन विशालवसतिका ग्रहण करनी चाहिए। जघन्यसे दो वसति लेना चाहिए। एकमे क्षपक रहता है। दूसरीमे अन्य यति और धर्म सुननेके लिए आये बाहरके आदमी रहते हैं। [यदि तीन ग्रहण करते हैं तो एकमे क्षपक, एकमें अन्य यति और एकमे धर्मोपदेश होता है] यदि वसतिका द्वार खुला हो तो शीतवायु आदिके प्रवेशसे हाडचाममात्र शेष रहे क्षपकको दुसह दु ख होता है। खुले स्थानमें वह मलमूत्रका त्याग भी कैसे करेगा ? अन्धेरी वसतिमे असंयम होगा—जीवजन्तु दृष्टिगोचर नही होगे। सुखपूर्वक आना जाना सम्भव न होनेसे अपनी भी विराधना होती है और सयम की भी विराधना होती है ॥६३६॥

और भी कहते है—

गा०—जिसकी दीवार मजबूत हो, कपाट सहित हो, गाँवके बाहर ऐसे प्रदेशमे हो जहाँ बच्चे बूढे और चार प्रकारका संघ जा सकता हो, ऐसी वसतिमें, उद्यानघरमे, गुफामें अथवा शून्यघरमे क्षपकका सथरा होता है ॥६३७॥

---

१. शालाओ—मु०। २. मना अपि—आ० मु०।

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो ।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥६३८॥

'आगंतुघरावीसु वि' आगन्तुकै. स्कन्धावारायातै सार्थिकै कृतेषु गृहादिषु **'संथारो होदित्ति'** वक्ष्यमाणेन सम्बन्ध । उक्तानां वसतीनामलाभे **'कडएहिं खवगस्सोच्छागारो काबव्वो'** कटकै. क्षपकस्य अवस्थितये प्रच्छादन कार्यं । **'धम्मसवणमंडवावी य'** धर्मश्रवणमडपादिक च । अनेन बहुतरासयमनिमित्तवसतित्याग:, सयमसाधनवसतिविकल्पश्च कथित । सेज्जा ॥६३८॥

एवंभूताया वसतौ सस्तर इत्थंभूत इत्याचष्टे—

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो ।
होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अह व पुव्वसिरो ॥६३९॥

'पुढवीसंथारो होदि' पृथ्वीसस्तरो भवति । **'सिलामओ वा'** शिलामयो वा । **'फलकमओ वा'** फलकमयो वा । **'तणमओ वा'** तृणमयो वा **'समाधिणिमित्त'** समाध्यर्थं । **'उत्तरसिरमथ पुव्वसिर'** पूर्वोत्तमाग उत्तरोत्तमागो वा सस्तर कार्य । प्राची दिगभ्युदयिकेषु कार्येषु प्रशस्ता । अथवोत्तरा दिक् स्वयप्रभाद्युत्तरदिग्गततीर्थकरभक्त्युद्देशेन ॥६३९॥

भूमिसंस्तरनिरूपणाय गाथा—

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ।
असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥६४०॥

'अघसे' अमृद्वी । **'समे'** अनिम्नोन्नता । **'असुसिरे'** असुषिरा **'अबिला'** । **'अहिसुया'** उद्देहिकारहिता । **'अप्पपाणे'** निर्जन्तुका । **'असिणिद्धे'** अनार्द्रा । **'घणगुत्ते'** घना गुप्ता । **'उज्जोवे'** उद्योतवती भूमि

गा०—सेनाके पडावके साथ आये हुए व्यापारियोके द्वारा बनाये गये घरोमे और आदि शब्दसे इस प्रकारके श्रमणोंके योग्य उद्यानगृह आदिमे क्षपकका सन्थरा करना चाहिए। उक्त प्रकारकी वसतियोके न मिलनेपर क्षपकके रहनेके लिए बाँसके पत्तोसे आच्छादित और प्रकाशके लिए झीरी सहित घर बना देना चाहिए। तथा धर्म सुननेके लिए मण्डप आदि भी बना देना चाहिए। इससे बहुत असयममें निमित्त वसतिका त्याग और सयममे साधन वसतिका निर्माण कहा ॥६३८॥

गा०—इस प्रकारकी वसतिमें इस प्रकारका सस्तर होना चाहिए, यह कहते है—समाधिके निमित्त संथरा पृथिवीमय, या शिलामय या फलकमय—लकडीका, अथवा तृणोका होता है। उसका सिर उत्तर की ओर अथवा पूरब की ओर होना चाहिए, क्योकि लोकमे मांगलिककार्योंमे पूरब दिशा अच्छी मानी जाती है उसीमे सूर्यका उदय होता है। अथवा उत्तर दिशामे विदेह क्षेत्रमें स्थित तीर्थंकरोंके प्रति भक्ति प्रदर्शित करनेके उद्देशसे उत्तरदिशा भी शुभ मानी जाती है ॥६३९॥

पृथ्वीमय संस्तरका कथन करते हैं—

गा०-टी०—जो भूमि कठोर हो, ऊँची नीची न हो, सम हो, छिद्र रहित हो, चींटी आदिसे

'**भूमिसंथारो**' भूमिसंस्तरः। मृद्वी भूमिर्बाध्यते गात्रकरचरणमर्दनेन। असमाने तदात्मनो बाधा। सुषिरे बिले वा प्रविष्टा निर्गतास्तत्रस्याः पीडयन्ते। आर्द्रा वेदप्कायिकाना पीडा। अनुद्योते अपश्यत कथमसयमपरिहारः। अन्ये तु सप्तम्यन्तता व्याचक्षते। अमृद्वयां अनिम्नोन्नतायामसुषिराया इति तदयुक्त। आधेयस्य संस्तरस्य अन्यस्याभावात्। अपि च पुढवी सिलामओ वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया संस्तरस्योक्ते ॥६४०॥

विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कंपो सव्वदो असंसत्तो।
समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥६४१॥

विद्वत्थो य विध्वस्त दाहात्कुट्टनाद्घर्षणाद्वा। '**अफुडिदो**' अस्फुटितः। '**णिक्कंपो**' निश्चल। '**सव्वदो**' समन्तात्। '**असंसत्तो**' जीवरहित। पाषाणमत्कुणादिरहित इति यावत्। '**समपट्ठो**' समपृष्ठ.। '**उज्जोए**' उद्योते। '**सिलामओ होदि संथारो**' शिलामयो भवति सस्तर ॥६४१॥

भूमिसमरुंदलहुओ अकुक्कुचोकंग[1] अप्पमाणो य।
अच्छिद्दो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसथारो ॥६४२॥

'**भूमिसमरुंदलहुगो**' भूम्यवलग्न, महान् लघु.। [1]'**अकुक्कुचोगंगि अप्पमाणो य**' अचल, एकशरीर, निर्जन्तुक। '**अच्छिद्दो य**' अच्छिद्र। '**अफुडिदो**' अस्फुटित। '**लण्हो**' मसृण। **फलगसंथारो**' फलकसस्तर ॥६४२॥

रहित हो, जन्तुरहित हो, क्षपकके शरीरके बराबर प्रमाणवाली हो, गीली न हो, मजबूत और गुप्त हो, प्रकाशसहित हो वही भूमि सस्तररूप होती है। कोमल भूमि शरीर हाथ पैरके दबावसे दब जाती है। ऊँची-नीची भूमिमे क्षपकको कष्ट होता है। बिल होनेसे उनमे रहनेवाले या उनसे निकलनेवाले जीवोंको पीड़ा होती है। गीली होनेसे जलकायिक जीवोंको पीडा पहुँचती है। प्रकाशरहित भूमिमे कुछ दिखाई न देनेसे असयमसे बचाव नही होता।

अन्य व्याख्याकार उक्त शब्दोंकी सप्तमी विभक्तिपरक व्याख्या करते है कि कठोर भूमिमे, छिद्ररहितमे सस्तर होना चाहिए आदि। किन्तु यह युक्त नही है क्योंकि आधेय संस्तर भूमिसे भिन्न नही है भूमि ही सस्तररूप होती है। तथा 'पुढवीसिलामओवा' गाथाके इस पदसे सस्तरको पृथ्वीरूप कहा है।

विशेषार्थ—यदि भूमिमे चीटी आदिका वास होता है तो सन्यासकालमे वे क्षपकको काट सकती है। जन्तुसहित होनेपर प्राणिसयमकी विराधना होती है। क्षपकके शरीरके प्रमाणसे अधिक होनेपर व्यर्थ प्रतिलेखना आदि करना होती है। शरीरके प्रमाणसे कम होनेपर क्षपकको शरीर सकोचनेसे दुःख होता है। यदि भूमि दृढ न हो तो शरीरके भारसे दबनेपर उसके अन्दर जन्तु हो तो उन्हे बाधा होती है और क्षपकको भी कष्ट होता है। प्रकट भूमि होनेपर मिथ्यादृष्टिजनोंका सम्पर्क होता है ॥६४०॥

गा०—शिलामय सस्तर आगसे, कूटनेसे अथवा घिसनेसे प्रासुक हुआ हो, टूटा-फूटा न हो, निश्चल हो, सब ओरसे जीवरहित हो, अर्थात् पत्थरमे रहनेवाले खटमल आदिसे रहित हो। समतल हो, ऊँचा-नीचा न हो। प्रकाशयुक्त हो। ऐसा शिलामय संस्तर होता है ॥६४१॥

गा०—फलकसंस्तर सब ओरसे भूमिसे लगा हो, विस्तीर्ण हो, हलका हो, उठाने लाने ले

---

१. अकुडिलएगगि आ० मु०। १. अबक्त एवेगंगि–आ०।

णिस्संधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधिवास्सणिज्जतु ।
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥६४३॥

'**णिस्संधी य**' ग्रन्थिरहित । '**अपोल्लो**' अच्छिद्र । '**णिरुवहदो**' निरुपहत अचूर्णित । **समधिवास्स-णिज्जन्तु** मृदुस्पर्शो निर्जन्तुकश्च । '**सुहपडिलेहो** सुखेन प्रतिलेखनीय सुखेन शोध्य इति यावत् । '**मउगो**' मृदु । **तणसंथारो हवे चरिमो**' तृणसस्तरो भवेदन्त्य ॥६४३॥

जुत्तो पमाणरइओ उभयकालपडिलेहणासुद्धो ।
विधिविहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥६४४॥

'**जुत्तो**' युक्तो योग्य । '**पमाणरइओ**' प्रमाणसमन्वित । नात्यल्पो नातिमहान् । '**उभयकालपडि-लेहणासुद्धो**' सूर्योदयास्तमनकालद्वये प्रतिलेखनेन शुद्ध । '**विधिविहिदो संथारो**' शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतसस्तर । '**आरोहव्वो**' आरोढव्य । केन ? '**तिगुत्तेण**' त्रिगुप्तेन कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधेन ॥६४४॥

णिसिदित्ता अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि णिज्जवए ।
संथारम्मि णिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा ॥६४५॥

'**णिसिदित्ता**' स्थापयित्वा त्यक्त्वा । '**अप्पाणं**' आत्मान । '**सव्वगुणसमण्णिदम्मि**' सर्वगुणसमन्विते **णिज्जवगे**' निर्यापके । '**संथारम्मि**' सस्तरे । '**णिसण्णो**' निषण्णो । '**विहरदि**' चेष्टते । '**सल्लेहणा विहिणा**' सल्लेखना द्विप्रकारा बाह्याभ्यन्तरा चेति । द्रव्यसल्लेखना भावसल्लेखना च । आहार परिहाय शरीरसल्लेखना

जानेमें सुकर हो, अचल हो—शब्द न करता हो, एकरूप हो, जन्तुरहित हो, छिद्ररहित हो, टूटा-फूटा न हो, चिकना हो। ऐसा फलक सस्तर होता है ॥६४२॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामे 'अप्पपाणो' के स्थानमे 'अप्पमाणो' पाठ रखकर उसका अर्थ पुरुष प्रमाण किया है अर्थात् फलक क्षपकके शरीरके प्रमाण होना चाहिए ॥६४२॥

गा०—तृणसस्तर गाँठरहित तृणोसे बना हो, तृणोके मध्यमे छिद्र न हो, टूटे तृण न लगे हो, मृदुस्पर्शवाला हो, जन्तुरहित हो, सुखपूर्वक शुद्धि करनेके योग्य हो, और कोमल हो। ऐसा अन्तिम तृणसस्तर होता है ॥६४३॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजी ने अपनी टीकामे 'समधिवास्स' का अर्थ 'सम्यक् रूपसे अधिवास करनेके योग्य' किया है अर्थात् जिसपर लेटनेसे खाज पैदा न हो ॥६४३॥

गा० - इस प्रकार सस्तर योग्य हो, प्रमाणयुक्त हो—न बहुत छोटा हो और न बहुत बडा हो, दोनो समय अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्तके समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध किया गया हो, और शास्त्रमें निर्दिष्ट क्रमके अनुसार बनाया गया हो। ऐसे सस्तर पर अशुभ मन वचन कायका निरोध करके क्षपकको आरोहण करना चाहिए ॥६४४॥

गा०-टी०—सर्वगुणोसे सम्पन्न निर्यापकाचार्य पर अपनेको समर्पित करके क्षपक सस्तर पर आरोहण करता है और सल्लेखनाकी विधिसे विचरता है। सल्लेखनाके दो प्रकार हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भावसल्लेखना। आहारको त्यागकर शरीरकी सल्ले-

करोति । सम्यग्दर्शनादिभावनया मिथ्यात्वादिपरिणामास्तनूकरोति । [1]एव वसतिसंस्तरोति एवं वसतिसंस्तरौ निरूपितौ ॥६४५॥

निर्यापकान्निरूपयति—

पियधम्मा दढधम्मा संविग्गा वज्जभीरुणो धीरा ।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥६४६॥

'पियधम्मा' प्रियो धर्मो येषा ते भवन्ति प्रियधर्माण. । **'दढधम्मा'** धर्मे स्थिरा । **'संविग्गा'** सविग्ना ससारभीरवः । **'वज्जभीरुणो'** पापभीरवो । **'धीरा'** धृतिमन्त । **'छंदण्हू'** अभिप्रायज्ञा । **'पच्चइगा'** प्रत्ययिता । **पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू'** प्रत्याख्यानक्रमज्ञा । धर्मश्चारित्र तेन प्रियचारित्रा यतय । ततश्चारित्रे क्षपकमपि वर्तयितुमुत्सहन्ते तत्साहाय्यता च कर्तुं । यद्यपि चारित्रेऽनुरागवन्त सम्यग्दृष्टितया तथापि चारित्रमोहोदयाददृढचारित्रा भवन्ति इति विशेषणमुपादत्ते दृढचारित्रा इति । अदृढचारित्रा हि न असयमं परिहरेयु । कस्मादसयम परिहरन्ति पापभीरवो यस्मात् ? संविग्ना विचित्रव्यसननि[2]धानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुला । धीरा इत्यनेन परीषहसहा इत्याख्यायते । परिषहै पराजितो न सयम परिपालयतीति मन्यते । क्षपकेण अनुक्तमपि तदिङ्गितेनावगततत्प्रयोजना वैयावृत्त्ये वर्तन्ते । [3]नानभिप्रायज्ञा इति दर्शयितु छन्दण्हू इत्युक्त । प्रत्ययितव्या गुरुभिर्नामी असयमं कुर्वन्ति क्षपके वैयावृत्त्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्याख्यानक्रमज्ञा ॥६४६॥

खना करता है । और सम्यग्दर्शन आदि भावनासे मिथ्यात्व आदि परिणामोको कृश करता है । इस प्रकार वसति और सस्तरका कथन किया ॥६४५॥

अब निर्यापकोका कथन करते है—

गा०—जिन्हे धर्म प्रिय है, जो धर्ममे स्थिर है, ससारसे भीरु है, पापसे डरते है, धैर्यवान् है, अभिप्रायको जानते हैं, विश्वासके योग्य हैं, प्रत्याख्यानके क्रमको जानते है, ऐसे यति निर्यापक होते है ॥६४६॥

टी०—यहाँ धर्मसे चारित्रका अभिप्राय है । अतः निर्यापक यतियोको चारित्र प्रिय होता है । इससे वे क्षपकको भी चारित्रमे प्रवृत्ति करनेके लिए उत्साहित करते है और उसकी सहायता करते है । यद्यपि सम्यग्दृष्टि होनेसे यति चारित्रमे अनुराग रखते है तथापि चारित्र मोहका उदय होनेसे चारित्रमे दृढ नही होते । इसलिए 'दृढ चारित्र' विशेषण दिया है । जिनका चारित्र दृढ़ नही होता वे असयमका परिहार नही करते । पापभीरु होनेसे असयमका परिहार करते है क्योकि वे विचित्र दुःखोकी खानरूप चार गतियोमें भ्रमणके भयसे व्याकुल होते है । तथा 'धीर' पदसे परीषहोका सहने वाले कहा है । जो परीषहोसे हार जाता है वह सयमका पालन नही करता ऐसा माना जाता है । क्षपकके न कहने पर भी उसके संकेत मात्रसे उसका अभिप्राय जानकर वैयावृत्यमे प्रवृत्त होते हैं इसलिए निर्यापक अभिप्रायको न जानने वाले नही होते । यह बतलानेके लिए 'छंदण्हु' कहा है । तथा गुरुओके द्वारा विश्वास योग्य होते हैं कि ये असयम नही करते और क्षपककी वैयावृत्यमें तत्पर रहते हैं । वे साकार और निराकार प्रत्याख्यानके क्रमको जानते है । अर्थात् उक्त गुण युक्त होने पर भी जिन्होने पहले किसी क्षपककी समाधि नही देखी है ऐसे यतियो-

---

१ 'एवं सस्तरोति' इति पाठो नास्ति आ० मु० । २ विधान—अ० । ३ नानाभि—अ० मु० ।

कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जुदा सुदरहस्सा ।
गीदत्था भयवंतो अडदालीसं तु णिज्जवया ॥६४७॥

'**कप्पाकप्पे कुसला**' योग्यमिदमयोग्यमिति भक्तपानपरीक्षाया कुशला । '**समाधिकरणुज्जुदा**' क्षपकचित्तसमाधानकरणोद्यता । '**सुदरहस्सा**' श्रुतप्रायश्चित्तग्रन्था । '**गीदत्था**' गृहीतसूत्रार्था. । भगवन्ते भगवन्त स्वपरोद्धरणमाहात्म्यवन्त । '**अडदालीसं तु**' अष्टचत्वारिंशत्सख्या । '**णिज्जवगा**' निर्यापिका यतय ॥६४७॥

निर्यापिका इम इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनायोत्तरप्रबन्ध —

आमासणपरिमासणचंकमणसयण-णिसीदणे ठाणे ।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा-उंटणादीसु ॥६४८॥

'**आमासणपरिमासणचंकमणसयणणिसीयणे ठाणे**' क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शन आमर्शन, समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शन परिमर्शन । चकमणमितस्तो गमन शयन । '**णिसीदणे ठाणे**' निषद्यास्थानमित्येतेषु । '**उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउंटणादीसु**' उद्वर्तने पार्श्वात्पार्श्वान्तरसचरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आकुञ्चनमित्यादिषु च ॥६४८॥

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता ।
चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरंति ॥६४९॥

'**संजदकमेण**' प्रयत्नेनैव । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**देहकिरियासु**' शरीरक्रियासु व्यावर्णितासु । '**णिच्च**' प्रतिदिन । '**आउत्ता**' आयुक्ता । '**चदुरो**' चत्वारो यतय । समाधिकामा क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्त । '**ओलग्गंता**' उपासना कुर्वन्त । '**पडिचरन्ति**' प्रतिचारका भवन्ति ॥६४९॥

को गुरु क्षपककी परिचर्यामे नियुक्त नही करते । किन्तु जो विश्वस्त होते है उन्हे ही नियुक्त करते हैं ॥६४६॥

गा०—जो यह योग्य है और यह अयोग्य है इस प्रकार भोजन और पानकी परीक्षामे कुशल होते हैं, क्षपकके चित्तका समाधान करनेमे तत्पर रहते है, जिन्होने प्रायश्चित्त ग्रन्थोको सुना है, जो सूत्रक अर्थको हृदयसे स्वीकार किये है, अपने और दूसरोंके उद्धार करनेके माहात्म्यसे शोभित है । ऐसे अडतालीस निर्यापक यति होते है ॥६४७॥

निर्यापक क्या-क्या करते है, यह कहते है—

गा०—क्षपकके शरीरके एकदेशके स्पर्शन करनेको आमर्शन कहते हैं । और समस्त शरीरका हस्तसे स्पर्शन करनेको परिमर्शन कहते है । इधर-उधर जानेको चंक्रमण कहते हैं । अर्थात् परिचारक मुनि क्षपकके शरीरको अपने हाथसे सहलाते है, दवाते है । चलने फिरनेमें सहायता करते हैं । सोने, बैठने, उठनेमें सहायता करते हैं । उद्वर्तन अर्थात् एक करवटसे दूसरी करवट लिवाते हैं । हाथ पैर फैलानेमें संकोचनेमें सहायता करते है ॥६४८॥

गा०—चार परिचारक यति मुनिमार्गके अनुसार क्षपककी ऊपर कही शारीरिक क्रियाओंमें प्रतिदिन लगे रहते हैं । वे क्षपककी समाधिकी कामना करते हुए उपासनापूर्वक परिचर्या करते हैं ॥६४९॥

'चत्तारि जणा धम्म कहंति विकथाओं वज्जित्ता' इति पदसम्बन्धः चत्वारो धर्मं कथयन्ति विकथाः परित्यज्य। कास्ता विकथा भवन्ति—

भत्तित्थिरायजणवदकंदप्पत्थणडणट्टियकहाओ।
वज्जित्ता विकहाओ अज्झप्पविराधणकरीओ ॥६५०॥

'**भत्तित्थिराय जणवदकंदप्पत्थणडणट्टिगकहाओ**' भक्तं भज्यते सेव्यते इति भक्त चतुर्विधाहार। भक्तस्य, स्त्रीणा, राज्ञा, जनपदाना रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्राशिष्टवाक्प्रयोग कन्दर्प तस्य अर्थस्य, नटाना, नर्तिकाना च या कथास्ता। '**अज्झप्पविराधणकरीओ**' आत्मानमधिवर्तते इत्याध्यात्मिक। आत्मनस्तत्त्वनिश्चयनिरूपणं ध्यान (?) तस्य '**विराधणकरीओ**' विराधनाकारिणी ॥६५०॥

कथं तर्हि कथयन्ति—

अखलिदममिडिदमव्वाइद्धमणुच्चमविलंबिदममंदं।
कंतममिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्त ॥६५१॥

'**अक्खलिदं**' अस्खलित अन्यथा शब्दोच्चारण शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना। '**अमिडिदं**' अनाम्रेडित। असमुग्ध। '**अव्वाइद्धं**' अव्याहत अप्रतिहत प्रत्यक्षादिना। '**अणुच्चं**' नातिमहद्ध्वनिसमेत। '**अविलंबिदं**' नातिशनै। '**अमंदं**' नात्यल्पघोषं। '**कंतं**' श्रोत्रमनोहर। '**अमिच्छामेलिदं**' मिथ्यात्वेनानुन्मिश्र। '**अणत्थहीणं**' अभिधेयशून्यं यन्न भवति। '**अपुणरुत्तं**' उक्तस्य अविशेषेण भूयोऽभिधान पुनरुक्तं यथा तत्पौनरुक्त न भवति ॥६५१॥

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्थं च।
चत्तारि जणा धम्मं कहंति णिच्चं विचित्तकहा ॥६५२॥

चार परिचारक मुनि विकथा त्यागकर धर्मकथा कहते है ऐसा आगे कहेगे। यहाँ विकथाओको कहते है—

गा०—जो भोगा या सेवन किया जाता है वह भक्त है अर्थात् चार प्रकारका आहार। आहारकी कथा, स्त्रीकी कथा, राजाकी कथा, देशोंकी कथा। रागके उद्रेकसे हँसीसे मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है। उसकी कथा, नटोकी और नाचनेवालियोकी कथा विकथा हैं। ये अध्यात्मकी विराधना करती है। जो आत्मासे सम्बद्ध हो उसे आध्यात्मिक कहते है। आत्मतत्त्वके यथार्थ कथनको अध्यात्म कहते है। ये कथाएँ उसका विघात करती हैं ॥६५०॥

गा०-टी०—वे मुनि अस्खलित धर्मकथा कहते हैं। कुछका कुछ शब्द बोलना शब्दस्खलन है। विपरीत अर्थ करना अर्थस्खलन है। इस स्खलनसे रहित कथा कहते है। एक बातको दुहराते नही। सन्देहमे डालनेवाला कथन नहीं करते। प्रत्यक्ष आदिसे अविरुद्ध कथन करते हैं। बहुत जोरसे नहीं बोलते। न बहुत रुक-रुककर बोलते हैं। बहुत मन्द आवाजसे भी नही बोलते। कानोको प्रिय वचन बोलते है। मिथ्यात्वकी बात नहीं करते। ऐसी बात नही कहते जिसका कुछ अर्थ ही न हो। जो बात कही हो उसे ही पुनः कहना पुनरुक्त है। वे पुनरुक्त कथन नही करते ॥६५१॥

'**पिअ**' प्रिय । '**मधुरं**' ललितपदवर्णरचनं । '**हिदयंगमं**' श्रोतृहृदयानुप्रवेशि । '**पल्हादणिज्ज पत्थ च**' सुखद पथ्य च । '**कहंति**' कथयन्ति '**णिच्चं**' अनुपरत । '**विचित्तकहा**' विचित्रकथा नानाकथाकुशला ॥६५२॥

कीदृशी क्षपकस्य कथा भणितव्या इत्यत्राचष्टे—

खवयस्स कहेदव्वा दु सा कहा जं सुणित्तु सो खवओ ।
जहिदविसोत्तिगभावो गच्छदि संवेगणिव्वेगं ॥६५३॥

'**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**सा कहा**' सा कथा । '**कहेदव्वा**' कथयितव्या । '**सो खवगो**' असौ क्षपकः । '**जं**' या कथा । '**सुणित्तु**' श्रुत्वा । '**जहिदविसोत्तिगभावो**' त्यक्ताशुभपरिणाम । '**गच्छदि संवेगणिव्वेगं**' ससार-भीरुता शरीरभोगनिर्वेद च प्रतिपद्यते ॥६५३॥

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स ।
पावोग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥६५४॥

आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेजनी चेति चतस्र कथा. । तासा मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्य-त्रोत्तर ब्रवीति । '**आक्खेवणी य**' इति आक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतु, आख्यातु च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थ. ॥६५४॥

तासा कथाना स्वरूपनिर्देशायोत्तर गाथाद्वय—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥६५५॥

'**आक्खेवणी कहा सा**' सा आक्षेपणी कथा भण्यते । '**जत्थ**' यस्या कथाया । '**विज्जाचरणमुवदिस्सदे**' ज्ञान चारित्र चोपदिश्यते । एवभूतानि मत्यादीनि ज्ञानानि सामायिकादीनि वा चारित्राण्येवस्वरूपाणि इति । '**ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम**' या कथा स्वसमय परसमय वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी

गा०—नाना कथाओमे कुशल वे चार परिचारक यति प्रिय, मधुर अर्थात् ललितपद और वर्णवाली, श्रोताके हृदयमे प्रवेश करनेवाली सुखदायक हितकारी कथा निरन्तर कहते हैं ॥६५२॥

गा०—क्षपकको किस प्रकारकी कथा कहनी चाहिए, यह कहते हैं—क्षपकको ऐसी कथा कहनी चाहिए जिसे सुनकर वह अशुभ परिणामोको छोडे और ससारसे तथा शरीरसे विरक्त होवे ॥६५३॥

गा०—चार प्रकारकी कथाएँ होती है—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेजनी और निर्वेजनी । इनमेंसे कौन योग्य ह और कौन अयोग्य है ? इसका उत्तर देते हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी और निर्वेजनी कथा क्षपकके सुनने और कहनेके योग्य है किन्तु विक्षेपणी कथा योग्य नही है ॥६५४॥

आगे दो गाथाओसे उनका स्वरूप कहते है—

गा०-टी०—जिसमें ज्ञान और चारित्रका उपदेश हो उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं । यथा, मति आदि ज्ञान इस प्रकारके होते हैं अथवा सामायिक आदि चारित्रोका ऐसा स्वरूप है ।

१. जहदि विसुत्तिय भावं–अ० ।

भण्यते । सर्वथा नित्य, सर्वथा क्षणिक, एकमेवानेकमेव वा, सदेव असदेव वा, विज्ञानमात्रमेव । शून्यमेवे-त्यादिकं परसमय पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोध प्रदर्श्य कथञ्चिन्नित्य, कथंचिदनित्य, कथ-चिदेकं, कथचिदनेकं, इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी ।।६५५।।

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरियइढ्ढिगदा ।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ।।६५६।।

'**संवेयणी पुण कहा**' सवेजनी पुन कथा । '**णाणचरित्ततववीरियइढ्ढिगदा**' ज्ञानचारित्रतपोभावना जनितशक्तिसम्पन्निरूपणपरा । '**णिव्वेयणी पुण कथा**' निर्वेजनी पुन कथा सा । '**सरीरभोगे भवोघे य**' शरीरे, भोगे, भवसन्ततौ च पराङ्मुखताकारिणी । शरीराण्यशुचीनि, रसादिसप्तधातुमयत्वात् शुक्रशोणितबीजत्वात्, अशुच्याहारपरिवर्द्धितत्वात् अशुचिस्थाननिर्गतत्वात् च । न केवलमशुच्यसारमपि अनित्यकायस्वभावा प्राणभृत इति शरीरतत्त्वश्रवणात्[1] । तथा भोगा दुर्लभा स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यभोजनादयो लब्धा अपि कथचिन्न तृप्ति जनयन्ति । अलाभे तेषा, लब्धाना वा विनाशे शोको महानुदेति । देवमनुजभवावपि दुर्लभौ, दु खबहुलौ अल्प-सुखौ इति निरूपणात् । तथा ।।६५६।।

विक्खेवणी अणुरदस्स आउगं जदि हवेज्ज पक्खीणं ।
होज्ज असमाधिमरणं अप्पागमियस्स खवगस्स ।।६५७।।

'**विक्खेवणी अणुरदस्स**' विक्षेपण्या परसमनिरूपणाया अनुरक्तस्य । '**आउगं**' आयुष्कं । '**जदि हवेज्ज**' यदि भवेत् । '**पक्खीणं**' प्रक्षीण । '**होज्ज**' भवेत् '**असमाधिमरणं**' । '**अप्पागमिगस्स खवगस्स**' अल्पश्रुतस्य

जिस कथामे स्वसमय और परसमयकी चर्चा होती है वह विक्षेपणी है । वस्तु सर्वथा नित्य है, या सर्वथा क्षणिक है, अथवा एक ही है या अनेक ही है, अथवा सत् ही है या असत् ही है, अथवा विज्ञानमात्र ही है या शून्य ही है, इत्यादि परसमयको पूर्वपक्ष बनाकर प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे उसमे विरोध दर्शाकर वस्तुको कथचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथचित् एक, कथचित् अनेक इत्यादि स्वसमयका कथन करना विक्षेपणी कथा है ।।६५५।।

गा०-टी०—ज्ञान चारित्र और तपोभावनासे उत्पन्न शक्तिसम्पदाका निरूपण करनेवाली कथा सवेजनी है । शरीर भोग और भवसन्ततिकी ओरसे विमुख करनेवाली कथा निर्वेजनी है । जैसे, शरीर अशुचि है क्योकि वह रस आदि सात धातुओसे बना है, रज और वीर्य उसके बीज है । अशुचि आहारसे वह बढ़ता है और अशुचि स्थानसे निकलता है । शरीर केवल अपवित्र ही नही है वह निस्सार भी है, क्योकि प्राणियोका शरीर स्वभावसे अनित्य है ऐसा शरीरके विषयमे सुना जाता है । तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला, भोजन आदि दुर्लभ भोग किसी तरह प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नही देते । उनके प्राप्त न होनेपर अथवा प्राप्त होकर नष्ट होनेपर महान् शोक होता है । तथा देव और मनुष्यभव भी दुर्लभ हैं, दुखसे भरे हैं, सुख अल्प है । इस प्रकारका कथन निर्वेजनी कथा है ।।६५६।।

गा०—विक्षेपणी कथामें अनुरक्तदशामें यदि क्षपककी आयु समाप्त हो जाये तो अल्प-

---

१. तत्त्वाश्रयणात्–आ० म० ।

क्षपकस्य। यदेव पूर्वपक्षीकृतं दूषणाभिधानाय तदेव तत्त्वमित्यध्यवसायादसमीचीनज्ञानदर्शनस्य रत्नत्रयैकाग्र्यं नास्तीति मन्यते ॥६५७॥

बहुश्रुतस्य तदुपयोगिनी विक्षेपणीतीमा शङ्का निरस्यति—

आगममाहप्पगओ विकहा विक्खेवणी अपाउग्गा।
अब्भुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ॥६५८॥

'**आगममाहप्पगदो वि**' बहुश्रुतस्यापि। '**विक्खेवणी**' विक्षेपणी। '**अपाउग्गा**' अप्रायोग्या। **अब्भुज्जदंमि मरणे**' रत्नत्रयाराधनपरे मरणे। '**तस्स वि**' बहुश्रुतस्यापि '**एदं**' एतत्। '**अणायदणं**' अनायतन अनाधार ॥६५८॥

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥६५९॥

'**अब्भुज्जदंमि मरणे**' निकटभूते मरणे। कस्य '**संथारत्थस्स चरिमवेलाए**' संस्तरस्थस्य अन्तकाले। '**तिविहं वि कहंति कथं** सवेजनी, निर्वेजनी आक्षेपणी वा कथा कथयन्ति। '**तिदंडपरिमोडया**' अशुभमनोवाक्काया दण्डशब्देनोच्यन्ते तद्भेदनकारिण सूरय। '**तम्हा**' तस्मात् अनायतनत्वाद्विक्षेपिण्या ॥६५९॥

जुत्तस्स तवधुराए अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि।
तह ते कहेंति धीरा जह सो आराहओ होदि ॥६६०॥

'**जुत्तस्स**' युक्तस्य। '**तवधुराए**' तपोभारेण। '**अब्भुज्जदमरणवेणुसीसम्मि**' समीपीभूतमरणवशस्य शिरसि स्थितस्य क्षपकस्य। '**ते धीरा तह कहेंति**' ते धीरास्तथा कथयन्ति। '**जध सो आराधगो होदि**' यथासावाराधको भवति रत्नत्रयस्य ॥६६०॥

ज्ञानी क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होगा; क्योकि विक्षेपणीमे दूषण देनेके लिए पहले परमतका कथन होता है। अल्पज्ञानी क्षपक उसे तत्त्व समझ बैठे तो मिथ्याज्ञान और मिथ्या श्रद्धान होनेसे रत्नत्रयकी एकाग्रता नही रहती ॥६५७॥

तो क्या बहुशास्त्राभ्यामी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी है? इस शकाका निरसन करते हैं—

गा०—बहुश्रुत भी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी नही है; क्योकि मरणके समय रत्नत्रयकी आराधनामे तत्पर रहना होता है। अत उसके लिए भी यह कथा अनायतन है वह उसका आधार नही है ॥६५८॥

गा०—जब सस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल होता है और मरण निकट होता है तब अशुभ मनवचनकायको निर्मूल करनेवाले साधु सवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी इन तीन ही कथाओंको कहते हैं। अत विक्षेपणी कथा अनायतनरूप है ॥६५९॥

गा०—जो तपका भार उठाये हुए है अर्थात् तपस्यामे लीन है और निकटवर्ती मरणरूपी बाँसके अग्रभागपर खडा है उस क्षपकको वे धीर परिचारक ऐसा उपदेश देते हैं जिसमे वह रत्नत्रयका आराधक होता है। अर्थात् क्षपककी स्थिति उस नटके समान है जो सिरपर बोझ

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६१॥

'चत्तारि जणा' चत्वारो यतय । **'भत्तं'** अशन । **'पाउग्गं'** प्रायोग्य उद्गमादिदोषानुपहत । **'उवकप्पेंति'** आनयन्ति । **'अगिलाए'** ग्लानिमन्तरेण । कियन्तं कालमानयाम इति सक्लेश विना । **'छंदिय'** क्षपकेण इष्ट अशन पान वा । क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरणक्षममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात् । **'अवगददोसं'** वातपित्तश्लेष्मणामजनक । क आनयन्ति ? **'अमाइणो'** मायारहिता अयोग्य योग्यमिति ये नानयन्ति । **'लद्धिसंपण्णा'** मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता । अलब्धिमान्क्षपक क्लेशयति । मायावी अयोग्य योग्यमिति कल्पयेत् ॥६६१॥

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६२॥

चत्तारि जणा पाणगा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्त, पृथक्पान चानयत ॥६६२॥

चत्तारि जणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥६६३॥

तैरानीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिता त्रसा यथा न प्रविशन्ति, यथा वापरे न पातयन्ति ॥६६३॥

उठाये बाँसके अग्रभागपर अपनी कलाका प्रदर्शन करता है अत परिचारक ऐसा ही प्रयत्न करते है जिससे वह सफल हो ॥६६०॥

गा०—चार परिचारक यति उस क्षपकके लिए उसको इष्ट खान-पान विना ग्लानिके लाते है। उन्हे ऐसा सक्लेश नही होता कि कबतक हम इसके लिए लावे। तथा खान-पान उद्गम आदि दोषोसे रहित होना है। और वात पित्त कफको उत्पन्न करनेवाला नही होता। क्षपक भी लिप्सावश आहार पसन्द नही करता। किन्तु भूख और प्यास परीषहको शान्त करनेमे समर्थ खान-पानकी इच्छा करता है। जो यति आहार लाते है वे मायावी नही होते, अयोग्य आहारको योग्य नही कहते। मायावी अयोग्यको योग्य कह सकता है। तथा वे मोह और अन्तरायकर्मोका क्षयोपशम होनेसे भिक्षालब्धिसे युक्त होते है। उन्हे भिक्षा अवश्य मिल जाती है। अलब्धिमान् मुनि भिक्षा न मिलनेपर खाली हाथ लौटकर क्षपकको कष्ट पहुँचाता है ॥६६१॥

गा०—चार परिचारक मुनि क्षपकके लिए विना ग्लानिके उद्गम आदि दोषोसे रहित, वात पित्त कफको पैदा न करनेवाला तथा क्षपककी प्यास परिषहको शान्त करनेवाला पानक लाते हैं। वे लानेवाले यति मायारहित और भिक्षालब्धिसे सम्पन्न होते है। आचार्यकी अनुज्ञासे स्वयं अपनेको उपस्थित करनेवाले दो-दो परिचारक भोजन और पान अलग-अलग लाते हैं ॥६६२॥

गा०—चार यति उन यतियोके द्वारा लाये गये खान-पानकी विना किसी प्रकारकी ग्लानिके प्रमादरहित होकर रक्षा करते है कि उसमे त्रसादि न गिरे अथवा कोई उसमे त्रसादि

काइयमादी सव्वं चत्तारि पदिट्ठवन्ति खवयस्स ।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधिसंथारं ॥६६४॥

'काइयमादी सव्वं' पुरीषप्रभृतिक मलं सर्वं । क्षपकस्य चत्वार: । **'पदिट्ठवन्ति'** प्रतिष्ठापयन्ति । **'पडिलेहंति य'** प्रतिलिखन्ति च । **'उवधो काले'** उदयास्तमनकालवेलयो । **'सेज्जुवधिसंथार'** वसतिमुपकरण, संस्तरं च ॥६६४॥

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जदणाए दु चत्तारि ।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खंति जदणाए ॥६६५॥

'खवगस्स' क्षपकस्य । **'घरदुवार'** गृहद्वार । **'सारक्खंति'** पालयन्ति । **'जदणाए'** यत्नेन । **'चत्तारि'** चत्वार । असयतान् शिक्षकाश्च निषेद्धु द्वारपालायन्ते । **'चत्तारि'** चत्वार: । **'समोसरणदुवार'** समवशरण-द्वार । **'जदणाए'** यत्नेन । **'आरक्खंति'** पालयन्ति ॥६६५॥

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादो जग्गंति तह य चत्तारि ।
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥६६६॥

'जितणिद्दा' जितनिद्रा **'तल्लिच्छा'** निद्राजयलिप्सव । **'रादो'** रात्रौ । **'जग्गंति'** जागर कुर्वन्ति । **'तह य'** तत्र क्षपकसकाशे । **'चत्तारि'** चत्वार । **'गवेसंति खु'** परीक्षा कुर्वन्ति । **'खेत्ते'** क्षेत्रे स्वाध्युषिते । **'देसपवत्तीओ'** देशस्य क्षेमवार्ता ॥६६६॥

वाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए समोसदाए दु ॥६६७॥

जन्तु न गिरा दे। वे सब क्षपककी समाधिके इच्छुक होते है कि उसकी समाधि निर्विघ्न पूर्ण हो ॥६६३॥

गा०—चार मुनि क्षपकके सब मलमूत्र उठानेका कार्य करते है। और सूर्यके उदय तथा अस्त होनेके समय वसति, उपकरण और संथरेकी प्रतिलेखना करते है ॥६६४॥

गा०—चार यति सावधानतापूर्वक क्षपकके घरके द्वारकी रक्षा करते है। ऐसा वे असंयमी जनो और शिक्षकोको अन्दर प्रवेश करनेसे रोकनेके लिए करते है। चार मुनि सावधानतापूर्वक समवसरण द्वार अर्थात् धर्मोपदेश करनेके घरके द्वारको रक्षा करते हैं ॥६६५॥

गा०—निद्राको जीत लेनेवाले और निद्राको जीतनेके इच्छुक चार यति रातमे क्षपकके पास जागते हैं। और चार मुनि अपने रहनेके क्षेत्रमे देशकी अच्छी बुरी प्रवृत्तियोंकी परीक्षा करते हैं। अर्थात् जिस क्षेत्रमे क्षपक समाधि मरण करता है उस देशके अच्छे बुरे समाचारोकी खबर रखकर उनकी परीक्षा करते है कि समाधिमें कोई बाधा आनेका तो खतरा नही है ॥६६६॥

विशेषार्थ—गाथामे 'तल्लिच्छा' पाठ है और विजयोदयामे उसका अर्थ निद्राको जीतनेके इच्छुक किया है। किन्तु पं० आशाधरजीने अपनी टीकामे 'तण्णिट्ठा' पाठ रखकर उसका अर्थ क्षपककी सेवामे तत्पर किया है। जितनिद्राके साथ यह पाठ संगत प्रतीत होता है ॥६६६॥

'**बाहिं**' बहि क्षपकावासात् । '**असद्दपडिगं**' यावत् दूरे स्थितानां शब्दो न श्रूयते तत्र स्थित्वा । '**चउरो**' चत्वारः पर्यायेण । '**कधाओ**' चतुर्विधाः कथाः पूर्वव्यावर्णिता । कीदृग्भूतास्ते कथका अत आह— '**ससमयपरसमयविदू**' स्वपरपक्षसिद्धान्तज्ञा । '**परिसाए**' परिषदे । '**समोसढाए**' द्राक् समागतायै ।।६६७।।

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू ।
घम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ।।६६८।।

'**वादी**' वादिनः । '**चत्तारि जणा**' चत्वारः । '**सीहाणुग**' सिंहसमाना । '**अणेगसत्थविदू**' अनेकशास्त्रज्ञ **धम्मकहयाण** धर्मं कथयता । '**रक्खाहेदु**' रक्षार्थं । '**विहरंति**' इतस्ततो यान्ति । '**परिसाए**' परिषदि ।।६६८।।

उपसहरन्ति प्रस्तुत—

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए ।
तं णिज्जवंति खवयं अडयालीसं हि[1] णिज्जवया ।।६६९।।

'**एवं महाणुभावा**' एव माहात्म्यवन्त. । '**पग्गहिदाए**' प्रकृष्टया । '**समाधिजदणाए**' समाधौ क्षपकस्य प्रयत्नवृत्त्या । '**तं णिज्जवंति खवयं**' त निर्यापयन्ति क्षपक । '**अडयालीसं हि**' अष्टचत्वारिंशत्प्रमाणा । '**णिज्जवगा**' निर्यापका ।।६६९।।

व्यावर्णितगुणा एव निर्यापका इति न ग्राह्य, किन्तु भरतैरावतयोर्विचित्रकालस्य परावृत्ते कालानुसारेण प्राणिना गुणा प्रवर्तन्ते तेन यदा यथाभूता शोभनगुणा सम्भवन्ति तदा तथाभूता यतयो निर्यापकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया ।।६७०।।

गा०—क्षपकके आवासके बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तके ज्ञाता चार यति क्रमसे एक एक करके सभामें धर्म सुननेके लिए आये हुए श्रोताओको पूर्ववर्णित चार कथाएँ इस प्रकार कहते है कि दूरवर्ती मनुष्य उनका शब्द न सुन सके । अर्थात् क्षपकको सुनाई न दे इतने धीरेसे बोलते हैं । उससे क्षपकको किसी प्रकारकी बाधा नही होती ।।६६७।।

गा०—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता और वाद करनेमे कुशल चार मुनि धर्मकथा करनेवालोकी रक्षाके लिए सभामे सिंहके समान विचरते है । अर्थात् धर्मकथामे कोई विवादी विवाद खड़ा कर दे तो वाद करनेमे कुशल मुनि उसका उत्तर देनेके लिए तत्पर रहते हैं ।।६६८।।

प्रस्तुत चर्चाका उपसहार करते है—

गा०—इस प्रकार माहात्म्यशाली अड़तालीस निर्यापक यति क्षपककी समाधिमे उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए उस क्षपकको ससार समुद्रसे निकलनेके लिए प्रेरित करते है ।।६६९।।

ऊपर कहे गुणवाले यति ही निर्यापक होते हैं ऐसा अर्थ नही लेना । किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालका विचित्र परिवर्तन होता रहता है । और कालके अनुसार प्राणियोके गुण भी बदलते रहते हैं । अतः जिस कालमें जिस प्रकारके शोभनीय गुण सम्भव है

---

१ संपिणिज्ज–आ० । सं पणिज्ज–अ० ।

'**जो जारिसओ कालो इत्यादिना**' यो यादृक्कालो। '**भरदेरवदेसु वासेसु**' भरतैरावतेषु जनपदेषु। पञ्चभरता पञ्चैरावतास्ते निर्यापकास्तारिसगा तादृग्भूता कालानुगुणा इति यावत्। '**तइया**' तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः ॥६७०॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालम्मि संकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति ॥६७१॥

णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥६७२॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथाद्वयमिति न व्याख्यायते।

जघन्यतो द्वौ निर्यापकौ इति किमर्थमुच्यते। एको जघन्यतो निर्यापक कस्मान्नोपन्यस्त इत्याशङ्काया एकस्मिन्निर्यापके दोषमाचष्टे—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च।
वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि ॥६७३॥

एको यदि निर्यापक। '**अप्पा चत्तो**' आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, पर क्षपकस्त्यक्तो भवति। '**पवयणं च**' प्रवचन च त्यक्त भवति। '**वसणं**' व्यसनं दुःख भवति। '**असमाधिमरणं**' समाधानमन्तरेण मृतिः स्यात्। '**उड्डाहो**' धर्मदूषणा भवति। '**दुग्गदी चावि**' दुर्गतिश्च भवति ॥६७३॥

एवं निर्यापकेणात्मा त्यक्तो भवति, एव क्षपक इत्येतत्कथयन्ति—

खवगपडिजग्गणाए भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण।
अप्पा चत्तो तव्विवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥६७४॥

उस कालमे उन गुणवाले यति निर्यापकरूपमे ग्राह्य है यह कहते है—

गा०—पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रोमे जब जैसा काल हो तब उसी कालके अनुकूल गुणवाले चवालीस निर्यापक स्थापित करना चाहिए ॥६७०॥

गा०—इस प्रकार ज्यो-ज्यो काल खराब होता जाये त्यो-त्यो देशकालके अनुसार सावधानतापूर्वक चार-चार निर्यापक कम करते जाना चाहिए। अन्तमे चार निर्यापक ही समाधिमरणको सम्पन्न करते है। अधिक काल खराब होनेपर कमसे कम दो निर्यापक भी होते है। किन्तु जिनागममे किसी भी अवस्थामे एक निर्यापक नहीं कहा ॥६७१–६७२॥

जघन्यसे दो निर्यापक क्यो कहे? जघन्यसे एक निर्यापक क्यो नहीं कहा? ऐसी आशंकामें एक निर्यापकमे दोष कहते हैं—

गा०—यदि एक निर्यापक होता है तो निर्यापकके द्वारा आत्माका भी त्याग होता है, क्षपकका भी त्याग होता है और प्रवचनका भी त्याग होता है। तथा दुःख उठाना होता है। क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होता है, धर्ममे दूषण लगता है और दुर्गति होती है ॥६७३॥

एक निर्यापकके द्वारा आत्मा और क्षपक इस प्रकार त्यक्त होते है, यह कहते है—

खवगपडिजग्गणाए इत्यनया गाथया अर्थवं पदघटना '**भिक्खग्गहणाविमकुणमाणेण**' भिक्षाग्रहणं, निद्रा, कायमलत्याग वाऽकुर्वता निर्यापकेण '**खवगपडिजग्गणाए**' क्षपककार्यकरणे । '**अप्पा चत्तो**' आत्मा त्यक्तो भवति । अशनाग्रहणान्निद्राया अभावात् कायमलाना वाऽनिराकरणान्महती निर्यापकस्य पीडा । '**तव्विवरीदो यदि**' निर्यापको भिक्षा भ्रमति निद्रातिशयशरीरमलनिरासार्थं याति, '**खवगो चत्तो भवति**' क्षपकस्त्यक्तो भवति ॥६७४॥

खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो ।
णाणस्स य वुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥६७५॥

'**खवगस्स अप्पणो वा चाए**' क्षपकस्यात्मनो वा त्यागे ।'**चत्तो खु होदि जइधम्मो**' त्यक्तो भवति यतिधर्म । यतेर्धर्मो वैयावृत्त्यकरण म परित्यक्तो भवति क्षपकमपहाय गमने । अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु त्यक्तानि भवन्ति शक्तिवैकल्यात् । '**णाणस्स य वुच्छेदो**' ज्ञानस्यापि व्युच्छेदो भवति, निर्यापकेन सह मृतिमुपयाति । '**तदो**' तस्मान् । '**पवयणचागो होदि**' पवचनत्यागो भवति । प्रवचनशब्देनागम उच्यते । प्राज्ञा हि केचिदेव[1] भवन्तीति चेदेकका निर्यापका अनशनादिनातिखिन्ना मृतिमुपेयु क शास्त्राण्युपदिशेत्[2] कश्च धारयेद्वेति प्रवचनत्याग ॥६७५॥

व्यसन व्याचष्टे—

चायम्मि कीरमाणे वसणं खवयस्स अप्पणो चावि ।
खवयस्स अप्पणो वा चायम्मि हवेज्ज असमाधि ॥६७६॥

'**चायम्मि कीरमाणे**' त्यागे क्रियमाणे । '**वसणं खवगस्स**' क्षपकस्य दु ख भवति, प्रतिकाराभावात् । '**अप्पणो वा वसणं**' निर्यापकस्य वा व्यसन भवति अशनादित्यागात् । असमाधिमरण व्याचष्टे—'**चागम्मि**'

गा०-टी०—क्षपकका कार्य करते रहनेसे निर्यापक भिक्षाग्रहण, निद्रा और मलमूत्रका त्याग नही कर सकना । अत वह आत्माका त्याग करता है क्योकि भोजन न करने से निद्रा नही आती । और शारीरिक मल न त्यागनेसे निर्यापकको कष्ट होता है । यदि निर्यापक भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तथा सोता है और शरीरमल त्यागने जाता है तो क्षपकका त्याग करता है ॥६७४॥

गा०-टी०—अपना अथवा क्षपकका त्याग करनेपर यतिधर्मका त्याग होता है । अर्थात् यतिका धर्म वैयावृत्य करना है । क्षपकको छोडकर जानेपर उसका त्याग होता है । न जानेपर यतिधर्ममे आवश्यक प्रधान है उनका त्याग होता है । ज्ञानका भी व्युच्छेद होता है क्योकि निर्यापकके साथ वह भी मर जाता है । और ऐसा होनेसे प्रवचनका त्याग होता है । यहाँ प्रवचन शब्दसे आगम कहा है । विद्वान् तो विरल ही होते है । अकेला निर्यापक उपवास आदिसे अतिखिन्न होकर यदि मर जाये तो कौन शास्त्रोका उपदेश देगा और कौन शास्त्रोको याद रखेगा । अत प्रवचनका त्याग होता है ॥६७५॥

गा०—क्षपकको त्यागने पर क्षपकको दुःख होता है क्योकि उसका कोई प्रतिकार नही

---

१. देव भणंतीति चे–आ० । २ शेदवधारयेद्व–आ० ।

त्यागे सति । '**खवगस्स असमाधि**' क्षपकस्य असमाधिमरणं भवति, चित्तसमाधिं कुर्वतः समीपे अभावात् । '**अप्पणो वा**' निर्यापकस्य वा । '**हवेज्ज**' भवेत्, असमाधिः अशनादित्यागजनितदुःखव्याकुलस्य ॥६७६॥

उड्डाहो इत्येतत् सूत्रं व्याचष्टे—

सेवेज्ज वा अकप्पं कुज्जा वा जायणाइ उड्डाहं ।
तण्हाछुधादिभग्गो खवओ सुण्णम्मि णिज्जवहे ॥६७७॥

'**सेवेज्ज वा अकप्पं**' अयोग्यसेवा कुर्यात्, अस्थितभोजनादिकं पार्श्ववर्तिन्यसति । '**कुज्जा वा**' कुर्याद्वा । '**जायणाइ उड्डाहं**' मिथ्यादृष्टीना गत्वा याचते क्षुधा वा तृषा वा अभिभूतोऽहं अशनं पानं वा देहीति । **सुण्णम्मि णिज्जवगे**' असति निर्यापके ॥६७७॥

दुग्गदि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिज्ज सो सुण्णगम्मि णिज्जवगे ।
गच्छेज्ज तदो खवओ दुग्गदिमसमाधिकरणेण ॥६७८॥

'**असमाधिणा वा**' असति निर्यापके समीपस्थे समाधिमन्तरेण काल कुर्यात् । ततस्तेन असमाधिमरणेन । '**खवगो दुग्गदिं गच्छेज्ज**' क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभध्यानात् ॥६७८॥

सल्लेहणं सुणित्ता जुत्ताचारेण णिज्जवेज्जंतं ।
सव्वेहिं वि गंतव्वं जदीहिं इदरत्थ भयणिज्जं ॥६७९॥

'**सल्लेहण**' सल्लेखना । '**सुणित्ता**' श्रुत्वा । '**जुत्ताचारेण**' युक्ताचारेण सूरिणा '**णिज्जवेज्जंतं**' प्रवर्त्यमाना । सर्वैरपि गन्तव्य यतिभिरितरत्र निर्यापके सूरौ मन्दचारित्रे भाज्य। यान्ति न यान्ति वा यतयः ॥६७९॥

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्वभत्तिरायेण ।
भोत्तूण य देवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥६८०॥

है । और भोजनादि त्यागनेसे निर्यापकको दुःख है । तथा क्षपकको त्यागने पर क्षपकका असमाधिमरण होता है क्योकि उसके समीपमे कोई चित्तको समाधान देने वाला नही है । अथवा निर्यापक की असमाधि होती है क्योंकि वह भोजन आदिके त्यागसे उत्पन्न दुःखसे व्याकुल होता है ॥६७६॥

गा०—यदि एक निर्यापक आहारादिके लिए गया तो उसके अभावमे क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् बैठकर भोजनादि करेगा । अथवा मिथ्यादृष्टियोके पास जाकर याचना करेगा कि मैं भूख वा प्याससे पीड़ित हूँ । मुझे खानेको वा पीनेको दो ॥६७७॥

गा०—समीपमें निर्यापक न होने पर क्षपक समाधिके बिना मरण कर सकता है । और उस असमाधिमरणसे अशुभ ध्यानवश दुर्गतिमे जा सकता है ॥६७८॥

गा०—युक्त आचार वाले आचार्यके द्वारा क्षपककी सल्लेखना हो रही है यह सुनकर सब यतियोको वहाँ जाना चाहिए । किन्तु यदि निर्यापक आचार्य मन्द चारित्र वाला हो तो यति चाहे तो जा सकते हैं, न चाहे तो न जाये ॥६७९॥

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण ॥६८१॥

सोदूण उत्तमट्ठस्स साधणं तिव्वभत्तिसंजुत्तो ।
जदि णोवयादि का उत्तमट्ठमरणम्मि से भत्ती ॥६८२॥

सोदूण श्रुत्वा उत्तमार्थसाधनं । तीव्रभक्तिसयुक्तो यदि न गच्छेत् । नैव तस्य उत्तमार्थमरणे भक्ति ॥६८२॥

उत्तमार्थमरणभक्त्यभावे दोषमाचष्टे—

जत्थ पुण उत्तमट्ठमरणम्मि भत्ती ण विज्जदे तस्स ।
किह उत्तमट्ठमरणं संपज्जदि मरणकालम्मि ॥६८३॥

'जस्स पुण' यस्य पुन उत्तमार्थमरणे भक्तिर्न विद्यते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरण मम्पद्यते इति दोष· सूचित ॥६८३॥

सद्दवदीणं पासं अल्लियदु असंवुडाण दादव्वं ।
तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खगयस्स असमाधी ॥६८४॥

'असंवुडाण पासं सद्दवदीणं अल्लियदु ण दादव्वं' । असवृताना क्षपकसमीप ढौकन न दातव्य । यावद्देशस्थाना तेषा वचो न श्रूयते । कस्मादसंवृतजनसमीपागमनं निषिध्यते इत्याचष्टे—**'तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी'** । तेषामसवृताभिर्वाग्भिर्भवेत्क्षपकस्य असमाधि· । क्षीणो हि जनो यत्किंचिच्छ्रुत्वा कुप्यति सक्लेशमुपयाति वा ॥६८४॥

गा०—जो यति तीव्र भक्तिरागसे सल्लेखनाके स्थान पर जाते हैं वे देवगतिका सुख भोग कर उत्तम स्थान मोक्षको प्राप्त करते है ॥६८०॥

गा०—जो जीव एक भवमे समाधिमरण पूर्वक करता है वह सात आठ भवसे अधिक काल तक संसारमें परिभ्रमण नही करता ॥६८१॥

विशेषार्थ—इन पर टीका नही है । पं० आशाधरने लिखा है—यहाँ ये दो गाथा परम्परासे सुनी जाती हैं । इन्हे विजयोदयाके कर्ता आचार्य नही स्वीकार करते है ।

गा०—उत्तमार्थ-समाधिका साधन कोई मुनि करता है ऐसा सुनकर भी जो तीव्र भक्तिसे युक्त होकर यदि नही जाता तो उसकी समाधिमरणमें क्या भक्ति हो सकती है ? ॥६८२॥

समाधिमरणमे भक्ति न होनेमें दोष कहते है—

गा०—जिसकी समाधिमरणमें भक्ति नही है उसका मरते समय समाधिपूर्वक मरण नही होता ॥६८३॥

गा०-टी०—वचन गुप्ति और वचन समितिसे रहित जो हल्ला-गुल्ला करने वाले लोग हैं उन्हें क्षपकके समीप नही जाने देना चाहिए । यदि जावें तो वही तक जावें जहाँसे उनके वचन क्षपकको सुनाई न देवे । ऐसे असंवृत जनोका क्षपकके समीप जानेका निषेध करनेका प्रयोजन यह

१. एते गाथे श्री विजयो नेच्छति ।

भत्तादीणं तत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादव्वा ।
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥६८५॥

'**भत्तादीणं तत्ती**' भक्तादिकथा । गृहीतार्थैरपि यतिभिस्तत्र क्षपकसकाशे न कर्तव्येति । '**आलोयणा वि खु**' आलोचनागोचरा ह्यतिचारविषया । '**तत्थ**' क्षपकसमीपे । '**पसत्थमेव कादव्वा**' यथासौ न शृणोति तथा कार्या । बहुषु युक्ताचारेषु सत्सु ॥६८५॥

पच्चक्खाणपडिक्कमणुवदेसणिओगतिविहवोसरणे ।
पट्ठवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥६८६॥

प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणादिक[2] । कस्य सकाशे सर्वं कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽसौ, न चेत्तदनुज्ञा-तस्य समीपे ॥६८६॥

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा ।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥६८७॥

'**तेल्लकसायादीहिं य**' तैलेन कषायादिभिश्च । '**बहुसो**' बहुशो । '**गडूसगा दु**' गडूषा । '**घेत्तव्वा**' ग्राह्या । तत्र गुण वदति—'**जिब्भाकण्णाण बलं**' जिह्वाया कर्णयोश्च बल शक्ति वचने श्रवणे च । '**होहिदि**'

है कि उनके मर्यादा-रहित वचनोको सुनकर क्षपककी समाधिमे बाधा हो सकती है, क्योकि कम-जोर व्यक्ति ऐसे वैसे वचन सुनकर क्रुद्ध हो सकता है अथवा सक्लेशरूप परिणाम कर सकता है ॥६८४॥

विशेषार्थ—टीकामे 'असंवुडाण पासं सद्दवदीण अल्लियदु ण दादव्व' ऐसा पाठ है। तथा 'सद्दवदीण' का अर्थ नही किया है। आशाधरजीने 'शब्दपतीना शब्दव्रतीना' लिखकर उसका अर्थ 'कल-कल करने वाले' किया है।

गा०—आगमके अर्थके ज्ञाता यतियोको भी क्षपकके पासमे भोजन आदिकी कथा नही करनी चाहिए और आलोचना सम्बधी अतिचारोकी भी चर्चा नही करनी चाहिए। यदि करना ही हो तो बहुतसे युक्त आचार वाले आचार्योंके रहते हुए प्रच्छन्न रूपसे ही करना चाहिए जिससे क्षपक उसे न सुन सके ॥६८५॥

गा०—प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, उपदेश, नियोग—आज्ञादान, जलके सिवाय तीन प्रकारके आहारका त्याग, प्रायश्चित्त, आदि सब प्रथम स्वीकार किये आचार्यके पास ही करना चाहिए, क्योकि जिसे उस क्षपकने अपना निर्यापक बनाया है वही उसके लिए प्रमाण होता है। किन्तु वह निर्यापकाचार्य ऐसा करनेमे असमर्थ हो तो उसकी अनुज्ञासे अन्य भी प्रमाण होता है ॥६८६॥

विशेषार्थ—युक्त आचार वाले अनेक आचार्योंके होते हुए भी क्षपकको प्रत्याख्यान आदि प्रथम स्वीकार किये निर्यापकके पास ही करना चाहिए यह आशय उक्त गाथाका है।

गा०—तेल और कसैले आदिसे क्षपकको बहुत बार कुल्ले करना चाहिए। इससे जीभ

---

१. भत्ती—आ० । २ दिकं से तस्य सकाशे-आ० मु० ।

भविष्यति । 'तुंडं च से विसदं होदित्ति' पदसम्बन्ध. । तुण्डवैशद्यं अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापकव्या-वर्णना समाप्ता ॥६८७॥

णिज्झावयपगासणा इत्येतद्वदति—

दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं ।
कह्मिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥६८८॥

'**दव्वपगासमकिच्चा**' द्रव्यस्याहारस्य प्रकाशन तं प्रति ढौकन अकृत्वा । '**जइ कीरइ**' यदि क्रियते । '**तस्स**' तस्य क्षपकस्य । '**तिविहवोसरणं**' त्रिविधाहारत्याग । '**कम्हिवि**' कस्मिंश्चिदपि । '**भत्तविसेसम्मि**' भक्तविशेषे । '**उस्सुगो होज्ज सो खवओ**' उत्सुको भवेत्स क्षपक । आहारौत्सुक्य च चित्त व्याकुलयति ॥६८८॥

तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि ।
सोसित्ता संविरलिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥६८९॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९०॥

'**पासित्तु**' दृष्ट्वा आहारमुपदर्शित । '**कोइ**' कश्चित् । '**तादो**' यति । '**तीरं पत्तस्स**' तीर प्राप्त य । '**इमेहिं**' अमीभिर्मनोज्ञैराहारै । '**किं मेत्ति**' कि ममेति । '**वेरग्गमणुप्पत्तो**' भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगत । '**संवेगपरायणो होदि**' ससारभयत्यागे[1] प्रधानो भवति ॥६९०॥

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९१॥

और कानोको बल मिलता है और मुख साफ होता है ॥६८७॥

इस प्रकार निर्यापकका कथन समाप्त हुआ ।

अब निर्यापकके द्वारा आहारके प्रकाशनका कथन करते है—

गा०—आहारका प्रकाशन अर्थात् क्षपकके सामने विविध भोजनोको उपस्थित न करके यदि तीन प्रकारके आहारका त्याग कराया जाता है तो क्षपक किसी भी भोजन विशेषमे उत्सुक बना रह सकता है । और आहारमे उत्सुकता चित्तको व्याकुल करती है ॥६८८॥

गा०—अतः उत्तम-उत्तम भोजन पात्रोमें अलग-अलग उसके सामने रखकर जब वह सन्तुष्ट हो जाये तो अन्तिम आहार उपस्थित करे । ऐसा करनेसे क्षपक तीनो प्रकारके आहारको छोड देगा ॥६८९॥

विशेषार्थ—टीकाकारने यह गाथा नही मानी ।

गा०—कोई यति दिखाये गये आहारोंको देखकर 'मरणको प्राप्त मुझे इन मनोज्ञ आहारो-से क्या प्रयोजन' ऐसा विचार भोगोंसे विरक्त होकर ससारके भयको त्यागनेमे प्रमुख होता है ॥६९०॥

---

१. भयात्यागे–आ० मु० ।

देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९२॥
सव्वं भोच्चा धिद्धी तीर पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥६९३॥

मनोज्ञविषयसेवा हि पौन पुन्येन प्रवर्तमाना अभिलाष जनयति जन्तो । स चानुराग कर्मपुद्गलादाने हेतु, तत्तो भीम[1] भवाम्भोधिप्रवेशन भवभृतामिति स्पष्टार्थं गाथात्रय[2]। उत्तर प्रकाशना समाप्ता पया-सणा ॥६९३॥

हाणी इति सूत्रपद व्याचष्टे—

कोई तमादइत्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो ।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥६९४॥

'**कोई**' कश्चिद्यति । '**तं**' दर्शितमाहार । '**आदयित्ता**' भुक्त्वा । '**मणुण्णरसवेदणाए**' मनोज्ञरसानु-भवनेन । '**संविद्धो**' मूर्च्छित । '**तं चेवणुबंधेज्ज हु**' तमेवास्वादित मनोज्ञाहारमनुबध्नीयात् । दर्शितेष्वेकं वा, '**गिद्धीए**' गृद्धया ॥६९४॥

तत्थ अवाओवायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो ।
उद्धरिदु मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्ववेमाणो ॥६९५॥

गा०—कोई क्षपक भोजनका स्वाद मात्र लेकर 'मरणको प्राप्त' मुझे इस मनोज्ञ भोजनसे क्या, ऐसा विचार विरक्त हो, ससारके भयको त्यागनेमे तत्पर होता है ॥६९१॥

गा०—कोई क्षपक थोडा सा खाकर 'मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारमे क्या' ऐसा विचार विरक्त हो ससारके भयको त्यागनेमे तत्पर होता है ॥६९२॥

गा०-टी०—कोई सब आहारको भोगकर 'मुझे बार-बार धिक्कार है। मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या प्रयोजन' इस प्रकार विरक्त हो ससारके भयसे मुक्त होनेमे तत्पर होता है।

बार-बार मनोज्ञ विषयोका सेवन यदि चलता रहे तो उससे जीवमे उसकी अभिलाषा बनी रहती है। और वह अनुराग कर्म पुद्गलोके ग्रहणमे कारण होता है और उससे प्राणिगण ससार समुद्रमे पडे रहते है। यह स्पष्ट करनेके लिए ये तीन गाथा कही है ॥६९३॥

आहारका प्रकाशन समाप्त हुआ।

हानिका कथन करते है—

गा०—कोई क्षपक उस दिखाये आहारको खाकर मनोज्ञ रसके स्वादसे मूर्च्छित होकर तृष्णावश उस खाये आहारमे से सबको अथवा किसी एक वस्तुको ही खानेकी इच्छा करता है ॥६९४॥

---

१ त्तो भोग-भ-आ० मु० । २ त्रयोत्तरं अ० ।

'तत्थ' तत्राहारासक्तो जातायां । **'अक्खोपायं'** इन्द्रियसंयमस्यापायं, असंयमस्य च ढौकनं । **'दंसेदि'** दर्शयति । **'विसेसदो'** विशेषेण । **'उवदिसंतो'** उपदिशन् । **'उद्धरिदुं'** उद्धर्तुं । **'मणोसल्लं'** मनःशल्यं । **'सुहुमं'** सूक्ष्मं । **'सण्णिव्ववेमाणो'** सम्यक् प्रशमयन् ॥६९५॥

सोच्चा सल्लमणत्थं उद्धरदि असेसमप्पमादेण ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥६९६॥

'सोच्चा' श्रुत्वा वैराग्यकथां । **'सल्लं'** शल्यं । **'उद्धरदि'** उत्पाटयति । **'असेसं'** अशेषं । **'अप्पमादेण'** प्रमादं विना । **'वेरग्गमणुप्पत्तो'** वैराग्यमनुप्राप्तः । **'संवेगपरायणः'** संवेगपरः । क्षपकः शल्योद्धरणपरो भवति ॥६९६॥

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरिय ।
एक्केक्कं हावेंतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥६९७॥

'अणुसज्जमाणए पुण' कृतेऽप्याहाराभिलाषस्य दोषोपदर्शने । **'अणुसज्जमाणगे'** आहारे अनुरागवति क्षपके । **'समाधिकामस्स'** समाधिमरणमिच्छतः । **'सव्वमुवहरिय'** सर्वमाहारमुपसहृत्य । कथं ? **'एक्केक्कं हावेंतो'** एकैकं आहारं हापयन् सूरिः । **'ठवेदि'** स्थापयति क्षपकं । **'पोराणमाहारे'** प्राक्तने आहारे ॥६९७॥

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं ।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥६९८॥

'ठविदो' स्थापितः सूरिणा प्राक्तनाहारे क्षपकः पश्चात्किं करोतीत्यत आह–**'सव्वमाहारं'**, अशनं स्वाद्यं, खाद्यं च । **'[1]अणुक्कमेण'** क्रमेण । **'संवट्टेदूण'** उपसहृत्य । **'पाणगपरिक्कमेण दु'** पानकाल्येन परिकरेण । **'अप्पाणं'** आत्मानं । **'पच्छा भावेदि'** पश्चाद्भावयति । हानिर्व्याख्याता । हाणित्ति ॥६९८॥

कतिप्रकारं पानकमित्यारेकायामाचष्टे—

गा०—इस प्रकार आहारमें आसक्ति होने पर आचार्य उस क्षपकके मनसे सूक्ष्म शल्यको निकालनेके लिए इन्द्रिय संयमका विनाश और असंयमकी प्राप्ति बतलाते हुए विशेषरूपसे उपदेश देते हैं और इस तरह उसे सम्यक् रूपसे शान्त करते हैं ॥६९५॥

गा०—वैराग्यका उपदेश सुनकर वैराग्यको प्राप्त हुआ क्षपक प्रमाद छोडकर समस्त अनर्थकारी शल्यको निकाल देता है और संवेगमें तत्पर होता है ॥६९६॥

गा०—आहारकी अभिलाषामें दोष दिखानेपर भी यदि क्षपक आहारमें अनुरागी रहता है तो आचार्य समाधिमरणके इच्छुक क्षपकको सब आहार दिखलाकर एक-एक आहार छुडाते हुए उसे अपने पूर्व आहार पर ले आते है ॥६९७॥

गा०—आचार्यके द्वारा पूर्व आहारपर स्थापित होनेके पश्चात् क्षपक क्रमसे अशन खाद्य स्वाद्य सब आहारोंका त्याग करके पीछे अपनेको पानक आहारमें लगाता है ॥६९८॥

हानिका कथन समाप्त हुआ ।

पानकके भेद कहते हैं—

---

१ अणुपुव्वेण अनुक्रमेण–मूलारा० ।

सत्थं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयमसित्थं ।
छव्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ।।६९९।।

'**सत्थं**' स्वच्छं एकं पानकं उष्णोदक सौवीरक । तिन्तिणीकाफलरसप्रभृतिक च अन्यद्बहल । दध्यादिक '**लेवडं**' लेपसहित । '**अलेवडं**' अलेपसहितं यन्न हस्ततल विलिपति । '**ससित्थगं**' सिक्थसहित, '**असित्थगं**' सिक्थरहित । '**छद्धा**' षोढा । '**पाणयमेदं**' एतत्पानकं । '**पाणयपरिकम्मपाओग्गं**' पानकाख्यपरिकर्मप्रायोग्यं ।।६९९।।

आयंबिलेण सिंभं खीयदि पित्तं च उवसमं जादि ।
वादस्स रक्खणट्ठं एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ।।७००।।

'**आयंबिलेण**' आचाम्लेन । '**सिंभं खीयदि**' श्लेष्मा क्षयमुपयाति । '**पित्तं च**' पित्त च । '**उवसमं जादि**' उपशममुपयाति । '**वादस्स**' वातस्य । '**रक्खणट्ठं**' रक्षणार्थं । '**एत्थ**' अत्र । '**पयत्तं खु कादव्वं**' प्रयत्न. कर्तव्य. ।।७००।।

पानभावनोत्तरकालभाविन व्यापारं दर्शयति—

तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए ।
मधुरं पज्जेदव्वो मंडं व विरेयणं खवओ ।।७०१।।

'**तो**' पश्चात् । '**पाणगेण**' पानेन । '**परिभाविदो**' भावित क्षपक । '**मधुर पज्जेदव्वो**' मधुर पाययितव्य । किमर्थं '**उदरमलसोधणिच्छाए**' उदरगतमलनिरासाय ।।७०१।।

आणाहवत्तियादीहिं वा वि कादव्वमुदरसोधणयं ।
वेदणमुप्पादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे ।।७०२।।

'**आणाहवत्तियादीहिं**' अनुवासनादिभि । '**कादव्वं**' कर्तव्य । '**उदरसोधणयं**' उदरस्थमलमुदरशब्देनोच्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना । किमर्थमेव प्रयासेन महता मल निराक्रियते इत्यत्राचष्टे । '**वेदणमुप्पादेज्ज**

गा०—पानकके छह भेद है—एक भेद स्वच्छ है। जैसे गर्मजल सौवीरक । इमली आदि फलोके रसको बहल कहते है। यह दूसरा भेद है। दही आदि लेवड है जो हाथसे लिप्त हो जाता है। यह तीसरा भेद है। जो हाथसे लिप्त न हो वह चौथा भेद अलेवड है। सिक्थ सहित पेय पाँचवाँ भेद है और सिक्थरहित पेय छठा भेद है। ये छह प्रकारका पानक पानक परिकर्मके योग्य है ।।६९९।।

गा०—आचाम्लसे कफका क्षय होता है, पित्त शान्त होता है और वातसे रक्षा होती है। इसलिए आचाम्लके सेवनका प्रयत्न करना चाहिए ।।७००।।

पानककी भावनाके पश्चात्का कार्य बतलाते हैं—

गा०—पानकका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धिके लिए माँडकी तरह मधुर विरेचन पिलाना चाहिए ।।७०१।।

गा०—अनुवासन और गुदाद्वारमें बत्ती आदि चढाकर पेटके मलकी शुद्धि करना चाहिए ।

'खु' वेदनामुत्पादयेदेव । 'उदरे करिस्सगं' पुरीषं 'अत्थंतणं' स्थितं ॥७०२॥

एवं कृतोदरशोधनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्यापकसूरिसपाद्यमादर्शयति—

जावज्जीवं सव्वाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ।
णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुज्जा ॥७०३॥

'**जावज्जीवं**' जीवितावधिक । '**सव्वाहारं**' सर्वाहारं । '**तिविहं**' त्रिविध अशन, खाद्य, स्वाद्यं च । '**वोसरिहिदित्ति**' त्यजतीति । '**णिज्जवगो आयरिओ**' निर्यापक सूरि । '**संघस्स णिवेदणं कुज्जा**' सङ्घं निवेदयेत् ॥७०३॥

खामेदि तुम्ह खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स ।
दावेदव्वो णेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ॥७०४॥

'**खामेदि**' क्षमा ग्राहयति । '**तुम्ह**' युष्मान् । '**खवओत्ति**' क्षपक इति । '**तस्स चेव खवगस्स**' तस्यैव क्षपकस्य । '**कुंचगो**' प्रतिलेखन । '**दावेदव्वो**' दर्शयितव्य । '**णेदूण**' नीत्वा । '**सव्वसंघस्स वसधीए**' सर्व-सङ्घस्य वसतीषु ॥७०४॥

तेन सङ्घेन ज्ञातक्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यमित्याचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स व णिरुवसग्गपत्तीयं ।
काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादव्वो ॥७०५॥

'**आराधणपत्तीगं**' रत्नत्रयाराधना क्षपकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । '**खवगस्स णिरुवसग्गपत्तीय**' क्षप-कस्योपसर्गा मा भूवन्नेवमर्थं च । '**काओसग्गो**' कायोत्सर्ग । '**संघेण सव्वेण**' सर्वेण सङ्घेन । '**होदि कायव्वो**' कर्तव्यो भवति ॥७०५॥

गाथामे आये उदर शब्दसे पेटका मल लेना चाहिए। उसको निकालना उदरमलका शोधन है। ऐसे महान् प्रयासके द्वारा पेटके मलको निकालनेका यह कारण है कि उदरमे रहा हुआ मल कष्ट देता है ॥७०२॥

इस प्रकार क्षपकके उदरके मलकी शुद्धि हो जानेपर निर्यापकाचार्य क्षपकके योग्य जो कार्य करते है उसे कहते हैं—

गा०—निर्यापकाचार्य सघसे निवेदन करते हैं कि अब यह क्षपक जीवनपर्यन्तके लिए अशन, खाद्य और स्वाद्य तीनो प्रकारके सब आहारका त्याग करता है ॥७०३॥

गा०—तथा यह क्षपक आप सबमे क्षमा माँगता है। इसके प्रमाणके लिए आचार्य उस क्षपककी पिच्छिका लेकर सर्वसघकी वसतियोमे दिखलाते हैं। अर्थात् क्षपक सबके पास क्षमा माँगने स्वयं नही जा सकता, इसलिए उसकी पीछी सर्वत्र ले जाकर दिखलाते हैं कि वह आप सबसे क्षमा माँगता है ॥७०४॥

क्षपकका अभिप्राय जानकर संघको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—क्षपककी रत्नत्रयकी आराधनापूर्ण हो और उसमें कोई विघ्न न आवे, इसके लिए सर्वसंघको कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥७०५॥

खवयं पच्चक्खावेदि तदो सव्वं च चदुविधाहारं ।
संघसमवायमज्झे सागारं गुरुणिओगेण ।।७०६।।

'**खवगं**' क्षपक । '**पच्चक्खावेदि**' प्रत्याख्यानं कारयति, निर्यापक सूरि । '**तदो**' पश्चात् । '**सव्वं**' सर्वं । '**चदुव्विधाहारं**' चतुर्विधाहार । '**संघसमवायमज्झे**' सङ्घसमुदायमध्ये । '**सागारं**' साकार । '**गुरुणियोगेन**' इतरं गुर्वनुज्ञया ।।७०६।।

अहवा समाधिहेदुं कायव्वो पाणयस्स आहारो ।
तो पाणयंपि पच्छा वोसरिदव्वं जहाकाले ।।७०७।।

'**अहवा**' अथवा । '**समाधिहेदुं**' समाधिश्चित्तैकाग्र्यं, तदर्थं । '**कायव्वो**' कर्तव्य '**पाणगस्स आहारो**' पानकस्य विकल्प । '**तो**' पश्चात् । '**पाणगंपि**' पानकमपि । '**वोसरिदव्वं**' त्यक्तव्यं । '**जहाकाले**' यथाकाले नितरा शक्तिहानिकाले । पूर्वगाथया चतुर्विधाहारत्याग कार्य इति, योऽतिशयेन परीषहबाधाक्षमस्त प्रयुक्त । अनया तु यो न तथा भवति त प्रति त्रिविधाहारत्याग इति निर्दिश्यते ।।७०७।।

कीदृग्पानं तस्य योग्यमित्यत्राह—

जं पाणयपरियम्मम्मि पाणयं छव्विहं समक्खादं ।
तं से ताहे कप्पदि तिविहाहारस्स वोसरणे ।।७०८।।

'**जं**' यत् । '**पाणयपरियम्मम्मि**' पानकाख्ये परिकरे । '**पाणगं**' पान । '**छव्विहं**' षड्विध । '**समक्खादं**' समाख्यातं । सच्छ बहलमित्यादिकं । '**तं**' तत्पान । '**से**' तस्य । '**ताहे**' तदा । '**कप्पदि**' योग्य भवति । '**तिविधाहारस्य**' अशनस्य, खाद्यस्य, स्वाद्यस्य च त्यागे । पच्चक्खाणं ।।७०८।।

तो आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे कुलगणे य ।
जो होज्ज कसाओ से तं सव्वं तिविहेण खामेदि ।।७०९।।

'**तो**' प्रत्याख्यानोत्तरकाले । '**आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे**' आचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, सधर्मिणि । '**कुलगणे**' य कुले गणे च । '**जो होज्ज कसाओ**' यो भवेत्कषाय क्रोधो, मानो, लोभो वा । '**तं सव्वं**' निरव-

---

गा०—उसके पश्चात् निर्यापकाचार्य संघके समुदायके मध्यमें चारो प्रकारके आहारका सविकल्पक त्याग करता है और क्षपक गुरुकी आज्ञासे ऐसा करता है ।।७०६।।

गा०—अथवा समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रताके लिए पानकको छोडकर शेष सब आहारका त्याग करता है और अत्यन्त शक्तिहीन होनेपर पानकका भी त्याग करता है ।।७०७।।

विशेषार्थ—पूर्वगाथामे चार प्रकारके आहारका त्याग उस क्षपकके लिए कहा है जो अत्यन्त परीषहकी बाधाको सहनेमें समर्थ होता है और इस गाथासे जो ऐसा नही होता उसके लिए तीन प्रकारके आहारका त्याग कहा है ।।७०७।।

उसके योग्य पानक किस प्रकारका है यह बतलाते हैं—

गा०—पानकके प्रकरणमें जो छह प्रकारका पानक कहा है, तीन प्रकारके आहारका त्याग करनेपर वह उस क्षपकके योग्य होता है ।।७०८।।

गा०—आहार त्याग करनेके पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी, कुल और गणके

शेषं । 'तिविहेण' त्रिविधेन । 'खामेदि' क्षपयति निराकरोति ॥७०९॥

अब्भहियजादहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणामो ।
खामेइ सव्वसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥७१०॥

'अब्भहियजादहासो' नितरामुपजातचित्तप्रसादः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सकलं मयानुष्ठितं इति । 'मत्थम्मि कदंजली' मस्तकन्यस्ताञ्जलिः । 'कदपणामो' कृतप्रमाणः । 'खामेदि' क्षमां ग्राहयति । 'सव्वसघं' सर्वं श्रमणगणं । 'संवेगं' धर्मानुरागं । 'सजणेमाणो' सम्यगुत्पादयन् सर्वस्य सङ्घस्य ॥७१०॥

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा ।
सव्वे अवराधपदे एस खमावेमि णिस्सल्लो ॥७११॥

'मणवयणकायजोगेहि' मनोवाक्काययोगैः । 'पुरा' पूर्वं । 'कदकारिदे अणुमदे वा' कृतकारितानुमतान्वा । 'सव्वे अवराधपदे' सर्वानपराधविशेषान् । 'एस' एष । 'खमावेमि' क्षमां ग्राहयामि । 'णिस्सल्लो' शल्यरहितोऽहमिति ॥७११॥

अम्मापिदुसरिसो मे खमदु खु जगसीयलो जगाधारो ।
अहमवि खमामि सुद्धो गुणसंघायस्स संघस्स ॥७१२॥

'अम्मापिदुसरिसो' मात्रा पित्रा च सदृशो । 'मे' मम 'खमदु' क्षमां करोतु । 'जगसीयलो' जगतः सर्वप्राणिलोकस्य शीतलः । 'जगाधारो' आसन्नभव्यलोकस्य आधारः । 'अहमवि खमामि' परकृतमपराधं मनसि न करोमि । 'सुद्धो' शुद्धः क्रोधादिकलङ्कविरहात् । 'गुणसंघायस्स' गुणसमुदायस्य 'संघस्स' सङ्घस्य । खमणा ॥७१२॥

संघो गुणसंघाओ संघो य विमोचओ य कम्माणं ।
दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो ॥७१३॥

सम्बन्धमे क्षपकके अन्दर जो क्रोध, मान, माया या लोभ कषाय होती है उसे सबको वह मन-वचनकायसे निकाल देता है ॥७०९॥

गा०—मुमुक्षुका जो कर्तव्य है वह सब मैने किया, इस विचारसे उस क्षपकके चित्तमे अत्यन्त प्रसन्नता होती है और धर्मानुरागको प्रकट करते हुए दोनो हाथोकी अजलि मस्तकसे लगाकर प्रणामपूर्वक समस्त मुनिसंघसे वह क्षमा माँगता है ॥७१०॥

गा०—कि मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनासे पूर्वमे किये गये सब अपराधो की मैं निःशल्य होकर क्षमा माँगता हूँ ॥७११॥

गा०—गुणोंका समूहरूप यह संघ समस्त प्राणियोको सुख देनेवाला है, निकट भव्यजीवोका आधार है। वह सघ मुझे माता-पिताके समान क्षमा प्रदान करे। मै भी क्रोधादि दोषोसे शुद्ध होकर किये हुए अपराधको मनसे निकाल देता हूँ ॥७१२॥

गा०—गुणोंके समूहका नाम संघ है। यह संघ कर्मोंसे छुड़ाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके मेलसे संघ होता हैं ॥७१३॥

इय खामिय वेरग्गं अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥७१४॥

वट्टंति अपरिदंता दिवा य रादो य सव्वपरियम्मे ।
पडिचरया गणहरया कम्मरयं णिज्जरेमाणा ॥७१५॥

'**वट्टंति**' वर्तन्ते । '**अपरिदंता**' अपरिश्रान्ता । '**दिवा य रादो य**' दिने रात्रौ च । '**सव्वपरिकम्मे**' सर्वपरिचरणे । '**पडिचरगा**' निर्यापका । **गणहरया** गणान् धर्मस्थान् धारयन्तीति गणधरा '**कम्मरयं**' कर्माख्य रज '**णिज्जरेमाणा**' निर्जरयन्त ॥७१५॥

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ।
सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥७१६॥

'**जं**' यत् । '**बद्धं रयं**' बद्ध रज कर्म । यथा रजश्छादयति परस्य गुण शरीरादे कच्छूदद्रुप्रभृतिक दोषमावहति तद्वद्बोधादिगुणमवच्छादयति च विचित्रा विपद तेन रज इव रज इत्युच्यते । '**भवसदसहस्स कोडीहिं**' भवशतसहस्रकोटिभि । तद्रज '**खवेंति**' क्षपयन्ति । केन ? '**सम्मत्तुप्पत्तीए**' श्रद्धानोत्पत्त्या । '**एग-समयेण**' एकेनैव समयेन । तथा चोक्त—**सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोह क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति** ॥ [तत्त्वा० ९।४५] ॥७१६॥

एयसमएण विधुणदि उवउत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ।
अण्णयरम्मि य जोग्गे पच्चक्खाणे विसेसेण ॥७१७॥

'**एगसमयेण विधुणदि**' अल्पेन कालेन निर्धुनाति । '**उवउत्तो**' परिणत । क्व ? '**अण्णयरम्मि जोगे**' यस्मिन्कस्मिश्चित् तपसि । किं ? '**बहुभवज्जियं**' अनेकभवसचित । '**कम्मं**' कर्म । '**पच्चक्खाणे उवजुत्तो विसेसेण**'

गा०—इस प्रकार सर्वसघको क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्यको धारणकर, तप और समाधिमें लीन हुआ क्षपक भवभवमे कष्ट देनेवाले कर्मोकी निर्जरा करता है ॥७१४॥

गा०—धार्मिकोंका संरक्षण करनेवाले निर्यापक मुनिगण रात दिन विना थके उस क्षपक-की समस्त परिचर्यामे लगे रहते है । और इस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करते हैं ॥७१५॥

गा०—असख्यात लक्षकोटिभवोमे जो कर्मरज बाँधा है उसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक समयमे ही जीव नष्ट कर देता है ॥७१६॥

टी०—जैसे रज अर्थात् धूल शरीर आदिके सौन्दर्यको ढाँक देती है और शरीरमे दाद खाज आदि दोष उत्पन्न करती है वैसे ही कर्म जीवके ज्ञानादिगुणोको ढाँकता है और अनेक कष्ट देता है इसलिए उसे रजके समान होनेसे रज कहा है। असंख्यातभवोमे सचित कर्मरज सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेपर एक समयमे ही निर्जीर्ण हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्रमे कहा है—सम्यग्दृष्टी, श्रावक, प्रमत्तविरत, अनन्तानुबन्धीका विसयोजक, दर्शनमोहका क्षपक, उपशम श्रेणिवाला, उपशान्तमोही, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोही और अरहन्तके उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥७१६॥

गा०—जिस किसी तपमे लीन हुआ आत्मा अनेकभवोमे संचितकर्मोंको अल्पसमयमें ही

'विधुणदि' यावज्जीव चतुर्विधाहारत्यागे परिणत' विशेषेण निरस्यति ॥७१७॥

एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसज्झाए ।
अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ॥७१८॥

'एवं' उक्तेन क्रमेण । **'पडिक्कमणगे'** प्रतिक्रमणे । **'काउस्सगे य'** कायोत्सर्गे च । **'विणयसज्झाए'** विनयस्वाध्याययो । **'अणुपेहासु य जुत्तो'** अनुप्रेक्षासु च युक्त । **'संथारगवो'** सस्तरारूढ. । **'कम्मं धुणदि'** कर्म क्षपयति । सुगम गदं ॥७१८॥

इत उत्तर अनुशासन प्रक्रम्यते इति निगदति—

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्स दिंति अणुसिट्ठिं ।
संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कण्णजावं से ॥७१९॥

'णिज्जवया आइरिया' निर्यापका सूरय । **'अणुसिट्ठि दिंति'** श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षा प्रयच्छन्ति । **'संथारत्थस्स'** सस्तरस्थस्य । **'संवेगं'** ससारभीरुता । **'णिव्वेगं'** वैराग्य च । **'जणंतगं'** उत्पादयन्त । **'कण्णजावं'** कर्णजाप । **'से'** तस्मै क्षपकाय ॥७१९॥

णिस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंथारं ।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥७२०॥

'णिस्सल्लो' मिथ्यादर्शन, माया, निदान इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो नि क्रान्त । तत्त्वश्रद्धानेन, ऋजुतया, भोगनिस्पृहतया वा **'कदसुद्धी'** कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धि । **'विज्जावच्चकरवसधिसथारं'** विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याधय, उपसर्गा, परीषहा, असयमो, मिथ्याज्ञान इत्यादि-भेदेन तस्यामापदि यत्प्रतिविधान तद्वैयावृत्य तत्करोति य आत्मन स वैयावृत्यकरस्त । **वसतिसंथारं**

निर्जीर्ण कर देता है। और जो जीवनपर्यन्त चारो प्रकारके आहारका त्याग करता है वह विशेष-रूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१७॥

गा०—इस प्रकार सस्तरपर आरूढ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओमे लगनेपर कर्मोकी निर्जरा करता है ॥७१८॥

आगे कहते हैं कि क्षपकको सूरि शिक्षा देते है—

गा०—निर्यापक आचार्य संस्तरपर आरूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उसके कानमे शिक्षा देते है। वह शिक्षा ससारसे भय और वैराग्यको उत्पन्न करती है ॥७१९॥

कानमे क्या शिक्षा देते है, यह कहते है—

गा०—हे क्षपक! निःशल्य होकर, रत्नत्रयको निर्मल करके तथा वैयावृत्य करनेवाले, वसति संस्तर और पीछी आदि उपधिका शोधन करके अब सल्लेखना करो ॥७२०॥

टी०—मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य है। तत्त्वश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनको, सरलतासे मायाको और भोगोकी निस्पृहतासे निदानको दूर करके नि शल्य बनो। व्याधि, उपसर्ग, परीषह, असंयम, मिथ्याज्ञान आदिके भेदसे विविध आपदाओंको विपदा कहते है। उस विपदाके आनेपर उसके प्रतिकार करनेको वैयावृत्य कहते है। जो क्षपककी वैयावृत्य करता है

वसतिसस्तरं । उवधिं पिछादिक च । 'सोधयित्ता' विशोध्य । 'सल्लेहणं' सल्लेखना । 'कुण' कुरु । 'इयाणिं' इदानी । किं ? सयमासंयमविवेकज्ञा. असयम त्रिधा मनोवाक्कायै परिहरन्ति न वेति परोक्ष्य अयोग्यवैयावृत्यकराणा त्याग । योग्याना चानुज्ञा । पूर्वापराह्णयोर्वसते., सस्तरस्योपकरणाना च शुद्धि कुरुतेति आज्ञापयता तच्छुद्धि कृता भवति ॥७२०॥

मिच्छत्तस्स य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ।
भावणमोक्कारदिं णाणुवजुत्ता सदा कुणसु ॥७२१॥

'**मिच्छत्तस्स य वमणं**' मिथ्यात्वस्य वमन । '**सम्मत्ते भावणा**' तत्वश्रद्धाने असकृद्वृत्ति । '**परा भत्ती**' । उत्कृष्टा भक्ति । '**भावणमोक्काररदी**' नमस्कारो द्विविध द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कार इति । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारण, उत्तमाङ्गावनति , कृताञ्जलिता च द्रव्यनमस्कार. । नमस्कर्तव्याना गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रति । '**णाणुवयोगं**' श्रुतज्ञानोपयोग च । सदा '**कुणसु**' कुर्विति । सूत्रमिद ॥७२१॥

पंचमहव्वयरक्खा कोहचउक्कस्स णिग्गहं परमं ।
दुद्दंतिंदियविजयं दुविहतवे उज्जमं कुणसु ॥७२२॥

'**पंचमहव्वयरक्खा**' पञ्चाना महाव्रताना रक्षा । '**कोहचउक्कस्स**' रोषचतुष्कस्य । '**णिग्गह**' निग्रह । '**परमं**' प्रकृष्ट । '**दुद्दंतिंदियविजय**' दुर्दान्तेन्द्रियविजय । '**दुविहतवे**' द्विप्रकारे तपसि । '**उज्जमं**' उद्योग । '**कुणसु**' कुरु ॥७२२॥

'**मिच्छत्तस्स य वमण**' इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

वह वैयावृत्य करनेवाला है । हे क्षपक ! वैयावृत्य करनेवाला, वसति, सस्तर और पीछी आदिका शोधन करके तुम सल्लेखना करो । इसका अभिप्राय यह है क्षपक यह देखे कि वैयावृत्य करनेवाले मुनि संयम और असयमके भेदको जानते है या नहीं ? वे मनवचनकायसे असयमका परिहार करते है या नही ? यह परीक्षा करके अयोग्य वैयावृत्य करनेवालोंको हटा दे और योग्य वैयावृत्य करनेवालोंको स्वीकार करे । पूर्वाह्ण और अपराह्णमे वसति, सस्तर और उपकरणोकी शुद्धि करो ऐसी आज्ञा देनेपर उनकी शुद्धि मानी जाती है । इनकी शुद्धिपूर्वक तुम समाधि करो । अब तुम्हारा मरणसमय निकट है । ऐसा क्षपकके कानमे कहते है ॥७२०॥

गा०—मिथ्यात्वका त्याग करो । तत्वश्रद्धानकी भावना करो । अर्हन्त आदिमे उत्कृष्ट भक्ति करो । भावनमस्कारमे मन लगाओ । नमस्कारके दो भेद है—द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार । जिनदेवको नमस्कार हो इत्यादि शब्दोका उच्चारण करना, मस्तक झुकाना, दोनो हाथ जोडना, ये सब द्रव्यनमस्कार है और नमस्कार करने योग्य अर्हन्त आदिके गुणोमें अनुराग होना भावनमस्कार है । उस भावनमस्कारमे मन लगाओ और सदा श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाओ ॥७२१॥

गा०—पाँच महाव्रतोंकी रक्षा करो । क्रोध आदि चार कषायोका उत्कृष्ट निग्रह करो । दुर्दान्त इन्द्रियोंको जीतो और दो प्रकारके तपमें उद्योग करो ॥७२२॥

'मिथ्यात्वका त्याग करो' गाथाके इस पदका व्याख्यान करते हैं—

संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि ।
बुद्धी गुणण्णिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥७२३॥

'**संसारमूलहेदुं**' संसारस्य मूलकारणं । '**मिच्छत्तं**' अश्रद्धानं । '**सव्वधा**' मनोवाक्कार्यैः । '**विवज्जेहि**' वर्जय । '**बुद्धी**' बुद्धि । '**गुणण्णिद पि खु**' गुणान्वितामपि । '**मिच्छत्तं**' मिथ्यात्वं '**मोहिदं**' मुग्धा । '**कुणदि**' करोति । अत्रेदं विचार्यते । कथ प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न ह्येद संभाव्यते असयमादिभ्यो मिथ्यात्व प्रथममुपजातमिति कुत ? यथा मिथ्यात्व स्वनिर्मित्तसन्निधानाद्भवति, एवमसयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ? अथ तद्धेतुरेव दर्शनमोह प्रथम भवति पश्चाच्चारित्रमोहादीनीत्येतदपि असत् सदा कर्माष्टकसद्भावात् । [1]एवं प्रामाण्यते सूत्रकार '**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**' इति वचने मिथ्यात्व बन्धहेतुषु पूर्वमुपन्यस्त बन्धपुरःसरश्च संसार', संसारमूलहेतुर्मिथ्यात्वमिति बुद्धि अर्थयाथात्म्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि मिथ्यात्व विपरीता करोति । अन्ये तु वदन्ति । '**बुद्धी गुणण्णिया वि खु**' शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेर्गुणास्तद्वंतुमपीति ॥७२३॥

अतद्रूपवस्तुनि तद्रूपावभासिता कथ विज्ञानस्येत्याशङ्काया विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावादित्याचष्टे—

मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा ।
तह य णरा वि असद्भूदं सद्भूतं ति मण्णंति मोहेण ॥७२४॥

'**मयतण्हिया**' मृगतृष्णिकाशब्देन आदित्यरश्मयो भौमेनोष्मणा सपृक्ता उच्यन्ते । ता अजलभूता । '**मया मण्णंति उदगंति**' मृगा मन्यते उदकमिति । '**यथा सतण्हगा**' तृष्णासतप्तलोचना । '**तह य**' तथैव । मृगा

गा०—मिथ्यात्व ससारका मूल कारण है उसका मनवचनकायसे त्याग करो; क्योकि मिथ्यात्व गुणयुक्त बुद्धिको भी मूढ बना देता है ॥७२३॥

टी०—**शङ्का**—यहाँ विचारणीय यह है कि मिथ्यात्वको प्रथमस्थान क्यो दिया गया है ? असयम आदिसे मिथ्यात्व पहले उत्पन्न हुआ है यह सम्भावना भी सम्भव नही है क्योकि जैसे मिथ्यात्व अपने निमित्तके होनेपर होता है वैसे ही असयम आदि भी होते है तब वह प्रथम क्यो ? यदि कहोगे कि उसका हेतु दर्शनमोह पहले होता है पीछे चारित्रमोह आदि होते है तो यह भी ठीक नही है क्योकि आठो कर्म सदा रहते है ?

समाधान—सूत्रकारने तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है—'मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्धके कारण है ।' यहाँ उन्होने बन्धके कारणोमे मिथ्यात्वको प्रथम स्थान दिया है और बन्धपूर्वक ससार होता है अत ससारका मूल कारण मिथ्यात्व है । वह पदार्थको यथार्थ रूपसे जाननेका गुण रखने वाली बुद्धिको भी विपरीत कर देता है ।

अन्य आचार्य ऐसा व्याख्यान करते है—सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना और धारण करना आदि बुद्धिके गुण है । ऐसी गुणयुक्त बुद्धिको भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है ॥७२३॥

जो वस्तु जिस रूप नही है उसे ज्ञान उस रूप कैसे दिखलाता है ? ऐसी आशका होने पर आचार्य कहते है कि मिथ्यात्व रूप निमित्तके सद्भावमे ज्ञान विपरीत भी होता है—

गा०—सूर्यकी किरणें पृथ्वीकी ऊष्मासे मिलकर जलका भ्रम उत्पन्न करती हैं उसे मृग-

---

१. एव सामान्यत सू०—आ० मु० ।

इव नरा अपि। **'असब्भूवं सब्भूदंति मण्णंति मोहेण'** अतत्त्वमपि तत्त्वमित्यवगच्छन्ति दर्शनमोहेन हेतुना ॥७२४॥

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मत्ताराहणाए दढचित्तो।
होदि णमोक्कारम्मि य णाणे वदभावणासु थिया ॥७२५॥

मिथ्यात्वजन्यमोहमाहात्म्यप्रख्यापनायाह—

मिच्छत्तमोहणादो धत्तूरयमोहणं वरं होदि।
वड्ढेदि जम्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥७२६॥

'मिच्छत्तमोहणादो' मिथ्यात्वजन्यान्मोहात्। **'धत्तूरयमोहणं'** उन्मत्तरससेवाजनितमोहनं। **'वरं होदि'** शोभनं भवति। कथं? **'वड्ढेदि'** वर्धयति। **'जम्ममरणं'** जन्ममरणं च विचित्रासु योनिषु। किं? **'दंसणमोहो'** दर्शनमोहजन्यं कलङ्कं। **'ण दु इदरं जम्ममरणं वड्ढेदि'** नैव धत्तूरकमोहनं जन्ममरणपरम्परां आनयति कतिपयदिनभाविमोहसम्पादनोद्यता-(-त्) अनन्तकालवर्तिवैपरीत्यजननक्षममोहनं अतिशयेन निकृष्टमिति भावः। ततो जन्मरणप्रवाहभीरुणा भवता त्याज्यं मिथ्यात्वं इति ॥७२६॥

ननु प्रागेव परित्यक्तं मिथ्यात्वं तत्कथं इदानीं तत्त्यागोपदेश इत्यत्राशङ्कायामिदमुच्यते—

जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभाविदो संतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥७२७॥

'जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभाविदो सन्तो' जीवोऽनादिकालप्रवृत्तमिथ्यात्वभावितः सन्। **'ण रमिज्ज खु'** नैव रमेत। **'सम्मत्ते'** सम्यक्त्वे, **'एत्थ'** अत्र सम्यक्त्वे। **'पयत्तं'** प्रयत्नं **'कादव्वं खु'** कर्तव्य एव।

तृष्णा कहते है। जैसे प्याससे पीड़ित मृग उसे पानी जानते हैं वैसे ही मनुष्य भी दर्शनमोहके कारण अतत्त्वको भी तत्त्व जानता है ॥७२४॥

गा०—अतः हे क्षपक, सम्यक्त्वकी आराधनाके द्वारा उस मिथ्यात्वको दूर कर। ऐसा करनेसे पंचपरमेष्ठीके नमस्कारमे ज्ञान और व्रतोंकी भावनामे चित्त दृढ़ होता है ॥७२५॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुए मोहका माहात्म्य कहते हैं—

गा०-टी०—मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न हुए मोहसे धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह (मूर्छा) उत्तम है; क्योंकि दर्शन मोहसे उत्पन्न हुआ मोह नाना योनियोंमे जन्ममरणको बढाता है किन्तु धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह जन्ममरणकी परम्पराको नही बढ़ाता। अतः कुछ दिनोंके लिए मोह उत्पन्न करने वाले धतूरेके मदसे अनन्त कालके लिए विपरीत बुद्धि उत्पन्न करनेमे समर्थ मिथ्यात्वका मोह अत्यन्त बुरा है। अतः जन्ममरणकी परम्परासे भीत आपको मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिए ॥७२६॥

यहाँ यह शंका होती है कि मिथ्यात्वका त्याग तो पहले ही कर दिया यहाँ उसके त्यागका उपदेश क्यो? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यह जीव अनादि कालसे चले आते हुए मिथ्यात्वसे भावित होता आया है इससे

अनन्तकाले परिभावितं मिथ्यात्वं दुस्त्यजं तदेव दुःखत्याज्य। यथोरगश्चिरपरिचित छिद्र निवार्यमाणोऽपि बलात्प्रविशति इति कर्तव्य सम्यक्त्वे दार्ढ्यं ॥७२७॥

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू।
जं कुणदि महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ॥७२८॥

'**अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि**' अग्निर्विष कृष्णसर्प इत्यादीनि। '**दोस ण त करेज्जण्हू**' दोष त न कुर्युः। '**जं कुणदि**' य करोति। '**महादोस**' महान्त दोषं। '**जीवस्स**' जीवस्य। '**तिव्वं**' तीव्र। किं? '**मिच्छत्तं**' मिथ्यात्वं अश्रद्धान ॥७२८॥

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयभवे।
मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भवकोडिकोडीसु ॥७२९॥

अग्न्यादिभि क्रियमाणस्य अल्पता मिथ्यात्वेन सपाद्यस्य च महत्ता दर्शयत्युत्तरगाथया। अग्न्यादीन्येकभवदुःखदानि मिथ्यात्व पुनर्दोषं करोति भवाना कोटाकोटीषु ॥७२९॥

मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति।
विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥७३०॥

'**मिच्छत्तसल्लविद्धा**' मिथ्यात्वाख्येन शल्येन विद्धा '**तिव्वाओ वेदणाओ**' तीव्रा वेदना। '**वेदंति**' अनुभवन्ति। '**विसलित्तकंडविद्धा**' विषलिप्तेन शरेण विद्धा। '**जह**' यथा। '**पुरिसा**' पुरुषा। '**णिप्पडीयारा**' निष्प्रतीकारा ॥७३०॥

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पडिदाइं।
कालगदो वि य सतो जादो सो दीहसंसारे ॥७३१॥

'**अच्छीणि**' अक्षिणी। '**संघसिरिणो**' सङ्घश्रीसज्ञितस्य। '**मिच्छत्तणिकाचणेण**' मिथ्यात्वप्रकर्षेण। '**पडिदाणि**' पतिते। '**इहेव**' जन्मनि। '**कालगदो वि य सतो**' मृत्वापि। '**जादो सो**' जातोऽसौ। '**दीहसंसारे**' दीर्घससारे ॥७३१॥

सम्यक्त्वमे वह नही रमता। इसलिए सम्यक्त्वमे प्रयत्न करना ही चाहिए। अनन्त कालमे अच्छी तरह भाया गया मिथ्यात्व बडे कष्टसे छूटता है। जैसे सर्प रोकने पर भी अपने चिर परिचित बिलमे बलपूर्वक घुस जाता है। अत सम्यक्त्वमे दृढता कर्तव्य है ॥७२७॥

गा०—आग, विष, काला सर्प आदि जीवका उतना दोष नही करते जैसा महादोष तीव्र मिथ्यात्व करता है ॥७२८॥

आगेकी गाथासे आग आदिके द्वारा किये गये दोषकी अल्पता और मिथ्यात्वके द्वारा किये गये दोषकी महत्ता बतलाते है—

गा०—आग आदि तो एक भवमे ही दुःख देते हैं। किन्तु मिथ्यात्व करोडो भवोमे दुःख देता है ॥७२९॥

गा०—मिथ्यात्व नामक शल्यसे बीधे गये जीव तीव्र वेदना भोगते हैं। जैसे विषैले बाणसे छेदे गये मनुष्योंका कोई प्रतीकार नही होता। अर्थात् वे अवश्य मर जाते हैं ॥७३०॥

यदि नाम उपगतमिथ्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धरं चारित्रमनुष्ठितं मया तदस्मान्निस्तरणे समर्थमित्याशा न कर्तव्येति निदर्शयति—

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं ।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च ।।७३२।।

'**कडुगम्मि दुद्धिए**' कटुकालाब्वां । '**अणिव्वलिदम्मि**' अशुद्धायां । '**णिहिदं खीरं**' निक्षिप्तं क्षीरं । '**जहा कडुगमेव होदि**' यथा कटुकरसमेव भवति । एवकारेण माधुर्यव्यावृत्तिः क्रियते । '**णिव्वलिदम्मि य**' शुद्धायामलाब्वां । '**णिहिदं**' निक्षिप्तं क्षीरं '**जह मधुरं होदि सुगंधं च**' यथा मधुरं भवति सुरभि च ।।७३२।।

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि ।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ।।७३३।।

'**तह**' तथा '**मिच्छत्तकडुगिदे**' मिथ्यात्वेन कटूकृते जीवे । '**तवणाणचरणविरियाणि**' तपो, ज्ञानं, चारित्रं, वीर्यमित्येतानि '**णासंति**' नश्यन्ति [1]सम्यक्रूपविनाशात् । समीचीनं तपो, ज्ञानं, चरणं, वीर्यानिगूहनं च मुक्त्युपायो न तपःप्रभृतिमात्रं । स च सम्यक्श्रद्धाबलेनैव नान्यथा । '**वंतमिच्छम्मि**' निरस्तमिथ्यात्वे जीवे । **सफलानि** फलसमन्वितानि तपःप्रभृतीनि । '**जायन्ति**' जायन्ते । [कि[2] तपसः फलं ? अभ्युदयसुखं, निःश्रेयससुखं वा । मि छत्तस्स य वमणं इत्येतद्व्याख्यातं । मिच्छत्त] ।।७३३।।

[3]सम्मत्त भावणा इत्येतद्व्याचष्टे—

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे ।
सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ।।७३४।।

गा०—मंत्रश्री नामक राजमन्त्रीकी आँखे तीव्र मिथ्यात्वके कारण फूट गई और वह मर कर भी दीर्घ ससारी हुआ ।।७३१।।

शायद क्षपक विचारे कि यदि मै मिथ्यादृष्टि हूँ तब भी मैने दुर्धर चारित्रका पालन किया है अतः मै ससार समुद्रको पार करनेमे समर्थ हूँ ? आचार्य कहते हैं कि ऐसी आशा नही करना—

गा०—जैसे अशुद्ध कडुवी तूम्बीमे रखा दूध कटुक ही होता है और शुद्ध तूम्बीमे रखा दूध मीठा तथा सुगन्धित होता है ।।७३२।।

गा०—वैसे ही मिथ्यात्वसे दूषित जीवमे तप, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, ये सब नष्ट हो जाते हैं क्योकि सम्यक् रूप नही होते । समीचीन तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य मुक्तिके उपाय है, केवल तप आदि मात्र मुक्तिका उपाय नही है । और समीचीन तप आदि श्रद्धाके बलसे ही होते है, श्रद्धाके अभावमे नही होते । अतः मिथ्यात्वको दूर कर देने वाले जीवमे तप आदि सफल होते है । तपका फल सासारिक सुख अथवा मोक्षका सुख है । इस प्रकार मिथ्यात्वके वमनका कथन किया ।।७३३।।

अब सम्यक्त्वकी भावनाका कथन करते हैं—

---

१ सम्यक्त्वरूपविनाशात्–मूलारा० मु० । २. [ ] एतदन्तर्गत पाठ 'अ' प्रतौ नास्ति ।
३ कि त्येतद्व्याचष्टे–अ० ।

'मा कासि' मा कार्षीः । **'तं'** भवान् । **'पमादं'** प्रमादं । **'सम्मत्ते'** सम्यक्त्वे । **'सव्वदुःखणासयणे'** सर्वदुःखनिर्मूलनोद्यते । कथं सम्यक्त्वं सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीन्यपि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत आह—

'सम्मत्तं खु' श्रद्धानमेव तत्त्वस्य । **'पदिट्ठा'** आधारः । **'णाणचरणवीरियतवाणं'** ज्ञानस्य, चरणस्य, वीर्याचारस्य, तपसश्च । ननु सर्व एव परिणामः परिणामिद्रव्याधारो न परस्परमधिकरणता याति तत कथमुच्यते सम्यक्त्वमाधार इति । यथा परिणामिद्रव्यमन्तरेण ज्ञानादीनामनवस्थितिरेवं समीचीनता तेषां न दर्शनं विनेति दर्शनस्याधारता ।।७३४।।

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ।।७३५।।

'णगरस्स जह दुवारं' नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशनोपायो यथा द्वारं । **'तहा'** तथा **'सम्मत्तं'** सम्यक्त्वं द्वारं । **'णाणचरणवीरियतवाणं'** ज्ञानादीनां । एवं हि ज्ञानादीन्यनुप्रविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो भवेत्सम्यक्त्वे तदन्तरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुप्रवेशस्यासंभवात् । न हि सातिशयमवध्यादि, यथाख्यातं चारित्रं, बहुतरनिर्जरानिमित्तं वा तपः प्रतिलभते जन्तुः सम्यक्त्वं विना । **'मुहस्स चक्खू जहा'** मुखस्य चक्षुर्यथा शोभाविधायि ताथ ज्ञानादीनां सम्यक्त्वं विधत्ते श्रद्धानं । **'तरुस्स मूलं यथा'** तरोर्मूलं यथा स्थितिनिबन्धनं, तथा सम्यक्त्वं ज्ञानादिस्थितिनिमित्तं ।।७३५।।

भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो व्वा ।
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ।।७३६।।

गा०-टी०—सब दुःखोको जडमूलसे उखाड़नेमे तत्पर सम्यक्त्वके विषयमे आप प्रमाद न करे। 'सम्यक्त्व ही सब दुःखोका नाश करने वाला कैसे है ? ज्ञान आदि भी तो सब दुःखोको दूर करनेमे निमित्त है ? ऐसा कोई कहे तो आचार्य कहते हैं—ज्ञान, चारित्र, वीर्याचार और तपका आधार तत्त्वका श्रद्धान ही है ।

शंका—सब परिणाम परिणामी द्रव्यके आधारसे रहते है। वे परस्परमे एक दूसरेके आधार नहीं होते। तब आप सम्यक्त्वको ज्ञानादिका आधार कैसे कहते है ?

समाधान—जैसे परिणामी द्रव्यके बिना ज्ञानादि नही रहते वैसे ही वे सम्यग्दर्शनके बिना समीचीन नही होते। इसलिए सम्यग्दर्शन उनका आधार होता है ।।७३४।।

गा०-टी०—जैसे नगरमे प्रवेश करनेका उपाय उसका द्वार होता है वैसे ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका द्वार सम्यक्त्व है। यदि जीव सम्यक्त्व रूपसे परिणत होता है तो वह ज्ञानादिमे प्रवेश कर सकता है। सम्यक्त्वके बिना ज्ञानादिमे प्रवेश सम्भव नहीं है। सम्यक्त्वके बिना जीव सातिशय अवधि ज्ञान आदि, यथाख्यात चारित्र अथवा बहुत निर्जरामे निमित्त तपको प्राप्त नहीं कर सकता। तथा जैसे नेत्र मुखको शोभा प्रदान करते हैं वैसे ही सम्यक्त्वसे ज्ञानादि शोभित होते हैं। तथा जैसे जड़ वृक्षकी स्थितिमें कारण है वैसे ही सम्यक्त्व ज्ञानादिकी स्थितिमें निमित्त है ।।७३५।।

गा०—इस जगत्मे लोग परपदार्थोंमे अनुराग रूप है, स्नेही जनोमे प्रेमानुरागी हैं। कोई

दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥७३७॥
दंसणभट्ठो भट्ठो ण हु भट्ठो होइ चरणभट्ठो हु ।
दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ॥७३८॥

'**दंसणभट्टो भट्टो**' दर्शनाद्भ्रष्टो भ्रष्टतम. । '**चरणभट्टो वि**' चारित्रभ्रष्टोऽपि दर्शनादभ्रष्टः । '**ण हु**' न वा । '**भट्टो होदित्ति**' वाक्यशेष कृत्वा सबन्ध । न तु तथा भ्रष्टो भवति चारित्रभ्रष्ट यथा दर्शनाद्भ्रष्टः । '**दंसणं**' श्रद्धान । '**अमुयत्तस्स**' अत्यजत । चारित्राद्भ्रष्टस्यापि '**परिवडणं संसारे णत्थि खु**' परिपतन संसारे नास्त्येव । असयमनिमित्तार्जितपापसंहतेरस्त्येव ससार । किमुच्यते परिपतन नास्तीति ? अयमभिप्राय —परि समन्तात्सर्वासु गतिषु चतसृषु सचरण नास्तीति । स्वल्पत्वात्संसार सन्नपि नास्तीति व्यवह्रियते । तथा हि स्वल्पद्रविणोऽधन इत्युच्यते । दर्शनात्तु प्रभ्रष्टस्य अर्धपुद्गलपरिवर्तन भवत्यतिमहत्ससारमिति निकृष्टतमो दर्शनाद्भ्रष्ट ॥७३८॥

एकैकस्य दर्शनस्य माहात्म्य कथयति—

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ।
जादो दु सेणिगो आगमेसिं अरुहो अविरदो वि ॥७३९॥

'**सुद्धे**' शुद्धे । '**सम्मत्ते**' सम्यक्त्वे । शङ्काद्यतिचाराभावात् । '**अविरदो वि**' अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानामुदयात् हिंसादिनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । '**तित्थयरणामकम्मं**' तीर्थकरत्वस्य कारणं कर्म

मज्जानुरागी है। किन्तु तुम जिनशासनमे रहकर सदा धर्मानुरागी रहो ॥७३६॥

गा०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टका अनन्तानन्त कालमे भी निर्वाण नही होता। जो चारित्रसे भ्रष्ट है किन्तु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नही है उसका कुछ कालमे निर्वाण होगा। परन्तु जिसके सम्यग्दर्शन नही है उसका निर्वाण अनन्त कालमे भी नही होगा ॥७३७॥

गा०-टी०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह अत्यन्त भ्रष्ट है। किन्तु चारित्रसे भ्रष्ट होने पर भी सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नही है वह भ्रष्ट नही है। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जैसा होता है चारित्रसे भ्रष्ट वैसा नही होता। चारित्रसे भ्रष्ट होकर भी जो सम्यग्दर्शनको नही त्यागता उसका ससारमे पतन नही होता।

शंका—असयमके निमित्तसे उपार्जित पाप कर्मके होनेसे उसका ससार रहता ही है। आप कैसे कहते है कि उसका ससारमे पतन नही होता ?

समाधान—हमारे कथनका अभिप्राय यह है कि उसका चारो गतियोमे भ्रमण नही होता। यद्यपि ससार रहता है किन्तु स्वल्प रहता है अत 'नही रहता' ऐसा कहनेमे आता है जैसे स्वल्प धन वालेको निर्धन कहा जाता है। किन्तु जो सम्यग्दर्शन पाकर उससे भ्रष्ट हो जाता है उसका संसार अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण रहनेसे महान् संसार होता है। अतः चारित्र भ्रष्टसे दर्शन भ्रष्ट अति निकृष्ट होता है ॥७३८॥

गा०-टी०—एकाकी सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान

अर्जयति । विनयसपन्ननादिरपि तीर्थकरनामकर्मणो हेतुरेव ततः कोऽतिशयो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने सत्येव तेषां तीर्थकरनामकर्मणः कारणता, नान्यथेति मन्यते । '**जादो खु**' जात खलु । '**सेणिगो**' श्रेणिक । '**आगमेसि**' भविष्यति काले । **अरुहो** अर्हन् '**अविरदो वि**' असंयतोऽपि सन् । ननु श्रेणिको भविष्यत्यर्हन् न त्वर्हत्त्व तस्यातीत तेन कथमुच्यते जात इति ? भविष्यदर्हत्त्व न निष्पन्न इति युक्तमुच्यते जात इति ॥७३९॥

कल्लाणपरंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्दंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥७४०॥

'**कल्लाणपरंपरयं**' कल्याणपरम्परा इन्द्रत्व, सकलचक्रलाछनता, अहमिन्द्रत्व, तीर्थकृत्त्वमित्यादिक लभन्ते जीवाः । '**विसुद्धसम्मत्ता**' विशुद्धसम्यक्त्वा । '**सम्मद्दंसणरयणं**' सम्यग्दर्शनरत्न '**णग्घदि ससुरासुरो लोओ**' सकलो लोको मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः ॥७४०॥

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ।
सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७४१॥
लद्धूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिमिदेण कालेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥७४२॥

स्पष्टार्थतया न व्याख्यायते गाथाद्वयम् अनन्तर सम्मत्ते भावणा इत्येतद्व्याख्यात । सम्मत्त ॥७४२॥

माया लोभके उदयमे हिसा आदिकी निवृत्ति रूप परिणामोसे रहित अविरत भी शका आदि अति-चारोसे रहित शुद्ध सम्यक्त्वके होने पर तीर्थंकर पदके कारणभूत कर्मका उपार्जन करता है।

शंका—विनय सम्पन्नता आदि भी तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रवमे कारण होते है तब उनसे सम्यग्दर्शनकी क्या विशेषता हुई ?

समाधान—सम्यग्दर्शनके होने पर ही विनय सम्पन्नता आदि तीर्थंकर नाम कर्मके कारण होते है, उसके अभावमे कारण नही होते । देखो, असयमी भी श्रेणिक भविष्यमे तीर्थकर हुआ ।

शङ्का—श्रेणिक तीर्थंकर होगा, भविष्यकालमे, अभी वह हुआ नही है, फिर उसे 'हुआ' क्यो कहा ?

समाधान—श्रेणिकका अर्हन्तपना आगे होगा, अभी हुआ नही है इसलिए 'भविष्यमे हुआ' ऐसा कहा है ॥७३९॥

गा०—विशुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रपद, चक्रवर्तिपद, अहमिन्द्रपद, तीर्थंकरपद आदि कल्याणपरम्पराको प्राप्त करते है। मूल्यके रूपमे समस्तलोक देनेपर भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नही होता ॥७४०॥

गा०—सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बदलेमे यदि तीनो लोक प्राप्त होते हो तो त्रैलोक्यकी प्राप्तिसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति श्रेष्ठ है ॥७४१॥

गा०—तीनो लोक प्राप्त करके भी कुछ काल बीतनेपर वे छूट जाते है। किन्तु सम्यक्त्वको प्राप्त करके अविनाशी सुखवाला मोक्ष प्राप्त होता है ॥७४२॥

सम्यक्त्वभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

परा भत्ती इत्येतद्व्याख्यानाय प्रबन्ध उत्तरः—

अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहूसु ।
तिव्वं करेहि भत्ती णिव्विदिगिंच्छेण भावेण ॥७४३॥

'अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहूसु' अर्हत्सिद्धेसु तत्प्रतिबिम्बेषु, प्रवचने, आचार्येषु सर्वसाधुषु च । **'तिव्वं भत्ति करेहि'** तीव्रां भक्तिं कुर्विति । **'णिव्विदिगिंछेण'** विचिकित्सारहितेन । **'भावेण'** परिणामेन ॥७४३॥

जिनभक्तिमाहात्म्यं कथयन्ति—

संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥७४४॥

'संवेगजणिदकरणा' संसारभीरुतया उत्पादितात्मलाभा । **'णिस्सल्ला'** मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन, च रहिता । **'मंदरोव्व णिक्कप्पा'** मन्दर इव निश्चला । **'जस्स दढा जिणभत्ती'** यस्य दृढा जिनभक्तिः । **'तस्स संसारे भय णत्थि'** तस्य संसारनिमित्तं भयं नास्ति ॥७४४॥

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेदिं ।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥७४५ ॥

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ।
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥७४६॥

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ॥७४७॥

'विज्जा' विद्यापि । **'भत्तिवंतस्स'** भक्तिमतः । **'सिद्धिमुवयादि'** सिद्धिमुपयाति । **'होदि सफला य'** फलवती च भवति । **'किध पुण'** कथं पुनः । **'णिव्वुदिबीजं'** निर्वृतेर्बीजं रत्नत्रयं **'सिज्झहिदि'** सेत्स्यति ।

अब 'परा भक्ति' का व्याख्यान करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! ग्लानिरहित भावसे अर्हन्त, सिद्ध, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओमे तीव्र भक्ति करो ॥७४३॥

जिन भक्तिका माहात्म्य कहते है—

गा०—संसारके भयसे उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व माया और निदान शल्योंसे रहित तथा सुमेरुकी तरह निश्चल दृढ़ जिनभक्ति जिसकी है उसे ससारका भय नहीं है ॥७४४॥

गा०—एक ही जिनभक्ति दुर्गतिका निवारण करनेमे, पुण्यकर्मोंको पूर्ण करनेमें और मोक्षपर्यन्त सुखोंको परम्पराको देनेमे समर्थ है ॥७४५॥

गा०—तथा सिद्ध, परमेष्ठी, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओंमें तीव्रभक्ति संसारका विनाश करनेमे समर्थ है ॥७४६॥

'**अभत्तिमंतस्स**' भक्तिरहितस्य क्व ? अर्हदादिषु ॥७४७॥

तेसिं आराधणणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति ।
धत्तिं पि संजमंतो सालिं सो ऊसरे ववदि ॥७४८॥

'**तेसिं आराधणणायगाणं**' अर्हदादीना आराधनाया नायकाना । '**ण करिज्ज जो णरो भत्ति**' यो नरो भक्ति न करोति । **सो धत्तिं पि संजमंतो**' नितरा सयमे उद्यतोऽपि शालीनूषरे देशे वपति । ऊषरे शालिवपन अफलं यथा क. करोत्येव दुश्चरं संयमं चरत्यय अर्हदादिषु भक्तिरहितो मिथ्यादृष्टिः सन्निति भाव ॥७४८॥

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो ॥७४९॥

'**बीजेण विणा सस्सं**' शस्यमिच्छति बीजेन विना । '**वासमब्भएण विणा**' वर्षं वाञ्छति अभ्रेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । '**आराधणं**[1]' रत्नत्रयससिद्धि इच्छति अकुर्वन्नाराधनाभक्ति हेतुभूता ॥७४९॥

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ॥७५०॥

'**विधिणा कदस्स**' विधीयते जन्यते कार्यमनेनेति कारणसदोहो विधि । तेन कारणकलापेन कृतस्योप्तस्य । '**सस्सस्स**' सस्यस्य । '**वास जह णिप्पादय हवदि**' वर्षं यथा फलनिष्पत्ति करोति । '**तह**' तथैव । '**आराहगभत्ती**' आराधकेषु अर्हदादिषु '**भत्ती**' भक्ति । '**णाणचरणदसणतवाण**' ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च निष्पादिका भवति ॥७५०॥

गा०—विद्या भी भक्तिमानकी ही सिद्ध और सफल होती है । तब जो अर्हन्त आदिमें भक्ति नहीं रखता उसके मोक्षका बीज रत्नत्रय कैसे सिद्ध-प्राप्त हो सकता है ? ॥७४७॥

गा०—दर्शन आदि आराधनाओके नायक अर्हन्त आदिकी जो मनुष्य भक्ति नही करता वह सयममे अत्यन्त तत्पर होते हुए भी धान्यको ऊसर भूमिमे बोता है ॥६४८॥

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि ऊसर भूमिमे कौन धान बोता है । क्योकि उसका कोई फल नहीं है । उसी प्रकार यह अर्हन्त आदिमे भक्तिरहित अर्थात् मिथ्यादृष्टि होते हुए कठिन सयमका आचरण करे तो वह निष्फल है ॥७४८॥

गा०—आराधनाके नायकोकी भक्ति न करके जो आराधना अर्थात् रत्नत्रयकी सिद्धि चाहता है वह बीजके विना धान्य चाहता है और बादलोके विना वर्षा चाहता है ॥७४९॥

गा०—जिससे कार्य किये जाते है उसे विधि कहते हैं अत. विधिका अर्थ होता है—कारणोंका समूह । उस विधिसे बोये गये धान्यको वर्षा जैसे उत्पन्न करती है उसी प्रकार अर्हन्त आदिकी भक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपकी उत्पादक होती है ॥७५०॥

---

१. णिम्मावगं-अ० आ० ।

भक्तिमाहात्म्यं फलातिशयोपदर्शनेन कथयितुकामोऽग्राख्यानमुपक्षिपति गाथायाम्—

वंदणभत्तीमित्तेण मिहिलाहिओ य पउमरहो।
देविंदपाडिहेरं पत्तो जादो गणधरो य ॥७५१॥

'**वंदणभत्तीमित्तेण**' वन्दनानुरागमात्रेण चैव। '**मिहिलाहिओ य पउमरहो**' मिथिलानगराधिपति पद्मरथो नाम। '**देविंदपाडिहेरं पत्तो**' देवेन्द्रकृता पूजा प्राप्तवान्। '**जादो गणधरो य**' गणधरश्च जात। भत्ती ॥७५१॥

आराधणापुरस्सरमणण्णहिदओ विसुद्धलेस्साओ।
संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥७५२॥

'**आराधणापुरस्सर णमोक्कार मा मोचीओ**' आराधनाया अग्रसर नमस्कार मा मुञ्च। कीदृग्भूत ? '**संसारस्स खयकरं**' ससारस्य पञ्चविधपरिवर्तमानस्य क्षयकरं। '**अणण्णहिदओ**' अनन्यगतचित्त. सन्। '**विसुद्धलेस्साओ**' विशुद्धलेश्यया परिणत। तत्र नमस्कार नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पेन चतुर्द्धा व्यवस्थित। तत्र नाम नमस्कारो नाम यस्य कस्यचिन्नमस्कार इति कृता सज्ञा इदमस्य नामधेय यथा स्यादिति नियुज्यमान पद मर्व सर्वत्र प्रवर्तते। एव नमस्करणव्यापृतो जीवस्तस्य कृताञ्जलिपुटस्य यथाभूतेनाकारेणात्रस्थापिता मूर्ति स्थापनानमस्कारः। नमस्कारप्राभृत नामास्ति ग्रन्थ यत्र नयप्रमाणनिक्षेपादिमुखेन नमस्कारो निरूप्यते, त यो वेत्ति न च माम्प्रत तन्निरूप्येऽर्थे उपयुक्तोऽन्यगतचित्तत्वात् स नमस्कारयाथात्म्यग्राहिश्रुतज्ञानस्य कारणत्वादागमद्रव्यनमस्कार इत्युच्यते। नो आगमद्रव्यनमस्कारस्त्रिविध, ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदान्। नमस्कार-

---

विशिष्ट फलके द्वारा भक्तिका माहात्म्य कहनेकी इच्छासे ग्रन्थकार उदाहरण उपस्थित करते हैं—

गा०—तीर्थकरकी वन्दनाके अनुरागमात्रसे मिथिला नगरका स्वामी पद्मरथ देवेन्द्रके द्वारा पूजित हुआ और वासुपूज्य तीर्थकरका गणधर हुआ ॥७५१॥

विशेषार्थ—मिथिलाका राजा पद्मरथ भगवान् वासुपूज्य तीर्थंकरकी वन्दनाके लिए गया। मार्गमे दो देवोने उसकी परीक्षाके लिए घोर उपसर्ग किया। किन्तु वह विचलित नही हुआ। देवोने उसकी दृढभक्तिसे प्रसन्न होकर उसकी पूजा की। और वह भगवान् वासुपूज्यके समवशरणमे जाकर दीक्षा ग्रहण करके उनका गणधर बन गया ॥७५१॥

गा०—नमस्कार मन्त्र आराधनाका अग्रेसर है, नमस्कारमन्त्रपूर्वक ही आराधना की जाती है। पाँच परावर्तनरूप ससारका क्षय करनेवाला है। सब ओरसे मनको हटाकर विशुद्ध लेश्यापूर्वक नमस्कार मन्त्रकी आराधना कर। इसे छोडना नही ॥७५२॥

टी०—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे नमस्कार चार प्रकारका होता है। जिस किसीका नमस्कार नाम रखना नाम नमस्कार है। इसका यह नाम है इस प्रकारका व्यवहार सर्वत्र चलता है। इसी प्रकार नमस्कार करते हुए जीवकी दोनो हाथोंको जोड़े हुए आकारकी स्थापित मूर्ति स्थापना नमस्कार है। नमस्कार प्राभृत नामक ग्रन्थमें नय, प्रमाण, निक्षेप आदिके द्वारा नमस्कारका कथन है। जो उसे जानता है किन्तु वर्तमानमे उसमे कहे हुए अर्थमे उपयुक्त नही है, उसका मन अन्यत्र लगा है। वह व्यक्ति नमस्कारके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले श्रुतज्ञानका कारण होनेसे आगमद्रव्य नमस्कार कहाता है। नो आगमद्रव्य नमस्कारके तीन भेद

प्राभृतज्ञस्य यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तदभ्यन्तरेण श्रुतज्ञानं नोपजायते इति शरीरमपि कारणं तत्रापि नमस्कार-शब्दो वर्तते । यत् तद् भूतशरीरं त्रिविकल्पं च्युत, च्यावितं त्यक्तमिति । आयुषो नि शेषगलनादात्मनश्च्युत एकं । चेतनस्य वा उपसर्गस्य बलाद् च्यावितं च्यावितशब्देनोच्यते । आयुषोऽभावमवेत्य आत्मनैव यत्त्यक्त तत्त्यक्तशब्देनोच्यते । तत्त्रिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानं, प्रायोपगमन, इङ्गिनीमरण इति । तेष्वन्यतमेन त्यक्त विधिना कायकषायसल्लेखनापुरःसर प्रव्रज्यात प्रभृति निर्यापकगुरुसमाश्रयणदिवसमन्त्य कृत्वा मध्ये प्रवृत्तान् ज्ञानदर्शन-चारित्राणा अतिचारानालोच्य तदभिमतप्रायश्चित्तानुसारिण द्रव्यभावसल्लेखनामुपगतस्य त्रिविधाहारप्रत्याख्यानादिक्रमेण रत्नत्रयाराधन भक्तप्रत्याख्यान । इङ्गिणीमरणप्रायोपगमने वक्ष्यमाणलक्षणे । तैः परित्यक्त त्यक्तमुच्यते । यदेव तत्सति जीवे नमस्कारोपयोगवति जीववदेव कारणमासीन्नमस्कारोपयोगस्य तदेवेदमिति तत्रापि नमस्कारशब्द प्रवर्तते । नमस्कारोपयोगरूपेण यो भविष्यति स भावीति भण्यते । स्थापना अर्हदादीनां नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तनोकर्मनमस्कारशब्देनोच्यते । आगमनस्कारज्ञान आगमभावनमस्कार । नमस्क्रियमाणार्हदादिगुणानुरागवत मुकुलीकृतकरकमलस्य, प्रणामो नो आगमभावनमस्कार इह गृह्यते ।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानैरनुयोगद्वारैर्निरूप्यते । अर्हदादिगुणानुरागवत आत्मनो वाक्कायक्रियास्तवनशिरोवनतिरूपो नमस्कार । सम्यग्दृष्टिर्नो आगमभावनमस्कारस्य स्वामीति । मतिश्रुत-

---

है—ज्ञायकशरीर, भावि, तद्व्यतिरिक्त । नमस्कार प्राभृतके ज्ञाताका जो त्रिकालवर्ती शरीर है, उसके विना भी श्रुतज्ञान नही होता, इसलिए शरीर भी कारण है अत उसे भी नमस्कार शब्दसे कहते है। उनमेसे जो भूत शरीर है उसके तीन भेद है—च्युत, च्यावित, त्यक्त । आयुकर्मके पूर्णरूपसे समाप्त होनेपर छूटा शरीर च्युत कहाता है। उपसर्गके कारण छूटा शरीर च्यावित कहाता है। आयुका अभाव जानकर स्वय ही त्याग किया शरीर त्यक्त कहाता है। उस त्यक्त शरीरके तीन भेद है—भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, इंगिनीमरण। उनमेसे किसी एक विधिसे शरीर और कषायकी सल्लेखनापूर्वक छोडा गया शरीर त्यक्त है। दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर निर्यापक गुरुके पास आश्रय लेनेके अन्तिम दिनतक लगे ज्ञान दर्शन और चारित्रके अतिचारोकी आलोचना करके गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको स्वीकार करके द्रव्यसल्लेखना और भाव-सल्लेखनापूर्वक तीन प्रकारके आहारके त्याग आदिके क्रमसे रत्नत्रयकी आराधना करना भक्त-प्रत्याख्यान है। इगिनीमरण और प्रायोपगमनका कथन आगे करेगे। इन तीनोके द्वारा त्यागा गया शरीर त्यक्त कहाता है। जब शरीरके रहनेपर जीव नमस्कारमे उपयोग लगाता था तब जीवकी तरह ही शरीर भी नमस्कारमे उपयोग लगानेमे कारण था। वही यह शरीर है इस प्रकार शरीरमे नमस्कार शब्दकी प्रवृत्ति होती है। जो भविष्यमे नमस्कारमे उपयोगरूपसे परिणत होगा उसे भावि कहते है। अर्हन्त आदिकी स्थापनाको नोआगमद्रव्य व्यतिरिक्त नोकर्म नमस्कार शब्दसे कहते है।

नमस्कार विषयक आगमके ज्ञानको आगमभाव नमस्कार कहते है। जिन अर्हन्त आदिको नमस्कार करता है उनके गुणोमे अनुरागपूर्वक दोनो हाथोको जोड नमस्कार करनेवालेका जो नमस्कार है वह नोआगमभाव नमस्कार है।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन अनुयोग द्वारोंसे नमस्कार-का कथन करते हैं।

अर्हन्त आदिके गुणोमे अनुरागी आत्माका वचनके द्वारा स्तवन और कायके द्वारा सिरको

ज्ञानावरणक्षयोपशमः, दर्शनमोहोपशमः, क्षयः, क्षयोपशमश्च बाह्यं साधनं, अभ्यन्तरं आत्मा प्रत्यासन्नभव्यः। आत्मनि वर्तते नमस्कारः। अन्तर्मुहूर्तस्थितिकः। अर्हदादिनमस्कार्यभेदेन पञ्चविधः। अर्हदादीनां प्रत्येकमनेकविकल्पत्वात् नमस्कारोऽपि तावद्धा भिद्यते ॥७५२॥

मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासणं च पंचण्हं ।
काएण संपणामो एस पयत्थो णमोक्कारो ॥७५३॥

अत्र नमस्कारसूत्रेण 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इत्यत्र लोकग्रहणं च सर्वग्रहणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते। णमो लोए सव्वेसिं अरहंताणं, णमो लोए सव्वेसिं सिद्धाणं, णमो लोए सव्वेसिं आइरियाणं, णमो लोए सव्वेसिं उवज्झायाणं' इति। अरहंताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामर्हदादीनां ग्रहणं सिद्धमतो न कर्तव्यं सर्वशब्दोपादानं इति चेत्। अर्द्धतृतीयद्वीपगतभरतेषु, ऐरावतेषु विदेहेषु च ये अर्हन्तः, सिद्धा, आचार्या, उपाध्याया, साधवश्चातीता, वर्तमाना, भविष्यन्तश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्तः। सादरविशेषख्यापनार्थं प्रत्येकं नमःशब्दोपादानं ॥७५३॥

अरहंतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ।
सो जिणवयणे दिट्ठो संसारुच्छेदणसमत्थो ॥७५४॥

'**अरहंतणमोक्कारो**' अर्हतां नमस्कारः। '**जो मरणकाले भवेज्ज एक्को वि**' यो मरणकाले भवेदेकोऽपि। '**सो**' सः। **जिणवयणे दिट्ठो**' जिनवचने दृष्टः। '**संसारोच्छेदणसमत्थो**' संसारोच्छेदनसमर्थः ॥७५४॥

झुकाना नमस्कार है। नोआगमभाव-नमस्कारका स्वामी सम्यग्दृष्टी होता है। मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम तथा दर्शनमोहका उपशम, क्षय और क्षयोपशम उसका बाह्य साधन है और निकट भव्य आत्मा अभ्यन्तर साधन है। नमस्कार आत्मामें रहता है। उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। नमस्कार करनेयोग्य अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुके भेदसे नमस्कारके पाँच भेद हैं। अर्हन्त आदिमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद होनेसे नमस्कारके भी उतने ही भेद होते हैं ॥७५२॥

गा०—अरहन्त आदि पाँचोका मनसे गुणानुस्मरण, वचनसे गुणानुवाद और कायसे नमस्कार यह नमस्कार पदका अर्थ है ॥७५३

टी०—नमस्कार मन्त्रमे आये 'णमो लोए सव्वसाहूण' में जो लोक और सर्वशब्दका ग्रहण किया है उन्हे प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए। लोकके सब अर्हन्तोंको नमस्कार हो। लोकमें सब सिद्धोको नमस्कार हो। लोकके आचार्योंको नमस्कार हो। लोकके सब उपाध्यायोको नमस्कार हो।

शङ्का—'अरहंताण' इत्यादिमे बहुवचनके निर्देशसे ही सब अर्हन्तोंका ग्रहण सिद्ध है अतः सर्वशब्दका ग्रहण उचित नही है ?

समाधान—अढ़ाईद्वीपके भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोमें जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु अतीतकालमे हुए, वर्तमानमें है और भविष्यमें होंगे उनके ग्रहणके लिए सर्व शब्द ग्रहण किया है। और विशेष आदर बतलानेके लिए प्रत्येकके साथ 'णमो' शब्द लगाया है ॥७५३॥

गा०—मरते समय यदि एक बार भी अर्हन्तोको नमस्कार किया तो उसे जिनागममें

ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपांसि संसारमुच्छिन्दन्ति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्याशंकायामाह—

जो भावनमोक्कारेण विणा सम्मत्तणाणचरणतवा ।
ण हु ते होंति समत्था संसारुच्छेदणं कादुं ॥७५५॥

'**जो भावणमोक्कारेण विणा**' यो भावनमस्कारेण विना सम्यक्त्वं, ज्ञान, चारित्र, तपश्च । '**खु**' शब्द एवकारार्थः । '**ण हु ते संसारुच्छेदणं कादुं समत्था होंति**' न हि ते ससारोच्छेदन कर्तुं समर्था भवन्ति ॥७५५॥

यद्येव 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इति सूत्रेण विरुध्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणा विनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनादित्याशङ्कायामाह—

चदुरंगाए सेणाए णायगो जह पवत्तओ होदि ।
तह भावणमोक्कारो मरणे तवणाणचरणाणं ॥७५६॥

'**चदुरंगाए सेणाए णायगो**' चतुरङ्गाया सेनाया नायको । '**जह पवत्तगो होज्ज**' यथा प्रवर्तको भवति । '**तह भावणमोक्कारो**' तथा भावनमस्कारः । '**मरणे**' मरणगोचर. । '**तवणाणचरणाणं**' तपोज्ञानचरणाना । क्षायिकसम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यगुणात्मका अर्हन्त इत्येव श्रद्धानात्मको भावनमस्कारः सम्यग्दर्शनत्वात् समीचीन तपो, ज्ञान, चारित्र च प्रवर्तयति । न ह्याप्तगुणश्रद्धानं विना शब्दश्रुतस्य प्रामाण्यमय व्यवस्थापयितुमीश । वक्तृप्रामाण्याद्विना वचनप्रामाण्यासिद्धे । न [1]ह्यतीन्द्रियविषयज्ञानमयथार्थमिदमेतद्यथार्थमिति वा विवेक्तु शक्यते अस्मदादिना । अर्थयाथात्म्यवेदिनो वीतरागद्वेषस्य च यतो वचस्ततो यथार्थमेव विज्ञानं जनयति, नायथार्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानपुरस्सरतया चरण तपश्च समीचीन सत्कर्मापनोदे निमित्तं

ससारका उच्छेद करनेमें समर्थ कहा है ॥७५४॥

नमस्कारके विना भी सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र संसारका उच्छेद करते है ? ऐसी आशंकामे उत्तर देते है—

गा०—भाव नमस्कारके विना जो सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र होते हैं वे ससारका उच्छेद करनेमे समर्थ नही हैं ॥७५५॥

यदि ऐसा है तो 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र मोक्षका मार्ग है' इस सूत्रके साथ विरोध आता है क्योकि आप नमस्कार मात्रको ही कर्मोंके विनाशका उपाय मानकर मुक्तिका एक ही मार्ग कहते हैं ? इसका उत्तर देते है—

गा०-टी०—जैसे चतुरग सेनाका नायक प्रवर्तक होता है वैसे ही मरते समय भाव नमस्कार—क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक वीर्य गुण वाले अर्हन्त हैं इस प्रकार श्रद्धान रूप भाव नमस्कार सम्यग्दर्शन-रूप होनेसे समीचीन ज्ञान, तप और चारित्रका प्रवर्तक होता है । आप्तके गुणोके श्रद्धानके विना शब्दरूप श्रुतके प्रामाण्यकी व्यवस्था नही की जा सकती, क्योंकि वक्ताके प्रामाण्यके विना वचनोंका प्रामाण्य सिद्ध नही होता । अतीन्द्रिय विषयोका ज्ञान अयथार्थ है और 'यह' आदि ज्ञान यथार्थ है, ऐसा विवेक हम लोग नही कर सकते । यतः अर्थके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले और राग द्वेषसे रहित आप्तका वचन यथार्थ ज्ञानको ही उत्पन्न करता है, अयथार्थ ज्ञानको नहीं. इस प्रकारके सच्चे ज्ञानीका सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्

१ हीन्द्रिय—आ० मु० ।

नान्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः [1]प्रधानत्वाद्भावनमस्कारः संसारोच्छेदकारीति व्यपदिश्यते ॥७५६॥

आराधणापडायं गेण्हंतस्स हु करो णमोक्कारो ।
मल्लस्स जयपडायं जह हत्थो घेत्तुकामस्स ॥७५७॥

आराधनापताका ग्रहीतुकामस्य भावनमस्कार एव करो जयपताका ग्रहीतुकामस्य मल्लस्य हस्त इवेत्युत्तरगाथार्थः ॥७५७॥

अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं ।
चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामण्णं ॥७५८॥

अर्हद्गुणज्ञानरहितोऽपि गोपो द्रव्यनमस्कारमाराध्य मृतश्चम्पापुरे श्रेष्ठिकुले जातः श्रामण्यं च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येवं विपुलं प्रयच्छति फलं किं न कुर्याद् भावनमस्कार इति भावः । भावनमस्कारो व्याख्यातः । णमोक्कार ॥७५८॥

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।
णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७५९॥

णाणुवओगं इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरः प्रबन्धः—'**णाणोवओगरहिदेण**' ज्ञानपरिणामरहितेन पुंसा । '**ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं**' चित्तनिग्रहः कर्तुमशक्यः । कस्मात् ज्ञानमन्तरेण न शक्यश्चित्तनिग्रहः कर्तुमित्यारेकाया—ज्ञानं निग्रहकरणे साधकतमं ततस्तदन्तरेण न भवति चित्तनिग्रह इत्याचष्टे । '**णाणं अंकुसभूदं**

चारित्र और सम्यक् तप विद्यमान कर्मोंको दूर करनेमें निमित्त होता है, अन्यथा नहीं होता। इसलिए भाव नमस्कार ज्ञान चारित्र और तपका प्रवर्तक होनेसे प्रधान है और संसारका उच्छेद करने वाला कहाता है ॥७५६॥

गा०—जैसे विजय पताकाको ग्रहण करनेके अभिलाषी मल्लके लिए हाथ है। हाथसे ही वह जय पताका ग्रहण करता है। वैसे ही आराधना पताका (ध्वजा) को ग्रहण करनेके इच्छुक आराधकका हाथ भाव नमस्कार है। भाव नमस्कार पूर्वक ही वह आराधनामें सफलता पाता है ॥७५७॥

गा०—सुभग नामका ग्वाला अज्ञानी था, उसे अर्हन्तके गुणोंका ज्ञान नहीं था। वह द्रव्यनमस्कारकी आराधना करके अर्थात् मुखसे णमोकर मन्त्रका जप करते हुए मरा और चम्पा नगरीमें एक श्रेष्ठीके वंशमें उत्पन्न हुआ। तथा मुनि पदको धारण कर मुक्त हुआ। इस प्रकार द्रव्यनमस्कारसे भी विपुल फलकी प्राप्ति होती है। तब भावनमस्कारका तो कहना ही क्या है। इस प्रकार भावनमस्कारका कथन समाप्त हुआ ॥७५८॥

अब ज्ञानोपयोगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानोपयोगसे रहित मनुष्य अपने चित्तका निग्रह नहीं कर सकता।

शङ्का—ज्ञानके बिना चित्तका निग्रह क्यों नहीं कर सकता?

समाधान—ज्ञान चित्तका निग्रह करनेमें साधकतम है अतः उसके बिना चित्तका निग्रह

---

१. प्रभावत्वा—आ० मु०।

मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स' ज्ञानमङ्कुशभूतं मत्तस्य चित्तहस्तिनः। इदमत्र चोद्यते—इह चित्तशब्देन किमुच्यते ? अन्यत्र सचित्तशीतसंवृत इत्यादौ चित्तं चैतन्यमिति गृहीतं। इहापि यदि तदेव तस्य निग्रहो नाम क ? अत्रोच्यते—विपर्ययज्ञानमया अशुभध्यानलेश्यातया वा परिणतिः[1] प्राणभृतो यस्य तस्य निरोधो यथार्थज्ञान-परिणामेन क्रियते। परिणामो हि परिणामिन निरुणद्धि, परिणामोऽस्मा[2]द्विरुद्धस्त्वया नादातव्य इति। यथा मत्तो हस्ती न क्वचिदवतिष्ठते बन्धनमर्दनादिक विना तद्वच्चित्तहस्त्यपि यत्र क्वचनाशुभपरिणामे प्रवर्तते इति ॥७५९॥

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं।
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥७६०॥

'**विज्जा सुट्ठु पउत्ता जहा पिसाय पुरिसवसं करेदि**' विद्या सुष्ठु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा पिशाच पुरुषस्य वश्य करोति। '**तह णाणं सुट्ठुवजुत्तं वसं करेदि हिदयपिसायं**'। तथा ज्ञान सुष्ठु प्रयुक्त वश करोति किं ? हृदयपिशाच। चित्तं पिशाचवदयोग्यकारितया ज्ञानं समीचीन असकृत्प्रवर्तमान शुभे शुद्धे वा परिणामे प्रवर्तयति चेतनामिति यावत् ॥७६०॥

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण।
तह हिदयकिण्हसप्पो सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण ॥७६१॥

'**उवसमदि किण्हसप्पो**' उपशाम्यति कृष्णसर्प। '**जह**' यथा। '**मंतेण सुप्पजुत्तेण**' स्वाहाकारान्ता विद्या[3] नि स्वाहाकारो मन्त्रशब्देनोच्यते। मन्त्रेण सुष्ठु प्रयुक्तेन। '**तह**' तथैव। '**हिदयकिण्हसप्पो उवसमदि**' हृदयकृष्णसर्प उपशाम्यति। '**सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण**' सुष्ठु प्रवृत्तेन ज्ञानपरिणामेन। अशुभनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य

नही होता, यह कहते है—मदोन्मत्त चित्तरूपी हाथीके लिए ज्ञान अकुश रूप है।

शङ्का—यहाँ चित्त शब्दसे क्या लिया है ? तत्त्वार्थ सूत्रमे 'सचित्त शीत संवृत' इत्यादि सूत्रमे चित्तसे चैतन्यका ग्रहण किया है। यहाँ भी यदि चैतन्य ही लिया है तो उसका निग्रह कैसा ?

समाधान—जिस प्राणीकी परिणति विपरीत ज्ञान रूप या अशुभ ध्यान और अशुभ लेश्या रूप होतो है उसका निरोध यथार्थ ज्ञानरूप परिणामसे किया जाता है। परिणाम परिणामीको रोकता है जैसे तुम्हे हमारे विरुद्ध परिणाम नही करना चाहिए। अत जैसे मत्त हाथी बन्धन मर्दन आदिके विना वशमे नही होता वैसे ही चित्तरूपी हाथी भी जिस किसी भी अशुभ परिणाम मे प्रवृत्त होता है ॥७५९॥

गा०—जैसे सम्यक् रीतिसे साधी गई विद्या पिशाचको पुरुषके वशमें कर देती है। वैसे ही सम्यक् रूपसे आराधित ज्ञान हृदय रूपी पिशाचको वशमे करता है। अयोग्य काम करनेसे चित्त पिशाचके समान है। बार-बार प्रयुक्त सम्यग्ज्ञान चेतनाको शुभ अथवा शुद्ध परिणाममे प्रवृत्त करता है ॥७६०॥

गा०—जैसे विधिपूर्वक प्रयोग किये गये मंत्रसे कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है। वैसे ही अच्छी तरहसे भावित ज्ञानसे हृदयरूपी कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है। प्रथम गाथा (७५९) से

---

१ ति प्राकृत यस्य निरोध अ०। २. स्मद्वि–अ० मु०। ३. द्या इति स्वा–आ० मु०।

आद्यया गाथयोक्ता । द्वितीयया चित्तस्य स्ववशकारित्वं ज्ञानभावनयोक्तं । अनया तु अशुभपरिणामप्रशान्ति-कारिता ज्ञानभावनया निरूप्यते ॥७६१॥

आरण्णवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए ।
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ॥७६२॥

'**आरण्णवो वि मत्तो हत्थी**' अरण्यचारी मत्तो हस्ती । '**णियमिज्जदे वरत्ताए**' नियम्यते निरुध्यते वरत्रेण यथा । तथा '**मणहत्थी णियमिज्जदे**' मनोहस्ती नियम्यते । '**णाणवरत्ताए**' ज्ञानवरत्रेण । प्राणिना-महितकारितया, दुर्निवारतया च मनो हस्तीवेति मनोहस्तीति भण्यते । ज्ञानमशुभप्रवाहं निरुणद्धि । इत्यनयोच्यते ॥७६२॥

ज्ञानवरत्रानियमितस्य मनसो व्यापार निरूपयत्युत्तरगाथा—

जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु ण सक्केइ ।
तह खणमवि मज्झत्थो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥७६३॥

'**मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदुं ण जहा सक्कदि**' मर्कटकः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकार सन् स्थातु न शक्नोति । '**तहा मणो विसएहिं विणा मज्झत्थो खणमवि ण होदि**' तथा मनो विषयै शब्दादि-विषयनिमित्ता रागादय इह विषयशब्दवाच्या विषयकार्यत्वात् । ततोऽयमर्थ , अत्र रागद्वेषो विना मध्यस्थ मनो भवति । ज्ञानभावनायामसत्या रागद्वेषयोर्वृत्तिरेव मनसो व्यापार इत्यर्थ । एतया ज्ञान मनसो माध्यस्थ करोतीत्याख्यायते । यस्मान्न मनसो माध्यस्थ्यमस्ति सनिहितमनोज्ञामनोज्ञविषयरागद्वेषसहचारितया ॥७६३॥

तम्हा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण ।
रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥७६४॥

ज्ञानको अशुभका निग्रह करनेमे हेतु कहा । दूसरी गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा चित्त अपने वशमे होता है यह कहा । इस गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा अशुभ परिणामोंकी शान्ति होती है यह कहा ॥७६१॥

गा०—जैसे चमडेके कोडेसे जगली भी मस्त हाथी वशमे किया जाता हे । वैसे ही ज्ञान रूपी चर्मदण्डसे मन रूपी हाथी वशमे किया जाता है । प्राणियोका अहितकारी तथा दुर्निवार होनेसे मनको हाथीकी तरह कहा है । ज्ञान अशुभ प्रवाहको रोकता है यह इस गाथासे कहा है ॥७६२॥

आगे ज्ञानरूपी चर्मदण्डसे वशमे किये गये मनका व्यापार कहते है—

गा०—जैसे बन्दर एक क्षण भी निर्विकार होकर ठहर नही सकता, वैसे ही मन एक क्षण भी विषयोके विना नही रहता । यहाँ विषय शब्दसे शब्द आदिके निमित्तसे होने वाले रागादिको लिया है क्योकि वे विषयोसे उत्पन्न होते है । इसलिए ऐसा अर्थ होता है कि रागद्वेषके विना मन मध्यस्थ नही होता है । अर्थात् ज्ञान भावनाके अभावमे रागद्वेषमे प्रवृत्ति करना ही मनका व्यापार है । इस गाथासे कहा है कि ज्ञान मनको मध्यस्थ करता है । निकटवर्ती प्रिय और अप्रिय विषयों-मे रागद्वेष करनेसे मन मध्यस्थ नही होता ॥७६३॥

'**तम्हा**' तस्मात् । '**सो मणमक्कडओ**' मनोमर्कटः । '**उड्डहणो**' इतस्ततः उल्लंघनपरः । '**रामेयव्वो णिच्चं**' सर्वकालं रमयितव्य । क्व '**जिणोवदेसम्मि**' जिनागमे । '**तो**' ततो जिनागमरते । '**सो**' मनोमर्कटः । '**दोस**' रागद्वेषादिक । '**ण काहिदि**' न करिष्यति । '**से**' तस्य ज्ञानाभ्यासकारिण. ॥७६४॥

यस्माज्ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको दोष अशुभपरिणाम न करोति—

तम्हा णाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ।
जह विंधणोवओगो चंदयवेज्झं करंतस्स ॥७६५॥

'**तम्हा णाणुवओगो**' तस्माज्ज्ञानपरिणाम । '**खवगस्स विसेसदो सदा भणिदो**' क्षपकस्य विशेषत सदा निरूपित । '**जह विंधणोवओगो**' यथा व्यधनाभ्यासो विशेषतो भणित । कस्य ? '**चंदयवेज्झं करंतस्स**' चन्द्रकवेध कुर्वत ॥७६५॥

णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥७६६॥

'**णाणपदीओ**' ध्यानप्रदीप । '**पज्जलइ**' प्रज्वलति । यस्य विशुद्धलेश्यस्य हृदये । तस्य ससारावर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्मीति विनाशभय नास्ति । '**जिणदिट्ठमोक्खमग्गे**' जिनदृष्टे श्रुते । रत्नत्रयवृत्तिरपि मोक्षमार्गशब्द इह श्रुतवृत्तिर्ग्राह्य ॥७६६॥

ज्ञानप्रकाशमाहात्म्य कथयति—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ॥७६७॥

'**णाणुज्जोवो**' ज्ञानोद्योत एव द्योतोऽतिशयित । कस्तस्यातिशय इत्यत्र आह—'**णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो**' ज्ञानोद्यतस्य नास्ति प्रतिघात । '**दीवेदि**' प्रकाशयति । '**खेत्तमप्पं**' स्वल्प क्षेत्र । क ? '**सूरो**'

गा०—इसलिये इधर-उधर कूदने वाले मनरूपी बन्दरको जिनागममे सदा लगाना चाहिए। जिनागममे लगे रहनेसे वह मनरूपी बन्दर उस ज्ञानाभ्यास करने वालेमे रागद्वेष उत्पन्न नही कर सकेगा ॥७६४॥

गा०—यत ज्ञानाभ्यास करने पर मनरूपी बन्दर अशुभ परिणामरूप दोष उत्पन्न नही करता। इसलिये क्षपकके लिये सदा ज्ञानोपयोग विशेष रूपसे कहा है। जैसे चन्द्रक यत्रका वेध करने वालेके लिये सदा बीधनेका अभ्यास विशेष रूपसे कहा है ॥७६५॥

गा०—जिस विशुद्ध लेश्या वालेके हृदयमे ज्ञानरूपी दीपक जलता है उसको जिन भगवान्के द्वारा कहे गये आगममें प्रवृत्त रहते हुए 'मै ससारकी भँवरमे गिरकर नष्ट होऊँगा', ऐसा भय नही रहता ॥७६६॥

ज्ञानरूपी प्रकाशका माहात्म्य कहते है—

गा०—ज्ञानरूप प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है, क्योकि ज्ञानरूपी प्रकाशमे रहनेवालेका

---

१. ज्ञानप्र—आ० ।

आदित्यः । **'णाणं जगमसेसं'** ज्ञानं जगदशेषं । **'दोवेदि'** प्रकाशयति । समस्तवस्तुव्यापिज्ञानवदन्य. प्रकाशो नास्तीत्यर्थः ॥७६७॥

णाणं पयासओ सोधओ तवो संजमो य गुत्तियरो ।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥७६८॥

'णाणं पयासगं' ज्ञानं प्रकाशयति **'संसारं'** ससारकारण, **'मुत्ति'** मुक्तिकारण च ॥ **'सोधओ तवो'** निर्जरानिमित्त तप. । **'संजमो य गुत्तियरो'** संयमश्च गुप्तिकर । **'तिण्हंपि'** त्रयाणामपि । **'समाओगे'** संयोगे । **'मोक्खो'** मोक्ष. । **'जिणसासणे दिट्ठो'** जिनशासने दृष्ट ॥७६८॥

णाणं करणविहूणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥७६९॥

णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥७७०॥

'णाणुज्जोएण विणा' ज्ञानोद्योतेन विना । **'जो इच्छदि'** यो वाछति । **'मोक्खमग्गमुवगतु'** चारित्र तपश्च इह मोक्षमार्ग इत्युच्यते चारित्र तपश्चोपगन्तु । **'गतुं कडिल्लमिच्छदि'** गन्तु दुर्गमिच्छति । क ? **'अंधलओ'** अन्ध । **'अंधयारम्मि'** अन्धकारे तमसि । यथा वृक्षतृणगुल्मादिनिचिते प्रदेशे गमन अतिदुष्कर अप्रकाशे सति । तद्वद्धिंसादिपरिहारो जीवनिकायाकुले दुष्कर इति मन्यते ॥७७०॥

जइदा खंडसिलोगेण जमो मरणादु फेडिदो राया ।
पत्तो य सुसामण्णं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥७७१॥

'जइदा खण्डसिलोगेण' यदि तावत्खण्डेन श्लोकस्य । **'जमो राया मरणादो फेडिदो'** यमो राजा मरणा-

---

पतन नही होता। सूर्य तो अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान समस्त जगत्को प्रकाशित करता है। आशय यह है समस्त वस्तुओमे व्याप्त ज्ञानके समान अन्य प्रकाश नही है ॥७६७॥

गा०—ज्ञान ससार, ससारके कारण, मोक्ष और मोक्षके कारणोंको प्रकाशित करता है। तप निर्जराका कारण है। सयम गुप्तिकारक है। इन तीनोके मिलनेपर जिनागममे मोक्ष कहा है ॥७६८॥

गा०—आचरणहीन ज्ञान, श्रद्धानके विना मुनि दीक्षाका ग्रहण और सयमके विना तप जो करता है वह सब निरर्थक करता है ॥७६९॥

गा०—ज्ञानरूप प्रकाशके विना मोक्षमार्गको जो प्राप्त करना चाहता है, यहाँ चारित्र और तपको मोक्षमार्ग कहा है अत. जो ज्ञानके विना चारित्र और तपको प्राप्त करना चाहता है वह अन्धा अन्धकारमे दुर्गपर जाना चाहता है। जैसे प्रकाशके अभावमें वृक्ष, तृण, झाड़ी आदिसे भरे प्रदेशमे जाना अति कठिन है वैसे ही जीवोसे भरे प्रदेशमे हिंसा आदिका बचाव कठिन है ॥७७०॥

दपसारितः । 'पत्तो य सुसामण्णं' प्राप्तश्च शोभनं श्रामण्य । 'किं पुण जिणउत्तसुत्तेण' किं पुनर्जिनोक्तसूत्रेण प्राप्यफले आश्चर्यं । वाच्यमत्राख्यानकं च । तदुक्तं—

[1]भवत्यन्धेनाज्ञेन जीविताथिना यत्किंचिदुक्तं वचनं श्रुत्वा ह्यास्यपरेण राज्ञा भाव्यमान यद्यापदपसारणे निमित्तं विश्ववेदिना वचो भाव्यमान किमभिलषित न प्रापयति ॥ ७७१॥

स्वल्पस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं ददातीत्येवं तत्कथयति—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे ।
उवजुत्तो कालगदो देवो जादो महड्ढओ ॥७७२॥

'**दढसुप्पो सूलहदो**' दृढसूर्पो नाम चौर. शूलमारूढ. । '**पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे उवजुत्तो कालगदो**' पञ्चनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्त सन् कालगत । '**महड्ढिगो देवो जादो**' महर्द्धिको देवो जात. ॥७७२॥

ण य तम्मि देसयाले सव्वो बारसविधो सुदक्खंधो ।
सक्को अणुचिंतेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण ॥७७३॥

'**सव्वो बारसविधो वि सुदक्खंधो तम्मि देसयाले ण य सक्को अणुचितेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण**' सर्वो द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कधस्तस्मिन्मरणे देशे काले च नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितरामपि समर्थचित्तेन । बहुश्रुतस्यापि न ध्यानालम्बनं समस्त श्रुत किं तु किंचिदेव सूत्र । तथा ह्युक्त 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति' [त० सू० ९।४५] ॥७७३॥

एक्कम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ।
गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥७७४॥

गा०-टी०—यदि श्लोकके एक खण्डके पाठसे राजा यम मृत्युसे बचा और शोभनीय मुनिपदको प्राप्त हुआ तो जिनभगवान्के द्वारा प्रतिपादित सूत्रकी स्वाध्यायसे प्राप्त होनेवाले फलमे क्या आश्चर्य है । इस विषयमे हरिषेणकृत वृहत् कथाकोशमें यममुनि की कथा है । कहा भी है—

जीवनके अर्थी अज्ञानी अन्धेके द्वारा कहे गये अनर्गलवचनको सुनकर राजाने हँसीमे उसे ग्रहण किया और वह उसकी आपत्ति दूर करनेमे निमित्त हुआ तो सर्वज्ञके वचनका अभ्यास किस इच्छित वस्तुको नही देता ? अर्थात् सब देता है ॥७७१॥

आगे कहते है कि थोडे से भी शास्त्र की भावना मरते समय महाफल देती है—

गा०—दृढसूर्प नामक चोरको सूली पर चढाया गया तो वह पच नमस्कार मन्त्र-मात्र श्रुतज्ञानमे उपयोग लगाकर मरा अर्थात् पच नमस्कार मंत्र का पाठ करते हुए मरा और मरकर महान् ऋद्धिका धारी देव हुआ ॥७७२॥

गा०—मरते समय बलवान भी सामर्थ्यसम्पन्न मनुष्य समस्त द्वादशांग श्रुत स्कन्धका अनुचिन्तन नहीं कर सकता । बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता भी समस्त श्रुतका ध्यान मरते समय नहीं कर सकता । किन्तु किसी एक का ही ध्यान सम्भव है । कहा भी है—एक विषयमें चिन्ताके निरोध को ध्यान कहते हैं ॥७७३॥

---

१. भवेत्पाथेनाज्ञेन-आ० ।

'तेण एकम्मि वि अम्मि पदे' यस्मिन्नेकस्मिन्नपि पदे युक्तः । **'संवेगं गच्छदि'** रत्नत्रये श्रद्धामुपैति । **'अभिक्ख'** पुन पुन. । **'तं'** तत्पद । **'मरणंते'** शरीराद्वियोगकाले । **'ण मोत्तव्वं'** न मोक्तव्यं । णाणुवओग इत्येतद्व्याख्यातं । णाणं गद ॥७७४॥

पञ्चमहव्वदरक्खा इत्येतद्व्याचिख्यासुराद्यमहिंसाव्रतं पालयेति कथयति—

परिहर छज्जीवणिकायवहं मणवयणकायजोगेहिं ।
जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुत्तो ॥७७५॥

'परिहर छज्जीवणिकायवहं' षण्णा जीवनिकायाना वध मा कृथा मनोवाक्काययोगै प्रत्येक कृत-कारितानुमतविकल्पै । कालप्रमाणमाह—**'जावज्जीवं'** यावज्जीव । सर्वजीवविषयसर्वप्रकारहिंसापरिहार-रूपत्वात् सर्वस्मिन्नेव भवपर्यायकाले प्रवृत्तत्वादहिंसाव्रतस्य महत्ता निवेदिता । **'छज्जीवणिकाय'** इत्यत्र व्यक्तयो जीवनिकायाना परिगृहीता । **'मणवयणकायजोगेहिं कदकारिदाणुमोदेहिं'** ,इत्यनेन हिंसाविकल्पा सगृहीता । **'जावज्जीवमित्यनेन'** निरवशेषमनुजजीवितकालग्रहण । **'उवजुत्तो समिदीसु'** इति शेष उपयुक्त समितिषु समाहितचित्त । इह **वा सावज्जकिरियापरिहारे** इति शेष । मावद्यक्रियापरिहारप्रणिहित-चित्त ॥७७५॥

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं ।
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा ॥७७६॥

'जह ते ण पियं दुःख' यथा तव न प्रिय दु.ख । **'तथेव तेसिं पि जीवाणं दुःखं न पियंत्ति'** तथैव तेषामपि जीवाना न दु ख प्रियमिति । **'जाण'** जानीहि । **'एवं णच्चा'** एव ज्ञात्वा । **अप्पोवमिवो** आत्मो-पमान । **'सदा होहि जीवेसु'** सदा भव जीवेसु । परजीवदु खाप्रियो भवेति यावत् ॥७७६॥

गा०—अत जिस एक भी पदमें मन लगानेसे मनुष्यमें रत्नत्रयके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है उस पदको बार-बार विचारना चाहिये और मरते समय भी नही छोडना चाहिये ॥७७४॥

'पच महाव्रत रक्षा' का व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार अहिंसाव्रतके पालनका कथन करते हैं—

गा०-टी०—मन वचन काय और उनमे से प्रत्येकके कृत कारित और अनुमत भेदोके साथ छह कायके जीवो की हिंसा जीवन पर्यन्त मत करो । क्योकि सब जीवोकी सब प्रकारकी हिंसाका त्याग अहिंसा महाव्रत है सभी भवोमे इसका पालन करना, आवश्यक है । इससे अहिंसाव्रतकी महत्ता सूचित की है । 'छह जीव निकाय' पदसे जीव निकायोके सब जीवोका ग्रहण किया है । मन वचन काय और कृत कारित, अनुमोदनासे हिंसाके भेदोका ग्रहण किया है अर्थात् हिंसा नौ प्रकार से होती है, 'यावज्जीवन' पदसे मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन काल ग्रहण किया है । 'उपयुक्त' पदसे समितियो मे सावधान चित्त व्यक्तिका ग्रहण किया है । जो व्यक्ति सावद्य कार्यों के परिहारमें दत्त-चित्त है वही जीवन पर्यन्त छह काय के सब जीवोंकी मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से हिंसा नही करता ॥७७५॥

गा०—जैसे तुझे दुःख प्रिय नही है वैसे ही उन जीवोंको भी दुःख प्रिय नही है । ऐसा जानकर अपनी ही तरह सदा जीवोंमें व्यवहार करो अर्थात् किसी को दुःख मत दो ॥७७६॥

**तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि जीवाण घादणं किच्चा ।
पडियारं कादुं जे मा तं चिंतेसु लभसु सदिं ॥७७७॥**

'तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि' तृषा, क्षुधा, रोगेण, शीतेन, आतपेन बाधितोऽपि सन् । **'जीवाणं घादणं किच्चा'** जीवानामुपघातं कृत्वा । **'पडिगारं कादुं जे'** तृडादीनां प्रतिकारं कर्तुं । **'तं मा चिंतेहि'** मा कार्षीश्चित्त । **'लभसु सदिं'** लभस्व स्मृतिं । पिबामि हिमशीतलं जलं कर्पूरक्षोदवासितं । अगाधं वा सरः सुरभितरोत्पलरजोवगुंठितं प्रविश्य मदान्धसिन्धुर इव निमज्जनोन्मज्जने करोमि । ललाटे, शिरसि, पृथुले चोरस्थले करकप्रकरनिपातो यदि स्याद्भद्रं भवेत् । कल्हारमिकताधिकपल्लवशयनादिलाभे वा जीवामि इति वा । आतपति वा दिवानिशं तर्षः । अपसारिततीक्ष्णकरकरनिकुरुम्बमिति व्यजनतालवृन्तसमुपनीतशीतमारुतापातेन श्रममशेषमपाकुर्वन्तु भवन्तः । हिमानी पततु । वान्तु वा मातरिश्वान इति वा । आज्यपक्वानपूपान्सुरभिघृताद्रान् भक्षयामीति । सम्यक् क्वथितं क्षीरं शर्करामिश्रं सुखोष्णं पिबामीति वा । धगधगायमानं खादिरमग्निं कुरुत । शीतेन स्फुटन्ति ममाङ्गानि इत्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः । असद्वेद्योदयाशनौ महति निपतति, को नु तस्य प्रतीकारः ? तदुपशमकालभाविन एव बाह्यद्रव्यसपाद्या प्रतीकारा इति मनो निधेहि ॥७७७॥

**रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि ।
भोगपरिभोगहेदुं मा हु विचिंतेहि जीववहं ॥७७८॥**

'रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तोऽवि' । शब्दादिविषया प्रीती रतिः । अमनोज्ञविषयसन्निधाने या विमुखता सा अरतिः । हास्यकर्मोदयनिमित्त परिणामो हर्षः । भय, उत्सुकता, दीनतेत्येवमादिभिर्युक्तोऽपि । **'भोगपरिभोगहेदु'** भोगोपभोगार्थं वा जीववधं मा कृथा मनसि ॥७७८॥

गा०-टी०—भूख, प्यास, रोग, शीत अथवा आतपसे पीडित होने पर भी जीवोका घात करके प्यास आदिका प्रतीकार करनेका विचार मत करो । मै कपूरके चूर्णसे सुवासित तथा बर्फसे शीतल जलका पान करूँ ? अथवा अति सुगन्धित कमलकी रजसे व्याप्त गहरे तालावमे घुसकर मदोन्मत्त हाथी की तरह डुबकियाँ लूँ । मस्तक, सिर और विशाल छाती पर यदि ओलोकी वर्षा हो तो उत्तम हो । अथवा यदि कमल बालु और कोमल पल्लवो आदिकी शय्या मिले तो मै जीवित रह सकूँ । रात दिन प्यास सताती है । सूर्यकी किरणेके समूह को दूर करके पखेकी शीतल वायु से मेरी सब थकान आप दूर करे । बर्फ गिरे । शीतल पवन बहे । सुगन्धित घीमे अगार पर पके पुओ को खाऊँगा । अथवा सम्यक् रूपसे उबाले गये और शक्कर मिलाये तथा सुखकर उष्णता को लिये दूधको पीऊँ । खैरकी लकडीकी धक् धक् करतो हुई आग जलाओ, मेरे अग ठडसे ठिठुर रहे हैं । इस प्रकारका प्रतिकार मनमे नही लाना चाहिये । यह उक्त कथनका आशय है । महान् असाता वेदनीय रूप वज्रपात होने पर उसका क्या प्रतीकार हो सकता है ? उसका उपशमन काल आने पर ही बाह्य द्रव्योंके द्वारा प्रतीकार सभव है, ऐसा मनमें विचार होना चाहिये ॥७७७॥

गा०-टी०—शब्द आदि विषयोंमें प्रीतिको रति कहते हैं । अप्रिय विषयोके प्राप्त होनेपर उनसे विमुख होनेको अरति कहते है । हास्यकर्मके उदयके निमित्तसे जो भाव होता है उसे हर्ष कहते है ।

---

१ दयः स नो महानिति—आ० मु० ।

महुकरिसमज्जियमहुं व संजमं थोवथोवसंगलियं ।
तेलोक्कसव्वसारं णो वा पूरेहि मा जहसु ॥७७९॥

'**महुकरिसमज्जियमहुं व**' मधुकरीभिः समर्जितं मध्विव । '**संजमं**' चारित्रं । '**थोवथोवसंगलिवं**' स्तोक-स्तोकेनोपचितं । '**तेलोक्कसव्वसारं**' त्रैलोक्यस्य सर्वसार विष्टपत्रये यदतिशयवत् स्थानं, मान, ऐश्वर्यं सुखं वा तस्य कारणत्वात् त्रैलोक्यसर्वसारं । '**मा जहसु**' मा त्याक्षी ॥७७९॥

दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणाचरित्तं ।
दुक्खज्जियसामण्णं मा जहसु तणं व अगणंतो ॥७८०॥

'**दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणचरित्तं**' दुःखेन लभते मनुष्यजन्म जंतु । सूत्रे यद्यपि मणुस्सजादिशब्द सामान्यवाच्युपात्तस्तथापि विशेष[1]मत्रासौ वदति इति ग्राह्य । मनुजा हि चतु प्रकारा.—

> **कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा ।**
> **अंतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्मूर्छिमा इति ॥**
> **असिर्मषिः कृषिः शिल्पं वाणिज्यं व्यवहारिता ।**
> **इति यत्र प्रवर्तंते नृणामाजीवयोनयः ॥**
> **प्रपाल्यसंयमं यत्र तपःकर्मपरा नराः ।**
> **सुरसंग[2]तीव सिद्धिं प्रयांति हतशत्रव ॥**
> **एताः कर्मभुवो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता दश पञ्च च ।**
> **यत्र संभूय पर्याप्तिं यान्ति ते कर्मभूमिजाः ॥**
> **मद्यतूर्याम्बराहारपात्राभरणमाल्यदैः ।**

इन रति, अरति, हर्ष, भय, उत्सुकता, दीनता आदि भावोसे युक्त होने पर भी अपने भोग अथवा उपभोगके लिये मनमे जीव हिंसाका विचार मत करो ॥७७८॥

गा०—मधु-मक्खियाँ जिस प्रकार थोडा-थोडा करके मधुका सचय करती है उसी प्रकार थोडा-थोडा करके संचित किया गया सयम तीनो लोकोमे जो सातिशय स्थान मान ऐश्वर्य अथवा सुख है उस सबका कारण होनेसे सारभूत है । उसे यदि पूर्ण नही कर सकते तो उसका त्याग तो मत करो ॥७७९॥

गा०-टी०—प्राणी बड़े दु खसे मनुष्य जन्म पाता है । गाथामे यद्यपि मनुष्य जाति शब्द सामान्य वाची है तथापि यह विशेष मनुष्यको कहता है, ऐसा अर्थ लेना चाहिये । मनुष्य चार प्रकारके होते हैं—कर्म भूमिमें उत्पन्न हुए, भोग भूमिमे उत्पन्न हुए, अन्तर्द्वीपोमे उत्पन्न हुए तथा सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुए । जहाँ मनुष्य असि, मषि, कृषि, शिल्प, व्यापार और सेवाके द्वारा जीवन यापन करते हैं, तथा जहाँ मनुष्य संयमका पालन करके तपस्यामे तत्पर होकर देवगति प्राप्त करते हैं अथवा कर्म शत्रुओंको मारकर मोक्ष जाते हैं वे कर्मभूमियाँ है । वे कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं । उनमे जन्म लेकर वे कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करते हैं । और

१ षमवसादयति इति आ० ।—षमवसाययति इति मु० ।
२. संगतिवत् सि–आ० ।—संगति वा सि–मु० ।

गृहदीपज्योतिषाख्यैस्तरुभिस्तत्र जीविका: ॥
पुरग्रामादयो यत्र न निवेशा न चाधिपा. ।
न कुल कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थितिः ॥
यत्र नार्यो नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुजाः ।
रमन्ते पूर्वपुण्यानां प्राप्नुवन्तः परं फल ॥
यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिवं यान्ति मृता अपि ।
ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः ॥
अभाषका एकोरुका लाङ्गूलिकविषाणिकाः ।
आदर्शमुखहस्त्यश्वविद्युदुल्कमुखा अपि ॥
हयकर्णा गजकर्णाः कर्णप्रावरणास्तथा ।
इत्येवमादयो ज्ञेया अन्तरद्वीपजा नराः ॥
समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलाशिनः ।
वेदयन्ते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिताः ॥
कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्भूरिभूभुजां ।
स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्रावोच्चारभूमिषु ॥
शुक्रसिंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च ।
अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्यःसम्मूर्च्छनेन ये ॥
भूत्वाङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्रशरीरकाः ।
आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्च्छिमा नराः ॥

एतेषु कर्मभूमिजमानवाना एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतरेषां इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । लब्धेऽपि

जहाँ मनुष्य मद्य, तूर्य, वस्त्र, आहार, पात्र, आभरण, माला, घर, दीप और ज्योति प्रदान करने वाले दस प्रकारके कल्प वृक्षोसे जीवन यापन करते है, जहाँ पुर ग्राम आदि नही होते, न राजा होते हैं न कुल, न कर्म और न शिल्प होता है, न वर्ण और आश्रमका चलन होता है, जहाँ स्त्री और पुरुष निरोग रहकर पति पत्नी की तरह रमण करते हुए पूर्व जन्ममे किये पुण्य कर्मका फल भोगते है, और जो स्वभावसे ही भद्र होनेके कारण मरकर भी स्वर्गमे जाते है वे भोगभूमियाँ कही हैं। उनमे जन्म लेने वाले मनुष्य भोगभूमिज होते है। अभाषका—जो भाषा नही जानते-मूक रहते है, एकोरुका—जिनके एक पैर होता है, लागूलिका जिनके पूँछ होती है, विषाणिका—जिनके सीग होते है, आदर्शमुखा—जिनका मुख दर्पण की तरह होता है, हस्तिमुखा—हाथी की तरह मुख वाले, अश्वमुख—घोडेकी तरह मुखवाले, विद्युन्मुख, बिजलीकी तरह मुखवाले, उल्का-मुख, हयकर्ण—घोडेकी तरह कानवाले, गजकर्ण—हाथीकी तरह कान वाले, कर्ण प्रावरण—कान ही जिनका आवरण है, इत्यादि अन्तर्द्वीपज मनुष्य होते है। ये समुद्रके द्वीपोके मध्यमे रहते है, कन्दमूल फल खाते है, तथा हिरनोकी तरह चेष्टा करते हुए मनुष्यायु भोगते हैं। कर्म भूमियोमे चक्रवर्ती, बलदेव, राजाओंकी सेनाके पड़ावोमे मलमूत्र त्यागनेके स्थानोमें, वीर्य, नाकके मल, कफ, कान और दाँतोंके मलमे और अत्यन्त गन्दे प्रदेशोमे शीघ्र ही सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होकर तत्काल ही अपर्याप्त दशामे मरणको प्राप्त होनेवाले सम्मूर्छन मनुष्य होते है। उनका शरीर अगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। इन चार प्रकारके मनुष्योंमेसे कर्मभूमि मनुष्योंमें ही रत्नत्रय

तस्मिन् ज्ञानावरणोदयाद्धिताहितपरीक्षायां समर्था **बुद्धिर्न सुलभा**। तया विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव दृष्टिरहितमिवायतं लोचनं, द्रविणसंपदं विना कुलीनत्वमिव, सुभगतामन्तरेण रूपमिव, यथार्थतारहितं वचनमिव, सत्यामपि मतौ यदि नाप्तानां वचः श्रृणुयात् सापि विफलैव सरोजरहिता सरसीव। इहापि **श्रवणं** आप्तवचनगोचरमेव गृहीतं, श्रवणमपि श्रद्धानरहितं सुलभमेव। इदं यथा येन प्रतिपादितं **तथैवेति श्रद्धानं** दुर्लभं **दर्शनमोहोदयात्**। सत्यपि श्रद्धाने चारित्रमोहोदयात् ज्ञातेऽभिरुचिते मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा। एवं '**दुरवज्जिदसामण्णं**' दुःखेनार्जितश्रामण्यं। **मा जहसु** मा त्याक्षीः। '**तणं व अगणिंतो**' तृणमिव अगणयन् ॥७८०॥

जीवघातदोषमाहात्म्यं कथयति गाथाद्वयेन—

तेलोक्कजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहिं।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८१॥
जं एवं तेलोक्कं णग्घदि सव्वस्स जीविदं तम्हा।
जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोक्कघादसमो ॥७८२॥

त्रैलोक्यजीवितयारेकं गृहाणेति देवैश्चोदितः कस्त्रैलोक्यं वृणीते [1]स्वजीवितं त्यक्त्वा, जीवनमेव ग्रहीतुं वाञ्छति। यस्मादेवं त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघातो। जीवस्य [जीवितस्य] जीवादन्यत्रावृत्ते[2]र्जीवस्येहवचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सम्बन्धात्। जीवस्य हतुस्त्रैलोक्यघातसमो महान्दोषो भवतीति यावत् ॥७८१॥

रूप परिणामो की योग्यता होती है, शेष तीन मे नही होती। इसलिये यहाँ उसी मनुष्य जन्मका ग्रहण होता है। उस मनुष्य जन्मको प्राप्त करके भी ज्ञानावरण कर्मके उदयमे हित अहितका विचार करनेमे समर्थ बुद्धि सुलभ नही है। उसके विना प्राप्त भी मनुष्य जन्म उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे देखनेकी शक्तिसे रहित लम्बी आँखे, धन सम्पत्तिके बिना कुलीनता, सौभाग्यके बिना रूप, और यथार्थतासे रहित वचन व्यर्थ है। बुद्धिके होनेपर भी यदि आप्त पुरुषोका वचन न सुने तो वह बुद्धि भी कमलोसे रहित सरोवरकी तरह निष्फल ही है। यहाँ श्रवण भी आप्तके वचन विषयक ही ग्रहण किया है। श्रद्धान रहित सुनना भी सुलभ ही है। 'जिसने जैसा कहा है वैसा ही है' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शन मोहके उदयमे दुर्लभ है। श्रद्धान होने पर भी चारित्र मोहके उदयसे जाने हुए और रुचने वाले मार्गमे प्रवृत्ति दुर्लभ है। इस प्रकार बडे कष्टसे प्राप्त मुनिधर्मको तृणकी तरह मानकर त्यागना नही ॥७८०॥

टी०—आगे दो गाथाओसे जीवघातसे हुए दोषका महत्त्व बतलाते है—

गा०—तीनो लोक और जीवनमेसे एकको स्वीकार करो ? ऐसा देवोंके द्वारा कहे जानेपर कौन प्राणी अपना जीवन त्यागकर तीनो लोकोंको ग्रहण करेगा ? अतः इस प्रकार सब प्राणियोके जीवनका मूल्य तीनो लोक है अतः जीवका घात करनेवालोको तीनो लोकोका घात करनेके समान दोष होता है।

शङ्का—जीवितपना जीवको छोडकर अन्यत्र नही रहता अतः 'जीवस्स' यह वचन व्यर्थ है ?

समाधान—गाथामे आये जीवस्सका सम्बन्ध आगेके कथनसे है—जीवके घातकको तीनो लोकोके घातके समान दोष होता है ॥७८१-७८२॥

१ तं जीवस्य जी–मु०। २ स्यैव व–अ०।

अहिंसाव्रतमहत्ता निवेदयन्ति—

णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि ।
जह जह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥७८३॥

'णत्थि अणूदो अप्प' नास्त्यणोरल्प अन्यत्किचिद्द्रव्य । **'आयासादो अणूणय णत्थि'** । आकाशाद्वा अन्यन्महन्नास्ति यथा तथान्यद्व्रत अहिंसातो महन्नास्ति ॥७८३॥

जह पव्वदेसु मेरू उच्चावो होइ सव्वलोयम्मि ।
तह जाणसु उच्चायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा ॥७८४॥

'जह पव्वदेसु' सर्वस्मिल्लोके पर्वतेभ्यो मेरुर्यथाच्चैस्तथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि ॥७८४॥

व्रताना, शीलाना, गुणाना च अधिष्ठानमहिंसेति वदन्ति—

सव्वो हि जहायासे लोगो भूमीए सव्वदीउदधी ।
तह जाण अहिंसाए वदगुणसीलाणि तिट्ठंति ॥७८५॥

यथा सर्वलोक ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विकल्प आकाशाधिकरण । भूमौ च समवस्थिता सर्वे द्वीपा उदधयश्च । तथैव **'जाण'** जानीहि । व्रतगुणशीलान्यहिंसाया तिष्ठन्ति इति ॥७८५॥

कुव्वतस्स वि जत्तं तुबेण विणा ण ठंति जह अरया ।
अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चक्कस्स ॥७८६॥

'कुव्वंतस्स वि जत्तं' यत्न कुर्वतोऽपि । तुम्बमन्तरेण यथा न तिष्ठन्त्यराणि । अरैर्विना नेम्यवस्थान चक्रस्य यथा नास्ति ॥७८६॥

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सव्वाणि ।
तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥७८७॥

'तह जाण' तथैव जानीहि । अहिंसा विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति इति । अहिंसाया एव रक्षार्थं शीलानि वृतिरिव सस्यस्य ॥७८७॥

गा०—जैसे अणुसे छोटा कोई अन्य द्रव्य नही है और आकाशसे बडा कोई नही है वैसे ही अहिंसासे महान् कोई अन्य व्रत नही है ॥७८३॥

गा०—जैसे सब लोकमे मेरु सब पर्वतोसे ऊँचा है वैसे ही शीलो और व्रतोमे अहिंसा सबसे ऊँची है ॥७८४॥

अहिंसा व्रतो शीलो और गुणोका अधिष्ठान है, ऐसा कहते हैं—

गा०—जैसे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके भेदसे सब लोक आकाशके आधार है और सब द्वीप और समुद्र भूमिके आधार है वैसे ही व्रत गुण और शील अहिंसाके आधार रहते हैं ॥७८५॥

गा०—लाख प्रयत्न करनेपर भी जैसे चक्रेके आरे तुम्बीके विना नही ठहरते और आरोके विना नेमि नही ठहरती, वैसे ही अहिंसाके विना सब शील नही ठहरते । उसीकी रक्षाके लिए शील हैं जैसे धान्यकी रक्षाके लिए बाड होती है ॥७८६–७८७॥

अहिंसाव्रतमन्तरेणेतरेषां नैष्फल्यमाचष्टे—

शीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति ॥७८८॥

शीलादीनि हि संवरनिर्जरा चोद्दिश्यानुष्ठीयन्ते । हिंसायां तु सत्यां न स्तः फलभूते संवरनिर्जरे मुक्त्युपायभूते इति निष्फलता मन्यते ॥७८८॥

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥७८९॥

'सव्वेसिमासमाणं' सर्वेषामाश्रमाणां हृदयं शास्त्राणां गर्भः । सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिण्डीभूतसारो भवत्यहिंसा ॥७८९॥

जम्हा असच्चवयणादिएहिं दुक्खं परस्स होदित्ति ।
तप्परिहारो तम्हा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥७९०॥

'जम्हा असच्चवयणादिगेहिं' यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मैथुनेन, परिग्रहेण च परस्य दुःखं भवति । तस्मात्तेषां असत्यवचनादीनां परिहार इति सर्वेऽपि अहिंसाया गुणाः ।

गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति जदि हवे परमधम्मो ।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥७९१॥

'गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति' गवां, ब्राह्मणानां, स्त्रीणां च वधमात्रनिवृत्तिर्यदि भवेदुत्कृष्टो धर्मः परमो धर्मः कथं न भवति या सर्वजीवदया ॥७९१॥

हिंसानिवृत्तिं उपायेन कारयन्ति कृतापकारानपि बान्धवान्स्नेहान्न मारयितुमीहते जनः । [1]तवपुरस-

---

अहिंसाव्रतके विना शील आदिकी निष्फलता बतलाते है—

गा०—जीवोकी हिंसा करनेवालेके शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निःसगता और विषय सुखका त्याग ये सभी ही निरर्थक होते है ॥७८८॥

विशेषार्थ—शील आदि संवर और निर्जराके उद्देशसे किये जाते हैं। हिंसाके होते हुए मुक्तिके उपायभूत संवर निर्जरारूप फल नही होते। इसलिए निष्फल कहा है ॥७८८॥

गा०—सब आश्रमोका हृदय, सब शास्त्रोका गर्भ और सब व्रतो और गुणोका पिण्डीभूत सार अहिंसा ही है ॥७८९॥

गा०—यतः असत्य बोलनेसे, बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे, मैथुनसे, और परिग्रहसे दूसरों-को दुःख होता है। इसलिए उन सबका त्याग किया जाता है। अतः वे सब सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अहिंसाके ही गुण हैं ॥७९०॥

गा०—यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्रियोके वधमात्रसे निवृत्ति उत्कृष्ट धर्म है तो सब प्राणियों-पर दया परमधर्म क्यो नही है ? ॥७९१॥

लोग सावधानीपूर्वक हिंसासे बचते है। अपकार करनेवाले भी बन्धु-बान्धवोंको स्नेहवश

---

१ तव पुरस्साउवर स-आ० ।

कुज्जन्मान्तरे पितृपुत्रादिभावमुपागतानां मारणमयुक्तं इति वदति—

सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहिं ।
तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥७९२॥

'सव्वे वि य' सर्वेऽपि च । **'संबंधा'** सम्बन्धा प्राप्ता । **'सव्वेण'** सर्वेण जीवेन । **'सव्वजीवेहिं'** सर्व जीवै । **'तो'** तस्मात् । जीवो मारणोद्यत सम्बन्धिन एव घातयति ॥७९२॥

तच्च सम्बन्धिहनन लोके अतिनिन्दित—

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ।
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥७९३॥

'जीववहो अप्पवहो' जीवाना घात आत्मघात एव । जीवाना क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । सकृदेकजीवघातनोद्यत स्वयमनेकेषु जन्मसु मार्यते । कृतैकजीवदयोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परै रक्ष्यते । इति विषलिप्तकण्टकवत् परिहार्या हिंसा दु खभीरुणा ॥७९३॥

हिंसादोषमिहैव जन्मनि दर्शयति—

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं ।
संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारिंतए जंति ॥७९४॥

'मारणसीलो हु' मारणशील परहननोद्यत । राक्षस इव जीवानामुद्वेग करोति । सम्बन्धिनोऽपि न विस्रम्भं उपयान्ति तस्मिन्वधके ॥७९४॥

वधबंधरोधधणहरणजादणाओ य वेरमिह चेव ।
णिव्विसयमभोजित्तं जीवे मारंतगो लभदि ॥७९५॥

मारना नही चाहते । तब पूर्व नाना जन्मोंमें पिता पुत्र आदि सम्बन्ध जिनके साथ रहा है, उन जीवोको मारना अनुचित है, यह कहते हैं—

गा०—सब जीवोंके साथ सब जीवोंके सब प्रकारके सम्बन्ध पूर्वभवोंमे रहे हैं। अत उनको मारनेवाला अपने सम्बन्धीको ही मारता है और सम्बन्धीको मारना लोकमे अत्यन्त निन्दित माना जाता है ॥७९२॥

गा०-टी०—जीवोंका घात अपना ही घात है। और जीवोंपर की गई दया अपनेपर ही की गई दया है। जो एक बार एक जीवका घात करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमे मारा जाता है। और जो एक जीवपर दया करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें दूसरे जीवोंके द्वारा रक्षा किया जाता है। इसलिए दु खसे डरनेवाले मनुष्यको विषैले काँटेकी तरह हिंसासे बचना चाहिए ॥७९३॥

इसी जन्ममे हिंसाके दोष दिखलाते हैं—

गा०—जो दूसरोंका घात करनेमे तत्पर होता है उससे प्राणी वैसे ही डरते हैं जैसे राक्षससे। उस हिंसकका विश्वास सम्बन्धीजन भी नहीं करते ॥७९४॥

[1]'वध बन्ध उत्कोटकादिकं वध बन्धं मारण। रोधन, धनहरण। यातनाश्च वैर विषयाद्दाडन अभो-ज्यतां च रोषाद्ब्राह्मणादिहननात्। 'मारेंतगो' हन्ता। 'लभदि' लभते ॥७९५॥

रुट्ठो परं वधित्ता सयंपि कालेण मरइ जंतेण।
हदघादयाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं कालं ॥७९६॥

[2]'रुट्ठो पर वधित्ता'—रुष्ट पर वधित्वा। स्वयमपि कालेन जन्तेण-गच्छता कालेन। मरदि—मृतिमुपैति। 'हदघादगाणं'-हतस्य घातकस्य च। णत्थि विसेसो—नास्ति विशेष। तं कालं मुत्तूण-तं कालं मुक्त्वा। पूर्वमसौ मृत पश्चात्स्वयमिति ॥७९६॥

अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य।
दुम्मेहवण्णरसगंधदा य से होइ परलोए ॥७९७॥

'अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य' अल्पजीवितरोगिता विरूपता, विकलेन्द्रियता दुर्बलता। 'दुम्मेघवण्णरसगंधदा य' दुर्मेधता, दुर्वर्णता, दूरसदुर्गन्धिता च। 'से' तस्य। 'होदि' भवति। 'परलोए' जन्मान्तरे ॥७९७॥

मारेदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु।
अवसो मारिज्जंतो मरदि विघाणेहिं बहुएहिं ॥७९८॥

'मारेदि' हन्ति। 'एगमवि' एकमपि। 'जो जीवं' यो जीव। 'सो' स। 'बहुसु जम्मकोडीसु' बह्वीषु जन्मकोटीषु। 'अवसो मरदि मारिज्जतो' परवशो मरति मार्यमाणो। 'विघाणेहिं बहुगेहिं' बहुभि प्रकारै-र्मार्यमाण ॥७९८॥

जावइयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं।
सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥७९९॥

गा०—मारनेवाला इसी जन्ममे वध, बन्ध मारण, धनहरण, अनेक यातनाएँ, बैर, देश निष्कासन तथा क्रोधमे आकर ब्राह्मण आदिकी हत्या करनेपर जातिबहिष्कारका दण्ड पाता है ॥७९५॥

गा०—क्रोधी मनुष्य दूसरेको मारकर समय आनेपर स्वय भी मर जाता है। अत मरने-वाले और मारनेवालेमे कालके सिवाय अन्य भेद नही है। पहले वह जिसे मारता है वह मरता है और पीछे स्वय भी मरता है ॥७९६॥

गा०—हिंसक परलोक अर्थात् जन्मान्तरमे अल्पायु, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय, दुर्बल, मूर्ख, बुरेरूप, बुरेरस और दुर्गन्धयुक्त होता है ॥७९७॥

गा०—जो एक भी जीवको मारता है वह करोडो जन्मोमे परवश होकर अनेक प्रकारसे मारा जाकर मरता है ॥७९८॥

१ वध मारण, बध बन्धन, रोध उत्कटादिक, रोधन धनहरण रिक्थोद्दालन यातनाश्च कदर्थनानि वैर–आ० मु०। २ 'क्रुद्धो पर वधित्ता' क्रुद्ध सन् परमन्य बधित्वा स्वयमपि गच्छता कालेन म्रियते हतघात-कयोर्नास्ति विशेष –आ० मु०।

'जावदियाइं' यावन्ति। **'दुक्खाइं'** दुःखानि। **'हुंति'** भवन्ति। **'चदुगदिगदाइं'** गतिचतुष्टयगतानि। **'सव्वाणि ताणि'** **हिंसाफलाणि'** सर्वाणि तानि हिंसाफलानि। **'जीवस्स जाणाहि'** जीवस्येति जानीहि ॥७९९॥

का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरूप्यन्ते इत्याचष्टे—

हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु।
तम्हा पमत्तजोगो पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥८००॥

'हिंसादो अविरमणं' हिंसातोऽविरतिर्हिंसेति सम्बन्धनीय। प्राणान् प्राणिनो[1] न व्यपरोपयामीति सकल्पाकरण हिंसा इत्यर्थ। **'वधपरिणामो वा'** हन्मीति एव परिणामो वा हिंसा। **'तम्हा'** तस्मात्। **'पमत्तयोगो'** प्रमत्तता सम्बन्ध। **पाणव्ववरोवओ** प्राणानपनयति। **'णिच्चं'** नित्य। विकथा, कषाय इत्येवमादय. पञ्चदशपरिणामा आत्मनो भावप्राणाना परस्य च द्रव्यभावप्राणाना वियोजका इति हिंसेत्युच्यते। तथा चोक्तम्—

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पयुंजदि पओगं।
हिंसा वि तत्थ जायदि तम्हा सो हिंसगो होइ॥ [ ]

रक्तो द्विष्टो मूढो वा सन् यं प्रयोग प्रारभते तस्मिन्हिंसा जायते। न प्राणिन. प्राणाना वियोजनमात्रेण। आत्मनि रागादीनामनुत्पादक सोऽभिधीयते अहिंसक इति। यस्माद्रागाद्युत्पत्तिरेव हिंसा। न हि जीवान्तरगतदेशतया अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा, तदभावकृता वा अहिंसा, किन्तु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव अहिंसा। प्रमादपरिणत आत्मैव हिंसा अप्रमत्त एव च अहिंसा। उक्त च—

अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो॥ [ ]

गा०—इस लोकमे चारो गतियोमे जितने दुःख होते है वे सब उस जीवकी हिंसाके फल जानो ॥७९९॥

जिसके ये दोष कहे है वह हिंसा किसे कहते है, यह बतलाते है—

गा०-टी०—हिंसासे विरत न होना हिंसा है। अर्थात् 'मै प्राणीके प्राणोका घात नही करूँगा' ऐसा सकल्प न करना हिंसा है। अथवा 'मै मारूँ' ऐसा परिणाम हिंसा है। इसलिए प्रमादीपना नित्य प्राणोका घातक है। अर्थात् विकथा कषाय इत्यादि पन्द्रह प्रमादरूप परिणाम अपने भाव प्राणोके और दूसरेके द्रव्यप्राण तथा भावप्राणोके घातक होनेसे हिंसा कहे जाते है। कहा भी है—

रागी, द्वेषी और मोही होकर जो कार्य करता है उसमे हिसा होती है। प्राणियोके प्राणोका घात हो जाने मात्रसे हिसा नही होती। जो अपने रागादि भावोको नही करता, उसे अहिंसक कहते है, क्योंकि रागादिकी उत्पत्ति ही हिंसा है। अन्य जीवके किसी प्राणके घातकी अपेक्षा हिंसा और उसका घात न होना अहिंसा नही है। किन्तु आत्मा ही हिंसा और आत्मा ही अहिंसा है। प्रमादभावसे युक्त आत्मा ही हिंसा है और अप्रमादी आत्मा ही अहिंसा है। कहा है—

निश्चयसे आगममे आत्माको ही अहिसा और आत्माको ही हिंसा कहा है। जो अप्रमादी आत्मा है वह अहिंसक है और जो प्रमादभावसे युक्त है वह हिंसा है।

---

१ नो व्यपरोपयामीति संकल्पक–आ० मु०।

जीवपरिणामायत्तो बन्धो जीवो मृतिमुपैतु नोपेयाद्वा । तथा चाभाणि—

¹अज्झवसिदेण बधो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ।। [–समय० २६२]

जीवास्तदीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थानं योनिसंज्ञितं यो च वरांवगो वेत्ति तत्सम्भवकालं तत्पीडा-परिहारेच्छु²रशठस्तपःक्रियाया लोभसत्काराद्यनपेक्ष्य प्रवृत्तो भवत्यहिंसकः । उक्तं च--

णाणी कम्मस्स खयत्थमुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए ।
अददि असढो हि यत्थं अप्पमत्तो अवधगो सो ।। [ ]

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मनः स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण बन्धः स्यान्न कस्य-चिन्मुक्तिः स्यात् । योगिनामपि वायुकायिकवधनिमित्तबन्धसद्भावात् । अभाणि च—

जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरंगवत्थुजोगेण ।
णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु ।। [ ]

तस्मान्निश्चयनयाश्रये ण प्राण्यन्तरप्राणवियोगापेक्षा हिंसा ।।८००।।

हिंसागतक्रियाभेदान्निरूपयति—

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ।
एदे पंचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ ।।८०१।।

जीव मरे या न मरे, जीवके परिणामोके अधीन बन्ध होता है कहा है—

जीव मरे या न मरे हिंसायुक्त परिणामसे बन्ध होता है। निश्चयनयसे यह जीवके बन्धका सार है।

जीव, उनके शरीर, शरीर ग्रहण करनेके स्थान जिसे योनि कहते है, उनका उत्पत्तिकाल, इन सबको जो जानता है और उनकी पीडाको दूर करना चाहता है तथा लोभ सन्मान आदिकी अपेक्षा न करके मायाचार रहित तपमे लीन है वह अहिंसक है। कहा है—

ज्ञानी कर्मके क्षयके लिए उद्यत होता है, हिंसाके लिए उद्यत नही होता। वह मायाचारसे रहित होता है। अतः अप्रमत्त होनेसे वह अहिंसक है। शुभपरिणामसे युक्त आत्माके भी यदि अपने शरीरके निमित्तसे अन्य प्राणियोके प्राणोका घात हो जानेमात्रसे बन्ध हो तो किसीकी मुक्ति ही न हो। क्योंकि योगियोंके भी वायुकायिक जीवोके घातके निमित्तसे बन्धका प्रसंग आता है वे भी श्वास लेते हैं और उससे वायुकायिक जीवोंका घात होता है। कहा है—

यदि बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धसे शुद्धपरिणामवाले जीवके भी बन्ध होता हो तो कोई अहिंसक हो ही नहीं सकता, क्योंकि शुद्धपरिणामीके श्वाससे वायुकायिक जीवोंका बध होता है।

इसलिए निश्चयनयकी दृष्टिसे दूसरे प्राणियोके प्राणोके घातकी अपेक्षामात्रसे हिंसा नही होती ।।८००।।

हिंसा सम्बन्धी क्रियाओके भेदोका कथन करते हैं—

---

१. अज्झवसिदो य बद्धो–आ० मु० ।   २. रसक्तप –आ० मु० ।

'पादोसियमाधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए' पादोसिय शब्देनेष्टदारवित्तहरणादिनिमित्तः क्रोधः प्रद्वेष इत्युच्यते। प्रद्वेष एव प्राद्वेषिको यथा विनय एव वैनयिकमिति। हिंसाया उपकरणमधिकरणमित्युच्यते। हिंसोपकरणादानक्रिया आधिकरणिकी। दुष्टस्य सत 'कायेन वा चलनक्रिया कायिकी। परितापो दुःखं दुःखोत्पत्तिनिमित्ता क्रिया पारितापिकी। आयुरिन्द्रियबलप्राणाना वियोगकारिणी प्राणातिपातिकी। 'एदे पंच पओगा' एते पञ्च प्रयोगा.। 'हिंसाकिरिआओ' हिंसासम्बन्धिन्य क्रिया ॥८०१॥

तिहिं चदुहिं पंचहिं वा कमेण हिंसा समप्पदि हु ताहिं।
बंधो वि सिया सरिसो जइ सरिसो काइयपदोसो ॥८०२॥

'तिहि चदुहि पंचहि वा' त्रिभिर्मनोवाक्कायै, चतुर्भि क्रोधमानमायालोभैः, पञ्चभि स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैर्वा। 'कमेण हिंसा समप्पदि हु' क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति। ताभिर्मनसा प्रद्वेषो वचसा द्विष्टोऽस्मीति वचन वाग्द्वेष। कायेन मुखवैवर्ण्यादिकरण कायद्वेष। मनसा हिंसोपकरणादानं, वाचा शस्त्रं[2] उपगृह्णामीति हस्तादिताडन इति अधिकरणमपि त्रिविध। मनसा उत्तिष्ठामीति चिन्ता कायक्रिया। वचसा उत्तिष्ठामि इति, हन्तु ताडयितुमिति उक्ति। कायेन चलन कायिकी। मनसा दु खमुत्पादयामीति चिन्ता, दुःखं भवत करोमि इति उक्तिर्वाचा पारितापिकी क्रिया। हस्तादिताडनेन दु खोत्पादन कायेन पारितापिकी क्रिया। प्राणान्वियोजयामीति चिन्ता मनसा प्राणातिपात, हन्मीति वच वाक्प्राणातिपात.। कायव्यापार. कायिकप्राणातिपात क्रोधनिमित्ता कस्मैश्चिदपीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता, क्रोधादिना शस्त्रग्रहणं

गा०—'पादोसिय' शब्दसे इष्ट स्त्री, धन हरने आदिके निमित्तसे होनेवाला कोप प्रद्वेष कहलाता है। प्रद्वेष ही प्राद्वेषिक है जैसे विनय ही वैनयिक है। हिंसाके उपकरणको अधिकरण कहते है। हिसाके उपकरणोका लेन-देन अधिकरणिकी क्रिया है। दुष्टतापूर्वक हलन-चलन कायिकी क्रिया है। परितापका अर्थ दुःख है। दु.खकी उत्पत्तिमे निमित्त क्रिया पारितापिकी है। आयु इन्द्रिय और बल प्राणोका वियोग करनेवाली क्रिया प्राणातिपातिकी है। पाँच प्रकारके प्रयोग हिसासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ है ॥८०१॥

गा०-टी०—मन वचन काय इन तीनसे, क्रोध मान माया लोभ इन चारसे और स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंसे क्रमसे हिंसा होती है। मनसे द्वेष करना, वचनसे मैं द्वेषयुक्त हूँ ऐसा कहना वचनद्वेष है। शरीरसे मुखको विकृत आदि करना कायद्वेष है। मनसे हिंसाके उपकरण स्वीकार करना, वचनसे मै शस्त्र ग्रहण करता हूँ ऐसा कहना, कायसे हाथ आदि भाजना ये अधिकरणके तीन भेद हैं। मनसे विचारना 'मैं मारनेके लिए उठूँ' वचनसे कहना मै मारनेके लिए उठता हूँ। और कायसे हलन-चलन ये तीन कायिकी क्रिया है। मनमे चिन्ता करना 'मै दुःख दूँ' यह मानसिक पारितापिकी क्रिया है। आपको दुःख दूँ ऐसा कहना वाचनिक पारितापिकी क्रिया है। हाथ आदिके द्वारा ताडन करनेसे दु.ख देना कायिक पारितापिकी क्रिया है। मै प्राणोंका वियोग करूँ ऐसा चिन्तन करना मानसिक प्राणातिपात है। मै घात करता हूँ ऐसा कहना वाचनिक प्राणातिपात है। शरीरसे व्यापार करना कायिक प्राणातिपात है। यह किसीमे क्रोधके निमित्तसे, किसीमें मानके निमित्तसे, किसीमें मायाके निमित्तसे और किसीमें लोभके निमित्तसे होता है। क्रोध आदि-

---

१ काये भवा चा–आ०। २. स्त्रं नोप–अ०।

क्रोधादिनिमित्त' कायपरिस्पन्द'। क्रोधादिनिमित्तपरपरितापकरण, प्राणातिपातो वा क्रोधादिना भवति। **स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तो वा प्रद्वेष'**, इन्द्रियसुखार्थं वा फलपल्लवप्सूनादिछेदननिमित्तसाधनोपादान, तत्सुखार्थमेव **विषयप्रत्यासत्तिमभिप्रे**त्य यतः कायपरिस्पन्द । परस्य वा गाढालिङ्गननखक्षतादिना सन्तापकरण, **मासाद्यर्थं वा प्राणिप्राणवियोजनमिति**। किमेताभिर्हिंसाभि सपाद्य कर्मबन्ध समान उत न्यूनाधिकभावो **बन्धस्येत्या-शङ्कायामाचष्टे 'बंधोऽपि'** कर्मबन्धोऽपि **'सिया सरिसो'** स्यात्सदृश । कथ ? **'जदि सरिसो'** यदि सदृश.। **'कायिकपदोसो'** कायिकी क्रिया प्रद्वेषश्च यदि सम स्यात्कारणसामान्यात्कार्यस्यापि बन्धस्य सादृश्य, अन्यथा न सदृशता। तीव्रमध्यमन्दरूपा परिणामा तीव्र, मध्य, मन्द च बन्धमापादयन्ति इति भाव ॥८०२॥

अधिकरणभेद निरूपयति—

वीसं[1] पलिया पंचेत्थ मोदया चारि पंच दस पलिया।
तिणि चदु पंच सत्तमोदय तेसिं पि समो हवे बंधो॥

वीस पल तिण्णि मोदय पण्णरह पला तहेव चत्तारि।
बारह पलिया पंच दु तेसिं पि समो हवे बंधो॥८०३॥

जीवगदमजीवगद समासदो होदि दुविहमधिकरणं।
अट्ठुत्तरसयभेदं पढमं विदियं चदुब्भेदं॥८०४॥

के वशमे होकर शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्तसे होने वाला काय परिस्पन्द है। क्रोध आदि-के निमित्तसे दूसरोको दु ख देना अथवा प्राणोका घात करना क्रोध आदिसे होता है। अथवा स्पर्शन आदि इन्द्रियोके निमित्तसे प्रद्वेष होता है। इन्द्रिय सुखके लिए फल पत्र, फूल आदि तोड़नेके लिए उसके साधन ग्रहण किये जाते हैं। इन्द्रिय सुखके लिए ही विषयोको स्वीकार किया जाता है, शरीरसे हलन-चलन किया जाता है, गाढ़ आलिगन तथा नख द्वारा नोचना आदिसे दूसरोको सताप दिया जाता है। अथवा मास आदिके लिये प्राणीके प्राणोका घात किया जाता है।

इस प्रकार प्राद्वेषिकी क्रिया, आधिकरिणिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, पारितापिको क्रिया और प्राणातिपातिकी क्रिया मन वचन काय, क्रोध मान माया लोभ और स्पर्शन रसन घ्राण, चक्षु श्रोत्रसे होती हैं।

शङ्का—इन क्रियाओसे होने वाला कर्मबन्ध समान होता है या हीनाधिक होता है ?

समाधान—यदि कायिकी क्रिया और प्रद्वेष समान होता है तो समान कर्मबन्ध होता है। क्योकि कारणमे समानता होनेसे कार्य बन्धमे भी समानता होती है, अन्यथा समानता नही होती। तीव्र मध्य या मन्दरूप परिणामोसे तीव्र मध्य या मन्द बन्ध होता है॥८०२॥

अधिकरणके भेद कहते है—

[गाथा ८०३ दो रूपोमे मिलती है किन्तु उसका भाव स्पष्ट नहीं होता। प० सदासुखजीने भी ऐसा ही लिखा है। अतः इनका अर्थ नही किया। किसी टीकाकारने भी इसकी व्याख्या नही की।]

१ आ० प्रति में दोनो गाथायें है न० दोनो पर ९६ ही है।

'**जीवगदमजीवगदं इति**' जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते। न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसाया उपकरण भवति। किन्तु जीवस्य पर्याय आस्रवस्य हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽभ्यन्तरकारणं। अजीवगतः पर्याय. द्रव्यत्वाच्च सदा सन्निहितकार्य स्यात्कादाचित्कता कथमिव सम्पादयति। पर्यायस्तु स्वकारणसान्निध्यात्कदाचिदेवेति। यदा स्वय सन्ति सन्निहितसहकारिकारणास्तदैव स्वकार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति युक्ता कादाचित्कता कार्यस्येति भाव। '**समासदो दुविधमधिकरणं**' सक्षेपतो द्विविधं हिंसाधिकरण '**अट्ठुत्तरसयभेद**' अष्टोत्तरशतभेद। '**पढमं जीवगदमधिकरण**' प्रथम जीवगतमधिकरणं। '**बिदियं**' द्वितीय अजीवगतमधिकरण '**चदुभेदं**' चतुर्विकल्पं ॥८०४॥

प्रथमस्य भेदान्निरूपयति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं।
कदकारिदाणुमोदेहिं तहा गुणिदा पढममेदा ॥८०५॥

'**संरंभसमारंभारभजोगेहि तह कसाएहि**' प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवत संरम्भ। साध्याया हिंसादिक्रियाया साधनाना समाहार समारम्भ। सञ्चितहिंसाद्युपकरणस्य आद्य प्रक्रम आरम्भ.। योगशब्देन मनोवाक्कायव्यापारा उच्यन्ते। एतै सरम्भसमारम्भारम्भयोगै। '**तधा**' तथा '**कसाएहिं**' कषायै '**कदकारिदाणुमोदेहिं**' कृतकारितानुमोदितै। '**तहा गुणिदा**' तथा गुणिता। '**पढमभेदा**' जीवाधिकरणभेदा। प्रयत्नपूर्वकत्वाच्चेतनावतो व्यापारस्यादौ सरम्भस्य वचन। अनुपाया साध्यसिद्धिर्न भवति प्रयत्नवतोऽपि तत साधनसमाहरण प्रयत्नादनन्तरमिति समारम्भो युक्त। साध्य पुन. उपसाधनसहतौ सत्या प्रक्रमते क्रियामिति आरम्भः

गा०-टी०—अधिकरणके दो भेद है—जीवगत और अजीवगत। जीवगतका अर्थ है जीवपर्याय। केवल जीवद्रव्य हिंसामे सहायक नही होता किन्तु जीवकी पर्याय होती है। हिसा आदिसे युक्त जीवका परिणाम हिंसाका अभ्यन्तर कारण होता है। इसी तरह अजीवगतसे अजीवपर्याय लेना चाहिए, क्योंकि अजीवद्रव्य तो सदा रहनेसे सदा कार्यकारी रहता है अत. कार्य सदा होता रहेगा। किन्तु पर्याय तो अपने कारणोके होने पर ही होती है अत. कदाचित् होती है। जब सहकारी कारण होते है तभी अपना कार्य करते है, अन्य कालमे नही करते। अतः कार्य सदा न होकर कदाचित् होता है।

इस तरह सक्षेपसे अधिकरणके दो भेद है। उनमेसे प्रथम जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद है और दूसरे अजीवाधिकरणके चार भेद हैं ॥८०४॥

जीवाधिकरणके भेद कहते है—

गा०-टी०—प्राणोके घात आदिमे प्रमाद युक्त व्यक्ति जो प्रयत्न करता है वह संरभ है। साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनोको एकत्र करना समारंभ है। हिंसा आदिके उपकरणोंका सचय हो जाने पर हिसाका आरम्भ करना आरम्भ है। योग शब्दसे मन वचन और कायका व्यापार लिया गया है। इन सरभ, समारम्भ, आरम्भको, योग, कषाय और कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर जीवाधिकरणके भेद होते हैं।

चेतन जीवका व्यापार प्रयत्नपूर्वक होता है इसलिए प्रथम सरम्भ कहा है। प्रयत्न करनेपर भी उपायोके बिना कार्यसिद्धि नही होती, अत संरम्भके पश्चात् समारम्भ कहा है। साधनोंके एकत्र होनेपर कार्य प्रारम्भ होता है। अत समारम्भके पश्चात् आरम्भको रखा है। जीवके द्वारा

पश्चादुपन्यस्तः । स्वातन्त्र्यविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते तत् कृतं । परस्य पयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति यत्तत्कारितं । स्वयं न करोति न च कारयति, किन्त्वभ्युपैति यत्तदनुमननं अभ्युपगमः । तत्र संरंभस्तावदुच्यते क्रोधनिमित्तं स्वतन्त्रस्य हिंसाविषयः प्रयत्नावेशः क्रोधकृतकायसंरम्भः । मानकृतकायसंरम्भः, मायाकृतकायसंरम्भः, लोभकृतकायसंरम्भः । क्रोधकारितकायसंरम्भः, मानकारितकायसंरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः, लोभकारितकायसंरम्भः । क्रोधानुमतकायसंरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः, लोभानुमतकायसंरम्भः । इति द्वादशधा संरम्भः । क्रोधकृतकायसमारम्भः, मानकृतकायसमारम्भः, मायाकृतकायसमारम्भः, लोभकृतकायसमारम्भः । क्रोधकारितकायसमारम्भः, मानकारितकायसमारम्भः । मायाकारितकायसमारम्भः, लोभकारितकायसमारम्भः । क्रोधानुमतकायसमारम्भः, मानानुमतकायसमारम्भः, मायानुमतकायसमारम्भः, लोभानुमतकायसमारम्भः इति द्वादशधा समारम्भः । क्रोधकृतकायारम्भः, मानकृतकायारम्भः, मायाकृतकायारम्भः, लोभकृतकायारम्भः । क्रोधकारितकायारम्भः मानकारितकायारम्भः, मायाकारितकायारम्भः, लोभकारितकायारम्भः । क्रोधानुमतकायारम्भः, मानानुमतकायारम्भः, मायानुमतकायारम्भः, लोभानुमतकायारम्भश्च । इत्येव आरम्भोऽपि द्वादशधा । एवं संविदिता कायारम्भाः षट्त्रिंशत् । एते सपिण्डिता जीवाधिकरणास्रवभेदा अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति ॥८०५॥

संरंभो संकप्पो परिदावकदो हवे समारंभो ।
आरंभो उद्दवओ सव्वणयाणं विसुद्धाणं ॥८०६॥

स्वतन्त्रता पूर्वक जो किया जाता है वह कृत है । जो दूसरेके द्वारा सिद्ध होता है वह कारित है । न स्वयं करता है न कराता है किन्तु जो करता है उसे स्वीकार करता है वह अनुमत है । इनमेसे संरम्भके भेद कहते हैं—

क्रोधके निमित्तसे स्वतन्त्रता पूर्वक हिंसा विषयक प्रयत्न करना क्रोध कृत काय सरम्भ है । इसी तरह मान कृत काय सरम्भ, मायाकृत काय सरम्भ, लोभकृत काय संरम्भ, क्रोध कारित काय संरम्भ, मान कारित काय संरम्भ, माया कारित काय सरम्भ, लोभ कारित काय सरम्भ । क्रोधानुमत काय सरम्भ, मानानुमत काय सरम्भ, मायानुमत काय सरभ, लोभानुमत काय सरम्भ इस तरह बारह प्रकारका सरम्भ है । क्रोधकृत काय समारम्भ, मानकृत काय समारम्भ, मायाकृत काय समारम्भ, लोभ कृत काय समारम्भ । क्रोध कारित काय समारम्भ, मान कारित काय समारम्भ, माया कारित काय समारम्भ, लोभ कारित काय समारम्भ । क्रोधानुमत काय समारम्भ, मानानुमत काय समारम्भ, मायानुमत काय समारम्भ, लोभानुमत काय समारम्भ । इस तरह बारह प्रकारका समारम्भ है । क्रोधकृत काय आरम्भ, मानकृत काय आरम्भ, मायाकृत काय आरम्भ, लोभकृत काय आरम्भ, क्रोध कारित काय आरम्भ, मान कारित काय आरम्भ, माया कारित काय आरम्भ, लोभ कारित काय आरम्भ, क्रोधानुमत काय आरम्भ, मानानुमत काय आरम्भ, मायानुमत काय आरम्भ, लोभानुमत् काय आरम्भ । इस प्रकार आरम्भ भी बारह प्रकारका है । ये मिलकर कायारम्भके छत्तीस भेद होते हैं । छत्तीस ही भेद वचन सम्बन्धी आरम्भके और छत्तीस ही भेद मन सम्बन्धी आरम्भके होते हैं । ये सब मिलकर जीवाधिकरण सम्बन्धी आस्रवके एक सौ आठ भेद होते हैं ॥८०५॥

गा०—संकल्पको संरम्भ कहते हैं । संताप देनेको समारम्भ कहते हैं और आरम्भ सब

आजीवाधिकरणस्य चतुरो भेदानाचष्टे—

णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य।
कमसो चदु दुग दुग तिय भेदा होंति हु बिदियस्स ॥८०७॥

'**णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य**' निक्षेपो निर्वर्तना संयोजना निसर्ग इति। '**कमसो**' यथाक्रमेण। '**चदु दुग दुग तिय भेदा**' निक्षेपश्चतुःप्रकार। निर्वर्तना द्विप्रकारा। संयोजना द्विप्रकारा। निसर्गस्त्रिविध इति सम्बध्यते ॥८०७॥

निक्षेपस्य चतुरो विकल्पानाचष्टे—

सहसाणाभोगिय दुप्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिक्खेवो।
देहो व दुप्पउत्तो तहोवकरणं च णिव्वत्ति ॥८०८॥

'**सहसाणाभोगियदुप्पमज्जिद अप्पच्चवेक्खणिक्खेवो**' सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण चेति। निक्षिप्यते इति निक्षेप। उपकरणं पुस्तकादि, शरीर, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि भयात् कुतश्चित्कार्यान्तरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन षड्जीवनिकायबाधाधिकरणता प्रतिपद्यन्ते। असत्यामपि त्वरायां जीवा सन्ति न सन्तीति निरूपणामन्तरेण निक्षिप्यमाण तदेवोपकरणादिक अनाभोगनिक्षेपाधिकरणमुच्यते। दुष्प्रमृष्टमुपकरणादि निक्षिप्यमाण दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण स्थाप्यमानाधिकरण वा दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण। प्रमार्जनोत्तरकाले जीवा सन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षित यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं। निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—'**देहो य दुप्पउत्तो**' दुःप्रयुक्त शरीर हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति। उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवबाधा-

---

विशुद्ध व्रतोंका घातक है ॥८०६॥

अजीवाधिकरणके चार भेदोको कहते है—

गा०—अजीवाधिकरणके चार भेद है—निक्षेप, निर्वतना, संयोजना और निसर्ग। क्रमानुसार निक्षेपके चार भेद है। निर्वर्तनाके दो भेद हैं। संयोजनाके दो भेद है और निसर्गके तीन भेद हैं ॥८०७॥

निक्षेपके चार भेद कहते है—

गा०-टी०—निक्षेपके चार भेद हैं—सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण और अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण। रखनेको निक्षेप कहते हैं। उपकरण, पुस्तक आदि, शरीर अथवा शरीरके मल भयसे अथवा किसी अन्य कारणान्तरसे सहसा शीघ्र रखनेसे त्यागनेसे छहकायके जीवोकी बाधाके आधार हो जाते है। यह सहसानिक्षेपाधिकरण है। जल्दी नही होनेपर भी 'पृथ्वी आदिपर जन्तु है या नहीं' यह देखे विना ही उपकरण आदिको रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है। उपकरण आदिको असावधानतासे या दुष्टतासे साफ करके रखना अथवा जिस स्थानपर उन्हे रखना है उस स्थानकी दुष्टतासे सफाई करना, जिससे जीवोको कष्ट पहुचे, दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण है। स्थानकी सफाई करनेके पश्चात् वहाँ जीव हैं या नही यह देखे विना उपकरणादि रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है। दुष्प्रयुक्त शरीर—शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति हिंसाका कारण होती है उसे निर्वतनाधिकरण कहते है। छिद्रवाले

निमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं । अस्मिन्सौवीरादिभाजने प्रविष्टा म्रियन्ते ॥८०८॥

संजोयणमुवकरणाणं च तहा पाणभोयणाणं च ।
दुट्ठणिसिट्ठा मणवचिकाया भेदा णिसग्गस्स ॥८०९॥

'संजोजणमुवकरणाणं' उपकरणाना पिच्छादीना अन्योन्येन सयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमण्डल्वादेर्वा आतपादितप्तेन पिच्छेन प्रमार्जन इत्यादिक । **'तहा'** तथा । **'पाणभोजणाणं च'** पानभोजनयोश्च पान पानेन, पान भोजनेन, भोजन भोजनेन, भोजनं पानेनेत्येवमादिक सयोजन यस्य सम्मूर्च्छन सम्भवति सा हिंसाधिकरणत्वेनात्रोपात्ता न सर्वा । **'दुट्ठुणिसिट्ठा मणवचिकाया'** दुष्टप्रवृत्ता मनोवाक्कायप्रभेदा निसर्गशब्देनोच्यन्ते ॥८०९॥

अहिंसारक्षणोपायमाचष्टे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि ।
तम्हि सुहे णिस्संगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा ॥८१०॥

'ज जीवणिकायवहेण' यस्माज्जीवनिकायघात विना । **'इंदियसुहं'** इन्द्रियसुख नास्ति । स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादिसेवा विचित्रा जीवनिकायपीडाकारिणी आरम्भेण महतोपार्जनीयत्वात् । तस्मिन्निन्द्रियसुखे । णिस्सगो यस्स पात्यहिंसा नेन्द्रियसुखार्थी । तस्मान्दिन्द्रियसुखादर मा कृथा इत्युपदिशति सूरि ॥८१०॥

उपकरण जो जीवोको बाधा पहुँचाते है उनकी निर्वर्तना—रचना करना भी निर्वर्तनाधिकरण है। जैसे काजी आदि रखनेके ऐसे सछिद्रपात्र बनाना जिसमे प्रविष्ट जीव मर जाते हैं।

विशेषार्थ—सर्वार्थसिद्धिमे पूज्यपाद स्वामीने निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद कहे है एक मूलगुणनिर्वर्तना, एक उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर वचन मन, उच्छ्वास निश्वासकी रचना मूलगुण निर्वर्तना है। लकडीके पट्टपर चित्रकर्म आदि रचना करना उत्तर गुणनिर्वर्तना है। इन क्रियाओसे जीवोको कष्ट पहुँचता है। चित्रकर्ममे छेदन-भेदनकी भावना उत्पन्न होती है ॥८०८॥

संयोजनाधिकरण और निसर्गाधिकरणका स्वरूप कहते है—

गा०-टी०—पिच्छी आदि उपकरणोको परस्परमे मिलाना। जैसे शीतस्पर्शवाली पुस्तक अथवा कमडलु आदिको धूपसे तप्त पीछीसे साफ करना उपकरण सयोजना है। एक जलमे दूसरा जल मिलाना, एक भोजनमे दूसरा भोजन मिलाना अथवा भोजनमे पेय मिलाना आदि भक्तपान सयोजना है। यहाँ इतना विशेष जानना कि जिस पेय या भोजनमे सम्मूर्च्छन जीव होते है उसे ही हिसाका अधिकरण स्वीकार किया है, सबको नही। दुष्टतापूर्वक मन वचन कायकी प्रवृत्तिको निसर्गाधिकरण कहते हैं ॥८०९॥

अहिंसाकी रक्षाके उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यत छहकायके जीवोकी हिंसाके विना इन्द्रियजन्य सुख नही होता। विचित्र प्रकारके स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदिका सेवन जीवोंको पीड़ा करनेवाला होता है क्योंकि बहुत आरम्भसे उसकी प्राप्ति होती है। अत जो इन्द्रियजन्य सुखमे आसक्त नही है वही अहिंसा की रक्षा करता है। जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह नहीं रक्षा करता। अतः आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियसुखका आदर मत करो ॥८१०॥

हिंसा कषाये प्रवर्तते, ततोऽहिंसामिच्छता एते परिहर्तव्या इत्युत्तरसूत्रार्थम्—

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ ।
सो जीववहं परिहरइ सया जो णिज्जियकसाओ ॥८११॥

प्रमादो हिंसाया प्रवर्तक स परित्याज्योऽहिंसाव्रतार्थिना इति गाथार्थ.—

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होइ हु अहिंसो ॥८१२॥

काएसु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणरइयम्मि ।
मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु ॥८१३॥

परित्यक्तारम्भे य प्रासुकभोजिनि ज्ञानभावनावहितमनसि गुप्तित्रयोपेते सम्पूर्णा भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थ ॥८१३॥

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो ।
आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ ॥८१४॥

पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरम्भ । तस्मिन्सति तदाश्रयप्राण्युपद्रव इति जीववधो भवति । उद्गमादिदोषोपहतस्य आहारस्य भोजने जीवनिकायवधानुमोदो भवति । ज्ञानरतिमन्तरेण आरम्भे कषाये च मन प्रवर्तते ॥८१४॥

तम्हा इहपरलोए दुक्खाणि सदा अणिच्छमाणेण ।
उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥८१५॥

हिंसा कषायसे होती है। अत अहिंसाके अभिलाषीको कषाय त्यागना चाहिए, यह कहते है—

गा०—जो जीव कषायकी अधिकता रखता है वह जीवोका घात करता है। और जो कषायोको जीत लेता है वह सदा जीवोकी हिंसासे दूर रहता है। अत प्रमाद हिंसाका कारण है। अहिंसाव्रतके अभिलाषीको प्रमादको त्यागना चाहिए ॥८११॥

गा०—उपकरणोको ग्रहण करनेमे, रखनेमे, उठने बैठने, चलने और शयनमे जो दयालु सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह अहिंसक होता है ॥८१२॥

गा० जो आरम्भका त्यागी है, प्रासुक भोजन करता है, ज्ञानभावनामे मनको लगाता है और तीन गुप्तियोंका धारी है वही सम्पूर्ण अहिंसाका पालक है यह उक्त गाथासूत्रका अर्थ है ॥८१३॥

गा०-टी०—पृथिवी आदिके विषयमे जो खोदना आदि व्यापार किया जाता है उसे आरम्भ कहते हैं। उसके करने पर पृथिवी आदिमे रहने वाले जीवोंका घात होता है। उद्गम आदि दोषोसे युक्त आहार ग्रहण करने पर जीव समूहके वधकी अनुमोदना होती है, ज्ञानमे लीनता न होने पर आरम्भ और कषायमे मनकी प्रवृत्ति होती है ॥८१४॥

तम्हा तस्मात् । आरम्भो भवता त्याज्य', प्रासुकभोजनं भोज्य, ज्ञाने अरतिश्च अपाकार्या इति क्षपक-शिक्षा । अहिंसा जीवदया तस्याः फलमुपदर्शयति—तम्हा इत्यनया उभयलोकगतदुःखपरिहारमिच्छता दया-भावना कार्या इति कथयति क्षपकस्य ॥८१५॥

स्वल्पकालवर्त्यपि अहिंसाव्रत करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यान कथयति—

पाणो वि पाडिहेरं पत्तो छूढो वि सुंसुमारहदे ।
एगेण एक्कदिवसकदेण हिंसावदगुणेण ॥८१६॥

'**पाणो वि**' चण्डालोऽपि '**पाडिहेरं**' प्रातिहार्यं '**पत्तो**' प्राप्त. । '**सुंसुमारहदे छूढो**' शिशुमाराकुले ह्रदे निक्षिप्तोऽपि । '**एक्केण हिंसावदगुणेण**' एकेनैव अहिंसाव्रताख्येन गुणेन । '**अप्पकालकदेन**' अल्पकालकृतेन । अहिंसा ॥८१६॥

द्वितीयव्रतनिरूपणाय उत्तरप्रबन्ध —

परिहर असंतवयणं सव्वं पि चदुव्विधं पयत्तेण ।
धत्तं पि संजमित्तो भासादोसेण लिप्पदि हु ॥८१७॥

'**परिहर**' परित्यज । '**असंतवयणं**' असद् अशोभन वचन । यत्कर्मबन्धनिमित्त वचस्तदशोभन । तथा चोक्तं—'**असदभिधानमनृतं** [त० सू० ७] । ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । द्रव्यान्तर हि तत्पुद्गलाख्य, आत्मपरिणामो हि परित्याज्यो यो बन्धस्य बन्धस्थितेर्वा निमित्तभूतो मिथ्यात्वमसयम कषायो योग इत्येव-प्रकार । तस्मादसद्वचनपरिहारोपदेशोऽनुपयोगी कस्मात्कृत इति अत्रोच्यते— असयमो हि त्रिप्रकार कृत

गा०—अत इस लोक और परलोकमे दुःखको नही चाहने वाले मुनिजनोको सदा जीव दयामे उपयोग लगाना चाहिए और उसके लिए आरम्भ त्यागना चाहिए, प्रासुक भोजन करना चाहिए और ज्ञानमें मन लगाना चाहिए। आचार्य क्षपकको यह उपदेश करते है ॥८१५॥

थोड़े समयके लिए पाला गया भी अहिंसा व्रत आत्माका महान् उपकार करता है यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—यमपाल चण्डाल भी एक चतुर्दशीके दिन किसीको फाँसी न देनेके एक अहिंसाव्रतके गुणसे मगरमच्छोसे भरे तालाबमे फेक दिए जाने पर प्रातिहार्यको प्राप्त हुआ—देवोने उसकी पूजा की ॥८१६॥

अहिंसाव्रतका कथन समाप्त हुआ ।

दूसरे सत्यव्रतका कथन आगे करते हैं—

गा०-टी०—असत् अर्थात् अशोभन वचन मत बोलो । जो वचन कर्मबन्धमे निमित्त होता है उसे अशोभन कहते हैं । कहा है—असत् वचन बोलना असत्य है ।

शंका—वचन आत्माका परिणाम नही है, पुद्गल नामक अन्य द्रव्य है । कर्मबन्ध या कर्म स्थितिके बन्धमे निमित्त मिथ्यात्व, असयम, कषाय योग, इस प्रकारका आत्मपरिणाम त्यागने योग्य है । अतः असत् वचनके त्यागका उपदेश उपयोगी नही है उसे क्यो कहा ?

कारितोऽनुमतश्च । इममस्मिन्नसंयमे प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्तं वानुजानामि । इत्यभिसन्धिमन्तरेण[1] तस्य वचनस्याप्रवृत्तेस्तद्वचनकारणभूतोऽभिसन्धिरात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहार्यस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न ह्यसति कारणे कार्यप्रतिपत्तिरित्यसद्वचनपरिहारोऽनेन क्रमेणोपन्यस्त इति । स्वयमसद्वचनैकदेशपरिहारेऽप्यपहृतमसद्वचनं भवति इत्याशङ्का परिहरति सर्वमिति चतुर्विधमिति तदीय-भेदोपन्यास । '**पयत्तेणेति**' तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति । '**सत्तं पि संजमंतो**' नितरामपि संयममाचरन्नपि । '**भासादोसेण**' भाषावचन तन्निमित्तत्वाद्वाग्योगाख्य आत्मपरिणामो भाषाशब्देनोच्यते । भाषादुष्टः भाषादोष. । वाग्योगेन दुष्टेन निमित्तेन जात यत्कर्म तेन । '**लिप्पदि**' लिप्यत एव संबध्यत एव आत्मा । एतेन कर्मबन्ध-निमित्ततादोषकथनेन असद्वचनपरिहारे दाढर्यं करोति क्षपकस्य ॥८१७॥

प्रतिज्ञात चातुर्विध्य व्याचष्टे—

पढमं असंतवयणं सभूदत्थस्स होदि पडिसेहो ।
णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥८१८॥

'**पढमं असंतवयणं**' चतुर्षु आद्यमसद्वचन '**संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो**' सतोऽर्थस्य प्रतिषेध । सता[2] सतो न वचन असद्वचनमित्येकोऽर्थ । तस्योदाहरणमाह—'**णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति**' एवमादिक नास्त्यकाले मनुष्यस्य मृतिरिति एवमादिकं वचन । आयुष स्थितिकाल काल इत्युच्यते । तस्मात्कालादन्य कालोऽकाल । तस्मिन्नकाले । ननु च भोगभूमिनराणामनपवर्त्यमायुरत अकाले मरण नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते **णत्थि णरस्स**

समाधान—असयमके कृत कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकार हैं। इस पुरुषको इस असंयममे प्रवृत्त करता हू अथवा असंयममे प्रवृत्त पुरुषकी इस वचनके द्वारा अनुमोदना करता हूं। इस अभिप्रायके बिना उस प्रकारका वचन नही बोला जाता। अत उस प्रकारके वचनमे कारण-भूत आत्मपरिणाम कर्मबन्धमे निमित्त होता है अत. त्यागने योग्य है। उस परिणामके त्यागने पर उसका कार्य वचन भी त्यागा जाता है, क्योंकि कारणके अभावमे कार्य नहीं होता। इसलिए असत् वचनका त्याग कहा है। यदि कोई असत् वचनके एक देशका त्याग करे तब भी असत् वचनका त्याग हो जाता है क्या ? ऐसी आशकाका परिहार करते है कि चारों ही प्रकारके असत्य वचनका त्याग प्रमाद छोडकर करना चाहिए। क्योंकि अतिशय युक्त सयमका आचरण करता हुआ भी भाषादोषसे कर्मसे लिप्त होता है। यहाँ निमित्त होनेसे भाषा शब्दसे वचन योग रूप आत्मपरि-णाम कहा है। दुष्ट भाषाको भाषा दोष कहते है। अत. दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे जो कर्म बन्ध होता है उससे आत्मा लिप्त होता है। इससे असत्य वचनको कर्मबन्धमे निमित्त होनेका दोष बतलाकर उसके त्यागमे क्षपकको दृढ करते हैं ॥८१७॥

असत्य वचनके चार भेद कहते हैं—

गा०-टी०—चार भेदोंमे सद्भूत अर्थका निषेध करना प्रथम असत्य वचन है। जैसे मनुष्य-की अकालमे मृत्यु नही होती इत्यादि वचन। आयुके स्थिति कालको काल कहते है। उस काल-से अन्य कालको अकाल कहते है। उसमे मरण नही होता। ऐसा कहना सद्भूतका निषेध रूप असत्य वचन है।

शङ्का—भोगभूमिके मनुष्योंकी आयु अनपवर्त्य होती है अत मनुष्योका अकालमे मरण

---

१. ण वास्य–आ० मु०। २. सता सदेतत् वचन सद्वचनमि–आ०। सता सतो नमस–अ०।

अकाले मच्चुत्ति । नरशब्दस्य सामान्यवाचित्वात्सर्वनरविषय अकालमरणाभावोऽयुक्त केषुचित्कर्मभूमिजेषु सत्य सतो निषेधादित्यभिप्राय ॥८१८॥

अहवा सयबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहिं ।
अविचारिय णत्थि इह घडोत्ति तह एवमादीयं ॥८१९॥

'अथवा विचारबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहिं अविचारिय भावमिति शेषः' । स्वबुद्धया क्षेत्रकाल-भावैरभावमविचार्यमाण अत्र नास्ति इदानी न विद्यते, [1]शुक्ल कृष्णो न वेत्यनिरूप्य घटस्य भाव इत्थं अनेन-प्रकारेण **'णत्थि घडो जह एवमादिगं'** नास्ति घट इत्येवमादिक । सतो घटस्य अविशेषेण असतवचन **असद्वचन-**मित्युदाहरणान्तरमिद ॥८१९॥

जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु ।
अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥८२०॥

'जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु' यदसदुद्भावनं द्वितीय असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तर । **'अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीय'** सुराणामकाले मृत्युरस्तीत्येवमादिक यथा असदेव अकालमरणमने-नोच्यते इत्यसद्वचनम् ॥८२०॥

नही होता अत उक्त कथन उचित ही है ।

समाधान—गाथामे आगत नर' शब्द सामान्यवाची होनेसे सभी मनुष्योके अकालमरण-का अभाव कहना अयुक्त है । किन्ही कर्मभूमिज मनुष्योमे अकाल मरण होता है अत सत्का निषेध करनेसे उक्त कथनको असत्य कहा है ॥८१८॥

गा०—अथवा क्षेत्रकालभावसे अभावका विचार न करके—घट यहाँ नही है, इस समय नही है, या सफेद अथवा कृष्णरूप नही है, ऐसा न विचारकर अपनी बुद्धिसे घटका सर्वथा अभाव कहना असत्य वचन है ॥८१९॥

विशेषार्थ—किसी वस्तुका निषेध या विधि द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे होती है । न तो वस्तुका सर्वथा निषेध होता है और न सर्वथा विधि होती है । प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परद्रव्य क्षेत्रकालभावकी अपेक्षा अस्तिरूप है जैसे घट अपने द्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है और अन्य घटोकी अपेक्षा नास्तिरूप है । तथा जिस क्षेत्रमे वह घट है उस क्षेत्रमे अस्तिरूप है, अन्य घटोके क्षेत्रमे नास्तिरूप है । जिस कालमे है उस कालमे अस्तिरूप है, अन्यकालोमे नास्तिरूप है । जिस भावमें स्थित है उस भावसे अस्तिरूप है अन्यभावकी अपेक्षा नास्तिरूप है । ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भावका विचार किये विना यह कह देना कि घट नही है यह असत्यवचनका दूसरा उदाहरण है ॥८१९॥

गा०—जो नही है उसे 'है' कहना दूसरा असत्यवचन है । जैसे देवोके अकालमे मरण होता है ऐसा कहना । किन्तु देवोमे अकालमरण नही होता । अतः यह असत्का **उद्भावन करनेसे** असत्यवचन है ॥८२०॥

---

१. शुक्ल कृष्णो भवत्यनिरूप्य—आ० ।

अहवा जं उब्भावेदि असंतं खेत्तकालभावेहिं ।
अविचारिय अत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥८२१॥

अथवा 'जं उब्भावेदि' यद्वचन उद्भावयति । असन्तं घटं । कथमसन्तं ? खेत्तकालभावेहि क्षेत्रान्तर-सम्बन्धित्वेन (अ) सन्त इहत्य घट कालान्तरसम्बन्धेन अतीते अनागते वा असन्तं भावान्तरसम्बन्धित्वेन कृष्ण-त्वादिनाऽसन्त । 'अविचारिय' अविचार्य इत्थं सत् इत्थमसत इति अस्ति घट इत्येवमादिक सर्वथास्तित्वमस-द्भावयतीति असद्वचन ॥८२१॥

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीगं ।
अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं ॥८२२॥

'तदीयं असंतवयण' तृतीयमसद्वचनं । 'संतं जं कुणदि अण्णजादीगं' सद्यत्करोति अन्यजातीय । 'अवि-चारित्ता गोण अस्सोत्ति जहेवमादीगा' । अश्वमित्येवमादिक । सतो बलीवर्दत्वात् अश्वत्वं असतस्य वचन ॥८२२॥

चतुर्थमसद्वचनमाचष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं ।
जं वा अप्पियवयणं असच्चवयणं चउत्थं च ॥८२३॥

'ज वा गरहिदवयण' यद्वा गर्हित वचन । 'जं वा सावज्जसजुदं वयणं' यद्वा सावद्यसयुत वचनं । 'जं वा अप्पियवयणं' यद्वा अप्रियवचन । 'तत् चउत्थं' चतुर्थं असतवयण असद्वचन ॥८२३॥

तेषु वचनेषु गर्हितवचन व्याचष्टे—

गा०—अथवा जो वचन क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् घटका विचार न करके 'घट है' ऐसा कहता है वह असत्यवचन है ॥८२१॥

विशेषार्थ—यह पहले कहा है कि कोई वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है। जो स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सत् है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् है। जैसे जो घट इस क्षेत्रकी अपेक्षा सत् है वही अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा असत् है। जो इस कालकी अपेक्षा सत् है वही अतीत और अनागतकालकी अपेक्षा असत् है, जो स्वभावकी अपेक्षा सत् है वही भावान्तरकी अपेक्षा असत् है। अत. घट इस रूपसे सत् है और इस रूपसे असत् है ऐसा विचार न करके 'घट है' इस तरह घटको सर्वथा सत् कहना असत्का उद्भावन होनेसे असत्य वचन है ॥८२१॥

गा०—एक जातिकी वस्तुको अन्य जातिकी कहना तीसरा असत्य वचन है। जैसे विना विचारे बैलको घोडा कहना ॥८२२॥

चतुर्थ असत्य वचनको कहते हैं—

गा०—जो गर्हित वचन है, सावद्ययुक्त वचन है, अप्रिय वचन है वह चतुर्थ असत्य वचन है ॥८२३॥

उनमेसे गर्हित वचनको कहते है—

कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ।
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥८२४॥

'**कक्कस्सवयण**' कर्कशवचनं नाम सगर्ववचनमिति केचिद्वदन्त्यन्ये असत्यवचनमिति । '**णिट्ठुरवयणं**' निष्ठुरवचनं । '**पेसुण्णहासवयणं च**' परदोषसूचनपरं वचनं पैशुन्यवचनं हासावहं वचनं । '**जं किंचि विप्पलावं**' यत्किंचित्प्रलपनं च मुखरतया । '**गरहिदवयणं**' गर्हितवचनं । '**समासेण**' संक्षेपेण ॥८२४॥

सावद्यवचनं निरूपयति—

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च ।
अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं ॥८२५॥

'**जत्तो पाणवधादी दोसा जायंतीति**' यस्माद्वचनाद्धेतो प्राणवधादयो दोषा जायन्ते । '**सावज्जवयण त**' सावद्य वचन पृथिवी खन[1], महिषी वोहक (?) पयसा, प्रसूनानि चिनु । इत्येवमादिकानि '**अविचारित्ता**' अविचार्य किमेव वक्तुं युक्त [2]न वेति । अथवा दोषोऽनेन वचसा न वेति अपरीक्ष्य चौर चौरोऽयमिति कथन ॥८२५॥

परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥८२६॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ।
एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण ॥८२७॥

'**हासभय**' हास्येन, भयेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रदोषेणेत्येवमादिना कारणेन । '**एवं असंतवयणं**' एतदसद्वचनं । '**तुमे**' त्वया । '**पत्तेण**' प्रयत्नेन । '**परिहरिदव्वं**' परिहर्तव्यं । '**विसेसेण**' विशेषेण ॥८२७॥

एवमसद्विवादं परिहार्यमुपदर्श्य सत्यवचनलक्षणमुक्तासद्वचनविलक्षणतया दर्शयति—

गा०—कर्कश वचन अर्थात् घमण्डयुक्त वचन, निष्ठुर वचन, दूसरेके दोषोका सूचन करनेवाले वचन, हास्यवचन और जो कुछ भी बकवाद करना, ये सब संक्षेपमे गर्हित वचन हैं ॥८२४॥

सावद्य वचन कहते हैं—

गा०—जिस वचनसे प्राणोका घात आदि दोष उत्पन्न होते है वह सावद्यवचन है । जैसे पृथ्वी खोदो । नांदका पानी भैंसने पी लिया उसे पानीसे भरो । फूल चुनो आदि । अथवा ऐसा कहनेमे दोष है या नही, यह विचार न करके चोरको चोर कहना सावद्य वचन है ॥८२५॥

गा०—कठोर वचन, कटुक वचन, जिस वचनसे वैर, कलह और भय पैदा हो, अति त्रास देनेवाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन ये संक्षेपमे अप्रियवचन है ॥८२६॥

गा०—हास्य, भय, लोभ, क्रोध और द्वेष आदि कारणोसे बोले जानेवाले असत्य वचनोंको हे क्षपक, तुम्हे प्रयत्नपूर्वक विशेष रूपसे नही बोलना चाहिए ॥८२७॥

इस प्रकार असत्यवचनोंको त्यागने योग्य बतलाकर उक्त असत्यवचनोसे विलक्षण सत्यवचनोंका लक्षण कहते हैं—

१. खन । प्रहिं पीतोदकं पयसा पूरय—आ० । खन । महिषी पीतोदका पयसा प्रपूरय, मु० ।
२. ममेति—आ० मु० ।

तव्विवरीदं सच्चं कज्जे काले मिदं सविसए य ।
भत्तादिकहारहियं भणाहि तं चेव य सुणाहि ॥८२८॥

'**तव्विवरीदं**' असद्वचनविपरीतं । '**सच्चं**' सत्यं । '**भणाहि**' भण । '**कज्जे**' कार्ये ज्ञानचारित्रादिशिक्षालक्षणे, असंयमपरिहारे परस्य वा सन्मार्गस्थापनारूपे । **काले** आवश्यकादीना कालादन्य काल इत्यकालशब्देनोच्यते । अथवा कालशब्देन प्रस्ताव उच्यते । '**मिदं**' परिमित वचन । '**सविसए य**' भवतो ज्ञानस्य विषये प्रवृत्तं वचन । '**भणाहि**' भण । ज्ञानमेव वचनानीति यावत् । **भत्ताविकथारहिदं** भक्तचोरस्त्रीराजकथादिरहित । '**तं चेव य**' तथाभूतमेव सत्यमेव वचन । '**सुणाहि**' शृणु । अयमयोग्य न ब्रवीति एतावता सत्यव्रतं पालितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचन शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मबन्धो महानिति भाव ॥८२८॥

सत्यवचनगुण हृदयनिर्वाण ख्यापयति गाथोत्तरा स्पष्टा—

जलचंदणससि[1]मुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं ।
ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥८२९॥

न सत्यमित्येतावता वचन वक्तव्यं, सत्यमेव सदेव वक्तव्यमेव नेति ब्रवीति—

अण्णस्स अप्पणो वा वि धम्मिए विद्दवंतए कज्जे ।
जं पि अपुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जप ॥८३०॥

'**अण्णस्स अप्पणो वावि**' अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिके कार्ये विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि । अनतिपातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्ट इत्यर्थ ॥८३०॥

गा०-टी०—हे क्षपक, ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षारूप कार्यमे, असंयमका त्याग कराने या दूसरेको सन्मार्गमे स्थापित करनेके कार्यमे, आवश्यक आदिके कालसे भिन्नकालमे, और ज्ञानके विषयमे असत्यवचनसे विपरीत सत्यवचन बोलो । तथा भक्तकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा और राजकथामे रहित वचन बोलो—इन कथाओकी चर्चा मत करो । तथा इसी प्रकारके सत्य वचनोको सुनो । अमुक-वक्ता अयोग्य बात नही बोलता अतः यह सत्यव्रतका पालक है ऐसी आशा मत करो । दूसरेके द्वारा कहे असत्यवचनको जो सुनता है उसका मन बुरा होता है और मनके बुरे होनेसे महान् कर्मबन्ध होता है ॥८२८॥

आगे सत्यवचनका गुण हृदयको सुख देना है, यह कहते हैं—

गा०—अर्थसे भरे हितकारी परिमित मधुर वचन इस जीवको जैसा सुख देते हैं वैसा सुख जल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती और चन्द्रकान्तमणि भी नही देते ॥८२९॥

आगे कहते हैं कि सत्य होनेसे बोलना चाहिए ऐसी बात नही है और सदा सत्य बोलना ही चाहिए ऐसी भी बात नही है—

गा०—अपना या दूसरोंका धार्मिक कार्य नष्ट होता हो तो विना पूछे भी बोलना चाहिए । किन्तु यदि कार्य नष्ट न होता हो तो पूछनेपर ही बोलो, विना उनके द्वारा पूछे जानेपर मत बोलो ॥८३०॥

---

१. मुत्तामणिमाला तह-आ० ।

सच्चं वदंति रिसओ रिसीहिं विहिदाउ सव्व विज्जाओ ।
मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥८३१॥

'सच्चं वदंति रिसओ' सत्यं वदन्ति यतय. । 'रिसीहिं विहिदाओ' यतिभिर्विहिता सर्वविद्या । 'मिच्छस्सवि' म्लेच्छस्यापि । 'सिज्झंति' सिध्यन्ति । 'विज्जाओ' विद्या । 'सच्चवादिस्स' सत्यवादिन ॥८३१॥

ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ ।
सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि ॥८३२॥

'ण डहदि अग्गी णरं' न दहत्यग्नि सत्येन नर । 'जलं च तन्न बुड्डेदि' जल च तन्न निमज्जति । 'सच्चबलियं' सत्यमेव बल तद्यस्यास्ति त 'न वहदि' नाकर्षयति । 'तिक्खा गिरिनदीवि' तीव्रवेगा गिरिनद्यपि ॥८३२॥

सच्चेण देवदावो णवंति पुरिसस्स ठंति य वसम्मि ।
सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेंति रक्खं च ॥८३३॥

'सच्चेण देवदाओ णमंति' सत्येन देवता नमस्यन्ति । 'पुरिसस्स ठंति य वसम्मि' पुरुषस्य च वशे तिष्ठन्ति । 'गहगहिदं सच्चेण मोएइ' पिशाचग्रहण मोचयन्ति सत्येन । 'करेति सच्चेण रक्खं च' कुर्वन्ति सत्येन ग्रहादिरक्षा ॥८३३॥

माया व होइ विस्सस्सणिज्जो पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ।
पुरिसो हु सच्चवाई होदि हु [1]सणियल्लओ व पिओ ॥८३४॥

'माया व होदि विस्सस्सणिज्जो' मातेव भवति विश्वसनीय । 'पुज्जो गुरुव्व लोगस्स' पूज्यो गुरुवल्लोकस्स । क ? 'सच्चवादी पुरिसो' सत्यवादी पुरुष । 'पिओ होदि सणियल्लओव' प्रियो भवति बन्धुरिव ॥८३४॥

सच्चं अवगददोसं वुत्तूण जणस्स मज्झयारम्मि ।
पीदिं पावदि परमं जसं च जगविस्सुदं लहइ ॥८३५॥

गा०—ऋषिगण सत्य बोलते है। ऋषियोने ही सब विद्याओंका विधान किया है। सत्यवादी यदि म्लेच्छ भी हो तो उसे विद्याएँ सिद्ध होती हैं ॥८३१॥

गा०—सत्यवादी मनुष्यको आग नही जलाती। पानी उसे नही डुबाता। जिसके पास सत्यका बल है उसे तीव्र वेगवाली नदी भी नही बहाती ॥८३२॥

गा०—सत्यसे देवता नमस्कार करते है। सत्यसे देवता पुरुषके वशमे होते हैं। सत्यसे पिशाच पकडा हुआ मनुष्य भी छूट जाता है और उसकी रक्षा देव करते है ॥८३३॥

गा०—सत्यवादी माताके समान विश्वासयोग्य, गुरुके समान पूज्य, और बन्धुके समान लोकप्रिय होता है ॥८३४॥

१ सुणि–आ० ।

'**सच्चं वुत्तूण**' सत्यवचनमुक्त्वा । कीदृग्भूतं ? '**अवगददोसं**' दोषरहितं । क्व ? '**जणस्स मज्झयारम्मि**' जनमध्ये । '**पीदिं पावदि**' परमा प्रीतिं प्राप्नोति, परा '**जसं लभदि**' यशश्च लभते । '**जगविस्सुदं**' जगति विश्रुत ॥८३५॥

सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो तह वसे सया वि गुणा ।
सच्चं णिबंघणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥८३६॥

'**सच्चम्मि संजमो**' सत्याधारौ तप संयमो, शेषाश्च गुणा. । '**सच्चं णिबंधणं गुणाणं**' गुणाना निबन्धन सत्य । '**मच्छाणं उदधीव**' मत्स्यानामुदधिरिव ॥८३६॥

सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि ।
अदिसंजदो य मोसेण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥८३७॥

'**सच्चेण जगे होदि**' सत्येन जगति भवति । '**पमाणं**' प्रमाणं । यद्यप्यन्यो गुणो नास्ति । अतीव सयतोऽपि सता मध्ये तृणवल्लघुर्भवति मृषावचनेनेति गाथार्थ ॥८३७॥

होदु सिहंडी व जडी मुंडी वा णग्गओ व [1]चीरधरो ।
जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा ॥८३८॥

'**होदु सिहंडी**' भवतु नाम शिखावान् । '**जडी मुंडी वा**' नग्नश्चीवरधरो वा यद्यलीक वदति तस्य सा सर्वा विलम्बना ॥८३८॥

जह परमण्णस्स विसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा ।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं ॥८३९॥

'**जह परमण्णस्स**' यथा परमान्नस्य विनाशक विष । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादिगुणाना विनाशक असत्य ॥८३९॥

गा०—जनसमुदायके बीच में दोषरहित सत्यवचन बोलनेसे मनुष्य जनताका प्रेम तथा जगत्में प्रसिद्ध उत्कृष्ट यश पाता है ॥८३५॥

गा०—तप, सयम तथा अन्यगुण सत्यके आधार हैं। जैसे समुद्र मगरमच्छोका कारण है उसमें मगरमच्छ पैदा होते और रहते हैं वैसे ही सत्य गुणोका कारण है ॥८३६॥

गा०—यदि मनुष्यमे अन्य गुण न हों तब भी वह एक सत्यके कारण जगमें प्रमाण माना जाता है। अति सयमी भी मनुष्य यदि असत्य बोलता है तो सज्जनोके मध्यमे तृणसे तुच्छ होता है ॥८३७॥

गा०—भले ही मनुष्य शिखाधारी हो, जटाधारी हो, सिर मुडाए हो, नगा रहता हो या चीवर धारण किये हो, यदि वह झूठ बोलता है तो यह सब उसकी विडम्बनामात्र है ॥८३८॥

गा०—जैसे विष उत्तमोत्तम भोजनका विनाशक है, बुढ़ापा यौवनका विनाशक है वैसे ही असत्य वचन अहिंसा आदि गुणोंका विनाशक है ॥८३९॥

---

१ चीवर–मु० ।

मादाए वि वेसो पुरिसो अलिएण होइ एक्केण ।
किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिएण सत्तु व्व ॥८४०॥

'**मादाए वि य**' मातुरप्यविश्वास्यो भवत्यलीकेन एकेन पुरुष । शेषाणा पुनर्न किं भवेदलीकेन शत्रुरिव ॥८४०॥

अलियं स किं पि भणियं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं ।
अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो ॥८४१॥

'**अलियं स किंपि भणियं**' सकृदप्युक्त अलीकं सत्यानि बहूनि नाशयति । अलीकवादी पुरुष. स्वयमपि शङ्कितो भवति नितरां ॥८४१॥

अप्पच्चओ अकित्ती संमारदिकलहवेरभयसोगा ।
वधबंधभेय[1] धणणासा वि य मोसम्मि सण्णिहिदा ॥८४२॥

'**अपच्चओ**' अप्रत्यय. । अकीर्ति , संक्लेश., अरति , कलहो, वैर, भय, शोक , वधो, बन्ध , स्वजन-भेद , धननाशश्चेत्यमी दोषा सन्निहिता मृषावचने ॥८४२॥

पापस्सासवदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ।
हिदएण अपावो वि हु मोसेण गदो वसू णिरयं ॥८४३॥

'**पावस्सासवदारं**' पापस्यागमद्वारमिति वदन्त्यसत्य जिनेन्द्रा । हृदये अपापोऽपि मृषामात्रेण वसुर्गतो नरकं इत्याख्यानकं वाच्यं ॥८४३॥

परलोगम्मि वि दोसा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ।
मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥८४४॥

गा०—एक असत्य वचनसे मनुष्य माताका भी विश्वास-भाजन नही रहता । तब असत्य बोलनेसे शेषजनोको वह शत्रुके समान क्यों नही प्रतीत होगा ॥८४०॥

गा०—एक बार भी बोला गया झूठ बहुत बार बोले गये सत्यवचनोका घात कर देता है । लोग उसके सत्यकथनको भी झूठ मानने लगते है । झूठ बोलनेवाला मनुष्य स्वयं भी अति-भीत रहता है ॥८४१॥

गा०—असत्य भाषणमें अविश्वास, अपयश, सक्लेश, अरति, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बन्ध, कुटुम्बमें फूट, धनका नाश इत्यादि दोष पाये जाते है ॥८४२॥

गा०—जिनेन्द्रदेव असत्यको पापास्रवका द्वार कहते हैं, उससे पापका आगमन होता है । राजा वसु हृदयसे पापी नही था फिर भी झूठ बोलनेसे नरकमें गया । इसकी कथा कथाकोशमें है ॥८४३॥

---

१. यणणासा–आ० ।—भेदणाणा सव्वे मो–मु० ।

'परलोगम्मि वि दोसा' परभवेऽपि दोषास्त एव अप्रत्ययादय एव भवन्त्यलोकवादिनः। यत्नेनापि परिहरत'। किं? **'मोसादिये दोसे'** मृषादिकान्दोषान्। मृषा आदिर्येषां स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां ते मृषादयः। अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरत्र ग्राह्यः। स्तेयादिदोषान्परिहरतोऽपीत्यर्थः ॥८४४॥

भवतु नाम अप्रत्ययत्वादिका मृषावादस्य दोषा कर्कशवचनादिना परभवे इह वाथ के दोषा इत्यत्राचष्टे—

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स।
कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादव्वा ॥८४५॥

'इहलोगिग परलोगिग दोसा' अस्मिञ्जन्मनि परत्र च ये दोषा भवन्ति अलीकवादिन। कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्याः ॥८४५॥

उपसंहारगाथा—

एदेसिं दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिवचिदोसे।
परिहरमाणो साधू तव्विवरीदे य लभदि गुणे ॥८४६॥

एतेभ्यो दोषेभ्यो मुक्तो भवति व्यलीकादिवचनदोषान्य. परिहरति साधु लभते [1]नापि? दोषप्रतिपक्षभूतान्प्रत्ययितत्वादिगुणान्। प्रत्यय., कीर्ति., असक्लेश, रति, कलहाभाव., निर्भयतादिकश्च। **'सच्चं'** ॥८४६॥

व्याख्याय सत्यव्रतं तृतीयव्रत निगदति—

मा कुणसु तुमं बुद्धिं बहुमप्पं वा परादियं घेत्तुं।
दंतंतरसोधणयं कलिंदमेत्तं पि अविदिण्णं ॥८४७॥

गा०—असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप दोषोका प्रयत्नपूर्वक त्याग करनेवाले भी असत्यवादीके परलोकमें भी अविश्वास आदि दोष होते हैं। अर्थात् असत्यवादी मरकर भी इन दोषोंका भागी होता है ॥८४४॥

असत्य भाषणसे अविश्वास आदि दोष भले ही होते हो, किन्तु कर्कश आदि वचन बोलनेसे इस भव या परभवमें क्या हानि है? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमें असत्यवादी जिन दोषोका पात्र होता है, कर्कश आदि वचन बोलनेवाला भी उन्हीं दोषोंका पात्र होता है ॥८४५॥

गा०—जो साधु असत्य भाषण आदि दोषोंको दूर कर देता है वह ऊपर कहे दोषोंसे मुक्त होता है—उसमें वे दोष नही होते। तथा उन दोषोंसे विपरीत विश्वास, यश, असंक्लेश, रति कलहका अभाव, निर्भयता आदि गुणोंका भाजन होता है ॥८४६॥

सत्य महाव्रतका कथन समाप्त हुआ।

सत्य व्रतका कथन करके तीसरे व्रतका कथन करते हैं—

---

1. ते तद्विपरीते नेति नापि—आ० मु०।

'मा कुणसु तुम बुद्धि' मा कृथास्त्व बुद्धि। कीदृशी? **'पराविय घेतु'** परकीयं वस्तु ग्रहीतुं। परकीय-वस्तु विशेषणमाचष्टे—**'बहुमल्पं वा'** महदल्प वा। अल्पद्रव्यपरिमाणमभिदधाति—**'दंततरसोधणग कलिंच-मेत्तंपि'** दन्तान्तरशुद्धिकारि तृणशलाकामात्रमपि। **'अविदिण्णं'** अदत्त ॥८४७॥

जह मक्कडओ धादो वि फलं दट्ठूण लोहिदं तस्स।
दूरत्थस्स वि डेवदि जइ वि घित्तूण छंडेदि ॥८४८॥

'जह मक्कडगो' यथा मर्कटो वानर। **'धादो वि'** तृप्तोऽपि। **'दट्ठूण फलं'** दृष्ट्वापि फल। **'लोहिदं'** रक्तं। **'तस्स दूरत्थस्स वि डेवदि'** दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योल्लङ्घन करोति। **'जदि वि घित्तूण छंडेदि'** यद्यपि गृहीत्वा त्यजति ॥८४८॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं।
सव्वजगेण वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि ॥८४९॥

'एवं जं जं पस्सदि' एवं यद्यत्पश्यति द्रव्य। **'तं तं पाविदुमहिलसदि'** तत्तद्द्रव्य प्राप्तुमभिलषति। **'सव्वजगेण वि'** सर्वेणापि जगता। **'लोभाइट्ठो जीवो ण तिप्पेदि'** जीवो लोभाविष्टो न तृप्यति ॥८४९॥

जह मारुओ पवड्ढइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा।
जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥८५०॥

'जह मारुओ पवड्ढइ' यथा मारुत प्रवर्द्धते। **'खणेण'** क्षणेन। **'वित्थरदि'** विस्तीर्णो भवति। **'अब्भयं च जहा'** यथा चाभ्र। **'जीवस्स'** जीवस्य। **'तह'** तथा। लोभो मन्दोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णता-मुपयाति ॥८५०॥

बाह्यद्रव्यसन्निधिमपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभश्च वर्द्धते तद्वृद्धौ चाय दोष इति व्याचष्टे—

लोभे पवड्ढिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि।
तो अप्पणो वि मरणं अगणिंतो साहसं कुणइ ॥८५१॥

गा०—हे क्षपक! तुम पराई बहुत या अल्प वस्तुको भी ग्रहण करनेकी भावना मत करो। दाँतका मल शोधनेके लिए एक तिनका भी विना दिया मत ग्रहण करो ॥८४७॥

गा०—जैसे बन्दर पेट भरा होनेपर भी लाल पके फलको देखकर दूरसे ही फल ग्रहण करनेके लिए कूदता है, यद्यपि वह उसे फिर छोड देता है ॥८४८॥

गा०—वैसे ही मनुष्य जो जो वस्तु देखता है उस उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। लोभसे घिरा मनुष्य समस्त जगत्को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता ॥८४९॥

गा०—जैसे मन्द वायु बढकर क्षणभरमें फैल जाती है या मेघ बढते-बढते आकाशमे फैल जाते हैं। वैसे ही जीवका थोडा-सा भी लोभ क्षणभरमे बढ जाता है ॥८५०॥

आगे कहते हैं कि बाह्य द्रव्यका सान्निध्य पाकर लोभकर्मका उदय होता है उससे मनुष्य-

'लोभे पवड्ढिदे पुण' लोभे प्रकर्षेण वृद्धिमुपगते पुन । **'कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि'** कार्यं अकार्यं च न मनसा निरूपयति । इद कर्तुं युक्त न वेति । **'तो'** तत. युक्तायुक्तविचारणाभावात् । **'अप्पणो मरणमवि अगणित्ता'** आत्मनो मृत्युमप्यगणय्य । **'चोरियं कुणदि'** चौर्यं करोति । बन्दीग्रहणतालोद्घाटनसंप्रवेशादिकं च भयं मृत्यो. कष्टतरमवस्थितमपि न गणयति नरश्चौर्ये प्रवृत्त इति भाव: ॥८५१॥

न केवलमात्मन एवोपद्रवकारि चौर्यं अपि तु परेषामपि महतीमानयति विपदमिति कथयति—

सव्वो उवहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सव्वो वि ।
सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हिययंमि अदिदुहिदो ॥८५२॥

'सव्वो उवहिदबुद्धी' सर्वो जन उपहितबुद्धि. स्थापितचित्त । क्व ? **'अत्थे'** वस्तुनि इदं भवत्विति । **'अत्थे हिदे य सव्वो वि'** सर्वोऽपि जनो अर्थे हृते । **'अतिदुहिदो'** अतीव दुःखितो भवति । किमिव ? **'सत्तिप्प-हारविद्धोव हियये'** शक्त्याख्येन शस्त्रेण हृदये विद्ध इव ॥८५२॥

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि ।
मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥८५३॥

'अत्थम्मि हिदे' अर्थे हृते परेणात्मीये **'पुरिसो'** पुरुषः । **'उम्मत्तो विगदचेयणो होदि'** उन्मत्तो विगत-चेतनो भवति । चेतनाविशेषे ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत् । अन्यथा चैतन्यस्य विनाशाभावात् । **'मरदि व'** म्रियेत वा अर्थे हृते । **अत्थे हक्कारकिदो** अर्थे [1]हाकार कुर्वन् । **'अत्थो जीवं खु पुरिसस्स'** पुरुषस्य जीवितमर्थ ॥८५३॥

का लोभ बढता है । लोभ बढनेपर यह दोष होता है—

गा०-टी०—लोभ बढनेपर मनुष्य 'यह करना योग्य है और यह योग्य नही है' इस प्रकार मनमे कार्य और अकार्यका विचार नही करता । युक्त अयुक्तका विचार न करनेसे अपनी मृत्युकी परवाह न करके चोरी करता है—ताले तोडकर घरोमे प्रवेश करता है, जेल जाता है । इस प्रकार चोरीमें लगा मनुष्य मृत्युका कठोर भय उपस्थित होते हुए भी उसकी अवहेलना करता है ॥८५१॥

आगे कहते हैं कि चोरी केवल चोरी करनेवालेपर ही विपत्ति नही लाती किन्तु दूसरोपर भी महती विपदा लाती है—

गा०—सभी मनुष्य धनासक्त हैं—उनका मन धनमे लगा रहता है । अत: धन चुरानेपर सभी जन हृदयमे शक्ति नामक अस्त्रसे आघात होनेकी तरह अत्यन्त दुःखी होते है ॥८५२॥

गा०-टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन हरे जानेपर मनुष्य पागल हो जाता है, उसकी चेतना नष्ट हो जाती है । यहाँ चेतना शब्द चेतनाके भेद ज्ञानपर्यायमे प्रयुक्त हुआ है अतः उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा अर्थ लेना चाहिए, क्योकि चेतनाका तो विनाश होता नही । तथा हाहाकार करके मर जाता है । ठीक ही कहा है—धन मनुष्यका प्राण है ॥८५३॥

---

१. हारव–आ० मु० ।

अडईगिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्थलोभादो ।
पियबंधु चेवि जीवं पि णरा पयहंति घणहेदुं ॥८५४॥

'अडईगिरिदरिसागर' अटवी, दरी, गिरिं, सागरं, युद्ध प्रविशन्ति अर्थलोभात् । प्रियान्बन्धून् जीवितं च नरा जहति धननिमित्तं । सर्वेभ्यो धनं प्रियतम यतस्तदर्थिन सर्वं त्यजन्ति इति भावार्थो गाथायाः ॥८५४॥

अत्थे संतम्मि सुहं जीवदि सकलत्तपुत्तसंबंधी ।
अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं ॥८५५॥

'अत्थे संतम्मि सुहं' अर्थे सति सुखं **'जीवदि सकलत्तपुत्तसम्बन्धी'** जीवति सह कलत्रैर्भार्याभि , पुत्रैबंधुभिश्च । अर्थं हरता तेषां कलत्रादीनां जीवितमेव हृतं भवति ॥८५५॥

चोरस्स णत्थि हियए दया य लज्जा दमो व विस्सासो ।
चोरस्स अत्थहेदुं णत्थि अकादव्वयं किं पि ॥८५६॥

'चोरस्स णत्थि हियए' चौरस्य नास्ति हृदये । दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा । चौरस्य नास्ति अकर्तव्यं किंचित् । अर्थार्थिन इति भावार्थ ॥८५६॥

लोगम्मि अत्थि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराधं ।
णीयल्लया वि पक्खे ण होंति चोरिक्कसीलस्स ॥८५७॥

'लोयम्मि अत्थि पक्खो' लोकेऽस्ति पक्षोऽन्यमपराधं हिंसादिकं कुर्वतो बन्धवोऽपि न पक्षता प्रतिपद्यन्ते ये चौर्यकारिणः ॥८५७॥

अण्णं अवरज्झंतस्स दिंति णियये घरम्मि ओगासं ।
माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्कसीलस्स ॥८५८॥

'अण्णं अवरज्झंतस्स' अन्यं अपराधं कुर्वतं ददति स्वावासे अवकाशं । मातान्यवकाशं न ददाति चुरायां प्रवृत्तस्य ॥८५८॥

गा०—धनके लोभसे मनुष्य जंगल, पर्वत, गुफा और समुद्रमे भटकता है, युद्ध करता है। धनके लिए मनुष्य प्रियजनोका और अपने जीवनका भी त्याग करता है। साराश यह है कि मनुष्यको धन सबसे प्रिय है उसके लिए वह सबको छोड़ देता है ॥८५४॥

गा०—धनके होनेपर मनुष्य स्त्री पुत्र और बन्धु बान्धवोके साथ सुखपूर्वक जीवन यापन करता है। धनके हरे जानेपर उन स्त्री आदिका जीवन ही हर लिया जाता है ॥८५५॥

गा०—चोरके हृदयमे दया, लज्जा, साहस और विश्वास नही होते। चोर धनके लिए कुछ भी कर सकता है उसके लिए न करने योग्य कुछ भी नही है ॥८५६॥

गा०—हिंसा आदि अन्य अपराध करनेवालेके पक्षमे तो लोग रहते है किन्तु चोरी करनेवालेके पक्षमें बन्धु बान्धव भी नही होते ॥८५७॥

गा०—अन्य अपराध करनेवालेको लोग अपने घरमें आश्रय देते हैं। किन्तु चोरी करनेवालेको माता भी आश्रय नही देती ॥८५८॥

परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु बेंति पावस्स ।
सोगरियवाहपरदारिएहि चोरो हु पापदरो ॥८५९॥

'**परदव्वहरणमेदं**' परद्रव्यापहरणमेतत् पापस्यास्रवद्वारं ब्रुवन्ति । शौकरिकात्, व्याधात्, परदाररतिप्रियाच्च चौरः पापीयान् ॥८५९॥

सयणं मित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ।
पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥८६०॥

'**सयणं मित्तं**' बन्धून्मित्राणि आश्रयभूत समीपस्थं च महति दोषे बन्धवधधनापहरणादिके पातयति चौर्यं । महत्ययशसि दुःखे च निपातयति ॥८६०॥

बंधवधजादणाओ छायाघादपरिभवभयं सोयं ।
पावदि चोरो सयमवि मरणं सव्वस्सहरणं वा ॥८६१॥

'**बंधवधजादणाओ**' बन्धं, वधं, यातनाश्च, छायाघातं, परिभवं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि चौरो मरण सर्वस्वहरण वा ॥८६१॥

णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो ण णिद्दमुवलभदि ।
तेणं तओ समंता उव्विग्गमओ य पिच्छंतो ॥८६२॥

'**णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो**' नित्यं दिवारात्रिं शङ्कमानः न निद्रामुपलभते चौरः । समन्तात्प्रेक्षते उद्विग्नहरिण इव ॥८६२॥

उंदुरकदंपि सद्दं सुच्चा परिवेवमाणसव्वंगो ।
सहसा समुच्छिदभओ उव्विग्गो धावदि खलंतो ॥८६३॥

'**उंदुरकदंपि सद्दं**' मूषकचलनकृतमपि शब्दं श्रुत्वा प्रस्फुरत्सर्वगात्रः सहसोत्थभयोद्विग्नो धावति स्खलन्पदे पदे ॥८६३॥

गा०—यह परद्रव्यका हरण पापके आनेका द्वार कहा जाता है। मृग पशु पक्षियोका घात करनेवाले और परस्त्रीगमनके प्रेमीजनोंसे चोर अधिक पापी होता है ॥८५९॥

गा०—चोरीका व्यसन बन्धु, मित्र, अपने आश्रित, और निकटमे रहनेवालोको भी वध, बन्ध, धनका हरना आदि दोषोंमे डाल देता है वे भी ऐसे बुरे काम करने लगते हैं। तथा वे महान् अपयश और दु खके भागी होते हैं ॥८६०॥

गा०—चोर स्वयं भी बन्ध, वध, कष्ट, तिरस्कार, भय, शोक, मरण और सर्वस्व हरणका भागी होता है ॥८६१॥

गा०—चोर दिन रात पकड़े जानेकी आशंकासे सोता नही है और भयभीत हरिनकी तरह चारों ओर देखा करता है ॥८६२॥

गा०—चूहेके द्वारा भी किये शब्दको सुनकर उसका सर्वांग थरथर काँपने लगता है, एकदम भयसे भीत हो, घबराकर दौड़ता है और पद-पदपर गिरता उठता है ॥८६३॥

घत्तिं पि संजमंतो घेत्तूण किलिंचमेत्तमविदिण्णं ।
होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरो व्व ॥८६४॥

'**घत्तिं पि संजमंतो**' नितरामपि सयमं कुर्वन् । अदत्तं तृणमात्रमपि गृहीत्वा तृणवल्लघुर्भवति, अप्रत्ययितश्चौर इव ॥८६४॥

परलोगम्मि य चोरो करेदि णिरयम्मि अप्पणो वसदिं ।
तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरंपि ॥८६५॥

'**परलोगम्मि य चोरो करेदि**' परलोके चौर करोत्यात्मनो नरके वसति । कीदृग्भूतो यत्र नरकेषु सुचिरं दीर्घकाल पच्यमान तीव्रवेदना अनुभवति ॥८६५॥

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिव्वदुक्खाणि ।
पाएण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरंपि ॥८६६॥

'**तिरियगदीए वि तहा**' तिर्यग्गतावपि चौर प्राप्नोति तीव्राणि दु खानि । प्रायेण नीचयोनिष्वेव ससरति सुचिरमपि ॥८६६॥

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ।
ण य से धणमुवचीयदि सयं च ओलट्टदि धणादो ॥८६७॥

'**माणुसभवे वि**' मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्था नश्यन्ति हृता वा अहृता वा । न चोपयाति संचय धन, तस्य उपचितेऽपि धने स्वय तस्मादपयाति धनात् ॥८६७॥

परदव्वहरणबुद्धी सिरिभूदी णयरमज्झयारम्मि ।
होदूण हदो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८६८॥

'**परदव्वहरणबुद्धी**' परद्रव्यहरणबुद्धि । '**सिरिभूदी**' श्रीभूतिर्नगरमध्ये ताडित प्रहतश्च भूत्वा दीर्घसंसार प्राप्त ॥८६८॥

गा०—महान् सयमका धारी साधु भी विना दिया तृणमात्र भी ग्रहण करके अविश्वसनीय चोरकी तरह तिनकेके समान लघु हो जाता है ॥८६४॥

गा०—चोर मरकर भी नरकमे वास करता है और वहाँ चिरकालतक तीव्र कष्ट भोगता है ॥८६५॥

गा०—तथा चोर तिर्यञ्चगतिमें भी तीव्र दुःख पाता है। वह प्राय चिरकालतक नीच योनियोंमें ही जन्ममरण करता है ॥८६६॥

गा०—मनुष्यभवमे भी उसका धन किसीके द्वारा हरा जाकर अथवा विना हरे नष्ट हो जाता है। वह धनका संचय नही कर पाता। धनका संचय हुआ भी तो वह स्वय उस धनसे वंचित हो जाता है ॥८६७॥

गा०—परद्रव्यको हरनेमें आसक्त श्रीभूतिनामक ब्राह्मण नगरके मध्यमें मारा गया और मरकर दीर्घससारी हुआ इसकी कथा कथाकोशमे है ॥८६८॥

अदत्तादानदोषानुपदर्श्य दत्तं योग्यं गृहाणेति व्याचष्टे—

एदे सव्वे दोसा ण होंति परदव्वहरणविरदस्स ।
तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्तभोइस्स ॥८६९॥

देविंदरायगहवइदेवदसाहम्मि उग्गहं तम्हा ।
उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामण्णसाहणयं ॥८७०॥

'देविंदरायगहवइ' देवेन्द्राणा, राज्ञा, गृहपतीनां, राष्ट्रकूटानां, देवतानां, सधर्मणां च परिग्रहं । **'उग्गह विहिणा'** अवग्रहविधिना । **'दिण्णं'** दत्त । **'गिण्हसु'** गृहाण । **'सामण्णसाहणयं'** श्रामण्यसाधनं ज्ञानसंयमस्य वा साधनं । अदत्तं ॥८७०॥

चतुर्थं व्रतं निरूपयति—

रक्खाहि बंभचेरं अब्बंभं दसविधं तु वज्जित्ता ।
णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥८७१॥

'रक्खाहि बंभचेरं' पालय ब्रह्मचर्यं । अब्रह्म दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमपमत्त पञ्चविधे स्त्रीवैराग्ये ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यं पालयेत्युक्त तदेव न ज्ञायते इत्यारेकाया तद्व्याचष्टे—

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
तं जाण बंभचरं विमुक्कपरदेहतत्तिस्स ॥८७२॥

'जीवो बंभा' ब्रह्मशब्देन जीवो भण्यते । ज्ञानदर्शनादिरूपेण वर्द्धते इति वा । यावल्लोकाकाश वर्धते लोकपूरणाख्याया क्रियाया इति वा । **'जीवम्मि चेव'** ब्रह्मण्येव चर्या । जीवस्वरूपमनन्तपर्यायात्मकमेव निरूप-

---

अदत्तादानके दोष बतलाकर योग्य दत्तवस्तुको ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

गा०—जो परद्रव्य हरनेका त्यागी होता है उसे ये सब दोष नही होते । तथा जो दत्त-वस्तुका ही उपभोग करता है उसमें उक्त दोषोंसे विपरीत गुण सदा होते है ॥८६९॥

गा०—हे क्षपक ! देवेन्द्र, राजा, गृहपति, देवता और साधर्मी साधुओंके द्वारा विधिपूर्वक दी गई परिग्रहको, जो ज्ञान और सयमकी साधक हो, ग्रहण कर ॥८७०॥

अदत्तविरत व्रतका कथन समाप्त हुआ ।

चतुर्थ व्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! दस प्रकारके अब्रह्मको त्याग कर ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर । और पांच प्रकार के स्त्री वैराग्यमे सदा सावधान रह ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेको तो कहा । किन्तु ब्रह्मचर्य क्या है यही नहीं जानते । इसके लिए कहते हैं—

गा०-टी०—ब्रह्म शब्दसे जीव कहा जाता है । अथवा 'बृह' धातुसे ब्रह्म शब्द बना है उसका अर्थ होता है बढ़ना । ज्ञान दर्शन आदि रूपसे बढनेको ब्रह्म कहते हैं । अथवा जब सयोग केवली जिन लोकपूरण समुद्घात करते है तो उनके आत्म प्रदेश लोकाकाश प्रमाण बढकर फैल

यतो वृत्तिर्या 'तं' तां 'जाण' जानीहि। 'बंभचरियं' ब्रह्मचर्यं। 'विमुक्कपरदेहतत्तिस्स' विमुक्तपरदेहव्यापारस्य ॥८७२॥

मनसा वचसा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशयं त्यक्तवत दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुकामो ब्रह्मभेदमाचष्टे—

इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ॥८७३॥

'**इत्थिविसयाभिलासो**' स्त्रीसम्बन्धिनो ये इन्द्रियाणां विषयास्तासां रूपं, तदीयोऽधररसः, तासां वक्त्रप्रभवो गन्धः तासां कलं गीतं, हासो, मधुरं वचः, मृदुस्पर्शश्च तत्र अभिलाषः। आत्मस्वरूपपरिज्ञानपरिणतिलक्षणं ब्रह्मचर्यं 'वहतीति आत्मा ब्रह्म ततोऽन्यो वामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्यायः सोऽत्र भण्यतेऽब्रह्मशब्देन तत्र चर्या नामाभिलाषपरिणतिः। '**वत्थिविमोक्खो**' मेहनविकारानिवारणं[2]। '**पणिदरससेवा**' वृष्याहारसेवना। '**संसत्तदव्वसेवा**' स्त्रीभिः संसक्तानां सम्बद्धानां शय्यादीनां सेवा तदङ्गस्पर्शवदेव कामिनां तत्संप्राप्तद्रव्यस्पर्शोऽपि प्रीतिं जनयति। '**तदिंदियालोयणं चेव**' तासां वराङ्गावलोकनं च ॥८७३॥

सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासो।
इट्ठविसयसेवा वि य अब्बंभं दसविहं एदं ॥८७४॥

'**सक्कारो**' सत्कारः सन्मानना। स च तनुरागप्रवर्तितः। '**संकारो**' संस्कारः तासां वस्त्रमाल्यादिभिः।

जाते हैं। इस प्रकारसे जो बढ़ता है वह ब्रह्म जीव है उस ब्रह्ममें ही चर्या ब्रह्मचर्य है। पराये शरीर सम्बन्धी व्यापारसे अर्थात् स्त्री रमणादिसे विरत मुनि अनन्त पर्यायात्मक जीव स्वरूप का ही अवलोकन करते हुए जो उसीमें रमण करता है वह ब्रह्मचर्य है ॥८७२॥

मन वचन कायसे पर शरीर सम्बन्धी व्यापार विशेषको जिसने त्याग दिया है उसके दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग करनेसे दस प्रकारका ब्रह्मचर्य होता है यह कहनेकी इच्छासे आचार्य अब्रह्मके भेद कहते हैं—

गा०-टी०—स्त्री सम्बन्धी जो इन्द्रियोंके विषय है—उनका रूप, उनके अधरका रस, उनके मुखकी सुगन्ध, उनका मनोहर गायन, हास, मधुर वचन और कोमल स्पर्श, उनकी अभिलाषा करना अब्रह्मका प्रथम भेद है। आत्माके स्वरूपको जानकर उसीमें लीन होना ब्रह्मचर्य है। उसको वहन करनेसे आत्मा ब्रह्म है। उससे अन्य स्त्रीके शरीर सम्बन्धी जो रूप रसादि हैं उन्हे यहाँ अब्रह्म शब्दसे कहा है। उसमें चर्या अर्थात् अभिलाषा रूप परिणति अब्रह्मचर्य है। लिंगमे हुए विकारको दूर न करना दूसरा अब्रह्मका भेद है। इन्द्रियमद कारक आहार करना तीसरा भेद है। स्त्रियोसे सम्बद्ध शय्या आदिका सेवन चतुर्थ भेद है। स्त्रियोंके शरीरके स्पर्शकी ही तरह उनके शरीरसे सम्बद्ध वस्तुओका स्पर्श भी कामी जनोको रागकारक होता है। स्त्रियोंके उत्तम अंगोंका अवलोकन पाँचवाँ भेद है ॥८७३॥

गा०—स्त्रियोंका सम्मान करना छठा भेद है। वस्त्र माला आदिसे उन्हें आभूषित करना

---

१. विहरति—अ०। २ कारनिवा—अ० आ०।

'अदीदसुमरणं' अतीतकालवृत्तिरतिक्रीडास्मरणं। **'अणागदभिलासो'** भविष्यति काले एवं ताभि क्रीडा करिष्यामि इति रत्यभिलाषः। **'इट्ठविसयसेवा वि य'** इष्टविषयसेवापि च। **'अब्बंभं दसविधं एवं'** दशप्रकारमब्रह्मैतत्। अक्षीणरागस्य परद्रव्योपयोगाद्रागद्वेषौ भवतः। तेन संवृत्योपयोगं, परद्रव्यालम्बन[1] श्रद्धानमिति वीतरागतादिषु चरणं ब्रह्मचर्यं ततोऽन्यदिदं दशविधमब्रह्मेति निरूपितं ॥८७४॥

एवं विसग्गिभूदं अब्बंभं दसविहंपि णादव्वं।
आवादे मधुरमिव होदि विवागे य कडुयदरं ॥८७५॥

'एवं विसग्गिभूदं' विषाग्निना सदृशं एतदब्रह्म दशप्रकारमिति ज्ञातव्यं। आपाते मधुरमिव भवति विपाके तु कटुकतमं ॥८७५॥

स्त्रीविषयो रागोऽब्रह्म स च तत्प्रतिपक्षभूतवैराग्येन नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनायाचष्टे—

कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचित्तवुड्ढसेवा य।
संसग्गादोसा वि य करंति इत्थीसु वेरग्गं ॥८७६॥

'कामकदा इत्थिकदा' कामकृता स्त्रीकृताश्च दोषाः। अशुचित्वं, वृद्धसेवा, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्यं ॥८७६॥

कामकृतदोषनिरूपणा प्रबन्धेन उत्तरेण क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होंति।
सव्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥८७७॥

'जावदिया किर दोसा' इत्यादिना यावन्तः किल जन्मद्वये, **'दुहावहा'** दुःखावहा भवन्ति दोषा हिंसादयस्तान्सर्वानपि आवहति मैथुनसंज्ञा मनुष्यस्य ॥८७७॥

सातवाँ भेद है। अतीत कालमें की गई रति क्रीडाका स्मरण करना आठवाँ भेद है। भविष्य कालमे मैं उनके साथ इस प्रकार क्रीडा करूँगा इस प्रकार अनागत रतिमे अभिलाषा नौवाँ भेद है। इष्ट विषयोंका सेवन दसवाँ भेद है। इस प्रकार अब्रह्मके ये दस भेद है ॥८७४॥

गा०—इस प्रकार विष और आगके समान अब्रह्मके दस भेद जानना। यह प्रारम्भमे मधुर प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें अत्यन्त कटु होता है ॥८७५॥

स्त्री विषयक राग अब्रह्म है। वह अपने विरोधी वैराग्यसे ही नष्ट किया जा सकता है। ऐसा मानकर वैराग्यके उपायोंका कथन करते हैं—

गा०—काम विकारसे उत्पन्न हुए दोष, स्त्रियोके द्वारा किये गये दोष, शरीरकी अशुचिता, वृद्ध जनोंकी सेवा, स्त्रीके ससर्गसे उत्पन्न हुए दोष, इनके चिन्तनसे स्त्रियोमे वैराग्य उत्पन्न होता है ॥८७६॥

आगे कामजन्य दोष कहते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमे दुःखदायी जितने भी दोष है मनुष्यकी मैथुन सज्ञामे वे

---

१. नं ज्ञान श्रद्धा–आ० मु०।

सोयदि विलवदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य ।
रत्तिंदिया य णिद्दं ण लहदि पज्झादि विमणो य ।।८७८।।

'**सोयदि विलवदि**' शोचते, विलपति । परितप्यते । '**कामादुरो विसीयदि य**' कामातुरो विषीदति च । नक्तं दिनं निद्रा न लभते । **पज्झादि** विमनस्को भवति ।।८७८।।

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रण्णे वा ।
कामपिसायग्गहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ।।८७९।।

'**सयणे जणे य**' स्वजने परजने, शयने, आसने, ग्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनादिक्रियासु च न रमते कामपिशाचगृहीत. ।।८७९।।

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संवच्छरो व पुरिसस्स ।
सीदंति य अंगाइं होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ।।८८०।।

'**कामादुरस्स गच्छदि खणो वि**' कामव्याधितस्य गच्छति क्षणोऽपि सवत्सर इव । अङ्गानि च सीदन्ति । भवत्युत्कण्ठितश्च पुरुष ।।८८०।।

पाणिदलधरिदगंडो बहुसो चिंतेदि किं पि दीणमुहो ।
सीदे वि णिवाइज्जइ वेवदि य अकारणे अंगं ।।८८१।।

'**पाणिदलधरिदगंडो**' पाणितलधृतगंड, '**बहुसो चिंतेदि**' बहुशश्चिता करोति । किमपि दीनमुख । शीतेऽपि स्विद्यते । वेपते च अङ्गं कारणमन्यदन्तरेण ।।८८१।।

कामुम्मत्तो संतो अंतो डज्झदि य कामचिंताए ।
पीदो व कलकलो मो रदग्गिजाले जलंतम्मि ।।८८२।।

'**कामुम्मत्तो**' कामोन्मत्त । कामचिन्तया चिर दह्यते । पीततामद्रव इव । अरत्यग्नेर्ज्वालासु ज्वलन्तीषु ।।८८२।।

सब दोष वर्तमान हैं ।।८७७।।

गा०—काममे पीडित मनुष्य शोक करता है, विलाप करता है, परिताप करता है, विषाद करता है, रात दिन नही सोता । इष्ट स्त्री आदिका स्मरण करता है और अन्यमनस्क होकर धर्म कर्म भी भूल जाता है ।।८७८।।

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकडे गये मनुष्यका मन स्वजनमें, अन्य मनुष्योंमे, शयनमे, आसनमे, ग्राममे, घरमे, वनमे और भोजन आदिमे नही रमता ।।८७९।।

गा०—कामसे पीडित मनुष्यका एक क्षण भी एक वर्षकी तरह बीतता है । उसके सब अग वेदनाकारक होते है । और वह उत्कण्ठित होता है उसका मन उसीमे लगा रहता है खानपानमे नहीं लगता । वह उसे रुचता नही ।।८८०।।

गा०—वह अपनी हथेलीपर गाल रखकर दीनमुखसे बहुत-सी व्यर्थ चिन्ता किया करता है । शीतकालमे भी पसीनेसे भीग जाता है । विना कारण ही उसके अग काँपते है ।।८८१।।

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे हु अलहंतो ।
घत्तदि मरिदुं बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥८८३॥

'**कामादुरो**' कामातुरो नरः । स्वाभिलषिते जने अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मर्तुं । पर्वतोदधिनिपातेन तरुशाखावलम्बनेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥८८३॥

संकप्पंडयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण ।
विसयबिलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण ॥८८४॥

'**संकप्पंडयजादेण**' सकल्पाण्डप्रसूतेन । रागद्वेषचलयमलजिह्वेन । विषयबिलवासिना रतिमुखेन चिन्ता-तिरोषेण ॥८८४॥

कामभुजगेण दट्ठा लज्जाणिम्मोगदप्पदाढेण ।
णासंति णरा अवसा अणेयदुक्खावहविसेण ॥८८५॥

'**कामभुजंगेण**' कामसर्पेण । लज्जात्वक्निर्मोचनकारिसदर्पदंष्ट्रेण दष्टा अनेकदुःखावहविषेणावशा नरा नश्यन्ति ॥८८५॥

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ।
दस होंति पुणो वेगा कामभुअंगावरुद्धस्स ॥८८६॥

'**आसीविसेण**' आशीविषेण सर्पाग्रणिना दष्टस्यापि सप्तैव वेगा भवन्ति । कामभुजङ्गेन दष्टस्य दशवेगा भवन्ति ॥८८६॥

तान्दशापि वेगान्क्रमेण दर्शयति—

गा०—कामसे उन्मत्त पुरुष अन्तरगमे कामकी चिन्तासे जला करता है। जैसे आगसे तपा ताम्बेका द्रव पीकर मनुष्य अन्तरगमे जलता है वैसे ही वह इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर अन्तरगमे जलती हुई अरतिरूप आगकी ज्वालामें जलता है ॥८८२॥

गा०—कामसे पीड़ित मनुष्य अपनी इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर प्राय. पर्वतसे गिरकर या समुद्रमे डूबकर या वृक्षकी शाखासे लटककर अथवा आगमे कूदकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥८८३॥

गा०—कामरूप सर्प मानसिक संकल्परूप अण्डेसे उत्पन्न होता है। उसके रागद्वेषरूप दो जिह्वाएँ होती हैं जो सदा चला करती हैं। विषयरूपी बिलमें उसका निवास है। रति उसका मुख है। चिन्तारूप अतिरोष है। लज्जा उसकी काचली है उसे वह छोड़ देता है। मद उसकी दाढ़ है। अनेक प्रकारके दुःख उसका जहर हैं। ऐसे कामरूप सर्पसे डँसा हुआ मनुष्य नाशको प्राप्त होता है ॥८८४-८८५॥

गा०—सब सर्पोंमे प्रमुख आशीविष सर्प होता है। उसके द्वारा डसे मनुष्यके तो सात ही वेग होते हैं। किन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा डसे मनुष्यके दस वेग होते हैं ॥८८६॥

उन दस वेगोको क्रमसे कहते हैं—

पढमे सोयदि वेगे दट्ठुं तं इच्छदे विदियवेगे ।
णिस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥८८७॥

'पढमे सोयदि वेगे' प्रथमे वेगे शोचति । द्वितीये वेगे स त द्रष्टुमिच्छति । नि श्वसिति च तृतीये वेगे । आरोहति ज्वरश्चतुर्थे वेगे ॥८८७॥

डज्झदि पंचमवेगे अंगं छट्ठे ण रोचदे भत्तं ।
मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्ठमए ॥८८८॥

'डज्झदि पंचमवेगे' पञ्चमवेगेऽङ्ग दह्यते । भक्तारुचि षष्ठे वेगे । सप्तमवेगे मूर्च्छति । उन्मत्तो भवत्यष्टमे ॥८८८॥

णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ।
संकप्पवसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा ॥८८९॥

नवमे नात्मानं वेत्ति । दशमे वेगे प्राणैर्विमुच्यते । मदान्धस्य सकल्पवशेन पुनस्तीव्रा मन्दा वा भवन्ति वेगा. ॥८८९॥

जेट्ठामूले जोण्हे सूरो विमले णहम्मि मज्झण्हे ।
ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवड्ढंतओ कामो ॥८९०॥

'जेट्ठामूले' ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे विमले नभसि मध्याह्ने रवि स न दहति तथा यथा पुरुष दहति प्रवर्द्धमान. काम ॥८९०॥

सूरग्गी डहदि दिवा रत्तिं च दिया य डहइ कामग्गी ।
सूरस्स अत्थि उच्छागारो कामग्गिणो णत्थि ॥८९१॥

'सूरग्गी डहदि दिवा' सूर्याग्निर्दहति दिवा, नक्त दिवा दहति कामाग्नि । सूर्यस्याच्छादनकारी छत्रादिकमस्ति न कामाग्ने' ॥८९१॥

गा०—कामके प्रथम वेगमें सोचता है जिसको देखा या सुना उसके बारेमे चिन्ता करता है। दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा करता है। तीसरे वेगमे दीर्घ निश्वास लेता है। चतुर्थ वेगमे शरीरमे ज्वर चढ जाता है ॥८८७॥

गा०—पाँचवें वेगमे अग जलने लगते हैं। छठे वेगमें भोजन नही रुचता। सातवें वेगमे मूर्छित हो जाता है। आठवें वेगमे उन्मत्त हो जाता है ॥८८८॥

गा०—नौवें वेगमे अपनेको भी नही जानता। दसवें वेगमे मर जाता है। इस प्रकार कामान्ध पुरुषके सकल्पवश तीव्र या मन्द वेग होते हैं ॥८८९॥

गा०—ज्येष्ठमासके शुक्लपक्षमें मध्याह्नकालमें आकाशके निर्मल रहते हुए सूर्य वैसा नहीं जलाता जैसा पुरुषको प्रज्वलित काम जलाता है ॥८९०॥

गा०—सूर्य अग्नि तो केवल दिनको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि रात दिन जलाती है। सूर्यके तापसे बचनेके उपाय तो छाता आदि हैं किन्तु कामाग्निका कोई उपाय नही है ॥८९१॥

विज्झायदि सूरग्गी जलादिएहिं ण तहा हु कामग्गी ।
सूरग्गी डहइ तयं अब्भंतरबाहिरं इदरो ॥८९२॥

'विज्झायदि सूरग्गी' विध्याति सूर्यजनितस्तापो जलादिभिर्न तथा जलादिभि' कामाग्निः प्रशाम्यति । सूर्यस्योष्णत्व त्वचं दहति । कामाग्निरन्तर्बहिश्च दहति ॥८९२॥

आदिकुलं संवासं धम्मं णियबंधवम्मि अगणित्ता ।
कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥८९३॥

'आदिकुलं' मातृपितृवंश । 'संवासं' [1]सहवमत । धर्म बान्धवानपि अवगणय्य पुरुषोऽकार्यं करोति मैथुनसंज्ञामूढः ॥८९३॥

कामपिसायग्गहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि ।
होइ पिसायग्गहिदो व सदा पुरिसो अणप्पवसो ॥८९४॥

'कामपिसायग्गहिदो' कामपिशाचगृहीत हितमहित वा न वेत्ति, पिशाचेन गृहीत पुरुष इव सदा अनात्मवशो भवति ॥८९५॥

णीचो व णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ।
कामुम्मत्तो लज्जालुओ वि तह होदि णिल्लज्जो ॥८९५॥

'णीचो व णरो' नीच इव नर कृतमपि बहुमुपकार न गणयति । कुलपुत्रोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जावानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ॥८९५॥

कामी सुसंजदाण वि रूसदि चोरो व जग्गमाणाणं ।
पिच्छदि कामग्घत्थो हिदं भणंते वि सत्तू व ॥८९६॥

'कामी सुसंजदाण वि' कामी सुसयतानामपि रुष्यति । जाग्रता चोर इव कामग्रस्त , प्रेक्षते हित प्रतिपादवत शत्रुरिव ॥८९६॥

गा०—सूर्यसे उत्पन्न हुआ ताप तो जल आदिसे शान्त हो जाता है किन्तु कामाग्नि जलादिसे शान्त नही होती । सूर्यकी गर्मी तो चर्मको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि शरीर और आत्मा दोनोको जलाती है ॥८९२॥

गा०—मैथुन सज्ञासे मूढ हुआ मनुष्य मातृवंश, पितृवश, साथमें रहनेवाले मित्रादि, धर्म, और बन्धु बान्धवोकी भी परवाह न करके अकार्य करता है ॥८९३॥

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकडा गया मनुष्य अपने हित अहितको नही जानता । पिशाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यकी तरह अपने वशमें नहीं रहता ॥८९४॥

गा०—जैसे नीच मनुष्य किये गये उपकारको भुला देता है वैसे ही कुलीन वंशका भी व्यक्ति कामसे उन्मत्त होकर पूर्वमे लज्जावान होते हुए निर्लज्ज हो जाता है ॥८९५॥

गा०—जैसे चोर जागते हुए व्यक्तियोंपर रोष करता है वैसे ही कामी संयमीजनोंपर रोष

1. सहवसन–आ० मु० । संवासं सहवसतो जनान् मित्रादीन्–मूलारा० ।

आयरियउवज्झाए कुलगणसंघस्स होदि पडिणीओ ।
कामकलिला हु घत्थो धम्मियभावं पयहिदूणं ॥८९७॥

'**आयरियउवज्झावग**' आचार्याणा अध्यापकाना, कुलस्य गुरुशिष्यवर्गस्य, गुरुधर्मभ्रातृशिष्याणा वा चातुर्वर्ण्यस्य वा संघस्य च भवति प्रतिकूल. कामकलिना ग्रस्त धार्मिकत्व विहाय ॥८९७॥

कामग्घत्थो पुरिसो तिलोयसारं जहदि सुदलाभं ।
तेलोक्कपूइदं पि य माहप्पं जहदि विसयंधो । ८९८॥

'**कामग्घत्थो**' कामग्रस्त । त्रैलोक्यसर्वसारमपि श्रुतलाभ जहाति । त्रैलोक्येन पूजितमपि माहात्म्य त्यजति विषयान्ध ॥८९८॥

तह विसयामिसघत्थो तणं व तवचरणदंसणं जहइ ।
विसयामिसगिद्धस्स हु णत्थि अकायव्वयं किंचि ॥८९९॥

'**तह विसयामिसघत्थो**' विषयामिषलंपट । तृणमिव तपश्चरण दर्शन च जहाति । विषयामिषलपटस्य नास्त्यकार्यं किञ्चित् ॥८९९॥

अरहंतसिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु सव्ववग्गाणं ।
कुणदि अवण्णं णिच्चं कामुम्मत्तो विगयवेसो ॥९००॥

अरहंतसिद्धआयरिय' अर्हता, सिद्धाना, आचार्याणा, उपाध्यायाना, सर्वेषा यतीना चावर्णवाद करोति नित्य विकृतवेष. ॥९००॥

अयसमणत्थं दुःखं इहलोए दुग्गदा य परलोए ।
संसारं पि अणंतं ण मुणदि विसयामिसे गिद्धो ॥९०१॥

करता है। तथा कामी हितकारी बात कहनेवालेको शत्रुके समान देखता है ॥८९६॥

गा०—कामरूपी कलिकालसे ग्रस्त मनुष्य धार्मिक भावको त्याग आचार्य, उपाध्याय, कुल—गुरुका शिष्य समुदाय, गण—गुरुके धर्मबन्धुओंका शिष्य समुदाय और चतुर्विध संघका विरोधी बन जाता है ॥८९७॥

गा०—कामसे ग्रस्त मनुष्य तीनो लोकोंके सारभूत श्रुतज्ञानके लाभको भी छोड़ देता है। वह विषयान्ध होकर तीनो लोकोंसे पूजित माहात्म्यको भी छोड देता है अर्थात् उसे शास्त्र स्वाध्यायमें रस नही रहता और कामके पीछे अपना महत्त्व भी भुला देता है ॥८९८॥

गा०—तथा विषयरूपी मांसमे आसक्त होकर तप चारित्र और सम्यग्दर्शनको तिनकेकी तरह त्याग देता है। ठीक ही है विषयरूपी मासके लोभीके लिए कुछ भी अकार्य नही है, वह सब कुछ अनर्थ कर सकता है ॥८९९॥

गा०—कामसे उन्मत्त साधु साधुरूपको त्यागकर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुजनोंका अवर्णवाद करता है, उनपर मिथ्या दोषारोपण करता है ॥९००॥

गा०—विषयरूपी मासका लोभी मनुष्य अनर्थकारी अपयश, इस लोकके दुःख, परलोकमें दुर्गति और भविष्यमे संसारकी अनन्तताको नही जानता। अर्थात् वह इस बातको भुला देता है

'**अयसमनत्थं**' अयश: अनर्थं । दुःखं चेहलोके परलोके दुष्टां गति, ससारमप्यनन्त भाविनं न वेत्ति विषयामिषे गृद्धः ॥९०१॥

णिच्चं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विसयलुद्धमदी ।
बहुगं पि य अवमाणं विसयंधो सहइ माणीवि ॥९०२॥

'**णिच्चं पि विसयहेदु**' ज्ञानकुलादिभिरतीव न्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुब्धमतिः । परिभवं महान्तमपि धनिभिः क्रियमाणं सहते विषयान्ध. ॥९०२॥

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुत्तदुगुंछियं विगदमाणो ।
[1]वारत्तुओ वि कम्मं अकासि जह लंघियाहेदुं ॥९०३॥

'**णीचं पि कुणदि**' नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टभोजनादिकं कुलीननिन्दित विनष्टाभिमानः । वारत्तिगो नाम यतिरतिगर्हित कर्म कृतवान् तथा कुलीन स्त्रीनिमित्तं ॥९०३॥

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ।
विसयामिसम्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तूणं ॥९०४॥

'**सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ**' सूरस्तीक्ष्णो मुख्योऽपि धनिनो जनस्य वशवर्ती भवति । विषयाभिलाषे लुब्ध. गृद्ध अभिमान रोषं मुक्त्वा ॥९०४॥

माणी वि असरिसस्स वि चडुयम्मं कुणदि णिच्चमविलज्जो ।
मादापिदरे दासं वायाए परस्स कामेंतो ॥९०५॥

'**माणी वि असरिसस्स वि**' मानी असदृशस्यापि चाटुं करोति । वाचा आत्मीया मातरं पितरं वा दास्यमापादयति । तवाहं दासो गृहे भवामीति वदन्पर कामयमानः ॥९०५॥

कि विषयासक्तिका फल ससारमें अपयश, इस लोकमे कष्ट, परलोकमे दुर्गति है तथा ससारका अन्त होना दुष्कर है ॥९०१॥

गा०—विषयोका लोभी मनुष्य कुलीन और बुद्धिमान् होते हुए भी विषय सेवनके लिए ज्ञान और कुल आदिसे अत्यन्तहीन की भी सेवा करता है। वह विषयान्ध धनी पुरुषोंके द्वारा किये गये महान् तिरस्कारको भी सहन करता है ॥९०२॥

गा०—वह अपना सन्मान खोकर कुलीन पुरुषोके द्वारा निन्दित उच्छिष्ट भोजन आदि नीचकर्म करता है। जैसे वारत्रक नामक कुलीन यतिने नर्तकीके लिए अत्यन्त निन्दित काम किया ॥९०३॥

गा०—विषयरूपी मांसका लोभी मनुष्य अभिमान और रोष त्यागकर सूरवीर, असहनशील और प्रमुख होते हुए भी धनी मनुष्यके वशमे हो जाता है ॥९०४॥

गा०—अभिमानी भी निर्लज्ज होकर अपनेसे नीच पुरुषका नित्य चाटुकर्म—पैर दबाना आदि करता है। अपने माता पिताको उसका दास दासी कहता है और कहता है कि मैं तुम्हारे

1. वारत्तिओ आ० मु० । वारत्तओ वारत्रको नाम यतिः—मूलारा० ।

वयणपडिवत्तिकुसलत्तणं पि णासइ णरस्स कामिस्स ।
सत्थप्पहव्व तिक्खा वि मदी मंदा तहा हवदि ॥९०६॥

'**वयणपडियत्तकुसलत्तणं पि**' वचने प्रतिपत्तौ च कुशलतापि नश्यति कामिनो नरस्य । शास्त्रप्रहता शास्त्रे घटिता अतितीक्ष्णापि मति कुंठा भवति ॥९०६॥

होदि सचक्खू वि अचक्खु व वधिरो वा वि होइ सुणमाणो ।
दुट्ठकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥९०७॥

'**होदि सचक्खू वि अचक्खु व**' चक्षुष्मानपि अचक्षुरिव भवति । पर समीपस्थमपि यतो न पश्यति । '**बहिरो वा वि होदि**' बधिर इव भवति । '**सुणमाणो**' शृण्वन्नपि अव्यक्तश्रवणात् । '**दुट्ठकरेणुपसत्तो**' दुष्टकरिणी-प्रसक्त' । '**वणहत्थी चेव**' वनहस्तीव । '**संमूढः**' ॥९०७॥

सलिलणिवुढोव्व णरो बुज्झंतो विगयचेयणो होदि ।
दक्खो वि होइ मंदो विसयपिसाओवहदचित्तो ॥९०८॥

'**सलिलणिवुढो बुज्झतो णरोव्व**' सलिलनिमग्न. प्रवाहेणोह्यमानो नरो यथा । '**विगयचेयणो**' विगत-चैतन्यो भवति । '**दक्खो वि होदि मंदो**' दक्षोऽपि सर्वकार्येषु प्रवीणोऽपि जडो भवति । '**विसयपिसाओवहद-चित्तो**' विषयपिशाचोपहतचित्त. विषया रूपादयश्चेतोविभ्रमहेतुत्वात्पिशाचा इवेति विषया पिशाचा इत्युक्ता ॥९०८॥

बारसवासाणि वि संवसित्तु कामादुरो ण णासीय ।
पादंगुट्ठमसंतं गणियाए गोरसंदीवो ॥९०९॥

'**बारसवासाणि**' द्वादशवर्षमात्र सहोषित्वापि । '**कामादुरोपि**' कामातुरोऽपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः । किं ? गणिकाया पादांगुष्ठमसन्त ॥९०९॥

घरमे दास बनकर रहूँगा ॥९०५॥

गा०—कामी मनुष्यकी वचन कुशलता और समझदारी नष्ट हो जाती है। शास्त्रमे प्रविष्ट अति तीक्ष्ण भी बुद्धि मन्द हो जाती है ॥९०६॥

गा०—दुष्ट हथनीमे आसक्त जगली हाथीकी तरह मूढ कामी पुरुष नेत्रवाला होकर भी अन्धा होता है क्योंकि उसे समीपकी वस्तु भी नही दिखाई देती। तथा कानवाला होकर भी बहरा होता है ॥९०७॥

गा०—जैसे जलमे डूबा और प्रवाहमे बहता मनुष्य चेतनारहित होता है। वैसे ही जिसका चित्त विषयरूपी पिशाचके द्वारा गृहीत है वह मनुष्य सब कार्योंमें प्रवीण होते हुए भी मन्द होता है। यहाँ विषयोको पिशाच कहा है क्योंकि रूपादि विषय चित्तको मोहमें डाल देते है इसलिए वे पिशाचके समान है ॥९०८॥

गा०—गोरसदीप नामक कामपीडित मनुष्य बारह वर्ष तक गणिकाके साथ रहकर भी यह नही जान सका कि गणिकाके पैर मे अँगूठा नही है ॥९०९॥

सीदं उण्हं तण्हं खुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ।
सुकुमारो वि य कामी सहइ वहइ भार'मवि गरुयं ॥९१०॥

'सीदं उण्हं तण्हं' शीतं, उष्णं, तृष्णा, क्षुधां, दुःशयनं, दुराहारं कृत, अध्वगमनश्रम च सहते । कामी सुकुमारोऽपि गुरुमपि भार वहति ॥९१०॥

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लवदि तह मलेइ णरो ।
तुण्णेइ वुणइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥९११॥

'गायदि णच्चदि' गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, लुनाति, मर्दयति, सीव्यति, पट्टवस्त्रादिवयनं करोति । यात्रते कुलप्रसूतोऽपि सन्विषयमुपगत आत्मान भार्यां च पोषयितु ॥९११॥

सेवदि णियादि रक्खदि गोमहिसिमजावियं हय हत्थिं ।
ववहरदि कुणदि सिप्पं सिणेहपासेण दढबद्धो ॥९१२॥

'सेवदि णियादि' सेवति सस्यान्तर्गत तृणादिकमेव । निजति, रक्षति गा, महिषी, अजा, आविक, हयं, हस्तिनो वा । वाणिज्य करोति । समस्तनैपुण्य अतीव तत्कर्मादिक करोति कामिनीगतस्नेहभावेन दृढबद्ध ॥९१२॥

वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ।
कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ॥९१३॥

'वेढेइ विसयहेदुं' वेष्टयति विषयहेतुनिमित्त । आत्मान कलत्रपाशैर्मोचयितुमशक्यै कोशेन कोशकारकीट इव दुर्मति ॥९१३॥

गा०—सुकुमार भी कामी पुरुष सर्दी, गर्मी, प्यास, भूख, खोटी शय्या, खराब भोजन, मार्गमे चलनेका श्रम सहता है और भारी बोझा ढोता है ॥९१०॥

गा०—उच्चकुलमे जन्मा भी मनुष्य विषयासक्त होकर गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेत जोतता है, अन्न बोता है, खेती काटता है, अनाज निकालता है, कपडे सीता है, बुनता है ? यह सब काम विषय परवश होकर अपने और अपनी पत्नीके भरणपोषणके लिए करता है ॥९११॥

गा०—स्त्रीके स्नेहजालमे दृढ़तापूर्वक बँधा मनुष्य राजा आदिकी सेवा करता है, धानके खेतमें लगी घासको उपाडता है । गाय, भैंस, बकरी, भेडे, घोडा, हाथी आदि पालता है । व्यापार करता है । शिल्पकर्म-चित्रकला आदि करता है ॥९१२॥

गा०—जैसे रेशमका कीडा अपने ही मुखमेंसे तार निकालकर उससे अपनेको बाँधता है । वैसे ही दुर्बुद्धि मनुष्य विषयोंके लिए स्त्रीरूप पाशके द्वारा, जिसका छूटना अशक्य है, नित्य अपनेको बाँधता है ॥९१३॥

---

१. -मविगभयं अ० ज० ।

रागो दोसो मोहो कसायपेसुण्ण संकिलेसो य ।
ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक्क कलहो य ।।९१४।।

'**रागो दोसो**' रागो द्वेष., अज्ञान, कषाया , परदोषसस्तवन, संक्लेश., ईर्ष्या, हिंसा, मृषा, परगुणासहनं, स्तैन्यं कलहश्च ।।९१४।।

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपुरोगसोगधणणासो ।
विसयाउलम्मि सुलहा सव्वे दुक्खावहा दोसा ।।९१५।।

'**जंपणपरिभव**' जल्पन परिभव वचना परोक्षेऽपवाद. । शत्रु , रोग शोको, धननाश इत्यादय. । **विसयाउलम्मि सुलहा**' विषयाकुले सुलभा सर्वेऽपि दु खावहा दोषा ।।९१५।।

न केवलमात्मन एव उपद्रवः अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं ।
तिलणालीए तत्ता सलायवेसो व जोणीए ।।९१६।।

'**अवि य वहो जीवाणं**' अपि च बहूना जीवाना वधो भवति । मैथुनसेवया । '**जोणीए**' योन्या तिलैः पूर्णया नालिकाया तप्ताय शलाकाप्रवेश इव ।।९१६।।

कामुम्मत्तो महिलं गम्मागम्मं पुणो अविण्णाय ।
सुलहं दुलहं इण्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ।।९१७।।

'**कामुम्मत्तो**' कामोन्मत्तो । स्त्रिय शरीरमात्मनश्च[1] गम्य भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्यमिति अविज्ञाय इदमित्थमशुचि इति । सुलभा दुर्लभा आत्मन्यभिलाषवती च प्रार्थयते ।।९१७।।

गा०—राग, द्वेष, मोह, कषाय, पैशुन्य—दूसरेके दोष कहना, सक्लेश, ईर्ष्या, हिंसा, झूठ, असूया—दूसरेके गुणोको न सहना, चोरी, कलह, वृथा बकवाद, तिरस्कार, ठगना, पीठ पीछे बुराई करना, शत्रु, रोग, शोक, धननाश इत्यादि सब दु खदायी दोष विषयासक्त व्यक्तिमे सुलभ होते है ।।९१४-९१५।।

आगे कहते हैं कि कामी पुरुष केवल अपना ही घात नही करता. दूसरोंका भी घात करता है—

गा०—जैसे तिलोमे भरी नलिकामे तपाये हुए लोहेकी सलाईके प्रवेशसे तिलोका घात होता है वैसे ही मैथुन सेवनसे योनिमे स्थित बहुतसे जीवोका घात होता है ।।९१६।।

गा०—काममे उन्मत्त पुरुष यह स्त्री भोगने योग्य है या अयोग्य है, सुलभ है या दुर्लभ है, मुझे चाहती है या नही चाहती, इत्यादि जाने विना उसकी याचना करता है ।।९१७।।

---

१ श्च गम्य भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्य मिति अवि–मु० । गम्मागम्म स्त्रिया शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्य उतस्विदगम्यमभोग्यमिति टीकाकार । अन्ये तु गम्मागम्ममित्यपि महिलाविशेषणमाहु । तथा च तद्ग्रन्थः 'कामोन्मत्तो गम्यामगम्यरूपा च दुर्लभा सुलभाम् । अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामथानिच्छाम्' ।
—मूलारा० ।

दट्ठूण परकलत्तं किहिदा पत्थेइ णिग्घिणो जीवो।
ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥९१८

'**दट्ठूण परकलत्तं**' परेषा कलत्रं दृष्ट्वा। कथं तावत् प्रार्थयते जीवो निरस्तलज्जो ममेय भवतीति। एतस्यां प्रार्थनामात्राधिगतायां दुःखं प्राप्नोति। पापं नियोगेनार्जयति ॥९१८॥

आहट्टिदूण चिरमवि परस्स महिलं लभित्तु दुक्खेण।
उप्पित्थमवीसत्थं अणिव्वुदं तारिसं चेव ॥९१९॥

'**आहट्टिदूण चिरमवि**' चिरकालमभिलष्यापि। '**परस्स महिलं**' परस्य महिला परस्य स्त्रिय। '**दुक्खेण लभित्तु**' क्लेशेन लब्ध्वा। '**उप्पित्थं**' व्याकुलवदविश्वस्तमनिर्वृत चरण इति क्रियाविशेषत्वेन नेयं। '**तारिसो चेव**' यथा तदैवाप्राप्ते पूर्वमतृप्तहृदय. पश्चादपि तथैवातृप्तहृदयत्वात्तादृश इत्युच्यते ॥९१९॥

कहमवि तमंधयारे संपत्तो जत्थ तत्थ वा देसे।
किं पावदि रइसुक्कं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥९२०॥

'**कथमपि तमंधकारे**' केनचित्प्रकारेण परवञ्चन ज्ञात्वा[1]। अधकार[2] सप्राप्त.। ता यत्र तत्र वा देशे, शून्यगृहे शून्यायतने, अटव्या च किं प्राप्नोति? रतिसौख्य। प्रकाशे स्वाभिलषितानवयवास्तस्या पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुख भवति। नान्यथेति भाव। किं प्राप्नोति रतिसुख भीत सन् राजपुरुषेभ्यस्तस्य वा सबन्धिभ्य। पश्यन्ति मा परे, बध्नन्ति मा, परपत्नी[3]निवास भाषण अपि तथा त्वरित कि पुना रतम् ॥९२०॥

परमहिलं सेवंतो वेरं वधबंधकलहधणनासं।
पावदि रायकुलादो तिस्से णीयल्लयादो वा ॥९२१॥

गा०—पर स्त्रीको देखकर कामान्ध पुरुष लज्जा त्याग कैसे प्रार्थना करता है कि यह मेरी होवे: उसमे उसे कुछ भी सुख नही उल्टे, पापका ही उपार्जन करता है ॥९१८॥

गा०—चिरकाल तक अभिलाषा करनेपर कदाचित् बड़े कष्टसे परस्त्रीका लाभ भी हो जाये तो उसके मिलनेसे पूर्व वह जैसा व्याकुल, अविश्वस्त और अतृप्त रहता है मिलनेपर भी वैसा ही रहता है ॥९१९॥

गा०-टी०—किसी प्रकार दूसरोको धोखा देकर अन्धकारमे किसी शून्य घरमे या जगलमे उसे पाकर भी क्या रति सुख पाता है वह कामी। प्रकाशमे कोमल शय्यापर मनकी व्याकुलताके अभावमें उस नारीके इच्छित अगोको देखते हुए सुख होता है, अन्यथा नही होता। किन्तु राजपुरुषोंसे अथवा उस नारीके सम्बन्धियोसे भयके होते हुए कि मुझे कोई देखे नही, कोई बांधे नहीं, कि पर पत्नीके साथ निवास करता है, ऐसी स्थितिमे भाषण करनेकी भी जल्दी रहती है, रमण करनेकी तो बात ही क्या? तब क्या सुख मिल सकता है? ॥९२०॥

---

१. कृत्वा–आ०। २ अन्वकाल–अ०। अन्धकालं आ०–अन्नकाल ज०। ३. त्नीति वा संभा०–आ० मु०।

'परमहिलं सेवंतो' परस्त्रियं सेवमान , वैरं, वध, बन्धं, कलह, धननाश च प्राप्नोति [1]राजमूलात् तस्याः स्वजनाद्वा ॥९२१॥

जदि दा जणेइ मेहुणसेवा[2] प्पवंस दारम्मि ।
अदितिव्वं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥९२२॥

'जदि ता जणेइ' यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा । किं ? पाप स्वभार्यायां । अतितीव्र कथं पाप न भवेत् **'परदारसेविस्स'** परस्त्रीसेविन अदत्तादानमब्रह्मेति द्वौ यतो दोषौ ॥९२२॥

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि कदे ।
जह दुक्खमप्पणो होइ तहा अण्णस्स वि णरस्स ॥९२३॥

'मादा धूदा' मातरि दुहितरि भगिन्या परेण विप्रिये कृते कर्माणि यथा दु.खमात्मनो भवति । तथाऽन्यस्यापि नरस्य दु ख भवति । तन्मात्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥९२३॥

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खबीयमज्जेदि ।
णीयं गोदं इत्थीणउंसवेदं च अदितिव्वं ॥९२४॥

'एवं परजणदुःखे' एवमन्यजनदु खे निरपेक्ष परदाररतिप्रियो दु खबीज मर्जिनोति । किं ? असद्वेद्यं कर्म, नीचैर्गोत्र, स्त्रीत्व, नपुंसकत्व च ॥९२४॥

जमणिच्छंती महिलं अवसं परिभुंजदे जहिच्छाए ।
तह य किलिस्सइ जं सो तं मे परदारगमणफलं ॥९२५॥

'जमणिच्छंती महिलं' यन्नेच्छन्ती पुमांस स्त्रीत्वेन अवशा यथेच्छया परिभुज्यमाना यत्क्लिश्यति तत्तस्या जन्मान्तराचरितपरदारगमनफल ॥९२५॥

गा०—परस्त्रीका सेवन करने वालेके सब वैरी होते हैं। वह राजाके पुरुषोंसे अथवा उस स्त्रीके सम्बन्धियोसे बध, बन्धन, कलह और धन नाशका कष्ट पाता है ॥९२१॥

गा०—यदि अपनी पत्नीमे भी मैथुन सेवनसे पाप कर्मका बन्ध होता है तो परस्त्री सेवीको अति तीव्र पापका बन्ध क्यो नही होगा; क्योकि उसमे चोरी और अब्रह्म सेवन दो दोष है ॥९२२॥

गा०—अपनी माता, पुत्री और बहिनके प्रति यदि कोई अप्रिय व्यवहार करे तो जैसे हमे दु.ख होता है वैसे ही दूसरोकी माता आदिके विषयमे असद् व्यवहार करने पर दूसरो को भी दुःख होता है ॥९२३॥

गा०—इस प्रकार दूसरोके दु खका ध्यान न रखनेवाला परस्त्रीगामी पुरुष दुःखके बीज नीचगोत्र, स्त्रीवेद और नपुसक वेदका अति तीव्र बन्ध करता है ॥९२४॥

गा०—इस जन्ममे जो स्त्री परवश होकर ऐसे पुरुषके द्वारा, जिसे वह नहीं चाहती, यथेच्छ भोगी जाती और कष्ट पाती है यह उसके पूर्वजन्ममे किये गये पर स्त्री-गमनका फल है ॥९२५॥

---

१. राजकुलात्–आ० । २. वा पावं सगम्मि दारम्मि–आ० मु० ।

महिलावेसविलंवी जं णीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ।
तह वि ण पूरइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥९२६॥

'महिलावेसविलंबी' स्त्रीवेषविलम्बनापरः पुरुषो यन्नीचं कर्म करोति । तथापि न पूर्यते इच्छा तत्तस्य षंढत्वं परदारगमनफलम् ॥९२६॥

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु [1]भवसयसहस्सेसु ।
अयसायामकरीओ होंति विसीला य णिच्चं से ॥९२७॥

'भज्जा भगिणी मादा' भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहस्रेषु अयशः आयासं कुर्वन्त्यो भवन्ति नित्यं विशीलास्सदा तस्य ॥९२७॥

होइ सयं पि विसीलो पुरिसो अदिदुब्भगो परभवेसु ।
पावइ वधबंधादि कलहं णिच्चं अदोसो वि ॥९२८॥

'होदि सय पि' भवति स्वयमपि विशीलः पुरुषो[2] दुर्भगश्च प्राप्नोति नित्य च वधबन्ध आत्मा सकलह च अदोषोऽपि ॥९२८॥

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ।
कालगदो वि य पच्छा कडारपिंगो गदो णिरयं ॥९२९॥

'इहलोए वि महल्लं कडारपिंगो' इहलोकेऽपि महान्तं दोषं प्राप्तः कामवशङ्गतः । कालं कृत्वा पश्चान्नरके प्रविष्टः कडारपिङ्गः । वाच्यमत्राख्यानकम् ॥९२९॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति पुरिसस्स बंभचारिस्स ।
तव्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥९३०॥

विशेषार्थ—प० आशाधरजीने अपनी टीकामे 'अन्ये' कहकर इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार लिखा है—जो पुरुष उसे न चाहनेवाली नारीको बलपूर्वक यथेच्छ भोगता है और भोगते हुए भी सुख नही पाता, यह उसके परस्त्री भोगका फल है जो कष्टरूप है ॥९२५॥

गा०—स्त्रीका वेश धारण करनेवाला जो पुरुष (नपुसक) नीच कर्म करता है, और यहाँ वहाँ काम क्रीडा करके भी सन्तुष्ट नही होता, उसका यह नपुसकपना परस्त्रीगमनका फल है ॥९२६॥

गा०—परस्त्रीगामीकी भार्या, बहन, माता, पुत्री, लाखों जन्मोमे अपयश और दुःख देनेवाली सदा व्यभिचारिणी होती हैं ॥९२७॥

गा०—परस्त्रीगामी स्वयं भी परभवोंमें (आगामी जन्मोंमें) दुराचारी और अभागा होता है और विना अपराधके भी कलहपूर्वक नित्य बध, बन्ध आदिका कष्ट उठाता है ॥९२८॥

गा०—कामके वशीभूत होकर कडारपिंग इसी जन्ममें महान् दोषका भागी हुआ। पीछे मरकर नरकमें गया ॥९२९॥

---

१. भवसहस्सेसु—आ० । २ परेषु—अ० आ० ।

'एदे सब्वे' एते सर्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिण. पुंसः । तद्विपरीताश्च गुणा भवन्ति बहवो विरागस्य ॥९३०॥

कामग्गिणा धगधगंतेण य डज्झंतयं जगं सव्वं ।
पिच्छइ पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥९३१॥

'कामग्गिणा' कामाग्निना । धगधगायमानेन दह्यमानेन । दह्यमान जगत्सर्वं प्रेक्षते प्रेक्षकभूत स्वय विरतीभूतः । कः ? वीतरागः ॥९३१॥

इत्थिकथा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तर प्रबन्ध । कामकदा—

महिला कुलं सवासं पदिं सुदं मादरं च पिदरं च ।
विसयंधा अगणंती दुक्खसमुद्दम्मि पाडेइ ॥९३२॥

महिला दु खसमुद्रे पातयति विषयान्धा अगणयन्ती । किं ? कुल महवासिन. पति, सुत, मातरं च पितरं च ॥९३२॥

माणुण्णयस्स पुरिसद्दुमस्स णीचो वि आरुहदि सीसं ।
महिलाणिस्सेणीए णिस्सेणीए व्व दीहदुमं ॥९३३॥

'माणुण्णयस्स' मानोन्नतस्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलानि श्रेयिण्या निश्रेण्या दीर्घमिव द्रुम ॥९३३॥

पव्वदमित्ता माणा पुंसाणं होंदि कुलबलधणेहिं ।
बलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य ॥९३४॥

'पव्वदमित्ता माणा' भवन्ति मानानि पुरुषाणा कुलबलधनै । बलिभि अक्षोभ्याणि गिरिवल्लोके प्रकाशभूतानि च ॥९३४॥

विशेषार्थ—कडारपिंगकी कथा सोमदेवके उपासकाध्ययनमे आई है ।

गा०—ब्रह्मचारी पुरुषके ये सब दोष नही होते । प्रत्युत विरागीके इन दोषोंसे विपरीत बहुतसे गुण होते है ॥९३०॥

गा०—विरागी मुक्तात्माकी तरह प्रज्वलित कामाग्निसे जलते हुए सब जगत्को एक प्रेक्षकके रूपमे देखता है । अर्थात् वह केवल द्रष्टा ही रहता है उसके कष्टसे स्वयं पीड़ित नहीं होता ॥९३१॥

आगे 'इत्थी कथा'—स्त्री कथाका व्याख्यान करते हैं—

गा०—विषयसे अन्धी हुई स्त्री किमीकी परवाह न करके अपने कुलको, साथमे रहने वाले पति, पुत्र, माता और पिताको दुःखके समुद्रमें गिरा देती है ॥९३२॥

गा०—जैसे नसैनीके द्वारा छोटा आदमी भी ऊँचे वृक्ष पर चढ जाता है वैसे ही महिला रूपी नसैनीके द्वारा नीच पुरुष भी मानसे उन्नत पुरुष रूपी वक्षके सिर पर चढ़ जाता है अर्थात् स्त्रीके कारण नीच पुरुषके द्वारा गर्वोन्नत मनुष्यका भी सिर नीचा हो जाता है ॥९३३॥

गा०—कुल बल और धनसे पुरुषोका अहंकार सुमेरुपर्वतके समान जगत्मे विख्यात है ।

ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जंति दुट्ठमहिलाहिं ।
जह अंकुसेण [1]णिस्साइज्ज हत्थी अदिबलो वि ॥९३५॥

'**ते तारिसया माणा**' तानि तथाभूतानि मानानि अवमथ्यन्ते दुष्टस्त्रीभि । यथा अङ्कुशेन निषद्या कार्यते हस्तो अतिबलोऽपि ॥९३५॥

आसीय महाजुद्धाइं इत्थिहेदुं जणम्मि बहुगाणि ।
भयजणणाणि जणाणं भारहरामायणादीणि ॥९३६॥

'**आसीय महाजुद्धाणि**' आसन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिमित्तानि बहूनि भयजननानि जनाना भारत-रामायणादीनि ॥९३६॥

महिलासु णत्थि वीसभपणयपरिचयकदण्णदा णेहो ।
लहुमेव परगयमणा[2] ताओ सकुलंपि जहंति ॥९३७॥

'**महिलासु**' स्त्रीषु न सन्ति विस्रम्भ प्रणय, परिचय, कृतज्ञता, स्नेहश्च । महसा परगतचित्तास्ता स्वकुलं जहति ॥९३७॥

पुरिसस्स दु वीसंभ करेदि महिला बहुप्पयारेहिं ।
महिला वीसंभेदुं बहुप्पयारेहिं वि ण सक्का ॥९३८॥

'**पुरिसस्स दु वीसंभं**' पुरुषस्य विस्रम्भ जनयन्ति स्त्रियो बहुभि प्रकारैर्युवतीर्विस्रम्भं नेतु न शक्ताः पुमास. ॥९३८॥

अदिलहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदस्सहस्समगणंती ।
पइ अप्पाणं च कुलं धणं च णासंति महिलाओ ॥९३९॥

'**अदिलहुयगे वि दोसे**' स्वल्पेऽपि दोषे कृते सुकृतशतमप्यगणय्य पतिं, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयन्ति युवतय. ॥९३९॥

उसे बलवान भी नही हिला सकते ॥९३४॥

गा०—किन्तु इस प्रकारके अहंकार भी दुष्ट स्त्रियोके द्वारा नष्ट कर दिये जाते है। जैसे अंकुशसे अति बलवान हाथी भी बैठा दिया जाता है ॥९३५॥

गा०—स्त्रीके कारण इस जगत्मे भारत रामायण आदिमे वर्णित अनेक महायुद्ध हुए जो लोगोंके लिये भयकारक थे ॥९३६॥

गा०—स्त्रियोमे विश्वास, स्नेह, परिचय, कृतज्ञता नही है। वे पर पुरुषपर आसक्त होने-पर शीघ्र ही अपने कुलको अथवा कुलीन भी पतिको छोड देती है ॥९३७॥

गा०—स्त्री अनेक प्रकारोंसे पुरुषमे विश्वास उत्पन्न करती हैं किन्तु पुरुष अनेक उपायोसे भी स्त्रीमे विश्वास उत्पन्न करनेमें समर्थ नही होता ॥९३८॥

गा०—थोड़ा-सा भी अपराध होनेपर स्त्री सैकडो उपकारोंको भुलाकर अपना, पतिका,

---

१ णिसियाविज्जादि–मूलारा० । २ णाओ–आ० मु० ।

आसीविसो व्व कुविदा ताओ दूरेण [1]णिहुदपावाओ ।
रुठ्ठो चंडो राया व ताओ कुव्वंति कुलघादं ॥९४०॥

'**आसीविसो व्व**' आशीविष इव कुपितास्ता दूरेण ढौकितु न शक्या. । रुष्टश्चण्डो राजेव ताः कुर्वन्ति कुलघात ॥९४०॥

अकदम्मि वि अवराधे ताओ वीसत्थमिच्छमाणीओ ।
कुव्वंति वहं पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिदुणो वा ॥९४१॥

'**अकदम्मि वि**' अकृतेऽपि । '**अवराधे**' अपराधे । '**ताओ**' ता । '**वीसत्थमिच्छमाणीओ**' स्वेच्छाप्रवृत्तिमभिलषन्त्यः । '**पदिणो वधं कुव्वंति**' पत्युर्वध कुर्वन्ति, '**सुदस्स**' सुतस्य, '**ससुरस्स**' श्वशुरस्यापि । '**पिदुणो वा**' पितुर्वा वधं कुर्वन्ति ॥९४१॥

सक्कारं उवकारं गुणं व सुहलालणं च णेहो वा ।
मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चिंतेइ ॥ ९४२॥

'**सक्कारं**' सत्कार सन्मानं । '**उवयार**' उपकार, '**गुण**' कुलरूपयौवनादिक गुण च पत्यु । '**सुहलालणं**' सुखेन पोषणं च । '**णेहो वा**' स्नेहं च '**महुरवयणं च**' मधुरवचन च । '**महिला**' युवति । '**परगदहिदया**' परपुरुषानुरक्तचित्ता । '**ण चिंतेइ**' न चिन्तयति ॥९४२॥

साकेदपुराधिवदी देवरदी रज्जसुक्खपब्भट्ठो ।
पंगुलहेदुं छूडो णदीए रत्ताए देवीए ॥९४३॥

'**साकेदपुराधिवदी**' साकेतपुरस्य स्वामी । '**देवरदी**' देवरतिसज्ञित । '**रज्जसोक्खपब्भट्टो**' राज्येन सौख्येन च नितरा भ्रष्ट । '**पंगुलहेदु**' पङ्गुलनिमित्त गन्धर्वप्रवीणेन पङ्गुना सह जीवितुमभिलषन्त्या । '**छूडो**' विक्षिप्त । '**णदीए**' नद्या । '**रत्ताए देवीए**' रक्तानामधेयया देव्या ॥९४३॥

कुलका और धनका नाश कर देती है ॥९३९॥

गा०—क्रुद्ध सर्पकी तरह उन स्त्रियोको दूरसे ही त्यागना चाहिए। रुष्ट प्रचण्ड राजाकी तरह वे कुलका नाश कर देती हैं ॥९४०॥

गा०—वे स्वच्छन्द प्रवृत्तिकी इच्छासे विना किसी अपराधके पति, पुत्र, श्वसुर अथवा पिताका घात कर देती है ॥९४१॥

गा०—परपुरुषमे जिसका चित्त लग जाता है वह स्त्री अपने पतिके, सन्मान, उपकार, कुल, रूप, यौवन आदि गुण, स्नेह, सुखपूर्वक लालन-पालन और मधुर वचनोका भी विचार नही करती ॥९४२॥

गा०—अयोध्या नगरीका स्वामी देवरति राज्य सुखसे वंचित हो गया उसको रक्ता नामकी रानीने गान-विद्यामे प्रवीण एक लगडे व्यक्तिपर आसक्त होकर अपने पतिको नदीमें फेंक दिया ॥९४३॥

---

१. दूरेण अणादिअप्पावो–अ०

ईसालुयाए गोववदीए [1]गामकूडधूयिया चेव ।
छिण्णं पहदो सीसं भल्लेण पासे सीहबलो ॥९४४॥

'**ईसालुयाए**' ईर्ष्यावत्या । '[2]**कोववदीए**' कोपवतीनामधेया तया । '**गामकूडधूविगा एव**' ग्रामकूटस्य दुहितु । '**सीसं छिण्णं**' शिरसि छिन्नं । '**पहदो**' प्रहतस्तथा । '**भल्लएण**' शक्त्या । '**पासम्मि**' पार्श्वदेशे । '**सीहबलो**' सिहबलसंज्ञित ॥९४४॥

वीरमदीए सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाए वाणियओ ।
पहदो दत्तो य तहा छिण्णो ओट्ठोत्ति आलविदो ॥९४५॥

'**वीरवदीए**' [3]वीरपत्नीमज्झिकया । '**सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाए**' शूलस्थचोरदष्टाधरया । '**वाणियगो**' वणिक्सुत । '**पहदो**' प्रहत । '**दत्तो य**' दत्तश्च । '**तहा**' तथा । '**छिण्णो ओट्ठोत्ति**' ओष्ठच्छेदःऽनेन कृत. इति च । '**आलविदो**' भणित ॥९४५॥

वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हसप्पसत्तूसु ।
सो वीसंभं गच्छदि वीसंभदि जो महिलियासु ॥९४६॥

'**वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकिण्हसप्पसत्तूसु**' व्याघ्रे, विषे, चोरे, अग्नौ, जले, मत्तगजे, कृष्णसर्पे, शत्रौ च । '**सो विस्संभं गच्छदि**' स विस्रम्भ गच्छति । '**विस्सभदि जो महिलियासु**' विस्रम्भ य करोति वनितासु ॥९४६॥

वग्घादीया एदे दोसो ण णरस्स तह करेज्जण्हू ।
जं कुणइ महादोसं दुट्ठा महिला मणुस्सस्स ॥९४७॥

गा०—ईर्ष्यालु कोपवतीने ग्रामकूटकी पुत्रीका सिर काट दिया और सिहबलकी कोखमे भाला भोक दिया ॥९४४॥

विशेषार्थ देवरति और सिंहबलकी कथा बृहत्कथाकोशमे ८५-८६ नम्बरपर हैं । उसमे गोमती नाम है ॥९४४॥

गा०—वीरमती एक चोरसे फँसी थी । उसे सूली दी गई तो वह उससे मिलने गई । चोरने कहा—अपने मुखका पान दो । इस बहाने चोरने उसका ओठ काट लिया । उसने कहा कि मेरे पति दत्तने मेरा ओठ काट लिया ॥९४५॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमे वीरवतीकी कथाका क्रमाङ्क ८७ है ॥९४५॥

गा०—जो स्त्रियोका विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, चोर, आग, पानी, मत्त हाथी, कृष्ण सर्प, और शत्रुका विश्वास करता है अर्थात् स्त्रीपर विश्वास ऐसा ही भयानक है जैसा इनपर विश्वास करना भयानक है ॥९४६॥

---

१ 'गामकूडधूदिया सीसं । छिण्ण पहदो तध भल्लएण पासम्मि'।—मु० । २ गोववदीए गोपवती'—मु० । गोववदीए गोपवती संज्ञया—मूलारा० । ३. वीरमती—आ० ।

व्याघ्रादिषु विस्रम्भगमनात्पापीयो विस्रम्भगमन वनितास्विति कथयत्युत्तरगाथा। **'वग्घादीया'** व्याघ्र-विषादय पूर्वसूत्रनिर्दिष्टा। **'दोसं'** दोष। **'णरस्य'** नरस्य। **'ण करिज्जण्हू'** न कुर्युः। **'जं कुणदि महादोसं'** यं करोति महान्तं दोष। **'दुट्ठा महिला'** दुष्टा वनिता। **'मणुस्सस्स'** मनुष्यस्य ॥९४७॥

पाउसकालणदीवोव्व ताओ णिच्चंपि कलुसहिदयाओ।
धणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जगुरुयाओ ॥९४८॥

'पाउसकालणदीवोव्व' प्रावृट्कालस्य नद्य इव। **'ताओ'** ता। **'णिच्च पि'** नित्यमपि। **'कलुस्स-हिदयाओ'** कलुषहृदया। स्त्रीषु हृदमशब्देन चित्तमुच्यते। नदीष्वभ्यन्तर। रागेण, द्वेषेण, मोहेन, ईर्ष्यया, असूयया, मायया वा कलुषीकृतमेव चित्त तासा। **'चोरोव्व'** चोर इव। **'सकज्जगुरुगाओ'** स्वकार्ये गुर्व्य। **'धणहरणकदमदीओ'** धनापहरणे कृतबुद्धय। चौरा अपि कथमस्माभिरिदमेतदीयमात्मसात्कृत भवतीति कृत-बुद्धय[1]। ता अपि मधुरवचनेन रतिक्रीडानुकूलतया वा पुरुषस्य द्रव्यमाहर्तुमुद्यता ॥९४८॥

रोगो दारिद्दं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिसस्स।
ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥९४९॥

'रोगो दारिद्दं वा' व्याधिर्दारिद्र्य वा। जरा वा। **'ण उवदि'** न ढौकते यावत्पुरुष। **'ताव पिओ होदि णरो'** तावत्प्रियो भवति नर। **'कुलपुत्तोए वि'** कुलपुत्र्या अपि। **महिलाए** कान्ताया। कुलपुत्रीषु वान्या[1] किमस्ति साध्वो हि प्रायेण कुलपुत्र्य पतिमेव देवतेति मन्यमाना प्रिय त्यजन्तीति ॥९४९॥

जुण्णो व दरिद्दो वा रोगी सो चेव होइ से वेसो।
णिप्पीलिओव्व उच्छू मालाव मिलाय गदगंधा ॥९५०॥

व्याघ्रादिमे विश्वास करनेकी अपेक्षा स्त्रियोमे विश्वास करना अधिक खतरनाक है यह कहते हैं—

गा०—पूर्वगाथामे कहे गये व्याघ्र आदि मनुष्यका उतना अहित नहीं करते, जितना महान् अहित दुष्ट स्त्री करती है ॥९४७॥

गा०-टी०—वर्षाकालकी नदियोकी तरह स्त्रियोका हृदय भी नित्य कलुपित रहता है। स्त्रियोके पक्षमे हृदय शब्दका अर्थ चित्त है और नदियोके पक्षमे अभ्यन्तर है। राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, परनिन्दा अथवा मायाचारसे स्त्रियोका चित्त सदा कलुपित रहता है। चोरकी तरह वे भी अपना कार्य करनेमे तत्पर रहती है और उनकी बुद्धि मनुष्यका धन हरनेमे रहती है। चोर भी यही विचारते रहते है कि कैसे हम इनका धन हरण करे। स्त्रियाँ भी मीठे वचनोसे अथवा रतिक्रीड़ामें अनुकूल बनकर पुरुषका द्रव्य हरनेमे तत्पर रहती है ॥९४८॥

गा०—कुलीन महिलाएँ प्रायः पतिको ही देवता मानकर अपने प्रियको छोड़ देती हैं। किन्तु कुलीन नारियोका भी मनुष्य तभी तक प्रिय रहता है जब तक उसे रोग या दारिद्र्य, बुढ़ापा नही सताता ॥९४९॥

---

१ वाच्य ज०।

'**जुण्णो**' वृद्धो वा '**दरिद्दो**' दरिद्र । '**रोगिबो**' व्याधित । '**सो चेव**' स एव युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे वा य. प्रिय स एव '**होदि**' भवति । '**से**' तस्या. । '**बेसो**' द्वेष्य. । '**णिप्पीलिदोव्व**' निष्पीडित इव '**उच्छू**' इक्षु. । '**मालाव मिलाय गवगधा**' मालेव म्लाना नष्टगन्धा । अपहृतरस इक्षु शोभारहितनिर्गन्धमाला च यथा-ऽप्रिया । यौवन, धन, शक्तिश्च पुंसोऽतिशयस्तदपाये नैवासाविष्यते स्त्रीभि: ॥९५०॥

महिला पुरिसमवण्णाए चेव वंचइ णियडिकवडेहिं ।
महिला पुण पुरिसकदं जाणइ कवडं अवण्णाए ॥९५१॥

'**महिला पुरिसमवण्णाए**' वनिता पुरुषमनादरेणैव वञ्चयति । निकृत्या कपटतया च स्त्रीभि. कृतां निकृति वञ्चना शठता च न जानन्ति पुमास. । '**महिला पुण**' वामलोचना पुन '**जाणदि**' जानाति । कि ? कपटशत '**पुरिसकदं**' पुरुषेण कृत । '**अवण्णाए**' अवज्ञया औदासीन्येनैव अक्लेशेनेति यावत् ॥९५१॥

नरो ह्येव मन्यते प्रियोऽहमेतस्या इति न[1] च सा इत्याचष्टे—

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ त णरं महिला ।
जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥९५२॥

'**जह जह मण्णेइ णरो**' यथा यथा मानयति नर तथा तथा परिभवति त नर युवति । '**जह जह कामेदि णरो**' यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा '**पुरिसं विमाणेदि**' तथा तथा पुरुष विमानयति ॥९५२॥

मत्तो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविंभलाओ महिलाओ ।
दासेव मगे पुरिसे किं पि य ण गणंति महिलाओ ॥९५३॥

'**मत्तो गओव्व**' मत्तगज इव । '**णिच्चं**' नित्य । '**ताओ मदविंभलाओ**' मदेन विह्वला युवतय । '**दासे व सगे पुरिसे**' दासे वा स्वपुरुषे वा । '**किंचिवि**' किञ्चिदपि विशेषजात । '**ण गणंति**' नैव गणयन्ति । कुलीनोऽय मान्यो भर्ता स्वामी मम । दास्या पुत्रोऽयं जघन्य अहमस्य [2]स्वामिनीति विवेक (न) करोति ॥९५३॥

गा०-टी०—युवावस्थामे, धनी अवस्थामे अथवा नीरोग अवस्थामे जो मनुष्य स्त्रियोको प्रिय होता है वही मनुष्य वृद्ध, दरिद्र अथवा रोगी होने पर रस निकाली हुई ईखकी तरह अथवा गन्ध रहित मलिन मालाकी तरह अप्रिय होता है। अर्थात् रस निकाली हुई ईख और शोभा रहित गन्धहीन माला जैसे अप्रिय होती है वैसे ही यौवन धन और शक्ति पुरुष की विशेषताएँ हैं, उनके न रहने पर उसे स्त्रियाँ पसन्द नही करती ॥९५०॥

गा०—स्त्री पुरुषको छल कपटके द्वारा अनायास ही ठग लेती है, पुरुष स्त्रियोके छल कपटको जान भी नही पाता। किन्तु पुरुषके द्वारा किये गये कपटको स्त्री तुरन्त जान लेती है उसे उसके लिये कुछ भी कष्ट उठाना नही होता ॥९५१॥

पुरुष समझता है कि मै इसको प्रिय हूँ किन्तु स्त्री ऐसा नही समझती, यह कहते है—

गा०—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे वैसे स्त्री उसका निरादर करती है। जैसे जैसे मनुष्य उसकी कामना करता है वैसे वैसे वह पुरुषकी अवज्ञा करती है ॥९५२॥

गा०—मत्त हाथीको तरह स्त्रियाँ मदसे उन्मत्त रहती हैं। वे अपने दासमे और पतिमें कुछ

१ न चासौ प्रिय इ—आ० मु० । २ स्वामी नेति—ज० ।

अणिहुदपरगदहिदया ताओ वग्घीव दुट्ठहिदयाओ ।
पुरिसस्स ताव सत्तू व सदा पावं विचिंतंति ॥९५४॥

'अणिहुदपरगदहिदया ताओ' अनिभृतं परगत हृदयमासामिति अनिभृतपरगतहृदया भवन्ति । अनिवारितपरासक्तचित्ततादोषा । **'वग्घीव दुट्ठहिदयाओ'** दुष्टहृदयमासा अकृतेऽप्यपकारे यथा व्याघ्री पर मारयितुमेव कृतचित्तेति दुष्टहृदया एवमिमा अपि । **'पुरिसस्स ताव'** पुरुषस्य तावत् । **'सत्तू व सदा पावं विचितंति'** शत्रुरिव सदा पापमेव अशुभमेव चेतसि कुर्वन्ति । यथा यो रिपु कश्चित्कस्यचित्सर्वदा धनमस्य [1]विनश्यतु, विपदोऽस्य [2]भवन्त्विति चित्त करोति तथैव ता अपि ॥९५४॥

संझाव णरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ।
वादोव महिलियाण हिदयं अदिचंचलं णिच्चं ॥९५५॥

'संझाव णरेसु सदा ताओ होंति' सध्या इव नरेषु सदा ता भवन्ति । **'खणमित्तरागाओ'** अल्पकालरागा । अस्थिररागता नाम दोष प्रकटित । यथा सध्याया रक्तता विनाशिनी । **'महिलियाण हिदयं अदिचंचलं णिच्चं'** स्त्रीणा हृदय अतिचञ्चल नित्य । किमिव ? **'वादो व'** वात इव ॥९५५॥

जावइयाइं तणाइं वीचीओ वालिगाव रोमाइं ।
लोए हवेज्ज तत्तो महिलाचिंताइं बहुगाइं ॥९५६॥

'जावइयाइं' यावन्ति तृणानि, **'वीचय'**, वालुका, **रोमाणि'** च जगति ततो युवतीना चिन्ता बह्व्यः ॥९५६॥

आगास भूमि उदधी जल मेरू वाउणो वि परिमाणं ।
मादुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण चित्ताइं ॥९५७॥

भी अन्तर नही करती। यह मेरा मान्य कुलीन पति है और यह दासीका पुत्र नीच है, मै इसकी स्वामिनी हूँ यह भेद नही करती ॥९५३॥

गा०-टी०—उनका चित्त निरन्तर पर पुरुषमे रहता है। तथा व्याघ्रीकी तरह उनका हृदय दुष्ट होता है। जैसे व्याघ्री कोई अपकार न करने पर भी दूसरेको मारनेका ही विचार रखती है उसी तरह ये स्त्रियाँ भी होती है। वे शत्रुके समान सदा पुरुषके अशुभका ही चिन्तन करती हैं। जैसे किसीका कोई शत्रु सदा चित्तमे सोचता रहता है—इसका धन नष्ट हो जाये, इस पर विपत्तियाँ आयें, वैसे ही स्त्रियाँ भी सदा बुरा विचारा करती है ॥९५४॥

गा०—सन्ध्याकी तरह स्त्रियोका राग भी अल्प काल रहता है। जैसे सन्ध्याकी लालिमा विनाशीक है वैसी ही स्त्रियोका अनुराग भी विनाशीक है। इससे अस्थिर रागता नामक दोष प्रकट किया है। तथा महिलाओका हृदय वायु की तरह सदा अति चचल होता है ॥९५५॥

गा०—लोकमे जितने तृण हैं, (समुद्रमे) जितनी लहरें हैं, बालुके जितने कण है तथा जितने रोम हैं, उनसे भी अधिक स्त्रियोके मनोविकल्प हैं ॥९५६॥

---

१ विनश्यति-अ० आ०। २ भवन्तीति-अ० आ०।

'आगासभूमि' आकाशस्य भूमेरुदधेर्जलस्य, मेरोर्वायोश्च परिमाणमस्ति। स्त्रीणा चित्तं पुनर्मातुं न शक्यमस्ति ॥९५७॥

चिट्ठंति जहा ण चिरं विज्जुज्जलबुब्बुदो व उक्का वा।
तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवदि पीदी ॥९५८॥

'जहा ण चिरं चिट्ठंति' यथा न चिरं तिष्ठन्ति विद्युत.। जलबुद्‌बुदा उल्काश्च तथा वनिताना न कस्मिंश्चित्पुरुषे प्रीतिश्चिर तिष्ठति ॥९५८॥

परमाणू वि कहंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुस्सस्स।
ण य सक्का घेत्तुं जे चित्तं महिलाए अदिसण्हं ॥९५९॥

परमाणुरपि कथचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमागच्छेत्। वनितानां चित्त पुन ग्रहीतु न शक्यमति-सूक्ष्मं ॥९५९॥

कुविदो व किण्हसप्पो दुट्ठो सीहो गओ मदगलो वा।
सक्का हवेज्ज घेत्तुं ण य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥९६०॥

'कुविदो व' कुपित कृष्णसर्प. दुष्टः सिंहो, मदगजो वा ग्रहीतु शक्यते। न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्ट-वनिताचित्तम् ॥९६०॥

सक्कं हविज्ज दट्ठुं विज्जुज्जोएण रूवमच्छिम्मि।
ण य महिलाए चित्तं सक्का अदिचंचलं णादुं ॥९६१॥

'सक्कं हवेज्ज' विद्युद्द्योतेन अक्षिस्थ रूपं द्रष्टुं शक्य न पुनर्युवतिचित्तमतिचपलं अवगन्तुं शक्यम् ॥९६१॥

गा०—आकाशकी भूमि, समुद्रके जल, सुमेरु और वायुका भी परिमाण मापना शक्य है किन्तु स्त्रियोके चित्तका मापना शक्य नही है ॥९५७॥

गा०—जैसे बिजली, पानीका बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नही रहते, वैसे ही स्त्रियोकी प्रीति एक पुरुषमे बहुत समय तक नही रहती ॥९५८॥

गा०—परमाणु भी किसी प्रकार मनुष्यकी पकडमे आ सकता है। किन्तु स्त्रियोंका चित्त पकड़में आना शक्य नही है वह परमाणुसे भी अति सूक्ष्म है ॥९५९॥

गा०—क्रुद्ध कृष्ण सर्प, दुष्ट सिंह, मदोन्मत हाथीको पकडना शक्य हो सकता है किन्तु दुष्ट स्त्रीके चित्तको पकड़ पाना शक्य नहीं है ॥९६०॥

गा०—बिजलीके प्रकाशमे नेत्रमें स्थित रूपको देखना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके अति चंचल चित्तको जान लेना शक्य नही है ॥९६१॥

[1]अणुवत्तणाए गुणवयणेहि य चित्तं हरंति पुरिसस्स ।
मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिस ण याणंति ।।९६२।।

[2]अलिएहिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ।
पुरिसस्स चलं चित्तं हरंति कवडाओ महिलाओ ।।९६३।।

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पहणदि य पावहिदएण ।
वयणे अमयं चिट्ठदि हियए य विसं महिलियाए ।।९६४।।

'**महिला पुरिसं वयणेहिं**' वनिता पुरुष वचनैर्हरति । हन्ति च पापेन हृदयेन । वाक्ये मधु तिष्ठति । हृदये विषं युवतीनाम् ।।९६४।।

[3]तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्ठिमंसपरिसेसं ।
उद्दाहंति वधंति य बडिसामिसलग्गमच्छं व ।।९६५।।

उदए पवेज्ज हि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ।
ण य महिलाण कदाई उज्जुयभावो णरेसु हवे ।।९६६।।

'**उदए पवेज्ज खु**' उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न दहेत्, शीतलो वा भवेत् । नैव वनिताना कदाचिन्नरेषु ऋजु भवति मन ।।९६६।।

उज्जुयभावम्मि असन्तयम्मि किध होदि तासु वीसभो ।
विस्संभम्मि असंते का होज्ज रदी महिलियासु ।।९६७।।

गा०—जब तक वे पुरुषको अपनेमे अनुरक्त नही जानती तब तक वे पुरुषके अनुकूल वर्तनके द्वारा तथा प्रशसा परक वचनोके द्वारा पुरुषके मनको उसी प्रकार आकृष्ट करती है जैसे माता बालकके मनको आकृष्ट करती है ।।९६२।।

गा०—बनावटी हास्य वचनोसे, बनावटी रुदनसे, झूँठी शपथोसे कपटी स्त्रियाँ पुरुषके चंचल चितको हरती है ।।९६३।।

गा०—स्त्री वचनोके द्वारा पुरुषको आकृष्ट करती है और पापपूर्ण हृदयसे उसका घात करती है । स्त्रीके वचनोमे अमृत भरा रहता है और हृदयमे विष भरा होता है ।।९६४।।

गा०—जब वे जानती हैं कि हमारेमे अनुरक्त पुरुषके पास चाम हड्डी और मांस ही शेष है तो उसे वशोमे लगे मासके लोभसे फँसे मत्स्यकी तरह संताप देकर मार डालती हैं ।।९६५।।

गा०—शिला पानीमे तिर सकती है । आग भी न जलाकर शीतल हो सकती है किन्तु स्त्रीका मनुष्यके प्रति कभी भी सरल भाव नही होता ।।९६६।।

गा०—सरल भावके अभावमें कैसे उनमे विश्वास हो सकता है । और विश्वासके अभावमे स्त्रियोमें प्रेम कैसे हो सकता है ।।९६७।।

१-२. एते द्वे अपि गाथे टीकाकारो नेच्छति । ३. एता टीकाकारो नेच्छति ।

'उज्जुगभावम्मि' ऋजुभावे असति कथं भवति तासु विस्रम्भः। असति विस्रम्भे का वनितासु रतिः ॥९६७॥

गच्छिज्ज समुद्दस्स वि पारं पुरिसो तरित्तु ओघबलो ।
मायाजलमहिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥९६८॥

'गच्छिज्ज' गच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः। मायाजलवनितोदधिपार नैव गन्तुं शक्नोति ॥९६८॥

रदणाउला सवग्घावगुहा गाहाउला च रम्मणदी ।
मधुरा रमणिज्जावि य सढा य महिला सदोसा य ॥९६९॥

'रदणाउला' रत्नसंकीर्णा सव्याघ्रा गुहेव रम्या नदी ग्राहाकुलेव मधुरा रम्या शठा सदोषा च वनिता ॥९६९॥

दिट्ठं पि सब्भावं पडिज्जदि णियडिमेव उद्देदि ।
गोघाणुलुकमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥९७०॥

'दिट्ठं पि' दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निकृतिमेवोपन्यस्यति ॥९७०॥

पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि ।
दोसे [1]संघादिंदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥९७१॥

'पुरिसं वधमुवणेदित्ति' पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते। मनुष्यस्य दोषान्सहताम्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥९७१॥

गा०—महाबलशाली मनुष्य समुद्रको भी पार करके जा सकता है। किन्तु मायारूपी जलसे भरे स्त्रीरूपी समुद्रको पार नही कर सकता ॥९६८॥

गा०—रत्नोंसे भरी किन्तु व्याघ्रके निवाससे युक्त गुफा और मगरमच्छसे भरी सुन्दर नदीकी तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है ॥९६९॥

गा०—दूसरेने स्त्रीमे दोष देखा हो तो भी स्त्री यह स्वीकार नही करती कि मेरेमे यह दोष है। प्रत्युत यही कहती है कि मेरा यह दोष नही है या मैंने ऐसा नही किया है। इस विषयमें दृष्टान्त कहते है—जैसे गोह जिस भूमिको पकड लेती है, बलपूर्वक छुडाने पर भी उसे नही छोडती। उसी प्रकार स्त्री भी अपने द्वारा गृहीत पदको नही छोडती। अन्य भी अर्थ टीकाकारोंने किया है—जैसे गोह पुरुषको देखकर उससे अपनेको छिपाती है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषको देखकर अपनेको छिपाती है कि यह मुझे न देख सकें। अथवा दूसरेने कोई अच्छा कार्य किया और स्त्रीने उसे देखा भी, फिर भी वह उसे स्वीकार नही करती, बल्कि व्यंग रूपसे उसको बुरा ही कहती है ॥९७०॥

गा०—स्त्री वाचक शब्दोंकी निरुक्तिके द्वारा भी स्त्रीके दोष प्रकट होते हैं—पुरुषका वध करती है इसलिये उसे वधू कहते है। मनुष्यमे दोषोंको एकत्र करती है इसलिये स्त्री कहते है ॥९७१॥

---

१. संघाडेत्ति-मूलारा०।

तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे णारी ।
पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ।।९७२।।

'**तारिसओ**' तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारीत्युच्यते । पुरुषं सदा प्रमत्तं करोतीति प्रमदेति निरुच्यते ।।९७२।।

[1]**गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ।**
जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ।।९७३।।
[2]**अबलत्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि ।**
कुम्मरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ।।९७४।।
[3]**आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा ।**
एयं महिलाणामाणि होंति असुभाणि सव्वाणि ।।९७५।।
णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ।
आयसस्सावसघो महिला मूलं च कलहस्स ।।९७६।।

'**णिलओ कलीए**' कलेर्निलय । व्यलीकस्यालय । अविनयस्याकर । आयासस्यावकाशः । कलहस्य च मूलं युवति. ।।९७६।।

सोगस्स सरी वेरस्स खणी णिवहो वि होइ कोहस्स ।
णिचओ णियडीणं आसवो महिला अकित्तीए ।।९७७।।

'**सोगस्स सरी**' [4]शोकनिम्नगाया नदी । वैरस्य खनि । निवह कोपस्य । निचयो निकृतीनां । अकीर्तेराश्रयो युवति. ।।९७७।।

गा०—मनुष्यका ऐसा 'अरि' शत्रु दूसरा नही है इसलिए उसे नारी कहते है। पुरुषको सदा प्रमत्त करती है इसलिये उसे प्रमदा कहते हैं ।।९७२।।

गा०—पुरुषके गलेमें अनर्थ लाती है। अथवा पुरुषको देखकर विलीन होती है इसलिए विलया कहते हैं। पुरुषको दुःखसे योजित करती है इससे युवती और योषा कहते हैं ।।९७३।।

गा०—उसके हृदयमें धैर्यरूपी बल नही होता अत वह अबला कही जाती है। कुमरणका उपाय उत्पन्न करनेसे कुमारी कहते हैं ।।९७४।।

गा०—पुरुष पर आल—दोषारोप करती है इसलिए महिला कहते है। इस प्रकार स्त्रियोके सब नाम अशुभ होते हैं ।।९७५।।

गा०—स्त्री रागद्वेषका घर है। असत्यका आश्रय है। अविनयका आवास है, कष्टका निकेतन है और कलहका मूल है ।।९७६।।

गा०—शोकको नदी है। वैरकी खान है। क्रोधका पुंज है। मायाचारका ढेर है। अपयश-का आश्रय है ।।९७७।।

१-२-३. एतद् गाथात्रय टीकाकारो नेच्छति । ४. शोकस्य नदी, वैरस्यावनि'—आ० मु० ।

णासो अत्थस्स खओ देहस्स य दुग्गदीपमग्गो य ।
आवाहो य अणत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥९७८॥

'णासो अत्थस्स' अर्थस्य नाशः । देहस्य क्षयः । दुर्गतेर्मार्गः । अनर्थस्य कुल्या । दोषाणां प्रभवः ॥९७८॥

महिला विग्घो धम्मस्स होदि परिहो य मोक्खमग्गस्स ।
दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विपत्ती[1] ॥९७९॥

'महिला विग्घो' वनिता विघ्नो भवति । 'धम्मस्स' धर्मस्य । 'परिघो' मोक्षमार्गस्य । दुःखाना चोत्पत्तिः । सौख्याना च विपत्तिः ॥९७९॥

पासो व बंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ।
सिल्लं व विंधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥९८०॥

'पासो व बंधिदुं जे' पाश इव बधितुं । सुगमा गाथा इति नादरो व्याख्याने ॥९८०॥

सूलो इव भित्तुं जे होइ पवोढुं तहा गिरिणदी वा ।
पुरिसस्स खुप्पदुं कद्दमोव मचुव्व मरिदुं जे ॥९८१॥
अग्गीवि य डहिदुं जे मदोव पुरिसस्स मुज्झिदुं महिला ।
महिला णिकत्तिदुं करकचोव कंडूव पउलेढुं ॥९८२॥
पाडेदुं परसू वा होदि तह मुग्गरो व ताडेदुं ।
अवहणणं पि य चुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥९८३॥

गा०—धनका नाश करने वाली है। शरीरका क्षय करती है। दुर्गतिका मार्ग है। अनर्थके लिए प्याऊ है और दोषोका उत्पत्ति स्थान है ॥९७८॥

गा०—स्त्री धर्ममे विघ्नरूप है। मोक्षमार्गके लिए अर्गला (साकल) है, दुःखोकी उत्पत्तिका स्थान है और सुखोके लिए विपत्ति है ॥९७९॥

गा०—स्त्री पुरुषको बाँधनेके लिए पाशके समान है। मनुष्यको काटनेके लिए तलवारके समान है। बीधनेके लिये भालेके समान है और डूबनेके लिये पकके समान है ॥९८०॥

गा०—स्त्री मनुष्यके भेदनेके लिए शूलके समान है। ससार रूपी समुद्रमे गिरनेके लिए नदीके समान है। खपानेके लिए दलदलके समान है। मारनेको मृत्युके समान है ॥९८१॥

गा०—जलानेको आगके समान है। मदहोश करनेके लिए मदिराके समान है। काटनेके लिए आरेके समान है। पकानेके लिए हलवाईके समान है ॥९८२॥

गा०—विदारण करनेके लिए फरसाके समान है। तोड़नेके लिए मुदगरके समान है, चूर्ण करनेके लिए लुहारके घनके समान है ॥९८३॥

---

१ विक्ती–मु०, मूलारा० ।

चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरो वि थड्ढमागासं ।
ण य होज्ज अदोसा भद्दिया वि कुलबालिया महिला ॥९८४॥

एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चिंतयदो ।
महिलाहितो विचित्तं उब्वियदि विसग्गिसरसीहिं ॥९८५॥

वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ।
तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ ॥९८६॥

महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीयाणं ।
तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुत्ताणं ॥९८७॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ।
तह सीलरक्खियाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥९८८॥

किं पुण गुणसहिदाओ इत्थिओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥९८९॥

तित्थयरचक्कधरवासुदेवबलदेवगणधरवराण ।
जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥९९०॥

गा०—कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो जाय, सूर्य शीतल हो जाय, आकाश कठोर हो जाय, किन्तु कुलीन स्त्री भी निर्दोष और भद्र परिणामी नही होती ॥९८४॥

गा०—स्त्रियोंके इन तथा अन्य बहुतसे दोषोका विचार करने वाले पुरुषोंका मन विष और आगके समान स्त्रियोसे विमुख हो जाता है ॥९८५॥

गा०—जैसे पुरुष व्याघ्र आदिके दोष देखकर व्याघ्र आदिको त्याग देता है उनसे दूर रहता है, वैसे ही स्त्रियोके दोष देखकर मनुष्य स्त्रियोंसे दूर हो जाता है ॥९८६॥

गा०—स्त्रियोमे जो दोष होते हैं वे दोष नीच पुरुषोमे भी होते हैं अथवा मनुष्योमे जो बल और शक्तिसे युक्त होते है उनमें स्त्रियोसे भी अधिक दोष होते है ॥९८७॥

गा०—जैसे अपने शीलकी रक्षा करने वाले पुरुषोके लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं। वैसे ही अपने शीलकी रक्षा करने वाली स्त्रियोके लिए पुरुष निन्दनीय है ॥९८८॥

गा०—जो गुणसहित स्त्रियाँ है, जिनका यश लोकमे फैला हुआ है, तथा जो मनुष्य लोकमें देवता समान हैं और देवोंसे पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है ॥९८९॥

गा०—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरोंको जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवो और उत्तम पुरुषोके द्वारा पूजनीय होती है ॥९९०॥

एगपदिव्वइकण्णावयाणि धारिंति किंचि[1] महिलाओ ।
वेधव्वतिव्वदुक्खं आजीवं णिंति काओ वि ॥९९१॥

सीलवदीओ सुच्चंति महीयले पत्तपाडिहेराओ ।
सावाणुग्गहसमत्थाओ वि य काओवि महिलाओ ॥९९२॥

ओग्घेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण दड्ढाओ ।
सप्पेहिं [2]सावदेहिं य परिहरिदाओव काओ वि ॥९९३॥

सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं ।
चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥९९४॥

मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइलिदो होदि ।
सो पुण सव्वो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णो ॥९९५॥

तम्हा सा [3]पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिकिच्चा ।
सीलवदीओ भणिदे दोसे किह णाम पावंति ॥९९६॥

इत्थिगदा ॥९९६॥

स्त्रीगतान्दोषानभिवाद्य अशुचिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

देहस्स बीयणिप्पत्तिखेत्तआहारजम्मवुड्ढीओ ।
अवयवणिग्गमअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥९९७॥

गा०—कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कौमार ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती है। कितनी ही जीवन पर्यन्त वैधव्यका तीव्र दुःख भोगती हैं ॥९९१॥ ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हे देवोके द्वारा सन्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शीलके प्रभावसे शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ थी ।।९९२।। कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदीके जल प्रवाहमे भी नही डूब सकीं और प्रज्वलित घोर आगमें भी नही जल सकी तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नही कर सके ।।९९३।। कितनी ही स्त्रियाँ सर्व गुणोंसे सम्पन्न साधुओं और पुरुषोमे श्रेष्ठ चरम शरीरी पुरुषोको जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं ।।९९४।। सब जीव मोहके उदयसे कुशीलसे मलिन होते हैं। और वह मोहका उदय स्त्री-पुरुषोके समान रूपसे होता है ।।९९५।।

गा०—अतः ऊपर जो स्त्रियोके दोषोंका वर्णन किया है वह स्त्री सामान्यकी दृष्टिसे किया है। शीलवती स्त्रियोमे ऊपर कहे दोष कैसे हो सकते हैं ।।९९६।।

इस प्रकार स्त्रियोके गुण-दोषोका वर्णन सम्पूर्ण हुआ। स्त्रियोके दोषोको कहनेके पश्चात् अशुचित्वका कथन करते हैं—

---

१. कित्तिमालाओ इति पाठान्तरं मूलारा० । २. सावज्जेहि वि हरिदा खद्धाण काओवि–आ०मु० ।
३. पण्णवणा आ० ।

देहस्य बीज इत्यादिकः। देहस्य बीजं, निष्पत्तिः, क्षेत्रं, आहारः, जन्म, वृद्धिः, अवयव, निर्गमः, अशुचिः, व्याधिरध्रुवतेत्येतान्पश्येति सूरिर्ब्रवीति क्षपकं ॥९९७॥

देहस्य बीजमित्येतद्व्याख्यानायोत्तरगाथा—

देहस्स सुक्कसोणिय असुई परिणामिकारणं जम्हा।
देहो वि होइ असुई अमेज्झघदपूरओ व तदो ॥९९८॥

'देहस्य बीजं' मनुजाना शुक्रशोणितं। अशुचि शुक्रं पुस, शोणितं च वनितायाः परिणामि कारण। **'जम्हा'** यस्मात्। परिणामिकारण शरीरत्वेन तदुभय परिणमति तस्मात्परिणामिकारण। **'देहोवि असुइ'** शरीरमपि अशुचि तत एव। **'अमेज्झघदपूरओ व'** अमेध्यघृतपूरक इव। यदशुचिपरिणामि कारणं तदशुचि यथाऽमेध्यघृतपूरकः अशुचिपरिणामकारणं च शरीर इति सूत्रार्थः ॥९९८॥

दट्ठुं वि अमेज्झमिव विहिंसणीयं कुदो पुणो होज्ज।
ओज्जिग्घिदुमालद्धुं परिभोत्तुं चावि तं बीयं ॥९९९॥

'दट्ठुं वि य' द्रष्टुमपि। **'विहिंसणीय'** जुगुप्सनीय। **'अमेज्झमिव'** अमेध्यमिव। **'कुदो पुणो होज्ज ओज्जिग्घिदु'** कुत पुनर्भवेदाघ्रातु। **'आलद्धु'** आलिङ्गितु। **'परिभोत्तुं चावि'** परिभोक्तु चापि। **'त बीज'** तत् शुक्रशोणिताख्य बीज। तत्परिणामत्वाच्छरीरमपि तदेव बीजमिद शरीरमिति मत्वा बीजमिति उक्तं ॥९९९॥

परिणामिकारणशुद्धया तत्परिणामरूप कार्यं शुद्ध भवति शरीर न तथेति कथयति—

समिदकदो घदपुण्णो सुज्झदि सुद्धत्तणेण समिदस्स।
असुचिम्मि तम्मि बीए कह देहो सो हवे सुद्धो ॥१०००॥

गा०—हे क्षपक! ब्रह्मचर्य व्रतकी सिद्धिके लिए मनुष्योंके शरीरके बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, जन्मके पश्चात् होने वाली वृद्धि, अवयव, कान आदि अंगोसे निकलने वाला मल, अशुचिता, व्याधि और अध्रुवपनको देखो। ऐसा आचार्य कहते है ॥९९७॥

गा०-टी०—मनुष्योंके शरीरका बीज रज और वीर्य है जो अशुचि है। वही परिणामिकारण है। पुरुषका वीर्य और स्त्रीका रज ये दोनो शरीर रूपसे परिणमन करते है इसलिए ये दोनों परिणामिकारण है। इसीसे शरीर भी अशुचि है जैसे मलसे बना घेवर अशुचि होता है। जिसका परिणामिकारण अशुचि होता है वह अशुचि होता है। जैसे मलिन वस्तुसे बना घेवर। शरीरका परिणामिकारण रज और वीर्य अशुचि है इसलिए शरीर अशुचि है। यह इस गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥९९८॥

गा०—जो विष्टाकी तरह देखनेमे भी ग्लानिके योग्य है वह रज और वीर्य नामक बीज सूंघने, आलिंगन करने और भोगनेके योग्य कैसे हो सकता है? रज और वीर्य रूप बीज शरीरका परिणामिकारण है अतः शरीरको बीज मानकर 'बीज' शब्दसे शरीरका निर्देश किया है ॥९९९॥

आगे कहते हैं कि परिणामिकारणके शुद्ध होनेसे उसका परिणाम रूप कार्य शुद्ध होता है—

गा०—जैसे 'समिद' अर्थात् गेहूँके चूर्णसे बना घेवर शुद्ध होता है क्योंकि उसका परिणामि-

'समिदकवो घदपुण्णो सुज्झदि' कणिकाकृत घृतपूर्णकं **'सुज्झदि'** शुद्धयति। **'सुद्धत्तणेण'** शुद्धतया। **'समिदस्स'** कणिकाद्रव्यस्य। **'असुचिम्मि बीए'** अशुचिबीजे तस्मिन्स्थिते। **'कह देहो सो हवे सुद्धो'** देह परिणाम कथं शुद्धयति। बीयं ॥१०००॥

शरीरनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥१००१॥

'कललगद' कललत्व नाम पर्याय त गत प्राप्त बीज दश दिनमात्र। **'अच्छदि'** आस्ते। **'कलुसीकदं'** च कलुषीकृतं च। दश रात्रमात्रं अवतिष्ठते। **'थिरभूदं दसरत्तं'** स्थिरभूत यावद्दशदिनमात्र। **'अच्छदि'** आस्ते। **'गब्भम्मि'** गर्भे। **'तं बीजं'** तद्बीज ॥१००१॥

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥१००२॥

'तत्तो' स्थिरभावोत्तरकाल। **'मासं बुब्बुदभूत अच्छदि'** मासमात्र बुद्बुद इव आस्ते। **'पुणो वि घणभूदं'** पुनरपि घनभूत। **'जायदि मासेण'** जायते मासेन ततोऽपि घनभावादुत्तरकाल। **'मासेण'** मासेन। **'मंसप्पेसीय'** मासपेशी भवति ॥१००२॥

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥१००३॥

'मासेण पंच पुलगा' मासेन पञ्च पुलका भवन्ति। **'पुणो वि मासेण'** पुनरुत्तरेण मासेन। **'अंगाणि उवंगाणि य'** अङ्गान्युपाङ्गानि च। **'णरस्स जायंति गब्भम्मि'** नरस्य जायन्ते गर्भे ॥१००३॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती।
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००४॥

कारण गेहूँका चूर्ण शुद्ध है। किन्तु जिसका बीज अशुद्ध है उससे बना शरीर शुद्ध कैसे हो सकता है ॥१०००॥

शरीरकी रचनाका क्रम कहते हैं—

गा०—गर्भमें स्थित माताका रज और पिताका वीर्यरूप बीज दस दिनतक कललरूपमें रहता है। फिर दस दिन तक कालिमारूप होता है फिर दस दिन तक स्थिर रहता है ॥१००१॥

गा०—स्थिर होनेके पश्चात् एक मास तक बुलबुलेकी तरह रहता है। पुनः एक मास तक घनभूत अर्थात् कठोररूप रहता है। फिर एकमासमे मांसके पिण्डरूप होता है ॥१००२॥

गा०—पाँचवें मासमें उस मासपिण्डमेंसे दो हाथ, दो पैर और सिरके रूपमें पाँच अंकुर उगते हैं। छठे मासमे उस बालकके अंग और उपांग बनते हैं ॥१००३॥

विशेषार्थ—दो पैर, दो हाथ, एक नितम्ब, एक छाती, एक पीठ, एक सिर ये आठ अंग हैं। और कान, नाक, गाल, ओठ, आँख, अँगुलि आदि उपाग है ॥१००३॥

'मासम्मि सत्तमे' सप्तमे मासे । 'तस्स' तस्य गर्भस्थस्य । 'चम्मणहरोमणिप्पत्ती होदि' चर्मनखरोम-निष्पत्तिर्भवति । 'फंदणमट्ठमासे' स्पंदनमीषच्चलनं अष्टमे मासे । 'णवमे दसमे य णिग्गमणं' नवमे दशमे चोदराग्निर्गमनं भवति ॥१००४॥

सव्वासु अवत्थासु वि कललादीयाणि ताणि सव्वाणि ।
असुईणि अमिज्झाणि य विहिंसणिज्जाणि णिच्चंपि ॥१००५॥

'सव्वासु अवत्थासु वि' सर्वास्वप्यवस्थासु शुक्रशोणितयो । 'कललादियाणि' कललमर्बुदमित्यादि-कानि । 'सव्वाणि असुईणि' सर्वाणि अशुचीनि । 'अमेज्झाणिव' अमेध्यमिव । 'विहिंसणिज्जाणि' जुगुप्सनी-यानि । 'णिच्चं पि' नित्यमपि ॥१००५॥ णिप्पत्ति गद ।

गर्भेऽवस्थानक्रम अशुभं कथयत्युत्तरगाथया—

आमासयम्मि पक्कासयस्स उवरिं अमेज्झमज्झम्मि ।
वत्थिपडलपच्छण्णो अच्छइ गब्भे हु णवमासं ॥१००६॥

'आमासयम्मि' आमाशये । आममुच्यते भुक्तमशनमुदराग्निना अपक्व तस्य आशय स्थान तस्मिन् । 'पक्कासयस्स उवरिं' जाठरेण अग्निना पक्व आहार पक्व तस्य आशय स्थान । तत उपरि । 'अमेज्झमज्झम्मि' अमेध्ययोः पक्वापक्कयोर्मध्ये । 'गब्भो अच्छदि' आस्ते गर्भ. । कीदृक् 'वत्थिपडलपच्छण्णो' वितत मास-शोणित जालसंस्थानीयं वत्थिपडलशब्देनोच्यते तेन प्रतिच्छन्न । कियन्त कालमास्ते ? णवमासं उपलक्षण नव-मासग्रहणं दशमासमात्रमप्यवस्थानात् ॥१००६॥

अशुचिस्थाने अवस्थितः स्वल्पकालं यदि जुगुप्स्यते चिरकालावस्थित कथमय न जुगुप्सनीय इत्याचष्टे—

वमिदा अमेज्झमज्झे मासंपि समक्खमच्छिदो पुरिसो ।
होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि सयणीयल्लओ होज्ज ॥१००७॥

गा०—सातवें मासमें उस गर्भस्थ पिण्डपर चर्म, नख और रोम बनते हैं। आठवें मासमे उसमें हलन-चलन होने लगता है। नौवें अथवा दसवे मासमें उसका जन्म होता है ॥१००४॥

गा०—रज और वीर्यकी सब अवस्थाओमें वे सब कलिल आदि अशुचि और विष्टाकी तरह सदा ग्लानिकारक होते हैं ॥१००५॥

आगे गर्भका स्थान और उसकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—आमाशयसे नीचे और पक्वाशयसे ऊपर इन दोनो अशुचि स्थानोके मध्यमें गर्भाशय होता है। उसमें वस्तिपटलसे वेष्ठित होकर प्राणी नौमास तक रहता है ॥१००६॥

टी०—खाया हुआ भोजन, उदराग्निके द्वारा पकता नही है उसे आम कहते है उसके स्थानको आमाशय कहते हैं। और उदराग्निके द्वारा पके आहारको पक्व कहते हैं। उसके स्थान-को पक्वाशय कहते हैं। इन अपक्व और पक्वके मध्यमें गर्भस्थान होता है। उसमें शिशु नौ मास तक रहता हैं। नौ मास तो उपलक्षण है अतः दस मासमात्र भी रहता है। रुधिर और मांसके जालको वस्तिपटल कहते हैं। उससे गर्भस्थ बालक चारों ओरसे वेष्ठित रहता है ॥१००६॥

आगे कहते हैं कि अपवित्र गन्दे स्थानमें थोड़े समयके लिए भी यदि रहना पड़े तो ग्लानि होती है तब नौ दस मास तक ऐसे स्थानमें रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है ?

'वमिदा अमेज्झमज्झे' वान्तस्य अमेध्यस्य च मध्ये । 'मासंपि' मासमात्रमपि 'सममक्खमच्छिदो' स्वप्रत्यक्षतया स्थितः पुरुषः । खु शब्द एवकारार्थः स च क्रियापदात्परो द्रष्टव्यः । 'विहिंसणिज्जो' इत्यतः परतः । 'विहिंसणीओ होदि' इति जुगुप्सनीय एव भवति नाजुगुप्स्य इति यावत् । 'जदि वि सयणीयल्लओ होज्ज' यद्यपि बन्धुर्भवेत् ॥१००७॥

किह पुण णवदसमासे उसिदो वमिगा अमेज्झमज्झम्मि ।
होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि सय णीयल्लओ होज्ज ॥१००८॥

'किह पुण' कथ पुन । 'न होज्ज विहिंसणिज्जो' न भवेज्जुगुप्सनीय । 'णवदसमासं उसिदो' नवमास दशमासं वावस्थित । 'वमिगा अमेज्झमज्झम्मि' मात्रा उपयुक्त आहारो वमिगाशब्देनोच्यते । शेष सुगमः ॥१००८॥ खिस्त गदं ।

येनाहारेणासावुपचितशरीरो जातस्तमाचष्टे—

दंतेहिं चव्विदं वीलण च सिंभेण मेलिदं सतं ।
मायाहारियमण्णं जुत्तं पित्तेण कडुएण ॥१००९॥

'दंतेहिं चव्विद' दंतैश्चूर्णित । 'वीलणं' पिच्छिल । कथ 'सिंभेण मेलिदं संत' श्लेष्मणा मिश्रित सत् । 'मायाहारियमण्णं' मात्रा भुक्तमन्न । 'कडुएण पित्तेण जुत्त' कटुकेन पित्तेन युक्तं ॥१००९॥

वमिगं अमेज्झसरिसं वादविओजिदरसं खलं गब्भे ।
आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिच्चं ॥१०१०॥

'वमिगं' वान्त । 'अमिज्झसरिसं' अमेध्येन सदृश । 'वादविओजिदरसं खलं' वातेन पृथक्कृत रस खलभाग । 'गब्भे आहारेदि णिच्च' नित्य गर्भस्थो भुङ्क्ते । 'समंता' समन्तात् । 'उवरि' उपरि । 'थिप्पंतगं' विगलद्बिन्दुक । [1]एतेनान्तर समाहारयतीति ज्ञायते ॥१०१०॥

तो सत्तमम्मि मासे उप्पलणालसरिसी हवइ णाही ।
तत्तो पभूदि [2]पाए वमियं त आहारेदि णाहीए ॥१०११॥

गा०—गन्दे वमनके मध्यमे एकमास पर्यन्त प्रत्यक्षरूपसे रहनेवाला पुरुष, यदि अपना इष्टमित्र भी हो तो भी ग्लानिका ही पात्र होता है ॥१००७॥

गा०—तब माताके द्वारा खाये गये वमनरूप आहारको खाकर गन्दे स्थानमे नौ दस मास रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यो नही है, भले ही वह अपना निकट बन्धु हो ॥१००८॥

गा०—जिस आहारसे उसका शरीर बना उसे कहते है—माताके द्वारा खाया हुआ अन्न पहले दाँतोसे चबाया गया । फिर कफके साथ मिलकर चिकना हुआ फिर कटुक पित्तसे युक्त हुआ ॥१००९॥

गा०—ऐसा होनेपर वह वमनके समान गन्दा होता है । वायुके द्वारा उसका रस भाग अलग हो जाता है और खलभाग अलग । उसमेसे गिरती हुई बूदको सर्वांगसे गर्भस्थपिण्ड नित्य ग्रहण करता है । इससे यह ज्ञात होता है कि वह अन्नका रस ग्रहण करता है ॥१०१०॥

---

१ एतेनाम्नरसमाहरतीति मु०, मूलारा० । २ दि माये व–आ० । तत्तो पाए मु०, मूलारा० ।

तेषां मासानां 'रत्तं सत्तमम्मि मासे' रक्तं सप्तमे मासे। 'उप्पलणालसरिसी णाही हवइ' उत्पलनालसदृशीनाभिर्भवति। 'तत्तो' नाभिनिष्पत्त्युत्तरकालं। 'वमिणं तं आहारेवि णाभीए' वान्तमाहारयति नाभ्या ॥१०११॥

वमियं व अमेज्झं वा आहारिदवं स किं पि ससमक्खं।
होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि य णियल्लओ होज्ज ॥१०१२॥

'वमिगं व अमिज्झं वा' वान्तममेध्य वा। 'आहारिदवं' भुक्तवान्। 'स किं पि' सकृदपि एकवार। 'ससमक्खं' स्वप्रत्यक्ष। 'होदि खु विहिंसणिज्जो' भवति जुगुप्सनीयो। 'यदि वि य णियल्लिओ होज्ज' यद्यपि बन्धुर्भवेत् ॥१०१२॥

किह पुण णवदसमासे आहारेदूण तं णरो वमियं।
होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥१०१३॥

स्पष्टोत्तरा गाथा। आहारगदं सम्मत्तं। आहारो निरूपित ॥१०१३॥

जन्मनिरूपणायोत्तरगाथा—

असुचिं अपेच्छणिज्जं दुग्गंधं मुत्तसोणियदुवारं।
वोत्तुं पि लज्जणिज्जं पोट्टमुहं जम्मभूमी से ॥१०१४॥

'असुचिं' अशुचि। 'अपेच्छणिज्जं' अप्रेक्षणीय। 'दुग्गंधं' दुर्गन्ध। 'मुत्तसोणियदुवारं' मूत्रस्य शोणितस्य च द्वार। 'वोत्तुं पि लज्जणिज्जं' वक्तुमपि स्वनाम्ना लज्जनीय। 'पोट्टमुहं' उदरमुख वराङ्ग। 'जम्मभूमी से' जन्मभूमिस्तस्य ॥१०१४॥

जदि दाव विहिंसज्जइ वत्थीए मुहं परस्स आलेट्टु।
कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सल्लीढपोट्टमुहो ॥१०१५॥

गा०—इसके पश्चात् सातवे मासमे कमलकी नालके समान नाभि होती है। नाभिके बननेके पश्चात् उस वमन किये आहारको नाभिके द्वारा ग्रहण करता है ॥१०११॥

गा०—यदि कोई अपने सामने एक बार भी वमन किये गये आहारको या गन्दे विष्टाको खाता है तो अपना प्रिय बन्धु भी यदि हो तो उससे ग्लानि होती है ॥१०१२॥

गा०—तब जो मनुष्य नौ दस महीने उस वमन तुल्य आहारको खाता है वह ग्लानिका पात्र क्यो नही होगा, भले ही वह अपना प्रियबन्धु हो ॥१०१३॥

इस प्रकार आहारकी अशुचिताका कथन हुआ।

आगे जन्मका कथन करते है—

गा०—उदरका मुख योनि उसका जन्मस्थान है। वहीसे उसका जन्म होता है। वह स्थान अशुचि है, देखने योग्य नही है, दुर्गन्धयुक्त है, मूत्र और रक्तके निकलनेका द्वार है। उसका नाम लेनेमें भी लज्जा आती है ॥१०१४॥

गा०—यदि दूसरेके वस्तिमुख—गुदा अथवा योनिको देखनेमे भी ग्लानि होती है तो जो उसका आस्वादन करता है वह ग्लानिका पात्र क्यों नही है ॥१०१५॥

'जदि दाव विहिंसज्जदि' यदि तावज्जुगुप्स्यते। 'वत्थीए मुहं' वस्तिमुखं। 'परस्स आलट्टुं' परस्य द्रष्टुं। 'किध सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज' कथमसौ न जुगुप्सनीयो भवेत्। 'सल्लीढपोट्टमुहो' आस्वादितवराङ्ग. ॥१०१५॥

जन्मवृद्धि निरूपयति—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जाणि।
मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥१०१६॥

'बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि' बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि करोति। 'तथा चेव लज्जणिज्जाणि' तथा चैव लज्जनीयानि। 'मेज्झामेज्झं' शुच्यशुचि च। 'कज्जाकज्जं किं चि वि अयाणंतो' कार्याकार्यं किंचिदप्यजानन् ॥१०१६॥

अण्णस्स अप्पणो वा सिंहाणयखेलमुत्तपुरिसाणि।
चम्मट्ठिवसापूयादीणि य तुंडे सगे छुभदि ॥१०१७॥

'अण्णस्स अप्पणो वा' अन्यस्यात्मनो वा। सिंघाणगं श्लेष्माण। मूत्र, पुरीष, 'चम्मट्ठिवसापूयाणि य' चर्म अस्थि वसा पूयादिक वा। 'सगे तुंडे छुभदि' आत्मीये मुखे क्षिपति ॥१०१७॥

जं किं चि खादि जं किं चि कुणदि जं किं चिं जंपदि अलज्जो।
ज किं चि जत्थ तत्थ वि वोसरदि अयाणगो बालो ॥१०१८॥

'जं किं चि खादि' यत्किंचिदत्ति, यत्किंचित्करोति, यत्किंचिज्जल्पत्यलज्ज। 'जं किं चि जत्थ तत्थ वि' यत्किंचिद्यत्र तत्र वा शुचावशुचौ वा देशे। 'वोसरदि' व्युत्सृजति। 'अणाणगो बालो' अज्ञो बाल ॥१०१८॥

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो।
अप्पाणम्मि वि गच्छे णिव्वेदं किं पुण परंमि ॥१०१९॥

'बालत्तणे कदं' बालत्वे कृत। सर्वमेव यदि स्मरेत्तत आत्मन्यपि गच्छेन्निर्वेद कि पुनरन्यस्मिन्। उड्ढ ॥१०१९॥

जन्मके पश्चात् शरीरकी वृद्धिका कथन करते है—

गा०—बालक शुचि अशुचि और कार्य अकार्यको कुछ भी नही जानता। तथा निन्दनीय और लज्जाके योग्य कार्य करता है ॥१०१६॥

गा०—अपना अथवा दूसरेका कफ, मूत्र, विष्ठा, चमडा, हड्डी, चर्वी, पीव, आदि अपने मुखमे रख लेता है ॥१०१७॥

गा०—अनजान बालक जो कुछ भी खा लेता है, जो कुछ भी करता है, निर्लज्ज होकर जो कुछ भी बोलता है। जिस किसी भी पवित्र या अपवित्र स्थानमे टट्टी पेशाब कर देता है ॥१०१८॥

गा०—यदि बचपनमे किये गये सब कार्योंको याद किया जाये तो दूसरेकी तो बात ही क्या, अपनेसे ही वैराग्य हो जाय ॥१०१९॥

कुणिमकुडी कुणिमेहिं य भरिदा कुणिमं च सवदि सव्वत्तो ।
[1]ताणं व अमेज्झमयं अमेज्झभरिदं सरीरमिणं ॥१०२०॥

'**कुणिमकुडी**' कुथिता कुटी, '**कुणिमेहि भरिदा**' कुथितैर्भरिता । '**कुणिम च सवदि सव्वत्तो**' कुथितं सर्वत स्रवति समन्तात् । '[2]**ताणं व अमेज्झमयं**' [3]तार्णमिव अमेध्यमय । '**अमेज्झभरिदं**' अमेध्यपूर्णं । '**सरीरमिमं**' शरीरमिदं ॥१०२०॥

वृद्धिक्रमं निरूप्य शरीरावयवानाचष्टे—

अट्ठीणि हुंति तिण्णि हु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए ।
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि हवंति तावदिया ॥१०२१॥

'**अट्ठीणि हुंति तिण्णि हु सदाणि**' त्रिशतान्यस्थीनि । '**भरिदाणि कुणिममज्जाए**' पूर्णानि कुथितेन मज्जा-सञ्ज्ञितेन । '**सव्वम्मि चेव देहम्मि**' सर्वस्मिन्नेव शरीरे । '**संधीणि हवंति तावदिया**' सन्धिप्रमाणमपि त्रिशत-मेव ॥१०२१॥

ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि हवंति सत्तेव ।
देहम्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥१०२२॥

'**ण्हारूण णवसदाइ**' स्नायूना नवशतानि । '**सिरासदाणि य हवंति सत्तेव**' सिराणा सप्तशतानि । '**देहम्मि मसपेसीण हवंति पंचेव य सदानि**' पचशतानि शरीरे मासपेश्य ॥१०२२॥

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा ।
छच्चेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥१०२३॥

'**चत्तारि सिराजालाणि**' चत्वारि शिराजालानि शिरासघाता । '**सोलस य कंडराणि तहा**' षोडश कण्डरसंज्ञितानि तथा । '**छच्चेव सिराकुच्चा**' षडेव शिरामूलानि । '**देहे दो मसरज्जू य**' शरीरे मासरज्जू-द्वय ॥१०२३॥

गा०—यह शरीर कुथित अर्थात् मलिन वस्तुओंकी कुटी है और मलिन वस्तुओंसे ही भरी है। सब तरफसे महामलिन मल ही उससे बहता रहता है। मलसे भरे पात्रके समान यह शरीर मलसे भरा होनेसे मलमय ही है ॥१०२०॥

शरीरकी वृद्धिका क्रम कहकर शरीरके अवयवोको कहते हैं—

गा०—इस शरीरमे तीन सौ हड्डियाँ है जो कुथित मज्जासे भरी है। तथा सम्पूर्ण शरीर-मे तीन सौ ही सन्धियाँ है ॥१०२१॥

गा०—नौ सौ स्नायु है। सिराएँ सात सौ हैं। पाँच सौ मास पेशिया हैं १०२२॥

गा०—चार शिराजाल है। सोलह रक्तसे पूर्ण महाशिराएँ है। छह शिराओंके मूल हैं। दो मास रज्जु है एक पीठ और एक पेटके आश्रित है ॥१०२३॥

१, २, ३ भाण आ० ।

सत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि ।
देहम्मि रोमकोडीण होंति [1]असीदिं सदसहस्सा ॥१०२४॥

'**सत्त तयाओ**' सप्त त्वच । '**कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि**' सप्तैव कालेयकानि देहे । '**देहम्मि रोमकोडीण [2]असीदि सदसहस्सा**' शरीरे रोमकोटीनां अशीतिशतसहस्राणि ॥१०२४॥

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति ।
कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स ॥१०२५॥

'**पक्कामयासयत्था**' पक्वाशये आमाशये अवस्थिता । '**अंतगुंजाओ**' अन्त्रयष्टय. । '**सोलस हवंति**' षोडशैव भवन्ति । '**कुणिमस्स आसया**' कुथितस्य आश्रया सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥१०२५॥

थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति सत्तुत्तरं च मम्मसदं ।
णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं ॥१०२६॥

'**थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति**' स्थूणास्तिस्रो भवन्ति देहे । '**सत्तुत्तरं च मम्मसदं**' मर्मणा शत सप्ताधिक । '**णव होंति वणमुहाइं**' व्रणमुखानि नव भवन्ति । '**णिच्चं कुणिमं**' नित्यं कुथित स्रवन्ति यानि ॥१०२६॥

देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण ।
अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥१०२७॥

'**देहम्मि**' शरीरे । '**मच्छुलिंगं**' मस्तिष्क । '**अंजलिमित्तो सगप्पमाणेण**' स्वाञ्जलिप्रमाण परिच्छिन्न । मेदोऽप्यञ्जलिप्रमाण । '**ओजोवि तत्तिगो चेव**' शुक्रमपि तावन्मात्रमेव ॥१०२७॥

तिण्णि य वसंजलीओ छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ।
सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि ॥१०२८॥

'**तिण्णि य वसंजलीओ**' तिस्रो वसाञ्जलय । '**छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स**' षडञ्जलय पित्तस्य । '**सिंभो पित्तसमाणो**' श्लेष्मा पित्तप्रमाण । '**लोहिदमद्धाढगं होदि**' लोहितोऽप्यर्धाढक भवति ॥१०२८॥

गा०—सात त्वचाएँ हैं। सात कालेयक-मांसखण्ड है। और अस्सी लाख करोड रोम हैं ॥१०२४॥

गा०—पक्वाशय और आमाशयमे सोलह आते है। तथा मनुष्यके शरीरमें सात मलस्थान है ॥१०२५॥

गा०—शरीरमे वात पित्त कफ ये तीन थूणाए है। एक सौ सात मर्मस्थान है। नौ व्रण-मुख-मलद्वार हैं जिनसे सदा मल बहता रहता है ॥१०२६॥

गा०—तथा अपनी एक अंजुलीप्रमाण मस्तिष्क है। एक अजुलिप्रमाण मेद है और एक अंगुलिप्रमाण वीर्य है ॥१०२७॥

गा०—तीन अजुलिप्रमाण बसा—चर्बी है। छह अजुलिप्रमाण पित्त है। पित्त प्रमाण ही कफ़ है। रुधिर आधे आठक या बत्तीस पल प्रमाण है ॥१०२८॥

---

१. सीदि आ० मु० । २. सीदी आ० मु० ।

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ।
वीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०२९॥

'मुत्तं आढयमेत्तं' मूत्रं आढकमात्रं । **'उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा'** षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । **'वीसं णहाणि'** विंशतिसंख्या नखानां । **'दंता बत्तीसं होंति'** द्वात्रिंशद्भवन्ति दन्ता । **'पगदीए'** प्रकृत्या ॥१०२९॥

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं ।
सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच ॥१०३०॥

'किमिणो व वणो' संजातक्रिमिव्रणवत् । **'बहुगेहिं किमिकुलेहिं भरिदं सरीरमिति'** सम्बन्ध । बहुभि क्रिमीणा कुलैर्भरित । **'सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच'** समस्त शरीर व्याप्य पञ्च वायव स्थिता ॥१०३०॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥१०३१॥

'एवं' उक्तेन प्रकारेण । **'देहम्मि सव्वे अवयवा'** शरीराधारा सर्वे अवयवा । **'कुणिमपुग्गला चेव'** अशुभपुद्गला एव । **'एक्कं पि णत्थि अंगं'** एकोऽपि नास्त्यवयव । **'ज पूय सुचियं च होज्ज'** योऽवयव पूत शुचिर्वा भवेत् ॥१०३१॥

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दइदं महिलं दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज ॥१०३२॥

'परिदड्ढसव्वचम्मं' परितो दग्धसर्वत्वक्पटल । **'पंडुरगत्तं'** पाण्डुरतनु । **'मुयंतवणरसियं'** विगलद्रस **'सुट्ठु वि दइदं महिलं'** प्रियतमामपि वनिता । **'दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज'** द्रष्टुमपि नरो न वाञ्छति ॥१०३२॥

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरिसियाए णो [1]थगिदं ।
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्धुमिच्छेज्ज ॥१०३३॥

गा०—मूत्र एक आठक प्रमाण है। विष्टा छह प्रस्थ प्रमाण है। स्वाभाविकरूपमे वीस नख और बत्तीस दाँत होते हैं ॥१०२९॥

गा०—जैसे घावमे कीडे भरे रहते है वैसे ही शरीर बहुतसे कीडोसे भरा है। समस्त शरीरको घेरे हुए पाँच वायु है ॥१०३०॥

गा०—इस प्रकार शरीरके सब अवयव अशुभ पुद्गलरूप ही है। एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र और सुन्दर हो ॥१०३१॥

गा०—जिसकी सब चमडी जल जानेसे शरीर सफेद वर्णका हो गया है, और उससे पीव बहता है ऐसी नारी अतिप्रिय भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नही चाहता ॥१०३२॥

---

१. पिहिद–अ० आ० ।

'जदि होज्ज तयाए ण धगिदं' यदि त्वचा न स्थगित भवेत् । कीदृश्या ? **'मच्छियापत्तसरिसियाए'** मक्षिकापत्रवदिति । **'तदा को णाम इच्छेज्ज कुणिमभरिदं सरीरं'** को नाम वाञ्छेत् ? किं कुथितपूर्णं शरीरं । **'आलद्धुं'** स्प्रष्टुं । अवयवा ॥१०३३॥

कण्णेसु कण्णगूधो जायदि अच्छीसु चिक्कणंसूणि ।
णासागूधो सिंघाणयं च णासापुडेसु तहा ॥१०३४॥

'कण्णेसु' कर्णयोः । **'कण्णगूधो'** कर्णगूथ । **'जायदि'** जायते । **'अच्छी सु'** अक्ष्णोः । **'चिक्कणंसूणि'** मलमश्रुबिन्दवश्च । **'णासागूधो'** नासिकामलं । **'सिंघाणगं च'** सिंघाणकं च **'णासापुडेसु'** नासापुटयो ॥१०३४॥

खेलो पित्तो सिंभो वमिया जिब्भामलो य दंतमलो ।
लाला जायदि तुंडम्मिणिच्चं[1] मुत्तपुरिससुक्कमुदरत्थं[2] ॥१०३५॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

सेदो जायदि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमकूवेसु ।
जायंति जूवलिक्खा छप्पदियासो य सेदेण ॥१०३६॥

'सेदो जायदि' स्वेदो जायते । **'सिलेसो व चिक्कणो'** चर्मकारश्लेष्मवच्चिक्कण । **'सव्वलोमकूवेसु'** सर्वलोमकूपेषु । **'जायंति'** जायन्ते । **'जूका'** यूका । **'लिक्खा'** लिक्षाश्च । **'छप्पदिगाओ य'** चर्मयूकाश्च । **'सेदेण'** स्वेदेन हेतुना । एतावता प्रबन्धेन शरीरावयवा व्याख्याता ॥१०३६॥

णिग्गमण । निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विट्ठापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ ।
पूदिंगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥१०३७॥

गा०—यदि शरीर मक्खीके पंखके समान त्वचासे वेष्टित न हो तो मलसे भरे शरीरको कौन छूना पसन्द करेगा ॥१०३३॥

गा०—कानोंसे कानका मल उत्पन्न होता है। आँखोमे आँखका मल और आँसू रहते हैं। तथा नाकमें नाकका मल और सिंघाडे रहते है ॥१०३४॥

गा०—मुखमे खखार, पित्त, कफ, वमन, जीभका मल, दन्तमल और लार उत्पन्न होते हैं। और उदरमें मूत्र, विष्टा तथा वीर्य उत्पन्न होते हैं ॥१०३५॥

गा०—शरीरके सब रोमकूपोंसे चमारके सिरेसके समान चिपचिपा पसीना निकलता है। और पसीनेके कारण लीख और जूं उत्पन्न होते है। इस प्रकार शरीरके अवयवोंका कथन हुआ ॥१०३६॥

अब मलके निकलनेका कथन करते हैं—

गा०—जैसे विष्टासे भरे और फूटे हुए घड़ेसे चारों ओरसे गन्दगी बहती है अथवा जैसे कृमियोंसे भरे घावसे दुर्गन्धयुक्त पीव बहती है वैसे ही शरीरसे निरन्तर मल बहता है ॥१०३७॥

निर्गमनका कथन समाप्त हुआ ।

---

१ म्मि मुत्त पुरिसं च सु–आ० मु० । २ मिदरत्थ–ज० मु० । इदरत्थे मेहन योनि-गुदयोः–मूलारा० ।

'**विट्ठापुण्णो**' विष्टाभिः पूर्ण. । '**भिण्णो व घडो**' भिन्नघट इव । '**कुथिमं**' कुथितं । '**समंतदो**' समन्तात् । '**गलदि**' क्षरति '**पूइंगालोव्ववणो**' गलत्पूतिनिचितक्रिमिव्रणवत् । '**पूर्वि च वादि सदा**' दुरभिवाति सदा । '**णिच्चमणं सम्मत्तं**' ॥१०३७॥

इंगालो धोवंते ण सुज्झदि [1]जहा पयत्तेण ।
सव्वेहिं समुद्देहिम्मि सुज्झदि देहो ण धुव्वंतो ॥१०३८॥

सिण्हाणुब्भंगुव्वट्टणेहिं मुहदंतअच्छिधुवणेहिं ।
णिच्चंपि धोवमाणो वादि सदा पूदियं देहो ॥१०३९॥

'**सिण्हाणुब्भंगुव्वट्ठणेहि य**' स्नानेन, अभ्यङ्गेन, उद्वर्तनेन । '**मुहदंतअच्छिधुवणेहिं**' मुखस्य दन्तानामक्ष्णोश्च प्रक्षालनेन । '**णिच्चंपि धुव्वमाणो**' नित्यमपि क्रियामाणशौच । '**वादि सदा पूदिगं देहो**' दुरभिगन्धता न त्यजति देह ॥१०३९॥

पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलेहिं ।
मुहकेसवासतंबोलगंधमल्लेहिं धूवेहिं ॥१०४०॥

'**पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलेहिं**' पाषाणशब्देन रत्नान्युच्यन्ते । धातुर्जल । अञ्जण **अञ्जनं** मषी च । '**पुढवी**' मृत्तिका । '**तया**' त्वक् । '**मुखवासः**' । मुख वास्यते मुख गन्धता नीयते येनासौ मुखवास । केशा सुरभिता प्राप्नुवन्ति येनासौ केशवासः, एतै पाषाणादिभि ॥१०४०॥

अभिभूददुब्भिगंधं परिभुज्जदि मोहिएहिं परदेहं ।
खज्जति पूइयमं संजुत्तं जह कडुगभंडेण ॥१०४१॥

'**अभिभूददुब्भिगंधो**' निरस्ताशुभगन्ध । '**परदेहं संजुत्तं**' परस्य देह सयुक्त । '**मोहिदेहिं**' मूढै । परिभुज्यते । '**खज्जदि**' भुज्यते । '**पूइयग मांस**' यथा युक्त मस्कृत । '**कडुगभंडेण**' मरिचहिङ्ग्वादिभिश्च ॥१०४१॥

गा०—जैसे कोयलेको सब समुद्रके जलसे प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी वह उजला नही होता, उसमेंसे कालापन ही निकलता है, वैसे ही शरीरको बहुत जलादिसे धोनेपर भी वह शुद्ध नही होता, उसमेसे मल ही निकलता है ॥१०३८॥

गा०—स्नान, इत्र फुलेल, उबटन आदिसे तथा मुख दाँत और आँखोका धोनेसे नित्य ही स्वच्छ करनेपर भी शरीर सदा दुर्गन्ध देता है, वह उसे छोड़ता नही ॥१०३९॥

गा०-टी०—पाषाण शब्दसे रत्नोंको कहा है। धातुसे जल लिया है। पृथ्वीसे मिट्टीका ग्रहण किया है। त्वचासे मध्यकी त्वचा ली है और छालसे ऊपरकी छाल ली है। अतः रत्न, जल, अंजन, मिट्टी, त्वचा, छाल बेल और जड़से तथा मुखको सुवासित करनेवाले ताम्बूल आदि और केशोको सुगन्धित करनेवाले गन्धमाला धूप आदिसे परके शरीरकी दुर्गन्ध दूर करके मूढ़जन मोहित होकर पराये शरीरको भोगते हैं। जैसे मिर्च, हीग आदि मसालें मिलाकर, दुर्गन्धयुक्त

---

१. जह महापयत्तेण–आ० मु० ।

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरीरमिमं ।
सोमेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥१०४२॥

'अब्भंगादीहिं विणा' सुगन्धतैलेन म्रक्षणं, उद्वर्तनं, स्नानमालेपनमित्यादिभिर्विना । **'सभावदो चेव यदि सोमेज्ज इमं शरीरं'** स्वभावत एव यदि शोभेत इदं शरीरं । **'मोरदेहुव्व'** मयूरदेहवत् । **'होज्ज तो णाम से सोभा'** भवेत्तत् स्फुट देहस्य शोभा ॥१०४२॥

जदि दा विहिंसदि णरो आलवुधुं पडिदमप्पणो खेलं ।
कघदा णिपिबेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमजलं ॥१०४३॥

'जदि दा विहिंसदि णरो आलवुधु पडिदमप्पणो खेलं' यदि तावन्नरो जुगुप्सते स्प्रष्टुमात्मनोऽपि कासं । **'कधदा णिपिबेज्ज बुधो'** कथमिदानी पिबेद्बुध । **'महिलामुहजणिदकुणिमजलं'** युवतिमुखसमुद्भवम-शुचिजल ॥१०४३॥

अतो बहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चेव ॥१०४४॥

'अंतो बहि च मज्झे' अन्तर्बहिर्मध्ये । **'को वि सारो सरीरगे णत्थि'** शरीरेऽङ्गे सारभूतं न किंचिदस्ति । **'एरंडको वा णिस्सारो सव्वहि चेव'** साररहित सर्वत्र चैव ॥१०४४॥

चमरीबालं खग्गिविसाणं गयदंतसप्पमणिगादी ।
दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि ॥१०४५॥

'चमरीबालं' चमरीणा रोमाणि । **'खग्गिविसाणं'** खड्गिना मृगाणा विषाणं । गजाना दन्ता । सर्पाणा रत्नादिक च दृष्टं सारभूत । **'ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि'** नास्ति किञ्चित्सार मनुष्यदेहे ॥१०४५॥

मासको मासभोजी जन खाते है वैसे ही कामीजन स्त्रीके दुर्गन्धयुक्त शरीरको तेल फुलेल आदिसे सुवासित करके भोगते हैं ॥१०४०-१०४१॥

गा०—जैसे मोरका शरीर स्वभावसे ही सुन्दर होता है वैसे ही यदि सुगन्धयुक्त तेलसे मालिश, उबटन, स्नान, आदिके विना स्वभावसे यह शरीर शोभायुक्त होता तो उसे सुन्दर कहना उचित होता ॥१०४२॥

गा०—यदि मनुष्य बाहरमे पडे अपने कफको भी छूनेमें ग्लानि करता है तो ज्ञानीपुरुष युवती स्त्रीके मुखसे उत्पन्न हुई दुर्गन्धयुक्त लारको कैसे पीवेगा ॥१०४३॥

गा०—अन्तरमे, बाहरमे और मध्यमे शरीरमे कुछ भी सार नही है। ऐरण्डके वृक्षकी तरह शरीर पूर्णरूपसे नि:सार है ॥१०४४॥

गा०—चमरी गायकी पूँछके बाल, गैडे या हिरनके सीग, हाथीके दाँत, सर्पकी मणि, आदि शब्दसे मयूरके पख, मृगकी कस्तूरी आदि अवयव तो सारभूत देखे गये है अर्थात् इन सबके शरीरोंमें तो कुछ सार है किन्तु मनुष्यके शरीरमे कोई सार नही है ॥१०४५॥

छगलं मुत्तं दुद्धं गोणीए रोयणा य गोणस्स ।
सुचिया दिट्ठा ण य अत्थि किंचि सुचि मणुयदेहे ॥१०४६॥

असुइ ॥१०४६॥

व्याधि इत्येतद्व्याचष्टे प्रबन्धेनोत्तरेण—

वाइयपित्तियसिंभियरोगा तण्हा छुहा समादी य ।
णिच्चं तवंति देहं अद्दहिदजलं व जह अग्गी ॥१०४७॥

'**वाइयपित्तियसिंभियरोगा**' दोषत्रयप्रभवा व्याधय.। तृष्णाक्षुधाश्रम इत्यादयश्च । देह नित्य तपन्ति ज्वलितोऽग्निर्जलमिव चुल्ल्युपरिस्थितभाजनगत ॥१०४७॥

जदिदा रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी ।
सव्वम्मि[1] दाइं देहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं ॥१०४८॥

'**जदिदा रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णवदी**' यदि तावद्रोगा एकस्मिन्नेव नेत्रे षण्णवतिसख्या भवन्ति । '**सव्वम्मि दाइं देहे**' समस्ते इदानी शरीरे । '**होदव्वं कदिहिं रोगेहिं**' कतिभिर्व्याधिभिर्भवितव्यम् ॥वाधिगद॥१०४८॥

अध्रुवतामुत्तरया गाथयाचष्टे—

पीणत्थणिंदुवदणा जा पुव्वं णयणदइदिया आसे ।
सा चेव होदि संकुडिदंगी विरसा य परिजुण्णा ॥१०४९॥

'**पीणत्थणिंदुवदणा**' पीनस्तनभागासम्पूर्णचन्द्रानना । '**जा पुव्वं**' या पूर्व । '**णयणदयिदिया**' नयनबल्लभा

गा०—बकरेका मूत्र, गायका दूध, बैलका गोरचन लोकमे पवित्र माने गये है परन्तु मनुष्यके शरीरमे किञ्चित् भी शुचिता नही है ॥१०४६॥

इस तरह शरीरकी अशुचिताका कथन किया, आगे व्याधिका कथन करते हैं—

गा०—जैसे आग चूल्हेके ऊपर स्थित पात्रके जलको तपाती है वैसे ही वात पित्त और कफसे उत्पन्न हुए रोग तथा भूख प्यास श्रम आदि शरीरको सदा तपाते है दु ख देते है ॥१०४७॥

गा०—यदि एक नेत्रमे ही छियानबे रोग होते हैं तो समस्त शरीरमे कितने रोग होगे[2] ॥१०४८॥

आगेकी गाथासे अध्रुवत्वका कथन करते हैं—

गा०—इस शरीरका स्वरूप तो देखो। जो स्त्री पूर्व यौवन अवस्थामे पुष्टस्तनवाली, सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली और नेत्रोको प्रिय थी वही स्त्री वृद्धावस्थामे सकुचित

१. म्मि चेव दे–अ० ।
२ इस गाथाके पश्चात् आशाधरने नीचे लिखी गाथा दी है—

पचेव य कोडीओ भवंति तह अट्ठमट्ठिलक्खाइ ।
णवणवदिं च सहस्सा पचसया होंति चुलसीदी ॥

पाँच करोड़ अड़सठ लाख, निन्यानबे हजार पाँच सौ चौरासी रोग शरीरमें होते है ।

जाता । '**सा चेव होदि संकुडिदंगी**' सैव भवति संकुटिततनुः । '**विरसा**' कामरसरहिता । '**परिजुण्णा**' परितो जीर्णा जरत्कुटीव ॥१०४९॥

जा सव्वसुंदरंगी सविलासा पढमजोव्वणे कंता ।
सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीभच्छा ॥१०५०॥

'**जा सव्वसुदरंगी**' यस्या सर्वाणि अङ्गानि सुन्दराणि । '**सविलासा**' विलाससहिता । '**पढमजोव्वणा**' प्रथमयौवना । '**कता**' कान्ता । '**सा चेव मदा संती**' सैव मृता सती । '**होदि हु विरसा**' भवति विरसा । '**बीभच्छा**' जुगुप्सनीया ॥१०५०॥

शरीरसम्पदोऽध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । दम्पत्यो सयोगस्याध्रुवता व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुव्वं सा वा पुव्वं मरिज्ज से कंता ।
जीवंतस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिएहिं ॥१०५१॥

'**मरदि सयं वा पुव्वं**' म्रियते स्वय वा पूर्व पुमान् । '**सा वा पूर्वं म्रियेत**' । '**से**' तस्य पुन. कान्ता । '**जीवंतस्स**' जीवतो वा, सा जीवन्ती ह्रियते '**बलिगेहिं**' बलिभिरपरैः । इत्थ सयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥१०५१॥

सा वा हवे विरत्ता महिला अण्णेण सह पलाएज्ज ।
अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमणस्साणि ॥१०५२॥

'**सा वा होज्ज विरत्ता**' सा भवेद्विरक्ता पुरुषे तथापि तयो सगति । '**महिला अण्णेण वा सह पलाएज्ज**' सा विरक्ता युवतिरन्येन वा सह पलायन कुर्यात् । '**अपलायन्ती**' अपलायमाना वा । '**तगी**' सा । '**करेज्ज से वेमणस्साणि**' कुर्यात्तस्य चेतोदु खानि ॥१०५२॥

शरीरस्याध्रुवतामाचष्टे—

अगवाली, शृङ्गार हास्य आदि काम रससे रहित अत्यन्त जीर्ण झोपड़ीकी तरह दिखाई देती है ॥१०४९॥

गा०—जो स्त्री यौवनके प्रारम्भमे सर्वागसुन्दर तथा विलाससे पूर्ण थी वही मरनेपर विरस और ग्लानियोग्य दिखाई देती है ॥१०५०॥

इस प्रकार दो गाथाओसे शरीरकी सुन्दरताको अस्थायी कहा । अब पति-पत्नीके सयोगको अस्थायी कहते हैं—

गा०—पहले पति मर जाता है अथवा पहले पत्नी मर जाती है। अथवा पतिके जीवित रहते हुए अन्य बलवान् पुरुष उसकी जीवित पत्नीको हरकर ले जाते है। इस प्रकार पति-पत्नी-सयोग अनित्य होता है ॥१०५१॥

गा०—अथवा पत्नी पतिसे विरक्त हो जाती है और विरक्त होकर वह दूसरेके साथ भाग जाती है। न भी भागे तो पतिके चित्तको दु ख देनेवाले कार्य करती है ॥१०५२॥

अब शरीरकी अस्थिरता बतलाते हैं—

रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि चिट्ठंति सारवेंतस्स ।
धणिदं पि सारवेंतस्स ठादि ण चिरं सरीरमिमं ॥१०५३॥

'रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि' काष्ठे उत्कीर्णानि रूपाणि स्त्रीणां पुंसां अन्येषां च आदिशब्देन शिलादन्तादिरूपपरिग्रहश्चिरं **'चिट्ठंति सारवेंतस्स'** चिरं तिष्ठन्ति संस्कुर्वतः । **'धणिदं पि सारवेंतस्स'** नितरामपि संस्कुर्वतः । **'ठादि ण चिरं शरीरमिमं'** न तिष्ठति चिरं शरीरमिदं ॥१०५३॥

न च केवलं शरीरमेव अनित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदो व मणुगाणं ।
इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं ॥१०५४॥

'मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदोव' मेघवद्धिमवत्फेनवदुल्कावत्सन्ध्यावज्जलबुद्‌बुदवच्च । **'मणुयाण'** मनुजानां । **'इंदियजोव्वणमदिरूवतेअबलवीरियमणिच्चं'** इन्द्रियाणि, यौवनं, मतिः, रूपं तेजो, बलं वीर्यं, चानित्यं ॥१०५४॥

झटिति शरीरसम्पद्‌ध्वावर्तते इत्याख्यानकं दर्शयति—

साधुं पडिलाहेदुं गदस्स सुरयस्स अग्गमहिसीए ।
णट्ठं सदीए अंगं कोढेण जहा मुहुत्तेण ॥१०५५॥

'साधुं पडिलाहेदुं गदस्स' साधोराहारदानार्थं गतस्य । **'सुरयस्य'** सुरतनामधेयस्य राज्ञः । **'अग्गमहिसीए'** अग्रमहिष्याः । **'सदीए'** सत्याः शोभनायाः । **'अंगं णट्ठं'** शरीरं नष्टं । **'कोढेण'** कुष्ठेन । **'जहा मुहुत्तेण'** यथा मुहूर्तेन ॥१०५५॥

वज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुरं च खादि तंबोलं ।
कालेण य णिज्जंतो विसए सेवंति तह मूढा ॥१०५६॥

गा०—सार सम्हाल करनेपर काष्ठ, पाषाण, हाथी दाँत आदिमें अंकित किये गये स्त्री पुरुषोंके रूप चिरकाल तक रहते हैं। किन्तु यह शरीर अति सम्हाल करनेपर भी चिरकाल तक नहीं रहता ॥१०५३॥

आगे कहते हैं कि केवल शरीर ही अनित्य नहीं है किन्तु वस्तुएँ भी अनित्य हैं—

गा०—मनुष्योंके इन्द्रियाँ, यौवन, मति, रूप, तेज, बल और वीर्य ये सब मेघ, बर्फ, फेन, उल्का, सन्ध्या और जलके बुलबुलेकी तरह अनित्य हैं ॥१०५४॥

शरीररूप सम्पदा झट नष्ट हो जाती है यह एक कथा द्वारा कहते हैं—

गा०—राजा सुरत साधुको आहार देने गया। इतनेमें ही उसकी पटरानी सतीका शरीर एक मुहूर्तमें ही कोढ़से नष्ट हो गया ॥१०५५॥

गा०—जैसे मारनेके लिए कोई किसी पुरुषको ले जाये और वह पुरुष मरनेकी चिन्ता न करके शराब पिये और पान खाये। वैसे ही मूढ़ मनुष्य मृत्युकी चिन्ता न करके विषयोंका सेवन करते हैं ॥१०५६॥

'**हन्तो य णिज्जमाणो**' हन्तु नियमानः । '**जह पियइ**' यथा सुरा पिवति । '**खादि तंबोलं**' ताम्बूल भक्षयति । तथा '**कालेण य णिज्जंता**' मृत्युना नीयमाना मूढाः । '**विसए सेवंति**' विषयाननुभवन्ति ॥१०५६॥

वग्घपरद्धो लग्गो मूले य जहा ससप्पबिलपडिदो ।
पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ मूलम्मि छिज्जंते ॥१०५७॥

'**वग्घपरद्धो**' व्याघ्रेणाभिद्रुत[1] । '**लग्गो**' लग्न । '**मूलम्मि**' लतायाः मूले । '**ससप्पबिलपडिदो**' ससर्पवति बिले पतित. । '**पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ**' स स्वसृक्वस्थानपतितमधुबिन्द्वास्वादनरतिक । '**मूलम्मि छिज्जंते**' मूले छिद्यमाने मूषिकाभिर्यथा ॥१०५७॥

तह चेव मच्चुवग्घपरद्धो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि ।
संसारबिले पडिदो आसामूलम्मि संलग्गो ॥१०५८॥

'**तह चेव**' तथैव । '**मच्चुवग्घपरद्धो**' मृत्युव्याघ्रेण उपद्रुतः । '**संसारबिले पडिदो**' संसार एव बिल तस्मिन्पतित । कीदृग्भूते ? बहुदु खसर्पाकुले आशामूले । '**संलग्गो**' सम्यग्लग्न. ॥१०५८॥

बहुविग्घमूसएहिं आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते ।
लेहदि तहवि अलज्जो अप्पसुहं विसयमधुबिंदु ॥१०५९॥

'**बहुविग्घमूसगेहि य**' बहुभिर्विघ्नमूषकै । '**आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते**' आशाख्ये मूले तस्मिश्छिद्यमाने । '**लेहदि**' खादति । '**विभयविलज्जो**'[2] निर्भयो निर्लज्जश्च । '**अप्पसुह विसयमधुबिंदु**' अल्पसुख विषयमधुबिन्दु । अल्पसुखनिमित्तत्वादल्पसुखमित्युच्यते । विषयमधुबिन्दुं विषयशब्देन रूपादय इत्युच्यन्ते । तेषु पुरोऽवस्थित पुद्गलस्कधस्य वर्तमाना कतिपया पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुबिन्दव । अधुवत्त ॥१०५९॥

गा०-टी०—जैसे पीछे लगे व्याघ्रके भयसे भागता हुआ कोई मनुष्य एक ऐसे कूपमें गिरा जिसमे सर्प रहता था । उस कूपकी दीवारमे एक वृक्ष उगा था । उसकी जडको पकड़कर वह लटक गया । उस जडको चूहे काट रहे थे । किन्तु उस वृक्षपर मधुमक्खियोका एक छत्ता लगा था और उसमेसे मधुकी बूँद टपककर उसके ओठोमे आती थी । वह सकट भूल उसी मधुबिन्दुके स्वादमे आसक्त था ॥१०५७॥

गा०—उसी मनुष्यकी तरह मृत्युरूपी व्याघ्रसे भीत प्राणी अनेक दु:खरूपी सर्पोसे भरे ससार कूपमे पड़ा है और आशारूपी जड़को पकड़े हुए है ॥१०५८॥

गा०-टी०—किन्तु उस आशारूप जड़को बहुतसे विघ्नरूपी चूहे काट रहे हैं । फिर भी वह निर्लज्ज निर्भय होकर क्षणिक सुखमे निमित्त विषयरूपी मधुकी बूँदके आस्वादमे डूबा हुआ है । यहाँ विषय शब्दसे रूप आदिको कहा है । उसके सामने वर्तमान जो पुद्गल स्कन्धकी कुछ थोड़ी-सी पर्यायें है वे ही मधुकी बूँद है । उसीमे वह आसक्त है ॥१०५९॥

इस प्रकार ससारकी अनित्यताका कथन किया ।

---

1. ण अभिद्रुत –आ० मु० । 2. दि विभयविल–आ० मु० ।

बालो अमेज्झलित्तो अमेज्झमज्झम्मि चेव जह रमदि ।
तह रमदि णरो मूढो महिलामेज्झे सयममेज्झो ॥१०६०॥

'**बालो अमेज्झलित्तो**' बालोऽमेध्येन लिप्त. । '**अमेज्झमज्झम्मि चेव**' अमेध्यमध्ये एव । '**जह रमइ**' यथा रमते प्रीतिमुपैति । '**तथा रमदि णरो मूढो**' तथा रमते मूढ नर । '**महिलामेज्झे**' योषिदेव अनेकाशुचि-पूर्णशरीरतया अमेध्यशद्वेनोच्यते । **सयममेज्झो** स्वयममेध्यभूत ॥१०६०॥

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविता महिलियाए कुणिमकुडी ।
जं होंति सोचयत्ता एदं हासावहं तेसिं ॥१०६१॥

'**कुणिमरसकुणिमगंधं**' अशुचिरसमशुचिगन्धं । '**सेविता**' सेवमाना । '**महिलियाए**' महिलाया युवत्या. । '**कुणिमकुडि**' अशुचिशरीरकुटिं । '**जं होदि सोयवत्ता**' यद्भवन्ति शौचवन्त । '**एवं हासावहं**' **एतच्छौचवत्त्व** हास्यावह । '**तेसिं**' तेषा ॥१०६१॥

एवं एदे अत्थे देहे चिंतंतयस्स पुरिसस्स ।
परदेहं परिभोत्तुं इच्छा कह होज्ज सघिणस्स ॥१०६२॥

'**एवं एदे अत्थे**' एवमेतानर्थान् । '**देहे**' शरीरविषयान् । '**चिंततयस्स**' चिन्तयत । '**पुरिसस्स**' पुरु-षस्य । '**परदेहं**' परस्य शरीरं । '**परिभोत्तुं**' परितो भोक्तु । '**इच्छा किह होज्ज**' इच्छा कथ भवेत् । '**सघि-णस्स**' लज्जावत ॥१०६२॥

एदे अत्थे सम्मं दोसं पिच्छंतओ णरो सघिणो ।
ससरीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि ॥१०६३॥

'**एदे अत्थे देहस्स बीजणिप्पत्तिखेत्त**' इत्येतत्सूत्रनिर्दिष्टानेतानर्थान् । '**देहे**' शरीरे । '**पिच्छितगो**' सम्यङ् निरूपयन् । '**ससरीरे वि विरज्जइ**' आत्मनोऽपि शरीरे विरक्ततामुपैति । '**किं पुण अण्णस्स देहम्मि**' किं पुनरन्यशरीरे विरक्तता नोपेयात् । 'अशुचि' अशुचित्व व्याख्यात ॥१०६३॥

गा०—जैसे मलसे लिप्त बालक मलमे ही रमता है वैसे ही मूढ मनुष्य स्वय अत्यन्त मलिन है और मलिनता भरे स्त्रीके शरीरमे रमण करता है ॥१०६०॥

गा०—युवतीका शरीर अशुचि रस और दुर्गन्धसे पूर्ण है। ऐसे अशुचि शरीरको सेवन करता हुआ कामी पुरुष अपनेको शुचि-पवित्र मानता है उसकी यह पवित्रता हास्यास्पद है ॥१०६१॥

गा०—इस प्रकार शरीरके विषयमें विचार करनेवाले पुरुषको शरीरसे ग्लानि हो जाती है तब उसे स्त्रीके शरीरको भोगनेकी इच्छा कैसे हो सकती है ॥१०६२॥

गा०—शरीरका बीज, उसकी निष्पत्ति आदिको सम्यक्‌रूपसे निरीक्षण करनेवाला लज्जा-शील मनुष्य अपने शरीरसे भी विरक्त हो जाता है तब अन्यके शरीरमे क्यों विरक्त नहीं होगा ॥१०६३॥

इस प्रकार शरीरकी अशुचिताका कथन हुआ।

वृद्धसेवानिरूपणाय उत्तरः प्रबन्धः थेरावा तरुणा वा इत्यादिक. । शीलवृद्धता भवति न केवलेन वयसा इत्याचष्टे—

थेरा वा तरुणा वा वुड्ढा सीलेहिं होंति वुड्ढीहिं ।
थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ।।१०६४।।

'**थेरा वा तरुणा वा**' स्थविरास्तरुणाश्च । '**वुड्ढा होंति**' वृद्धा भवन्ति । '**सीलेहिं वुड्ढोहिं**' शीलैः प्रवृद्धैः । क्षमा, मार्दवं, ऋजुत्व, सन्तोष,इत्यादिकं शीलशब्देनोच्यन्ते । '**थेरा वा तरुणा वा**' स्थविरास्तरुणाश्च । तरुणा एव । '**सीलेहिं तरुणेहिं**' तरुणैः शीलैः । एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धशब्देन गृहीता । एतेषा सेवा वृद्धसेवेति कथित भवति । वृद्धगुणाना सेवात स्वयमपि गुणोत्कर्षमुपैतीति मन्यते ।।१०६४।।

अपि [1]चेहवत्यादिनामवयोवृद्धानामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेऽपि वयसैव[2] मन्दीभूतकामरतिदर्पक्रीडा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह णस्सदि णरस्स बलरूवं ।
मंदा य हवदि कामरदिदप्पकीडा य लोभे य ।।१०६५।।

'**जह जह वयपरिणामो**' अतिक्रामति यथा यथा वय.परिणामो युवत्वमध्यमत्वसज्ञित । '**णरस्स परिणामो**' प्राणिन परिणाम नश्यति । '**तध तध से**' तथा तथा तस्य '**मंदा हवंति**' मन्दा भवन्ति । '**कामर-दिदप्पकीडा**' काम्यन्त इति कामा विषयास्तत्र रतिर्दर्प , क्रीडा, '**लोभो य**' लोभश्च । मन्दविषयरत्यादिपरिणा-मेन वृद्धेन मह संवासात् स्वयमेवापि मन्दकामादिपरिणामो भवतीति भाव ।।१०६५।।

खोभेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसण्णमवि पंकं ।
खोभेइ तहा मोहं पसण्णमवि तरुणसंसग्गी ।।१०६६।।

आगे वृद्धसेवाका कथन करते हुए कहते हैं कि केवल अवस्थासे वृद्धता नही होती—

गा०-टी०—अवस्थासे वृद्ध हो अथवा तरुण हो, जिसके शील अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि बढे हुए है वे वृद्ध हैं। तथा अवस्थासे वृद्ध हो अथवा तरुण हो जिनके शील तरुण है—वृद्धिको प्राप्त नही है वे तरुण है। अत. यहाँ जो शीलसे वृद्ध है वृद्ध शब्दसे उनका ग्रहण किया है। उनकी सेवा वृद्ध सेवा है, यह कथनका अभिप्राय है। गुणोसे वृद्ध पुरुषोकी सेवा करनेमे स्वयं भी मनुष्य गुणोमे उत्कर्षको प्राप्त होता है ।।१०६४।।

आगे कहते है कि अवस्थासे वृद्धोंका ससर्ग भी लाभकारी है क्योकि अवस्थाके कारण ही उनका कामज्वर आदि मन्द हुआ है—

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यकी युवावस्था, मध्यावस्था बीतती जाती है वैसे-वैसे उसकी काम-विषयक रति, मद, लोभ आदि मन्द होते जाते है। इसका भाव यह है कि जिसका कामभावरूप परिणाम मन्द होता है उस वृद्धके साथ रहनेसे मनुष्य स्वय भी मन्द कामभाव आदिसे युक्त होता है ।।१०६५।।

---

१. चेह यत्यादीनामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेपि तपसैव–आ० मु० । २ तपसैव सम्यग्भूत काम–ज० ३।

'खोभेवि' क्षोभयति । **'पत्थरो'** शिला महती । **'जह'** यथा । **'दहे'** ह्रदे **'पडंतो'** पतन् । **'पसण्णमवि पंकं'** प्रशान्तमपि पङ्कं । **'खोभेवि'** चालयति । **'तथा मोहं'** । **'पसण्णमवि'** प्रशान्तमपि । **'तरुणसंसग्गी'** तरुणगोष्ठी ॥१०६६॥

कलुसीकदंपि उदगं अच्छं जह होइ कदयजोएण ।
कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुड्ढसेवाए ॥१०६७॥

'कलुसीकदंपि उदगं' कलुषीकृतमप्युदक । **'कदगजोएण'** कतकफलसम्बन्धेन । **'अच्छं'** स्वच्छं । **'जध होदि'** यथा भवति । **'कलुसोऽपि'** कलुषितोऽपि । **'मोहो'** मोह । **'उवसमदि'** उपशाम्यति । **'वुड्ढसेवाए'** वृद्धसेवया ॥१०६७॥

लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ।
लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥१०६८॥

'लीणो वि' लीनोऽपि । **'मट्टियाए'** मृत्तिकाया । **'गंधो'** गन्ध । यथा **'जलासयेण'** जलाश्रयेण । **'उदीरदि'** उदयमुपैति । **'लीणो वि मोहो'** लीनोऽपि नरे मोह । **'उदीरदि'** उदयमुपनीयते । **'तरुणासएण'** तरुणाश्रयेण तथा ॥१०६८॥

संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ।
जह तह गुट्ठीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥१०६९॥

'संतो वि' सन्नपि मृत्तिकाया गन्ध । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठया विना मोहो नरस्य लीनो भवति ॥१०६९॥

तरुणो वि वुड्ढसीलो होदि णरो वुड्ढसंसिओ अचिरा ।
लज्जासंकामाणावमाणभयधम्मबुद्धीहिं ॥१०७०॥

गा०—जैसे तालाबमें गिरकर पत्थर उसकी तलसे बैठी हुई पंकको उभारकर निर्मल जलको मलिन कर देता है, वैसे ही तरुणोंका संसर्ग प्रशान्त पुरुषके भी मोहको उद्रिक्त कर देता है ॥१०६६॥

गा०—और जैसे कतकफल डालनेसे गदला पानी भी निर्मल हो जाता है वैसे ही वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे कलुषित मोह भी शान्त हो जाता है ॥१०६७॥

गा०—जैसे मिट्टीमे छिपी हुई गन्ध जलका आश्रय पाकर प्रकट हो जाती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गसे मनुष्यमें छिपा हुआ मोह उदयमें आ जाता है ॥१०६८॥

गा०—और जैसे मिट्टीमे वर्तमान होते हुए भी गन्ध जलके बिना मिट्टीमें ही लीन रहती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गके बिना मनुष्यका मोह उसीमें लीन रहता है, बाहरमे प्रकट नहीं होता ॥१०६९॥

गा०—वृद्ध पुरुषोंके संसर्गसे तरुण भी शीघ्र ही लज्जासे, शंकासे, मानसे, अपमानके भयसे और धर्मबुद्धिसे वृद्धशील हो जाता है ॥१०७०॥

'तरुणो वि' तरुणोऽपि । वृद्धशीलो भवति । वृद्धं संश्रितोऽचिरात् लज्जया, शंकया, मानेन, अपमान-भयेन धर्मबुद्धया च ॥१०७०॥

वुड्ढो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिओ अचिरा ।
वीसंभणिव्विसंको समोहणिज्जो य पयडीए ॥१०७१॥

'वुड्ढो वि' वृद्धोऽपि तरुणशीलो भवति तरुणसंश्रितः क्षिप्रं । 'विस्संभणिव्विसंको' विश्रमेन निर्विशक 'समोहणिज्जो य' सह मोहनीयेन वर्तमान. । 'पयडीए' प्रकृत्या ॥१०७१॥

सुंडयसंसग्गीए जह पादुं सुंडओऽभिलसदि सुरं ।
विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोट्ठीए ॥१०७२॥

'सुंडयसंसग्गीए' यथा शौडगोष्ठ्या । 'जह पादुं सुरमभिलसदि' यथा पातु सुरामभिलषति । तथा 'पयडीए संमोहो' तथा प्रकृत्या समोह । 'तरुणगोट्ठीए विसए अभिलसदि' तरुणगोष्ठ्या विषयान-भिलषति ॥१०७२॥

तरुणेहिं सह वसंतो चलिंदिओ चलमणो य वीसत्थो ।
अचिरेण सइरचारी पावदि महिलाकदं दोसं ॥१०७३॥

'तरुणेहिं' तरुणै सह वसन् चलेन्द्रियश्चलचित्त', सुष्ठु विश्वस्त' अचिरेण स्वैरचारी । 'पावदि' प्राप्नोति । 'महिलाकदं दोसं' वनिताविषयं दोषं ॥१०७३॥

पुरिसस्स अप्पसत्थो भावो तिहिं कारणेहिं संभवइ ।
[1]विगहम्मि अंधयारे कुसीलसेवाए ससमक्ख ॥१०७४॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य अप्रशस्तो भावस्त्रिभि' कारणै संभवति । एकान्ते, अन्धकारे, कुशीलसेवादर्शनेन च प्रत्यक्षम् ॥१०७४॥

गा०—तथा तरुण पुरुषोकी संगतिसे वृद्ध पुरुष भी शीघ्र ही विश्वासके कारण निर्भय होनेसे और स्वभावसे ही मोहयुक्त होनेसे तरुणशील तरुणोंके स्वभाववाला हो जाता है ॥१०७१॥

गा०—जैसे मद्य पीनेवालोके ससर्गसे मद्यपी मद्यपान करनेकी अभिलाषा करने लगता है वैसे ही स्वभावसे ही मोही जीव तरुणोंके ससर्गसे विषयोकी अभिलाषा करता है ॥१०७२॥

गा०—जो तरुणोकी सगतिमे रहता है उसकी इन्द्रियाँ चचल होती है, मन चंचल होता है, और पूरा विश्वासी होता है। फलत शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर स्त्रीविषयक दोषोंका भागी होता है ॥१०७३॥

पुरुषमे (और स्त्रीमें भी) तीन कारणोसे अप्रशस्तभाव अर्थात् काम सेवनकी अभिलाषा युक्तभाव होता है—

गा०—एकान्तमें स्त्रीके साथ पुरुषका और पुरुषके साथ स्त्रीका होना, अन्धकारमे तथा स्त्री पुरुषके काम सेवनको प्रत्यक्ष देखनेपर ॥१०७४॥

---

१ वियदम्मि मु०, मूलारा० ।

पासिय सुच्चा व सुरं पिज्जंतं सुंडओ भिलसदि जहा ।
विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व भिलसइ ॥१०७५॥

'पासिया सुच्चा व सुरं' सुरां पीयमानां दृष्ट्वा वा श्रुत्वा वा शौंडोऽभिलषति । यथा तथा समोहो विषयानभिलषति दृष्ट्वा श्रुत्वा वा ॥१०७५॥

जादो खु चारुदत्तो गोट्ठीदोसेण तह विणीदो वि ।
गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा ॥१०७६॥

'जादो खु चारुदत्तो' विनीतोऽपि चारुदत्तो गोष्ठीदोषेण गणिकासक्तो जात मद्यावसक्तः कुल दूषकश्च ॥१०७६॥

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स वुड्ढेहिं ।
पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥१०७७॥

'तरुणस्स वि' तरुणस्यापि वैराग्य जन्यते ज्ञानवयस्तपोवृद्धै । वत्सस्य स्पर्शेन यथा गौ प्रस्नुतक्षीरा क्रियते ॥१०७७॥

परिहरइ तरुणगोट्ठी विसं व वुड्ढाउले य आयदणे ।
जो वसइ कुणइ गुरुणिद्देसं सो णिच्छरइ बंभं ॥१०७८॥

'परिहरइ तरुणगोट्ठी' परिहरति तरुणै सह गोष्ठीं विषमिव य., वृद्धैराकीर्णे चायतने यो वसति । करोति च गुर्वाज्ञा स निस्तरति ब्रह्मचर्यमिति संक्षेपोपदेश । वृद्धसेवा गता ॥१०७८॥

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेक्षणं स्वमनसा ससग्गीदोसावि य इत्यस्य सूत्रपदस्यार्थ माध्याहारतया सूत्राणा पिच्छिज्जंता इति वाक्यशेषात्—

गा०—जैसे मद्यपी किसीको मद्य पीते देखकर अथवा सुनकर मद्यपानकी अभिलाषा करता है। वैसे ही मोही मनुष्य विषयोको देखकर अथवा सुनकर विषयोकी अभिलाषा करता है ॥१०७५॥

गा०—विनयवान भी चारुदत्त सेठ संगतिके दोषसे गणिकामे आसक्त हुआ, मद्यपानमे आसक्त हुआ और अपने कुलका दूषक हुआ ॥१०७६॥

गा०—ज्ञान, वय और तपसे वृद्ध पुरुषोंकी सगति तरुणपुरुषोमे भी वैराग्य उत्पन्न करती है जैसे बछड़ेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दूध उत्पन्न होता है ॥१०७७॥

गा०—जो तरुणोंकी संगतिको विषकी तरह जानकर छोड़ देता है और ज्ञान तप शीलसे वृद्ध पुरुषोंके वासस्थानमे रहता है वह गुरुकी आज्ञाका पालन करता है और ब्रह्मचर्यको पालता है ॥१०७८॥

वृद्ध संगतिका प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोषोंको कहते है—

आलोयणेण हिदयं पचलदि पुरिसस्स अप्पसारस्स ।
पेच्छंतयस्स बहुसो इत्थीथणजहणवदणाणि ।।१०७९।।

आलोयणेण आलोकनेन । 'हिदयं' हृदयं प्रचलति । अल्पधृतिकस्य पुंसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीना वदनपयोधरपृथुजघनानि ।।१०७९।।

लज्जं तदो विहिंसं परिजयमध णिव्विसंकिदं चेव ।
लज्जालुओ कमेणारुहंतओ होदि वीसत्थो ।।१०८०।।

'लज्जं तदो विहिंसं' ततो हृदयचलनोत्तरकाल लज्जां विनाशयति । विनष्टलज्जः परिचयमुपैति । ताभिर्दर्शनसमीपगमनहसनादिक करोतीति यावत् । पश्चान्निर्विशंको भवतीति मामनया सह स्थित पश्यन्ति इति या शंका तामपाकरोति । लज्जावानपि नर क्रमेण अभिहिता अवस्था उपारोहन्, विश्वस्तो भवति ।।१०८०।।

वीसत्थदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयादि ।
वीसंभादो पणयो पणयादो रदि हवदि पच्छा ।।१०८१।।

'वीसत्थदाए' विश्वस्ततया मनस विश्रभमुपयाति युवतिषु । विश्रभात्प्रणय प्रणयाद्रतिर्भवति ।।१०८१।।

उल्लावसमुल्लावएहिं चा वि अल्लियणपेच्छणेहिं तहा ।
महिलासु सइरचारिस्स मणो अचिरेण खुब्भदि हु ।।१०८२।।

'उल्लावसमुल्लावेहिं' सभाषणप्रतिवचनै , ढौकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्वेच्छाचारी तस्य शीघ्रं मनश्चलति ।।१०८२।।

ठिदिगदिविलासविब्भमसहासचेट्ठिदकडक्खदिट्ठीहिं ।
लीलाजुदिरदिसम्मेलणोवयारेहिं इत्थीणं ।।१०८३।।

गा०—युवती स्त्रियोका मुख, स्तन और स्थूल नितम्बोंको बराबर ताकते रहनेसे चंचल चित्त मनुष्यका हृदय विचलित हो जाता है ।।१०७९।।

गा०-टी०—हृदयके विचलित होनेके पश्चात् उसकी लज्जा जाती रहती है । निर्लज्ज होनेके पश्चात् वह उन स्त्रियोको देखना, उनके समीप जाना, उनसे हँसी ठठोली करना आदिके द्वारा परिचय प्राप्त करता है । पीछे उसका यह भय जाता रहता है कि लोग मुझे इनके साथ देखेंगे । इस तरह लज्जाशील मनुष्य भी क्रमसे कही गई अवस्थाओंको प्राप्त करता हुआ स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त हो जाता है कि यह मुझसे अनुराग करती है और किसीसे यह कहेगी नही आदि ।।१०८०।।

गा०—अपने मनमें ऐसा विश्वास होनेसे वह स्त्रियोंमे भी विश्वास करने लगता है और प्रेमसे आसक्ति बढ़ती है ।।१०८१।।

गा०—आसक्ति बढनेसे परस्परमें वार्तालाप होने लगता है । बार-बार मिलना और परस्पर देखना होता है । इससे स्त्रियोंके सम्बन्धमे स्वेच्छाचारी मनुष्यका चित्त शीघ्र ही विचलित हो जाता है ।।१०८२।।

'ठिदिगदि'—स्त्रीणा स्थित्या, गत्या विभ्रमेण, नर्तनाभिप्रायेण, निगूहनेन, कटाक्षावलोकनेन, शोभया, द्युत्या, क्रीडया, सहगमनासनादिना उपचारेण च ॥१०८३॥

हासोवहासकीडारहस्सवीसत्थजंपिएहिं तहा ।
लज्जामज्जादोणं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥१०८४॥

'हासोपहासकोडा' हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकान्ते विस्वस्तजल्पितेन च लज्जामर्यादयो सीमातिक्रम करोति नर. ॥१०८४॥

ठाणगदिपेच्छिदुल्लावादी सव्वेसिमेव इत्थीणं ।
सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥१०८५॥

'ठाणगदि' स्थान, गति, प्रेक्षितमुल्लापमत्यादय सर्वासामेव स्त्रीणा सविलासा पुरुषस्य मन. सदापहरन्ति ॥५०८५॥

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ।
अग्गिसमीवे[1] व घयं मणो लहुमेव हि विलाइ ॥१०८६॥

'संसग्गीए' सहगमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मना द्रवीभवति । अग्निनिकटस्थिता लाक्षेव ॥१०८६॥

संसग्गीसम्मूढो मेहुणसहिदो मणो हु [2]दुम्मेरो ।
पुव्वावरमगणंतो [3]लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥१०८७॥

'संसग्गीसम्मूढो' स्त्रीससर्गसमूढ मनो मिथुनकर्मपरिणत निमर्याद पूर्वापरमगणयदुल्लघयेच्छीलप्राकार ॥१०८७॥

गा०-टी०—तथा स्त्रियोके खडे होने, गमन करने नेत्रोके अनुराग, कटाक्ष क्षेप, हास्य-पूर्ण चेष्टा, शोभा, कान्ति, क्रीड़ा, साथ-साथ चलना, बैठना आदि उपचारोंसे, ह्रास उपहाससे, तथा एकान्तमे विश्वासयुक्त वार्तालापसे पुरुष लज्जा और मर्यादाकी सीमाका उल्लघन करता है ॥१०८३-१०८४॥

गा०—सब ही स्त्रियोंका विलास सहित खडा होना, गमन करना, देखना, बोलना आदि सदा पुरुषोके मनको हरता है ॥१०८५॥

गा०—निर्बल चित्त और स्वेच्छाचारी मनुष्यका मन स्त्रियोके संसर्गसे उनके साथ उठने बैठने और आने जानेसे आगके पासमे रखे घी या लाखकी तरह द्रवीभूत हो जाता है ॥१०८६॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके सहवाससे मूढ-मोहित हुआ मन मैथुन संज्ञासे पीडित होकर निर्मर्याद हो जाता है और आगे पीछे न देखते हुए सुन्दर शीलरूपी परिकोटको लाँघ जाता है ॥१०८७॥

१. वे लक्खेव म-मु० । २. णिम्मेरो-मूलारा० । ३. उट्ठेवदि उल्लंघयति-मूलारा० ।

इंदियकसयसण्णागारवगुरुया सभावदो सव्वे ।
संसग्गिलद्धपसरस्स ते उदीरंति अचिरेण ॥१०८८॥

'**इंदियकसायसण्णागारवगुरुका**' इंद्रियैः, कषायैः, संज्ञाभिराहारभयमैथुनपरिग्रहविषयाभिः ऋद्धिरससातगौरवैश्च गुरुका । स्वभावात् सर्वे एव प्राणभृतः संसर्गलब्धप्रसरस्य अतीव अशुभपरिणामा अचिरादेवोत्पद्यन्ते ॥१०८८॥

मादं सुदं च भगिणीमेगंते अल्लियंतगस्स मणो ।
खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुण सेसासु महिलासु ॥१०८९॥

स्पष्टार्था ॥१०८९॥

उत्तरा—

जुण्णं पोच्चलमइलं रोगियबीभस्सदंसणविरूवं ।
मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥१०९०॥

'**जुण्णं**' जीर्णतरा । '**पोच्चलमइलं**' निःसारमलिना । '**रोगियबीभस्सदंसणविरूवं**' व्याधिता बीभत्सलोचना विरूपामपि स्त्रियं । '**मेहुणपडिगं**' मैथुनकर्मनिमित्तं '**पच्छेदि**' प्रार्थयते । '**मणो**' मनः '**तिरिय खु**' तिरश्ची वा दृष्ट्वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यक्ष्वपि नराणां प्रवृत्तिः ॥१०९०॥

दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण अभिलाससुमरणं सव्वं ।
एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥१०९१॥

'**दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण**' दृष्टानां, अनुभूतानां, श्रुतानां च विषयाणां । '**अभिलाससुमरणं**' अभिलाषस्मरणं । '**सव्वं एसोवि होदि महिलासंसग्गी**' एषोऽपि भवति युवतिसंसर्गः । '**इत्थिविरहे**' स्त्रीविरहे ॥१०९१॥

थेरो बहुस्सुदो[1] वा पच्चईओ तह गणी तवस्सित्ति ।
अचिरेण लभदि दोसं महिलावग्गम्मि वीसत्थो ॥१०९२॥

गा०—स्वभावसे ही सब प्राणी इन्द्रिय, कषाय, आहार भय मैथुन और परिग्रह विषयक संज्ञा तथा ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरवसे युक्त होते हैं। अतः स्त्रीकी संगतिका साहाय्य पाकर वे इन्द्रियादिरूप अशुभ परिणाम तत्काल प्रबल हो उठते है ॥१०८८॥

गा०—एकान्तमे माता, पुत्री और बहनको पाकर जब मनुष्यका मन सहसा चंचल हो उठता है तब शेष स्त्रियोंके सम्बन्धमे तो कहना ही क्या है ॥१०८९॥

गा०—मनुष्यका मन अति वृद्धा, सारहीन, मैली, कुचैली, रोगी, देखनेमे भयानक कुरूप स्त्रीको भी मैथुन करनेके लिए चाहता है। तथा तीव्र कामके आवेशमे पशुओके साथ भी मनुष्य मैथुन कर्म करता है ॥१०९०॥

अन्य प्रकारसे स्त्री संसर्ग दिखलाते हैं—

गा०—स्त्रीके अभावमें देखे हुए, भोगे हुए, सुने हुए विषयोंकी अभिलाषा करना, स्मरण करना, ये सब भी स्त्री संसर्ग ही है ॥१०९१॥

---

१. दो पच्चई पमाण गणी—मु० ।

'थेरो' स्थविरः, बहुश्रुत, प्रत्ययितः, प्रमाणभूतः गणधरः, तपस्वीत्येव प्रकारः। **'अचिरेण'** चिरकालमन्तरेण। **'लभदि दोसं'** अयशो लभते। **'महिलावग्गम्मि'** युवतिवर्गे। **'वीसत्थो'** विश्वस्तः ॥१०९२॥

किं पुण तरुणा अबहुस्सुदा य सइरा य विगदवेसा य।
महिलासंसग्गीए णट्ठा अचिरेण होहंति ॥१०९३॥

'किं पुण तरुणा' सयौवना, अबहुश्रुताः, स्वैरचारिण, विकृतवेषाश्च युवतिससर्गेण झटिति नष्टा न भवन्ति ? किं पुनर्भवन्त्येवेति यावत् ॥१०९३॥

सगडो हु जइणिगाए संसग्गीए दु चरणपब्भट्ठो।
गणियासंसग्गीय य कूववारो तहा णट्ठो ॥१०९४॥

'सगडो हु' सगडा नामधेयः। **'जइणिगाए ससग्गीए'** जइणिगासंज्ञायाः संसर्गेण। **'चरणपब्भट्ठो'** चारित्राद्भ्रष्टः। **'गणिकासंसग्गीए'** गणिकागोष्ठ्या। **'कूववारो वि'** कूपारनामकः। **'तहा णट्ठो'** तथा चारित्रान्नष्टः ॥१०९४॥

रुद्दो परासरो सच्चईय रायरिसि देवपुत्तो य।
महिलारूवालोई णट्ठा संसत्तदिट्ठीए ॥१०९५॥

'रुद्दो परासरो' रुद्र, पराशरः, सात्यकिः, राजर्षिर्देवपुत्रश्च युवतिरूपावलोकिनः। ससक्तया दृष्ट्या नष्टाः ॥१०९५॥

जो महिलासंसग्गी विसंव दट्ठूण परिहरइ णिच्चं।
णित्थरइ बंभचेरं जावज्जीवं अकंपा सो ॥१०९६॥

जो महिलाया स्त्रीणा ससर्ग विषमिव दृष्ट्वा नित्य परिहरति। असौ ब्रह्मचर्य उद्वहति यावज्जीव निश्चलः ॥१०९६॥

गा०—वृद्ध, बहुश्रुत, सबका विश्वास भाजन, सबके लिए प्राणभूत, गणधर और तपस्वी मनुष्य भी यदि स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त है उनसे संसर्ग रखता है तो वह भी शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ॥१०९२॥

गा०—तब जो तरुण हैं, अल्पज्ञानी है, स्वच्छन्द और विकार पैदा करनेवाला वेष रखते हैं वे स्त्रियोंके संसर्गसे शीघ्र ही नष्ट क्यो न होंगे ? अवश्य ही होंगे ॥१०९३॥

गा०—शकट नामक मुनि जैनिका नामक ब्राह्मणीके संसर्गसे चारित्रसे भ्रष्ट हुए। और कूपार नामक मुनि वेश्याकी संगतिके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हुए ॥१०९४॥

गा०—रुद्र, पाराशर ऋषि, सात्यकि मुनि, राजर्षि, और देवपुत्र ये स्त्रीके रूपको देखनेमें आसक्त होकर भ्रष्ट हुए ॥१०९५॥

गा०—जो पुरुष स्त्रीके संसर्गको विषकी तरह देखकर नित्य ही उससे बचता है वह निश्चल होकर जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥१०९६॥

सव्वम्मि इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सदा अवीसत्थो ।
बंभं णिच्छरदि वदं चरित्तमूलं चरणसारं ॥१०९७॥

'**सव्वम्मि**' सर्वस्त्रीवर्गे । अप्रमत्त सदा अविश्वस्तः, ब्रह्मव्रतमुद्वहति चारित्रस्य मूल सारं च ॥१०९७॥

किं मे जंपदि किं मे पस्सदि अण्णो कहं च वट्टामि ।
इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढबंभव्वदो होदि ॥१०९८॥

'**किं मे जंपदि**' किं जल्पति मा जनोऽन्यः । किं पश्यति, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति य सदानुप्रेक्षते असौ दृढब्रह्मचर्यव्रतो भवति ॥१०९८॥

मज्झण्हतिक्खसूरं व इत्थिरूवं ण पासदि चिरं जो ।
खिप्पं पडिसंहरदि दिट्ठिं सो णिच्छरदि बंभं ॥१०९९॥

'**मज्झण्हतिक्खसूरं व**' मध्यान्हे स्थित तीक्ष्णमादित्यमिव स्त्रीणा रूपं चिर यो न पश्यति । क्षिप्रमुपसंहरति दृष्टि य स निस्तरति ब्रह्मचर्य ॥१०९९॥

एवं जो महिलाए सद्दे रूवे तहेव संफासे ।
ण चिरं जस्स सज्जदि दु मणं खु णिच्छरदि सो बंभं ॥११००॥

'**एवं जो महिलाए**' एव यो युवतिशब्दे, रूपे, सस्पर्शे च चिर मनो न सधत्तेऽसौ ब्रह्म निस्तरति । '**संसग्गी**' ॥११००॥

इह परलोए जदि दे मेहुणविस्सुत्तिया हवे जण्हु ।
तो होहि तमुवउत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥११०१॥

'**इह परलोए**' इह परलोके च यदि मैथुनपरिणामो भवेत् । पचविधे स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तदुपयोगाद्विनश्यत्यमावशुभतम परिणाम इति सूरेरुपदेश ॥११०१॥

गा०—जो पुरुष सम्पूर्ण स्त्री वर्गमें प्रमाद रहित है और सदा स्त्रियोका विश्वास नही करता। वह ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना है जो ब्रह्मचर्य व्रत चारित्रका मूल और उसका सार है ॥१०९७॥

गा०—अन्य लोग मेरे सम्बन्धमे क्या कहते हैं ? मुझे किस दृष्टिसे देखते हैं ? मेरी प्रवृत्ति कैसी है ? ऐसा जो सदा विचार करता है उसका ब्रह्मचर्यव्रत दृढ़ होता है ॥१०९८॥

गा०—जो मध्याह्नकालके तीक्ष्ण सूर्यकी तरह स्त्रीके रूपकी ओर देर तक नही देखता और शीघ्र ही अपनी दृष्टिको उसकी ओरसे हटा लेता है वह ब्रह्मचर्यका निर्वाह करता है ॥१०९९॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके शब्द, रूप और स्पर्शमे जिसका मन चिरकाल तक नही ठहरता, वह ब्रह्मचर्यका पालक होता है ॥११००॥

इस प्रकार स्त्री ससर्गके दोषोंका कथन किया।

गा०-टी०—हे क्षपक ! यदि इस लोक और परलोकमें तुम्हारे मैथुन सेवनके परिणाम हों तो पाँच प्रकारके स्त्री वैराग्यमें मनको लगाओ। अर्थात् स्त्रीकृत दोष, मैथुनके दोष, स्त्री-

उदयम्मि जायवड्ढिय उदएण ण लिप्पदे जहा पउमं ।
तह विसएहिं ण लिप्पदि साहू विसएसु उसिओ वि ॥११०२॥

'**उदयम्मि जायवड्ढिय**' उदके जातं परिवृद्ध च यथा पद्म उदकेन न लिप्यते । तथा न लिप्यते विषयैः साधुर्विषयेषु वर्तमानोऽपि ॥११०२॥

उग्गाहिंतस्सुदधिं अच्छेरमणोल्लणं जह जलेण ।
तह विसयजलमणोमच्छेरं विसयजलहिम्मि ॥११०३॥

'**ओग्गाहंतस्सुदधिं**' अवगाहमानस्योदधिं आश्चर्यं यथा जलेनास्पर्शनं । तथा विषयजलेनार्द्रचित्तता आश्चर्यं विषयजलधिमध्यमध्यासीनस्य ॥११०३॥

मायागहणे बहुदोसमावए अलियदुमगणे भीमे ।
असुइतणिल्ले साहू ण विप्पणस्संति इत्थिवणे ॥११०४॥

'**मायागहणे**' यथा गहन परेषा दु प्रवेश एव मायापि परैर्दुरधिगमेति मायापि गहनमित्युच्यते । मायागहनं यस्मिन्वने तन्मायागहन तस्मिन् । '**बहुदोससावदे**' बहवो दोषा बहुदोषा असूया, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितरा प्रमत्तता चेत्येवमादयस्ते श्वापदा यस्मिन् । '**अलियदुमगणे**' यथा द्रुमो महाननेकशाखोपशाखाकुलश्च तद्वद्व्यलीकता द्रुमगणो यस्मिन् । भीमे भयकरे । '**असुचितणिल्ले**' अशुचितृणकुले । यतयो न विप्रणश्यन्ति स्त्रीवने ॥११०४॥

सिंगारतरंगाए विलासवेगाए जोव्वणजलाए ।
विहसियफेणाए मुणी णारिणईए ण वुज्झंति ॥११०५॥

संसर्गके दोष, शरीरकी अशुचिता और वृद्धसेवाका चिन्तन करे। ऐसा करनेसे तुम्हारे अति अशुभ परिणाम नष्ट होगे ॥११०१॥

गा०—जैसे जलमें उत्पन्न हुआ और जलमे ही बढा कमल जलसे लिप्त नही होता। वैसे ही विषयोंके मध्यमे रहते हुए भी साधु विषयोसे लिप्त नही होता ॥११०२॥

गा०—जैसे समुद्रका अवगाहन करके भी समुद्रके जलसे शरीरका निर्लिप्त रहना आश्चर्यकारी है। वैसे ही विषयरूपी समुद्रके मध्यमे रहकर विषयरूपी जलसे चित्तका न भीगना आश्चर्यकारी है ॥११०३॥

गा०-टी०—यह स्त्रो रूपी वन मायाचारसे गहन है। जैसे गहन वनमे दूसरोका प्रवेश करना कठिन होता है वैसे ही मायाको भी जानना कठिन है इसलिए मायाको गहन कहा है। अत स्त्रीरूपी वनमें माया ही गहनबेल आदि झाड़ियोंका समूह है। वनमें हिंसक जन्तु रहते हैं। स्त्रीरूप वनमे परनिन्दा, चुगली, चंचलता, भीरुता, प्रमत्तपना आदि बहुदोषरूपी हिंसक जन्तुओंका आवास है। वनमे वृक्ष होते हैं जो अनेक शाखा उपशाखाओंसे फैले रहते हैं। स्त्रीरूपी वनमें झूंठरूपी वृक्ष अपने भेद प्रभेदोंके साथ रहता है। वनकी तरह स्त्रीरूप वन भी भयंकर है। वनमे घास फूँस रहता है। स्त्री रूपी वनमे अशुचि शरीरके अंग-उपाग ही घास फूँस हैं। ऐसे स्त्रीरूपी वनमे साधु नही भटकता ॥११०४॥

'सिंगारतरंगाए' शृङ्गारतरङ्गया, विलासवेगया, यौवनजलया, विहसितफेनया, नारीनद्या मुनिर्नोह्यते ॥११०५॥

ते अदिसूरा जे ते विलाससलिलमदिचवलरदिवेगं ।
जोव्वणणईसु तिण्णा ण य गहिया इत्थिगाहेहिं ॥११०६॥

'ते अदिसूरा' ते अतिशूरा । ये विलाससलिलामतिचपलरतिवेगा यौवननदीमुत्तीर्णा, न च गृहीता युवतिग्राहैः ॥११०६॥

महिलावाहविमुक्का विलासपुंक्खा कडक्खदिट्ठिसरा ।
जण्ण वधंति सदा विसयवणचरं सो हवइ धण्णो ॥११०७॥

'महिलावाहविमुक्का' युवतिव्याधविमुक्ता । विलासपृषत्का, कटाक्षदृष्टिशराः । यं न घ्नन्ति सदा विषयवने चरन्तं भवति स धन्यः ॥११०७॥

विब्बोगतिक्खदंतो विलासखंधो कडक्खदिट्ठिणहो ।
परिहरदि जोव्वणवणे जमित्थिवग्घो तगो धण्णो ॥११०८॥

'विब्बोगतिक्खदंतो' विलासस्कन्धो । विभ्रमतीक्ष्णदन्तो विलासस्कन्ध कटाक्षदृष्टिनखः परिहरति यौवनवने य युवतिव्याघ्र स धन्य ॥११०८॥

तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।
जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥११०९॥

गा०—स्त्री एक नदीके समान है। उसमें शृङ्गाररूप तरगे हैं। विलासरूप वेग है। यौवनरूप जल है तथा मन्द-मन्द हँसना ही झाग है। ऐसी स्त्रीरूपी नदी मुनिको नहीं बहा सकती ॥११०५॥

गा०—यह यौवनरूप नदी विलासरूप जलसे पूर्ण है अति चचल रतिरूप इसका प्रवाह है। जो इस यौवनरूप नदीको पारकर गये और स्त्रीरूपी मगरमच्छोने जिन्हे नही पकडा वे इस जगतमे अति शूरवीर हैं अर्थात् जवानीमे भी जिन्हे स्त्रीकी चाहने नहीं घेरा वे ही सच्चे शूरवीर हैं ॥११०६॥

गा०-टी०—विषयरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको स्त्रीरूपी शिकारीके द्वारा छोडे गये कटाक्षदृष्टिरूपी बाणोने नहीं बीधा वह धन्य है। इन बाणोमे लगा पख स्त्रीका विलास है। विलासके साथ कटाक्ष दृष्टिरूपी बाण स्त्रीरूपी शिकारी विषयरूपी बनमें विचरण करने वालो पर चलाता है। जो उससे बचे रहते हैं वे धन्य है ॥११०७॥

गा०—स्त्री व्याघ्रके समान है भृकुटि विकार उसके तीक्ष्ण दाँत है। विलासरूपी कन्धा है। कटाक्षदृष्टि उसके नख है। यौवनरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको यह स्त्रीरूपी व्याघ्र नही पकडता, वह धन्य है ॥११०८॥

गा०—तीनों लोकरूपी बनको जलाने वाली और विषयरूपी वृक्षोसे प्रज्वलित यह कामरूप आग यौवन रूपी तृणो पर चलने में चतुर जिस मनुष्यको नहीं जलाती वह धन्य है ॥११०९॥

'तेल्लोक्काडविडहणो' त्रैलोक्याटविदहनः । कामाग्निर्विषयवृक्षे प्रज्वलिते यौवनतृणसञ्चरणचतुरं यन्न दहत्यसौ धन्यः ॥११०९॥

विसयसमुद्दं जोव्वणसलिलं हसियगइपेक्खिदुम्मीयं ।
धण्णा समुत्तरंति हु महिलामयरेहिं अच्छिक्का ॥१११०॥

'विसयसमुद्दं' विषयसमुद्रं । 'यौवनसलिलं' हसनगमनप्रेक्षणतरङ्गनिचितं । धन्याः सम्युत्तरन्ति युवतिमकरैरस्पृष्टा. ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यातं ॥ चदुत्थ ॥१११०॥

पञ्चममहाव्रतनिरूपणायोत्तरप्रबन्ध —

अब्भंतरबाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि ।
कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥११११॥

'अब्भंतरबाहिरगे' अभ्यन्तरान्बाह्यांश्च । 'सव्वे गंथे' सर्वान्ग्रन्थान् । 'तुमं विवज्जेहि' वर्जय भवान् । 'कदकारिदाणुमोदेहिं' कृतकारितानुमननैः । 'कायमणवयणजोगेहिं' कायेन मनसा वाचा वा ॥११११॥

तत्राभ्यन्तरपरिग्रहभेदं निरूपयति गाथा—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा ॥१११२॥

'मिच्छत्तवेदरागा' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं मिथ्यात्वं, वेदशब्देन स्त्रीपुन्नपुंसकवेदाख्यानां कर्मणां ग्रहणं । तज्जनिताः स्त्र्यादीनां अन्योन्यविषयरागाः । स्त्रियः पुंसु रागः, पुंसो युवतिषु, नपुंसकस्योभयत्र । 'हस्सादिगा य छद्दोसा' हास्यं, रतिररतिः शोको, भयं जुगुप्सेति । एते षड्दोषा । 'चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा' चत्वारस्तथा कषायाश्चतुर्दशैते अभ्यन्तरा परिग्रहा ॥१११२॥

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं धणधण्णकुप्पभंडाणि ।
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा ॥१११३॥

गा०—इस विषयरूप समुद्रमें यौवनरूप जल है, स्त्रीका हँसना चलना देखना उसके लहरे हैं। और स्त्रीरूप मगरमच्छ है जो इन मगरमच्छोसे अछूते रहकर इस समुद्रको पार करते हैं वे धन्य हैं ॥१११०॥

इस प्रकार चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रतका व्याख्यान हुआ। पचम महाव्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ? कृत कारित अनुमोदना और मन वचन कायसे तुम सब अन्तरग और बहिरग परिग्रहका त्याग करो ॥११११॥ मिथ्यात्व, वेद राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और चार कषाय ये चौदह अन्तरग परिग्रह हैं ॥१११२॥

टी०—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है। वेद शब्दसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद नामक कर्मोंका ग्रहण किया है। उनके उदयसे उत्पन्न स्त्री आदिके पारस्परिक रागको यहाँ अन्तरंग परिग्रह कहा है। स्त्रियोंका पुरुषोंमे राग, पुरुषोंका स्त्रियोंमें राग और नपुंसकोंका दोनोंमे राग पारस्परिक राग है ॥१११२॥

'बाहिरसंगा' बाह्यपरिग्रहा । **'खेत्त'** कर्षणाद्यधिकरणं । **'वत्थु'** वास्तु गृहं । **'धणं'** सुवर्णादि । **'धण्ण'** धान्यं व्रीह्यादि । **'कुप्प'** कुप्यं वस्त्र । **'भंड'** भाण्डशब्देन हिङ्गुमरिचादिकमुच्यते । दुपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गादि । **'चउप्पय'** गजतुरगादयश्चतुष्पदा । **'जाणाणि'** शिबिकाविमानादिक यान । **'सयणासणे'** शयनानि आसनानि च ।।१०१३।।

बाह्यमलमनिराकृत्याभ्यन्तरकर्ममलं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रवीर्याव्याबाधत्वानामात्मगुणाना छादने व्यापृत न निराकर्तुं शक्यते इत्येतद्दृष्टान्तमुखेनाचष्टे—

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स ।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ।।१११४।।

'जह कुंडओ ण सक्का' तुषसहितस्य तन्दुलस्यान्तर्मलं बाह्ये तुषेऽनपनीते यथा शोधयितुमशक्य । तथा बाह्यपरिग्रहमलससक्तस्याभ्यन्तरकर्ममल अशक्य शोधयितुमिति गाथार्थ । सपरिग्रहस्य कस्मान्न कर्मविमोक्षो ? जीवाजीवद्रव्ये बाह्यपरिग्रहशब्देनोच्येते । तौ च सर्वदा सर्वत्र सन्निहिताविति बन्धक एवायमात्मा स्यादिति । एवं च मुक्त्यभाव इति चोदिते, न तयो सम्बन्धहेतुरपि तु लोभादय परिणामा । लोभादिपरिणामहेतुक बाह्यद्रव्यग्रहण ।।१०१४।।

अतो यो बाह्यमुपादत्तेऽभ्यन्तरपरिणाममन्तरेण नैवादत्त इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ।
तो तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ ।।१११५।।

गा०—खेती आदिका स्थान क्षेत्र, मकान, सुवर्ण आदि धन, जौ आदि धान्य, कुप्य अर्थात् वस्त्र, भाण्ड शब्दसे हीग मिर्च आदि, दुपद शब्दसे दास दासी सेवक आदि, हाथी घोड़े आदि चौपाये, पालकी विमान आदि यान तथा शयन आसन आदि ये दस बाह्य परिग्रह है ।।१११३।।

बाह्य परिग्रहके त्याग किये बिना ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अव्याबाधत्व नामक आत्म गुणोको ढाँकने वाले अभ्यन्तर कर्ममलको दूर नही किया जा सकता, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे तुष सहित चावलका तुष दूर किये बिना उसका अन्तर्मलका शोधन करना शक्य नही है । वैसे ही जो बाह्य परिग्रहरूपी मलसे सम्बद्ध है उसका अभ्यन्तर कर्ममल शोधन करना शक्य नही है ।

शंका—परिग्रह सहित व्यक्तिका कर्मबन्धनसे छुटकारा क्यो नही होता । जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य बाह्य परिग्रह कहे जाते है । और वे दोनो सदा सर्वत्र जीवके समीप रहते है अत आत्मा सदा कर्मका बन्धक ही रहेगा । और उसे कभी मुक्ति नही होगी ।

समाधान—ऐसा नही है, उन जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यके निकट रहते हुए भी लोभादिरूप परिणाम उनसे सम्बन्धमें कारण होते है । लोभादिरूप परिणामोके कारण जीव बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है ।।१११४।।

अतः जो अभ्यन्तर लोभादि परिणामके विना बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है, वह ग्रहण नही करता, यह कहते हैं—

'रागो लोभोमोहो' ममेदं भावो रागः, द्रव्यगतगुणासक्तिर्लोभः, परिग्रहेच्छा मोहो। ममेदं भाव संज्ञा। किञ्चित् मम भवति शोभनमिति इच्छानुगतं ज्ञानं। तीव्रोऽभिलाषो यः परिग्रहगतः स गौरवशब्देनोच्यते। एते यदोदिता परिणामास्तदा ग्रन्थान्बाह्यान् ग्रहीतुं मनः करोति नान्यथा। तस्माद्यो बाह्यं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामवानेवेति कर्मणा बन्धको भवति। ततस्त्याज्या परिग्रहाः ॥१११५॥

स च परिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकाचर्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्य[1]तयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसव्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो।
इहपरलोइयदोसे सव्वे आवहदि संगो हु ॥१११६॥

'चेलादिसव्वसंगच्चागो इति' दशविधा हि स्थितिकल्पा निरूपिता अचेलतादयः। तत्र आचेलक्यं नाम चेलमात्रत्यागो न भवति। किन्तु चेलादिसर्वसंगत्यागः प्रथमः स्थितिकल्पो दशानामाद्यः। **'इहपरलोगियदोसे'** ऐहिकामुष्मिकांश्च दोषानावहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारेणादरवता सकलः परिग्रहस्त्याज्यः। इति भावः ॥१११६॥

श्रुतं चेलपरित्यागमेव सूचयति आचेलक्कमिति न इतरत्यागमित्याशङ्कायामाचष्टे—

देसामासियसुत्तं आचेलक्कंति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥१११७॥

'देसामासियसुत्तं' परिग्रहैकदेशामर्शकारिसूत्रं **'आचेलक्कंति'** आचेलक्यमिति। **'तं खु'** तत्। 'ठिदि-

---

गा०-टी०—'यह मेरा है' ऐसे भावको राग कहते हैं। द्रव्यके गुणोमे आसक्तिको लोभ कहते हैं। परिग्रहकी इच्छाको मोह कहते हैं। मेरे पास कुछ होता तो अच्छा होता, इस प्रकारके ममत्व भावको संज्ञा कहते हैं। परिग्रहविषयक तीव्र अभिलाषाको गारव शब्दसे कहते हैं। ये परिणाम जब उत्पन्न होते हैं तब बाह्य परिग्रहको ग्रहण करनेका मन होता है, उनके अभावमे नही होता। अतः जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करता है वह नियमसे लोभ आदि रूप अशुभ परिणाम वाला होनेसे कर्मका बन्ध करता है। अतः परिग्रह त्याज्य है ॥१११५॥

आगे कहते हैं कि यह परिग्रह त्याग हमने अपनी बुद्धिसे नही कहा, किन्तु निश्चयसे आगममें इसके पालनेका उपदेश है—

गा०—आगममे दस प्रकारका स्थितिकल्प कहा है। उसमे पहला कल्प आचेलक्य है। आचेलक्यका अर्थ केवल वस्त्र मात्रका त्याग नही है किन्तु वस्त्र आदि सर्व परिग्रहका त्याग है। यह दस कल्पोमेंसे पहला स्थितिकल्प है। यतः परिग्रह इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषोंको लाती है अतः जो दोनो लोक सम्बन्धी दोषोंसे बचना चाहता है उसे सब परिग्रह छोड़ना चाहिए। यह इस गाथाका भाव है ॥१११६॥

कोई आशंका करता है कि आगममें वस्त्र मात्रके त्यागकी सूचना है अन्यके त्यागकी नही? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—स्थितिकल्पका कथन करते हुए जो 'आचेलक्य' आदि सूत्र कहा है वह देशा-

---

१ व्य तथोप-अ० आ०।

कप्पे' स्थितिकल्पे वाच्ये प्रवृत्तं सूत्रं नियोगतो मुमुक्षूणां यत्कर्तव्यतया स्थितं तत्स्थितमुच्यते स्थितकल्पः, स्थित-प्रकार.। एतदुक्तं भवति—चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षण, तेन सकलग्रन्थत्याग आचेलक्यशब्दस्यार्थ इति। **तालपलंब ण कप्पदित्ति** सूत्रे तालशब्दो न तरुविशेषवचन. किन्तु वनस्पत्येकदेशस्तरुविशेष उपलक्षणाय वन-स्पतीनां गृहीत । तथाचोक्तं कल्पे—

हरिततणोसहिगुच्छा गुम्मा वल्लीलदा य रुक्खा य ।
एवं वणप्फदीओ तालोद्देसेण आदिट्ठा ॥ इति ॥
तालेदि दलेदित्तिय तलेव जादेत्ति उस्सिदो वत्ति ।
तालादिणो तदत्तियवणप्फदीणं हवदि णामं ॥

प्रलम्ब द्विविध मूलप्रलम्ब च, अग्रप्रलम्बं च कन्दमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशितमूलप्रलम्ब, अकुरप्रवालफल-पत्राणि अग्रप्रलम्बानि। तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बं वनस्पतेरंकुरादिक च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थस्तथेहापीति मन्यते। अथवा '**लुप्तोथ आदिशब्दो**' लुप्तोथ सूत्रे आदिशब्दः। अचेलादित्वमिति प्राप्ते। यथा '**तालपलंब-सुत्तम्मि**' यथा तालप्रलम्बसूत्रे। तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालपलम्बमित्युक्त। तथाचोक्त सिद्धान्ताविति[1] **निश्चयेनैव** सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्र ह्येतत्कृत। आदिशब्दलोपोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रे न तु देशामर्शक भवतीति ॥१११७॥

मर्शक है। ममुक्षुओको जो नियमसे करना चाहिए उसे स्थित कहते हैं और उसके भेदोको स्थिति-कल्प कहते है। उसमें 'चेल' शब्द परिग्रहका उपलक्षण है। अतः आचेलक्य शब्दका अर्थ सर्व परिग्रहका त्याग है। जैसे 'तालपलव ण कप्पदि' इस सूत्रमे ताल शब्द वृक्ष विशेष ताडका वाचक नही है, किन्तु वनस्पतिका एक देश वृक्ष विशेष सब वनस्पतियोके उपलक्षणके लिये रखा है। कल्पसूत्रमे कहा है—

'ताल शब्दसे हरित तृण, औषधि, गुच्छा, बेल, लता, वृक्ष इत्यादि वनस्पतियोका कथन किया है।' 'ताल शब्द तल धातुसे निष्पन्न हुआ है। तल शब्दका अर्थ ऊँचाई भी है। जो स्कन्ध रूपसे ऊँचा वृक्ष विशेष होता है वह ताल वृक्ष है। तालादिमे आदि शब्दसे वृक्ष फूल पत्ता आदि वनस्पति लेना चाहिए।

प्रलम्बके दो प्रकार है—मूल प्रलम्ब और अग्रप्रलम्ब। कन्दमूल फल जो भूमिमे रहते है वे मूल प्रलम्ब हैं। और अंकुर, प्रवाल, फल, पत्ते अग्रप्रलम्ब है। तालके प्रलम्बको ताल प्रलम्ब कहते हैं। इससे वनस्पतिके अंकुर आदिका ग्रहण होता है। अतः जैसे तालप्रलम्बसूत्रमें ताल प्रलम्बसे अन्य वनस्पतियोका ग्रहण किया है वैसे ही आचेलक्यसे अन्य परिग्रहका भी ग्रहण किया है। अथवा सूत्रमे अचेलत्वादिका आदि शब्द लुप्त हो गया है। जैसे तालप्रलम्ब सूत्रमे 'तालादि' शब्दका प्रयोग न करके 'तालप्रलम्ब' कहा है। आचेलक्य आदि सूत्रको सूत्रकारने देशामर्शक सूत्ररूपसे बनाया है अर्थात् परिग्रहके एक देश वस्त्रका ग्रहण न करनेका निर्देश करके समस्त परिग्रहका त्याग बतलाया है। किन्तु ताल प्रलम्ब सूत्रमे आदि शब्दका लोप है अतः वह सूत्र देशामर्षक नहीं है ॥१११७॥

विशेषार्थ—दस स्थितकल्पोंमें पहला स्थितिकल्प आचेलक्य है। चेलका अर्थ वस्त्र है। अतः कोई शका करता है कि आचेलक्यसे केवल वस्त्रका ही त्याग कहा है। सब परिग्रहका

१ ताविति।

ण य होदि संजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहिं ।
तम्हा आचेलक्कं चाओ सव्वेसि होइ संगाणं ॥१११८॥

'ण य होदि संजदो' नैव संयतो भवति इति वस्त्रमात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वित । वस्त्रादन्य. शेष. इत्युच्यते । आचेलक्कमित्यत्र चेलत्यागमात्रमेव यदि निर्दिष्टं स्याच्चेलादन्यपरिग्रह गृह्णन् सयत स न भवति यस्मात्तस्मादाचेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मन्तव्य इति युक्तिरुपन्यस्ता चेलशब्दस्य परिग्रहोपलक्षणतायां । किं च महाव्रतोपदेशप्रवृत्तानि च सूत्राणि ज्ञापकानि सर्वसगत्याग आचेलक्कमित्यत्र निर्दिष्ट इत्यस्य ॥१११८॥

कथ यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यान्नेतर अहिंसादिव्रतानि न स्यु इत्येतद्व्याचष्टे उत्तरगाथाया—

संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं ।
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥१११९॥

'संगणिमित्त मारेदि' परिग्रहनिमित्त प्राणिनो हिनस्ति षट्कर्मप्रवृत्ते । अथ द्रव्य परकीय ग्रहीतुकामस्त हिनस्ति, भणत्यलीक, करोति स्तैन्य, भजते अपरिमितामिच्छा, मैथुने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसादि-

---

त्याग नही कहा। इसके समाधानमें दो बातें कही है। प्रथम यह सूत्र देशामर्षक है—एक देश चेलके द्वारा सब परिग्रहका त्याग कहा है। दूसरे, इसमे आदि शब्दका लोप हो गया है आचेलक्यादिकी जगह आचेलक्य कहा है अत आदि शब्दसे सब परिग्रहका त्याग बतलाया है। अपने इस कथनकी पुष्टिमे ग्रन्थकारने ताल प्रलम्ब सूत्रका उदाहरण दिया है।

कल्पसूत्रमे पहला सूत्र है—

'नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा आमे तालपलबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ।'

अर्थात् निर्ग्रन्थ साधु और साध्वियोंको ताल प्रलम्ब ग्रहण नही करना चाहिए। इसके भाष्यमे कहा है कि तालवृक्षके फलको ताल कहते है उसे अग्रप्रलम्ब कहते है। और उसके आधारभूत वृक्षको तल कहते है। और प्रलम्ब मूलको कहते है। यहाँ यद्यपि सूत्रमे तालप्रलम्ब जो कच्चा हो और टूटा न हो उसके ग्रहणका निषेध किया है। तथापि तालफलसे नारियल, लकुच, कैथ, आम्र आदि सभी लिए है। इसी तरह आचेलक्यमे भी केवल वस्त्रका ही त्याग नही कहा किन्तु सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११७॥

गा०-टी०—केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेसे और शेष परिग्रह रखनेसे साधु नही होता। यदि 'आचेलक्य' से वस्त्रमात्रका त्याग ही कहा होता तो वस्त्रके सिवाय अन्य परिग्रहको ग्रहण करनेवाला साधु नही हो सकता। अत: आचेलक्यका अर्थ सर्वपरिग्रहका त्याग मानना चाहिए। 'चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है' इसके सम्बन्धमे यह युक्ति दी गई है। तथा महाव्रतका कथन करनेवाले सूत्र इस बातके ज्ञापक है कि आचेलक्यमे सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११८॥

आगे कहते हैं कि यदि साधुके लिए केवल वस्त्रमात्र ही त्याज्य है, अन्य परिग्रह त्याज्य नही है तो अहिंसादिव्रत नही हो सकते—

गा०-टी०—परिग्रहके लिए असि मसि कृषि आदि षट्कर्म करके मनुष्य प्राणियोंका घात करता है। पराये द्रव्यको ग्रहण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी

व्रतानि न स्युः । परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठन्ति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥१११९॥

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमन्तरेण प्रत्यग्रकर्मोपचयः कथं निवार्यते । प्रत्यग्रकर्मोपचयेन कर्मणां सैवानन्तकाला संसृतिरित्येतच्चेतसि कृत्वा परिग्रहग्रहणभाविनोऽशुभान्परिणामानाचष्टे—

सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिट्ठुरविवादा ।
संगणिमित्तं ईसासूयासल्लाणि जायंति ॥११२०॥

'**सण्णागारवपेसुण्ण**' परिग्रहसंज्ञा '**तस्सन्निधेर्गौरवं**[1] च जायते सपरिग्रहस्य । पिशुनयति सूचयति परदोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म पैशुन्यं । परिग्रहवानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छु परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धन हारयति, कलहं वा करोति । धनार्थं पुरुषं वचो वदति, विवादं वा कुर्यात्, ईर्ष्यासूयाशल्यानि च जायन्ते । अयमेतस्मै प्रयच्छति न मह्य इति सङ्कल्प ईर्ष्या । परस्य धनवत्तासहनमसूया ॥११२०॥

कोधो माणो माया लोभो हास रइ अरदि भयसोगा ।
संगणिमित्तं जायइ दुगुंच्छ तह रादिभत्तं च ॥११२१॥

'**तहा कोधो माणो**' क्रोध परिग्रहहतस्तस्य परिणामो[2] दाने जायते । धन्योऽहमिति गर्वितो भवति । परो धन दृष्ट्वा गृह्णातीति तन्निगूहनकरणान्माया च भवति । काकणिलाभे कार्षापण वाञ्छति । तल्लब्ध्या कार्षापणसहस्रादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभ । निर्द्रविण लोको हसतीति हासस्यापि कारणं । द्रव्यमात्मीय पश्यत तत्रानुरागो रति । तद्विनाशे अरति । तदन्ये हरन्ति इति भय । शोको वा । जुगुप्सते

करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है और मैथुन करता है । ऐसा करनेपर अहिंसा आदि व्रत नही हो सकते । किन्तु परिग्रहका त्याग करनेपर अहिंसादिव्रत स्थिर रहते है ॥१११९॥

तथा अशुभ परिणामोके संवरके विना नवीन कर्मोका संचय कैसे रोका जा सकता है ? और नवीन कर्मोका सचय होनेसे वही अनन्तकालीन ससार है । ऐसा चित्तमे स्थिर करके ग्रन्थकार परिग्रहके ग्रहणसे होनेवाले अशुभ परिणामोको कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहीके परिग्रह सज्ञा और परिग्रहमे आसक्ति होती । वह दूसरेके दोषोको इधर-उधर कहता है । परिग्रही पुरुष दूसरेका धन लेनेके लिए दूसरोंके दोष प्रकट करके उसका धन हरता है । कलह करता है । धनके लिए कठोर वचन बोलता है, झगडा करता है । ईर्षा और असूया करता है । यह व्यक्ति अमुकको तो देता है मुझे नही देता, इस प्रकारके संकल्पको ईर्षा कहते हैं । दूसरेके धनी होनेको न सहना असूया है ॥११२०॥

गा०-टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन ग्रहण किये जाने पर क्रोध होता है । मैं धनाढ्य हूँ ऐसा गर्व होता है । दूसरा व्यक्ति मेरा धन देखकर उसे ले लेगा, इस भयसे उसे छिपाता है अतः माया होती है । एक कौड़ीका लाभ होने पर एक रुपया आदिका लाभ चाहता है । या धनका लाभ होनेसे लोभ होता है । धनी निर्धनको देखकर हँसता है अतः परिग्रह हास्यका भी कारण है । अपना द्रव्य देखकर उससे अनुराग होता है । अत परिग्रह रतिका कारण है । द्रव्यका नाश होने पर अरति होती है । उसे दूसरे हर लेगे यह भय होता है । धन हर लेने पर शोक होता है ।

१. संधिगौर-ज० । २ परिणामादाने ज० । परिणामोऽदाने मु० ।

वा विरूपं परिग्रहं । परिग्रहपरिपालनार्थं रात्रावपि भुङ्क्ते मदीयं भोजन परे दृष्ट्वार्थिनो भवन्ति इति मन्यमानः ॥११२१॥

गंथो भयं णराणं सहोदरा एयरत्थजा जं ते ।
अण्णोण्णं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिमकासी ॥११२२॥

'गंथो भयं णराणं' ग्रन्थो नराणा भयं । ननु भयसंज्ञस्य कर्मण- उदयादुपजात- परिणाम आत्मनो भय न वास्तुक्षेत्रादिको ग्रन्थः तथाभूतस्तत किमुच्यते ग्रन्थो भयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोष । **'सहोदरा'** एकोदरे प्रसवा अपि सन्तः **'एयरत्थजा'** एकरथ्यनगरे जाता । **'जं'** यस्मात् । **'ते अण्णोण्णं मारेदु'** अन्योन्य हन्तुं । **'अत्थणिमित्तं'** वसुनिमित्त **'मदिमकासी'** बुद्धि कृतवन्तः ॥११२२॥

अत्थणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेक्कमेक्केहिं ।
मज्जे मसे य विसं संजोइय मारिया जं ते ॥११२३॥

'अत्थणिमित्तं' धननिमित्त । **'अदिभय जाद'** अतीव भय जातं । **'चोराणं एक्कमेक्केहिं'** चौराणामन्योन्यैः सह । **'मज्जे मंसे य विसं संजोइय'** मद्ये मासे च विष संयोज्य । **'मारिदा जं ते'** यस्मात्ते मारिता ॥११२३॥

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ।
पुत्तेण चेव अत्थे हिदम्मि णिहिदेल्लए साहुं ॥११२४॥

'संगो महाभयं' परिग्रहो महद्भय । **'जं'** यस्मात् । **'विहेडिदो'** बाधित । **'सावगेण संतेण'** श्रावकेण सता । **'पुत्रेण चेव'** पुत्रेणैव । **'णिहिदल्लगे अत्थे हिदंहि'** निक्षिप्तेऽर्थे हृते साधुं ॥११२४॥

विरूप परिग्रह होने पर ग्लानि होती है। मेरा भोजन देखकर दूसरे माँगेगे इसलिए रातमे भी भोजन करता है। अथवा मालिकको सेवामे रहनेसे रातमे भोजन करता है। इस तरह परिग्रहके कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और रात्रि भोजन होते है ॥११२१॥

गा०-टी०—परिग्रह मनुष्यमे भय उत्पन्न करता है।

शङ्का—भय नामक कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ आत्माका परिणाम भय है। घर खेत आदि परिग्रह भय नही है तब आप परिग्रहको भय कैसे कहते हैं ?

समाधान—परिग्रह भयका कारण होनेसे भय कही जाती है। एक ही माताके उदरसे उत्पन्न हुए और एक ही नगरमें उत्पन्न हुए भी धनके लिए परस्परमे मारनेका भाव करते हैं ॥११२२॥

गा०—धनके कारण चोरोको परस्परमें एक दूसरेसे भय उत्पन्न हुआ। और उन्होंने मद्य और मांसमे विष मिलाकर एक दूसरेको मार डाला ॥११२३॥

गा०—परिग्रह महाभयरूप है क्योकि जमीनमे गाड़े गये धनको अपना पुत्र ही ले गया और सत्पुरुष श्रावकको भी यह सन्देह हुआ कि मेरे इस पृथ्वीमे गड़े धनको साधु जानता था। सो कहीं इसी साधुने मेरा धन हरा हो। ऐसा सन्देह करके उस श्रावकने साधुपर कथाओके द्वारा अपना सन्देह प्रकट किया ॥११२४॥

दूओ बंमणि वग्घो लोओ हत्थी य तह य रीयसुयं ।
परियणरो वि य राया सुवण्णयरयस्स[1] अक्खाणं ॥११२५॥

वण्णरणउलो विज्जो वसहो तावस तहेव च्चूदवणं ।
रुक्खसिवण्णीडुंडुह मेदज्ज मुणिस्स अक्खाणं ॥११२६॥

[2]सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ।
दुस्सेज्ज दुज्झत्तं सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥११२७॥

गायदि णच्चइ धावइ कसइ ववइ लवदि तह मलेइ णरो ।
तुण्णदि वुणइ याचइ कुलम्मि जादो वि गंथत्थी ॥११२८॥

'गायदि' गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, कणिशच्छेदं करोति, मर्द्दनं करोति, सीव्यति, वयति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥११२८॥

सेवइ णियादि रक्खइ गोमहिसिमजावियं हयं हत्थिं ।
ववहरदि कुणदि सिप्पं अहो य रत्ती य गयणिद्दो ॥११२९॥

गा०-टी०—ये कथाएँ इस प्रकार हैं। पहले श्रावक जिनदत्तने दूत और बन्दरकी कथा कही। फिर साधुने ब्राह्मणी और नेवलेकी कथा कही। फिर श्रावकने व्याघ्र और वैद्यकी कथा कही। तब साधुने बैल और लोगोंकी कही। फिर श्रावकने हाथी और तापसकी कथा कही। तब साधुने राजा और आम्रवनकी कथा कही। फिर श्रावकने पार्थक मनुष्य और शिवनिवृक्षकी कथा कही। तब साधुने राजा और सर्पकी कथा कही। तब श्रावकने एक चोर और सेठकी कथा कही। अन्तमे साधुने मणिपालक और मेतार्यमुनिकी कथा कही ॥११२५-११२६॥

विशेषार्थ—इन दोनो गाथाओमें उस श्रावक और साधुके मध्यमे हुई कथाओके पात्रोके नाम दिये है। ये दस कथाएँ बृहत्कथाकोशमे जिनदत्त कथानक १०२ के अवान्तरमे दी गई है। दसवीं कथाके अन्तमे धन चुरानेवाला पुत्र प्रबुद्ध होकर पिताको धन अर्पित करके उन साधुके समीप दीक्षा ग्रहण करता है। इन दोनों गाथाओंपर न तो अपराजित सूरिकी टीका है। न आशाधरकी और न अमितगतिके संस्कृत पद्य ही हैं ॥११२५-११२६॥

गा०—परिग्रहका इच्छुक मनुष्य गर्मी, सर्दी, घाम, वायु, वर्षा, प्यास, भूख, श्रम, मार्ग चलना आदिका दुस्सह कष्ट सहन करता है और अपनी शक्तिसे भी अधिक भार ढोता है ॥११२७॥

गा०—तथा श्रेष्ठकुलमें जन्म लेकर भी धनके लिए गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेती करता है, बीज बोता है, धान्य काटता है, मालिश करता है, कपड़े सीता है, कपड़े बुनता है, और भीख माँगता है ॥११२८॥

गा०—रात दिन न सोकर सेवा करता है, घर छोड़कर देशान्तर जाता है। गाय, भैंस,

१. णरयस्स–अ०। णयारस्स–आ० मु०। २. च्चवणं–अ० ज०। ३. एता टीकाकारो नेच्छति।

आउधवासस्स उरं देइ रणमुहम्मि गंथलोभादो ।
मगरादिभीमसावदबहुलं अदिगच्छदि समुद्दं ॥११३०॥

'**आउधवासस्स उरं देइ**' आयुधवर्षस्य उरो ददाति । '**रणमुहे**' रणमुखे । '**गंथलोहादो**' ग्रन्थलोभात् मकरादिभीमं श्वापदबहुलं प्रविशति समुद्रं ॥११३०॥

जदि सो तत्थ मरिज्जो गंथो भोगा य कस्स ते होज्ज ।
महिलाविहिंसणिज्जो लूसिददेहो व सो होज्ज ॥११३१॥

'**जदि सो तत्थ मरिज्जो**' यद्यसौ रणमुखे मृतिमियात् । ग्रन्था भोगाश्च ते तावत्कस्य भवेयुः । वनिताभिर्निन्द्यः विनष्टकरचरणाद्यवयवो भवेद्यदपि न मृतः ॥११३१॥

गंथणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अडवीओ ।
गंथणिमित्तं कम्मं कुणइ अकादव्वयंपि णरो ॥११३२॥

'**गंथणिमित्तमदीदिय**' ग्रन्थनिमित्तं प्रविशति गुहा तथा भीमाश्चाटवीः । ग्रन्थनिमित्तं कर्म अकर्तव्यमपि करोति नरः ॥११३२॥

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ।
माणी वि सहइ गंथणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥११३३॥

'**सूरो तिक्खो मुक्खो वि**' शूरस्तीक्ष्णो मूर्खश्च वशवर्ती भवति जनस्य सधनस्य । अभिमानवानपि सहते ग्रन्थनिमित्तं महान्तं अपि परिभवं ॥११३३॥

गंथणिमित्तं घोरं परितावं पाविदूण कंपिल्ले ।
लल्लक्कं संपत्तो णिरयं पिण्णागगंधो खु ॥११३४॥

'**अत्थणिमित्तं**' वसुनिमित्तं महत् दुःखं प्राप्य । '**कंपिल्ले**' कम्पिल्लनगरे । '**लल्लक्कं**' लल्लकनामधेयं संप्राप्तो नरकं पिण्याकगन्धसंज्ञः ॥११३४॥

बकरी, भेड़, हाथी, घोड़े पालता है। लेन-देन करता है। शिल्पकर्म करता है ॥११२९॥

गा०—परिग्रहके लोभसे युद्धभूमिमें अपनी छातीपर आयुधोंकी वर्षा सहता है। मगरमच्छ आदि भयंकर जन्तुओंसे भरे समुद्रमें प्रवेश करता है ॥११३०॥

गा०—यदि कदाचित् धनका लोभी रणमें मर जावे तो परिग्रह और भोग कौन करेगा। यदि न भी मरे और हाथ पैर कट जाये तो भी स्त्रियोंके द्वारा तिरस्कृत होगा ॥११३१॥

गा०—परिग्रहके निमित्त भयानक गुफामें प्रवेश करता है, भयानक जंगलमें जाता है। इस प्रकार मनुष्य परिग्रहके लिए नहीं करने योग्य काम भी करता है ॥११३२॥

गा०—परिग्रहके निमित्त शूरवीर, असहनशील और मूर्ख पुरुष भी धनी मनुष्यके वशमें होता है और अभिमानी भी बहुत अपमान सहता है ॥११३३॥

गा०—परिग्रहके निमित्तसे कंपिला नगरीमें पिण्याकगन्ध नामका लोभी पुरुष घोर दुःख सहकर मरकर लल्लक नामक नरक बिलमें उत्पन्न हुआ ॥११३४॥

एवं चेट्ठंतस्स वि संसइदो चेव गंथलाहो दु ।
ण य संचीयदि गंथो सुइरेणवि मंदभागस्स ॥११३५॥

'एवं चेट्ठंतस्स वि' एवं चेष्टमानस्यापि संशयित एव ग्रन्थलाभः। न च संचयमुपयाति ग्रन्थः। सुचिरेणापि मन्दभाग्यस्य ॥११३५॥

जदि वि कहंचि वि गंथा संचीएज्जण्ह तह वि से णत्थि ।
तित्ती गंथेहिं सदा लोभो लाभेण वड्ढदि खु ॥११३६॥

'जदि वि' यद्यपि कथंचित्केनचित् प्रकारेण ग्रन्थाः सचयमुपेयुः। तथापि तस्य तृप्तिर्नास्ति ग्रन्थैः। सदा लोभो लाभेन वर्द्धते ॥११३६॥

जध इंधणेहिं अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवस्स ण तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥११३७॥

'जध इंधणेहिं' इन्धनैर्यथाग्निः, यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः। तथा परिग्रहैर्न तृप्यति जीवस्त्रैलोक्ये लब्धेऽपि ॥११३७॥

पडहत्थस्स ण तित्ती आसी य महाधणस्स लुद्धस्स ।
संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहसंसारी ॥११३८॥

'पडहत्थस्स' पटहस्तनामधेयस्य वणिजः न तृप्तिरासीत्तथा महाधनस्य लुब्धस्य। परिग्रहमूर्च्छितमतिरसौ जातो दीर्घससारः ॥११३८॥

तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तस्स ।
किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥११३९॥

'तित्तीए असंतीए' तृप्तावसत्या। 'हाहाभूदस्स' लम्पटचित्तस्य किं तत्र सुखं भवेत्। आशया गृहीतस्य ॥११३९॥

गा०—इस प्रकार नाना चेष्टाएँ करनेपर भी परिग्रहकी प्राप्तिमे सन्देह ही रहता है। क्योकि अभागे पुरुषको चिरकाल प्रयत्न करनेपर भी धनकी प्राप्ति नही होती ॥११३५॥

गा०—यदि किसी प्रकार धन मिल भी जाये तो उससे सन्तोष नही होता; क्योकि धनलाभ होनेसे लोभ बढता है ॥११३६॥

गा०—जैसे ईंधनसे आगकी तृप्ति नही होती, और हजारों नदियोके मिलनेसे लवणसमुद्रकी तृप्ति नही होती। वैसे ही तीनों लोक मिल जानेपर भी जीवकी परिग्रहसे तृप्ति नही होती ॥११३७॥

गा०—पटहस्त नामक वणिक्के पास बहुत धन था। किन्तु वह बड़ा लोभी था। उसे सन्तोष नहीं था। अतः परिग्रहमें आसक्त रहते हुए उसका मरण हुआ और वह दीर्घससारी हुआ ॥११३८॥

गा०—परिग्रहसे तृप्ति नही होनेपर हाय-हाय करनेवाले परिग्रहके लम्पटीको, जो सदा तृष्णासे व्याकुल रहता है, परिग्रहसे क्या सुख हो सकता है ॥११३९॥

हम्मदि मारिज्जदि वा बज्झदि रुंभदि य अणवराधो वि ।
आमिसहेदुं पण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥११४०॥

'हम्मदि' आहन्यते । 'मारिज्जदि' मार्यते, बध्यते रुध्यते चानपराधोऽपि । आमिषनिमित्तं लम्पट खाद्यते यथा पक्षिभि: पक्षी गृहीताहार. ॥११४०॥

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ।
गंथणिमित्तं जग्गइ 'रक्खंतो सव्वरत्तीए ॥११४१॥

'मादुपिदुपुत्तदारेसु वि' विश्वसनोयेष्वपि मात्रादिषु विश्रंभ नोपयाति । जागर्ति सर्वरात्री: पालयन्[2] ॥११४१॥

सव्वं पि संकमाणो गामे णयरे घरे व रण्णे वा ।
आधारमग्गणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥११४२॥

'सव्वं पि संकमाणो' सर्वमपि शङ्कमान ग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवशः सदा भवति ॥११४२॥

गंथपडियाए लुद्धो धीराचरियं विचित्तमावसधं ।
णेच्छदि बहुजणमज्झे वसदि य सागारिगावसए ॥११४३॥

'गंथपडिगाए लुद्धो' ग्रन्थनिमित्त लुब्धो धीरैराचरित विविक्तमावसथं नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । गृहस्थाना वा वेश्मनि ॥११४३॥

सोदूण किंचि सद्दं सग्गंथो होइ उट्ठिदो सहसा ।
सव्वत्तो पिच्छंतो परिमस द पलादि मुज्झदि य ॥११४४॥

गा०—जैसे मासके लिए मासका लोभी पक्षी दूसरे मांस ले जाते पक्षीको मारता काटता है वैसे ही लोभी धनाढ्य मनुष्य विना अपराधके ही दूसरोके द्वारा घाता जाता है, मारा जाता है और पकडा जाता है ॥११४०॥

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य माता, पिता, पुत्र और पत्नीका भी विश्वास नही करता । और रातभर जागकर परिग्रहकी रखवाली करता है ॥११४१॥

गा०—वह सबको शकाकी दृष्टिसे देखता है कि ये मेरा धन हरनेवाले हैं। और गाँव, नगर, घर अथवा वनमे किसीका आश्रय खोजता फिरता है इस तरह वह सदा पराधीन रहता है ॥११४२॥

गा०—वह परिग्रहका लोभी धीर पुरुषोंके रहने योग्य एकान्त स्थानमे रहना पसन्द नहीं करता । वह बहुत जनसमुदायके मध्य गृहस्थोंके घरमें रहना पसन्द करता है ॥११४३॥

गा०—किंचित् भी शब्द सुनकर परिग्रही एकदम उठकर सब ओर देखता है, अपने धनको टटोलता है और लेकर भागता है अथवा मूर्छित हो जाता है ॥११४४॥

१ कक्खंतो–आ० मु० । २. प्रलयन्–आ० मु० ।

'सोत्तूण किंचि सद्दं' श्रुत्वा कञ्चन शब्दं परिग्रहवान्सहसोत्थितः सर्वा दिशः प्रेक्षमाणः परामृशति स्वं द्रव्यं, पलायते, मुह्यति वा ॥११४४॥

तेणभएणारोहइ तरुं गिरिं उप्पहेण व पलादि ।
पविसदि य दहं दुग्गं जीवाण वहं करेमाणो ॥११४५॥

'तेणभएण' स्तेनभयेन । 'आरोहदि' आरोहति तरुं गिरिं वा । उन्मार्गे वा धावति । प्रविशति वा ह्रदं दुर्गं वा स्थानं जीवाना घातनं कुर्वन् ॥११४५॥

तह वि य चोरा चारभडा वा गच्छं हरेज्ज अवसस्स ।
गेण्हिज्ज [2]दाइया वा रायाणो वा विलुंपिज्ज ॥११४६॥

तथापि पलायनधावनादिकं कुर्वतो द्रव्यं हरन्ति चोरा वा चारभटा वा । परवशस्य दायादा वा गृह्णन्ति राजानो वा विलुम्पन्ति ॥११४६॥

संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा ।
पहणेज्ज व मारेज्ज व मरिजेज्ज व तह य [3]हम्मेज्ज ॥११४७॥

'संगणिमित्त कुद्धो' रुष्टः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हन्ति, ताडयति । परं स्वयं प्राणान्वियोजयति वा परेण वा ताड्यते मार्यते वा परैः ॥११४७॥

अहवा होइ विणासो गंथस्स जलग्गिमूसयादीहिं ।
णट्ठे गंथे य पुणो तिव्वं पुरिसो लहदि दुक्खं ॥११४८॥

'अथवा होज्ज विणासो' अथवा ग्रन्थस्य विनाशो भवेत् अग्निजलमूषकादिभिः । नष्टे पुनर्ग्रन्थे तीव्रं दुःखं लभते मनुष्यः ॥११४८॥

सोयइ विलवइ कंदइ णट्ठे गंथम्मि होइ विसण्णो ।
पज्झादि णिवाइज्जइ वेवइ उक्कंठिओ होइ ॥११४९॥

गा०—चोरके भयसे वृक्ष अथवा पहाड़पर चढ़ जाता है । अथवा मार्गसे न जाकर कुमार्गसे जाता है और जीवोंका घात करते हुए तालाब या किलेमें छिप जाता है ॥११४५॥

गा०—इस प्रकार दौड़-धूप करनेपर भी चोर अथवा बलवान् मनुष्य उसे परवश करके उसके द्रव्यको हर लेते है । अथवा भाई वगैरह ले लेते हैं या राजा लूट लेता है ॥११४६॥

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य क्रोध करता है, कलह करता है, विवाद करता है, वैर करता है, मारपीट करता है, दूसरोंके द्वारा मारा जाता है, पीटा जाता है, या स्वयं मर जाता है ॥११४७॥

गा०—अथवा आगसे, जलसे और मूषकों आदिसे परिग्रहका विनाश हो जाता है तब विनाश होनेपर मनुष्यको तीव्र दुःख होता है ॥११४८॥

---

१. हृदं–मु० । २ यासिया वा–अ० । वासिया–वा० आ० । ३ कामेज्जा–अ० आ० ।

'सोयदि विलवदि' शोचति, विलपति, क्रन्दति नष्टे परिग्रहे विषण्णश्च भवति। चिन्तां करोति। पिबत्यन्तस्सन्तापाज्जलादिकं, वेपते उत्कण्ठितो भवति ॥११४९॥

डज्झदि अंतो पुरिसो अप्पिये णट्ठे सयम्मि गंथम्मि।
वायावि य अक्खिप्पइ बुद्धी विय होइ से मूढा ॥११५०॥

'डज्झदि' दह्यते अन्तः पुरुष आत्मीये नष्टे परिग्रहे। वागपि नश्यति बुद्धिरपि मन्दा भवति ॥११५०॥

उम्मत्तो होइ णरो णट्ठे गंथे गहोवसिट्ठो वा।
घट्टदि मरुप्पवादादिएहिं बहुधा णरो मरिदुं ॥११५१॥

'उम्मत्तो होइ णरो' उन्मत्तो भवति नरः। नष्टे परिग्रहे ग्रहगृहीत इव चेष्टते मरुत्प्रतापादि-भिर्मर्तुं ॥११५१॥

चेलादीया संगा संसज्जंति विविहेहिं जंतूहिं।
आगंतुगा वि जंतू हवंति गंथेसु सण्णिहिदा ॥११५२॥

'चेलादिगा' सगाश्चेलप्रावरणादयः परिग्रहा। 'संसज्जंति' सम्मूर्च्छनामुपयान्ति। 'विविहेहिं जंतूहिं' नानाप्रकारैर्जन्तुभिः। 'आगंतुगा वि जंतू' आगन्तुकाश्च जन्तवः। 'गंथेसु सण्णिहिदा भवंति' ग्रन्थेषु सन्निहिता भवन्ति यूकापिपीलिकामत्कुणादयः। धान्येषु कीटादयः गुडपूपादिषु रसजाः तेषामादाने ॥११५२॥

आदाणे णिक्खेवे [1]सरेमणे चावि तेसिं गंथाणं।
उकस्सणे वेकसणे [2]फालणपप्फोडणे चेव ॥११५३॥

आदाने, निक्षेपे, संस्करणे, बहिर्नयने, बन्धने, मोचने, तेषां ग्रन्थानां पाटने विधूनने च ॥११५३॥

छेदणबंधणवेढणआदावणधोव्वणादिकिरियासु।
संघट्टणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥११५४॥

गा०—वह शोक करता है, विलाप करता है, चिल्लाता है, खेद-खिन्न होता है। चिन्ता करता है। अन्तरंगमें सन्ताप होनेसे जलादि पीता है, काँपता है, उत्कंठित होता है ॥११४९॥

गा० अपने परिग्रहके नष्ट होनेपर पुरुष अन्दर ही अन्दर जला करता है। उसकी वाणी नष्ट हो जाती है तथा बुद्धि भी मूढ़ हो जाती है ॥११५०॥

गा०—परिग्रहके नष्ट होनेपर मनुष्य पिशाचसे पकड़े हुए मनुष्यकी तरह उन्मत्त हो जाता है। और प्रायः पर्वत आदिसे गिरकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥११५१॥

गा०—वस्त्रादि परिग्रहमें नाना प्रकार सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बाहरसे आकर भी जू, चींटी, खटमल वगैरह बस जाते हैं। धान्यमें कीड़े लग जाते हैं। गुड़ आदि सचय करनेपर उसमें भी जीव पैदा हो जाते हैं ॥११५२॥

गा०—परिग्रहके ग्रहण करने, रखने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने,

१. पसारणे—अ० आ०। २. फंसण—अ० आ०।

छेदण छेदने, बन्धने, वेष्ठने, शोषणे प्रक्षालने च। सम्मर्दने परितापनहननादिकं भवति जीवानां ॥११५४॥

जदि वि विकिंचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा ।
होदि य विकिंचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णियदं ॥११५५॥

'जदि वि विकिंचदि' यद्यपि निराक्रियन्ते जीवास्त एव सघट्टादयो दोषा भवन्ति। भवति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिवियोजना निश्चयेन ॥११५५॥

एवमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे सयं च दुक्खंति ।
पावं च तण्णिमित्तं परिगिण्हंतस्स से होई ॥११५६॥

'सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे' परिग्रहा दासीदासगोमहिष्यादयो घ्नन्ति जीवान्स्वयं च दुःखिता भवन्ति। कर्मणि नियुज्यमाना कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीवकृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति ॥११५६॥

इंदियमयं सरीरं गंथं गेण्हदि य देहसुक्खत्थं ।
इंदियसुहाभिलासो गंथग्गहणेण तो सिद्धो ॥११५७॥

'इंदियमयं सरीरं' इन्द्रियमयं शरीरं। स्पर्शनादिपञ्चेन्द्रियाधारत्वात्। परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकं इन्द्रियसुखार्थमेव गृह्णाति वातातपाद्यनभिमतस्पर्शनिषेधाय। आत्मशरीरे वस्त्रालङ्कारादिभिरलंकृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदङ्गासङ्गजनितप्रीत्यर्थितया अभिमत[2]मापादयति। सेवनाद्यर्थं च तत् इन्द्रियसुखाभिलाषो ग्रन्थं गृह्णत सिध्यति ॥११५७॥

फाड़ने, झाड़ने, छेदने, बाँधने, ढाँकने, सुखाने, धोने, मलने आदिमें जीवोंका घात आदि होता है ॥११५३-५४॥

गा०—यदि वस्त्रादि परिग्रहसे जन्तुओको अलग किया जाये तब भी वे ही दोष लगते हैं। क्योंकि उन जन्तुओको दूर करनेपर उनका योनिस्थान छूट जाता है और इससे उनका मरण हो जाता है ॥११५५॥

इस प्रकार अचित्त परिग्रहके दोष कहकर सचित्त परिग्रहके दोष कहते हैं—

गा०—दासी-दास, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह जीवोंका घात करते हैं और स्वयं दुखी होते हैं। तथा उन्हे खेती आदि कामोमें लगानेपर वे जो पापाचरण करते हैं उसका भागी उनका स्वामी भी होता है ॥११५६॥

इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा कर्मबन्धमें निमित्त होती है अतः मुमुक्षुको उसे छोड़ना चाहिए। परिग्रह स्वीकार करनेपर इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा अवश्य होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शरीर इन्द्रियमय है क्योंकि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंका आधार है। वस्त्र ओढ़ना आदि परिग्रह मनुष्य इन्द्रियजन्य सुखके लिए ही ग्रहण करता है। ऐसा वह हवा धूप आदिके अनिष्ट स्पर्शसे बचनेके लिए करता है। तथा वस्त्र अलंकार आदिसे अपने शरीरको

---

१ विविचदि-अ० आ० मु०। २. मतं व्याघातारः सेवना-अ० ज०।

स्वाध्यायध्यानाख्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभयं चान्तरेण न संवरनिर्जरे। तयोरभावे कुतो निरवशेषकर्मापायो भवतीति कथयति—

गंथस्स गहणरक्खणसारवणाणि णियदं करेमाणो।
विक्खित्तमणो ज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ ॥११५८॥

'गंथस्स गहणरक्खण' परिग्रहादानं, तद्रक्षण, तत्संस्कार च नित्यं कुर्वन् व्याक्षिप्तचित्त कथं शुभध्यानं कुर्यात् विमुक्तस्वाध्याय। एतदुक्तं भवति—व्याक्षिप्तचित्तस्य न स्वाध्यायः असति तस्मिन्वस्तुयाथात्म्याविदुषः ध्येयैकनिष्ठ ध्यानं कथमिव वर्तते ॥११५८॥

परभवव्याप्य दोष परिग्रहमुखायातमुपदर्शयति—

गंथेसु घडिदहिदओ होइ दरिद्दो भवेसु बहुगेसु।
होदि कुणंतो णिच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥११५९॥

'गंथेसु घडिदहिदओ' ग्रन्थासक्तचित्त. बहुषु भवेषु दरिद्रो भवति। आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी भविष्यति। शिविकोद्वहनं, उपानद्वेचन, पुरीषमूत्राद्यपनयन इत्यादिक नीचं कर्म ॥११५९॥

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि धणहेदुं।
लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥११६०॥

'विविहाओ जायणाओ पावदि' विविधा यातनाः प्राप्स्यति। परभवगतोऽपि धननिमित्त लुब्ध आशया

भूषित करके मनुष्य दूसरेमें अभिलाषा उत्पन्न करता है और इस तरह उसके शरीरके संसर्गसे उत्पन्न अनुरागका इच्छुक होकर उसका सेवन करता है अतः परिग्रहको स्वीकार करनेवालेके इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा सिद्ध होती है ॥११५७॥

परिग्रह स्वाध्याय और ध्यान नामक तपमें विघ्न पैदा करता है तथा स्वाध्याय और ध्यानके बिना संवर और निर्जरा नहीं होती। और संवर निर्जराके अभावमे समस्त कर्मोका विनाश कैसे हो सकता है? यह कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहको ग्रहण, रक्षण और उसके सार सम्हालमे सदा लगा रहनेवाले पुरुषका मन उसीमें व्याकुल रहता है। तब वह स्वाध्याय छूट जानेसे शुभध्यान कैसे कर सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसका चित व्याकुल रहता है वह स्वाध्याय नहीं कर सकता। और स्वाध्यायके अभावमे वस्तुके यथार्थस्वरूपको न जानते हुए ध्येयमें एकनिष्ठ ध्यान कैसे हो सकता है ॥११५८॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष भव-भवमें दुःख देता है यह कहते हैं—

गा०—जिसका चित्त परिग्रहमें आसक्त होता है वह भव-भवमें दरिद्र होता है। केवल पेट भरनेके लिए उसे पालकी उठाना, जूते बेचना, टट्टी पेशाब साफ करने आदिका नीच काम करना पड़ता है ॥११५९॥

गा०—परिग्रहमे आसक्त पुरुष पर भवमें भी धनके लिए अनेक कष्ट उठाता है। लोभके

प्रकृष्टया गृहीतो हा मम क्लेशशतं कुर्वतोऽपि मम धन न भवति, जातं वा नष्टमिति कृतहाहाकार क्लिश्यति ॥११६०॥

एदेसिं दोसाणं मुंचइ गंथजहणेण सव्वेसिं ।
तव्विवरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥११६१॥

'**एदेसि दोसाण मुचइ**' पूर्वोक्तान्परिग्रहग्रहणगतान्दोषानशेषास्त्यजेदिति दोषप्रतिपक्षभूतान्गुणानपि लभते ॥११६१॥

गंथच्चाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥११६२॥

'**गंथच्चाओ**' ग्रन्थत्याग । '**इंदियनिवारणे**' इत्ययमिन्द्रियशब्द उपयोगेन्द्रियविषय सप्तमी च निमित्तलक्षणा । तेनायमर्थ –इन्द्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोऽकुश इव हस्तिनो निवारणे उत्पथयानात् । '**नगरस्स खाविगा वि य**' नगरस्य खातिका इव । '**असंगत्त**' निष्परिग्रहता । '**इंवियगुत्तो**' इन्द्रियगुप्तिरिन्द्रियरक्षा रागोत्पत्तिनिमित्तेन्द्रियज्ञानरक्षा ॥११६२॥

सप्पबहुलम्मि रण्णे अमंतविज्जोसहो जहा पुरिसो ।
होइ दढमप्पमत्तो तह णिग्गंथो वि विसएसु ॥११६३॥

'**सप्पबहुलम्मि**' सर्पबहुले । '**रण्णे**' अरण्ये । '**अमंतविज्जोसहो**' मन्त्रेण, विद्यया औषधेन च रहित पुमान् । '**दढमप्पमत्तो होदि**' नितरा अप्रमत्तो भवति । तथा निर्ग्रन्थोऽपि[1] क्षायिकश्रद्धानकेवलज्ञानयथाख्यात-

---

वशीभूत हो तृष्णामे पडकर हाहाकार करता है कि इतना कष्ट उठानेपर भी मुझे धनकी प्राप्ति नही होती या प्राप्त हुआ धन भी नष्ट हो गया । और इस प्रकार दुःखी होता है ॥११६०॥

गा०—परिग्रहका त्याग करनेमे ये सब दोष नही होते । तथा इनके विपरीत गुणोकी प्राप्ति होती है ॥११६१॥

गा०-टी०—'इदियणिवारणे' मे आये इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगरूप इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियजन्यज्ञान है । तथा सप्तमी विभक्तिका अर्थ निमित्त है । अत उसका अर्थ होता है—

परिग्रहका त्याग इन्द्रियज्ञानको रोकनेमे निमित्त है जैसे अंकुश हाथीको रोकनेमे निमित्त है । अर्थात् जैसे अकुश हाथीको उन्मार्गपर जानेसे रोकता है वैसे ही परिग्रहका त्याग इन्द्रियोको विषयोमे जानेसे रोकता है । इन्द्रियाँ ही रागद्वेषकी मूल है । अथवा जैसे खाई नगरकी रक्षा करती है वसे ही परिग्रहका त्याग रागकी उत्पत्तिमे निमित्त इन्द्रियोसे रक्षा करता है ॥११६२॥

गा०-टी०—जैसे मंत्र, विद्या और औषधीसे रहित पुरुष सर्पोसे भरे जगलमे अत्यन्त सावधान रहता है । वैसे ही निर्ग्रन्थ साधु भी जो क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान और यथाख्यात

---

१. तथा निर्ग्रन्थोऽपि विषयेष्वप्रमत्तो भवति इन्द्रियजयो अप्रमत्ततायां उपाय अपरिग्रहतापीत्यनेन गाथाद्वयेनाख्यातं –ज० ।

चारित्रमन्त्रविद्यौषधिरहितो विषयारण्ये रागादिसर्पबहुले सावधानोऽपि भवेत् ॥११६३॥

रागो हवे मणुण्णे गंथे दोसो य होइ अमणुण्णे ।
गंथच्चाएण पुणो रागद्दोसा हवे चत्ता ॥११६४॥

रागद्वेषयो कर्मणा मूलयोर्निमित्त परिग्रह , परिग्रहत्यागे रागद्वेषौ एव त्यक्तौ भवत । बाह्यद्रव्य मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीज, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दण्डाद्यनन्तकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते ॥११६४॥

कर्मणा निर्जरणे उपाय परीषहसहन । तथा चोक्त 'पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा' [त०सू० ९।८] ते च परीषहा षोढा भवन्ति ग्रन्थचेलप्रावरणादिक त्यजतेति व्याचष्टे—

सीदुण्हदंसमसयादियाण दिण्णो परीसहाण उरो ।
सीदादिणिवारणए गंथे णिययं जहतेण ॥११६५॥

'**सीदुण्हदसमसयादियाण**' । ननु च दु खोपनिपाते सक्लेशरहितता परीषहजय , न तु शीतोष्णादयो । नहि ते आत्मपरिणामा । अनात्मपरिणामाश्च बन्धसवरनिर्जरादीनामुपायो न भवन्ति । योऽनात्मपरिणामो

चारित्ररूप मंत्र विद्या और औषधिसे रहित है अर्थात् जिसे इन सबकी प्राप्ति अभी नहीं हुई है वह रागद्वेषरूप सर्पोंसे भरे विषयरूप वनमे सावधान रहता है ॥११६३॥

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि मनमे बाह्य द्रव्यके प्रति अनुराग रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले मोहनीयकर्मका सहकारी कारण है अतः उसका त्याग करनेपर रागद्वेषरूप प्रवृत्ति नही होती। उसके अभावमे नवीन कर्मबन्ध नही होता। अत परिग्रहका त्याग ही मोक्षका उपाय है ॥११६३॥

गा०—मनोज्ञ विषयमे राग होता है और अमनोज्ञ विषयमे द्वेष होता है। अत परिग्रहका त्याग करनेसे राग-द्वेषका त्याग हो जाता है ॥११६४॥

टी०—कर्मबन्धके मूल रागद्वेष है और रागद्वेषका निमित्त परिग्रह है। परिग्रहको त्यागने पर रागद्वेषका त्याग हो जाता है। बाह्य द्रव्यको मनमे स्वीकार करना ही रागद्वेषका बीज है। उस सहकारी कारणके अभावमे केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष नही होते। जैसे मिट्टीके होने पर भी दण्ड आदि सहायक कारणोंके अभावमे घटकी उत्पत्ति नही होती ॥११६४॥

परीषहोंका सहना कर्मोंकी निर्जराका उपाय है। कहा भी है—पूर्वमे बाँधे गये कर्मोंकी निर्जराके लिए परीषह सहना चाहिए। वस्त्रादि परिग्रहका त्याग करनेसे उन परीषहोंका सहना होता है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शीत आदिका निवारण करने वाले वस्त्र आदि परिग्रहोंको जो नियमसे त्याग देता है वह शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषहोंको सहनेके लिए अपनी छाती आगे कर देता है।

शंका—दुख आने पर संक्लेश न करना परीषह जय है। शीत उष्ण आदि परीषह जय नहीं हैं, क्योंकि वे आत्माके परिणाम नही है। और जो आत्माके परिणाम नहीं है वे बन्ध, संवर,

१ विसए आ० मु०।

नासौ निर्जराहेतु यथा पुद्गलद्रव्यगतरूपादय । अनात्मपरिणामाश्च शीतादय क्षुत्पिपासादयो दु.खहेतव ,' न तु दु.ख, तत् किमुच्यते क्षुत्पिपासादय परीषहा इति । नैव दोष । क्षुदादिजन्यदु खविषयत्वात् क्षुदादिशब्दानां । तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्ण-दशमशकनाग्न्यादीना परीषहवाचोयुक्ति र्न विरुध्यते । '**सीदुण्हदंसमसयादियाण**' शीतोष्णदसमशकादीनां । '**परिस्सहाणं उरो दिण्णो**' परीषहाणा उरो दत्त । येन ? '**सीदादिणिवारणगे**' शीतादीनां निषेधकान् । '**गंथे णियद जहंतेण**' ग्रन्थान्नियतं त्यजता ॥११६५॥

देहे आदर सर्वस्य हिंसादेरसयमस्य मूल परित्यक्तो भवति परिग्रह त्यजतेत्याचष्टे—

जम्हा णिग्गंथो सो वादादवसीददंसमसयाणं ।
सहदि य विविधा बाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥११६६॥

'**जम्हा**' यस्मात । '**णिग्गंथो सो**' निष्परिग्रहोऽसो '**वादादवसीददंसमसयाण**' विविधा बाधा वातातपशीतदंशमशकाना विविध दु ख '**सहदि**' सहते । '**तेण**' सहनेन । '**सदेहे**' स्वदेहे '**अणादरदा**' आदराभाव । शरीरे अकृतादरश्च जहात्यशेष हिंसादिक, तपसि च स्वशक्त्यनिगूहनेन प्रयतते ॥११६६॥

संगपरिमग्गणादी णिस्संगे णत्थि सव्वविक्खेवा ।
ज्झाणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्घेण वच्चंति ॥११६७॥

'**संगपरिमग्गणादी**' परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वाभिलषितस्य अस्तित्वगवेषणे क्लेशमस्तीति । तथा तत्स्वामिना कोऽस्य [1]स्वामित्व वा क्वासौ अवतिष्ठते इति पुनर्याञ्चा ? लाभे सन्तोष., अलाभे दीनमनस्कता,

---

निर्जरा आदिके उपाय नही होते । जो आत्माका परिणाम नही है वह निर्जराका कारण नही है । जैसे पुद्गल द्रव्यके रूपादि । शीत आदि आत्माके परिणाम नही है । तथा भूख प्यास आदि दु ख-के कारण है किन्तु स्वय दु खरूप नही है । तब आप कैसे कहते है कि भूख प्यास आदि परीषह हैं ?

समाधान—उक्त दोष ठीक नही है क्योकि भूख आदि शब्दोका अर्थ भूख आदिसे होने वाला दु.ख है । अत. भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डास-मच्छर, नाग्न्य आदिको परीषह कहनेमे कोई विरोध नही है । अत. जो इन परीषहोको दूर करनेके उपायोको त्याग देता है वह शीत आदिका कष्ट होने पर भी अपने मनमे कोई सक्लेश नही करता ॥११६५॥

समस्त हिंसा आदि असयमका मूल शरीरमे आदरभाव है । परिग्रहको त्यागने पर वह भी त्याग दिया जाता है, यह कहते हैं—

गा०—यत परिग्रहका त्यागी निर्ग्रन्थ वायु, धूप, शीत, डासमच्छर आदिके अनेक कष्टोको सहता है । उस सहनसे उसका शरीरमे अनादरभाव प्रकट होता है । और शरीरका आदर न करने वाला समस्त हिंसा आदिको छोड़ देता है और अपनी शक्तिको न छिपाकर तपका प्रयत्न करता है ॥११६६॥

गा०-टी०—अपनेको इष्ट परिग्रहको खोजनेमे कष्ट होता है । तथा वह मिल भी जाये तो उसके स्वामीको खोजनमें कष्ट होता है कि वह कहाँ रहता है । स्वामी मिल जाये तो उससे

---

१ स्वामित्व च न क्वा–अ० ।

तदानयनं तत्संस्करणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिशब्देन गृहीतं । '**णिःसगे**' सङ्गरहिते '**णत्थि सव्वविक्खेवा**' न सन्ति सर्वे व्याक्षेपाः । '**झाणज्झेणाणि**' ध्यानं अध्ययनं च । '**तवो**' व्याक्षेपाभावात् चेतसि । '**तस्स**' अपरिग्रहस्य । '**अविग्घेण वच्चंति**' विघ्नमन्तरेण वर्तते । सर्वेषु तपस्सु प्रधानयोर्ध्यानस्वाध्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गाथया ॥११६७॥

गथच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि १दाविदा होइ ।
ण हु संगघडिदबुद्धी संगे जहिदु कुणदि बुद्धी ॥११६८॥

'**संगच्चाएण पुणो**' सङ्गत्यागेन पुनः । '**भावविसुद्धी वि दाविदा होदि**' परिणामस्य २विशुद्धिर्दर्शिता भवति । '**ण हु संगघडिदबुद्धी**' नैव परिग्रहघटितबुद्धिः । '**संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी**' परिग्रहास्त्यक्तु करोति बुद्धि ॥११६८॥

या च प्रक्रान्ता सल्लेखना कषायविषया सा च परिग्रहत्यागमूलेति कथयति—

णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू ।
संगा हु उदीरेंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि ॥११६९॥

'**णिस्संगो चेव**' निष्परिग्रहश्चैव सदा कषायपरिणामास्तनून्[3] करोति न सपरिग्रहः । कथ इति तदाचष्टे—'**संगा खु उदीरेंति**' परिग्रहा उदीरयन्ति । '**कसाए**' कषायान् । '**अग्गीव**' अग्निरिव '**कट्ठाणि**' काष्ठानि ॥११६९॥

सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं हवदि तस्स ।
गुरुगो हि संगसत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ ॥११७०॥

याचना करनी होती है। याचना करने पर मिल जाये तो सन्तोष होता है न मिले तो मनमे दीनताका भाव रहता है। मिलने पर उसको लाना, उसका संस्कार करना, उसकी रक्षा करना 'आदि' शब्दसे लिया है। इस तरह परिग्रहके निमित्त ये सब करना पडता है। किन्तु परिग्रहका त्याग करके निर्ग्रन्थ बन जाने पर ये सब परेशानियाँ नही होती। सब चिन्तम किसी प्रकारकी आकुलता न होनेसे उस निर्ग्रन्थ साधुका ध्यान और स्वाध्याय बिना विघ्नके चलते है। अत इस गाथाके द्वारा कहा है कि सब तपोमे ध्यान और स्वाध्याय प्रधान है और परिग्रहका त्याग उनका उपाय है ॥११६७॥

गा०—परिग्रहके त्यागसे परिणामोकी निर्मलता भी प्रकट होती है, क्योकि जिसकी मति परिग्रहमे आसक्त होती है वह परिग्रहको छोडनेका विचार नही रखता ॥११६८॥

आगे कहते है कि यहाँ जिस कषाय विषयक सल्लेखनाका प्रकरण चला है उसका मूल परिग्रहत्याग ही है—

गा०—जो परिग्रहसे रहित है वही सदा कषाय रूप परिणामोको कृश करता है परिग्रही नही। क्योकि जैसे लकडी डालनेसे आग भडकती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय भडकती है ॥११६९॥

---

१ दीविदा–मु० । २ द्धिर्दीपिता दर्शिता–मु० । ३ तनूकरोति–आ० मु० ।

'**सव्वत्थ होइ**' सर्वत्र भवति गमने आगमने च '**लघुगो**' लघु.। '**रूवं वेसासिगं**' रूप विश्वासकारि च भवति। '**तस्स**' निर्ग्रन्थस्य। वस्त्रप्रावरणादिकप्रच्छादितशस्त्रोऽस्माकमुपद्रव करोति धन वा स्वेन चीवरादिना प्रच्छाद्य नयतीति शङ्का कुर्वन्ति परिग्रह दृष्ट्वा ॥११७०॥

सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ।
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वत्थ ॥११७१॥

'**सव्वत्थ अप्पवसिगो**' सर्वत्र ग्रामे, नगरे, अरण्ये च आत्मवशक। '**णिस्संगो**' निष्परिग्रहः। '**सव्वत्थ य णिब्भओ**' सर्वत्र निर्भयश्च। '**होदि य णिप्परिकम्मो**' भवति च निर्व्यापार कृष्यादिक्रियाप्रारम्भरहित। '**णिप्पडिकम्मा य**' इद पूर्वकृत इद परत्रावशिष्ट कार्यमित्येतच्चास्य न विद्यते ॥११७१॥

सुखार्थिनो महत्सुख भवति सगपारत्यागेनेति वदति—

भारक्कंतो पुरिसो भार ऊरुहिय णिव्वुदो होइ।
जह तह पयहिय गंथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ ॥११७२॥

'**भारक्कंतो पुरिसो**' भाराक्रान्त पुरुष। '**भारं ऊरुहिय**' भारमवतार्य। '**णिव्वुदो होदि**' सुखी भवति। यथा तथा '**णिस्संगो णिव्वुदो होदि**' निष्परिग्रह सुखी भवति। '**गंथे पयहिय**' ग्रन्थान्परित्यज्य। बाधाभाव-लक्षण हि सुख सर्वमेव। तथाहि—अशनादिना क्षुधादावपगते जात स्वास्थ्यमेव सुखमिति [1]लोके मन्यते ॥११७२॥

यस्मादेव परिग्रहणेऽतिबहवो जन्मद्वयभाविनो दोषाश्च—

तम्हा सव्वं संगे अणागए वट्टमाणए तीदे।
तं सव्वत्थ णिवारहि करणकारावणाणुमोदेहिं ॥११७३॥

गा०—अपरिग्रही सर्वत्र जाने आनेमे हल्का रहता है। उसका रूप नग्न दिगम्बर विश्वास-कारी होता है। और परिग्रही परिग्रहके भारसे भारी होता है। और उसके परिग्रहको देखकर लोग शङ्का करते है कि यह अपने वस्त्रोंमे शस्त्र छिपाये हुए है कोई उपद्रव न करे। अथवा यह अपने चीवर आदिमें छिपाकर धन तो नही ले जाता? ॥११७०॥

गा०—जो अपरिग्रही होता है वह सर्वत्र गाँव, नगर और वनमे स्वाधीन रहता है। उसे किसीका आश्रय लेना नही होता। और वह सर्वत्र निर्भय रहता है। उसे कृषि आदि काम करना नही होता। तथा इतना काम पहले कर लिया, इतना करना शेष है, इत्यादि चिन्ता उसे नही रहती ॥११७१॥

आगे कहते है कि सुखके अभिलाषीको परिग्रहके त्यागसे महान् सुख होता है—

गा०—जैसे भारसे लदा हुआ मनुष्य भारको उतारकर सुखी होता है वैसे ही परिग्रहको त्यागकर परिग्रहरहित साधु सुखी होता है। सर्वत्र सुखका लक्षण बाधाका अभाव है। लोकमे भी भोजनके द्वारा भूख प्यास चले जाने पर उत्पन्न हुई स्वस्थताको ही सुख माना जाता है ॥११७२॥

1. लोको—आ० मु०।

'तम्हा' तस्मात् । **'सव्वे संगे'** सर्वान्परिग्रहान् । **'अणागदे'** अनागतान् । **'वट्टमाणगे तीदे'** वर्तमानानतीतांश्च **'त'** भवान् । **'सव्वत्थ णिवारेहि'** सर्वथा निवारय । **करणकारावणाणुण्णाहि'** कृतकारिताभ्यामनुमोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारण येन निवार्यते ? अयमभिप्राय अतीतम्वस्वामिसम्बन्धेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरण अनुरागं वा । एव भविष्यति इत्थभूत मम द्रविण इति ।।११७३।।

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ।।११७४।।

'जावंति केइ सगा' यावन्त केचन परिग्रहा । **'विराधगा'** विनाशका । कस्य ? रत्नत्रयस्य । **'तिविधकालसंभूदा'** कालत्रयप्रवृत्ता । **'तेहिं तिविधेण विरदो'** तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरत सन् **'विमुत्तसगो'** विमुक्तसङ्ग । **'जह सरीरं'** त्यज शरीर ।।११७४।।

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ।
आसं तण्ह संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ।।११७५।।

'एवं कदकरणिज्जो' एव कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना वाञ्छता आहारशरीरत्यागादिक स एवभूतः । **'तिकाले वि'** कालत्रयेऽपि । **'तिविधेण'** त्रिविधेन । **'सव्वत्थ'** सर्वविषया सुखसाधनगोचरा । **'आसं'** आशा । **'तण्हं'** तृष्णा । **'संगं'** परिग्रहभूता । **'छिंद ममत्तिं'** ममेदमिति सकल्प छिंद्धि । **'मुच्छं'** मोहमिति यावत् ।।११७५।।

गा०–टी०—यत परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमे बहुतसे दोष होते हैं अत. हे क्षपक तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे है जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमे 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोसे बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण वा अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमे अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेमे भी कर्मका बन्ध होता है ।।११७३।।

गा०—अत हे क्षपक ! तीनो कालोका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोडकर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ।।११७४।।

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोके परिग्रहोमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, सग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ।।११७५।।

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हो यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नही हो इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य हैं मै इनका भोक्ता हू ऐसा सकल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्छा है ।।११७५।।

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यं निर्दिशत्युत्तरगाथा—

सव्वगंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ॥११७६॥

'सव्वगंथविमुक्को' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थः । **'सीदीभूदो'** शीतीभूतः । **'पसण्णचित्तो य'** प्रसन्नचित्तः सन् । **'जं पावदि पीदिसुहं'** यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । **'न चक्कवट्टी वि तं लभदि'** चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ॥११७६॥

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पताया कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ॥११७७॥

रागविवागसतण्हाइगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं । रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकरूपं विषय-सुखमासेव्यमानं रञ्जयति विषयेष्विति रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, अतिशयेन गृद्धिं काङ्क्षां जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्निन्त्यतृप्ति । यदेवभूतं चक्रवतिसुखं **'णिस्संगणिव्वुदिसुहस्स'** निःसंगस्य यन्निर्वृतिसुखं [1]तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥११७७॥

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीनां अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहव्वयं ।

साधेंति ज महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥११७८॥

'साधेंति जं महत्थं' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्ययकर्मकदम्बकनिवारणं महत्प्रयो-

---

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्न-चित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नही होता ॥११७६॥

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते है—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमे अनुरक्त करता है। तथा वह तृष्णाको बढाता है। अत्यन्त गृद्धिको–लम्पटताको उत्पन्न करता है। उसमे तृप्ति नही है। अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवे भाग भी नहीं है ॥११७७॥

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते है—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

---

1. स्यासख्यभा–अ० ।

जनं सम्पादयन्तीति महाव्रतानि । **'आयरिवाइ' च जं महल्लेहिं'** यस्मादाचरितानि महद्भि तस्मान्महाव्रतानि इति निरुक्ति. । **'जं च'** यस्मात् **'महल्लाणि'** स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलहिंसादिविरूपतया वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रताना । **'रक्खत्थं'** रक्षणार्थं । **'राविभोयणणियत्ती'** रात्रिभोजनान्निवृत्ति । रात्रौ यदि भिक्षार्थ पर्यटति त्रसान्स्थावराश्च हन्याद्दुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, तस्यान्नावस्थानदेश, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेश, दीयमान वाहार योग्य न वेति विरूपयितुमय कथ समर्थ ? दिवापि दु परिहारान् जानाति रससूक्ष्मानय कथ परिहरेत् । **'कडुच्छुगं करं वा'** दायिकाया भाजन वा कथ शोधयति । पदविभागिका वा एषणामित्यालोचना मम्यगपरीक्षितविषया कुर्वत: कथमिव । सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहार गृह्णतोऽदत्तादान स्यात् । क्वचिद्भाजने दिवैव स्थापित, आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोप स्यात् । रात्रिभोजनात्तु व्यावृत्ते सकलानि व्रतान्यवतिष्ठन्ते मम्पूर्णानि । **'अट्ठप्पवयणमादाओ'** अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्व्रतपरिपालनाया । एव पञ्च समितय तिस्रो

प्रयोजनको साधते है, इसलिए महाव्रत है । यत. महान् पुरुषोके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत है । और यत ये स्वय महान् है—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिसा आदिका इससे त्याग होता है अत: इन्हे महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप है । नोआगमभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नही करूँगा, असत्य नही बोलूगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नही करूँगा, मैथुन नही करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत है ॥११७८॥

गा०–टी०—उन्ही अहिंसा आदि व्रतोकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है । यदि मुनि रात्रिमे भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोका घात करता है क्योकि रात्रिमे उनको देख सकना कठिन है । देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नही, ये सब वह कैसे देख मकता है ? दिनमे भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोंका परिहार रात्रिमे कैसे कर सकता है । करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे विना कैसे शोधन कर सकता है । इन सबकी सम्यक्रूपसे परीक्षा किये विना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—विना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा । किसी भाजनमे दिनमे लाकर रखे और रात्रिमे भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा । किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं ।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं । पांच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

---

१. श्रुतेन अ० आ० ।

गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यतेऽसकृत्प्रवर्त्यते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः कथंचित्तथैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्ध । जीवादितत्त्वपरिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा तत. किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः । किं पुन. परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मन शरीरस्य बन्धं प्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रत । भाविव्रतत्वग्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रत । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रत । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामा. स भाविव्रत । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थित चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रत नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता है । रत्नत्रयरूप प्रवचनकी ये माताके समान हैं । जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियां व्रतोंकी रक्षा करती हैं । तथा सब भावनाएँ महाव्रतोकी रक्षक हैं । वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं ।

शङ्का—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नही करूंगा, झूठ नहीं बोलूंगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नही करूँगा, मैथुन कर्म नही करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसा ही बना रहना तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमे प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता । यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है । तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती हैं । जिस समय 'मै हिंसा नही करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नही बोलता' इत्यादि परिणाम नही होते । तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं । किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है । आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है । भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है । व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होगे वह आत्मा भाविव्रत है । उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है । 'मै हिंसा नही करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

परिणामाभावः अहिंसादिव्रतं । प्राणिनां वियोजने प्राणानां, असदभिधाने, अदत्तस्यादाने, मिथुनकर्मविशेषे, मूर्च्छायां वाऽपरिणतिरिति यावत् । तथा चोक्तं—'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति' [त० सू० ७।१] हिंसादयः क्रियाविशेषा आत्मनः परिणामास्तेभ्यो आत्मनो व्यावृत्तिर्हिंसादिष्वपरिणतिर्व्रतमिति सूत्रार्थः । हिंसादिव्यावृत्तत्वं नाम यद्रूपं जीवस्य व्रतसंज्ञितं तत्परिपाल्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमातृकाभिश्च । यस्मिन्नसति तद्विनश्यति सति च न विनश्यति तत्तत्पाल्यति यथा दुर्गो राजानं । सत्यां रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचनमातृकासु भावनासु वा सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्वं भवति, न तास्वसतीषु इति युक्तमुक्त सूत्रकारेण ॥११७९॥

तेसिं पंचण्हं पि य अंहयाणमावज्जणं व संका वा ।
आदविवत्ती य हवे रादीभत्तप्पसंगम्मि ॥११८०॥

'तेसिं पंचण्हं पि य अंहयाणमावज्जणं' तेषां पञ्चानां हिंसादीनां प्राप्ति । **'संका वा'** शङ्का वा मम हिंसादयः किं संवृत्ता न वेति । **'हवे'** भवेत् । **'रादीभत्तप्पसंगम्मि'** रात्रावाहाराप्रसंगे सति न केवल हिंसादिषु परिणति । **'विवत्ती य हविज्ज'** आत्मनश्च यते स्वरूपापि विपद्भवेत् स्याणुसर्पकण्टकादिभिः ॥११८०॥

हिंसादि परिणामोंका अभाव रूप अहिंसादि व्रत नोआगमभाव व्रत है । इसका मतलब है प्राणियों के प्राणोंके घातमें, झूठ बोलनेमें, विना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें, मैथुन रूप विशेष कर्ममें तथा ममत्व भावमें परिणतिका न होना । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा भी है—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरति व्रत है।' हिंसा आदि क्रिया विशेष आत्माके परिणाम है । उनसे आत्माकी निवृत्ति अर्थात् हिंसादि रूप परिणतिका न होना व्रत है । यह सूत्रका अर्थ है । जीवकी हिंसा आदिसे व्यावृत्ति रूप जो अवस्था है उसका नाम व्रत है । रात्रि भोजन त्याग और प्रवचन माताओंके द्वारा जीवके उस रूपका संरक्षण होता है । जिसके नही होने पर जो नष्ट हो जाता है और जिसके होने पर जो नष्ट नही होता वह उसका रक्षक होता है । जैसे दुर्ग राजाका रक्षक है । रात्रि भोजनसे निवृत्ति और प्रवचन माता तथा भावनाओके होने पर हिंसादिसे निवृत्ति होती है और उनके नहीं होने पर नही होती है । अत. गाथा सूत्रकारने ठीक ही कहा है कि ये व्रतोकी रक्षक हैं । आशय यह है कि जीवन पर्यन्त हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणत आत्माका कथंचित् उसी रूपसे बने रहना ही यहाँ विवक्षित है । परिणामोंमे परिवर्तन होते हुए भी निवृत्ति रूप परिणाम तदवस्थ रहता है ॥११७९॥

गा०—रात्रिमें आहार करने पर उन हिंसा आदि पाचों पापोंकी प्राप्ति होती है अथवा यह शंका रहती है कि हिंसा आदि पाप हुए तो नही ? इसके सिवाय साधुको स्वयं भी ठूठ, सर्प, कण्टक आदिसे विपत्तिका सामना करना पड़ सकता[1] है ॥११८०॥

---

१. इस गाथाके पश्चात् मुद्रित प्रतिमें नीचे लिखी गाथा है जिसपर आशाधरकी टीका है किन्तु यह किसी प्रतिमें नही है । पं० जिनदासजी ने भी न तो इसका अर्थ किया है और न इसपर पृथक् क्रमांक दिया है—

अण्हयदारोपरमणदरस्स गुत्तीओ होन्ति तिण्णेव ।
चेट्ठिदुकामस्स पुणो समिदीओ पंच दिट्ठाओ ॥

आस्रवके द्वारको रोकनेमें आसक्त भिक्षुके तीन गुप्तियाँ होती हैं । और गमन तथा बोलने आदिकी चेष्टा करने पर पाँच समितियाँ कही हैं ।